

भगवान महावीर स्वामी के २५ सौ वें निर्वाण महोत्सव के मंगल अवसर पर
पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से संस्थापित
दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत

वीरज्ञानोदय-ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दि० जैन आर्ष मार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत,
कन्नड, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त,
अध्यात्म, भूगोल, खगोल व्याकरण, इतिहास आदि विषयो पर
लघु एवं बृहद् ग्रन्थो का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन
होगा। समय-समय पर धार्मिक-लोकोपयोगी
लघु पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित
होती रहेगी।

* ग्रन्थमाला-सम्पादक *

मोतीचन्द जैन सराफ
शास्त्री, न्यायतीर्थ

रवीन्द्रकुमार जैन
शास्त्री, बी. ए.

स्थापनाब्द
कार्तिक कृष्णा अमावस्या
वीर निर्वाण स० २४६८
वि० स० २०२९
ई० सन् १९७२

प्रकाशन कार्यालय
दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान
हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

मुद्रक — पाँचलाल जैन, कमल प्रिन्टर्स, मदनगज-किशनगढ (राजस्थान)

परमपूज्य, प्रातः स्मरणीय, चारित्र चक्रवर्ती, आचार्यप्रवर

१०८ श्री शांतिसागरजी महाराज



पंचेन्द्रियमुनिदान्त, पचससारभीष्कम् ।

शांतिसागरनामानं, सूरि वदेष्वनाशकम् ॥

जन्म :
ज्येष्ठ कृष्णा ६
वि० स० १६२६

शुद्धक दीक्षा :
ज्येष्ठ शुक्ला १३
वि० स० १६७०

मुनि दीक्षा :
फाल्गुन शुक्ला १४
वि० स० १६७४

समाधि :
द्वितीय भाद्रपद
वि० स० २०१२

उत्तूर ग्राम (कर्नाटक) यरनाल ग्राम (कर्नाटक) कुन्थलगिरि सिद्धक्षेत्र

प्रकाशकीय

श्रीमत्सकल तार्किक चूडामणि माणिक्यनदी आचार्यने परीक्षामुख ग्रंथकी सूत्ररूप रचना की थी। यह ग्रंथ यथानाम तथा गुणकी उक्तिको चरितार्थ करता है क्योंकि परीक्ष्यपदार्थोंकी परीक्षाका यह मुख्य कारण है, अथवा जिसके द्वारा हेयोपादेयरूप सम्पूर्ण पदार्थों की परीक्षा होती है उस प्रमाणका लक्षण स्वरूप फल आदि को दिखानेके लिये यह ग्रन्थ दर्पण के समान है।

इन सूत्रोपर अनन्तवीर्य आचार्यने प्रमेयरत्नमाला नामा सक्षिप्त सस्कृत टीका रची, जिसका हिन्दी अनुवाद जयपुर निवासी पंडितप्रवर जयचंदजी छाबडा ने किया था। इसके पश्चात् पंडित हीरालालजी साढूमल निवासीने भी उसका अनुवाद किया, ये दोनो अनुवाद प्रकाशित हो चुके है। इसी परीक्षा मुख ग्रन्थपर सुविस्तृत टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामा है जो कि प्रमेय रत्नमाला टीकाके पहलेकी है, इसका मूल सस्कृत मात्रका प्रकाशन पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा संपादित होकर हुआ था किन्तु अभी तक इस विशाल सम्कृत टीकाका हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था, इस कारण साधारण स्वाध्यायशील व्यक्ति इसके ज्ञानसे वंचित थे।

प्रसन्नता है कि अब इसका अनुवाद आर्यिका जिनमती माताजी ने किया है और उसका प्रकाशन हो रहा है। न्याय विषयक इस ग्रन्थके परिशीलनसे कार्य कारण भाव आदिका सत्य ज्ञान होता है, जिससे वर्तमानके ऐकान्तिक कथनोका निर्मूलन होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थका सशोधन पंडित मूलचंद शास्त्री महावीरजीने किया अतः आप धन्यवादके पात्र है।

प्रकाशन—इसका प्रकाशन श्री लाला मुसद्दीलाल ट्रस्ट के ट्रस्टी श्री शानिलालजी जैन कागजी सुपुत्र ब्र० मुसद्दीलालजी जैन फुगाना (मुजफ्फरनगर) निवासी के आर्थिक सहयोगसे हुआ है। श्री शानिलालजीका व्यवसाय चावडी बाजार देहली मे है एव निवास स्थान २/४ दरियागंज देहलीमे है। आप बहुत स्वाध्याय प्रिय एव उदारचित्त है। बालाश्रम दरियागजके जिनचैत्यालयका कुशल प्रबन्ध आपके द्वारा ही होता है। परमपूज्य १०८ श्री धर्मसागरजी आचार्य महाराजजीके सघका सन् १९७४ का चातुर्मास [पञ्चीसवे निर्वाण महोत्सव कालीन] बालाश्रम दरियागज देहली मे हुआ था उसकी व्यवस्था व प्रबन्धमे आपका मुख्य सहयोग था। दि० जैन ग्रन्थोके प्रकाशनमे आप अभिरुचि रखते है, ज्ञानोपार्जन एव धर्म प्रभावना हेतु आप प्रायः विद्वानोको आमन्त्रित करते रहते है अतः आप धन्यवादके पात्र हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थका मुद्रण करना सरल कार्य नहीं था, श्री पाचूलालजी जैन कमल प्रिन्टर्स मदनगजने अपने अथक परिश्रमसे इस ग्रन्थका मुद्रण कराया अतः आप धन्यवाद के पात्र है।

— पं. रतनचंद जैन मुख्तार

अनुवादके पूर्व

द्वादशागवानीमे दृष्टिवाद नामक जो अतिम अंग है उससे न्याय शास्त्र प्रसृत हुआ है, न्याय शास्त्रकी आधारशिला स्याद्वाद अनेकान्त है। न्याय शास्त्र सिद्धांतों को सिद्ध करनेके लिये साधन है। प्रस्तुत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ इसी न्याय शास्त्रका अवयव है, इसग्रन्थका मूलस्रोत माणिक्यनदी आचार्य द्वारा विरचित परीक्षा मुख नामा सूत्र बद्ध लघुकाय शास्त्र है, मुख शब्दका अर्थ द्वार होता है प्रमाणादिकी परीक्षा करने रूप प्रासाद मे प्रवेश पानेकेलिये यह द्वार स्वरूप है अतः इसका सार्थक नाम परीक्षामुख है, इसी पर प्रभाचन्द्राचार्यने विशाल काय [करीब १२ हजार श्लोक प्रमाण] टीका स्वरूप प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ की रचना की है जो भव्य जीवोंके नाना प्रकारके मिथ्याभिनिवेश रूपी अवकारको नष्ट करनेके लिये "मार्त्तण्ड" (सूर्य) सदृश है।

प्रमेय कमल मार्त्तण्ड के अनुवादका बीजारोपण—

राजस्थान मे विशिष्ट नगरी टोक है, यहांपर शहर के बाहर एक मनोरम नसिया (निषिद्धिका) बनी हुई है जिसमे भूगर्भ से प्राप्त जिनबिब विराजमान हैं, आचार्य धर्मसागर महाराजके शिष्य पूज्य श्री शीतलसागरजी मुनिराजने अपने भक्त प्रत्याख्यान सल्लेखना द्वारा इस नसिया को सार्थक नाम [निषिद्धिका शब्दका अपभ्रंश नसिया है निषिद्धिका शब्दके अनेक अर्थोंमे एक अर्थ यह है कि जहापर किसी साधुका सन्यास पूर्वक मरण हो उस स्थानको निषिद्धा कहते हैं] वाली बना दिया है। इस स्थान पर आचार्य श्री का विशाल सघके साथ चातुर्मास हो रहा था सघकी प्रमुख आर्यिका रत्न विदुषी ज्ञानमति माताजीके पाद मूलमे अनेक बाल ब्रह्मचारी बाल ब्रह्मचारिणिया अध्ययन कर रही थी, पूज्य माताजीरूपी हिमाचलसे प्रसृत ज्ञान गगामे अवगाहन करके अपने अनादि कालीन अविद्या मूल को धो रही थी, अध्ययन एकांगीण न होकर सर्वांगीण होता था जिसमे सिद्धांत, साहित्य, व्याकरण, न्याय आदि विषय अन्तर्निहित थे, न्याय के अध्ययन ग्रन्थोंमे प्रमेय कमल मार्त्तण्ड ग्रन्थ भी था, यह सिर्फ सस्कृत भाषामे होने के कारण हम लोगोंको समझनेमे कठिन हो रहा था, पूज्या माताजीकी शिष्या आर्यिका जिनमति माताजीसे मैंने प्रार्थना करी कि इस ग्रन्थकी हिन्दी भाषा होनेसे शास्त्री परीक्षामे कठिनता होगी अतः इसका सारांश हिन्दी मे लिखिये जिससे सुविधा हो आपको बार बार विषय पूछना न पड़े [मेरा विशेष अध्ययन जिनमति माताजी के पास चलता था] जिनमति माताजीने मेरी प्रार्थनाको स्वीकार कर भाषानुवाद प्रारम्भ कर दिया।

अनुवाद करते समय यह लक्ष्य नहीं था कि इसको मुद्रित कराना है; लक्ष्य सिर्फ इतना ही था कि भाषानुवाद होनेसे विषयका स्पष्टीकरण हो जायगा। अनुवाद का प्रारम्भ होकर अष्ट मासमे

उसी नगरीमें वह पूर्ण भी हो गया । तीन वर्षोंके अनंतर २५०० वे वीर निर्वाण महोत्सव पर आचार्य सघका पदार्पण भारत की राजधानी देहलीमें हुआ, तब परम पूज्या आर्यिकारत्न विदुषी ज्ञानमति माताजी, श्वेतावर साधु सुशीलकुमारजी आदिके साग्रह अभिप्राय हुए कि प्रमेयकमलमार्त्तण्डका भाषानुवाद मुद्रित होना चाहिये, क्योंकि दि० जैन मारिकचद परीक्षालय आदिमें शास्त्री परीक्षा में यह ग्रन्थ नियुक्त है, श्वेताम्बर जैन के यहां भी न्याय परीक्षा के पाठ्य पुस्तकोमें है इत्यादि । इस बातपर विचार करके जिनमति माताजीने भाषानुवादका सशोधन चालू किया, बीचमें दो मास स्वास्थ्य खराब होनेसे कार्य रुक गया । देहलीके अनंतर सघका चातुर्मास सहारनपुर [उत्तर प्रदेश] हुआ, वहापर सिद्धातभूषण पंडित रतनचदजी मुख्तार, पंडित अरहदासजी आदिने अनुवादके विषयमें सुझाव दिये, अध्यात्मप्रिय पंडित नेमिचदजीने प्रत्येक विषयका परमतानुसार पूर्वपक्ष लिखनेका आग्रह किया, इसतरह पूर्वोक्त अनुवादमें संवर्धन करते हुए दुबारा अनुवाद करनेके समानही हो गया ।

माताजीने जिन जैनैतर ग्रन्थोका उद्धरण लेकर पूर्व पक्ष लिखा है उनका परिचय इसप्रकार है:-

(१) न्यायमजरी—यह ग्रन्थ गौतम सूत्रकी तात्पर्य विवृत्ति सहित है. श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमालाका १०६ पुष्प है, इसके कर्ता जयन्तभट्ट है । प्रकाशक चौखवा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी ।

(२) न्यायविन्दु टीका—आचार्यधर्मोत्तर रचित है, समीक्षात्मक भूमिका, भाषानुवाद, व्याख्यानात्मक टिप्पणीसे युक्त है । डा० श्रीनिवास शास्त्री द्वारा संपादित है । प्रकाशक—साहित्य-भंडार, मेरठ, प्रथम संस्करण ।

(३) साख्यकारिका—हिन्दी अनुवाद सहित, साख्यीय साधन मार्ग, तत्त्व परिचय एवं तुलनात्मक सामग्रीसे सबलित, प्रणेता श्री राम शंकर भट्टाचार्य ।

(४) वाक्यपदीयम्—ब्रह्मकाण्ड युक्त है, संस्कृत आंग्ल हिन्दी भाषा सहित, भर्तृहरि विरचित है । अनुवाद एवं टीकाकार—वाचस्पति सत्यकाम वर्मा प्राध्यापक देहली विश्वविद्यालय ।

(५) तर्क भाषा—केशव मिश्र प्रणीत, समीक्षात्मक भूमिका, भाषानुवाद, व्याख्या एवं टिप्पणी सहित है । डॉ० श्री निवास शास्त्री द्वारा संपादित । प्रकाशक रतिराम शास्त्री, साहित्य भंडार, सुभाष बजार, मेरठ ।

(६) वेदान्त सारः—विवृत्तिसहित सदानंद भोगीन्द्र द्वारा विरचित है । संपादक डॉ० कृष्णकान्त त्रिपाठी । प्रकाशक—रतिराम शास्त्री, साहित्य भंडार सुभाष बजार, मेरठ ।

(७) न्याय वात्तिकम्—न्याय दर्शन वात्स्यायन के भाष्यसे युक्त, परमर्षि भारद्वाज उद्योतकर द्वारा विरचित है । यह पुस्तक पुरानी है, ई० सन् १९१५ का संस्करण है । फतेहपुर (सीकर) राजस्थानके श्री सरस्वती पुस्तकालयमें यह ग्रन्थ है ।

(८) भीमासा इलोक वार्त्तिकम्—न्यायरत्नाकराख्य व्याख्या सहित, श्रीमत् कुमारिल भट्ट पाद विरचित मूल मात्र ग्रन्थ है। चौखवा सीरीज ग्रन्थमाला का मात्र तीन नवरका पुष्प है, अति प्राचीन है, ई० सन् १८६८ का प्रकाशन, फतेहपुर (सीकर) राजस्थानके पुस्तकालयमे है।

अस्तु।

इसप्रकार अनुवादका सवर्द्धनादि कार्य सपन्न होनेपर इसको—मुद्रित कहा पर कराना, द्रव्य प्रदाता आदिका भार सि० भू० पंडित रतनचद जैन मुस्तारजी ने लिया। ग्रन्थ विशाल होने से इसको तीन भागो मे विभक्त किया। राजस्थानमे भदनगज-किशनगढ मे ग्रन्थका मुद्रण कराना उचित समझा, संघ उत्तर प्रदेशमे और प्रेस राजस्थान मे होनेके कारण पहले तो मुद्रण मदगति से चला किन्तु अचानक ही संघ राजस्थान मे आया और चातुर्मास भी भदनगज-किशनगढ मे हुआ, इससे मुद्रण कार्य शीघ्रगतिसे होकर मार्त्ण्ड का यह प्रथम भाग पाठकोके हाथमे पहुच रहा है, मेरे को इस कार्य पूर्ति पर आसीम हर्ष है, मेरी प्रार्थना पर इस अनुवादका शुभारंभ हुआ था जैसाकि वीर मार्त्ण्ड चामुण्ड राय की प्रार्थना पर सिद्धात चक्रवर्त्ती श्री नेमिचन्द्राचार्यने गोम्मटसारादि पंचसग्रह की रचना की थी।

पूज्या जिनमति माताजी के विषय मे कौनसे स्तुति सुमन सजोए ? माताजीके विषयमे कुछ लिखना सूर्यको दीपक दिखाने सदृश है मेरे को उनके चरण सानिध्यमे रहते नौ वर्ष हुए हैं उनके गुणो का वर्णन करनेको मेरे पास बुद्धि नहीं। माताजीमे विनयादि गुण सुशोभित होते हैं इसी गुण रूपी वृक्ष पर यह अनुवावरूपी फल लगा है।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करानेका श्रेय सिद्धात भूषण पंडित रतनचद जैन मुस्तारजी को है, यदि आप इसके प्रकाशनमे रुचि नहीं रखते तो क्या मालूम यह ग्रन्थ कितने समय तक अप्रकाशित ही रहता। यह भाषानुवाद स्वाध्याय प्रिय जनोंमें एव विद्यार्थी वर्ग मे बढा ही उपयोगी होगा, न्याय विषयक ग्रन्थ पढनेसे यह समझमे आजाता है कि जैनैतर दार्शनिको के सिद्धातोका मूल स्रोत सर्वज्ञ से सबद्ध नहीं होनेसे एव एकात पक्षीय कथन होनेसे वे सिद्धात अबाधित सिद्ध नहीं हो पाते। इत्यलम्

—प्रार्थिका शुभमति

परमपूज्य, प्रातःस्मरणीय, आचार्यप्रवर
१०८ श्री वीरसागरजी महाराज



चतुर्विधगणं पूज्य, गभीर सुप्रभावकम् ।
वीरसिन्धुगुरु स्तौमि, सूरिगुणविभूषितम् ॥

जन्म :	कुलक दीक्षा	मुनि दीक्षा	समाधि
श्रावण पूर्णिमा	फाल्गुन शुक्ला ७	आश्विन शुक्ला ११	आश्विन श्रमावस्या
वि० स० १८३२	वि० स० १९८०	वि० स० १९८१	वि० स० २०१४
वीर ग्राम (महाराष्ट्र)	कुम्भोज (महाराष्ट्र)	समडोली (महाराष्ट्र)	जयपुर (राज०)

प्रस्तावना -

परीक्षामुखकर्तार श्री माणिक्य मुनीश्वरम् ।

विदांवर प्रवदेऽह जैन न्याय प्रकाशकम् ॥१॥

वृत्ति कार प्रभाचन्द्र पाणिपात्र निरम्बर ।

नभाम्यत्र त्रिधाभक्त्या तर्क शास्त्र प्रणायकम् ॥२॥

“प्रमेय कमल मार्त्ण्ड” जैन न्यायका महान ग्रन्थ है, यद्यपि यह “परीक्षामुख” सज्ञक ग्रन्थ की टीका है किन्तु मौलिकसे कम नहीं है आचार्य श्री प्रभाचन्द्र ने दि० जैन दर्शनका जो और जितना मर्म इसमें खुलासा किया है अन्य ग्रन्थोमें देखनेको नहीं मिलता, जैसे मार्त्ण्ड (सूर्य) कमलोको खिला देता है वैसे यह ग्रन्थराज प्रमेयोको अर्थात् प्रमाणके विषयोंको खिला देता है (खुलासा कर देता है)

विभिन्न दर्शनोमें प्रमाणके स्वरूपमें, उसकी सख्यामें, उसके विषयमें तथा उसके फलमें विप्रतिपत्ति पाई जाती है । इसी प्रसङ्गको लेकर श्री माणिक्यनदी आचार्यने मदबुद्धि वाले न्याय शास्त्रके रसिकोंके लिये परीक्षामुख नामक ग्रन्थकी रचना की ।

यद्यपि आचार्य अकलक देव कृत लघीयस्त्रय सिद्धिविनिश्चय आदि न्याय विद्याके उच्च कोटि के ग्रन्थ थे किन्तु ये सब मद बुद्धि वालोंके लिये गहन थे उन मद बुद्धि भव्योंके ज्ञानका ध्यान कर आचार्य माणिक्यनदीने छोटा सा गागर में सागर भरने जैसा परीक्षामुख रचा । ग्रन्थ छोटा है किन्तु इसकी गहराई मापना कठिन है । आचार्य प्रभाचन्द्रने इस पर प्रमेय कमल मार्त्ण्ड नामा बृहत् काय टीका रची एव आचार्य अनंतवीर्यने लघुकाय टीका प्रमेय रत्नमाला रची, ये दोनों ग्रन्थ टीका ग्रन्थ है किन्तु मौलिकसे कम नहीं है । प्रमेय रत्नमालाका हिन्दी भाषानुवाद पंडित हीरालाल शास्त्री न्यायतीर्थ ने किया है, किन्तु प्रमेय कमल मार्त्ण्ड का अनुवाद अभी तक किसीने नहीं किया था, इस स्तुर्य कार्यको १०५ पूज्या-विदुषी आर्यिका जिनमति माताजी ने किया । यह ग्रन्थ आचार्य तथा न्यायतीर्थ जैसे उच्च कक्षाओमें पाठ्य ग्रन्थ रूपसे स्वीकृत है किन्तु हिन्दी टीकाके अभावमें विलुप्त पड़ता है । मैंने अपने विद्या एव शिक्षा गुरु स्व० पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थसे कई बार निवेदन किया कि इस हिन्दी प्रधान युगमें इस महान ग्रन्थको पढ़ने और पढ़ानेवाले विरले रह जावेंगे, किन्तु यदि हिन्दी टीका हो जायगी तो इसकी उपयोगिताके साथ स्वाध्याय प्रेमियोंकी हृदय ग्राहिता भी बढ़ जायगी । किन्तु वे बहुत कुछ आश्वासनोंके साथही काल कवलित हो गये और उनके आश्वासन पूरे नहीं हो सके ।

उसी चिर वाञ्छित श्रेष्ठ उपक्रमको पूज्या आर्यिका जिनमति माताजी ने किया । मैं उनके इस कार्यकी अत्यन्त सराहना करता हूँ तथा पूज्या माताजीके विद्यागुरु आर्यिकारत्न विदुषी ज्ञानमती माताजीको भी कोटिशः घन्यवाद देता हूँ जिन्होंने ऐसी शिष्याको तैयार किया ।

आचार्य श्री माणिक्यनदी—

प्रमेय कमल मार्त्ण्डके रचयिता प्रभाचन्द्राचार्य श्री माणिक्यनदी आचार्यको गुरु मानते थे जैसाकि लिखा है—

गुरु श्री नदी माणिक्यो नदिताशेष सज्जन ।
नन्दिताद् दुरितैकान्तरजा जंनमताणव ॥१॥

इससे सिद्ध होता है कि माणिक्य नदी प्रभाचन्द्राचार्यके गुरु थे, इनकी रचना एक मात्र परीक्षामुख है ।

यद्यपि उमास्वामी आचार्य द्वारा रचित तत्त्वार्थ सूत्रकी रचना सूत्रसाहित्यमे हो चुकी थी, किन्तु न्याय विषयमे सूत्र बद्ध रचना सर्व प्रथम इन्होंने की ।

आचार्य माणिक्यनदी पर “अकलक न्याय” की छाप है उन्होंने अकलक देवकी रचनायें लघीयस्त्रय, सिद्धि विनिश्चय आदि का पूर्ण रूपेण मथन कर परीक्षामुख ग्रन्थ रचा है ।

जिस प्रकार रत्नोमे बहुमूल्य रत्न माणिक्य होता है उसकी क्षमता अन्य रत्न नही करते उसी प्रकार माणिक्य नदीके सूत्र भी बहुमूल्य रत्न राशिके समान है उनकी क्षमता अन्य सूत्र नही कर सकते, इसकी पुष्टि नीतिकारने भी की है “शैले शैले न माणिक्यम्” । शास्त्रानुसार सूत्रमे जो विशेषताये होनी चाहिये वे सब परीक्षामुख सूत्रोमे पायी जाती हैं ।

सूत्रका लक्षण—

अल्पाक्षरमसन्दिग्ध सार वद् विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभ मनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदु ॥१॥

इस परिभाषाके अनुसार श्री माणिक्य नदीके सूत्र अल्पाक्षरी है, सदेह रहित हैं, सार से परिपूर्ण हैं विश्वतोमुख निर्दोष हेतुमान् तथा तथ्यपूर्ण है ।

समय—

श्री माणिक्यनदीके समय निर्धारणमें प्रमुख तीन प्रमाण दृष्टिगत होते हैं—

क— परीक्षामुखके टीकाकार आचार्य अनन्त वीर्यने सूत्रकार माणिक्यनदीको नमस्कार किया तब अकलक देवकी याद किया—

अकलङ्क वचोऽम्भोधे हृद्ध्ये येन धीमता ।

न्याय विद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥१॥

अर्थात् जिन बुद्धिमानने भट्टाकलक स्वामीके वचनरूप समुद्रसे न्यायविद्यारूपी अमृतको निकाला उन आचार्य माणिक्य नदीको मैं (अनंतवीर्य) नमस्कार करता हूँ । इससे प्रकट होता है कि श्री माणिक्यनदी भट्टाकलकदेवके उत्तरवर्ती है, भट्टाकलक देवका समय ईसाकी आठवी शताब्दी माना गया है अतः आठवी शती के पश्चात् माणिक्यनदीका समय बैठता है । आचार्य प्रभाचद्र जो कि इनके शिष्य थे परीक्षामुखके टीकाकार है इनका समय ईसाकी दसवी शताब्दीका पूर्वार्ध है ऐसा विद्वानोका कहना है । इसतरह श्री माणिक्यनदीका समय ईसाकी नौवी शताब्दी सिद्ध होता है ।

ख— प्रज्ञाकर गुप्त जो ईसाकी आठवी शताब्दीके पूर्वार्ध में हुए थे उनके मतका खण्डन परीक्षामुखमे पाया जाता है इससे भी इनका समय ६ शती ठहरता है ।

ग— आचार्य माणिक्यनदीके शिष्य नयनदीने सुदर्शन चरितको वि० स० ११०० मे पूर्ण किया था अतः उनके गुप्तका समय उनसे पहले होना निश्चित है, विक्रम सवत् मे श्रीर ईमवी सन्मे ५७ वर्षका अन्तर है इस हिसाबसे माणिक्यनदी ईसाकी नौवी शताब्दीके ठहरते है ।

कृति—

श्री माणिक्यनदीकी एक मात्र कृति परीक्षामुख उपलब्ध होता है जो अपनी सानीका जैन न्यायमे एक मात्र सूत्र ग्रन्थ है ।

ग्रन्थ का परिचय—

जैनागममे सस्कृत भाषामे सूत्र बद्ध रचनाका प्रारम्भ भगवत उमास्वामीने किया । न्यायमे प्रस्तुत ग्रन्थ (परीक्षामुख) आद्य सूत्र ग्रन्थ माना जाता है ।

विषय—परीक्षामुख ग्रन्थ का नाम निर्देश "परीक्षा" शब्दसे प्रारम्भ होता है, प्रसिद्ध धर्म-भूषण यति की रचना न्यायदीपिका मे परीक्षाका लक्षण इसप्रकार दिया है—

"विरुद्ध नाना युक्ति प्राबल्य दीर्घल्याव धारणाय प्रवर्त्तमानो विचारः परीक्षा" । अर्थात् विरुद्ध नाना युक्तियोंकी प्रबलता और, दुर्बलताके अवधारण करनेके लिये प्रवर्त्तमान विचार को परीक्षा कहते हैं । इस लक्षणके अनुसार इस ग्रन्थ में प्रमाण और, प्रमाणाभासोका नाना युक्तियोंसे प्रकाश डालकर उनकी सही परीक्षा की है इसी कारण इस ग्रन्थ की सार्थकता है । मुख शब्द अग्रणी वाचक है अतः यह ग्रन्थ प्रमाण और प्रमाणाभासको कहनेमे अग्रणी है । अथवा परीक्षा का अर्थ न्याय है और मुख शब्दका प्रवेशद्वार है न्याय जैसे जटिल विषयमे प्रवेश पानेके लिये यह द्वार सदृश

होनेसे सार्थक नाम परीक्षामुख है। ग्रन्थ छह समुहशोमे विभक्त है, प्रथममे १३ द्वितीयमे १२ तृतीयमे ६६ (प्रत्यभिज्ञान के दृष्टातो के पाँचो भेदोके पृथक पृथक सूत्र गिनने पर एव तर्क ज्ञान प्ररूपक सूत्रको पृथक् गिनने पर १०१ सूत्र सख्या भी होती है) चतुर्थमे ६ पचममे ३ और षष्ठमे ७४ सूत्र हैं, कुल मिलाकर २०७ सूत्र है (दूसरी अपेक्षा से २१२ है) प्रमाणका स्वरूप, भेद और भेदोका स्वरूप उनके उदाहरण चार समुहशोमे कहा गया है एवं प्रमाणका विषय कहा गया है। पचम समुहशोमे प्रमाणका फल बतलाकर षष्ठमे प्रमाणाभास, सख्याभास, विषयाभास और फलाभासका वर्णन किया है।

भाषा और शैली—

भाषा परिमार्जित संस्कृत है। संस्कृत प्रौढ होकर भी सुबोध है, पाठकोको अधिक बौद्धिक बल बिना लगाये समझने आजाती है। शैली सूत्रशैली है। शिक्षा में सारको समझनेका जैसा सूत्रका कार्य होता है वैसा यहा भी है। सूत्रकार गागर में सागर भरने की शैली अपनाते हैं, आचार्य माणिक्यनदीने भी वही अपनाई है।

टीकायें और टीकाकार

परीक्षामुखकी टीका कहनेमे चार और वास्तवसे तीन हैं सर्वप्रथम की टीका रचनामे प्रस्तुत अपना ग्रन्थ प्रमेय कमल मार्त्तण्ड है इसके टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य हैं। दूसरी टीका आचार्य अनन्तवीर्य कृत प्रमेयरत्नमाला है। तीसरी टीका प्रमेयरत्नालकार है जो भट्टारक चारुकीर्ति द्वारा रचित है। चौथी टीका प्रमेय कण्ठिका है जो मात्र प्रथम सूत्रकी विस्तृत व्याख्या है इसके निर्माता श्री शान्ति वर्णी हैं।

प्रमेय कमल मार्त्तण्ड

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रमेय कमल मार्त्तण्ड परीक्षामुख सूत्रकी टीका है, जैसा इसका नाम है वैसा ही विषय प्रतिपादन है। जैसे सूर्य कमलोको विकसित करता है वैसे समस्त प्रमेयोको प्रदर्शित करने वाला यह ग्रन्थ है। टीकाकारने टीका करते समय अपनी बुद्धिका पूर्ण परिचय दिया है, ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ टीका ग्रन्थ नहीं मौलिक ग्रन्थ है। युगके अनुरूप टीकाके जो विशेषता होनी चाहिये वह सब प्रस्तुत ग्रन्थ में मौजूद है। सम सामयिक न्याय ग्रन्थोके जितने भी सूक्ष्म विवेचन हैं वे सब इस ग्रन्थमें मिलेंगे। जहातक विषय प्रतिपादनका प्रश्न है मूल ग्रन्थ कर्त्तिके सूत्रोपर उठनेवाले वादविवादो का सम्पूर्ण हल इसमें मिलेगा। प्रमाणतत्त्वका विवेचन करना मुख्यरूपसे इस ग्रन्थका विषय है।

भाषा एव शैली—

प्रमेय कमल मार्त्तण्डकी भाषा शुद्ध संस्कृत और शैली हेतु परक न्याय सेमत है। इतने उच्च कोटिके उद्धारणोके साथ खण्डन मण्डन किया है कि न्यायोको समझनेवाला व्यक्ति अपनी जिज्ञासाको

शीघ्र ही शांत कर लेता है। जितने भी विकल्प उठने चाहिये सभी को उठाकर उन सभी का विवेक पूर्वक समाधान किया गया है। उदाहरण के लिये दिये गये श्लोक टीकाकारके तत् तत् ग्रन्थ सम्बन्धी अगाध ज्ञानको दर्शा रहे है।

उपादेयता—

इस ग्रन्थकी उपादेयता जैन न्याय मे सर्वोपरि है। न्यायके जितने भी ग्रन्थ है उनमे प्रमेय कमल मार्तण्ड बहुचर्चित है। शास्त्री, न्यायतीर्थ, आचार्य जैसी उच्च कक्षाओ का पाठ्य ग्रन्थ होनेसे इसकी उपादेयता स्पष्ट रीत्या समझ मे आ जाती है।

बिना न्यायके कसौटीपर कसे वस्तु तत्त्व समझ मे नही आता। आचार्य ने प्रमाणका स्वरूप भली भाँति समझाकर जैनागममे अपना प्रमुख स्थान बनाया है। न्यायको जाने बिना वस्तुका तल-स्पर्शी ज्ञान नही हो सकता, अतः प्रस्तुत ग्रन्थ न्याय विषयक होनेसे विशेष उपादेय माना जायगा।

ग्रन्थ रचयिता—

स्थान, गुरु परंपरा और कार्य क्षेत्र—

इस प्रमेयकमल मार्तण्ड के रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र है, ये धारानगरी के शासक राजा भोज द्वारा सम्मानित एवं पूजित हुए थे। अवरणबेलगोलाके शिलालेख के अनुसार श्री प्रभाचन्द्राचार्य मूल सघान्तर्गत नदीगणकी आचार्य परम्परा मे हुए थे। इनके गुरुका नाम पद्मनन्दी था। इनकी शिक्षा दीक्षा पद्मनन्दी द्वारा हुई मानी जाती है, किन्तु परीक्षामुख के कर्ता माणिक्यनदी को भी इन्होंने गुरु रूपमे स्वीकार किया है। प्रभाचन्द्राचार्य राज मान्य राजर्षि थे, राजा भोज द्वारा नमस्कृत थे, ऐसा निम्न लिखित श्लोक द्वारा सिद्ध होता है—

श्री धाराधिप भोज राज मुकुट प्रोताश्म रश्मिच्छटा-
 च्छाया कु कुम पंक लिप्त चरणाभोजात लक्ष्मी धवः ।
 न्यायाब्जाकर मण्डने दिनमणिः शब्दाब्ज रोदीमणिः
 स्थेयात् पंडित पुण्डरीक तरणि श्रीमान् प्रभा चन्द्रमाः ।१।
 श्री चतुर्मुखदेवाना शिष्योऽघृष्यः प्रवादिभिः ।
 पण्डित श्री प्रभाचन्द्रो रुद्र वादि गजाकुशं ॥२॥

उक्त श्लोकोमे इनको पंडित कहा गया है, इससे यह नही समझना कि ये गृहस्थ पंडित होंगे। यह विशेषण तो इनको विद्वान् सिद्ध करने हेतु है। वस्तुतः ये नग्न दिगम्बर जैनाचार्योंकी परम्परामे मान्य आचार्य थे। इनको शब्दाब्ज दिनमणि की सज्ञा देना इनके द्वारा रचित जैनेन्द्र व्याकरण पर जैनेन्द्र न्यास-शब्दाब्जभास्कर नामक ग्रन्थके कारण है। प्रथित तार्किक कहनेका अभिप्राय भी

महान् तार्किक ग्रन्थोके रचयिता होने के कारण ही है। शिलालेखोके आधार पर इनके सर्वमा श्री कुलभूषण मुनि माने जाते हैं।

समय—आपका समय आठवीं शताब्दीसे लेकर दसवीं के पूर्वार्ध तक माना जाता है। आचार्य जिनसेनने आदिपुराण में एक श्लोक लिखा है, इससे भी यही सिद्ध होता है:—

चन्द्राशु शुभ्रयशस प्रभाचन्द्र कवि स्तुवे ।

कृत्वा चन्द्रोदय येन शखदाह्लादित जगत् ॥

उक्त चन्द्रोदयका अर्थ आचार्य कृत न्याय कुमुदचन्द्र से है। प्रमेयकमल मार्त्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र से ही प्रभाचन्द्राचार्यका सही समय ज्ञात होता है। यह समय “भोजदेवराज्ये या जयसिंह देव राज्ये” इस प्रशस्ति पदसे प्रतीत होता है। राजा भोजकी योग सूत्रपर लिखी गयी टीका राज मार्त्तण्ड है। हो सकता है मार्त्तण्ड शब्द परस्पर प्रभावी हो।

प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, प० कैलाचन्द्र शास्त्री, मुख्तार साहब तथा नाथूरामजी प्रेमी आदि विद्वानोंने काफी ऊहापोह के साथ आचार्यका समय ईस्वी सन् ६८० से १०६५ तकके बीचमें माना है। यह समय आचार्य द्वारा रचित रचनाओं तथा उत्तरवर्ती रचनाओंके आधारपर निश्चित किया है। विशेष जानकारी के लिये पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा लिखित प्रमेयकमल मार्त्तण्ड [मूल संस्कृत मात्र] की द्वितीयावृत्ति की प्रस्तावना देखनी चाहिये।

प्रभाचन्द्राचार्यकी रचनाये —

आचार्य प्रभाचन्द्र विशेष क्षयोपशमके घनी थे। जहां तक व्युत्पत्ति का प्रश्न है आप असाधारण व्युत्पन्न पुरुष थे। आपने अपनी लेखनी न केवल न्याय विषय में ही चलायी अपितु सभी विषयों पर आपका असाधारण अधिकार था। दर्शन विषयक ज्ञानमें आपको सभी दर्शनोका [भारतीय] ज्ञान था। वेद, उपनिषद, स्मृति, सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसक, बौद्ध, चार्वाक आदि दर्शनोका आपने अच्छा अध्ययन किया था। साथ ही वैयाकरण भी थे, इन्होंने जैनेन्द्र व्याकरणपर जैनेन्द्र न्यास लिखा है। इसी प्रकार साहित्य, पुराण, वेद, स्मृति, उपनिषद आदिपर पूरा अधिकार था। इनकी रचनाओंमें उक्त ग्रन्थोका कुछ ना कुछ अंश अवश्य मिलेगा। पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने अपनी प्रस्तावनामें इस विषयका सुविस्तृत विवेचन किया है उसी प्रस्तावनाके आधार पर इस प्रस्तावनाके कई स्थल लिखे हैं, अथवा बेलगोलाके लेखमें पद्मनदी सैद्धांतिक का नाम आया है, कुलभूषण उनके शिष्य थे, तथा प्रभाचन्द्राचार्य कुल भूषण यति के सधर्म थे। इस लेख में प्रभाचन्द्रको शब्दाम्भोज भास्कर और प्रथित तर्क ग्रन्थकार लिखा है—

अविद्ध कर्णादिक पद्मनदि सैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके-
कौमारदेव व्रतिता प्रसिद्धिर्जीया त्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीर ।

तच्छिष्यः कुलभूषणाख्य यतिपश्चारित्रवारा निधिः ।

सिद्धाताम्बुधि पारगो नतविनेयस्तत् सधर्मो महान् ।

शब्दाम्भोरुह भास्करः प्रथित तर्क ग्रन्थकार. प्रभा-

चन्द्राख्यो मुनिराज पण्डितवरः श्री कुण्डकुन्दान्वयः ॥

आ० प्रभाचन्द्रको इस लेखमे जो विशेषण दिये हैं, उपयुक्त है। वास्तवमे वे शब्दरूपी कमलो-
को [शब्दाभोज भास्कर नामक ग्रन्थ] खिलाने के लिये सूर्यके समान और प्रसिद्ध तर्क ग्रन्थ प्रमेय
कमल मार्त्तण्ड के कर्ता है। जैन न्यायमे तार्किक दृष्टि जितनी इस ग्रन्थमे पायी जाती है अन्यत्र नहीं
है। प्रमेयकमल मार्त्तण्ड, न्याय कुमुद चन्द्र, शब्दाम्भोज भास्कर, प्रवचनसार सरोज भास्कर, तत्त्वार्थ-
वृत्ति पदविवरण, ये इतने ग्रन्थ प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा रचित निर्विवाद रूपसे सिद्ध हुए हैं।

१. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड—यह आचार्य-माणिक्यनंदीके परीक्षामुख सूत्रों-टीकां स्वरूप ग्रन्थ है। मत
मतांतरोंका तर्क वितर्कोंके साथ एवं पूर्वपक्षके साथ निरसन किया है। जैन न्यायका यह अद्वितीय
ग्रन्थ है। अपना प्रस्तुत ग्रन्थ यही है, जैन दर्शनमे इस कृतिका बड़ा भारी सम्मान है।

२. न्यायकुमुदचन्द्र—जैसे प्रमेयरूपी कमलो को विकसित करनेवाला मार्त्तण्ड सदृश प्रमेय कमल
मार्त्तण्ड है वैसे ही न्यायरूपी कुमुदको प्रस्फुटित करनेके लिये चन्द्रमा सदृश न्याय कुमुदचन्द्र है।

३. तत्त्वार्थवृत्ति पद विवरण—यह ग्रन्थ उमा स्वामी आचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थ सूत्र पर रची
गयी पूज्यपाद आचार्यकी कृति सर्वार्थ सिद्धिकी वृत्ति है। वैसे तो पूज्य पादाचार्यने बहुत विशद
रीत्या सूत्रोंका विवेचन किया, किन्तु प्रभाचन्द्राचार्यने सर्वार्थसिद्धिस्थ पदोंका विवेचन किया है।

४. शब्दाम्भोजभास्कर—यह शब्दसिद्धि परक ग्रन्थ है। शब्दरूपी कमलोको विकसित करने हेतु यह
ग्रन्थ भास्कर वत् है। ये स्वयं पूज्यपाद आचार्यके समान वैयाकरणी थे, इसी कारण पूज्यपाद द्वारा
रचित जैनेन्द्र व्याकरण पर शब्दाम्भोज भास्कर वृत्ति रची।

५. प्रवचनसारसरोजभास्कर—जैसे अन्य ग्रन्थोंको कमल और कुमुद सजा देकर अपनी कृतिको मार्त्तण्ड,
चन्द्र बतलाया है, वैसे प्रवचनसार नामक कुमुद आचार्यके अघ्यात्म ग्रन्थको सरोज सजा देकर
अपनी वृत्तिको भास्कर बतलाया। आपका ज्ञान न्याय और शब्दमे ही सीमित नहीं था, अपितु
आत्मानुभवकी ओर भी अग्रसर था। जिन गाथाओंकी वृत्ति अमृतचन्द्राचार्य ने नहीं की उन पर भी
प्रभाचन्द्राचार्यने वृत्ति की है।

समाधितन्त्र टीका आदि अन्य ग्रन्थ भी आपके द्वारा रचित माने जाते हैं किन्तु इनके विषयमे
विद्वानोंका एक मत नहीं है। इसप्रकार प्रभाचन्द्राचार्य मार्मिक विद्वान्, तार्किक, वैयाकरण आदि
पदोंसे सुशोभित श्रेष्ठतम दि० आचार्य हुए, उन्होंने अपने गुणोंद्वारा जैन जगतको अनुरजित किया,
साथ ही अपनी कृतियां एव महाव्रतादि आचरणद्वारा स्वपरका कल्याण किया। हमे आचार्यका उप-
कार मानकर उनके चरणोंमें नतमस्तक होते हुए याचना करनी है कि हे गुरुदेव! आपके ग्रन्थोंमे
पति हो एव हमारी आत्मकल्याणकारी प्रवृत्ति हो।

हिन्दी टीकाकर्त्री १०५ पूज्या विदुषीरत्न आर्यिका जिनमति माताजी—

हिन्दी भाषा प्रधान इस युगमें प्रायः सभी संस्कृत, प्राकृत भाषा ग्रन्थों का हिन्दीमें अनुवाद हुआ है तदनुसार पूज्या माताजीने प्रस्तुत ग्रन्थको अभी तक भाषान्तरित नहीं हुआ देखकर एव न्याय विषयके विद्यार्थियोंके लिये उपयोगी समझकर इसका अनुवाद किया है, आपका हम सभी पर महान उपकार है। विद्यार्थी तो आपकी इस कृतिसे लाभान्वित होंगे ही किन्तु स्वाध्याय प्रेमी भी अब इसका आस्वादन [स्वाध्याय] ले सकेंगे। माताजीने जिस शैली को अपनाया है वह अत्यंत सरल एव सुबोध है। दुरूह ग्रन्थकी सरलभाषामें टीका अनुपलब्ध है, प्रथम तो न्यायके ग्रन्थोंमें, जन साधारणकी रुचि ही नहीं, दूसरे भाषाकी कठिनता “मघवा शब्द विडोला टीका” की कहावत, चरितार्थ कर देती है। माताजीने इस ग्रन्थमें जितनी सरलता बरतनी चाहिये बरती है। कई स्थानोंपर बोल चाल के शब्द एव प्राप्तीय शब्द आ गये हैं ये सब उनकी सरल एव सरस प्रकृतिके द्योतक हैं।

अनुवाद विषयक विवरण—

इस मूल ग्रन्थ में जो प्रकरण हैं उनको पृथक पृथक शीर्षक देकर विभाजित किया है, वादी प्रतिवादीके कथनको विभाजित किया है। प्रत्येक प्रकरणके प्रारम्भमें तद तद मत सबधी ग्रन्थका उद्धरण लेकर “पूर्वपक्ष” रखा है जिससे परवादीके मतव्य का अच्छा परिचय हो जाता है।

प्रत्येक प्रकरणके अन्तमें तत्तद् प्रकरण का “सारांश” दिया है जो विद्यार्थियोंको परीक्षामें अत्युपयोगी होगा।

साहित्यिक ग्रन्थ, कथा परक ग्रन्थका अनुवाद सहजरूपसे किया जा सकता है किन्तु न्याय परक ग्रन्थों का अनुवाद सहज नहीं होता। यद्यपि टीकामें रूपान्तरकी मुख्यता है, आधुनिक युगके अनुसार टीका ग्रन्थों जैसा निर्वाह नहीं मिलता किन्तु यह प्रयास श्रेष्ठ है, प्रथम प्रयास है।

मेरी माताजीसे विनम्र प्रार्थना है कि अनुवाद तो सपूर्ण ग्रन्थका हो चुका ही है अतः शेष दो खण्डोंका मुद्रण भी शीघ्र हो जिससे अल्पज्ञोंको आपके ज्ञानका समुचित लाभ मिल सके।

सि० भू० पंडित रतनचंद जैन मुख्तार को मैं बहुत बहुत धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थको प्रकाशित करवानेमें पूर्ण सहायता दी।

पंडित मूलचंद जैन शास्त्री (महावीरजी) ने सद्योघन कार्य को करके जिनवाणी की सेवा की अतः वे बहुत अधिक धन्यवादके पात्र हैं।

गुलाबचन्द जैन
प्राचार्य

दिगंबर जैन संस्कृत कॉलेज, जयपुर [राजस्थान]

ग्रन्थमाला सम्पादक की कलम से

जैन वाङ्मय में न्याय ग्रन्थों का पठन-पाठन वर्तमान में बहुत ही अल्प मात्रा में है। जिसका प्रमुख कारण यह भी है कि न्याय ग्रन्थों के हिन्दी सरल भाषा में भाषान्तर कम ग्रन्थों के हुए हैं। जिस प्रकार से श्लोकवातिक और अष्टसहस्री आदि न्यायसार के महान ग्रन्थ हैं। उसी प्रकार से प्रमेय कमल मार्त्तण्ड का नाम भी विशिष्ट ग्रन्थों में आता है। सन् १९६९-७० की बात है, पूज्य आर्यिका रत्न श्री ज्ञानमती माता जी अष्टसहस्री ग्रन्थ का अनुवाद कर रही थी, उसी समय कई बार आपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के अनुवाद के लिए अपनी ज्येष्ठ सुशिष्या श्री जिनमती जी को प्रेरित किया और उसी प्रेरणा के फलस्वरूप आज प्रमेय कमल मार्त्तण्ड का हिन्दी भाषानुवाद पाठको के हाथ में पहुँच रहा है।

आर्यिका श्री जिनमती माता जी के ज्ञान का इतना विकास किस प्रेरणा का स्रोत है, कि एक न्याय आगम के इतने विशिष्ट ग्रन्थ का भाषानुवाद करने की क्षमता प्राप्त करके साध्वी जगत् में अपना नाम विश्रुत कर लिया है। इस सन्दर्भ में पूज्य आर्यिका रत्न श्री ज्ञानमती माता जी के उपकार को नहीं भुलाया जा सकता।

सन् १९५५ की बात है आर्यिका ज्ञानमती माता जी क्षुल्लिका श्री वीर मती माता जी के पद में थी—उस समय आप चारित्र चक्रवर्ती आचार्यवर्य श्री शान्तिसागरजी महाराज की सल्लेखना के समय आचार्य श्री के दर्शनार्थ क्षु० विशाल मती जी के साथ दक्षिण भारत में विहार कर रही थी, वही पर सोलापुर के निकट म्हसवड ग्राम जिला सातारा में आपने चातुर्मास किया। चातुर्मास के मध्य अनेक लडकियाँ पूज्य माता जी से कानन व्याकरण, द्रव्य सग्रह, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर रही थी। लडकियों में एक 'प्रभावती' नाम की २० वर्षीया लडकी थी। जो विवाह नहीं करना चाहती थी। माता जी ने अपने वात्सल्य के प्रभाव से प्रभावती को आकर्षित किया, और सन् १९५५ की दीपावली के शुभ दिन वीर प्रभु के निर्वाण दिवस में १० वी प्रतिमा के व्रत दे दिए।

वहाँ से विहार कर पूज्य माता जी ने प्रभावती को एव एक और सौभाग्यवती महिला सोनुबाई को साथ लेकर आ० श्री वीर सागर जी के संघ में प्रवेश किया, और स्वयं आर्यिका दीक्षा लेकर ज्ञानमती नाम प्राप्त किया तथा ब्र० प्रभावती को क्षुल्लिका दीक्षा दिलाकर जिनमती नाम करण किया। पूज्य माता जी ने क्षुल्लिका जिनमती को छहढाला, द्रव्य सग्रह से लेकर जिनेन्द्र प्रक्रिया, जैनेन्द्रमहावृत्ति, गोम्मटसार, लेब्धिसार, मूलाचार, अनंगार घर्मासूत, प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड, न्याय कुमुद चन्द्र राजवातिक आदि प्रारम्भ से लेकर अनेक उच्चतम ग्रन्थों का मूल से अध्ययन कराके निष्णात बना दिया।

संघ में यद्यपि न्याय, व्याकरण आदि ग्रन्थों का पठन-पाठन बहुत ही अल्प मात्रा में होता था। फिर भी न्याय ग्रन्थों की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये पूज्य आर्यिका रत्न

श्री ज्ञानमती माता जी को न्याय ग्रन्थों के पठन-पाठन से बड़ा ही प्रेम रहा है, वे अपनी सभी शिष्याओं को न्याय के परीक्षामुख से लेकर अष्टसहस्री आदि उच्चतम ग्रन्थों तक तथा व्याकरण कातत्र, जैनेन्द्र प्रक्रिया आदि का अध्ययन अवश्य कराती हैं।

सन् १९६१ में सीकर, चातुर्मास के मध्य आ० श्री शिवसागरजी के करकमलो से क्षु० जिनमती जी की आर्यिका दीक्षा सोल्लास सम्पन्न हुई। आर्यिका जिनमती जी प्रारम्भ से ही निरन्तर आर्यिका ज्ञानमती माता जी के सान्निध्य में ही ज्ञानार्जन करती रही है। सन् १९६२ में पूज्य ज्ञानमती माताजी ने सम्मेल शिखर यात्रा के लिए सघ से अलग प्रस्थान किया, तब आ० पद्मावतीजी आ० जिनमतीजी, आ० आदिमतीजी, क्षु० श्रेयासमतीजी, उनके साथ थी। यात्रा के प्रवास में भी आपने अपनी शिष्याओं को सदैव अध्ययन में ही व्यस्त रखा है।

१९७० में जिस समय पूज्य आर्यिका रत्न श्री ज्ञानमती माताजी अष्टसहस्री का अनुवाद कर रही थी। उस समय जिनमती माताजी ने भी प्रमेय कमल मार्तण्ड का अनुवाद प्रारम्भ करके पूर्ण कर दिया था। इस प्रकार आ० जिनमतीजी ने १६ वर्ष तक निरन्तर आर्यिका रत्न श्री ज्ञानमती माताजी की छत्र छाया में रहकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य रूपी निधि को प्राप्त किया है।

वास्तव में कोई माता तो केवल जन्म ही प्रदान करती है लेकिन आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने अपनी सभी शिष्याओं को घर से निकालकर उनको केवल चारित्र्य पथ पर ही नहीं आरूढ किया है बल्कि उनके ज्ञान का पूर्ण विकास करके निष्णात बनाया है। कई वर्षों से मुझे भी पूज्य माताजी की छत्र छाया में रहने का एव उनसे कुछ ज्ञानार्जन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। कई बार जिनमतीजी ने स्वयं भी कहा है कि गर्भाधान क्रिया से न्यून में ज्ञानमती माताजी ही हमारी सच्ची माता हैं। इनका मेरे ऊपर बहुत उपकार है। स्वामी समतभद्र ने भगवान को भी माता की उपमा दी है। “मातेव बालस्य हितावुशास्ता” भगवन् आप माता के समान बालको के लिये हित का अनुशासन करने वाले हैं, वास्तव में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य में हाथ पकड़ कर लगाने वाले गुरु ही सच्ची माता हैं।

आशा एव पूर्ण विश्वास है कि विद्वद्वर्ग ही नहीं, वरन् समस्त जन समुदाय हिन्दी अनुवाद के द्वारा इस महान ग्रन्थ के विषय को सुगमता से समझ कर अपने ज्ञान को सम्यक् बनाकर भव-भव के दुखों से छूट कर अव्याबाध सुख को प्राप्त करेगा।

इन्हीं शब्दों के साथ परम उपकारी, महान विदुषी, न्याय प्रभाकर आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी के अभीक्षण ज्ञानोपयोग रूप महत् गुणों की प्राप्ति हेतु उन्हें अनन्त अभिनन्दन करते हैं।

सम्पादक:-

मोतीचन्द जैन

रवीन्द्रकुमार जैन

परम पूज्य तपस्वी आचार्यप्रवर
३०६ श्री शिवसागरजी महाराज



तपस्तपति यो नित्य, कृशागो गुणपीनक ।
शिवमिन्धुगुरु वदे, भव्यजीवहितकरम् ॥

जन्म
वि० सं० १९५८
अडग्राम
(महाराष्ट्र)

कुल्लक दीक्षा :
वि० सं० २००१
सिद्धवरकूट

मुनि दीक्षा :
वि० सं० २००६
नागौर (राज०)

समाधि :
फात्गुन अमावस्या
वि० सं० २०२५
श्री महावीरजी

विषय परिचय

प्रथम ही सबधायियेम 'इष्टप्रयोजन, शक्यानुष्ठानादि की तथा मगलाचरण की चर्चा है अनतर जरन्नेयायिक प्रमाण के विषय मे अपना पक्ष स्थापित करता है। इस ग्रन्थ में प्रमाण तत्वका मुख्यतया विवेचन है। प्रमाण अर्थात् पदार्थों को जानने वाली चीज, इस प्रमाण के विषयमे विभिन्न मतों में विभिन्न ही लक्षण पाया जाता है। नैयायिक कारक साकल्यको प्रमाण मानता है। वंशेषिक सन्निकर्ष को, सांख्य इन्द्रिय वृत्ति को, प्रभाकर (मीमांसक) ज्ञातृ व्यापार को प्रमाण मानते हैं। अतः इन कारक साकल्यादि का आचार्य ने क्रमशः पूर्व पक्ष सहित कथन करके खण्डन किया है। और ज्ञान ही प्रमाण है यह सिद्ध किया है। बौद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण को निर्विकल्प रूप स्वीकार करता है इसका भी निरसन किया है। शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि आदि प्रमाण को ही नहीं अपितु सारे विश्व को ही शब्दमय मानते हैं इस मत का निरसन करते ही प्रमाण के स्वरूप के समान उसके द्वारा ग्राह्य विषय मे विवाद खडा होता है। जैन प्रमाण का विषय कथंचित् अपूर्व तथा सामान्य विशेषात्मक मानते हैं जो सर्वथा निर्वाच्य सत्य है। किन्तु एकान्त पक्ष से दूषित बुद्धि वाले मीमांसकादि प्रमाण को सर्वथा अपूर्वार्थका ग्राहक मानते हैं उनको समझाया गया है कि प्रमाण को सर्वथा अपूर्व ग्राहक मानने मे क्या २ बाधाये आती हैं। प्रमाण संशय, विपर्यय अनध्यवसाय रहित होता है। विपर्यय ज्ञान के विषय मे भी विविध मान्यता है। चार्वाक विपर्यय का अख्याति रूप (अभाव रूप) मानता है। बौद्ध असत् ख्याति रूप, साख्य प्रसिद्धार्थ ख्याति को, शून्यवादी आत्म ख्याति को तथा ब्रह्मवादी अनिर्वचनीयार्थ ख्याति को विपर्यय ज्ञान कहते हैं। प्रभाकर स्मृति प्रमोष को (याद नहीं रहना) विपर्यय बतलाते हैं। इन सबका निराकरण करके आचार्य ने विपर्यय का विषय विपरीत पदार्थ सिद्ध किया है। जब प्रमाण का विषय कथंचित् अपूर्व ऐसा बहिरंग अन्तरंग पदार्थ रूप सिद्ध हुआ तब अद्वैतवादी उसमे सहमत नहीं हुए, ब्रह्मवादी सपूर्ण विश्वको ब्रह्ममय, बौद्ध के चार भेदों मे से योगाचार, विज्ञानमय, चित्ररूप और माध्यमिक सर्वथा शून्य रूप मानता है। इनका क्रमशः खण्डन किया है। पुनः ज्ञानको जड का धर्म मानने वाले साख्य और चार्वाक अपना पक्ष रखते हैं। अर्थात् साख्य ज्ञान को जड प्रकृति का गुण मानता है। और चार्वाक पृथिवी आदि भूतों का, अतः इनका खण्डन किया है, तथा ज्ञान को साकार मानने वाले बौद्ध का खण्डन किया है। मीमांसक (भाट्ट) ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानता है। प्रभाकर ज्ञान और आत्मा दोनों को परोक्ष मानता है। नैयायिक ज्ञान को जानने वाला दूसरा ज्ञान होता है। ऐसा मानता है। इस प्रकार ये क्रमशः परोक्ष ज्ञानवादी, आत्म परोक्ष वादी ज्ञानान्तर वेद्य ज्ञानवादी कहलाते हैं। इनका निराकरण करके इस अध्याय के अन्त मे मीमांसक के स्वतः प्रमाणवाद का सुविस्तृत विवेचन

सहित खण्डन पाया जाता है । इस प्रकार प्रथम अध्याय में कारक साकल्यवाद, सन्निकर्षवाद, इन्द्रियवृत्ति, ज्ञातृव्यापार, निर्विकल्पप्रत्यक्षवाद, शब्दाद्वैतवाद, विपर्ययविवाद, स्मृति प्रमोप अपूर्वार्थवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, विज्ञानाद्वैतवाद, चित्राद्वैत, शून्याद्वैत, अचेतनज्ञानवाद, साकारज्ञानवाद, भूतधैतन्यवाद, ज्ञानपरोक्षवाद, आत्मपरोक्षवाद, ज्ञानातरवेद्यज्ञानवाद, प्रमाण्यवाद इतने प्रकरणों का समावेश है ।

दूसरे अध्याय में प्रत्यक्षैक प्रमाणवाद, प्रमेयद्वै विध्यवाद, नैयायिक, मीमांसक के द्वारा बौद्ध के प्रमाणसख्या का निरसन, मीमांसक के द्वारा उपमा, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाण का समर्थन, शक्ति स्वरूप विचार, अभाव प्रमाणका प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अतर्भाव, मीमांसक के प्रागभाव आदि अभावोका विस्तृत निरसन, विशद ज्ञानका स्वरूप, चक्षु सन्निकर्षवाद, साव्यावहारिक प्रत्यक्ष इन प्रकरणों का समावेश है । अब यहाँ पर इन ३० प्रकरणों का शब्दार्थ और सक्षिप्त भावार्थ बताया जाता है—

कारक साकल्यवाद—कारक-ज्ञानों को करने वाले अर्थात् ज्ञान जिन कारणों से उत्पन्न होता है वे कारक कहलाते हैं । उनका साकल्य अर्थात् पूर्णता होना कारक साकल्य है उसको मानना कारकसाकल्यवाद है । इसका प्रतिपादन करने वाले नैयायिक हैं । इनका कहना है कि पदार्थोंको जानने के लिये ज्ञान और अज्ञानरूप दोनों ही सामग्री चाहिये, कर्ता आत्मा तथा ज्ञान बोधरूप सामग्री और प्रकाश आदि अज्ञान-अबोधरूप सामग्री है यही प्रमाण है भावाथ यह हुआ कि वस्तु का ज्ञान जिन चेतन अचेतन की सहायता से होता है वह सब प्रमाण है ।

सन्निकर्षवाद—स्पर्शनादि इन्द्रिया तथा मन इन छहों द्वारा छूकर ही ज्ञान होता है, सन्निकर्ष अर्थात् स्पर्शन आदि पाचों इन्द्रिया तथा मन भी पदार्थोंका स्पर्श करते हैं । तभी उनका ज्ञान होता है । जो छूना है वह तो प्रमाण है । और पदार्थका जो ज्ञान हुआ वह उस प्रमाण का फल है ऐसा वैशेषिक का कहना है ।

इन्द्रियवृत्ति—“इन्द्रियाणा वृत्तिः, इन्द्रिय वृत्ति ” अर्थात् स्पर्शन आदि इन्द्रियों का पदार्थों को जाननेके लिये जो प्रयत्न होता है, वही प्रमाण है जैसे नेत्र खोलना आदि क्रिया है वह प्रमाण है ।

ज्ञातृ व्यापार—ज्ञाताका पदार्थ को जानने में जो व्यापार [प्रवृत्ति] होता है । वह प्रमाण है । मतलब पदार्थ को जानने के लिये जो हमारी आत्मा में क्रिया होती है उसे प्रमाण कहना चाहिये इस प्रकार मीमांसक (प्रभाकर) कहते हैं ।

निर्विकल्प प्रत्यक्षवाद—प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वथा कल्पना से रहित निर्विकल्प रहता है अर्थात् यह घट है इत्यादि वस्तु विवेचनसे रहित जो कुछ ज्ञान है जिसमें शब्द योजना नहीं है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है । ऐसी बौद्धों की धारणा है ।

शब्दाद्वैतवाद—शब्द-अद्वैत-वाद शब्द मात्र जगत है शब्द से अन्य दूसरा कुछ नहीं ऐसा मानना शब्दाद्वैतवाद है। इस मतके प्रतिष्ठापक भर्तृहरि का कहना है कि जगत के दृश्यमान और अदृश्यमान सभी पदार्थ शब्दमय है। ज्ञान, ज्ञेय या प्रमाण प्रमेय आदि सब कुछ शब्दरूप ही तत्त्व है।

विपर्यय ज्ञान विचार—किसी वस्तु का सदृशता आदि कारणों से विपरीत ज्ञान होना विपर्यय ज्ञान है। इस ज्ञान के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं।

स्मृति प्रमोष—विपर्यय ज्ञान को ही प्रभाकर स्मृतिप्रमोषरूप अर्थात् स्मृति नष्ट होना रूप मानते हैं।

अपूर्वार्थवाद—प्रमाण का विषय सर्वथा अपूर्व किसी भी प्रमाण के द्वारा नहीं जाना हुआ ऐसा नवीन ही हुआ करता है। ऐसा मीनासक का मत है। उसको खडित करके प्रमाण कथंचित अपूर्व विषयवाला होता है। इस प्रकार सिद्ध किया है।

ब्रह्माद्वैतवाद—ब्रह्ममय (चेतनमय) जगत है, एक ब्रह्म को छोड़कर दूसरा पदार्थ ही ससार में नहीं है, परम ब्रह्म सर्वत्र व्यापक अत्यन्त सूक्ष्म है, और उसी के ये सभी दृश्य पदार्थ विवर्त हैं। जड कहलाने वाले पदार्थ भी ब्रह्ममय हैं। ऐसा ब्रह्मवादी का कहना है।

विज्ञानाद्वैत—बौद्ध का एक भेद योगाचार का कहना है कि एक ज्ञान मात्र तत्त्व है और कुछ भी नहीं, यह दिखाई देने वाले नाना पदार्थ मात्र कल्पना जाल है। अनादि अविद्याके कारण यह सब पदार्थ मालूम पड़ते हैं, किन्तु वास्तविक तो विज्ञान ही एक मात्र वस्तु है। उसी का ज्ञेयाकार रूप से ग्रहण हुआ करता है।

चित्राद्वैत—ज्ञान में अनेक आकार हैं। वही सब कुछ है, अन्य नहीं ऐसा बौद्ध के कुछ भाई प्रतिपादन करते हैं।

शून्याद्वैत—बौद्ध का चौथा भेद माध्यमिक शून्यवादी है, वह तो अपने अन्य बौद्ध भाई से आगे बढ़ कर कहता है कि विज्ञानरूप तत्त्व भी सिद्ध नहीं हो पाता अतः सर्वशून्यता माननी चाहिये।

अचेतनज्ञानवाद—ज्ञान अचेतन है, क्योंकि वह प्रकृति का घर्म है। ऐसा साख्य प्रतिपादन करते हैं। आत्मा मात्र चेतन है निराकार है। अतः उसमें यह घट आदि का आकार रूप ज्ञान रह नहीं सकता आत्मा अमूर्तिक है इसलिये भी आत्मा में ज्ञान नहीं रहता ऐसा इनका हटाग्रह है।

साकारज्ञानवाद—ज्ञान में नील, पीत आदि आकार होते हैं। ज्ञान घट आदि पदार्थ से उत्पन्न होकर उसका आकार ग्रहण करता है ऐसा बौद्धका कहना है।

भूतचैतन्यवाद—भूतचतुष्टय (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि) से जीव पैदा होता है और उसमें ज्ञान रहता है । अर्थात् ज्ञान पृथ्वी आदि जड तत्वों का ही कार्य है । उन्हीं से जीव सहित शरीरादिक उत्पन्न हुआ करते हैं ऐसा चार्वाकिका कहना है ।

ज्ञानपरोक्षवाद—ज्ञान सर्वथा परोक्ष रहता है । सिर्फ उसके द्वारा जाने हुए पदार्थ साक्षात् होते हैं । इस प्रकार भाट्ट भीमासक कहते हैं ।

आत्मपरोक्षवाद—प्रभाकर नामा भीमासक ज्ञान के साथ साथ आत्मा को भी अर्थात् करणस्वरूपज्ञान और कर्त्तारूप आत्मा इन दोनों को सर्वथा परोक्ष मानते हैं अतः ये आत्मपरोक्षवादी कहलाते हैं ।

ज्ञानांतरवेद्यज्ञानवाद—नैयायिक ज्ञानको अन्यज्ञानके द्वारा जानने योग्य बतलाते हैं । पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान है और उसको जाननेवाला दूसराज्ञान है । क्योंकि अपने आपमें क्रिया नहीं होती एव एक ज्ञान एकही वस्तुको जान सकता है ऐसा इनका हटाग्रह है ।

प्रामाण्यवाद—प्रमाणमें प्रामाण्य (सचाई) एकांत से स्वतः ही आती है ऐसा भीमासक प्रतिपादन करते हैं । इसका सुविस्तृत पूर्व पक्ष सहित विवेचन विशतितम प्रकरण में होकर प्रथम परिच्छेद समाप्त होता है ।

प्रत्यक्षक प्रमाणवाद—चार्वाक के प्रत्यक्षमात्र को प्रमाण मानने का खडन इस प्रकरण में है ।

प्रमेय द्वैविध्यवाद—स्वलक्षण और सामान्य इस प्रकार दो प्रकार का प्रमेय है । अतः उनको जानने वाले प्रमाण में भेद हुआ है । स्वलक्षण को प्रत्यक्ष और सामान्य को अनुमान विषय करता है ऐसा बौद्ध कहते हैं ।

प्रमाणसख्याविवाद—जब बौद्ध ने दो प्रमाणों का प्रतिपादन किया तब नैयायिक भीमासक अपने उपमान आदि प्रमाणों का विवेचन करते हैं और बौद्ध के प्रत्यक्ष और अनुमान इस प्रकार की प्रमाण सख्या का विघटन कर टालते हैं ।

अर्थापत्ति आदि का वर्णन—इस प्रकरण में भीमासक ने अपने भीमासा श्लोकवार्तिक ग्रन्थ के आधार से अर्थापत्ति, उपमा और अभाव प्रमाण का वर्णन करके इनको पृथक प्रमाण सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है ।

शक्तिस्वरूपविचार—नैयायिक पदार्थों में अतीन्द्रियशक्तिको नहीं मानते अतः इसका पूर्व पक्ष सहित कथन करके द्रव्य शक्ति और पर्याय शक्ति का बहुत ही अधिक महत्त्वशाली वर्णन इस प्रकरण में पाया जाता है ।

अभावप्रमाणका प्रत्यक्षादि मे अन्तर्भाव—मीमांसक के अभाव प्रमाण का यथा योग्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो मे किस प्रकार समावेश होता है । इसका प्रतिपादन कर आचार्य ने सभी प्रवादी के प्रमाण संख्या का खण्डन करके प्रत्यक्ष और परोक्ष इस प्रकार दो ही प्रमुख प्रमाण है । यह सिद्ध किया है, परोक्ष प्रमाण मे अनुमान, आगम आदि प्रमाणो का भली प्रकार से समावेश होता है । तथा मीमांसक के अर्थापत्ति का अनुमान में और उपमान का प्रत्यभिज्ञानमे अन्तर्भाव करके प्रमाण संख्या का निर्णय किया है ।

प्रागभावादि का विवेचन—मीमांसक के प्रागभाव आदि चारो अभावो का लक्षण सदोष बतलाकर जैन सिद्धांतानुसार इनके लक्षणका प्रणयन इस प्रकरणमे पाया जाता है ।

विशदत्वविचार—बौद्ध विशद और अविशद धर्मो को पदार्थ का स्वभाव बतलाते है सो उसका निरसन कर ज्ञान मे विशदत्व और अविशदत्व स्वभाव होता है ऐसा सिद्ध किया है ।

चक्षु सन्निकर्षवाद—स्पर्शन आदि इन्द्रियो की तरह नेत्र भी पदार्थ को छूकर ही बोध कराते है । ऐसा नैयायिकादि का कहना है सो इसका खण्डन किया है ।

सांख्यवहारिकप्रत्यक्ष—इन्द्रिया और मन से होने वाले एक देश विशद ज्ञान को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते है । इसका कथन करते हुए योग के "पृथ्वी" आदि एक-एक भूत से एक घ्राणादि इन्द्रिया बनती है ऐसे मत का निरसन किया है और बतलाया है कि "स्पर्शनादि इन्द्रिया पुद्गल द्रव्य से निर्मित है ।" पृथ्वी आदि चारो पदार्थो मे स्पर्श, रस, गंध और वर्ण चारो ही गुण मौजूद है । इस प्रकार "श्री माणिक्यनदी विरचित परीक्षा मुख ग्रन्थ की बृहत् काय टीका स्वरूप प्रमेय कमल मार्तण्ड मे प्रमाण का वर्णन बहुत ही विस्तृत किया गया है । इसके प्रथम भाग मे परीक्षा मुख के प्रथम अध्याय के १३ और द्वितीय अध्याय के ५ कुल १८ सूत्रो का विवेचन है । श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रमाण के लक्षण मे जो विविध मान्यता है उसका अखिलित रूप से खण्डन किया है । और स्याद्वादवाणीसे उसका निर्दोष लक्षण तथा भेद, आदि अन्य विषयो का वर्णन किया है ।



प्रथम खंड में आगत-परीक्षामुख के सूत्र

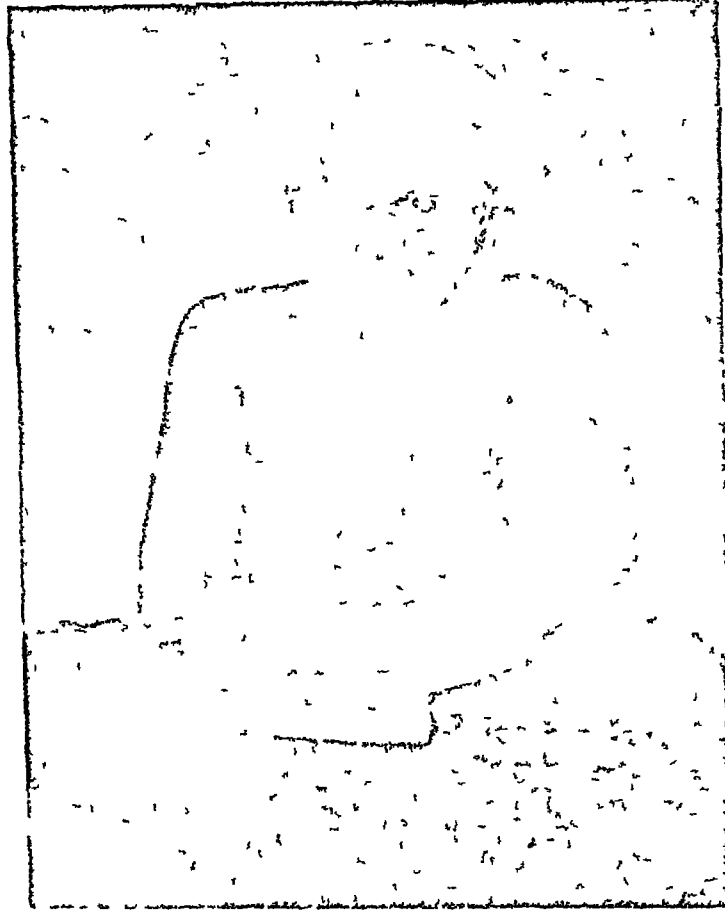
प्रमाणदर्थससिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।

इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्ध मल्प लघीयसः ॥१॥

- | | |
|--|--|
| <p>१ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञान प्रमाणम् ।</p> <p>२ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।</p> <p>३ तन्निश्चयात्मक समारोपविरुद्धत्वादानुमानवत् ।</p> <p>४ अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ।</p> <p>५ दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ।</p> <p>६ स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ।</p> <p>७ अर्थस्यैवतदुन्मुखतया ।</p> <p>८ घटमहमात्मना वेद्मि ।</p> <p>९ कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ।</p> <p>१० शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ।</p> | <p>११ को वा तत्प्रतिभासिनमर्थं मध्यक्षमिच्छस्त-
देव तथा नेच्छेत् ।</p> <p>१२ प्रदीपवत् ।</p> <p>१३ तत्प्रामाण्य स्वतः परतश्च ।</p> <p style="text-align: center;">॥ द्वितीयः परिच्छेदः ॥</p> <p>१ तद् द्वेषा</p> <p>२ प्रत्यक्षेतरभेदात् ।</p> <p>३ विशद प्रत्यक्षम् ।</p> <p>४ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्ताया वा प्रतिभासान वैशद्यम् ।</p> <p>५ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांग्याव-
हारिकम् ।</p> |
|--|--|



परमपूज्य प्रशांत मुद्राधारी आचार्यवर्य
१०८ श्री धर्मसागरजी महाराज



धर्मसागर आचार्यो, धर्मसागर वर्द्धने ।
चन्द्रवत् वर्त्तते योऽसी, नमरयामि त्रिष्टुतः ॥

जन्म :
षीष पूर्णिमा
वि० स० १६७०
गभीरा गाम (राज०)

कुल्लक दीक्षा
वि० स० २०००
वालूज ग्राम
(महाराष्ट्र)

मुनि दीक्षा :
वि० स० २००७
फुलेरा (राज०)

विषयानुक्रमिका

विषय	पृष्ठ
मगलाचरण	१
प्रतिज्ञा श्लोकादि	२-४
परीक्षामुखका आदिश्लोक	५
संबंधाभिधेयादि विचार	५-७
प्रमाणादिपदो की व्युत्पत्ति	८-१४
प्रमाणका लक्षण	१५-१६
कारक साकल्यवादका पूर्व पक्ष	१७-१८
कारक साकल्यवाद [नैयायिकाभिमत]	१९-३३
कारकसाकल्य उपचारमात्रसे प्रमाण हो सकता है	२०
कारक साकल्यका स्वरूप क्या है	२१
सकल कारक ही कारकसाकल्यका स्वरूप है	२२
उनका धर्म, या सयोग, या पदार्थान्तर?	२४-३२
कारकसाकल्यवादका साराश	३२-३३
सन्निकर्षवादका पूर्वपक्ष	३४-४०
सन्निकर्षवाद [वैशेषिकाभिमत]	४१-५४
सन्निकर्षका स्वरूप	४१
सन्निकर्ष को प्रमाण मानने में दूषण	४२
योग्यता किसे कहते हैं?	४२-४४
प्रमाता और प्रमेयसे प्रमाण पृथक् होना चाहिये	४५
योगजधर्मका अनुग्रह	४७-४६
मनुका महेश्वर से सबध होना और महेश्वरका सर्वत्र व्यापक रहना	५०

विषय	पृष्ठ
महेश्वर सपूर्ण पदार्थोंको क्रमसे जानता है या अक्रमसे ?	५१
सन्निकर्षवादके खडनका साराश	५२-५४
इन्द्रियवृत्ति प्रमाणका पूर्वपक्ष	५५
इन्द्रियवृत्ति विचार [सांख्याभिमत]	५६-५८
ज्ञातृव्यापार विचार-पूर्वपक्ष	५६
ज्ञातृव्यापार विचार (प्रभाकर-मीमांसकाभिमत)	६०-७४
प्रभाकरद्वारा मान्य ज्ञातृव्यापाररूप प्रमाणका लक्षण बाधित होता है, ज्ञातृव्यापारका ग्राहक कौनसा प्रमाण है, प्रत्यक्ष या अनुमान ? प्रत्यक्षके तीनो भेद ज्ञातृव्यापारके ग्राहक बन नहीं सकते	६०
अनुमानप्रमाण भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता	६१
ज्ञाताका व्यापार और अर्थप्रकाशकत्वका अविनाभाव असिद्ध है	६२
अनुपलभ हेतु द्वारा भी ज्ञातृव्यापार की सिद्धि नहीं होती	६३
दृश्यानुपलभके चार भेद	६४
ज्ञातृव्यापार कारकोसे जन्य है या अजन्य ?	६६
कारकोसे जन्य है तो क्रियात्मक है या अक्रियात्मक ?	६८

विषय	पृष्ठ
वह व्यापार घर्मी स्वभावरूप है या घर्म स्वभावरूप ?	६६
प्रत्यक्षगम्य पदार्थमें प्रश्न नहीं हुआ करते	७०
ज्ञानस्वभाववाला ज्ञातृव्यापार भी सिद्ध नहीं होता	७१
ज्ञातृव्यापारके खडन का साराश	७३-७४
प्राप्ति परिहार विचार	७५-७९
हित अहितका लक्षण	७५
पदार्थकी प्रदर्शकता ही प्राप्ति कहलाती है	७६
प्राप्तिपरिहारका साराश	७८-७९
निर्विकल्पप्रत्यक्षका पूर्वपक्ष	८०-८५
बौद्धाभिमत निर्विकल्प प्रमाणका खंडन	८६-११३
निश्चायक ज्ञान ही प्रमाण है	८७
निर्विकल्प विशद हो और विकल्प अविशद हो ऐसा प्रतीत नहीं होता	८८
विकल्पद्वारा निर्विकल्प अभिभूत होता है ?	८९
विकल्पज्ञानमें दो स्वभावकी आपत्ति	९०
निर्विकल्प दृश्यको विषय करता है और सविकल्प का विषय विकल्प्य है ?	९१
दृश्य और विकल्प्य दोनोंको कौनसा ज्ञान ग्रहण करेगा ?	९२
विकल्पके घर्म द्वारा निर्विकल्पका स्वभाव क्यों नहीं दब जाता ?	९३
निर्विकल्प और विकल्पके एकत्वको कौन जानता है ?	९५
बौद्धके प्रत्यक्षका लक्षण	९६
अनिश्चयस्वरूप निर्विकल्पको प्रमाण माने तो अनव्यवसाय को भी प्रमाण मानना होगा	९७
वासना की सहायतासे निर्विकल्पद्वारा	

विषय	पृष्ठ
विकल्प पैदा किया जाता है ?	९६
निर्विकल्प द्वारा जैसे नीलादि विषयमें विकल्प पैदा किया जाता है वैसे	
क्षण क्षयादिमें क्यों नहीं किया जाता ?	१००
अभ्यास प्रकरण आदि नहीं होनेसे क्षणादि में विकल्प पैदा नहीं कराया जाता ?	१०१
निर्विकल्पमें दो विरुद्ध स्वभाव मानने होने ?	१०२
अवग्रह ईहा और अवाय ज्ञान अनभ्यास रूप हैं	१०३
विकल्पवासनाओंका अनादि प्रवाह	१०४
प्रतिवधकके अभाव होने पर आत्मा ही विकल्पभूत ज्ञानको उत्पन्न करता है	१०५
बौद्ध विकल्प ज्ञानको अप्रमाण भूत क्यों मानते हैं ? स्पष्टाकार से रहित होनेसे, अगृहीत ग्राही होनेसे इत्यादि ग्यारह कारणोंसे अप्रमाण माना है क्या ?	१०६ से ११०
निर्विकल्प प्रत्यक्षके खडनका साराश	१११-११३
शब्दाद्वैतवादका पूर्व पक्ष	११४-११८
शब्दाद्वैत विचार (भर्तृ हरिका मंतव्य)	११९-१३८
शब्दब्रह्मका स्वरूप	१२०
ज्ञानोमें शब्दानुबिद्धता है ऐसा कौन से प्रमाणसे सिद्ध करते हैं, प्रत्यक्ष से या अनुमानसे ?	१२०
पदार्थ और तद् वाचक शब्दोंका प्रदेश पृथक पृथक है	१२१
नेत्रजज्ञानमें शब्दानुबिद्धता कहा है ?	१२२
पदार्थोंमें अभिधानानुषक्तता क्या है ?	१२४
वैखरी वाक् आदि वाणीका लक्षण	१२५

विषय	पृष्ठ
पदार्थोंकी शब्दानुविद्धता अनुमानसे सिद्ध करना भी अशक्य है	१२७
क्या गिरि आदि पदार्थ तद् वाचक शब्द जितने होते है ?	१२८
शब्दमय पदार्थ है तो बहिरे व्यक्ति को शब्द सुनायी देना चाहिये ?	१२६
पदार्थ और शब्दमे अभेद मानेगे तो देशभेद, कालभेद आदि प्रत्यक्षसिद्ध भेदोका अपलाप होगा	१३०
नित्यरूप शब्दब्रह्मसे क्रम क्रमसे कार्योत्पत्ति होना अशक्य है	१३१
अविद्याके कारण शब्दब्रह्मको उत्पत्ति विनाशशील माना है ?	१३२
शब्दब्रह्मकी सिद्धि कार्यहेतुसे होती है या स्वभाव हेतुसे ?	१३३
शब्दब्रह्मकी सिद्धि के लिये उपस्थित किया गया अनुमान	१३४
शब्दाद्वैतके निरसनका सारांश	१३५-१३८
सशयस्वरूप सिद्धि	१३६-१४१
विपर्ययज्ञानमें अख्यात्यादि विचार	१४२-१५०
विपर्ययज्ञानको अख्याति आदि सात प्रकारसे मानने वालोके पक्ष	१४२
विपर्ययज्ञानके विषयमे चार्वाकिका अभिमत	१४३
माध्यमिकमतका विपर्यय स्वरूप और साख्य द्वारा उसका निरसन	१४४
सार्याभिमत प्रसिद्धार्थख्याति वाला	

विषय	पृष्ठ
विपर्यय लक्षण अयुक्त है	१४५
विज्ञानाद्वैत मतका आत्मख्याति रूप विपर्यय	१४६
शकरमतका विपर्यय ज्ञानका स्वरूप	१४७
विपर्ययज्ञान अनिर्वचनीय नहीं है	१४८
स्मृति प्रमोष विचार	
[प्रभाकर का मंतव्य]	१५१-१६५
विपर्यय ज्ञानमे रजत भलकता है या सीप ?	१५२
विपर्ययमे दो ज्ञानोके आकार	१५२
प्रभाकराभिमत स्मृति प्रमोष रूप विपर्यय ज्ञानका खडन	१५४
प्रभाकर के यहा विवेक अख्याति सभव नहीं	१५६
स्मृतिप्रमोष शब्दका क्या अर्थ है ?	१५७
स्मृतिप्रमोष ज्ञानमे क्या भलकता है ?	१५८
विपरीत आकार का भलकना स्मृतिप्रमोष है ऐसा तृतीय पक्ष	१५९
द्विचन्द्रादिवेदन भी विपर्यय रूप होवेगा !	१६१
विपर्यय दो ज्ञान स्वरूप नहीं है	१६२
विपर्ययज्ञानके विवाद का सारांश	१६३-१६४
स्मृति प्रमोष खडन का सारांश	१६४-१६५
अपूर्वार्थविचारका पूर्व पक्ष	१६६
अपूर्वार्थत्व विचार	
(मीमांसक का अभिमत)	१६७-१७८
अपूर्वार्थका लक्षण	१६७-१६८
सर्वथा अनधिगतको प्रमाणका विषय माने तो बाधा आयेगी	१६६

विषय	पृष्ठ
निश्चित विषय को पुन निश्चित करनेकी क्या आवश्यकता है ?	१७०
सर्वथा अपूर्वार्थ विषयभूत ज्ञानको प्रमाण माननेमे तो प्रत्यभिज्ञान की असिद्धि होगी	१७१
प्रत्यभिज्ञानको अप्रमाण माननेमे बाधा सर्वथा अपूर्वार्थको ही प्रमाणका विषय माना जाय तो द्विचद्रादिका ज्ञान प्रमाणभूत बन बँटेगा ?	१७३
अदुष्टकारणारब्धत्व किसे कहते है ?	१७६
अपूर्वार्थ खडनका साराश	१७७-१७८
ब्रह्माद्वैतवादका पूर्वपक्ष	१७९-१८३
ब्रह्माद्वैतवाद (वेदांतदर्शन का मंतव्य)	१८४-२१३
सर्व खल्विद ब्रह्म	१८५
प्रत्यक्ष प्रमाण सिर्फ विधि परक है	१८६
भेदवादी पदार्थोमे भेद क्यो मानते है ?	
देशभेद, कालभेदादि से	१८६
अनादि अविद्याका नाश भी सभव है	१८८
ब्रह्माद्वैतमे सुख दु ख बघ मोक्ष आदिकी व्यवस्था	१८९
जैनद्वारा ब्रह्माद्वैतका खडन प्रारभ	”
प्रत्यक्षसे एक व्यक्तिक एकत्व जाना जाता है या अनेक व्यक्तियोका एकत्व ?	१९०
सत्ता सामान्य भूत एकत्वका ग्रहण एक व्यक्तिके ग्रहणसे होता है या अनेक व्यक्तियोके ग्रहणसे ?	१९१
विवादग्रस्त एकत्व, अनेकत्वका अविनाभावी है	१९२
कल्पनाशब्दका क्या अर्थ है ?	१९२-१९४

विषय	पृष्ठ
अनुमान प्रमाणसे ब्रह्माद्वैत को सिद्ध करना भी शक्य नही	१९५
ब्रह्मा जगत्को नाना रूप क्यो रचता है ? आदत के कारण, कृपया, अदृष्टवश या स्वभावके कारण ?	१९६-१९७
मकडी स्वभावके कारण जाल नही बनाती अपितु क्षुधादि के कारण	१९७
प्रत्यक्षप्रमाण सिर्फ विधायक ही क्यो है ?	१९८
देशभेद आदि भेद आकारो के भेदोके कारण हुआ करते हैं	१९८
अविद्या यदि अवस्तुरूप है तो उसे प्रयत्न पूर्वक क्यो हटायी जाती ?	१९९
तत्त्वज्ञानका प्रागभाव ही अविद्या है	
ऐसा कहना गलत है	२००
भेदज्ञान एव अभेदज्ञान दोनो भी सत्य है	२०१
अविद्यासे अविद्या कैसे नष्ट होती है इस बातको समझाने के लिये दिये हुए दृष्टांत गलत है	२०२
स्वप्नमे पदार्थो मे भेद नही होते हुए भी भेद दिखायी देते है, ऐसे ही भेद ग्राही प्रत्यक्ष पारमार्थिक नही है	२०४
बाधक प्रमाणके विषयमे ब्रह्मावादीके प्रश्न	२०५
बाधकप्रमाण भिन्नविषयक है या समान विषयक है ?	२०६
ज्ञान ही पूर्वज्ञानका बाधक हुआ करता है	२०७
ब्रह्माद्वैतके खडनका साराश	२०८-२१०
विज्ञानाद्वैतवादका पूर्वपक्ष	२११-२१३
विज्ञानाद्वैतवाद (बौद्धाभिमत)	२१४-२५०

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
बाह्य वस्तुका अभाव निश्चित हुए बिना		अनुमान के विच्छेद कारक है	२३३
विज्ञानाद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता	२१५	हेतु अनुमानका कारण है अतः जनक है	
प्रत्यक्षके समान अनुमानसे भी पदार्थोका		ऐसा भी नहीं कह सकते	२३४
अभाव करना अशक्य है	२१६	ग्राह्य ग्राहकता स्वरूपके प्रतिनियमसे	
विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धके यहा तीन हेतु		हुआ करती है	२३६
माने है कार्यहेतु, स्वभावहेतु,		बौद्ध एक पदार्थमे दो स्वभाव होनेका	
अनुपलब्धि हेतु	२१७	निषेध करते है किन्तु उन्हीके यहा कहा	
ज्ञान और पदार्थ एक साथ उपलब्ध होने		है कि रूप आदि गुण उत्तरक्षणवर्ती	
से दोनोमे अभेद माना क्या ?	२१८	सजातीय रूपको एव विजातीय रसको	
अद्वैतसिद्धिमे दिया हुआ सहोपलभहेतु		पैदा करता है सो यह दो को पैदा करनेके	
सदोष है	२१९	दो स्वभाव सिद्ध होते है	२३७
अद्वैत मे स्तुत्य, स्तुतिकारक इत्यादि		पदार्थमे स्वत. अवभासमानता होनेसे	
व्यवस्था नहीं बनती	२२०	वह ज्ञान स्वरूप है ऐसा कहना	
अनुमान द्वारा ज्ञान और पदार्थमे एकत्व		असिद्ध है	२३८
सिद्ध करते हो या भेदका अभाव	२२१	अद्वैतवादमे साध्य साधनकी व्याप्ति नहीं	
एकोपलभ शब्दका अर्थ क्या है ?	२२२	बनती	२४०
अद्वैतसाधक अनुमानके प्रतिभासमानत्व		जड पदार्थ प्रतिभासके अयोग्य है, यह	
हेतुका क्या अर्थ है ?	२२३	बात जानी हुई है या नहीं ?	२४२
अह प्रत्यय के विषयमे बौद्धकी जैनके		अद्वैतसिद्धि मे दिया गया दृष्टान्त भी	
प्रति आठ शकाए	२२४	साध्यविकल है	२४३
अगृहीत अह प्रत्यय पदार्थका ग्राहक नहीं		सुखादि अनुग्रहादि रूप ही है या उससे	
बन सकता, इसी प्रकार सव्यापार		भिन्न है ?	२४४
निर्व्यापार, भिन्न काल समकाल		स्वत. प्रकाशमानत्वकी ज्ञानत्वके साथ	
आदि रूप अह प्रत्यय भी अर्थग्राहक		व्याप्ति है	२४६
नहीं हो सकता	२२५-२२६	अद्वैत पदमे जो नञ् समास हुआ है वह	
जैनद्वारा बौद्धके आठो शकाओका		पर्युदास प्रतिषेध वाला है या	
समाधान	२३०-२३२	प्रसज्य प्रतिषेध वाला है	२४७
ज्ञान समकालीन विषय का ग्राहक है या		विज्ञानाद्वैतवाद के खडनका साराश	२४८-२५०
भिन्न कालीन ? इत्यादि प्रश्न			

वर्षय	पृष्ठ
चित्राद्वैत वाद (बौद्ध)	२५१-२५५
बौद्धके चार भेदोमे से एक चित्राद्वैतको मानते है अर्थात् ज्ञानमे नाना आकारोको होना मानते हैं	२५१
ज्ञानोके आकारोका प्रशक्य विवेचन क्यो है? क्या वे ज्ञानसे अभिन्न है?	२५२
यदि सुगत कालमे अन्य प्राणी नही रहते तो वह किनपर कृपा करेगे?	२५३
चित्राद्वैत खडनका साराश	२५४-२५५
शून्याद्वैतवाद (बौद्ध)	२५६-२५८
ज्ञानके स्वव्यवसायात्मक विशेषणका व्याख्यान सूत्र ६-७	२५९
अचेतनज्ञानवादका पूर्व पक्ष	२६१-२६२
अचेतनज्ञानवाद (सांख्य)	२६३-२७३
ज्ञानको अचेतन मानने वाले सांख्यका पक्ष	२६३
यदि ज्ञान आत्माका स्वभाव नही है तो उसके चेतनत्व भोक्तृत्वादि स्वभाव भी नही हो सकते	२६४
ज्ञान आत्माका धर्म है ऐसा माने तो आत्माको अनित्य माननेका प्रसंग आता हो सो बात नही है	२६५
अन्य कारणकी अपेक्षाके विना पदार्थको जानने वाला ज्ञान है अत स्वव्यवसायात्मक है	२६६
लोहेमे प्रविष्ट हुई अग्नि की तरह आत्मा	

विषय	पृष्ठ
मे ज्ञान प्रविष्ट है ऐसा कहना भी गलत है	२६७
कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि धर्मोका आधार चेतन ही है	२६८
बुद्धिको अचेतन प्रधानका धर्म मानेगे तो वह विषय (घट पटादि) की व्यवस्थापक नही हो सकती	२७०
जो आत्माका अन्तःकरण ही वह बुद्धि (ज्ञान) है ऐसा कहना भी सदोष है	२७१
अचेतनज्ञानवादके खडनका साराश	२७२-२७३
साकारज्ञानवादका पूर्व पक्ष	२७४-२७६
साकारज्ञानवाद [बौद्ध]	२७७-२९५
ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर उसीके आकारको धारता है ऐसी बौद्ध की मान्यतामे दूर निकटका व्यवहार सिद्ध नही हो सकता	२७७
ज्ञान पदार्थ के आकार होता है तो जडाकार भी बन बँडेगा?	२७८
बिना जडाकार हुए जडत्वको जानता है तो बिना नीलाकार हुए नीलत्वको भी क्यो नही जानेगा?	२७९
क्षयोपजन्य प्रतिनियतसामर्थ्यके कारण ज्ञान निराकार रहकर ही पदार्थ की प्रतिनियत व्यवस्था करता रहता है	२८१
ज्ञानको साकार माननेमे भी अन्योन्या-अथ दोष आता है	२८२
ज्ञान यदि पदार्थकार होता तो उसकी अहकार रूपसे प्रतीति होती	२८४

विषय	पृष्ठ
ज्ञान और पदार्थका सश्लेष सबध नहीं है	२८६
ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है उसीका आकार धारता है तो इन्द्रियका आकार क्यों नहीं धारता ?	२८७
इसप्रकार तदुत्पत्तिका इन्द्रियके साथ और तदाकारताका समन्तर प्रत्ययके साथ व्यभिचार आता है	२८६
प्रत्यक्ष ज्ञान नीलको नीलाकार होकर जानते समय क्षणिकत्व भी क्यों नहीं जानता ?	२९१
साकारज्ञानवाद के खडनका साराश	२९३-२९५
भूत चैतन्यवाद का पूर्व पक्ष	२९६-२९७
भूत चैतन्यवाद [चार्वाक]	२९८-३२०
ज्ञानको भूतो का परिणामन मानना असत है	२९८
विजातीयतत्त्व विजातीयका उपादान नहीं होता	२९६
चैतन्य भूतोसे असाधारण लक्षणवाला है अहप्रत्यय शरीरमे नहीं होता	३००
शरीरादिमे होनेवाला अहप्रत्यय मात्र औपचारिक है	३०१
अनुमान से भी आत्माकी प्रतीति होती है	३०२
चैतन्य शरीरका गुण नहीं है	३०३
एक शरीरमे अनेक चैतन्य माननेका प्रसंग	३०४
चैतन्य विषयभूत पदार्थका गुणभी नहीं भूतोसे चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है ऐसा कहना सदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति हेतु रूप है	३०६

विषय	पृष्ठ
व्यजककारण और कारककारणमे अंतर	३०८-३०९
भूतचतुष्टय से चैतन्य उत्पन्न होता है तो क्या भूत चतुष्टय उसके उपादान कारण हैं ?	३१०-३११
बिजली आदि पदार्थ भी विना उपादान के नहीं होते	३१२
अनादिचैतन्य के माने विना जन्म जात बालकके प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता	३१३-३१४
शरीरके विना अह प्रत्ययकी प्रतीति	३१५
शरीररहित आत्माकी प्रतीति नहीं होती इस वाक्यका क्या अर्थ है ?	३१६
ससारावस्थामे शरीरसे अन्यत्र आत्मा- का अवस्थान नहीं है	३१७
भूतचैतन्यवादके खडनका साराश	३१८-३२०
ज्ञानको स्वसविदित नहीं माननेवाले का पूर्व पक्ष	३२१
स्वसंवेदन ज्ञानवाद [मीमांसक]	३२२-३३९
ज्ञानको प्रत्यक्ष होना माननेमे मीमांसक द्वारा आपत्ति	३२२
जैन द्वारा उसका समाधान	३२३
भावेन्द्रियरूपमन और इन्द्रियाँ तो परोक्ष है	३२४
आत्मा स्वयं को जानते समय उस जाननक्रियाका कारण कौन बनेगा ?	३२५

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
आत्मा और ज्ञान सर्वथा कर्मत्व रूप नहीं बनते क्या ?	३२६	अप्रत्यक्षवाद भी खडित हुआ समझना चाहिये	३४१
ज्ञानादि यदि सर्वथा कर्मत्व रूप नहीं है तो वे परके लिये भी कर्मत्व रूप नहीं बनेगे अर्थात् परके द्वारा भी ग्रहणमे नहीं आयेंगे	३२८	यदि आत्मा कर्ता और करण ज्ञान ये दोनो अप्रत्यक्ष हैं तो क्रिया भी अप्रत्यक्ष होनी चाहिये ?	३४१-
प्रत्यक्षता पदार्थका घर्म नहीं है	३२६	प्रमितिक्रियाको आत्मा और ज्ञानसे पृथक मानते है तो प्रभाकरका नैयायिकमतमे प्रवेश होगा	३४२
जो ज्ञापक कारण स्वरूप कारण होता है वह अज्ञात रहकर ज्ञापक नहीं बन सकता	३३०	प्रमाता (आत्मा) आदिकी प्रतीति मात्र शाब्दिक नहीं है	३४३
ज्ञान सर्वथा परोक्ष है तो उसकी सिद्धि किस प्रमाण से करेंगे ?	३३१	यदि सुखादि हमारे प्रत्यक्ष नहीं है तो पराये व्यक्ति के सुखादिक भी हमारे लिये अनुग्रहादि करने लग जायेंगे	३४४
प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोसे भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती	३३१	सुखादिक प्रत्यक्ष तो होते हैं किन्तु अन्य किसी प्रमाणसे प्रत्यक्ष होते हैं ऐसा कहना भी सदोष है	३४५
जब ज्ञान और आत्मा सर्वथा परोक्ष है तब "जिसकी बुद्धि द्वारा जो जो अर्थ प्रकट होता है" इत्यादि व्यवस्था कैसे सम्भव है ?	३३३	सुखादिको प्रत्यक्ष जानने मात्रसे अनुग्रहादि होते हैं तो योगीजनको भी वे सुखादिक अनुग्रह करने वाले हो जायेंगे	३४६
इन्द्रिय द्वारा जाना हुआ पदार्थ ज्ञानके परोक्ष होनेसे असिद्ध ही रहेगा	३३४	जब सुखादिक सर्वथा परोक्ष है तो उसमे अपना और पराया भेद कैसे ?	३४७
नेत्रादिज्ञान और मानसज्ञान एक साथ क्यों नहीं होते ?	३३६	प्रत्यासत्तिविशेषसे भी आपा पराया भेद नहीं हो सकता,	३४८
परोक्षज्ञानके साथ हेतुका अविनाभाव सिद्ध नहीं होनेसे अनुमानप्रमाण भी ज्ञानको सिद्ध नहीं कर सकता	३३७	अदृष्ट के कारण विवक्षित सुखादिका आत्मविशेषमे रहनेका नियम बनता है ऐसा कहना भी असत है	३५०
स्वसवेदनज्ञानवादका साराश	३३८-३३९		
आत्माप्रत्यक्षवादका पूर्व पक्ष	३४०		
आत्माप्रत्यक्षत्ववाद (मीमांसक)	३४१-३५४		
भाट्ट के समान प्रभाकर का आत्म			

विषय	पृष्ठ
श्रद्धाके कारण सुखादिका नियम होना भी असंभव है	३५१
आत्माप्रत्यक्षत्ववाद का सारांश	३५३
ज्ञानांतरवेद्यज्ञानवादका पूर्व पक्ष	३५५-३५७
ज्ञानांतरवेद्यज्ञानवाद [नैयायिक]	३५८-४००
ज्ञान दूसरे ज्ञानद्वारा वैद्य है, क्योंकि वह प्रमेय है ?	३५८
नैयायिकका यह ज्ञानांतरवेद्यज्ञानवाद अयुक्त है	३५९
ज्ञान अन्यज्ञानसे वेद्य है ऐसा माननेमें अनवस्था आती है	३६०
जो अपनेको नहीं जान सकता वह अन्य पदार्थको कैसे जान सकता है ?	३६१
स्वयंको अप्रत्यक्ष ऐसे ज्ञानसे यदि पदार्थको प्रत्यक्ष कर सकते हैं तो अन्यके ज्ञानसे भी पदार्थको प्रत्यक्ष कर सकता है ? इस तरह तो ईश्वरके ज्ञान द्वारा संपूर्ण पदार्थोंको जानकर सभी प्राणी सर्वज्ञ बन सकते हैं ?	३६२
सभीके ज्ञानोमें स्वपरप्रकाशकपना है जैसे महेश्वरका ज्ञान स्वपरप्रकाशक है वैसे सभीका ज्ञान है अतएव यह है कि महेश्वरका ज्ञान संपूर्ण पदार्थोंका प्रकाशक है और सामान्य प्राणीका ज्ञान स्वके साथ कतिपय पदार्थोंका प्रकाशक है	३६३
ज्ञानके साथ इन्द्रियोंका सन्निकर्ष नहीं हो सकता	३६४
	३६५

विषय	पृष्ठ
"स्वात्मनि क्रिया विरोध" इस वाक्यका क्या अर्थ है ?	३६७
भवति आदि क्रियाका क्रियावान आत्मामें विरोध नहीं हो सकता	३६६
ज्ञानमें कर्मत्वका विरोध है वह अन्य ज्ञान द्वारा जाननेकी अपेक्षा या स्वरूपकी अपेक्षा ?	३७०
विशेषणज्ञानको करणरूप और विशेष्य ज्ञानको फल रूप मानना गलत है	३७१
विशेषण और विशेष्यको ग्रहण करनेवाला एक ही ज्ञान है	३७३
विशेषण-विशेष्य ज्ञानोको भिन्न मानकर उनकी शीघ्र वृत्तिके लिये कमल-पत्रोंके छेदनका उदाहरण देना असत है	३७४
परमतका अभीष्ट मन असिद्ध है, अनुमानद्वारा उसकी सिद्धि करना भी अशक्य है	३७५
मन और आत्माका संबंध सर्वदेशसे होगा तो दोनों एकमेक होंगे	३७७
मनको परवादीने अनाधेय, अप्रहेय माना है अतः ऐसे मनसे आत्माका उपकार होना असंभव है	३७८
अहृष्टद्वारा मनको प्रेरित करना भी अशक्य है	३७९
ईश्वरादिके अनेको ज्ञान मानते हो सो प्रथमज्ञान रहते हुए दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है अथवा उसके नष्ट होनेपर दूसरा उत्पन्न होता है ?	३८०
प्रथमज्ञानको द्वितीयज्ञान जानता है ऐसा माने तो अनवस्था होगी	३८१

विषय	पृ
समवायसबधसे अपना ज्ञान अपनेमे रहता है ऐसा कहना असिद्ध है	३८४
अनवस्थाको दूर करनेके लिये महेश्वरमे तीन चार ज्ञानोकी कल्पना करे तो भी वह दोष तदवस्थ ही रहेगा	३८५
अर्थकी जिज्ञासा होनेपर मै (अर्थज्ञान) उत्पन्न हुआ है ऐसी प्रतीति किसको होती है	३८६
ज्ञानको जाननेके लिए अन्य अन्य ज्ञानो की कल्पना करे तो अनवस्था आती हो सो बात नहीं, आगे तीन चार से अधिक ज्ञान विषयातर सचारादि होनेसे उत्पन्न ही नहीं होते ?	३८८
नित्य आत्मामे क्रमसे ज्ञानोत्पत्ति होना भी जमता नहीं	३८९
अदृष्ट आदिके कारण तीन चार से अधिक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते है ऐसा कहना भी युक्त नहीं	३९२
ज्ञानको स्वपर प्रकाशक सिद्ध करनेके लिये दिया गया दीपकका दृष्टात साध्यविकल हो सो बात नहीं	३९३
ज्ञानमे स्व और परको जाननेकी योग्यता माने तो दो शक्तिया या स्वभाव मानने होंगे और वे दोनों अभिन्न रहेगी तो स्वभावोका अनुप्रवेश होगा इत्यादि दूषण जैन पर लागू नहीं होते	३९४
ज्ञानातर वैद्यज्ञानवादके साडनका साराश	३९७-४००

विषय	पृष्ठ
प्रामाण्यवादका पूर्व पक्ष	४०१-४०५
प्रामाण्यवाद (मीमांसक)	४०६-४६७
सूत्र ११-१२ का अर्थ	४०६
सूत्र १३ का अर्थ	४०७
मीमांसक प्रमाणमे प्रामाण्य स्वतः ही आता है ऐसा मानते है	४०८
ज्ञप्तिकी अपेक्षा स्वतः प्रामाण्य है या उत्पत्ति या स्वकार्यकी अपेक्षा ।	४०८
मीमांसकद्वारा स्वतः प्रामाण्यवादका विस्तृत समर्थन	४१०-४२९
गुणसे प्रामाण्य आता है ऐसा जैनका कहना असिद्ध है क्योंकि गुणकी ही सिद्धि नहीं है	४१०
प्रत्यक्षके समान अनुमानसे भी गुणोकी सिद्धि नहीं होती	४११
इन्द्रियोके नैर्मल्यको गुण कहना गलत है	४१४
प्रामाण्य किसे कहना ?	४१५
स्वतः मे जो असत है वह परके द्वारा कराया जाना अशक्य है	४१६
पदार्थकी उत्पत्तिमे कारणकी अपेक्षा हुआ करती है न कि स्वकार्यमे प्रवृत्ति	४१७
प्रमाणकी ज्ञप्तिमे भी परकी अपेक्षा नहीं है	४१८
संवादकज्ञानद्वारा प्रामाण्य मानना गलत है	४१९
अर्थक्रियाद्वारा प्रामाण्य आता है ऐसा कहना ठीक नहीं	४२२

विषय	पृष्ठ
हम मीमांसक अप्रामाण्यको परसे आना मानते है	४२४
प्रमाणके स्वकार्यमे भी परकी अपेक्षा नहीं जैनद्वारा मीमांसकके स्वतः प्रामाण्य-वादका विस्तृत निरसन	४२६ ४२९-४६४
मीमांसक इन्द्रियगुणोंका अभाव क्यो करते है ?	४२९
नेत्रादि इन्द्रियकी निर्मलता उसकी उत्पत्तिके साथ रहती है अतः वह उसका गुण न होकर स्वरूपमात्र है ऐसा मीमांसकने कहा था सो गलत है यदि इस तरह कहेगे तो घटादिके रूप रसादिको भी गुण नहीं कह सकते	४३१
दोषोका अभाव ही गुणोका सद्भाव कहलाता है	४३२
अभाव भी कार्यका जनक होता है जैसे सदोषनेत्र अप्रामाण्यमे कारण है	४३५
वैसे गुणवाननेत्र प्रामाण्यमे कारण है यदि प्रामाण्य स्वतः होता है तो अप्रामाण्य भी स्वतः होना चाहिये ?	४३६ ४३७
घटादिपदार्थ स्वकारणसे उत्पन्न होकर स्वकार्यमे स्वय ही प्रवृत्त होते है वैसे ज्ञान भी है ऐसा मीमांसकका कहना ठीक नहीं	४३६
मीमांसक प्रमाणका स्वकार्य किसे कहते है सो बतावे	४४०
अपौरुषेय होनेसे वेद स्वतः प्रमाणभूत है ऐसा कहना ठीक नहीं	४४१

विषय	पृष्ठ
लोकप्रसिद्ध बात है कि गुणवानपुरुषके कारण आगम वचनमे प्रामाण्यता आती है	४४२
जैसे प्रामाण्यकी उत्पत्तिमें परकी अपेक्षा नहीं रहती ऐसा मीमांसकका कहना खडित होता है वैसे ज्ञप्तिमे परकी अपेक्षा नहीं मानना भी खडित होता है	४४३
“प्रमाणमे प्रामाण्य है क्योंकि अर्थ प्राकृत्य होरहा” इत्यादिरूप मीमांसकका अनुमान प्रयोग असत है	४४४-४४५
अनभ्यस्तदशामे संवादकसे प्रामाण्य आता है ऐसी जैन मान्यतापर चक्रक आदि दोष उपस्थित किये वे असत हैं	४४६
अर्थक्रियाके अर्थी पुरुष पदार्थके गुणादि-मे लक्ष्य न देकर जिससे अर्थक्रिया हो उस पदार्थमे लक्ष्य देते हैं	४४८
अनभ्यस्त या सशयादि ज्ञानोमे ही संवादककी अपेक्षा लेनी पड़ती है न कि सर्वत्र	४५०
संवादकज्ञान पूर्वज्ञानके विषयको जानता है कि नहीं इत्यादि प्रश्न अयुक्त है	४५२
बाधकाभावके निश्चयसे स्वतः प्रामाण्य आता है ऐसा कहना भी गलत है इस कथनमे भी अनेक प्रश्न होते है	४५५
प्रमाणमे प्रामाण्य तीन चार ज्ञान प्रवृत्त होनेपर आता है ऐसा परवादीका	

कथन भी दोष भरा है	४५७	विषय	पृ॥
तीन चार जानोके प्रवृत्त होनेका मीमा-		बौद्धका कहना ठीक नहीं	४५१
सकमतानुसार विवेचन	४५६-४६०	प्रमेयद्वित्व प्रमाणद्वित्वका ज्ञापक	
प्रथम परिच्छेदका अतिम मगल	४६२-४६३	कब बनता है ? ज्ञात होकर या	
प्रामाण्यवादका साराश	४६४-४६७	अज्ञात होकर ? ज्ञात होकर कही	
प्रत्यक्षक प्रमाणवादका पूर्वपक्ष	४६८	तो किस प्रमाणसे ज्ञात हुआ ? न	
प्रत्यक्षोद्देश [द्वितीय परिच्छेदप्रारंभ]		प्रत्यक्षद्वारा ज्ञात हो सकता है न	
सू० १ का अर्थ —	४६९	अनुमान द्वारा ज्ञात हो सकता है	
प्रमाणके भेदोके चार्ट (दो)	४७०-४७१	बौद्ध मतानुसार प्रत्यक्ष तो स्व-	
सिर्फ एक प्रत्यक्षको प्रमाण माननेवाले		लक्षणाकार है और अनुमान	
चार्वाकका कथन	४७२-४७३	सामान्याकार है	४६३-४६५
जैन द्वारा प्रत्यक्षकप्रमाणवादका		प्रमेयद्वित्वसे प्रमाणद्वित्व माननेवाले	
निरसन	४७३-४७७	बौद्धके खडनका साराश	४६६
प्रत्यक्षकी तरह अनुमान भी प्रमाण है	४७३	आगमविचार	४८७-४९४
अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक न होकर तर्क		मीमांसकका आगमको पृथक् प्रमाण	
पूर्वक होता है	४७४	माननेका समर्थन	४८८
प्रामाण्य अप्रामाण्यका निर्णय, पर		शब्दको घर्मी और अर्थवानको साध्य	
प्राणियोंकी बुद्धिका अस्तित्व		एवं शब्दको ही हेतु बनाकर	
और परलोकादिका निषेध करने		शाब्दिक ज्ञानको (आगमको)	
के लिये चार्वाकको भी अनुमानकी		अनुमानमे अन्तर्भूत करना	
जरूरत है	४७७	गलत है	४८९-४९०
प्रमेयद्वित्वात् प्रमाणद्वित्ववादका		शब्द और अर्थका अविनाभाव नहीं	
पूर्वपक्ष	४७८-४७९	हुआ करता न इन दोनोंका स्थान	
प्रमेयद्वित्वात् प्रमाणद्वित्व विचार		अभेद ही है	४९२
(बौद्ध)	४८०-४८६	आगमप्रमाणका पृथक्पना और उसका	
सूत्र नं० २ का अर्थ	४८०	साराश	४९३-४९४
प्रमेय (पदार्थ) दो प्रकारका होनेसे		उपमानविचार	४९५-४९९
प्रमाण दो प्रकारका है ऐसा		मीमांसक द्वारा उपमा प्रमाणको पृथक्	
		मानना	४९५-४९६
		अर्थापत्तिविचार	५००-५०३

विषय	पृष्ठ
मीमांसक द्वारा अर्थापत्तिप्रमाणको पृथक मानना	५००-५०३
अभावविचार ('मीमांसक)	५०४-५१०
प्रत्यक्षद्वारा अभावाशको नहीं जान सकते	५०४
अनुमानद्वारा भी अभावाशको नहीं जान सकते	५०५
अभावके प्रागभावादि चार भेद	५०६
अभावप्रमाणको नहीं माननेसे हानि	५०७
सदंशके समान असदश इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं	५०९
अर्थापत्तेः अनुमानेऽन्तर्भावः	५११-५२१
जैनके प्रमाण द्वै विषयकी सिद्धि	५११
अर्थापत्ति और अनुमानमे पृथकपना नहीं है	५१३
अर्थापत्तिको उत्पन्न करनेवाले पदार्थका अविनाभाव किस प्रमाणसे जाना जाता है ?	५१४
अनुमानमे सपक्षका अनुगम रहता है और अर्थापत्तिमे नहीं, अतः दोनों-मे भेद है ऐसा कहना भी अयुक्त है	५१७
अर्थापत्ति अनुमानान्तर्भावका साराश	५१९-५२१
शक्तिविचारका पूर्वपक्ष	५२२-५२४
शक्तिस्वरूपविचारः (नैयायिक)	५२५-५५०
अग्निका स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है ?	५२५
सहकारी कारणको शक्ति माना तो	५२६
जैनने शक्तिको नित्य माना है या अनित्य ?	५२७
पदार्थसे शक्ति भिन्न है कि अभिन्न ?	
यदि भिन्न है तो यह शक्तिमान की शक्ति है ऐसा सबध वचन नहीं बनता	५२८

विषय	पृष्ठ
वह शक्ति एक है कि अनेक ?	५२९
जैनद्वारा नैयायिकके शक्ति विषयक-मतव्यका निरसन	५२९
शक्ति प्रत्यक्षगम्य न होकर अनुमान गम्य है	५३०
अतीन्द्रिय शक्ति सद्भावकी सिद्धि के लिये प्रतिबधक मणि आदिका दृष्टांत	५३०
अग्निके दाहकार्यमे प्रतिबधकका अभाव सहकारी मानना असत् है	५३१
प्रतिबधकमणि और उत्तभकमणि का अभाव सहकारी है ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं	५३२
कार्यकी उत्पत्तिमे कौनसा अभाव सहकारी होगा ?	५३३
शक्तिके अभावको सिद्ध करनेके लिये प्रयुक्त हुआ नैयायिकका अनुमान प्रयोग गलत है	५३५
आसाधारण धर्मवाले कारणसे ही कार्य होते हैं	५३६
जैसे अतीन्द्रियस्वरूप अदृष्टको माना है वैसे अतीन्द्रियस्वरूप शक्तिको भी मानना चाहिये	५३७
शक्तिविशेषको स्वीकार किये विना अवस्थाविशेष सिद्ध नहीं होता	५३८
द्रव्यशक्ति नित्य है और पर्यायशक्ति अनित्य	५३८
पर्यायशक्ति अनेक सहकारी कारणोंसे उत्पन्न होती है	५३९

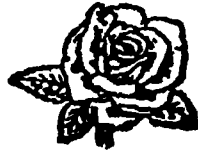
विषय	पृष्ठ
पदार्थ पूर्व पूर्व शक्तिसे समन्वित होकर आगे आगे की शक्ति को उत्पन्न करते हैं	५४०
प्रत्येक पदार्थ की शक्तिया अनेक हुआ करती है	५४१
एक ही पदार्थ मे अनेक शक्तियोंका सद्भाव दीपक के उदाहरणसे सिद्ध होता है	५४३
विशेषार्थ	५४३-५४७
शक्तिस्वरूपविचारका सारांश	५४७-५५०
अर्थापत्ते पुनर्विवेचन	५५१-५५४
अभावस्य प्रत्यक्षादावन्तर्भावः [मीमांसकके प्रति]	५५५
निषेध्य वस्तुका अघारभूतभूतल प्रतियोगिसे ससंगित प्रतीत होता है या अससंगित ?	५५५
मीमांसक अभावप्रमाणकी सामग्रीमे प्रतियोगिका स्मरण होना रूप कारण भी बताते है	५५६
यदि प्रत्यक्षद्वारा भूतलको जान लेने पर भी प्रतियोगिके स्मरण बिना घरका अभाव प्रतीत नहीं होता ऐसा माने तो प्रतियोगी भी अनु- भूत होनेपर ही स्मरण योग्य हो सकेगा	५५७
साख्य को समझानेके लिये अनुमानप्रमाण द्वारा अभावाशका ग्रहण होना सिद्ध करके बताते है	५५८
प्रतियोगीकी निवृत्ति प्रतियोगी से अस-	

विषय	पृष्ठ
बद्ध है ऐसा कहना भी ठीक नहीं प्रमाण पचकाभावको विषय करनेवाले अभावप्रमाणसे प्रमाण पचका- भाव जाना जाता है ऐसा कहना अनवस्था दोष युक्त है	५५९ ५६०
तदन्यज्ञाननामका द्वितीय अभावप्रमाण भी घटित नहीं होता	५६१
अभावद्वारा भी सद्भावकी सिद्धि होती है	५६४
मीमांसकके यहा कहे गये प्रागभावादिके लक्षण सुघटित नहीं होते	५६५
इतरेतराभाव असाधारणधर्मसे व्यावृत्त हुए पदार्थका भेदक है अथवा इतरेतराभाव घटको कतिपय पटादि व्यक्तियोंसे व्यावृत्त कराता है अथवा सपूर्णपटादि व्यक्तियोंसे	५६६-५७०
अभावको भिन्न पदार्थरूप न माने तो अभावनिमित्तकलोकव्यवहार समाप्त होगा ऐसी आशंका भी ठीक नहीं	५७१
अभाव भी अभावका विशेषण बन सकता है	५७४
मीमांसकाभिमत प्रागभाव सादि- सांत है या सादिअनंत, अनादि- अनंत, अथवा अनादिसांत ?	५७५
विशेषणके भेदसे अभावमे भेद मानना भी सिद्ध नहीं होता	५७७
सत्ताको एकरूप मानते ही तो अभाव को भी एकरूप मानना चाहिये ?	५७८
स्याद्वादीके प्रागभावका लक्षण	५८०

विषय	पृष्ठ
प्रध्वसाभावका लक्षण	५८१
विनाश और विनाशवानमे तादात्म्यादि सवध नहीं है	५८२
परवादीकी विनाश और उत्पादकी प्रक्रिया गलत है	५८४
अभावप्रमाणका प्रत्यक्षादि प्रमाणोमे अतर्भाव करनेका साराश	५८५-५८८
विशदत्वविचारः	५८९-६०२
अकस्माद्धूमादिके देखनेसे होनेवाले अग्नि आदिके ज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं कह सकते	५८९
व्याप्तिज्ञानको भी प्रत्यक्ष नहीं कह सकते	५९१
अस्पष्टज्ञानके विषयमे बौद्धकी शका	५९२
अस्पष्टत्व पदार्थका धर्म नहीं है ज्ञानका है	५९३
स्पष्टज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे ज्ञान- मे स्पष्टता आती है और अस्पष्ट ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे अस्पष्टता	५९५
वैशद्यका लक्षण	५९६
स्वरूप सवेदनकी अपेक्षा स्मृति आदि ज्ञान भी प्रत्यक्ष है	५९९
विशदत्वका साराश	६०२
चक्षुःसन्निकर्षवादका पूर्वपक्ष	६०३-६०५
चक्षुःसन्निकर्षवादः	६०६-६३२
इन्द्रियत्वात् हेतु चक्षुको प्राप्यकारी सिद्ध नहीं कर पाता	६०८
रश्मिवक्षुको कौनसे अनुमानसे सिद्ध करोगे ?	६०९
कामला आदि दोपसे असंबद्ध कौनसी	

विषय	पृष्ठ
चक्षु है ?	६१०
गोलकचक्षुसे किरणे निकलती है तो वे दिखायी क्यों नहीं देनी ?	६१२
यदि नेत्रकिरणे अनुमान से सिद्ध है तो रात्रिमे सूर्य किरणे भी अनुमान से सिद्ध कर सकते	६१४
यदि बिलाव आदि के नेत्रोमे किरणे हैं तो उनसे मनुष्यके नेत्रमे क्या आया ?	६१६
चक्षु को प्राप्यकारी सिद्ध करनेको पुनः अनुमान प्रयोग	६१७
रूपादीनामध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् हेतु भी सदोष है	६१८
जिसमे भासुर रूप और उष्णस्पर्श दोनों अप्रकट हो ऐसा कोई भी तेजोद्रव्य नहीं है	६२१
घत्तूरके पुष्पके समान संस्थान वाली नेत्र किरणे शुरूमे सूक्ष्म और अंतमें विस्तृत होकर पर्वतादि महान पदार्थको जानती है इत्यादि कथन असत् है	६२२
स्फटिक, काच, अभ्रक आदिसे अतरित वस्तुको नेत्रकिरणे कैसे छूती है ?	६२४
स्फटिकादिका नाश होकर शीघ्र अन्य स्फटिकादिका उत्पाद होनेका वर्णन	६२५
नेत्रकिरणे अतिकठोर स्फटिकादि भेदन करती है तो मीले जलका भेदन कर उसमे स्थित वस्तुको	

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
क्यो नही देखती ?	६२६	साव्यवहारिकप्रत्यक्षका लक्षण	६३३
चक्षुः अप्राप्तार्थ प्रकाशक, अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्वात्	६२७	इन्द्रियके दो भेद-द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय	६३४
अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्व हेतु असिद्धा- दि दोषसे रहित है	६२८-६२६	भावेन्द्रियके दो भेद-लब्धि और उपयोग	६३५
चक्षु सन्निकर्षवाद के खडनका साराण	६३०-६३२	नैयायिकादि का स्पर्शनादि इन्द्रियोको अलग अलग पृथिवी आदिसे निमित्त मानना गलत है	६३६-६३६
साव्यवहारिकप्रत्यक्ष	६३३-६४०	उपसंहार	६३९-६४०



परमपूज्या, विदुषी, न्याय प्रभाकर, आर्यिका रत्न, १०५ श्री ज्ञानमती माताजी



भव्य जीव हितकारी, विदुषी मातृवत्सलाम् । वन्दे ज्ञानमती मार्या, प्रमुखा सुप्रभाविकाम् ॥

जन्म :	धुलिका दीक्षा .	आर्यिका दीक्षा
शरद् पूर्णिमा	चैत्र कृष्णा १	वैशाख कृष्णा २
वि० स० १९६१	वि० स० २००६	वि० स० २०१३
टिकैतनगर (उ० प्र०)	श्री महावीरजी	माघोराजपुरा (राज०)

समर्पण

जिन्होंने अज्ञान और मोहरूपी अंधकार में पड़े हुए मुझको सम्यग्ज्ञान और सम्यक्त्व स्वरूप प्रकाश पुंज दिया एवं चारित्र्य युक्त कराया, जो मेरी गर्भाधान क्रिया विहीन जननी हैं, गुरु हैं, जो स्वयं रत्नत्रय से अलंकृत हैं और जिन्होंने अनेकानेक बालक बालिकाओंको कौमार व्रतसे तथा रत्नत्रयसे अलंकृत किया है, जिनकी बुद्धि, विद्या, प्रतिभा और जिनशासन प्रभावक कार्योंका माप दंड लगाना अशक्य है उन आर्यिका रत्न, महान विदुषी, न्याय प्रभाकर परम पूज्या-१०५ ज्ञानमती माताजी के पुनीत कर कमलोमें अनन्य श्रद्धा, भक्ति और वंदामिके साथ यह ग्रन्थ सादर समर्पित है ।

—आर्यिका जिनमती

* मंगलस्तवः *

वर्द्धमान जिन नौमि घाति कर्मक्षयंकरम् ।
 वर्द्धमानं वर्त्तमानै तीर्थ यस्य सुखकरम् ॥१॥
 श्री सर्वज्ञमुखोत्पन्ने । भव्य जीव हित प्रदे ।
 श्री शारदे । नमस्तुभ्य माद्यंत परिवर्जिते ॥२॥
 मूलोत्तर गुणाढ्या ये जैनशासन वर्द्धकाः ।
 निर्ग्रन्था पाणि पात्रास्ते पुष्यन्तु न. समीहितम् ॥३॥
 माणिक्यनन्दि नामान गुण माणिक्य मण्डितम् ।
 वन्दे ग्रन्थ कृतो येन परीक्षामुख संज्ञक. ॥४॥
 प्रभाचन्द्र मुनिस्तस्य टीका चक्रे सुविस्तृतम् ।
 मयाभिवन्द्यते सोऽद्य विघ्ननाशन हेतवे ॥५॥
 पञ्चेन्द्रिय सुनिर्दान्त पञ्चससार भीरुकम् ।
 शान्तिसागर नामान सूरिं वन्देऽघनाशकम् ॥६॥
 वीर सिन्धु गुरुं स्तौमि सूरि गुण विभूषितम् ।
 यस्य पादयोर्लब्ध मे क्षुल्लिका व्रत निश्चलम् ॥७॥
 तपस्तपति यो नित्य कृशागो गुण पीनकः ।
 शिवसिन्धु गुरु वन्दे महाव्रतप्रदायिनम् ॥८॥
 धर्मसागर आचार्यो धर्मसागर वर्द्धने ।
 चन्द्रवत् वर्त्तते योऽसौ नमस्यामि त्रिशुद्धित ॥९॥
 नाम्नी ज्ञानमती मार्या जगन्मान्यां प्रभाविकाम् ।
 भव्य जीव हितकारी विदुपी मातृवत्सला ॥१०॥
 अस्मिन्नपार ससारे मज्जन्ती मां सुनिर्भरम् ।
 ययावलबन दत्ता मातर ता नमाम्यहम् ॥११॥
 पार्श्वे ज्ञानमती मातु पठित्वा शास्त्राण्यनेकशः ।
 सप्राप्त यन्मया ज्ञान कोटि जन्म सुदुर्लभम् ॥१२॥
 तत्प्रसादादहो कुर्वे, देशभाषानुवादनम् ।
 नाम्न प्रमेय कमल, मार्त्तण्डस्य सुविस्तृतम् ॥१३॥



श्रीमाणिक्यनन्दाचार्यविरचित-परीक्षामुखसूत्रस्य व्याख्यारूपः

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

प्रमेयकमलमार्तण्डः

श्रीस्याद्वादविद्यार्यै नमः ।

सिद्धेर्धाम महारिमोहहनन कीर्त्तः पर मन्दिरम्,
मिथ्यात्वप्रतिपक्षमक्षयसुख सशीतिविध्वसनम् ।
सर्वप्राणिहित प्रभेन्दुभवन सिद्ध प्रमालक्षणम्,
सतश्च्रोतसि चिन्तयतु सुधिय. श्रीवर्द्धमान जिनम् ॥ १ ॥

* मंगलाचरण *

श्री माणिक्यनदी आचार्य द्वारा विरचित परीक्षामुखनामा सूत्रग्रन्थ की टीका करते हुए श्री प्रभाचन्द्राचार्य सर्व प्रथम जिनेन्द्रस्तोत्रस्वरूप मंगलश्लोक कहते हैं— कि जो सिद्धिमोक्ष के स्थानस्वरूप है, मोहरूपी महाशत्रु का नाश करने वाले है, कीर्तिदेवी के निवास मन्दिर है अर्थात् कीर्तिसयुक्त है, मिथ्यात्व के प्रतिपक्षी है, अक्षय सुख के भोक्ता है, संशय का नाश करने वाले है, सभी जीवों के लिये हितकारक है, कान्ति के स्थान है, अष्ट कर्मों का नाश करने से सिद्ध है तथा ज्ञान ही जिनका लक्षण है अर्थात् केवलज्ञान के धारक है ऐसे श्री वर्द्धमान भगवान् का बुद्धिमान् सज्जन निज मन में ध्यान करे—चिन्तवन करे ।

टिप्पणी के आधार से इस मंगलाचरण का अन्य दो प्रकार से भी अर्थ हो सकता है अर्थात् यह मंगलश्लोक अर्हन्तदेव, शास्त्र तथा गुरु इन तीनों की स्तुति स्वरूप है, इनमें से प्रथम अर्थ श्री अर्हन्तपरमेष्ठी वर्द्धमान स्वामी को विशेष्य करके सपन्न हुआ अब शास्त्र (अथवा यह प्रमेयकमल मार्तण्ड) की स्तुतिरूप दूसरा अर्थ

शास्त्र करोमि वरमल्पतरावबोधो
 माणिक्यनन्दिपदपङ्कजसत्प्रसादात् ।
 अर्थं न किं स्फुटयति प्रकृत लघीयाँ-
 त्लोकस्य भानुकरविस्फुरिताद्गवाक्ष' ॥ २ ॥

वताते हैं—विद्वान् सज्जन पुरुष जिन शास्त्र का अपने हृदय में मनन करे, कैसा है शास्त्र—सिद्धिका स्थान है अर्थात् भव्यजीवो को मुक्ति के लिये हेतुभूत है, मोहरूपी शत्रु का कषायो का हनन करने वाला है, कीर्तिप्राप्ति का एक अद्वितीय स्थान है, मिथ्यात्व का प्रतिपक्षी-अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में निमित्तभूत है, अक्षयसुख का मार्गदर्शक होने से अक्षयसुखस्वरूप है, समस्त शकाओ को दूर करने वाला है, समस्त प्राणिगण का हितकारी है, प्रभाव-तेज के करने में निमित्त एव प्रमा-ज्ञान-प्राप्ति में कारण है ऐसा शास्त्र होता है ।

गुरुस्तृतिरूप तीसरा अर्थ—एकदेश जिन अर्थात् गुरु जो कि सिद्धि का धाम बतलाने वाले या उस मार्ग पर चलने वाले होने से सिद्धिधाम है, अथवा जीवो के मनोवाञ्छित कार्य की सिद्धि कराने वाले होने से सिद्धि के स्थान स्वरूप हैं, मोह शत्रु का नाश अर्थात् अनतानुबधी आदि १२ कषायो का उपशमन आदि करनेवाले, कीर्ति के स्थान अर्थात् जिनका यश सर्वत्र फैल रहा है, मिथ्यात्व के प्रतिपक्षी मतलब अपनी वाणी तथा लेखनी के द्वारा मतांतररूप मिथ्यात्व का विध्वंस करने वाले, तथा स्वयं सम्यग्दर्शन सयुक्त, तेजयुक्त, प्रमालक्षण अर्थात् प्रमाण का लक्षण करने में निपुण और प्राणियो के हितचित्तक ऐसे श्री गुरुदेव होते हैं, उनका सब लोग चिन्तवन करे । १॥

अब श्री प्रभाचन्द्राचार्य अपनी गुरुभक्ति प्रकट करते हैं तथा सज्जन दुर्जन के विषय में प्रतिपादन करते हैं—

श्लोकार्थ—अल्पबुद्धिवाला मैं प्रभाचन्द्राचार्य श्री माणिक्यनदी गुरु के चरण-कमल के प्रसाद से श्रेष्ठ इस प्रमेय अर्थात् विश्व के पदार्थ वे ही हुए कमल उन्हे विकसित करने में मार्तण्ड-सूर्यस्वरूप ऐसे इस शास्त्र को करता हूँ, ठीक ही है, देखो जगत में छोटा सा झरोखा भी सूर्यकिरणों से दृष्टिगोचर पदार्थों को स्पष्ट नहीं करता है क्या ? अर्थात् करता ही है, वैसे ही मैं कमबुद्धिवाला होकर भी गुरुप्रसाद से शास्त्र की रचना करने में समर्थ होऊँगा ॥२॥

ये नून प्रथयन्ति नोऽसमगुणा मोहादवज्ञा जनाः,
 ते तिष्ठन्तु न तान्प्रति प्रयतित प्रारभ्यते प्रक्रमः ।
 सतः सन्ति गुणानुरागमनसो ये धीधनास्तान्प्रति,
 प्रायः शास्त्रकृतो यदत्र हृदये वृत्त तदाख्यायते ॥ ३ ॥
 त्यजति न विदधान कार्यमुद्विज्य धीमान्
 खलजनपरिवृत्तेः स्पर्धते किन्तु तेन ।
 किमु न वितनुतेऽर्कः पद्मबोध प्रबुद्ध-
 स्तदपहृतिविधायी शीतरश्मिर्यदीह ॥ ४ ॥
 अजडमदोष दृष्ट्वा मित्र सुश्रीकमुद्यतमनुष्यत् ।
 विपरीतबन्धुसङ्गतिमुद्गिरति हि कुवलय किं न ॥ ५ ॥

इस ससार में यद्यपि बहुत से पुरुष मोहबहुलता के कारण ईर्ष्यालु-गुणों को सहन नहीं करने वाले अथवा वक्रबुद्धिवाले हैं । वे इस ग्रंथ की अवज्ञा करेंगे; सो वे रहे आवे, हमने यह रचना उनके लिए प्रारम्भ नहीं की है, किन्तु जो बुद्धिमान् गुणानुरागी है उनके लिये यह माणिक्यनदी के परीक्षामुख ग्रंथकी टीका प्रवृत्त हुई है ॥३॥

जो बुद्धिमान् होते है वे प्रारब्ध कार्य को दुष्ट पुरुषों की दुष्टता से घबडाकर नहीं छोड़ते हैं, किन्तु और भी अच्छी तरह से कार्य करने की स्पर्धा करते है, देखिए—चन्द्र कमलो को मुरभा देता है तो भी क्या सूर्य पुन. कमलों को विकसित नहीं करता अर्थात् करता ही है ॥४॥

अजड, निर्दोष, शोभायुक्त ऐसे मित्र को देखकर क्या जगत् के जीव विपरीत संगति को नहीं छोड़ते है ? अर्थात् छोड़ते ही है, अथवा सूर्य के पक्ष में-जो अजल-जल से नहीं हुआ, निर्दोष—रात्रि से युक्त नहीं, तेजयुक्त है ऐसे सूर्य के उदय को देखकर भी कुवलय—रात्रिविकासी कमल अपनी विपरीतबन्धु सगति को अर्थात् चन्द्रमा की सगति को नहीं बतलाता है क्या ? अर्थात् सूर्य उदित होने पर भी कुमुद सतुष्ट नहीं हुआ तो मालूम पड़ता है कि इस कुमुद ने सूर्य के विपक्षी चन्द्र की सगति की है, इसी प्रकार सज्जन के साथ कोई व्यक्ति दुष्टता या ईर्ष्या करे तो मालूम होता है कि इसने दुष्ट की सगति की है ॥५॥

श्रीमदकलङ्कार्थोऽव्युत्पन्नप्रज्ञैरवगन्तु न शक्यत इति तद्व्युत्पादनाय करतनामलकवत् तदर्थ-
मुद्धृत्य प्रतिपादयितुकामस्तत्परिज्ञानानुग्रहेच्छाप्रेरितस्तदर्थप्रतिपादनप्रवण प्रकरणमिदमाचार्यं प्राह ।
तत्र प्रकरणस्य सम्बन्धाभिधेयरहितत्वाशङ्कापनोदार्थं तदभिधेयस्य चाऽप्रयोजनवत्त्वपरिहारानभिमत-
प्रयोजनवत्त्वव्युदासाशक्यानुष्ठानत्वनिराकरणदक्षमक्षुण्णसकलशास्त्रार्थसंग्रहसमर्थं 'प्रमाण' इत्यादि-
श्लोकमाह—

भावार्थ—यहा पर प्रभाचन्द्राचार्यं ने प्रसिद्ध कवि परपरा के अनुसार परीक्षामुख सूत्र की टीका स्वरूप प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रन्थ की रचना के शुरुआत में सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निंदा का वर्णन श्लोक न० ३-४-५ में किया है, इन श्लोकों का सारांश यह है कि इस जगत में मोहनीय कर्म के उदय के वशवर्ती-जीव दूसरों के गुणों को सहन नहीं करते हैं, गुणों में भी दोषों का आरोप करते हैं, किन्तु बुद्धिमान अपने प्रारब्ध किये हुए सत्कार्य को नहीं छोड़ते हैं, रात्रि में कमल मुरभाते हैं इसलिए सूर्य कमलो को विकसित न करे सो बात नहीं है । सज्जनों का कार्य निर्दोष विवेकपूर्ण तथा सुन्दर होता है तो भी दुर्जन उनकी उपेक्षा करके उल्टे निंदा ही करते हैं, किन्तु ऐसा करने से इन्हीं दुर्जनों की दुर्जनता प्रकट होती है, जैसे कि निर्दोष प्रकाशमान श्रीयुक्त सूर्य उदित होते हुए भी यदि कुमुद (रात्रिविकासी कमल) खिलते नहीं है तो इसीसे उन कुमुदों की सदोपता अर्थात् रात्रि में खिलना सिद्ध होता है ।

श्री अकलक आचार्य द्वारा कहे हुए जो ग्रन्थ है वे अति गहन गभीर अर्थवाले हैं, उन्हें अल्पबुद्धिवाले व्यक्ति समझ नहीं सकते, अतः उन्हें वे समझ में आजावे इसलिये तथा उनकी बुद्धि विकसित होने के लिये हाथ में रखे हुए आवले के समान स्पष्टरूप से उन्हीं अकलक के अर्थ को लेकर प्रतिपादन करने की इच्छा को रखने वाले, आचार्य अकलकदेव के न्यायग्रन्थ का विशेषज्ञान तथा शिष्योंका अनुग्रह करने की इच्छा से प्रेरित होकर उस न्याय ग्रन्थ के अर्थ का प्रतिपादन करने में दक्ष ऐसे इस प्रकरण को अर्थात् परीक्षा मुख सूत्रको माणिक्यनदी आचार्य कहते हैं ।

शास्त्र की शुरुवात करते समय सबधाभिधेय रहित की शंका को दूर करने के लिये अर्थात् शास्त्र में सबधाभिधेय है इस बात को कहते हुए तथा अप्रयोजन का परिहार और अनभिमत प्रयोजनव्युदास—यह शास्त्र अप्रयोजनभूत हो या अनिष्ट प्रयोजनवाला हो ऐसी शंका को दूर करते हुए और अशक्यानुष्ठान का निराकरण करने में चतुर सपूर्ण शास्त्र के अर्थ को संग्रह करने में समर्थ ऐसे प्रथम श्लोक को माणिक्यनदी आचार्य कहते हैं ।

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।

इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥१॥

सम्बन्धाभिधेयशक्यानुष्ठानेषु प्रयोजनवन्ति हि शास्त्राणि प्रेक्षावद्भिराद्रियन्ते नेतराणि-सम्बन्धा-
भिधेयरहितस्योन्मत्तादिवाक्यवत्; तद्धतोऽप्यप्रयोजनवत्. काकदन्तपरीक्षावत्, अनभिमतप्रयोजनवतो

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।

इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥१॥

प्रमाण से अर्थ की सिद्धि होनी है और प्रमाणाभास से विपर्यय-अर्थ की सिद्धि नहीं होती है, इसलिये उन दोनों का याने प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण जो कि पूर्वाचार्य प्रणीत है तथा जिसमें अल्प अक्षर है ऐसे लक्षण को अल्पबुद्धिवाले भव्यजीवो के लिये कहूंगा—

भावार्थ—श्री माणिक्यनदी आचार्य ने परीक्षामुख नामक ग्रन्थ को सूत्र बद्ध रचा है, इस ग्रन्थ के प्रारंभ में मगल स्वरूप मगलाचरण श्लोक कहा है, उसमें अपने ग्रन्थ रचना के विषय में दो विशेषण दिये हैं, एक अल्पम् और दूसरा सिद्धम्, यह ग्रन्थ सूत्र-रूप है और सूत्र का लक्षण श्लोक—अल्पाक्षरमसदिग्धं, सास्वद्विश्वतो मुखम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्र सूत्रविदो विदुः ॥१॥ जिसमें अक्षर थोड़े हो जो संशय रहित हो, सारभूत हो, जगत्प्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग से युक्त हो अर्थात् जिसमें जगत् प्रसिद्ध पदों का प्रयोग हो, विस्तृत न हो और निर्दोष हो ऐसी ग्रन्थ रचना या शब्द रचना को सूत्रों के जानने वालों ने सूत्र कहा है । इस प्रकार का सूत्र का लक्षण इस परीक्षामुख ग्रन्थ में पूर्णरूप से मौजूद है, अतः श्री माणिक्यनदी आचार्य ने अपने इस मगलाचरणरूप प्रथम श्लोक में कहा है कि मैं अल्प मे—अल्पाक्षररूप मे ही इस ग्रन्थ की रचना करूंगा । दूसरा विशेषण “सिद्धम्” है, यह विशेषण ग्रन्थ की प्रामाणिकता को सिद्ध करता है, अर्थात् श्री माणिक्यनदी आचार्य कहते हैं कि मैं जो भी ग्रन्थ रचना करूंगा उसमें सभी प्रकरण पूर्वाचार्य प्रसिद्ध ही रहेंगे मैं अपनी तरफ से नहीं लिखूंगा, इस प्रकार आचार्य ने अपनी लघुता और ग्रन्थ की प्रामाणिकता बतलाई है ।

शास्त्र सबंधाभिधेय, शक्यानुष्ठान, और इष्ट प्रयोजन से युक्त हुआ करते हैं उन्हीं का बुद्धिमान् आदर करते हैं, अन्य का नहीं, जैसे उन्मत्त पुरुष के सबंध रहित

वा मातृविवाहोपदेशवत्, अशक्यानुष्ठानस्य वा सर्वज्वरहरतक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशवत् तैरनादरणीयत्वात् । तदुक्तम्—

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोता श्रोतुं प्रवर्तते ।

शास्त्रादौ तेन वक्तव्यं सम्बन्धं सप्रयोजनं ॥ १ ॥

[मीमांसाश्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० १७]

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ।

यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यताम् ॥ २ ॥

[मीमांसाश्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० १२]

वाक्य का आदर नहीं होता है । तथा सबध युक्त भी अप्रयोजनी भूत वाक्य काकके दांत की परीक्षा करने वाले वचन के समान बेकार-अनादरणीय होते हैं, अनभिमत प्रयोजन को करने वाले वाक्य तो मातृ विवाहोपदेश के समान अयोग्य होते हैं । तथा सर्व प्रकार के बुखार को दूर करने वाला नागफणास्थित मणिके द्वारा रचे हुए अलकार के वचन समान अशक्यानुष्ठानरूप वचन सज्जनों के आदर योग्य नहीं होते हैं । मतलब यह हुआ कि सबध रहित वाक्य से कुछ प्रयोजन नहीं निकलता जैसे-दश अनार, छ. पूए इत्यादि सबध युक्त होकर भी यदि वह प्रयोजन रहित हो तो वह भी उपयोगी नहीं है-जैसे-कौवा के कितने दात हैं इत्यादि कथन कुछ उपयोगी नहीं रहता है । प्रयोजन भी इष्ट हो किन्तु उसका करना शक्य न हो तो वह अशक्यानुष्ठान कहलाता है जैसे—नाग के फणा का मणि सब प्रकार के ज्वरको दूर करने वाला होने से इष्ट तो है किन्तु उसे प्राप्त करना अशक्य है सो इस चार प्रकार के सबधाभिधेय रहित, अनिष्ट, प्रयोजनरहित तथा अशक्यानुष्ठान स्वरूप जो वाक्य रचना होती है उसका बुद्धिमान लोग आदर नहीं करते हैं, अतः ग्रन्थ इन दोषो से रहित होना चाहिये । अब यहा उन्ही सबधादिक के विषय का वर्णन मीमांसक के मीमांसा श्लोकवार्तिक का उद्धरण देकर करते हैं—

जिसका अर्थ प्रमाण से सिद्ध है ऐसे सबधवाले वाक्यो को सुनने के लिये श्रोतागण प्रवृत्त होते हैं, अतः शास्त्र की आदि मे ही प्रयोजन सहित सबध को कहना चाहिये ॥ १ ॥

शास्त्र हो चाहे कोई क्रियानुष्ठान हो जब तक उसका प्रयोजन नहीं बताया है तब तक उसे ग्रहण कौन करेगा ॥२॥

अनिर्दिष्टफल सर्वं न प्रेक्षापूर्वकारिभिः ।
शास्त्रमाद्रियते तेन वाच्यमग्रे प्रयोजनम् ॥ ३ ॥

[]

शास्त्रस्य तु फले ज्ञाते तत्प्राप्त्याशावशीकृता ।
प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते तेन वाच्यं प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

[]

यावत् प्रयोजनेनास्यसम्बन्धो नाभिधीयते ।
असम्बद्धप्रलापिन्वाद्भ्रुवेत्तावदसङ्गतिः ॥५॥

[मीमांसाश्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० २०]

तस्माद् व्याख्याङ्गमिच्छद्भिः सहेतुः सप्रयोजनः ।
शास्त्रावतारसम्बन्धोवाच्यो नान्योऽस्ति निष्फलः ॥६॥इति ।

[मीमांसाश्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० २५]

तत्रास्य प्रकरणस्य प्रमाणतदाभासयोर्लक्षणमभिधेयम् । अनेन च सहास्य प्रतिपाद्यप्रतिपादक-
भावलक्षण सम्बन्धः । शक्यानुष्ठानेषु प्रयोजनं तु साक्षात्तलक्षणव्युत्पत्तिरेव-‘इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म’

जिसका फल नहीं बताया है ऐसे सब प्रकार के ही शास्त्रों का बुद्धिमान्
आदर नहीं करते हैं, इसलिए शुरु में ही प्रयोजन बताना चाहिए ॥३॥

शास्त्र का प्रयोजन जब मालूम पडता है तब उस फल की प्राप्ति की आशा
से युक्त हुए विद्वद्गण उस शास्त्र को पढने-ग्रहण करने में प्रवृत्त होते हैं, अतः
प्रयोजन अवश्य कहना होगा ॥४॥

जब तक इस वाक्य का यह वाच्य—पदार्थ है और यह फल है ऐसा सबध
नहीं जोड़ा जाता है तब तक वह वाक्य असम्बद्ध प्रलाप स्वरूप होने से अयोग्य ही
कहलाता है ॥५॥

इसलिए जो ग्रन्थकर्ता शास्त्रव्याख्यान करना चाहते हैं उनको उस शास्त्र
का कारण, प्रयोजन—फल तथा शक्यानुष्ठानादि सभी कहने होंगे, अन्यथा वह ग्रन्थ
निष्फल हो जावेगा ॥६॥

इन सबधादिके विषयो में से इस प्रकरण अर्थात् परीक्षामुख ग्रन्थ का प्रमाण
और प्रमाणाभास का लक्षण कहना यही अभिधेय है, इसका इसके साथ प्रतिपाद्य

इत्यनेनाऽभिधीयते । 'प्रमाणादर्थसंसिद्धि' इत्यादिक तु परम्परयेति समुदायार्थः । अथेदानी व्युत्पत्तिद्वारेणाऽवयवार्थोऽभिधीयते । अत्र प्रमाणशब्दः कर्तृकरणभावसाधनः-द्रव्यपर्याययोर्भेदाऽभेदात्मकत्वात् स्वातन्त्र्यसाधकतमत्वादिविवक्षापेक्षयातद्भावाऽविरोधात् । तत्र क्षयोपशमविशेषवशात्-स्वपरप्रमेयस्वरूपं प्रमिमीते यथावज्जानाति' इति प्रमाणमात्मा, स्वपरग्रहणपरिण तस्यापरतन्त्रस्याऽऽत्मन एव हि कर्तृसाधनप्रमाणशब्देनाभिधान, स्वातन्त्र्येण विवक्षितत्वात्-स्वपरप्रकाशात्मकस्य प्रदीपादे प्रकाशाभिधानवत् । साधकतमत्वादिविवक्षायां तु—प्रमीयते येन तत्प्रमाण प्रमितिमात्र वा-प्रतिबन्धापाये प्रादुर्भूतविज्ञानपर्यायस्य प्राधान्येनाश्रयणात् प्रदीपादे प्रभाभारात्मकप्रकाशवत् ।

प्रतिपादकभाववाला सबध है, इसमें शक्यानुष्ठान और इष्ट प्रयोजन तो यही है कि प्रमाण और तदाभास के जानने में निपुणता प्राप्त होना इस बात को "वक्ष्ये" कहूंगा इस पद के द्वारा प्रकट किया है इसका साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति होना है, प्रमाण से अर्थ की सिद्धि होती है इत्यादि पदों से तो इस ग्रन्थका परपरा फल दिखाया गया है, इस प्रकार प्रथम श्लोक का समुदाय अर्थ हुआ, अब एक एक पदों का अवयवरूप से उनकी व्याकरण से व्युत्पत्ति दिखलाते हैं, इस श्लोक में जो प्रमाणपद है वह कर्तृ साधन, करणसाधन, भावसाधन इन तीन प्रकारों से निष्पन्न है, क्योंकि द्रव्य और पर्याय दोनों ही आपस में कथञ्चित् भेदा-भेदात्मक होते हैं । स्वातन्त्र्य विवक्षा, साधकतमविवक्षा और भावविवक्षा होने से तीनों प्रकार से प्रमाण शब्द बनने में कोई विरोध नहीं आता है । कर्तृसाधन स्वातन्त्र्य विवक्षा से प्रमाण शब्द की निष्पत्ति कहते हैं—क्षयोपशम के विशेष होने से अपने को और पर रूप प्रमेय को जैसा का तैसा जो जानता है वह प्रमाण है, "प्रमिमीते अर्थात् जानाति इति प्रमाण" कर्तृसाधन है, मायने आत्मा अर्थात् अपने और पर के ग्रहण करने में परिणत हुआ जो जीव है वही प्रमाण है, यह कर्तृसाधन प्रमाण शब्द के द्वारा कहा जाता है । क्योंकि स्वातन्त्र्य विवक्षा है, जैसे अपने और पर को प्रकाशित करने वाला दीपक स्वपर को प्रकाशित करता है ऐसा कहा जाता है । साधकतमादि विवक्षा होने पर "प्रमीयते अनेन इति प्रमाण करण साधन" अथवा प्रमितिमात्र वा प्रमाण भावसाधन प्रमाण पद ही जाता है, इन विवक्षाओं में जाना जाय जिसके द्वारा वह प्रमाण है अथवा जानना मात्र प्रमाण है ऐसा प्रमाण शब्द का अर्थ होता है, इस कथन में मुख्यता से प्रतिबन्धक-ज्ञानावरणादि कर्मों का अपाय अथवा क्षयोपशम होने से उत्पन्न हुई जो ज्ञानपर्याय है उसका आश्रय है—जैसे दीप की काति युक्त जो शिखा—लौ है वही प्रदीप है । इस

भेदाभेदयोः परस्परपरिहारेणावस्थानादन्यतरस्यैव वास्तवत्वाद्भयात्मकत्वमयुक्तम्, इत्य-
समीक्षिताभिधानम्; बाधकप्रमाणाभावात् । अनुपलम्भो हि बाधक प्रमाणम्, न चात्र सोऽस्तिसकल-
भावेषु भयात्मकत्वग्राहकत्वेनैवाखिलाऽस्खलत्प्रत्ययप्रतीतेः । विरोधो बाधक., इत्यप्यसमीचीनम्;
उपलम्भसम्भवात् । विरोधो ह्यनुपलम्भसाध्यो यथा-तुरङ्गमोत्तमाङ्गे शृङ्गस्य, अन्यथा स्वरूपेणापि
तद्वतो विरोधः स्यात् । न चानयोरेकत्र वस्तुन्यनुपलम्भोऽस्तिअभेदमात्रस्य भेदमात्रस्य वेतरनिरपेक्षस्य
वस्तुन्यप्रतीतेः । कल्पयताप्यभेदमात्र भेदमात्र वा प्रतीतिरवश्याऽभ्युपगमनीया-तन्निवन्धनत्वाद्द्वस्तु-

प्रकार प्रमाण इस पद का व्याकरण के अनुसार निरुक्ति अर्थ हुआ । इसका सरलभाषा में यह सार हुआ कि प्रमाण मायने ज्ञान या आत्मा है ।

शंका—भेद और अभेद तो परस्पर का परिहार करके रहते हैं अतः या तो भेद रहेगा या अभेद ही रहेगा । ये सब एक साथ एक में कैसे रह सकते हैं, अर्थात् कर्तृ साधन आदि में से एक साधन प्रमाण में रहेगा सब नहीं । इसलिये एक को भेदाभेदरूप कहना अयुक्त है ।

समाधान—ऐसा यह कहना ठीक नहीं क्योंकि एक जगह भेदाभेद मानने में कोई बाधा नहीं आती है, देखिये—यदि भेदाभेद रूप वस्तु दिखाई नहीं देती तो, या भेदाभेद को एकत्र मानने में कोई बाधा आती तो हम आपकी बात मान लेते किन्तु ऐसा बाधक यहा प्रमाण के विषय में कोई है ही नहीं, क्योंकि सपूर्ण पदार्थ उभयात्मक भेदाभेदात्मक-द्रव्यपर्यायात्मक ही निर्दोषज्ञान में प्रतीत होते हैं ।

शंका—भेद और अभेद में विरोध है—एक का दूसरे में अभाव है—यही बाधक प्रमाण है ।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि एक दूसरे में वे भेदाभेद रहते ही हैं । अतः जब वैसा उपलब्ध ही होता है तब क्यो विरोध होगा, विरोध तो जब वस्तु वैसी उपलब्ध नहीं होती तब होता है, जैसे घोड़े के सींग उपलब्ध नहीं है अतः सींग का घोड़े में विरोध या अभाव कहा जाता है, किन्तु ऐसा यहां नहीं है, यदि वैसे उपलब्ध होते हुए भी विरोध बताया जाय तो स्वरूप का स्वरूपवान से विरोध होने लगेगा । भावाभाव का एक वस्तु में अनुपलभ भी नहीं है, उल्टे भेदरहित अकेला अभेद या भेद ही वस्तु में दिखायी नहीं देता है, तथा भेद या अभेदमात्र की मनचाही कल्पना ही भले कर लो किन्तु प्रतीति को मानना होगा, क्योंकि प्रतीति-अनुभव से ही वस्तु व्यवस्था होती है, ऐसी प्रतीति तो सर्वत्र भेदाभेदरूप ही हो रही है तो फिर व्यर्थ का

व्यवस्थाया । सा चेदुभयात्मन्यप्यस्ति किं तत्र स्वसिद्धान्तविषमग्रहनिबन्धनप्रद्वेषेण-अप्रामाणिकत्व-प्रसङ्गादित्यलमतिप्रसङ्गेन, अनेकान्तसिद्धिप्रक्रमे विस्तरेणोपक्रमात् ।

वक्ष्यमाणलक्षणलक्षितप्रमाणभेदमनभिप्रेत्यानन्तरसकलप्रमाणविशेषसाधारणप्रमाणलक्षण-पुरःसरः 'प्रमाणाद्' इत्येकवचननिर्देश कृत । का हेती । अर्थ्यतेऽभिलष्यते प्रयोजनार्थिभिरित्यर्थो हेय उपादेयश्च । उपेक्षणीयस्यापि परित्यजनीयत्वाद्धेतुत्वम्, उपादानक्रिया प्रत्यकर्मभावान्नोपादेयत्वम्, हानक्रिया प्रति विपर्ययात्त्वम् । तथा च लोको वदति 'अहमन्नेनोपेक्षणीयत्वेन परित्यक्तः' इति । सिद्धिरसत् प्रादुर्भावोऽभिलषितप्राप्तिर्भावज्ञप्तिश्चोच्यते । तत्र ज्ञापकप्रकरणाद् असत्ः प्रादुर्भावलक्षणा सिद्धिर्नेह गृह्यते । समीचीना सिद्धिः ससिद्धिरर्थस्य ससिद्धिः 'अर्थससिद्धिः' इति । अनेन कारणान्त-

अपना सिद्धान्त रूप बडा भारी आग्रह या पिशाच जिसका निमित्त है ऐसा जो भेदाभेद मे द्वेष रखना है वह ठीक नहीं है, यदि द्वेष रखोगे तो अप्रामाणिक कहलाओगे, इस प्रकरण पर अब बस हो, अर्थात् इस प्रकरण पर अब और अधिक यहा कहने से क्या लाभ आगे अनेकान्त सिद्धिके प्रकरण मे इसका विस्तार से कथन करेगे ।

आगे कहे जाने वाले लक्षण से युक्त जो प्रमाण है उसके भेदो को नहीं करते हुए अर्थात् उनकी विवक्षा नहीं रखते हुए यहा सूत्रकारने सपूर्ण प्रमाणो के विशेष तथा सामान्य लक्षण वाले ऐसे प्रमाण का "प्रमाणात्" इस एकवचन से निर्देश किया है "प्रमाणात्" यह हेतु अर्थ मे पचमी विभक्ति हुई है, प्रयोजनवाले व्यक्ति जिसे चाहते हैं उसे अर्थ कहते है । वह उपादेय तथा हेयरूप होता है, उपेक्षणीय का हेय मे अन्तर्भाव किया है, क्योंकि उपादान क्रिया के प्रति तो वह उपेक्षणीय पदार्थ कर्म नहीं होता है, और हेय क्रिया का कर्म बन जाता है, अत हेय मे उपेक्षणीय सामिल हो जाता है जगत् मे भी कहा जाता है कि इसके द्वारा मैं उपेक्षणीय होने से छोडा गया हू ।

असत् की उत्पत्ति होना अथवा इच्छित वस्तु की प्राप्ति होना अथवा पदार्थ ज्ञान होना इसका नाम सिद्धि है, इन तीन अर्थो मे अर्थात् उत्पत्ति, प्राप्ति, ज्ञप्ति अर्थो मे से यहा पर ज्ञापक का प्रकरण होने से असत् का उत्पाद होना रूप उत्पत्ति अर्थ नहीं लिया गया है (प्राप्ति और ज्ञप्ति रूप अर्थ लिया गया है) समीचीन अर्थ सिद्धि को अर्थससिद्धि कहते है, इस पद के द्वारा अन्य कारण जो कि विपरीतज्ञान कराने वाले है उनसे अर्थसिद्धि नहीं होती ऐसा कह दिया समझना चाहिए । जाति, प्रकृति आदि के भेद से होने वाले उपकारक पदार्थ की सिद्धि का भी यहा ग्रहण हो गया है, इसी को बताते है —अकेले अकेले निम्ब, लवण आदि रसवाले पदार्थो मे हम

राहितविपर्यासादिज्ञाननिबन्धनाऽर्थसिद्धिर्निरस्ता । जातिप्रकृत्यादिभेदेनोपकारकार्थसिद्धिस्तु सगृहीता ; तथाहि—केवलनिम्बलवणरसादावस्मदादीना द्वेषबुद्धिविषये निम्बकीटोष्ट्रादीना जात्याऽभिलाषबुद्धि-रूपजायते अस्मदाद्यभिलाषविषये चन्दनादी तु तेषा द्वेष , तथा पित्तप्रकृतेरुष्णस्पर्शं द्वेषो-वातप्रकृतेर-भिलाष—शीतस्पर्शं तु वातप्रकृतेर्द्वेषो न पित्तप्रकृतेरिति । न चैतज्ज्ञानमसत्यमेव-हिताऽहितप्राप्ति-परिहारसमर्थत्वात् प्रसिद्धसत्यज्ञानवत् । हिताऽहितव्यवस्था चोपकारकत्वापकारकत्वाभ्या प्रसिद्धेति । तदिव स्वपरप्रमेयस्वरूपप्रतिभासिप्रमाणमिवाभासत इति तदाभासम्—सकलमतसम्मताऽवबुद्धय-क्षणिकाद्येकान्ततत्त्वज्ञान सन्निकर्पाऽविकल्पक-ज्ञानाऽप्रत्यक्षज्ञानज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानाऽनाप्तप्रणीताऽऽ-

लोगो को द्वेषबुद्धि होती है, परन्तु उन्ही विषयो मे निम्ब के कीडे तथा ऊट आदि को जाति के कारण ही अभिलाषा बुद्धि पैदा होती है, मतलब—नीम मे हमको हेयज्ञान होता है और ऊँट आदि को उपादेय ज्ञान होता है, सो ऐसा विपर्यय होकर भी दोनों ही ज्ञान जाति की अपेक्षा सत्य ही कहलावेगे, ऐसे ही हम जिसे चाहते है ऐसे चन्दन आदि वस्तु मे उन ऊँट आदि को द्वेष बुद्धि होती है—हेयबुद्धि होती है, पित्तप्रकृतिवाले पुरुष को उष्णस्पर्श मे द्वेष और वात प्रकृतिवाले पुरुष को उसी मे अभिलाषा होती है और इसके उल्टे शीतस्पर्श मे पित्तवाले को राग-स्नेह और वात प्रकृतिवाले को द्वेष पैदा होता है, किन्तु इन दोनों के ज्ञानो को असत्य नही कहना, क्योंकि यह हेय का परिहार और उपादान की प्राप्ति कराने मे समर्थ है, जैसे प्रसिद्ध सत्यज्ञान समर्थ है । दूसरी बात यह भी है कि हित और अहित की व्यवस्था या व्याख्या—लक्षण तो उपकारक और अपकारक की अपेक्षा से होता है, जो उपकारक हो वह हित और जो अपकारक हो वह अहित कहलाता है, उसके समान अर्थात् स्व पर प्रमेय का स्वरूप प्रतिभासित करने वाले प्रमाण के समान जो भासे—मालूम पडे वह तदाभास कहलाता है, वह तदाभास मायने प्रमाणाभास अनेक प्रकार का है, सभीके मत को माननेवाली है बुद्धि जिनकी ऐसे विनय वादी, सर्वथानित्य, सर्वथा क्षणिक इत्यादि एकान्तमती का तत्त्वज्ञान, आप्तलक्षण से रहित पुरुषों के द्वारा हुआ आगम, सन्निकर्प, निर्विकल्पज्ञान, अप्रत्यक्षज्ञान, जानान्तरवेद्यज्ञान, अविनाभावरहित अनुमानज्ञान, उपमादिज्ञान, सशय, विपर्यय एव अनध्यवसाय ये सबके सब ही ज्ञान तदाभास—प्रमाणाभास कहलाते है, क्योंकि इन ज्ञानो से विपर्यय होता है—अने इच्छित स्वर्ग, मोक्ष का निर्दोष बोध नही होता है, तथा इस लोक में सुख दुःख के साधन भूत पदार्थों का सत्यज्ञान प्राप्ति आदि सिद्धिया भी नही होती है, श्लोक में प्रमाण पद पहिले ग्रहण हुआ है . क्योंकि

गमाऽविनाभावविकललिङ्गनिबन्धनाऽभिनवोधादिक सशयविपर्यामानव्यवसायज्ञान च, तस्माद् विपर्ययोऽभिलषितार्थस्य स्वर्गापवर्गादिरनवद्यत्तसाधनस्य वैहिकमुखदुःखादिसाधनस्य वा सम्प्राप्तिज्ञप्ति-लक्षणसमीचीनसिद्धयभावः । प्रमाणस्य प्रथमतोऽभिधान प्रधानत्वात् । न चैतदसिद्धम्, सम्यग्ज्ञानस्य निश्चयेसंप्राप्तेः सकलपुरुषार्थोपयोगित्वात्, निखिलप्रयागस्य प्रेक्षावना तदर्थत्वान्, प्रमाणेतरविवेक-स्यापि तत्प्रसाध्यत्वाच्च । तदाभासस्य तूक्तप्रकाराऽसम्भवादप्राधान्यम् । इति' हेत्वर्थे । पुरुषार्थसिद्धय-सिद्धिनिबन्धनत्वादिति हेतो 'तयो' प्रमाणतदाभामयो 'लक्ष्म' असाधारणस्वरूप व्यक्तिभेदेन तज्ज्ञप्ति-निमित्त लक्षण 'वक्ष्ये' व्युत्पादनाहंत्वात्तलक्षणस्य यथावत्तत्स्वरूप प्रस्पष्ट कथयिष्ये । अनेन ग्रन्थ-कारस्य तद्व्युत्पादने स्वातन्त्र्यव्यापारोऽवसीयते-निखिललक्ष्यलक्षणभावावबोधाऽन्योपकारनियत-चेतोवृत्तित्वात्तस्य ।

ननु चेद वक्ष्यमाण प्रमाणेतरलक्षण पूर्वशास्त्राप्रसिद्धम्, तद्विपरीत वा ? यदि पूर्वशास्त्राऽ-प्रसिद्धम्-तर्हि तद्व्युत्पादनप्रयासो नारम्भणीय -स्वरुचिविरचितत्वेन सतामनादरणीयत्वात्, तत्प्रसिद्ध

वह मुख्य है, उसमे प्रधानता असिद्ध भी नहीं है, सम्यग्ज्ञान मोक्ष का कारण होने से सभी पुरुषार्थों मे उपयोगी है, तथा बुद्धिमान् इसी सम्यग्ज्ञान के लिये प्रयत्न करते हैं और प्रमाण तथा अप्रमाण का विवेक-भेद भी प्रमाणज्ञान से ही होता है, तदाभास से मोक्षसाधन का ज्ञान इत्यादि कार्य नहीं होते हैं, अतः वह गौण है । "इति" यह अव्यय पद हेतु अर्थ में प्रयुक्त किया है, पुरुषार्थ की सिद्धि और असिद्धि मे कारण होने से इस प्रकार "इति" का अर्थ है । "तयो" अर्थात् प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण-असाधारण स्वरूप व्यक्तिभेद से जो उनका ज्ञान कराने मे समर्थ है ऐसा लक्षण कहूंगा लक्षण तो व्युत्पत्ति-सिद्धि करने योग्य होता ही है अतः उसका स्पष्टरूप यथार्थलक्षण कहूंगा, इस "वक्ष्ये" पद से ग्रन्थकार आचार्य सपूर्ण लक्ष्य और लक्षण भाव को अच्छी तरह जाननेवाले होते हैं, तथा पर का उपकार करने मे इनका मन लगा रहता है, ऐसा समझना चाहिये ।

शंका—यह आगे कहा जानेवाला प्रमाण और तदाभास का लक्षण पूर्व के शास्त्रो मे प्रसिद्ध है या नहीं, यदि नहीं है तो उसका लक्षण करने मे प्रयास करना व्यर्थ है क्योंकि वह तो अपने मनके अनुसार रचा गया होने से सज्जनो के द्वारा आदरणीय नहीं होगा, और यदि पूर्व शास्त्र प्रसिद्ध है तब तो बिलकुल कहना नहीं, क्योंकि पिष्ट पेपण होगा ।

समाधान—इसका समाधान होने के लिए ही सिद्ध और अल्प ऐसे दो पद दिये हैं । "सिद्ध" इस विशेषण से व्युत्पादन के समान लक्षण करने मे स्वतन्त्रता का

तु नितरामेतन्न व्युत्पादनीय-पिष्टपेषणप्रसङ्गादित्याह- सिद्धमल्पम् । प्रथमविशेषणेन व्युत्पादनवत्तल्लक्षणप्रणयने स्वातन्त्र्य परिहृतम् । तदेव अकलङ्कमिदं पूर्वशास्त्रपरम्पराप्रमाणप्रसिद्ध लघुपायेन प्रतिपाद्य प्रज्ञापरिपाकार्थं व्युत्पाद्यते-न स्वरुचिविरचित-नापिप्रमाणानुपपन्न -परोपकारनियतचेतसो ग्रन्थकृतो विनेयविसवादाने प्रयोजनाभावात् । तथाभूत हि वदन् विसवादकः स्यात् । 'अल्पम्' इति विशेषणेन यदन्यत्र अकलङ्कदेवैर्विस्तरेणोक्त प्रमाणेतरलक्षणतदेवात्र सक्षेपेण विनेयव्युत्पादनार्थमभिधीयत इति पुनरुक्तवनिरास । विस्तरेणान्यत्राभिहितस्यात्र सक्षेपाभिधाने विस्तररुचि विनेय-विदुषा नितरामनादरणीयत्वम् । को हि नाम विशेषव्युत्पत्त्यर्थी प्रेक्षावास्तत्साधनाऽन्यसद्भावे सत्यन्यत्राऽतत्साधने कृतादरो भवेदित्याह- 'लघीयस' । अतिशयेन लघवो हि लघीयास सक्षेपरुचय इत्यर्थं । कालशरीरपरिमाणकृत तु लाघव नेह गृह्यतेतस्य व्युत्पाद्यत्वव्यभिचारात्, क्वचित्तथाविधे व्युत्पाद-

निरसन किया है, अर्थात्—अकलक देव से रचित जो कुछ लक्षण है जो पूर्वाचार्य प्रणीत शास्त्रपरम्परा से आया है उसीको थोड़े उपायो से शिष्यो की बुद्धि का विकास होने के लिए कहा जाता है, अतः स्वरुचि से नहीं बनाया है, और न प्रमाण से असिद्ध ही है, क्योंकि परोपकार करनेवाले ग्रन्थकार शिष्य को ठगने में कुछ भी प्रयोजन नहीं रखते हैं । यदि मन चाहा पूर्व शास्त्र से अप्रसिद्ध बाधित ऐसा लक्षण करते तो वे विसवादक कहलाते । "अल्पम्" इस विशेषण से जो अन्य ग्रन्थ में अकलकादि के द्वारा विस्तार से कहा है उन्हीके उस प्रमाण तदाभास लक्षण को सक्षेप से विनेय-शिष्य-को समझाने के लिये कहा जाता है, अतः पुनरुक्त दोष भी नहीं आता है ।

शंका—जो लक्षण अन्यग्रन्थो में विस्तारपूर्वक कहा है उसीको यहा संक्षेप से कहेंगे तो विस्तार रुचिवाले शिष्य उस लक्षण का आदर नहीं करेंगे । जो पुरुष विशेष को जानना चाहता है वह उस विशेष ज्ञान के उपायभूत अन्य ग्रन्थ मौजूद होते हुए इस संक्षेपवाले ग्रन्थ में क्या आदर करेगा ।

समाधान—ऐसा नहीं है, हम ग्रन्थकार तो अल्प बुद्धिवाले शिष्यो के लिये कहते हैं अर्थात् संक्षेप से जो तत्त्व समझना चाहते हैं उनके लिये कहते हैं । यहा पर लघुता जो है वह काल की या शरीर की नहीं लेना क्योंकि जो काल से अल्प न हो अर्थात् ज्यादा उम्रवाले हो या अल्प उम्र वाले हो और शरीर से छोटे हो या बड़े हो उनको तो कम बुद्धिवाले होने से समझायेगे, मतलब-जो शिष्य संक्षेप से व्युत्पत्ति करना चाहते हैं उन शिष्यों के लिये यह ग्रन्थ रचना का प्रयास है, प्रतिपादक तो प्रतिपाद्य के

कस्याऽप्युपलम्भात् । तस्मादभिप्रायकृतमिह लाघव गृह्यते । येषां सक्षेपेण व्युत्पत्त्यभिप्रायो विनेयानां तान् प्रतीदमभिधीयते-प्रतिपादकस्य प्रतिपाद्याशयवशवर्तित्वात् । 'अकथितम्' [पाणिनि सू० १।४।५१] इत्यनेन कर्मसज्ञाया सत्याकर्मणीप् ।

ननु चेष्टदेवतानमस्कारकरणमन्तरेणैवोक्तप्रकाराऽऽदिश्लोकाभिधानमाचार्यस्याऽयुक्तम् । अविघ्नेन शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक हि फलमुद्दिष्येष्टदेवतानमस्कार कुर्वाणा शास्त्रकृतः शास्त्रादी प्रतीयन्ते, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, वाङ्मनमस्काराऽकरणेपि कायमनोनमस्कारकरणात् । त्रिविधो हि नमस्कारो-मनोवाक्कायकारणभेदात् । दृश्यते चातिलघूप्रायेण विनेयव्युत्पादनमनसा धर्मकीर्त्यादीनामप्येवविधा प्रवृत्ति-वाङ्मनमस्कारकरणमन्तरेणैव "सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः" [न्यायवि० १।१] इत्यादि वाक्योपन्यासात् । यद्वा वाङ्मनमस्कारोऽप्यनेनैवादिश्लोकेन कृतो ग्रन्थकृता, तथाहि-मा अन्तरङ्गवहिरङ्गानन्तज्ञानप्राप्तिहार्यादिश्री, अण्यते शब्दते येनार्थोऽसावाण शब्दः, मा चाणश्च

आशय के अनुसार कथन किया ही करते है । पाणिनिव्याकरण के "अकथित" इस सूत्र से कर्म अर्थ मे "अल्प सिद्ध लक्ष्म" इन पदो मे द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है ।

शंका—इष्टदेव को नमस्कार किये विना ही शास्त्रकारने जो शास्त्र की शुरुआत मे श्लोक कहा है वह अयुक्त है, क्योकि निर्विघ्न शास्त्र रचना पूर्ण हो इत्यादि फलो का उद्देश्य लेकर नमस्कार करके शास्त्रकार शास्त्र रचते है ऐसा देखा गया है ।

समाधान—यह शंका ठीक नही, यद्यपि वाचनिक नमस्कार न किया हो, किन्तु कायिक तथा मानसिक नमस्कार तो किया ही है, मन, वचन, काय के भेद से नमस्कार तीन प्रकार का होता है । देखा भी गया है कि अन्यमती धर्मकीर्ति आदि ने जल्दी से शिष्यो को ज्ञान हो इस बुद्धि से वाचनिक नमस्कार किये विना ही "सम्यग्ज्ञान पूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धि" ऐसा प्रारम्भिक सूत्र बनाया है, अथवा ग्रन्थकार माणिक्य-नदी ने इस परीक्षामुख ग्रन्थ की शुरुआत मे वाचनिक नमस्कार भी किया है, देखिये—
अन्तरग लक्ष्मी अनन्तचतुष्टय और बहिरग लक्ष्मी अष्ट प्रातिहार्यादिक है, उनको "मा" कहते है । "अण्यते अर्थ येन असौ अण माच अणश्च माणो, प्रकृष्टौ माणौ यस्य असौ प्रमाण" अर्थात् अण कहते है शब्द या दिव्यध्वनि को, मा अर्थात् समवसरण आदि विभूति और अण मायने दिव्यध्वनि, ये दोनो गुण असाधारण है, अन्य हरि, हर, ब्रह्मा मे नही पाये जाते है, अत उत्कृष्ट गुणोंके धारक भगवान् सर्वज्ञ ही "प्रमाण" इस नाम के धारक हुए उनसे अर्थात् अर्हत सर्वज्ञ से अर्थ ससिद्धि होती है और तदा-

माणी, प्रकृष्टौ महेश्वराद्यसम्भविनौ माणी यस्याऽसौ प्रमाणो भगवान् सर्वज्ञो' दृष्टेष्टाऽविरुद्धवाक् च, तस्मादुक्तप्रकारार्थसिद्धिर्भवति तदभासात्, महेश्वरादेर्विपर्ययस्तत्सिद्धचभाव । इति वक्ष्ये तयो-
र्लक्ष्म 'सामग्रीविशेषविश्लेषिताऽखिलावरणमतीन्द्रियम्' इत्याद्यसाधारणस्वरूप प्रमाणस्य । किंवि-
शिष्टम् ? सिद्धं वक्ष्यमाणप्रमाणप्रसिद्धम्, तद्विपरीत तु तदाभासस्य, तच्चाऽल्पसक्षिप्त यथा भवति
तथा, लघीयस प्रति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्मेति । शास्त्रारम्भे चाऽपरिमितगुणोदधेर्भगवतो गुणालवव्यावर्णनमेव
वाक्स्तुतिरित्यलमतिप्रसङ्गेन ॥

प्रमाणविशेषलक्षणोपलक्षणाकाङ्क्षायास्तत्सामान्यलक्षणोपलक्षणपूर्वकत्वात् प्रमाणस्वरूप-
विप्रतिपत्तिनिराकरणद्वारेणाऽबाधतत्सामान्यलक्षणोपलक्षणायेदमभिधीयते—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥ १ ॥

भास से अर्थात् महेश्वरादि से विपर्यय-अर्थसिद्धि का अभाव होता है, इस कारण मैं
उन उन प्रमाण और तदाभास का लक्षण कहूंगा, अर्थात् अर्हतादि का लक्षण "सामग्री
विशेष विश्लेषिताखिलावरण मतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम्" इत्यादि सूत्र से कहूंगा, यह
लक्षण कैसा है ? सिद्ध है अर्थात् प्रमाण का लक्षण तो प्रसिद्ध है और तदाभास की
समीचीनता सिद्ध नहीं है, ऐसा वह लक्षण सक्षिप्तरूप से अल्पबुद्धि वालों के लिये
कहूंगा । इस प्रकार शास्त्र की आदि में अपरिमित गुणों के धारक भगवान् के थोड़े से
गुणों का वर्णन करना ही वाचनिक नमस्कार है । अतः नमस्कार के विषय में ज्यादा
कहने से अब बस रहो । प्रमाण का सामान्य लक्षण पूर्वक ही विशेष लक्षण होता है,
अतः प्रमाण के स्वरूप के बारे में जो विवाद है उसे दूर करते हुए अबाधित ऐसा
सामान्य लक्षण कहते हैं ।

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१॥

स्व का और अन्य घटादि पदार्थों का सशयादि से रहित निश्चय करनेवाला
ज्ञान प्रमाण कहलाता है ।

इस सूत्र में "प्रमाण की अन्यथानुपपत्ति" ऐसा हेतु है, विशेष्य को अन्य से
पृथक् करना विशेषण का फल है । अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इस प्रकार
लक्षण के तीनों दोषों से रहित तथा अन्यमतों के प्रमाणों के लक्षण का निरसन करने
वाला यह प्रमाणका लक्षण श्री माणिक्यनदी आचार्य के द्वारा लक्षित किया गया है,
इस प्रमाण के पाँच विशेषण हैं—स्व, अपूर्व, अर्थ, व्यवसायात्मक और ज्ञान, इनमें से

प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेरित्ययमत्र हेतुर्दृष्टव्यः । विशेषण हि व्यवच्छेदफल भवति ।

“स्व” विशेषण द्वारा ज्ञानको सर्वथा परोक्ष मानने वाले मीमांसक का तथा दूसरे ज्ञान से उसे ग्राहक मानने वाले नैयायिक का खडन होता है, अर्थात् ज्ञान स्व को जानने वाला है, अपूर्व विशेषण से धारावाहिक ज्ञान का निरसन किया है, तथा सर्वथा ही अपूर्व वस्तु का ग्राहक प्रमाण होता है ऐसा माननेवाले भाट्ट का निरसन किया है, अर्थात् प्रमाण कथञ्चित् अपूर्व अर्थ का ग्राहक है, अर्थ—इस विशेषण से बौद्ध के प्रमाण का खडन होता है, क्योंकि विज्ञानाद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी ज्ञान के द्वारा ज्ञान का ही मात्र ग्रहण होता है, क्योंकि ज्ञानमात्र ही तत्त्व है ऐसा वे मानते हैं, उन्हें समझाने के लिए कहा है कि ज्ञान अर्थ को-पदार्थ को जानने वाला है । बौद्ध ही ज्ञान को निर्विकल्प-अनिश्चायक मानते हैं सो उसका खडन करने के लिये प्रमाण के लक्षण में “व्यवसायात्मक” यह विशेषण प्रस्तुत किया है, ज्ञान विशेषण तो सन्निकर्ष, कारक साकल्य इन्द्रियवृत्ति, ज्ञातृव्यापार आदि अज्ञानरूप वस्तु को ही प्रमाण माननेवाले वैशेषिक आदि का निरसन करने के लिये उपस्थित किया है । इस प्रकार इन पाँचों विशेषणों से विशिष्ट जो है वही प्रमाण है ऐसा अक्षुण्ण तथा निर्दोष लक्षण का यहाँ पर प्रणयन किया है ।



कारक साकल्यवाद—पूर्वपक्ष



नैयायिक कारक साकल्य को प्रमाण मानते हैं, प्रमाणों की संख्या उनके यहां चार मानी गई है । १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान, ४ आगम । इन प्रमाणों को जो उत्पन्न करता है वह कारक साकल्य कहलाता है । पदार्थ को जानना एक कार्य है । और कार्य जो होता है वह अनेक कारणों से निष्पन्न होता है, एक से नहीं । वे जो कारण हैं उन्हें ही कारक साकल्य कहते हैं ।

“अत्रेदं तावद् विचार्यते कि प्रमाणं नाम किमस्य स्वरूपं कि वा लक्षणमिति, ततः तत्र सूत्रं योजयिष्यते, तदुच्यते—अव्यभिचारिणीमसदिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् । बोधाबोधस्वभावा हि तस्य स्वरूपं, अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिसाधनत्वं लक्षणम्” (न्याय मंजरी पृ० १२)

अर्थ.—यहां पर यह विचारारूढ है कि प्रमाण किसका नाम है, क्या उसका स्वरूप और लक्षण है ? सो उसका उत्तर देते हैं—अव्यभिचारी तथा सशय रहित पदार्थ की उपलब्धि होना है ऐसे स्वरूप को जो धारण करती है वह बोध तथा अबोध अर्थात् ज्ञान और अज्ञान लक्षण वाली सामग्री ही प्रमाण कहलाती है, इस सामग्री में ज्ञान को उत्पन्न करने वाले अनेक कारक या कारण हैं । अतः इसको कारक साकल्य कहते हैं, यही प्रमाण है, क्योंकि पदार्थ के जानने में यह साधकतम है । बोध और अबोध तो प्रमाण का स्वरूप है, और अव्यभिचारी तथा सशयरहित पदार्थ की उपलब्धि कराना उसका लक्षण है, यहां पर कोई शक करे कि प्रमाण शब्द करण साधन है “प्रमीयते अनेनेति प्रमाण” साधकतम को करण कहते हैं, साधकतम यह शब्द अतिशय को सूचित करता है, अर्थात् “अतिशयेन साधक साधकतम” जो अतिशयपने से साधक हो उसे साधकतम कहते हैं, सो यहा सामग्री को प्रमाण माना है तो कौन किससे साधक होगा । क्योंकि सामग्री तो एकरूप है । अब इस प्रकार की शका का समाधान करते हैं—जिस कारण से करणसाधन प्रमाण शब्द है उसी कारण से सामग्री को—कारक साकल्य को—प्रमाण माना है, क्योंकि अनेक कारणों के होने पर कार्य होता है और नहीं होने पर नहीं होता है, अतः कारकसाकल्य ही प्रमाण है, उन

अनेक कारकों में से किसी एक को विशेष नहीं मान सकते, क्योंकि सभी के होने पर तो कार्य होता है, और उनमें से एक के भी नहीं होने पर कार्य नहीं होता है, यही बात कही है कि—“अनेक कारकसन्निधाने कार्यं घटमानमन्यतरव्यपगमे च विघटमान कस्मै अतिशय प्रयच्छेत् । च चातिशय कार्यजन्मनि कस्यचिदवधार्यते सर्वेषा तत्र व्याप्रिय-
माणत्वात्” [न्याय मजरी पृ० १३] अर्थात्—अनेक कारकों के निकट होने पर तो कार्य होता है और उनमें से एक के नहीं होने पर कार्य नहीं हो पाता है, अतः किसी एक को अतिशय युक्त नहीं कह सकते । यहाँ तो सभी कारकों का उपयोग होता है और इसीलिए तो इस सामग्री का नाम कारक साकल्य है, इस कारक साकल्य या सामग्री के अदर कोई कारक बोधरूप है और कोई अबोधस्वरूप है, अतः “बोधाबोधस्वभावा तस्य स्वरूपम्” ऐसा कहा है, अर्थात् प्रकाश, इन्द्रियादि अबोध, स्वभाववाले कारक है और ज्ञान बोधस्वभाववाला है । बस ! इन्हीं का समूह कारकसाकल्य है, यही प्रमा का साधकतमकरण है, अतः यही प्रमाण है ।

*** पूर्वपक्ष समाप्त ***

कारकसाकल्यवादः

तत्र प्रमाणस्य ज्ञानमिति विशेषणेन 'अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनक कारकसाकल्य साधकतमत्वात् प्रमाणम्' इति प्रत्याख्यातम्; तस्याऽज्ञानरूपस्य प्रमेयार्थवत् स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमत्वाभावतः प्रमाणत्वायोगात्-तत्परिच्छित्तौ साधकतमत्वस्याऽज्ञानविरोधिना ज्ञानेन व्याप्तत्वात् । छिदौ परश्वादिना साधकतमेन व्यभिचार इत्ययुक्तम्, तत्परिच्छित्ताविति विशेषणात्, न खलु सर्वत्र साधकतमत्व ज्ञानेन व्याप्त-परश्वादेरपि ज्ञानरूपताप्रसङ्गात् । अज्ञानरूपस्यापि प्रदीपादे स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमत्वोपलम्भात्तेन तस्याऽव्याप्तिरित्यप्ययुक्तम्, तस्योपचारात्तत्र साधकतमत्वव्यवहारात् ।

प्रमाण के लक्षण में "ज्ञान" यह जो विशेषण दिया है सो इस विशेषण से जरन्नैयायिक के द्वारा माना गया जो कारकसाकल्यवाद है जिसका खडन हो जाता है, अर्थात् नैयायिक कहते हैं कि व्यभिचारादिदोषों से रहित विशिष्ट अर्थ का ज्ञान कराने वाला कारकसाकल्य है, अतः यह प्रमाण है, सो इस कथन का "ज्ञान" विशेषण से खडन हो जाता है, क्योंकि कारकसाकल्य अज्ञानरूप है, वह प्रमेय-पदार्थ के समान अपना और पर का ज्ञान कराने में साधकतम हो ही नहीं सकता है, अतः प्रमाण नहीं होगा, पदार्थ की परिच्छित्ति-जानकारी के लिये अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही साधकतम होगा, क्योंकि परिच्छित्ति की तो ज्ञान के साथ ही व्याप्ति है ।

प्रश्न—छेदनक्रिया में तो परशु-कुठार-आदि अज्ञानी ही साधक हो जाते हैं ।

उत्तर—नहीं, यहा परिच्छित्ति का प्रकरण है, सर्वत्र साधकतम ज्ञान ही हो यह नहीं कहा है, क्योंकि साधकतम और ज्ञान की व्याप्ति करेगे, तब तो कुठारादि भी ज्ञानरूप बन जायेगे ।

शंका—स्व और पर की परिच्छित्ति में अज्ञानरूप भी दीपक में साधकतमा देखी जाती है, अत अतिव्याप्ति दोष आता है ।

साकल्यस्याप्युपचारेण साधकतमत्वोपगमे न किञ्चिदनिष्टम् मुख्यरूपतया हि स्वपरपरिच्छिन्ती साधक-
तमस्य ज्ञानस्योत्पादकत्वात् तस्यापि साधकतमत्वम्, तस्माच्च प्रमाण-कारणे कार्योपचारात्-अन्न वै
प्राणा इत्यादिवत् । प्रदीपेन मया दृष्ट चक्षुषाऽवगत धूमेन प्रतिपन्नमिति लोकव्यवहारोऽप्युपचारतः,
यथा ममास्य पुरुषश्चक्षुरिति-तेषां प्रमिति प्रति बोधेन व्यवधानात्, तस्य त्वपरेणाव्यवधानात्तन्मु-
ख्यम् । न च व्यपदेशमात्रात्पारमार्थिकवस्तुव्यवस्था 'नड्वलोदक पादरोग , इत्यादिवत् । ततो यद्वोधा-
ऽबोधरूपस्य प्रमाणत्वाभिधानकम्—

'लिखित साक्षिणो भुक्ति प्रमाण त्रिविध स्मृतम्' [] इति तत्प्रत्याख्यातम्, ज्ञानस्यैवा-
ऽनुपचरितप्रमाणव्यपदेशार्हत्वात् । तथाहि-यद्यत्राऽपरेण व्यवहित न तत्र मुख्यरूपतया साधक-

समाधान—यह शका अयुक्त है, दीपक मे तो उपचार से साधकतमपना
माना है, ऐसा ही कारकसाकल्य को उपचार से साधकतमपना मानो तो हम जैन को
कुछ अनिष्ट नहीं है, मुख्य रूप से स्वपर की परिच्छिन्ति मे तो ज्ञान साधकतम है, और
उसको उत्पन्न कराने में कारण होने से कारकसाकल्य को भी साधकतमपना हो
सकता है, इस तरह प्रमाण के-ज्ञान के कारण मे कार्य का उपचार करके अन्न ही
प्राण है, इत्यादि के समान कहा जाता है, अर्थात् प्रमाण का जो कारण है उसको भी
प्रमाण कहना यह उपचारमात्र है, आख के द्वारा जाना, दीप से जाना, धूम से जाना
इत्यादि लोक व्यवहार भी मात्र औपचारिक है, "यह पुरुष मेरी आखे है" इत्यादि
कहना भी उपचार है, क्योंकि इनके द्वारा होने वाली जानकारी के प्रति ज्ञान का
व्यवधान पडता ही है, ज्ञान मे तो ऐसा नहीं है, वह तो अव्यवधान से वस्तु को जानता
है, उपचारसे कोई पारमार्थिक वस्तुव्यवस्था नहीं होती है, जैसे "नड्वलोदक पादरोग"
नड्वलोदक पादरोग है, घास से युक्त जो जल होता है उसे नड्वलोदक कहते है, उससे
पैर मे रोग होता है, [तालाब आदि मे गदा पानी होता है, उसमे बार बार पैर देने
से पैर मे "नारू" नामका रोग हो जाता है, उसमे घुटने के नीचे भाग मे धागे के
समान आकारवाले लबे २ दो इन्द्रिय कीडे निकलते है, पैर मे छेद भी हो जाते है,
सो पैर मे रोग होने का कारण होने से उस पानी को भी रोग कहना उपचार मात्र
है] सो नड्वलोदक पादरोग है ऐसे कहने मात्र से कोई साक्षात् जल ही रोग नहीं बन
जाता है, इस प्रकार वास्तविक वस्तु को जानने के लिए ज्ञान ही साधकतम है, और
उपचार से कारक साकल्यादि भी साधकतम है, यह सिद्ध हुआ । कोई ज्ञान और
अज्ञान को समानरूप से प्रमाण बताते है, "लिखित साक्षिणो भुक्ति प्रमाणं त्रिविध

कारेण व्यवहितोऽयस्कार, स्वपरपरिच्छित्तौ विज्ञानेन
। तस्मात् कारकसाकल्यादिक साधकतमव्यपदेशार्हं न

वादिव्यवस्था स्यान्नान्यथाअतिप्रसङ्गात्-न च साकल्य
कारकाणि, तद्धर्मो वा स्यात्, तत्कार्यं वा, पदार्थान्तर

वत् आदि को प्रमाण मानते है, अर्थात् राज-
वही प्रमाण है ऐसा कहते है, जिसमें साक्षी
(अथवा साक्षी देनेवाला पुरुष भी प्रमाण है)
जिसका जिस वस्तु पर कब्जा हो वह पुरुष
मानने वाले का भी ज्ञान पद से खडन हो
वास्तविक प्रमाण तो ज्ञान ही होगा, इसी को
वहित होकर जानता है वह साधकतम नहीं
होकर लकड़ी को काटता है। पर के द्वारा
की परिच्छित्ति मे ज्ञान से व्यवहित होते है,

...ादियों का मान्यग्रन्थ “याज्ञवल्क्य स्मृति”
मानका है, उसमें लिखित आदि प्रमाणों के विषय मे श्लोक है कि—

प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम् ।
एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते ॥२॥

— अध्याय २

अर्थ —लिखितप्रमाण, भुक्ति प्रमाण, साक्षीप्रमाण, इस प्रकार मानुष प्रमाण
के ३ भेद है, राज्यशासन के अनुसार लिखे हुए जो पत्र है, वे लिखित प्रमाण है,
उपभोग करनेवाला अर्थात् जिसका जिस वस्तु पर कब्जा है वह व्यक्ति या उसका
कथन भुक्ति प्रमाण है, जिस वस्तु के विषय मे विवाद होने पर उसके निर्णय के लिए
जो साक्षीदार होते है उन पुरुषो को ही साक्षी प्रमाण कहते है, साक्षी पुरुषों के विषय
में लिखा है कि—

वा गत्यन्तराभावात् ? न तावत्सकलान्येव तानि साकल्यस्वरूपम्; कर्तृकर्मभावे तेषां करणत्वानुप-
पत्तेः । तद्भावे वा—अन्येषां कर्तृकर्मरूपता, तेषामेव वा ? नतावदन्येषाम्, सकलकारकव्यति-
रेकेणान्येषामभावात्, भावे वा न कारकसाकल्यम् । नापि तेषामेव कर्तृकर्मरूपता, करणत्वाभ्यु-
पगमात् । न चैतेषां कर्तृकर्मरूपाणामपि करणत्व-परस्परविरोधात् । कर्तृता हि ज्ञानचिकीर्षाप्रियत्ना-

तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः ।

धर्मप्रधानाः ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः ॥६८॥

—अध्याय २

अर्थ—जो पुरुष तपस्वी है, दानशील, कुलीन, सत्यभाषी, धर्मपुरुषार्थी, सरल-
परिणामी, पुत्रवाला तथा धनिक है वह किसी विषय में साक्षी दे सकता है अन्य नहीं,
और भी इस विषय में उस ग्रन्थ में बहुत लिखा है, जैनाचार्य ने इस प्रकार के प्रमाण
के लक्षण का निरसन किया है कि ऐसे प्रमाण तो सभी ही अज्ञानरूप है, क्योंकि
वस्तुतत्त्व को जानने के लिए एक ज्ञान ही अव्यवहितरूप से साधकतम-करण है, अन्य
कोई भी वस्तु नहीं ।

दूसरी बात यह है कि जो स्वरूप से प्रसिद्ध ज्ञात होता है उसी में प्रमाणपने
की व्यवस्था सिद्ध हो सकती है, अप्रसिद्ध में प्रमाणपने की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती
अर्थात् प्रमाणपने की व्यवस्था नहीं बन सकती है, अन्यथा अतिप्रसंग होगा । अर्थात्
जो स्वरूप से रहित है—स्वरूप से प्रसिद्ध नहीं है ऐसे कारकसाकल्य को स्वीकार
करते ही तो खरविषाण को भी स्वीकार करना चाहिए, कारकसाकल्य का स्वरूप
तो प्रसिद्ध है नहीं । कारक साकल्य का स्वरूप अच्छा बताइये क्या है—क्या सकल
कारक ही कारक साकल्य का स्वरूप है ? या कारको का धर्म कारक साकल्य का
स्वरूप है ? या कारको का कार्य, या अन्य कोई पदार्थ कारक साकल्य का स्वरूप है ?
अन्य तो कोई कारक साकल्य का अर्थ होता नहीं है, यदि सकलकारको को कारक-
साकल्य कहते हैं, ऐसा प्रथम पक्ष लो तो कर्त्ता कर्म आदि में करणपना नहीं होने से
वह बनता नहीं, जब कर्त्ता कर्म को भी करण मानोगे तो सकलकारको में सभी करण-
रूप होने से अन्य किसी को कर्त्ताकर्म बनाओगे या उन्हीं को ? अन्य को तो कहना
नहीं क्योंकि सकलकारको को छोड़कर अन्य कोई है ही नहीं यदि है तो वह सकल-
कारक ही कारक साकल्य है, यह कहना असत्य ठहरता है, यदि कहो कि उन्हीं को

धारता स्वानन्वय वा, निर्वर्त्यत्वादिधर्मयोगित्वं कर्मत्वम्, करणत्व तु प्रधानक्रियाऽनाधारत्वमित्येतेषां कथमेकत्र सम्भवः तन्न सकलकारकाणि साकल्यम् ।

नापि तद्धर्मः—स हि सयोगः, अन्यो वा ? सयोगश्चेन्न, आस्याऽनन्तर-विस्तरतो निषेधात् । अन्यश्चेत्, नास्य साकल्यरूपता अतिप्रसङ्गात्-व्यस्तार्थानामपि तत्सम्भवात् । किं चाऽसौ कारकेभ्यो-

अर्थात् जो कर्म कर्त्ता आदि है वे करणरूप होकर भी पुनः कर्त्ता आदि रूप बन जाते हैं ऐसा कहना हो तो वह बेकार है, क्योंकि वे तो करणरूप बन चुके हैं, उन्हीं को कर्त्ता और कर्म करना पुनः करणरूप करना ऐसा तो परस्पर में विरोध है । ज्ञान, चिकीर्षा, प्रयत्न की आधारता जहां है वही कर्त्ता है । निर्वर्त्य आदि धर्म को कर्म कहते हैं, प्रधान क्रिया का जो आधार नहीं वह करण है, मीमांसक मतमें निम्न प्रकार से कर्त्ता, कर्म और करण कारकों के लक्षण माने गये हैं—ज्ञान का आधार अर्थात् जिसमें ज्ञान हो वह कर्त्ता है, तथा चिकीर्षा अर्थात् करने की जिसकी इच्छा है वह कर्त्ता है और प्रयत्न के आधार को कर्त्तकारक कहते हैं । अथवा स्वतन्त्र को कर्त्ता कहते हैं । कर्मकारक के ३ भेद हैं, निर्वर्त्य, प्राप्य, विकार्य, जिसमें नयी अवस्था उत्पन्न होती है वह निर्वर्त्य कर्म है, सिद्ध वस्तु ग्रहण करना प्राप्य है और वस्तु की अवस्था में विकार करना विकार्य है, करण कारक-जानने रूप या छेदनादि प्रधानरूप जो क्रियाएँ हैं उनका जो आधार नहीं है वह करणकारक कहलाता है इस प्रकार आप लोग कर्त्ता आदि का लक्षण मानते हैं, सो यह सब भिन्न २ लक्षण वाले होने से एक जगह एक को ही सब कर्त्ता आदि रूप आप कैसे बना सकते हैं, अर्थात् नहीं बना सकते, अतः सकल कारकोंको कारकसाकल्य कहना सिद्ध नहीं हुआ ।

कारकों के धर्म को कारकसाकल्य कहना भी नहीं बनता, धर्म क्या है, क्या वह सयोग रूप है, या अन्य प्रमेयता आदि रूप है । सयोग रूप धर्म को कारकसाकल्य कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि हम सयोग का आगे निषेध करनेवाले हैं, अन्य कहो तो सकल रूपता नहीं रहेगी । अतिप्रसंग होगा, व्यस्त—एक एक—भी कारक साकल्य कहलावेगे । तथा वह धर्म कारको से अभिन्न है ऐसा कहो तो दोनों अभिन्न होने से एकमेक हो जावेगे, अतः या तो धर्म ही रहेगा या मात्र कारक ही रहेगा । यदि धर्म भिन्न है तो संबन्ध होना मुश्किल है, तथा संबन्ध मान भी लिया जावे तो एक धर्म का सभी कारको में एक साथ रहना सम्भव नहीं, क्योंकि अनवस्थादि दोष आते हैं,

वा गत्यन्तराभावात् ? न तावत्सकलान्येव तानि साकल्यस्वरूपम्; कर्तृकर्मभावे तेषां करणत्वानुप-
पत्तः । तद्भावे वा—अन्येषां कर्तृकर्मरूपता, तेषामेव वा ? न तावदन्त्येषाम्, सकलकारकव्यति-
रेकेणान्येषामभावात्, भावे वा न कारकसाकल्यम् । नापि तेषामेव कर्तृकर्मरूपता; करणत्वाभ्यु-
पगमात् । न चैतेषां कर्तृकर्मरूपाणामपि करणत्व-परस्परविरोधात् । कर्तृता हि ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्ना-

तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः ।

धर्मप्रधानाः ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः ॥६८॥

—अध्याय २

अर्थ—जो पुरुष तपस्वी है, दानशील, कुलीन, सत्यभाषी, धर्मपुरुषार्थी, सरल-
परिणामी, पुत्रवाला तथा धनिक है वह किसी विषय में साक्षी दे सकता है अन्य नहीं,
और भी इस विषय में उस ग्रन्थ में बहुत लिखा है, जैनाचार्य ने इस प्रकार के प्रमाण
के लक्षण का निरसन किया है कि ऐसे प्रमाण तो सभी ही अज्ञानरूप है, क्योंकि
वस्तुतत्त्व को जानने के लिए एक ज्ञान ही अव्यवहितरूप से साधकतम-करण है, अन्य
कोई भी वस्तु नहीं ।

दूसरी बात यह है कि जो स्वरूप से प्रसिद्ध ज्ञात होता है उसी में प्रमाणपने
की व्यवस्था सिद्ध हो सकती है, अप्रसिद्ध में प्रमाणपने की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती
अर्थात् प्रमाणपने की व्यवस्था नहीं बन सकती है, अन्यथा अतिप्रसंग होगा । अर्थात्
जो स्वरूप से रहित है—स्वरूप से प्रसिद्ध नहीं है ऐसे कारकसाकल्य को स्वीकार
करते हो तो खरविषाण को भी स्वीकार करना चाहिए, कारकसाकल्य का स्वरूप
तो प्रसिद्ध है नहीं । कारक साकल्य का स्वरूप अच्छा बताइये क्या है—क्या सकल
कारक ही कारक साकल्य का स्वरूप है ? या कारको का धर्म कारक साकल्य का
स्वरूप है ? या कारको का कार्य, या अन्य कोई पदार्थ कारक साकल्य का स्वरूप है ?
अन्य तो कोई कारक साकल्य का अर्थ होता नहीं है, यदि सकलकारको को कारक-
साकल्य कहते हैं, ऐसा प्रथम पक्ष लो तो कर्त्ता कर्म आदि में करणपना नहीं होने से
वह बनता नहीं, जब कर्त्ता कर्म को भी करण मानोगे तो सकलकारको में सभी करण-
रूप होने से अन्य किसी को कर्त्ताकर्म बनाओगे या उन्हीं को ? अन्य को तो कहना
नहीं क्योंकि सकलकारको को छोड़कर अन्य कोई है ही नहीं यदि है तो वह सकल-
कारक ही कारक साकल्य है, यह कहना असत्य ठहरता है, यदि कहो कि उन्हीं को

धारता स्वानन्त्र्यं वा, निर्वर्त्यत्वादिधर्मयोगित्व कर्मत्वम्, करणत्वं तु प्रधानक्रियाऽनाधारत्वमित्येतेषां कथमेकत्र सम्भव. तन्न सकलकारकाणि साकल्यम् ।

नापि तद्धर्म-स हि सयोगः, अन्यो वा ? सयोगश्चेन्न, आस्याऽनन्तर-विस्तरतो निषेधात् । अन्यश्चेत्, नास्य साकल्यरूपता अतिप्रसङ्गात्-व्यस्तार्थानामपि तत्सम्भवात् । किं चाऽसौ कारकेभ्यो-

अर्थात् जो कर्म कर्ता आदि है वे करणरूप होकर भी पुनः कर्ता आदि रूप बन जाते हैं ऐसा कहना ही तो वह बेकार है, क्योंकि वे तो करणरूप बन चुके हैं, उन्हीं को कर्ता और कर्म करना पुनः करणरूप करना ऐसा तो परस्पर में विरोध है । ज्ञान, चिकीर्षा, प्रयत्न की आधारता जहाँ है वही कर्ता है । निर्वर्त्य आदि धर्म को कर्म कहते हैं, प्रधान क्रिया का जो आधार नहीं वह करण है, मीमांसक मतमें निम्न प्रकार से कर्ता, कर्म और करण कारकों के लक्षण माने गये हैं—ज्ञान का आधार अर्थात् जिसमें ज्ञान हो वह कर्ता है, तथा चिकीर्षा अर्थात् करने की जिसकी इच्छा है वह कर्ता है और प्रयत्न के आधार को कर्त्तकारक कहते हैं । अथवा स्वतन्त्र को कर्ता कहते हैं । कर्मकारक के ३ भेद हैं, निर्वर्त्य, प्राप्य, विकार्य, जिसमें नयी अवस्था उत्पन्न होती है वह निर्वर्त्य कर्म है, सिद्ध वस्तु ग्रहण करना प्राप्य है और वस्तु की अवस्था में विकार करना विकार्य है, करण कारक-जानने रूप या छेदनादि प्रधानरूप जो क्रियाएँ हैं उनका जो आधार नहीं है वह करणकारक कहलाता है इस प्रकार आप लोग कर्ता आदि का लक्षण मानते हैं, सो यह सब भिन्न २ लक्षण वाले होने से एक जगह एक को ही सब कर्ता आदि रूप आप कैसे बना सकते हैं, अर्थात् नहीं बना सकते, अतः सकल कारकोंको कारकसाकल्य कहना सिद्ध नहीं हुआ ।

कारको के धर्म को कारकसाकल्य कहना भी नहीं बनता, धर्म क्या है, क्या वह सयोग रूप है, या अन्य प्रमेयता आदि रूप है । सयोग रूप धर्म को कारकसाकल्य कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि हम सयोग का आगे निषेध करनेवाले हैं, अन्य कहो तो सकल रूपता नहीं रहेगी । अतिप्रसंग होगा, व्यस्त—एक एक—भी कारक साकल्य कहलावेंगे । तथा वह धर्म कारको से अभिन्न है ऐसा कहो तो दोनों अभिन्न होने से एकमेक हो जावेंगे, अतः या तो धर्म ही रहेगा या मात्र कारक ही रहेंगे । यदि धर्म भिन्न है तो सबन्ध होना मुश्किल है, तथा संबन्ध मान भी लिया जावे तो एक धर्म का सभी कारको में एक साथ रहना संभव नहीं, क्योंकि अनवस्थादि दोष आते हैं,

व्यतिरिक्त, व्यतिरिक्तो वा ? यद्यव्यतिरिक्तः, तदा धर्ममात्र कारकमात्र वा स्यात् । व्यतिरिक्तश्चेत्सम्बन्धाऽसिद्धि । सम्बन्धेऽपि वा सकलकारकेषु युगपत्स्य सम्बन्धेऽनेकदोषदुष्टसामान्यादिरूपतापत्तिः । क्रमेण सम्बन्धे सकलकारकधर्मता साकल्यस्य न स्यात्—यदेव हि तस्यैकेन हि सम्बन्धो न तदैवाऽन्येनेति ।

नापि तत्कार्यं साकल्यम्—नित्याना तज्जननस्वभावत्वे सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसक्तिः, एकप्रमाणोत्पत्तिसमये सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिश्च स्यात् । तथाहि—यदा यज्जनकमस्ति-तत्तदोत्पत्तिमत्प्रसिद्धम्,

तथा कारकों के धर्म को सामान्यरूप होने का भी प्रसंग आता है, क्योंकि सामान्य ही ऐसा होता है, युगपत् अनेक व्यक्तियों में वही रहता है और कारक धर्म भी यदि ऐसा मानने में आता है तो वह सामान्य के समान ही होगा, और वह सामान्य के समान ही अनेक दोषों से दूषित माना जायगा, सामान्य एक और नित्यरूप आपने माना है, इसी प्रकार इस धर्म को भी एक और नित्यरूप आपको मानना पड़ेगा, तथा नित्य और एक रूप मानने पर ही उस धर्म की अनेक कारकों में युगपत् वृत्ति होगी और ऐसी ही बात आप कह रहे हो, यदि कारकों का धर्म कारकों में ऋष से रहता है ऐसा कहो तो सकल कारकों का धर्म साकल्य है ऐसा फिर नहीं कह सकते, क्योंकि जब वह एक में है तब वह उतने ही में ही है, अन्य कारक तो फिर उस धर्म से रहित हो जावेगे । कारकों के कार्य को साकल्य कहो तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कारक तो नित्य है, यदि वे कार्य करेंगे तो सर्वदा करते ही रहेंगे, इसी प्रकार दूसरा दोष यह भी होगा कि एक प्रमाण के उत्पन्न होते समय ही उन कारकों के द्वारा उत्पादन करने योग्य सभी प्रमाणों की उत्पत्ति हो जावेगी, यही बताया जाता है—जब जिसका पैदा करने वाला रहता है तब उसकी होना प्रसिद्ध ही बात है, जैसे कि उसी काल का माना गया एक प्रमाण उत्पन्न हो जाता है, पूर्वोत्तरकाल में होने वाले सभी प्रमाणों का कारण तो उस विवक्षित समय में मौजूद ही रहता है, क्योंकि आत्मादि कारण नित्य है, यदि इन आत्मादि कारणों के होते हुए भी सभी प्रमाणों की उत्पत्ति नहीं होती है तो फिर वह कभी नहीं होनी चाहिए, इस तरह से तो बस सारा ससार ही प्रमाण से रहित हो जावेगा, आत्मादिकारण सतत् मौजूद रहते हुए भी वे प्रमाण भूत कार्य तो अपने योग्य काल में ही होते हैं ऐसा कहो तो उन आत्मादिक कारण प्रमाण है ऐसा कह ही नहीं सकते हो, विरोध आता है, देखो—वे आत्मादिक कारण तो हैं, पर फिर भी वह प्रमाणभूत कार्य नहीं हुआ और पीछे अपने आप यो ही वह

यथा तत्कालाभिमत प्रमाणम्, अस्ति च पूर्वोत्तरकालभाविनां सर्वप्रमाणानां तदा नित्याभिमत जनकमात्मादिक कारणमिति । आत्मादिकारणे सत्यपि तेषामनुत्पत्तौ ततः कदाचनाप्युत्पत्तिर्न स्यादिति सकलं जगत् प्रमाणविकलमापद्येत् । आत्मादौ तत्करणसमर्थं सत्यपि स्वयमेव तेषां यथाकाल भावे तत्कार्यताविरोध-तस्मिन् सत्यप्यभावात्-स्वयमेवान्यदा भावात् । न च स्वकालेपि तत्सद्भावे भावात्तत्कार्यता, गगनादिकार्यताप्रसक्ते । न च तस्यापि तत्प्रति कारणत्वस्येष्टेरदोषोयमिति वक्तव्यम्; आत्माऽनात्मविभागाभावप्रसङ्गात् । यत्र प्रमितिः समवेता सोत्रात्मा नान्य इत्यप्यनालो-चितवचनम्, समवायाऽसिद्धौ समवेतत्वाऽसिद्धेः । यदा यत्र यथा यद्भवति तदा तत्र तथाऽऽत्मादेस्त-

हो गया, यदि तुम कहो कि जब अपने कालमें प्रमाण कार्य उत्पन्न होता है तब आत्मादि पदार्थ तो मौजूद ही रहते हैं अतः उनके सद्भाव में कार्य हुआ ऐसा माना जाता है तो ऐसी मान्यता में आकाशादिक को भी कारण मानना होगा, क्योंकि ये भी प्रमाण की उत्पत्ति के समय मौजूद ही रहते हैं, ये कहीं इधर उधर जाते नहीं और नष्ट भी होते नहीं हैं ।

नैयायिक—आकाश 'को भी प्रमाण का कारण मानना (अर्थात् कारक साकल्य के अन्दर आकाश को भी लेना) हमें इष्ट ही है, अतः हमारे ऊपर कोई दोष नहीं दे सकते ।

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह से तो आत्मा एव अनात्मा में जो भेद या विभाग है वह नष्ट हो जाता है, मतलब—जो प्रमाण का कारण है वह आत्मा है, और जो प्रमाण का कारण नहीं है वह अनात्मा है इस प्रकार का भेद नहीं रहेगा, क्योंकि आपने जड़ आत्मा को भी प्रमाण का कारण मान लिया है । जहा पर प्रमिति-ज्ञान-रहता है वह तो आत्मा है और जिसमें प्रमिति-ज्ञान-समवेत नहीं होता वह आकाश है, ऐसा आत्मा और अनात्मा के विभाग का कारण तो मौजूद ही है ।

जैन—यह कथन भी बिना विचारे किया है, क्योंकि अभी तक जब समवाय नामक पदार्थ ही सिद्ध नहीं है तो फिर समवेत कैसे सिद्ध हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता ।

नैयायिक—जो जब जहां जैसा होता है तब तहां वैसे ही आत्मादि कारण उस कार्य को करने में समर्थ होते हैं, इसलिए एक साथ सब प्रमाण उत्पन्न नहीं होते हैं ।

त्करणसमर्थत्वान्न कदा सकलप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिरित्यप्यसम्भाव्यम्, तत्स्वभावभूतसामर्थ्यभेदमन्तरेण कार्यस्य कालादिभेदायोगात्, अन्यथा दृष्टस्य पृथिव्यादिकार्यनानात्वस्याऽदृष्टपार्थिवादिपरमाण्वादि-कारणचातुर्विध्य किमर्थं समर्थ्यते ? नित्यस्वभावमेकमेव हि किञ्चित्समर्थनीयम् । यथा च कारण-जातिभेदमन्तरेण कार्यभेदो नोपपद्यते तथा तच्छक्तिभेदमन्तरेणापि । न च ययैकयागक्त्यैकमनेकाः शक्तीर्बिभर्ति तत्राप्यनेकशक्तिपरिकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गात्, तयैव तदनेक कार्यं करिष्यतीति वाच्यम्; यतो न भिन्नाः शक्ती. कयाचिच्छक्त्या कश्चिद्धारयतीति जैनो मन्यते—स्वकारणकलापात्तदात्मक-स्यैवाऽस्योत्पादात् ।

जैन— यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि आत्मादि मे भिन्न स्वभाव माने बिना कार्य मे भेद नहीं बनता, यदि स्वभाव भेद के बिना ही कार्य मे देश भेद और काल भेद होता तो फिर पृथिवी आदि अनेक प्रकार के कार्यों को देखकर उन कार्यभेदो के द्वारा कारणरूप परमाणुओ मे भेद काहे को माना जाय, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारो के परमाणु पृथक् पृथक् कयो मानते हो, आपको तो ब्रह्मवादी के समान एक ही नित्य स्वभाववाला कोई कारण मान लेना चाहिये, इस प्रकार कारण की जाति मे भेद हुए बिना कार्य मे भेद नहीं होता है यह सिद्ध हुआ, उसी प्रकार शक्ति-भेद के बिना भी कार्य मे भेद नहीं पड सकता है, यह भी सिद्ध हो जाता है ।

शंका—आत्मादिक कारणरूप पदार्थ जिस एक शक्ति के द्वारा अनेको शक्तियो को धारण करता है, उन अनेको शक्तियो को धारण करने मे भी तो अनेक शक्तियो की उसे जरूरत पड़ेगी तो इस तरह से तो अनवस्था आती है, अत कारण-रूप वस्तु एक शक्ति के द्वारा ही अनेको कार्य करती है ऐसा मानना चाहिए ।

समाधान—यह कथन ठीक नहीं—हम जैन किसी भी वस्तु को उसकी शक्ति से भिन्न नहीं मानते है, अर्थात् आत्मा किसी एक ही शक्ति के द्वारा सर्वथा भिन्न ऐसी अनेक शक्तियो का धारक है इस प्रकार से नहीं मानते है, आत्मा आदिक पदार्थ जब किसी अन्य अवस्था-पर्यायरूप-से उत्पन्न होते है तब वे नाना शक्ति स्वरूप ही उत्पन्न होते है ऐसा हमने स्वीकार किया है ।

नैयायिक—सहकारी की अपेक्षा लेकर आत्मादि कारण कार्य को करते है और सहकारी कारण अनेक प्रकार के होते ही है, अत. कार्य मे नानापना पाया जाता है ।

सहकारिसव्यपेक्षाणा जनकत्वाद्देशकालस्वभावभेदः कार्ये न विरुध्यतइत्यपि वार्तम्, नित्यस्यानुपकार्यतया सहकार्यऽपेक्षाया अयोगात् । सहकारिणो हि भावाः किं विशेषाधायित्वेन, एकार्थकारित्वेन वाभिधीयन्ते ? प्रथमपक्षे किमसौ विशेषस्तेभ्यो भिन्न अभिन्नो वा तैर्विधीयते ? भेदे सम्बन्धासिद्धेस्तदवस्थमेवाकारकत्वमेतेषा पूर्वावस्थायामिव पश्चादप्यनुषज्यते । तदसिद्धिश्च समवायादिसम्बन्धस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् सुप्रसिद्धा । विभिन्नातिशयात् कार्योत्पत्तौ चात्र कारकव्यपदेशोऽपि कल्पनाशिल्पिकल्पित एव-अतिशयस्यैव कारकत्वात् । द्वितीयपक्षे तु कथमेतेषा नित्यता उत्पादविनाशात्मकातिशयादभिन्नत्वात्तत्स्वरूपवत् ? एकार्थकारित्वेन त्वेषा सहकारित्व नास्माभिः प्रतिक्षिप्यते, किंत्वपरिणामित्वे तेषा प्राक् पश्चात् पृथग्भावावस्थायामपि कार्यकारित्वप्रसङ्गत 'सहैव कुर्वन्ति' इति नियमो न घटते । न खलु साहित्येऽपि भावा पररूपेण कार्यकारिणः । स्वयमकार-

जैन—यह जवाब भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा आदि पदार्थ तो नित्य है, उन्हें सहकारी की अपेक्षा ही कहा है, यदि जबरन मान भी लिया जावे तो सहकारी पदार्थ आत्मादि में विशेष अतिशयपना लाते हैं ? या कि आत्मा के साथ एकरूप होकर कार्य करते हैं ? प्रथम पक्ष लिया जाय तो वे सहकारी हैं, उनके द्वारा विशेषता जो आवेगी वह भिन्न रहेगी अथवा अभिन्न ? यदि भिन्न है तो उसे कौन जोड़ेगा, और बिना सम्बन्ध जुड़े सहकारी की अपेक्षा से रहित जैसे वे कार्य नहीं करते थे वैसे ही उनके मिलने पर भी नहीं करेंगे, क्योंकि उनकी अतिशयरूप विशेषता तो भिन्न ही पड़ी है, समवायादि सबध भी उस विशेषता को आत्मादि के साथ जुड़ा नहीं सकते, क्योंकि समवाय का खण्डन आगे होने वाला ही है, और यदि नैयायिक उस भिन्न अतिशय से ही कार्य की उत्पत्ति मान लेंगे तब तो उनका कारकसाकल्य कल्पनारूपी शिल्पी के द्वारा बनाया हुआ काल्पनिक हो जायेगा क्योंकि अतिशय ने ही सब कार्य किया है, दूसरा पक्ष माना जाय कि सहकारी की विशेषता आत्मादिक से अभिन्न है सो ऐसा मानने से आत्मादि पदार्थ नित्य कैसे रहेंगे, क्योंकि वे आत्मादि पदार्थ उत्पाद विनाशात्मक सहकारीके अतिशय से अभिन्न होने के कारण उत्पाद विनाशात्मक हो जायेंगे, जैसा कि अतिशय का स्वरूप उत्पाद विनाशात्मक है । एकार्थ होकर आत्मा और सहकारी कारण कार्य करते हैं यह पक्ष तो हम मानते हैं, किन्तु आत्मादि तो अपरिणामी हैं, अतः सहकारी कारणों के सयोग के पहिले और पीछे उनके सयोग से रहित अवस्था में भी वे कार्य करते रहेंगे तो ऐसी हालत में सहकारी कारणों के मिलने पर साथ ही वे कार्य करते हैं यह नियम नहीं बनेगा, तथा कोई भी पदार्थ

काणामन्यसन्निधानेऽपि तत्कारित्वासम्भवात्, सम्भवे वा पर एव परमार्थतः कार्यकारको भवेत् स्वात्मनि तु कारकव्यपदेशो विकल्पकल्पितो भवेत् । तथा चान्यस्यानुपकारिणो भावमनपेक्षयैव कार्यं तद्विकलेभ्य एव सहकारिभ्यः समुत्पद्येत । तेभ्योऽपि वा न भवेत्, स्वयं तेषामप्यकारकत्वात् पररूपेणैव कारकत्वात् । अतः सर्वेषां स्वयमकारकत्वे पररूपेणाप्यकारकत्वात् तद्वार्तोन्धेदतो न कुतश्चित् किञ्चिदुत्पद्येत । ततः स्वरूपेणैव भावाः कार्यस्य कर्तार इति न कदाचित्तत्क्रियोपरति स्यात् ।

सहकारी कारण मिलने के बाद भी पररूप से कार्य नहीं करते हैं अर्थात् सहकारीरूप से कार्य नहीं करते हैं, अपनेरूप से ही कार्य करते हैं । दूसरी बात यह है कि जो स्वतः अकारक है वे सहकारी के मिलने पर भी कार्यों के कारक नहीं हो सकते, यदि वे कार्यों के कारक होते हैं तो सहकारी ने ही कार्य किया यही माना जायगा, तो ऐसी हालत में आत्मा में कारकपना मानना काल्पनिक ही ठहरता है, अतः अनुपकारी उस बेकार आत्मादिक की अपेक्षा के बिना ही वे अकेले सहकारी ही कार्य उत्पन्न करने लगेंगे, अथवा उनसे भी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि वे सहकारी भी तो स्वतः अकारक ही हैं । आत्मादिक की सहायता से ही वे कार्य करने में योग्य माने गये हैं, अन्त में तो सारे के सारे (आत्मा सहकारी आदि ये सब) स्वयं जब कार्य करने में असमर्थ हैं तब एक दूसरे की सहायता से भी इनमें कार्य करने की क्षमता नहीं आ सकने से कारक की बात ही समाप्त हो जाती है, अर्थात् ऐसी हालत में किसी से भी कुछ कार्य नहीं उत्पन्न हो सकेगा, इसलिये इस आपत्ति को दूर करने के लिये प्रत्येक पदार्थ स्वतः ही कार्य करते हैं ऐसा माना जावे तो कार्य का होना कभी नहीं रुकेगा— हमेशा ही कार्य होता रहेगा ।

नैयायिक—कार्य सामग्री से उत्पन्न होते हैं, और सामग्री जो होती है वह दूसरे २ अनेक कारणरूप होती है, इसलिये नित्य आत्मादि एक एक पदार्थ से कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं, भले ही उन आत्मादिक में कार्य करने का स्वभाव है ।

जैन—नैयायिक का यह कथन गलत है, क्योंकि ये आत्मादिक अकेले क्रम से कार्य कर लेते हैं तो फिर उन कार्यों की अनेक तरह की भिन्न भिन्न काल में होने वाली दूसरी दूसरी सामग्री की क्या जरूरत है, उन कार्यकर्त्ता आत्मादिक नित्य पदार्थों को जो कि कार्य करने की सामर्थ्य धारण कर रहे हैं उनको खुद ही सारे कार्य कर डालना चाहिये, यदि वे नहीं करेंगे तो उनमें ऐसी सामर्थ्य काहे को मानना, वस्तु में

ननु कार्याणां सामग्रीप्रभवस्वभावत्वात् तस्याश्चापरापरप्रत्यययोगरूपत्वात्प्रत्येक नित्यानां तत्क्रियास्वभावत्वेऽप्यनुत्पत्तिस्तेषामिति, तदप्यसाम्प्रतम्, यतोऽयमेकोऽपि भावः क्रमभाविकार्योत्पादने समर्थोऽतः कथमेषा भिन्नकालापरापरप्रत्यययोगलक्षणान्नेकसामग्रीप्रभवस्वभावता स्यात् ? एकेनापि हि तेन तज्जननसामर्थ्यं विभ्राणेन तान्युत्पादयितव्यानि, कथमन्यथा केवलस्य तज्जननस्वभावता सिद्धयेत् ? तस्या कार्यप्रादुर्भावानुमीयमानस्वरूपत्वात् प्रयोग—यो यन्न जनयति नासौ तज्जननस्वभाव यथा गोधूमो यवाङ्कुरमजनयन्न तज्जननस्वभाव, न जनयति चायं केवल. कदाचिदप्युत्तरोत्तर-कालभावीनि प्रत्ययान्तरापेक्षाणि कार्याणीति । ननु प्रत्ययान्तरमपेक्ष्य कार्यजननस्वभावत्वान्नासौ केवलस्तज्जनयति, न च सहकारिसहितासहितावस्थयोरस्य स्वभावभेदा, प्रत्ययान्तरापेक्षस्व-

कार्य को उत्पन्न करने का स्वभावकार्य की उत्पत्ति के बाद अनुमान से सिद्ध होता है, देखो अनुमान से यह बात सिद्ध है कि आत्मादि पदार्थ अकेले समर्थ नहीं है, क्योंकि वे कार्य के अजनक हैं, जो जिसको पैदा नहीं करते वे उसके उत्पादक नहीं माने हैं, जैसे गेहूँ जौ के अकुर को पैदा नहीं करते सो वे उसके उत्पादक नहीं माने गये हैं । आत्मा आकाश आदि अकेले रहकर कभी भी उत्तरोत्तर काल में होनेवाले तथा कारणान्तर की अपेक्षा रखनेवाले कार्यों को नहीं करते हैं, अतः वे आत्मादिक उन कार्यों के जनक नहीं हैं ।

नैयायिक—कारणान्तर की अपेक्षा लेकर कार्य को करना ऐसा ही आत्मादिक का स्वभाव है, अतः वे अकेले कार्य नहीं करते, सहकारी सहित अवस्था और उस से रहित अवस्था इन दोनों में स्वभाव भेद भी नहीं है, वे तो हमेशा कारणान्तर की अपेक्षा लेकर कार्य करने के जातिस्वभाव को नहीं छोड़ते हैं ।

जैन—नैयायिक की ऊपर कही हुई यह युक्ति ठीक नहीं है, क्योंकि कारणान्तर की निकटता होते हुए भी वे आत्मादि तो स्वरूप से कार्य करते हैं और स्वरूप तो सहकारी के मिलने से पहिले भी था, अतः उन्हें तो पहिले भी कार्य करना ही चाहिये, यदि सहकारी के द्वारा उन आत्मादि कारको में अतिशय आता है और उस अतिशय के कारण ही कार्य होता है तो फिर उस उपकारक अतिशय से कार्योत्पत्ति हुई, आत्मादि तो व्यर्थ हुए । यदि अनुपकारक बेकार उस आत्मादि में जबर्दस्ती कारकपना स्वीकार किया जाय तो फिर चाहे जो वस्तु चाहे जिसकी उत्पत्ति में बिना कारण ही कर्त्तारूप मानी जानी चाहिये, जैसे कि वस्त्र बनाने में जुलाहा कारण है तो वह मिट्टी से घड़े के बनाने में भी कारण मान लेना चाहिए, इस प्रकार का इस

कार्यजननस्वभावताया. सर्वदा भावात्, तदप्यपेशलम्, यत. प्रत्ययान्तरसन्निधानेऽपि स्वरूपेणैवास्य कार्यकारिता, तच्च प्रागप्यस्तीति प्रागेवात. कार्योत्पत्ति स्यात् । प्रत्ययान्तरेभ्यश्चास्यातिशयसम्भवे तदपेक्षा स्यादुपकारकेष्वेवास्या सम्भवात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । तत्सन्निधानस्यासन्निधानतुल्यत्वाच्च केवल एवासौ कार्यं कुर्यात्, अकुर्वन्न केवल. सहितावस्थाया च कुर्वन् कथमेकस्वभावो भवेद्विशुद्धधर्मा-
ध्यासत स्वभावभेदानुषङ्गात् ?

किञ्च सकलानि कारकाणि साकल्योत्पादने प्रवर्तन्ते, असकलानि वा ? न तावत्सकलानि साकल्यासिद्धौ तत्सकलत्वासिद्धे । अन्योन्याश्रयश्च-सिद्धे हि साकल्ये तेषा सकलरूपतासिद्धिः,

मान्यता मे अतिप्रसग आता है, नित्य आत्मादिक पदार्थ मे सहकारी की निकटता हो तो भी वह नही के बराबर है, आत्मादिक पदार्थों को तो अकेले रहकर ही कार्य कर लेना चाहिए, यदि वे आत्मादिक अकेले कार्य को नही करते और सहकारी सहित होकर करते हैं तो फिर उनमे एक स्वभावता कहा रही, अर्थात् सहकारी हो तो कार्य करना और न हो तो नही करना ऐसे उनमे दो स्वभाव तो हो ही गये, इस तरह अनेक विरुद्ध धर्मस्वरूप हो जाये उनमे स्वभावभेद मानना ही पड़ेगा । अच्छा आप हमको यह बताओ कि सभी कारक साकल्य को उत्पन्न करने मे प्रवृत्ति करते हैं या कुछ थोडे से कारक ? सभी तो कर नही सकते, क्योकि सभी साकल्य ही सिद्ध नही हो पा रहा है तो सकल कैसे सिद्ध होगा । तथा ऐसी मान्यता मे अन्योन्याश्रय दोष भी आता है अर्थात् साकल्य सिद्ध होने पर कारको मे सकलरूपता की सिद्धि होगी और उसकी सकलरूपता की सिद्धि होने पर साकल्य की सिद्धि होगी, इस तरह दोनो ही सिद्ध नही पायेगे, यदि द्वितीय पक्ष की अपेक्षा लेकर "कुछ थोडे से-असकल कारक-साकल्य को उत्पन्न करेगे" ऐसा कहा जाय तो अतिप्रसग दोष आवेगा, अर्थात् फिर कारक साकल्य यह नाम ही विरुद्ध हो जावेगा । दूसरी बात यह है कि जिस स्वभाव की निकटता से यह कारक समूह साकल्य को उत्पन्न करता है, उसी स्वभाव के द्वारा वह प्रमा-ज्ञान-को ही क्यो नही पैदा करेगा, अर्थात् करेगा ही, तो फिर उस साकल्य को व्यर्थ मे मानने की क्या जरूरत है, अर्थात् कारक समूह से साकल्य और साकल्य से ज्ञान का पैदा होना ऐसा क्यो मानना, सीधा कारक समूह ही ज्ञान को पैदा करे, यदि कहो कि कारण के बिना प्रमा-ज्ञान उत्पन्न नही होती तो साकल्य मे भी एक भिन्न करण मानना चाहिए और इस तरह मानने से अनवस्था दोष आवेगा, यदि कहा जाय कि साकल्य तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, अत उसमे

तत्सिद्धौ च साकल्यसिद्धिरिति । नाप्यसकलान्यतिप्रसक्ते । किञ्च यया प्रत्यासत्त्या तथाविधान्येतानि साकल्यमुत्पादयन्ति तथैव प्रमामप्युत्पादयिष्यन्तीति व्यर्था साकल्यकल्पना । करणमन्तरेण प्रमोत्पत्त्यभावे साकल्येऽप्यन्यत् करण कल्पनीयमित्यनवस्था । न चाध्यक्षसिद्धत्वात्साकल्यस्यादोषोऽयम् ; आत्मान्त करणसयोगादेरतीन्द्रियरयाध्यक्षाऽविषयत्वात् । केवल विशिष्टार्थोपलब्धिलक्षणकार्यस्याऽध्यक्षसिद्धस्य करणमन्तरेणानुपपत्तेस्तत्परिकल्पना, तच्च मनोलक्षणकरणसद्भावे साकल्यमेवेत्यवधारयितु न शक्यम् । तन्न सकलकारककार्य साकल्यम् ।

कोई दोष नहीं है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा मन आदिका सयोग तो अतीन्द्रिय है वह तो इन्द्रियो के प्रत्यक्ष है नहीं, सिर्फ विशिष्ट पदार्थ का जानने रूप जो कार्य है कि जो अध्यक्ष से सिद्ध है वह करण के बिना नहीं हो सकता सो इतने मात्र से यदि करण को मानते हो तो वह करण अन्तरग मन रूप भी होता है, ऐसी हालत में साकल्य ज्ञानरूप कार्य को करता है ऐसा निश्चय तो नहीं रह सकता, इसलिये प्रारम्भ में जो चार पक्ष रखे थे उनमें से तीसरा पक्ष—सकलकारकों के कार्य को साकल्य कहते हैं—ऐसा जो है वह भी ठीक नहीं रहा ।

इसी प्रकार पदार्थान्तर भी साकल्यरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि जगत् के समस्त पदार्थों में साकल्यरूपता का प्रसङ्ग प्राप्त हो जावेगा, अर्थात् ससार में जितने पदार्थ हैं वे सब साकल्यपने को प्राप्त हो जावेगे, और पदार्थ तो हमेशा ही उपलब्ध होते रहते हैं, अतः सभी को हमेशा अर्थ की उपलब्धिरूप प्रमाण होने से सभी व्यक्ति सर्वज्ञ बन जावेगे, इस प्रकार कारक साकल्य का स्वरूप ही असिद्ध है, यदि सिद्ध है तो भी वह ज्ञान से व्यवहित होकर काम करता है, अतः उसमें सत्यता नहीं है ।

विशेषार्थ—कारक साकल्य को प्रमाण मानने वाले जरन्नैयायिक हैं, उनके यहां कारक साकल्य का लक्षण इस प्रकार है—अव्यभिचारस्वरूप तथा नियम से ही जो पदार्थों की उपलब्धि—जानकारी करा दे ऐसी बोध और अबोध से मिली हुई जो सामग्री है वह प्रमाण है, इस प्रकार कारक साकल्य कहिये या सामग्री कहिये दोनों ही प्रमाण के नामान्तर हैं । प्रमाण शब्द करण साधन से निष्पन्न है और करण साधकतमरूप होता है, प्रमाण की उत्पत्ति के लिये सामग्री साधकतम है, अतः वह प्रमाण अनेक कारकों की सन्निकटता से होता है, उन कारणों में से एक भी न हो तो कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, उन कारकों में से किसी एक को मुख्य या अतिशयवान नहीं कर सकते, क्योंकि कार्यों के उत्पाद में किसी एक कारक या उसका अतिशय काम नहीं

नापि पदार्थान्तर सर्वस्य पदार्थान्तरस्य साकल्यरूपताप्रसङ्गात् । तथा च तत्सद्भावे सर्वत्र सर्वदा सर्वस्यार्थोपलब्धिरिति सर्वः सर्वदर्शी स्यात् । तत कारकसाकल्यस्य स्वरूपेणाऽसिद्धेः सिद्धौ वा ज्ञानेन व्यवधानान्न प्रामाण्यम् ॥

करता, किन्तु सभी के सभी कारक ही उस कार्योत्पादन में अग्रेसर होकर काम करते हैं । इस सामग्रीप्रमाणवाद या कारकसाकल्यवाद का दूसरी तरह से भी लक्षण हो सकता है ।

कर्त्ता और कर्म से विलक्षण, सशय और विपर्यय से रहित पदार्थों के ज्ञान को पैदा करनेवाली जो बोध और अबोध स्वभाव भूत सामग्री है वही प्रमाण है । इस प्रकार की नैयायिक की मान्यता है, किन्तु यह सब मान्यता असत्य है, क्योंकि पदार्थों को जानने के लिये अबोध अर्थात् अज्ञानरूप सामग्री किस प्रकार उपयोगी हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती है । क्या अधा रूप को देख सकता है-? या पगु चल सकता है ? नहीं । उसी प्रकार अबोधरूप सामग्री प्रमाण नहीं हो सकती, यदि उपचार मात्र से सामग्री को प्रमाण मानते हो तो हम जैनों को कोई बाधा नहीं है । उपचार से तो प्रकाश, शास्त्र, गुरु आदि को भी प्रमाण का कारण होने से कारण मे कार्य का उपचार करके प्रमाण मान सकते हैं । जैसे कि "अन्न वै प्राणा." अन्न ही प्राण है ऐसा मानना उपचार मात्र है न कि मुख्यरूप है ।

*

कारक साकल्यवाद का सारांश

नैयायिक (जरन्नैयायिक, जयत भट्ट) लोग कारक साकल्य को प्रमाण मानते हैं । उनका कहना है कि प्रमाण, प्रमेय, आकाश, दिशा आदि सभी की सकलता होना ही प्रमाण है, इसीको कारक साकल्य कहते हैं, कारक अर्थात् प्रमाण को पैदा करने वाले पदार्थ उनकी सकलता या पूर्णता यह साकल्य है, इस प्रकार कारक साकल्य का अर्थ किया जाता है, इसी के द्वारा पदार्थों का ज्ञान होता है, देखो—आँख के द्वारा मैंने जाना, दीपक द्वारा मैंने जाना ये सब ज्ञान करणरूप दीपकादिक से ही तो होते हैं ।

नैयायिक के पक्ष का आचार्य ने सुन्दर रीति से खडन किया है, प्रथम यह कहा है कि वस्तु को जानने के लिए अज्ञान का विरोधी ज्ञानरूप करण होना चाहिए, जो साधकतम हो वही ज्ञान है. ऐसा नहीं हो सकता, यदि हो जाय तो लकड़ी को काटने वाला होने से कुठार साधकतम है, वह भी ज्ञानरूप करण बन जायगा, दीपकादिको को तो उपचार से करण माना गया है, मुख्यता से नहीं, कारक के साकल्य का स्वरूप भी असिद्ध है, सकलताको ही साकल्य कहना अथवा उसका धर्म या कार्य अथवा कोई भिन्न ? इस तरह साकल्य के चार स्वरूप हो सकते हैं और किसी रूप से उसका स्वरूप नहीं बनता, इन चारो पक्षो का अच्छी तरह से खडन किया गया है, सकल कारकों को साकल्य मानें तो कर्त्ता कर्म को भी साकल्य मानना पड़ेगा, फिर साधकतमरूप करण को ही प्रमाण क्यों मानना, सकल कारको के धर्म को साकल्य मानने में भी अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, क्या वह धर्म उनसे भिन्न है या अभिन्न है, भिन्न है तो उनके साथ संबंध कैसे है, अभिन्न है तो या तो कारक ही रहेंगे या धर्म ही रहेगा, सकल कारकों में कार्य को साकल्य कहे तो भी बनता नहीं, क्योंकि सकल कारकों में नित्य आत्मा आदि पदार्थ भी समाविष्ट है और उन नित्य आत्मा आदि से कोई उत्पन्न नहीं हो सकता, यदि होगा तो उसे हमेशा ही होते रहना चाहिए, सहकारी कारण कभी २ मिलते हैं अतः सतत कार्य नहीं होता इस प्रकार की नैयायिक की दलील बेकार है, क्योंकि सहकारी की सहायता से वे आत्मादिक कार्य करते हैं तो नित्य में परिवर्तन मानना पड़ेगा और उससे वे अनित्य सिद्ध हो जावेगे, सकल कारकों को छोड़कर यदि भिन्न पदार्थ को साकल्य कहे तो वे पदार्थान्तर सर्वत्र हमेशा ही मौजूद रहते हैं इसलिए फिर तो सभी को सर्वज्ञ बन जाने का प्रसंग आता है, इसलिये कारक साकल्य को प्रमाण मानना श्रेयस्कर नहीं है ।

*** कारक साकल्यवाद का सारांश समाप्त ***

सन्निकर्ष प्रमाणवाद पूर्वपक्ष



अब यहा पर वैशेषिक मतानुसार सन्निकर्ष प्रमाण का वर्णन किया जाता है— प्रमाण का लक्षण—“प्रमाकरण प्रमाण” प्रमा का जो करण है वही प्रमाण है ऐसा कहा है, “अत्र च प्रमाण लक्ष्य, प्रमाकरण लक्षणम्” यहा “प्रमाण” पद से तो लक्ष्य का निर्देश किया गया है और “प्रमाकरण” पद से लक्षण का निर्देश किया है, प्रमा किसे कहते है ? तो उत्तर मे कहा है—“यथार्थानुभव प्रमा” कि यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते है, “यथार्थ इत्ययथार्थाना—सशय-विपर्यय-तर्कज्ञानाना निरास, अनुभव इति स्मृतेर्निरास । ज्ञानविषय ज्ञान स्मृति । अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम्” प्रमा के लक्षण मे यथार्थ और अनुभव ये दो विशेषण हैं सो यथार्थ विशेषण से अयथार्थ जो सशय-विपर्यय और तर्करूप ज्ञान है उनका निराकरण हो जाता है, अर्थात् जो प्रमा सशयादिरूप नही है, उसी प्रमा का यहा ग्रहण हुआ है, एव अनुभवविशेषण से स्मृतिरूप ज्ञान का निरासन हुआ है, क्योंकि पहिले से जिसका विषय जाना हुआ है वह स्मृति कहलाती है, और इससे पृथक् ही ज्ञान अनुभव कहलाता है, जब प्रमा का करण प्रमाण कहलाता है तो करण क्या है यह शका मनमे हो ही, जाती है, अत करण का लक्षण कहते है कि—“साधकतम करणम्” प्रमा का जो साधकतम कारण हो वह करण है, “सत्यपि प्रमातरि प्रमेये च प्रमानुत्पत्तेरिन्द्रिय संयोगादौ सति अविलबेन प्रमोत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादेरेव करण, प्रमायाः साधकत्वाविशेषेऽप्यनेनैवोत्कर्षेणास्य प्रमात्रादिभ्योऽति शयितत्वादतिशयित साधक साधकतम तदेव करण अत इन्द्रियसंयोगादिरेव प्रमाकरणत्वात्प्रमाण न प्रमात्रादि” अब प्रमा का अर्थात् ज्ञान का साधकतम कारण कौन हो सकता है इस पर विचार करते हैं—देखा जाता है कि प्रमाता और प्रमेय के रहते हुए भी प्रमा उत्पन्न नही होती है, किन्तु इन्द्रियसंयोगादि के होने पर शीघ्र ही प्रमा की उत्पत्ति होती है अत इन्द्रिय संयोगादि को प्रमा का करण माना है, प्रमा मे प्रमाता आदि भले ही साधक हो, किन्तु इस इन्द्रियसंयोगरूप सन्निकर्ष से प्रमा उत्पन्न होती है, इसलिये प्रकृष्ट साधक-अतिशयपने से साधक तो सन्निकर्ष ही है, प्रमाता आदि साधकतम नही है यह निश्चित हुआ, इस प्रकार प्रमाण

का लक्षण सिद्ध हो जाने पर अब उसके भेद बताते हैं—“प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि” प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा, शब्द (आगम) ये प्रमाण के चार भेद हैं । प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण—‘साक्षात्कारि प्रमाकरण प्रत्यक्षम्’ साक्षात्कार करने वाली प्रमा का जो करण है वह प्रत्यक्ष है, “साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा, सा च द्विधा सविकल्पक निर्विकल्पक भेदात् । तस्याः करणं त्रिविधं—कदाचिद् इन्द्रिय, कदाचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिद् ज्ञानम्” ।

साक्षात्कार करने वाली प्रमा इन्द्रिय से उत्पन्न होती है, उसके दो भेद हैं— (१) सविकल्पक और (२) निर्विकल्पक । उस प्रमा के करण के तीन भेद हैं—कभी तो उस प्रमा का करण इन्द्रियां होती हैं, कभी इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष होता है और कभी ज्ञान करण होता है ।

“कदा पुनरिन्द्रियकरणं ? यदा निर्विकल्परूपा प्रमा फलम्—तथाहि—आत्मा मनसा सयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन । इन्द्रियाणां वस्तु प्राप्य प्रकाशकारित्वं नियमात् । ततो ऽर्थसन्निकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं जात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि किञ्चिदिदमिति ज्ञान जन्यते । तस्य ज्ञानस्येन्द्रियकरणं, छिदया इव परशुः । इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षो ऽवान्तर व्यापारः छिदा करणस्य परशोरिवदारुसंयोगः । निर्विकल्पं ज्ञान फलं परशोरिव छिदा ।

इस प्रकार प्रत्यक्ष के तीन तरह के करण (इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, ज्ञान) होने पर कौनसा करण कब कार्यकारी होता है, सो बताते हैं—

जब निर्विकल्परूप प्रमा फल कहलाती है, तब इन्द्रियां करण होती हैं जैसे कि (पहले) आत्मा का मन के साथ संयोग होता है, फिर मन का इन्द्रियों के साथ और फिर इन्द्रिय का अर्थ के साथ संयोग होता है, क्योंकि इन्द्रियां वस्तु को प्राप्त करके ही प्रकाशित करती हैं, यह नियम है, इसके पश्चात् अर्थ से सन्निकृष्ट (सबद्ध) हुई इन्द्रिय के द्वारा नाम जाति आदि की योजना से रहित, केवल वस्तु का ग्रहण करने वाला “यह कुछ है” इस प्रकार का निर्विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञान का करण इन्द्रिय होती है, जिस प्रकार छिदी क्रिया का (काटने रूप क्रिया का) करण परशु (कुठार) होता है, इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार

होता है, जिस प्रकार काटने का साधन परशु का काष्ठ के साथ सयोग (अवान्तर व्यापार) होता है, निर्विकल्पक ज्ञान फल है जैसे परशु का फल काटना होता है ।

विशेष—ऊपर कहे गये प्रत्यक्ष प्रमा का करण तीन प्रकार का है—इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और ज्ञान, इनमे से इन्द्रिय उस अवस्था में करण होता है जब वस्तु का केवल निर्विकल्प प्रत्यक्ष हुआ करता है, जब आत्मा का मनसे सयोग होता है और मन किसी एक इन्द्रिय से सबद्ध होता है—मान लीजिये मन नेत्र से सबद्ध है और नेत्र इन्द्रिय का घट—अर्थ के साथ सन्निकर्ष हो जाता है—तब हमें यह “कुछ है” ऐसा ज्ञान होता है, यही ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहलाता है । यह निर्विकल्पप्रमा प्रत्यक्षप्रमाण का फल है ।

“कदा पुनरिन्द्रियार्थसन्निकर्षं. करणम यदा निर्विकल्पान्तर सविकल्पक नाम जात्यादि योजनात्मक डित्थो ज्य, ब्राह्मणो ज्य, श्यामो ज्यमिति विशेषण विशेष्या-व्रगाहि ज्ञानमुत्पद्यते तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षं करणम्” ।

इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष कब करण होता है ? सो अब बताते हैं—जब निर्विकल्पज्ञान के बाद नाम जाति आदि से विशिष्ट यह डित्थ (ठू ठ) है, यह ब्राह्मण है, यह श्यामरगवाला है इस प्रकार का विशेषण तथा विशेष्य ग्राहक जो सविकल्पक ज्ञान होता, तब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण होता है ।

“कदा पुनर्ज्ञान करणम्” ?

“ यदा उक्त सविकल्पकानन्तर हानोपादानोपेक्षाबुद्धय जायन्ते तदा निर्विकल्पज्ञान करणम्”—अब तीसरा जो ज्ञान है वह करण कब होता—सो बताते हैं—कि जब उस पूर्वोक्त सविकल्पक ज्ञान के बाद हानबुद्धि, उपादानबुद्धि, तथा उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है तब निर्विकल्प ज्ञान करण बनता है, इन तीनों प्रकार के करणों मे प्रमा को उत्पन्न करना रूप फल है अर्थात् ज्ञान का जो साधकतम होता है वह करण कहलाता है और उसे ही प्रमाण कहा गया है एव जानने रूप जो प्रमा या ज्ञान होता है वह प्रमाण का फल है, हा जहा यह तीसरे प्रकार का करण है वह निर्विकल्पक ज्ञान रूप है और त्याग आदि रूप सविकल्पक ज्ञान ही उसका फल है, किन्तु इन संवमे इन्द्रियो और पदार्थों का सन्निकर्ष होना आवश्यक है, अत सर्वत्र सन्निकर्ष ही प्रमाण होता है, अब यहा सन्निकर्ष का विशेष वर्णन करते हैं—“इन्द्रियार्थयोस्तु य सन्निकर्षं

साक्षात्कारिप्रमाहेतुः स षड्विध एव । तद्यथा—संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवाय विशेष्यविशेषणभावश्चेति ।”

इन्द्रिय और पदार्थों का जो सन्निकर्ष प्रत्यक्षज्ञानका निमित्त होता है वह ६ प्रकार का है—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय, और विशेष्यविशेषणभाव ।

इन ६ प्रकार के सन्निकर्षों का कथन क्रमशः इस प्रकार है—संयोग सन्निकर्ष—तत्र यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते तदा चक्षुरिन्द्रियघटोऽर्थः । अनयो सन्निकर्षसंयोग एव, अयुतसिद्धयभावात् । एवं मनसान्तरिन्द्रियेण यदात्मविषयकं ज्ञानं जन्यते ऽहमिति, तदा मन इन्द्रिय, आत्मार्थः, अनयो सन्निकर्षः सन्निकर्षः संयोग एव ॥

जब नेत्र के द्वारा घट आदि विषय का ज्ञान होता है तब चक्षु तो इन्द्रिय है और घट अर्थ है, इन दोनों का सन्निकर्ष संयोग ही है, क्योंकि ये दोनों अयुतसिद्ध नहीं हैं, इसी प्रकार जब अन्त करणरूप मन के द्वारा आत्मा के विषय में “मैं हूँ” इस प्रकार का ज्ञान होता है, तब मन तो इन्द्रिय है और आत्मा अर्थ है, इन दोनों का सन्निकर्ष भी संयोग ही कहलाता है ।

“कदा पुन संयुक्तसमवायसन्निकर्षः” ?

“यदा चक्षुरादिना घटगतरूपादिकं गृह्यते—घटे श्यामरूपमस्तीति, तदा चक्षुरिन्द्रियं, घटरूपमर्थः अनयोः सन्निकर्षसंयुक्तसमवाय एव—चक्षुसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात् । दूसरे नम्बर का संयुक्तसमवाय नामका सन्निकर्ष कब होता है—सो बताते हैं—

जब चक्षु के द्वारा घट के रूप का ग्रहण होता है कि घड़े में काला रंग है, तब चक्षु तो इन्द्रिय है और अर्थ घट में स्थितरूप है, इन दोनों का सन्निकर्ष संयुक्तसमवाय ही है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त जो घट है उसमें रूप का समवाय है ।

“कदा पुनः संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्षः” ? यदा पुनश्चक्षुषा घटरूपसमवेत रूपत्वदिसामान्यं गृह्यते तदा चक्षुरिन्द्रिय रूपत्वदिसामान्यमर्थः, अनयोः सन्निकर्षसंयुक्तसमवेतसमवाय एव चक्षुसंयुक्ते घटे रूपसमवेत, तत्र रूपत्वस्य समवायात् ॥

संयुक्तसमवेत समवाय नामक तीसरा सन्निकर्ष कब होता है ? सो यह बताते हैं—

जब चक्षु के द्वारा घट के रूप के रूपत्वसामान्य का ग्रहण होता है तब चक्षु तो इन्द्रिय है, रूपत्व सामान्य अर्थ है—इन दोनों का सन्निकर्ष संयुक्तसमवेतसमवाय कहलाता है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवेत है और उसमें रूपत्व सामान्य का समवाय है ।

कदा पुन समवाय सन्निकर्ष ?

यदा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं शब्दोऽर्थः अनयोः सन्निकर्ष समवाय एव । कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नमः श्रोत्र, श्रोत्रस्याकाशात्मकत्वाच्छब्दस्य चाकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात् ॥

समवाय नामका चौथा सन्निकर्ष का भेद कब होता है ? जब कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द को ग्रहण किया जाता है तब यह समवाय नामका चौथा सन्निकर्ष का भेद होता है, अर्थात् कर्ण तो इन्द्रिय है और शब्द अर्थ है, इन दोनों का सन्निकर्ष समवाय ही है, क्योंकि कर्ण-विवर से अवच्छिन्न (परिमित-घिरा हुआ) आकाश ही कर्ण कहलाता है, अतः कर्ण आकाशरूप होने से और शब्द आकाश का गुण होने से तथा गुणगुणी का समवाय सबध होने के कारण श्रोत्र और शब्द का समवाय सन्निकर्ष ही कहलाता है ।

कदा पुन समवेत. सन्निकर्ष ?

“यदा पुन शब्दसमवेतं शब्दत्वादिक सामान्यं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं शब्दत्वादिसामान्यमर्थं अनयोः सन्निकर्ष समवेतसमवाय एव, श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्”, समवेतसमवायनामके पाचवे सन्निकर्ष का कथन करते हुए यहाँ कहा गया है कि जब शब्द में समवेत जो शब्दत्व सामान्य है उसका श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण होता है तब श्रोत्र तो इन्द्रिय है और शब्दत्वादि जाति अर्थ (विषय) है, इन दोनों का सन्निकर्ष समवेत समवाय ही है, क्योंकि श्रोत्र में समवेतशब्द में शब्दत्व सामान्य का समवाय है ।

कदा पुनर्विशेष्य विशेषण भाव इन्द्रियार्थसन्निकर्षो भवति ?

यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटा भावो गृह्यते “इह भूतले घटो नास्ति, इति

विशेष्य विशेषणभाव. संबंधः । तथा चक्षुः संयुक्तस्य भूतलस्य घटाद्यभावो विशेषणं, भूतल विशेष्यम् ।

विशेष्यविशेषणभाव नामक सन्निकर्ष कब होता है—सो ही बताते हैं—जब चक्षु से संयुक्त भूमि पर “यहा भूतल पर घट नहीं है इस प्रकार से घट के अभाव का ग्रहण होता है तब विशेष्यविशेषणभाव सन्निकर्ष होता है, वहां चक्षु से संयुक्त भूतल में घट का अभाव विशेषण है, तथा भूतल विशेष्य है । इस प्रकार ६ प्रकार का सन्निकर्ष होता है, और यही प्रमाण है, क्योंकि इसके बिना प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती है, इस प्रकार प्रथम प्रमाण जो प्रत्यक्ष है उसका यह संक्षेप वर्णन समझना चाहिये ।

लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् । येन हि अनुमीयते तदनुमानम् । लिङ्गपरामर्शेण चानुमीयते ऽतो लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् । तच्च धूमादिज्ञानमनुमिति प्रति करणत्वात्, अग्नयेयादिज्ञानमनुमिति तत्करण धूमादिज्ञानम् ।

द्वितीय अनुमान प्रमाण का लक्षण—

लिङ्ग (हेतु) परामर्श ही अनुमान है, जिससे अनुमिति की जाती है वह अनुमान है लिङ्गपरामर्श से अनुमिति की जाती अतः लिङ्गपरामर्श अनुमान है, और धूम आदि का ज्ञान ही लिङ्गपरामर्श है, क्योंकि वह अनुमिति के प्रति करण है अग्नि आदि का ज्ञान अनुमिति है उसका करण धूम आदि का ज्ञान है ।

तृतीय प्रमाण उपमा का लक्षण—

अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्ट पिण्डज्ञानमुपमान, यथा गवयमजानन्नपि नागरिको “यथा गौस्तथा गवय”, इति वाक्य कुतश्चिदारण्यकात् पुरुषाच्छ्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थ स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्ट पिण्डं पश्यति तदा तद्वाक्यार्थस्मरण सहकृत गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानमुपमितिकरणत्वात् ।

अतिदेशवाक्यके (जैसी गाय होती है वैसा रोझ होता है) अर्थका स्मरण करने के साथ गौ की समानता से युक्त पिण्ड (शरीर—आकृति) का ज्ञान ही उपमान प्रमाण है, जैसे—गवय को नहीं जानने वाला भी कोई नागरिक है, वह जब किसी वनवासी से यह वाक्य सुनकर कि जैसी गाय होती है वैसा गवय होता है वन में जाता है और वहा इस वाक्य के अर्थ का स्मरण करते हुए वह गौ की समानता से

युक्त जब पिण्ड को देखता है, तब वाक्यार्थ के स्मरण के साथ उसे जो गो की समानता से विशिष्ट पिण्ड का ऐसा ज्ञान होता है कि यही रोम है सो ऐसा ज्ञान ही उपमान प्रमाण कहलाता है, क्योंकि वह उपमितिरूप प्रमा के प्रति करण हुआ है ।

चौथे शब्द प्रमाण का लक्षण—

“आप्तवाक्य शब्द । आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा” पुरुष. । वाक्यं तु आकाक्षा—योग्यता—सन्निधिमता पदाना समूह. ॥

आप्त पुरुष का वाक्य शब्द प्रमाण कहलाता है, जैसा पदार्थ है वैसा ही उसका उपदेश देने वाला पुरुष आप्त माना गया है, आकाक्षा योग्यता और सन्निधि—निकटतावाले-पदोंके समूहको वाक्य कहा गया है, इसप्रकार चारो प्रमाणो मे “प्रमाकरण प्रमाण” यह प्रमाण का लक्षण घटित होता है । जो करण है वह सन्निकर्ष है, अतः सन्निकर्ष ही प्रमाण है, यह सिद्ध हो जाता है । यहां पर अनुमानादि प्रमाणो यह सक्षेप से वर्णन किया है, विशेष जानना हो तो तर्कभाषा आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये । अत्यलम्

* पूर्वपक्ष समाप्त *

सन्निकर्षवादः

मा भूत् कारकसाकल्यस्यासिद्धस्वरूपत्वात् प्रामाण्य सन्निकर्षदिस्तु सिद्धस्वरूपत्वात्प्रमित्यु-
त्पत्तौ साधकतमत्वाच्च तत्स्यात् । सुप्रसिद्धो हि चक्षुषो घटेन सयोगो रूपादिना (सयुक्तसमवायः
रूपत्वादिना) सयुक्तसमवेतसमवायो ज्ञानजनकः । साधकतमत्व च प्रमाणत्वेन व्याप्त न पुनर्ज्ञानत्व-
मज्ञानत्व वा सशयादिवत्प्रमेयार्थवच्च, इत्यसमीक्षिताभिधानम्; तस्य प्रमित्युत्पत्तौ साधकतमत्वा-
भावात् । यद्भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे चाभाववत्ता तत्तत्र साधकतमम् ।

वैशेषिक—यहां पर नैयायिक द्वारा मान्य कारक साकल्य का खंडन किया सो
ठीक है, पर हमारा सन्निकर्ष तो सिद्ध स्वरूप है, अतः आपको उसे प्रमाण मानना
चाहिये, क्योंकि प्रमिति की उत्पत्ति में वह साधकतम होता है । यह बात तो सुप्रसिद्ध
ही है कि आंख का घट के साथ संयोग होता है, तथा रूप के साथ सयुक्तसमवाय होता
है इसी तरह रूपत्व के साथ उसका सयुक्तसमवेतसमवायादि होता है, तभी जाकर उनके
वे ज्ञानजनक-ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले होते हैं— उनके ज्ञान को उत्पन्न करते हैं,
साधकतम के साथ प्रमाण की व्याप्ति है, न कि ज्ञानत्व और अज्ञानत्व के साथ । जैसे
कि संशयादिक अथवा प्रमेय आदि के साथ प्रमाण की व्याप्ति नहीं है, उसी प्रकार
ज्ञानत्व और अज्ञानत्व के साथ भी उसकी व्याप्ति नहीं है ।

जैन—यह कथन बिना सोचे समझे किया है । क्योंकि सन्निकर्ष प्रमिति की
उत्पत्ति के लिये—प्रमिति क्रिया के प्रति—साधकतम नहीं है । जिसके होनेपर प्रमिति
होती है और नहीं होने पर नहीं होती है वह उसके प्रति साधकतम बनता है ।

“भावाभावयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वम्”

जिसके होने पर होना और उसके अभाव में नहीं होना वही साधकतम है
ऐसा कहा गया है, सो ऐसा साधकतमपना सन्निकर्ष में नहीं है, क्योंकि सन्निकर्ष होने

“भावाभावयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वम्” [इत्यभिधानात् ।

न चैतत्सन्निकर्षादौ सम्भवति । तद्भावेऽपि क्वचित्प्रमित्यनुत्पत्तेः, न हि चक्षुषो घटवदाकाशे सयोगो विद्यमानोऽपि प्रमित्युत्पादक, सयुक्तसमवायो वा रूपादिवच्छब्दरसादौ, संयुक्तसमवेतसमवायो वा रूपत्ववच्छब्दत्वादौ । तदभावेऽपि च विशेषणज्ञानाद्विशेष्यप्रमितेः सद्भावोपगमात् । योग्यताभ्युपगमे सैवास्तु किमनेनान्तर्गुना ?

योग्यता च शक्तिः, प्रतिपत्तु प्रतिबन्धापायो वा ? शक्तिश्चेत्, किमतीन्द्रिया, सहकारिसान्निध्यलक्षणा वा ? न तावदतीन्द्रिया, अनभ्युपगमात् । नापि सहकारिसान्निध्यलक्षणा, कारकसाकल्यपक्षोक्ताशेषदोषानुषङ्गात् । सहकारिकारणं चात्र द्रव्यम्, गुणः, कर्म वा स्यात् ? द्रव्यं चेत्, किं व्यापि द्रव्यम्, अव्यापि द्रव्यं वा ? न तावद् व्यापिद्रव्यम्; तत्सान्निध्यस्याकाशादीन्द्रियसन्निकर्ष-

पर भी कही आकाशादि मे (आकाशादिके विषयमे) प्रमिति नहीं होती है, जिस प्रकार आख का घट के सयोग है वैसे आकाश के साथ भी उसका सयोग है, किन्तु वह सयोग-रूप सन्निकर्ष वहा प्रमिति को पैदा नहीं करता, मतलब—जैसे आख से घट का ज्ञान होता है वैसे आकाश का ज्ञान नहीं होता, ऐसे ही सयुक्त समवाय नामक सन्निकर्षरूप सबध से घट मे रूप के समान ही रहे हुए शब्द, रस का भी ज्ञान क्यो नहीं होता, तथा सयुक्त समवेत समवाय सबध से रहनेवाले रसत्व आदि का ज्ञान भी क्यो नहीं होता है, सन्निकर्ष के अभाव मे भी विशेषण ज्ञान से विशेष्य की प्रमिति होती है, ऐसा आपने माना है, यदि कहो कि घट की तरह आकाश के साथ भी सन्निकर्ष तो है, फिर भी जहा घटादि मे योग्यता है वहा पर ही प्रमितिरूप कार्य पैदा होता है तो फिर इस प्रकार मानने पर योग्यता को ही स्वीकार कर लो अतरग फोडे की तरह इस सन्निकर्ष को काहे को मानते हो, योग्यता क्या चीज है ? कहो—क्या शक्ति का नाम योग्यता है ? अथवा प्रतिपत्ता—जाननेवाले ज्ञाता-के प्रतिबन्धक कर्म का अभाव होना यह योग्यता है । शक्ति को योग्यता कहा जावे तो वह अतीन्द्रिय है या सहकारी की निकटता होने रूप है ? अतीन्द्रिय शक्ति तो आपने मानी नहीं है, और सहकारी सान्निध्यरूप शक्ति यदि मानोगे तो कारकसाकल्यवाद की तरह उसमे अनेक दोष आते है । अच्छा यह बतलाओ कि सहकारी कारक यहा कौन है—द्रव्य है या गुण या कि कर्म ? द्रव्य मानो तो उसके दो भेद है—एक अव्यापिद्रव्य और दूसरा व्यापिद्रव्य । व्यापीद्रव्य तो कह नहीं सकते, क्योकि उसकी निकटता तो आकाश आदि और इन्द्रिय सन्निकर्ष मे है ही, इसमे कोई विशेषता नहीं है । नहीं तो आपने दिशा, आकाश,

ऽप्यविशेषात् । कथमन्यथा दिक्कालाकाशात्मना व्यापिद्रव्यता ? अथाऽव्यापि द्रव्यम्, तत्किं मन, नयनम्, आलोको वा ? त्रितयस्याप्यस्य सान्निध्य घटादीन्द्रियसन्निकर्षवदाकाशादीन्द्रियसन्निकर्षेऽप्यस्त्येव । गुणोऽपि तत्सहकारी प्रमेयगत, प्रमातृगतो वा स्यात्, उभयगतो वा । प्रमेयगतश्चेत्, कथं नाकाशस्य प्रत्यक्षता द्रव्यत्वतोऽस्यापि गुणसद्भावाविशेषात् ? अमूर्तत्वान्नास्य प्रत्यक्षतेऽत्यप्युक्तम्, सामान्यादेरप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । प्रमातृगतोऽप्यदृष्टोऽन्यो वा गुणो गगनेन्द्रियसन्निकर्षसमयेऽस्त्येव । न खलु तेनास्य विरोधो येनानुत्पत्तिं प्रध्वंसो वा तत्सद्भावेऽस्य स्यात् । उभयगतपक्षेऽप्युभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुपपन्नः । कर्माऽप्यर्थान्तरगतम्, इन्द्रियगतं वा तत्सहकारि स्यात् ? न तावदर्थान्तरगतम्, विज्ञानोत्पत्ती तस्यानङ्गत्वात् । इन्द्रियगतं तु तत्तत्रास्त्येव, आकाशेन्द्रियसन्निकर्ष नयनोन्मीलनादिकर्मणः सद्भावात् । प्रतिबन्धापायरूपयोग्यतोपगमे तु सर्वं सुस्थम्, यस्य यत्र यथाविधो हि प्रतिबन्धा-

आत्मा, काल इन्हे व्यापी क्यो मान रखा है । यदि अव्यापी द्रव्य मानो तो वे कौन है ? क्या मन है ? या नेत्र है ? या प्रकाश है ? इन तीनों की निकटता घटादि के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष की तरह आकाशादि के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष में भी है, फिर क्या कारण है कि आकाशादि का ज्ञान नहीं होता, यदि गुण को सहकारी कारण माना जाय तो क्या प्रमेयगत गुण को या प्रमातृगत गुणको या दोनों में रहे हुए गुण को किसको सहकारी माना जाय ? प्रमेयगत—प्रमेय में रहा हुआ—गुण सहकारी है ऐसा कहो तो आकाश की प्रत्यक्षता क्यो नहीं क्योकि आकाश भी द्रव्य होने के कारण गुणवाला है ही, आकाश अमूर्त होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता—प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं होता—सो यह कथन भी ठीक नहीं है, कारण कि ऐसा मानने पर तो सामान्यादिक तथा गधादि अनेक वस्तुएँ भी अप्रत्यक्ष हो जावेगी क्योकि इन सामान्य तथा गधादि को आपने अमूर्त माना है, अतः वे भी आकाश की तरह जानने में नहीं आवेगे । प्रमाता में होनेवाला—रहा हुआ—गुण सहकारी होता है ऐसा मानना भी ठीक नहीं, क्योकि प्रमाता का अदृष्ट गुण अथवा और कोई भी गुण आकाश और इन्द्रिय सन्निकर्ष के समय है ही । आकाश और इन्द्रिय सन्निकर्ष के साथ सहकारी गुण का कोई विरोध तो है नहीं जिससे कि वह ज्ञान पैदा न करे या उस सहकारी गुण का आकाश और नेत्रेन्द्रिय सन्निकर्ष के समय विनाश हो जाय । प्रमाता और प्रमेय इन दोनों का गुण सहकारी है ऐसा मानो तो दोनों पक्ष में दिये गये दोष यहाँ आकर पड़ेगे । कर्म को (क्रिया को) सन्निकर्ष का सहकारी मानो तो भी गलत है, कारण कि कर्म दो प्रकार का हो सकता है—एक प्रमेय का कर्म और दूसरा इन्द्रिय का कर्म ।

पायस्तस्य च तत्र तथाविधार्थपरिच्छित्तिरुत्पद्यते । प्रतिबन्धापायश्च प्रतिपत्तु सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रसाधयिष्यते ।

न च योग्यताया एवार्थपरिच्छित्ती साधकतमत्वतः प्रमाणत्वानुपङ्गात् 'ज्ञान प्रमाणम्' इत्यस्य विरोध , अस्याः स्वार्थग्रहणशक्तिलक्षणभावेन्द्रियस्वभावाया 'यदसन्निधाने कारकान्तरसन्निधानेऽपि यन्नोत्पद्यते तत्तत्करणकम्, यथा कुठारासन्निधाने कुठार(काष्ठ)च्छेदनमनुत्पद्यमान कुठार-करणकम्, नोत्पद्यते च भावेन्द्रियासन्निधाने स्वार्थसवेदन सन्निकर्पादिसद्भावेऽपीति तद्भावेन्द्रियकरण-कम्' इत्यनुमानत प्रसिद्धस्वभावाया 'स्वार्थावभासिज्ञानलक्षणप्रमाणसामग्रीत्वत तदुत्पत्तावेव साधक-तमत्वोपपत्ते । ततोऽन्यनिरपेक्षतया स्वार्थपरिच्छित्ती साधकतमत्वाज्ज्ञानमेव प्रमाणम् । तद्धेतुत्वा-

प्रमेय का कर्म—अर्थात् रूपप्रमेय का—कर्म—तो उसका सहकारी होता नहीं है क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति मे उसे कारण माना ही नहीं गया है, इन्द्रिय का कर्म तो आकाश और इन्द्रियके सन्निकर्ष के समय मे है ही, क्योंकि वहा पर भी—आकाश और इन्द्रिय के सन्निकर्ष के समय मे भी—नेत्र का खोलना उसका बन्द करना आदि क्रिया रूप इन्द्रिय कर्म होता ही है, इसलिये शक्तिरूप योग्यता तो बनती नहीं । हा, प्रतिबन्धक का अभाव होना यह योग्यता है ऐसा द्वितीय पक्ष मानो तो सब बात बन जाती है, अर्थात्—जहा जिसके जैसा प्रतिबन्धक का अभाव (ज्ञानावरणादि कर्मों का अभाव या क्षयोपशम) हो जाता है वहा उसके वैसी ही प्रमिति उत्पन्न होती है । प्रमाता—आत्मा के प्रतिबन्धक कर्म का अभाव कैसे होता है इस बात को हृष सर्वज्ञ-सिद्धि के प्रकरण मे कहने वाले है ।

यदि कोई ऐसी शका करे कि जब अर्थ के जानने में योग्यता ही साधकतम होती है, तो फिर वही योग्यता प्रमाण हो जायगी, फिर ज्ञान प्रमाण है यह बात रहेगी नहीं सो यह आशका गलत है, क्योंकि स्व और पर को जानने की है शक्ति जिसकी ऐसी भावेन्द्रिय स्वभाव वाली जो योग्यता है, वह ज्ञानरूप ही है, जिसके न होने पर और कारकान्तर के होने पर भी जो उत्पन्न नहीं होता वह उसके प्रति करण माना जाता है, जैसे कुठार के न होने पर काठ का छेदन नहीं होता इसलिये कुठार को काठ छेदन के प्रति करण माना जाता है । उसी प्रकार भावेन्द्रिय के न होने पर स्व पर का ज्ञान नहीं होता भले ही सन्निकर्पादि मौजूद रहे, अत उसके प्रति भावेन्द्रिय को ही करण माना जाता है, इस प्रकार स्व पर का जानना है लक्षण जिसका ऐसी प्रसिद्ध स्वभाववाली योग्यता से प्रमिति उत्पन्न होती है अत वही उसके

त्सन्निकर्षादिरपि प्रामाण्यम्, इत्यप्यसमीचीनम्, छिदिक्रियाया करणभूतकुठारस्य हेतुत्वादयस्कारा-
देरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात् । उपचारमात्रेणाऽस्य प्रामाण्ये च आत्मादेरपि तत्प्रसङ्गस्तद्धेतुत्वाविशेषात् ।

ननु चात्मन प्रमातृत्वाद् घटादेश्च प्रमेयत्वान्न प्रमाणत्व प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरस्य
प्रमाणत्वाभ्युपगमात् इत्यप्यसङ्गतम्, न्यायप्राप्तस्याभ्युपगममात्रेण प्रतिषेधायोगात्, अन्यथा
'अचेतनादर्थान्तर प्रमाणम्' इत्यभ्युपगमात्सन्निकर्षादिरपि तन्न स्यात् । किञ्च प्रमेयत्वेन सह प्रमाण-
त्वस्य विरोधेप्रमाणप्रमेयमेव स्यात्, तथा चासत्त्वप्रसङ्गः सविन्निष्ठत्वाद्भावव्यवस्थिते, इत्ययुक्त-
मेतत्—

प्रति साधकतम है, स्व पर को जानने मे किसी दूसरे की अपेक्षा न करके आप
(स्वयं) अकेला ही ज्ञान साधकतम है, अतः वही प्रमाण है, उस प्रमाण का
सहायक सन्निकर्ष है, इसलिये उसे भी प्रमाण मान लेना चाहिये सो ऐसा कहना भी
असत्य है क्योंकि यदि इस प्रकार मान लिया जावे तो छेदने मे साधकतम तो कुठार है,
वहा बढई को भी प्रमाण मानना चाहिये, यदि सन्निकर्षादि को उपचार से प्रमाण
मानो तो आत्मादिक को भी प्रमाण मानना पड़ेगा, क्योंकि वे भी सन्निकर्षादि की
तरह ज्ञान की उत्पत्ति मे हेतु है ।

वैशेषिक—आत्मा प्रमाता है, घटादि वस्तु प्रमेय है, इसलिये आत्मादि
वस्तुए प्रमाण नहीं हो सकती ? प्रमातृ और प्रमेय से भिन्न मे प्रमाणता होती है,
अर्थात् प्रमातृ और प्रमेय से बिलकुल भिन्न ऐसा प्रमाण होता है ।

जैन - वैशेषिक का यह कथन असंगत है, क्योंकि जो युक्ति आदि से सिद्ध है
उसे अपने घर की मान्यतामात्र से निषेध नहीं किया जा सकता है, यदि अपनी
मान्यता ही चलानी है तो हम जैनों ने माना है कि अचेतन से भिन्न चेतन प्रमाण
होता है अतः अचेतन होने से सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है यह बात भी सिद्ध हुई मान
लेनी चाहिए, किञ्च—दूसरी बात यह है कि यदि ऐसा ही माना जाय कि प्रमेय से
सर्वथा प्रमाण भिन्न ही है—अर्थात् प्रमेयत्व के साथ प्रमाणता का विरोध है, तो प्रमाण
अप्रमेय ही हो जावेगा—ऐसा होने से उसमें असत्त्व का प्रसङ्ग प्राप्त होगा—अर्थात्
अप्रमेय होने से वह असत्त्वरूप हो जायगा, क्योंकि वस्तु की व्यवस्था ज्ञान के आधार
पर ही होती है, अर्थात् जो ज्ञान का विषय होगा वही सत्त्वरूप—पदार्थरूप—माना जायगा
अर्थात्—जो ज्ञान मे प्रतिभासित होते है उन्ही घट पट आदि पदार्थों की व्यवस्था

“प्रमाता प्रमाण प्रमेय प्रमितिरिति चतसृष्वेवविधामु तत्त्व परिसमाप्यत इति” [] ।
 कथं वा सर्वज्ञज्ञानेनाप्यस्याप्रमेयत्वे तस्य सर्वज्ञत्वम् ? किञ्च प्रमाणवत् प्रमातुरपि प्रमेयत्वधर्मा-
 धारत्व न स्यात्तस्य तद्विरोधाविशेषात् । तथा चाश्वविषाणस्येवास्यासत्त्वानुषङ्ग । तद्धर्माधारत्वे
 वा प्रमात्रा ततोऽर्थान्तरभूतेन भवितव्यं प्रमाणवत् । तस्यापि प्रमेयत्वे ततोऽप्यर्थान्तरभूतेनेत्येकत्रात्मनि-
 प्रमेयेऽनन्तप्रमातृमालाप्रसक्ति । यदि धर्मभेदादेकत्रात्मनि प्रमातृत्व प्रमेयत्व चाविरुद्धं तर्हि प्रमाण-
 त्वमप्यविरुद्धमनुमन्यताम् । ततो निराकृतमेतत्—“प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तर प्रमाणम्” इति ।

चक्षुषश्चाप्राप्यकारित्वेनाग्रे समर्थनात्कथं घटेन सयोगस्तदभावात्कथं रूपादिना सयुक्तसम-
 वायादिः ? इत्यव्याप्तिं सन्निकर्षप्रमाणवादिनाम् । सर्वज्ञाभावश्चेन्द्रियाणां परमाण्वादिभिः साक्षा-
 त्सम्बन्धाभावात्, तथाहि—नेन्द्रिय साक्षात्परमाण्वादिभिः सम्बध्यते इन्द्रियत्वादस्मदादीन्द्रियवत् ।

होती है, वैशेषिक जब प्रमाण को प्रमेय नहीं मानेगे उसे अप्रमेय ही मानेगे तो प्रमाण
 अप्रमेय—जानने योग नहीं हो सकने से उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है । इस
 प्रकार प्रमाण को अप्रमेय मानने से उसका अभाव हो जाने पर सारे ही तत्त्व समाप्त
 हो जाते हैं, तो फिर आप वैशेषिकों के यहाँ चारों वस्तुतत्त्वों की व्यवस्था कैसे हो
 सकेगी, “प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति, प्रमाता इन चारों में तत्त्व—परमार्थ तत्त्व—समाप्त
 होता है—अर्थात् विश्व के समस्त पदार्थ इन चारों में अन्तर्भूत हैं, जिसे छोड़ने और
 ग्रहण करने की इच्छा होती है ऐसे आत्मा की जो प्रवृत्ति है—अर्थात् हेय और
 उपादेय पदार्थ को ग्रहण करने की और छोड़ने की जिसे इच्छा होती है एव उन्हें
 ग्रहण करने और छोड़ने की तरफ जो प्रवृत्ति करता है उसे प्रमाता कहते हैं । जिसके
 द्वारा प्रमाता अर्थ को जानता है वह प्रमाण है, जो अर्थ प्रमाता के द्वारा जाना जाता
 है—या जाना गया है वह प्रमेय है, और जो ज्ञप्ति—ज्ञान—जानने रूप क्रिया होती है वह
 प्रमिति है, ऐसा आपका कहना है सो वह समाप्त हो जाता है ।

अच्छा आप यह तो बताओ—कि प्रमाणतत्त्व सर्वज्ञ के ज्ञानके द्वारा जाना
 जाता है या नहीं ? यदि वह उनके द्वारा नहीं जाना जायेगा तो उसमें सर्वज्ञता—
 सर्वज्ञपना—नहीं रहेगी क्योंकि उसने प्रमाणतत्त्व को जाना नहीं और पूर्णतत्त्वको जाने
 विना वह सर्वज्ञ कैसे हो सकता है, तथा—जैसे प्रमाण प्रमेय धर्म का आधार नहीं है,
 वैसे प्रमाता में भी प्रमेयधर्म नहीं रहेगा, क्योंकि इन चारों का आपस में विरोध तो
 समानरूप से है ही, इस तरह फिर प्रमाण भी घड़े के सींगकी तरह असत् हो जावेगा,
 यदि प्रमाता प्रमेय धर्म का आधार होता है तो उसे जानने के लिये दूसरा एक और

योगजधर्मानुग्रहात्तस्य तैः साक्षात्सम्बन्धश्चेत्, कोऽयमिन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहो नाम । स्वविषये प्रवर्तमानस्यातिशयाधानम्, सहकारित्वमात्र वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्त, परमाण्वादी स्वयमिन्द्रियस्य प्रवर्तनाभावाद्, भावे तदनुग्रहवैयर्थ्यम् । तत् एवास्य तत्र प्रवृत्तौ परस्पराश्रय —सिद्धे हि योगजधर्मानुग्रहे तत्र तस्य प्रवृत्तिः, तस्यां च योगजधर्मानुग्रह इति । द्वितीयपक्षोऽप्यसम्भाव्य,

प्रमाता होना चाहिये, क्योंकि वह पहिला प्रमाता प्रमेय का आधार होने से प्रमेय हो जावेगा, इसलिये जैसे प्रमाण प्रमेय से भिन्न है वैसे प्रमाता भी मानना पडेगा, दूसरा आया हुआ प्रमाता भी जब प्रमेय हो जावेगा तब तीसरा और एक प्रमाता चाहिए, फिर एक प्रमेयरूप आत्मा में अनंत प्रमाता की माला जैसी बन जावेगी, इन दोषो को हटाने के लिये यदि कहा जाये कि एक ही आत्मा में प्रमातृपना और प्रमेयपना होने मे कोई विरोध नहीं है, तो फिर उसी प्रमाता मे प्रमाणपना भी मान लो फिर “प्रमाता और प्रमेय से भिन्न प्रमाण होता है” यह सूत्र सदोष हो जाने से खडित हो जाता है ।

वैशेषिक को हम आगे अच्छी तरह से सिद्ध करके बनाने वाले हैं कि चक्षु अप्राप्यकारी है, इसलिये घट का आख के साथ सयोग होना, रूपादिक के साथ उसका सयुक्त समवायादि होना इत्यादिरूप से सन्निकर्ष का लक्षण जो किया है वह अव्याप्ति दोष युक्त हो जाता है और सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर सर्वज्ञ का अभाव भी होता है, क्योंकि इन्द्रियो का परमाणु आदि बहुत से पदार्थों के साथ साक्षात् सबध होता ही नहीं है । इन्द्रिया सूक्ष्म परमाणु आदि पदार्थों के साथ साक्षात् सबध नहीं कर सकती, क्योंकि वे हम लोगो की इन्द्रियो के समान इन्द्रिया है । इस प्रकार के इस अनुमान से इन्द्रियों का परमाणु आदि के साथ संबंध होना असिद्ध सिद्ध होता है ।

शंका—यदि वैशेषिक ऐसा कहे कि इन्द्रियो का योगजधर्म के बडे भारी अनुग्रह से उन परमाणु आदि के साथ साक्षात् सबध हो जायगा अर्थात्—इन्द्रियों में योगज धर्मका बडाभारी अनुग्रह होता है अत सर्वज्ञ की इन्द्रिया सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार कर लेती है ।

भावार्थ—वैशेषिक के मत मे—सिद्धान्त में—योगजधर्म के अनुग्रह का कथन इस प्रकार है कि हम जैसे सामान्य व्यक्तियो से अन्य विशिष्ट जो योगीजन है वे विशेष योग (ध्यान या समाधि) से सहित होते है, उन योगियो के जो मन होता है वह योगज धर्म से प्रभावित रहता है सो उस मन के द्वारा अपना खुद का तथा

स्वविषयातिक्रमेणास्य योगजधर्मसहकारित्वेनाप्यनुग्रहायोगात्, अन्यथैकस्यैवेन्द्रियस्याशेषरसादि-विषयेषु प्रवृत्तौ तदनुग्रहप्रसङ्गः स्यात् । अथैकमेवान्तःकरणं (योगजधर्मानु) गृहीतं युगपत्सूक्ष्माद्य-शेषार्थविषयज्ञानजनकमिष्यते तन्न, अणुमनसोऽशेषार्थं सकृत्सम्बन्धाभावतस्तज्ज्ञानजनकत्वासम्भवात्, अन्यथा दीर्घशङ्कुलीभक्षणादौ सकृच्चक्षुरादिभिस्तत्सम्बन्धप्रसक्ते रूपादिज्ञानपञ्चकस्य सकृदुत्पत्ति-प्रसङ्गात्—

अन्य जीव, आकाश, दिशा, काल, परमाणु, वायु, मन, तथा इन्ही मे रहने वाले गुण, कर्म, सामान्य और विशेष समवाय इन सभी वस्तुओं का उन्हे ज्ञान पैदा हो जाता है, जो योग से सहित है उनको योगज धर्मानुग्रह की शक्ति से युक्त चार प्रकार के सन्निकर्षों से ज्ञान होता है । यह ज्ञान इतना तीक्ष्ण होता है कि सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरवर्ती पदार्थों का भी साक्षात्कार कर लेता है, इस प्रकार इन्द्रियो के द्वारा सूक्ष्मादिक वस्तुओं का ज्ञान होने से इन्द्रिय प्रत्यक्ष से ही वे सर्वज्ञ बन जाते है, ऐसी वैशेषिक ने शका की है, इस का समाधान जैन इस प्रकार कर रहे है—

समाधान—हम जैन आपसे यह पूछते है कि इन्द्रियो के जो योगजधर्म का अनुग्रह है वह क्या चीज है ? इन्द्रिया अपने विषय मे प्रवृत्त होती है सो उनमे अतिशय पैदा कर देना क्या यह योगजधर्म का अनुग्रह है ? या उनको सहकारी मात्र होना यह योगजधर्मानुग्रह है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं—क्योकि स्वयं इन्द्रिया परमाणु आदि मे प्रवृत्त ही नहीं होती है, फिर वह उनमे क्या अतिशय लावेगा, यदि कहो कि वे वहा प्रवृत्ति करती है तो फिर योगजधर्म के अनुग्रह की उन्हे क्या आवश्यकता है । योगजधर्म से युक्त होकर वे परमाणु आदि मे प्रवृत्ति करती हैं ऐसा कहो तो परस्पर-श्रय नामका दोष आवेगा, अर्थात् योगजधर्म का अनुग्रह सिद्ध हो तो परमाणु आदिको मे इन्द्रियो की प्रवृत्ति होगी और उनमे उनकी प्रवृत्ति के सिद्ध होने पर उनमे योगजधर्म का अनुग्रह सिद्ध होगा, इस तरह दोनो ही सिद्ध नहीं हो सकेगे । अपने २ विषयो मे प्रवृत्त होते समय इन्द्रियो के लिए योगजधर्म सहकारी बनता है ऐसा यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योकि इन्द्रिया अपने २ विषय को उल्लंघन नहीं करके ही उसमे प्रवृत्ति करती है, योगजधर्म की सहायता मिलने पर भी उनमे विषयान्तर मे प्रवृत्ति करने की शक्ति नहीं है । यदि वे विषयान्तर मे—अपने अविषयमे—दूसरे विषय मे—प्रवृत्त होगी तो एक ही स्पर्शन इन्द्रिय रूप रसादि को ग्रहण कर लेगी और उसी पर योगज धर्म भी अनुग्रह करेगा ।

“युगपज् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्” [न्यायसू० १।१।१६] इति विरुध्येत । क्रमशोऽन्यत्र तद्दर्शनादत्रापि क्रमकल्पनाया योगिनः सर्वार्थेषु सम्बन्धस्य क्रमकल्पनास्तु तथादर्शनाविशेषात् । तदनुग्रहसामर्थ्याद् दृष्टातिक्रमेष्टौ च आत्मैव समाधिविशेषोत्थघर्म माहात्म्यादन्तःकरणनिरपेक्षोऽशेषार्थ-ग्राहकोऽस्तु किमदृष्टपरिकल्पनया ? तन्नाणुमनसोऽशेषार्थं साक्षात्सकृत्सम्बन्धो घटते ।

वैशेषिकः—हा, ठीक तो है देखो—एक अंतःकरणरूप जो मन है वह अकेला ही योगज धर्म की सहायता से विश्व के सूक्ष्मादिपदार्थों के ज्ञान का जनक हमने माना ही है ।

जैन—यह कथन आपका सही नहीं है क्योंकि मन तो विचारा अणु जैसा छोटा है वह एक साथ सारे अनंत पदार्थों के साथ संबन्ध कैसे कर लेगा ? और सबध (सन्निकर्ष) के बिना ज्ञान भी नहीं होगा यदि वह मन उनके साथ एक साथ सम्बन्ध करता है तो दीर्घशङ्कुली— बड़ी २ कडक-कड़क पुडी, आदि के खाते समय मन का चक्षु आदि इन्द्रियो के साथ युगपत् सबध होकर रूपादि पांचो ज्ञानों की एक ही समय मे उत्पत्ति होने लगेगी तो फिर आपका यह न्यायसूत्र गलत ठहरेगा—

“युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्” अर्थात् आपके यहा लिखा है कि एक साथ रूप रस आदि पाचों विषयों का ज्ञान जो नहीं होता है सो यही हेतु मन को अणुरूप सिद्ध करता है ।

वैशेषिक—घटादि पदार्थों में क्रम क्रम से मन का सबंध देखा जाता है अतः रूपादि पाचो विषयो में भी वह क्रमसे होता है ऐसा मानना पडता है ।

जैन—तो फिर योगी के अर्थात् सर्वज्ञ के ज्ञान में भी इसी तरह ऋषिकपना मानो, क्रम से मन का सबध तो सर्वज्ञ में है ही ।

वैशेषिक—योगज धर्म के अनुग्रह से मन एक साथ सबसे सबध कर लेता है, इसलिये हम लोग दृष्ट का अतिक्रम कर लेते है । अर्थात् यद्यपि प्रत्यक्ष से तो मन क्रम क्रम से संबध करने वाला है यह बात सिद्ध है फिर भी योगज धर्मके कारण उस प्रत्यक्षसिद्ध बात का भी उल्लघन हो जाता है ।

जैन— ऐसी हालत मे तो फिर आपको समाधि धर्म के माहात्म्य से अकेला आत्मा ही मन की अपेक्षा न करके सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है ऐसा मानना चाहिये

अथ परम्परया, तथा हि—मनो महेश्वरेण सम्बद्ध तेन च घटादयोऽर्थास्तेषु रूपादय इति, अत्राप्यशेषार्थज्ञानासम्भव । सम्बन्धसम्बन्धोऽपि हि तस्याशेषार्थवर्तमानैरेव नानुत्पन्नविनष्टे । तत्काले तैरपि सह सोऽस्तीति चेन्न, तदा वर्तमानार्थसम्बन्धसम्बन्धस्यासम्भवात् । ततोऽयमन्य एवेति चेत्, तर्हि तज्जनितज्ञानमपि अनुत्पन्नविनष्टार्थकालीनसम्बन्धसम्बन्धजनितज्ञानादन्यदिति एकज्ञानेना-

फिर इस अदृष्ट अर्थात् अत्यन्त परोक्ष या असिद्ध ऐसे सन्निकर्ष की कल्पना करना भी जरूरी नहीं होगा अतः यह सिद्ध हुआ कि अणुरूप मनका सम्पूर्ण पदार्थों के साथ एक ही समय में साक्षात् सबंध जुड़ता नहीं है ।

वैशेषिक—अणु मन का पदार्थों के साथ क्रम २ से सबंध होता है—अर्थात् परम्परा से अणु मन का सम्बन्ध अशेष पदार्थों के साथ जुड़ता है, वह इस प्रकार से है—कि पहिले मनका सम्बन्ध महेश्वर से होता है, और व्यापक होने के नाते ईश्वर का सम्बन्ध घटपटादि पदार्थों के साथ है ही तथा घटादिको में रूपादिक सम्बन्धित है । इस तरह अणु मन का सम्बन्ध परम्परा से अशेष पदार्थों के साथ जुड़ जाता है ।

जैन—ऐसा मानने पर भी सपूर्ण पदार्थों का ज्ञान तो होगा ही नहीं क्योंकि परम्परा सबंध—सबंध से सम्बन्ध—मानने पर भी उस मन का वर्तमान के पदार्थों के साथ ही सम्बन्ध रहेगा जो नष्ट हो चुके हैं तथा जो अभी उत्पन्न ही नहीं हुए हैं उनके साथ उसका संबन्ध नहीं रहेगा तो फिर उनके साथ सबंध नहीं होने से उनका ज्ञान कैसे होगा ।

वैशेषिक—अजी । ईश्वर तो सदा रहता है ना, अत नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थों के साथ भी वह रहता ही है ।

जैन—सो ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब वह अनुत्पन्न और नष्ट पदार्थों से सबंध करेगा तो उसी को जानो । उसी समय वर्तमान पदार्थ का सबंध और ज्ञान तो होगा ही नहीं ।

वैशेषिक—इन अनुत्पन्न और नष्ट पदार्थों के सम्बन्ध से ईश्वर भिन्न ही है ।

जैन—तो फिर उस भिन्न ईश्वर से उत्पन्न हुआ वर्तमान ज्ञान, अनुत्पन्न पदार्थों और नष्ट पदार्थों के समय में परम्परा सम्बन्ध से जनित ज्ञान से अन्य ही

शेषार्थज्ञत्वासम्भवः । बहुभिरेव ज्ञानैस्तदिति चेत्, तेषां किं क्रमेण भावः, अक्रमेण वा ? क्रमभावे; नानन्तेनापि कालेनानन्तता ससारस्य प्रतीयेत—य एव हि सम्बन्धसम्बन्धवशात् ज्ञानजनकोऽर्थः । स एव तज्जनितज्ञानेन गृह्यते नान्य इति । अक्रमभावस्तु नोपपद्यते विनष्टानुत्पन्नार्थज्ञानानां वर्तमानार्थज्ञान-कालेऽसम्भवात् । न हि कारणाभावे कार्यं नामातिप्रसङ्गात् । न च बौद्धानामिव यौगानां विनष्टानु-

रहेगा—तो ऐसी हालत में एक ज्ञान के द्वारा अशेष पदार्थों का ज्ञान होना असम्भव हो जायेगा ।

भावार्थ—वैशेषिक सन्निकर्ष से महेश्वर को संपूर्ण पदार्थों का ज्ञान होता है, ऐसा मानते हैं, किन्तु पदार्थ तो अतीत अनागत रूप भी है, जब वह महेश्वर अतीत अनागत पदार्थों के साथ सन्निकर्ष करेगा तब वर्तमान के पदार्थों के साथ सन्निकर्ष नहीं बन सकेगा, अतः महेश्वर को एक साथ एक ज्ञान से त्रैकालिक वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकने से महेश्वर सर्वज्ञ नहीं बन सकता है ।

वैशेषिक—बहुत से ज्ञानों के द्वारा वह ईश्वर पदार्थों को जान लेगा ।

जैन—तो क्या वह उन ज्ञानों द्वारा क्रम से जानेगा या अक्रम से जानेगा । क्रम से जानने बैठेगा तो अनंत काल तक भी वह संपूर्ण पदार्थों को नहीं जान पायेगा, जिसका जिससे संबंध हुआ है उसी का ज्ञान होकर उसी को वह जानेगा अन्य को नहीं अक्रम से जानना बनता नहीं, क्योंकि नष्ट हुए और अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं ऐसे पदार्थों का सम्बन्ध वर्तमान काल में नहीं है । उनका ज्ञान भी नहीं है । कारण के अभाव में कार्य होता नहीं है, माना जावे तो अति प्रसङ्ग होगा । आप यौग हो । आपके यहा बौद्ध की तरह नष्ट हुए तथा अनुत्पन्न ऐसे पदार्थों को ज्ञान का कारण नहीं माना है, अन्यथा आपका सिद्धान्त गलत ठहरेगा ।

बौद्धों के यहा क्षणिकवाद होने से नष्ट हुए कारणों से कार्य होना माना है, वैसे यौगों के यहा नहीं माना है ।

वैशेषिक—ईश्वर का ज्ञान नित्य है, अतः आप जैन के द्वारा दिये गये कोई भी दोष हम पर लागू नहीं होते हैं ।

जैन—ऐसा भी कहना ठीक नहीं, कारण कि आपके द्वारा मान्य नित्य ईश्वर का हम आगे खण्डन करने वाले हैं । इस प्रकार वैशेषिक द्वारा माना हुआ सन्निकर्ष प्रमाण भूत सिद्ध नहीं होता है ।

त्पन्नस्य कारणत्व सिद्धान्तविरोधात् । नित्यत्वादीश्वरज्ञानस्योक्तदोषानवकाश इत्यप्यवाच्यम्; तन्नित्यत्वस्येश्वरनिराकरणप्रघट्टके निराकरिष्यमाणत्वात् । तन्न सन्निकर्षोप्यनुपचरितप्रमाणव्यपदेशभाक् ।

विशेषार्थ—वैशेषिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते है, किन्तु इसमे प्रमाण का लक्षण सिद्ध नहीं होता है, सन्निकर्षरूप प्रमाण के द्वारा संपूर्ण वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता है, वैशेषिक सर्वज्ञ को तो मानते ही है, परन्तु सन्निकर्ष से अशेष पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकने से उनके यहा सर्वज्ञ का अभाव हो जाता है । क्योंकि सर्वज्ञ का ज्ञान यदि छूकर जानता है तो वह मात्र वर्तमान के और उनमें से भी निकटवर्ती मात्र पदार्थों को जान सकता है, अतीत अनागत के पदार्थों को वह जान नहीं सकता है, क्योंकि पदार्थों के साथ उसका ज्ञान सबद्ध नहीं है, कदाचित् सबद्ध मान लिया जावे तो भी वह जब अतीतानागत पदार्थों से सम्बन्धित रहेगा तो वर्तमान कालिक पदार्थों के साथ वह असबद्ध होगा, इसलिये एक ही ज्ञान त्रैकालिक वस्तुओं की परिच्छिन्ति नहीं कर सकता है, यदि सर्वज्ञ-ईश्वर मे बहुत से ज्ञान माने जायेंगे तो भी वे ज्ञान क्रम से जानेंगे या अक्रम से ऐसे प्रश्न होते है । और इन प्रश्नों का हल होता नहीं है, अतः सन्निकर्ष मे प्रमाणता खडित होती है, इस विषय पर आगे चक्षु सन्निकर्षवाद मे लिखा जाने वाला है । अल विस्तरेण ।

* सन्निकर्षवाद समाप्त *

सन्निकर्ष प्रमाणवाद के खंडन का सारांश

*

वैशेषिक लोग सन्निकर्ष को प्रमाण मानते है अर्थात् ज्ञान का जो कारण है वह प्रमाण है ऐसा उन्होंने माना है, उनका कहना है कि ज्ञान तो प्रमाण का फल है, उसे प्रमाण स्वरूप कैसे माने । स्पर्शनादि इन्द्रियो का पदार्थ के साथ प्रथम तो सयोग होता है, फिर उन पदार्थों मे रहने वाले रूप रस आदि गुणों के साथ सयुक्त समवाय होता है, पुन उन रूपादि गुण के रूपत्व रसत्व आदि के साथ सयुक्त समवेत समवाय

होता है, इस प्रकार यह प्रक्रिया जल्दी से होकर उससे प्रमितिरूप अर्थात् जाननारूप फल उत्पन्न होता है। हर पदार्थ को इन्द्रिया छूकर ही जानती है। जो छूना है वह सन्निकर्ष है, उसके बिना कोई भी ज्ञान पैदा नहीं होता है, अतः सन्निकर्ष प्रमाण है। वही प्रमिति की उत्पत्ति में साधकतम है, इसलिये ईश्वर हो चाहे हम लोग हो सभी को सन्निकर्ष से ज्ञान होता है।

इस वैशेषिक के मन्तव्य का आचार्य ने बड़े ही अच्छे ढंग से निरसन किया है, सन्निकर्ष का ज्ञान के साथ साधकतमपना सिद्ध नहीं होता है। यदि सर्वत्र सन्निकर्ष से ही ज्ञान पैदा होता तो भले ही उसे साधकतम मानते किन्तु ऐसा नहीं है। देखिये—चक्षु और मन तो बिना सन्निकर्ष के ही प्रमिति पैदा कर लेते हैं।

आखे पदार्थ को बिना छुए ही उसके रूप को जान लेती है, इस विषय का वर्णन इसी ग्रन्थ में सयुक्तिक हुआ है, सन्निकर्ष यदि सब जगह प्रमिति पैदा करता है तो वह आकाश में भी प्रमिति क्यों नहीं करता, क्योंकि जैसे इन्द्रियों का घट और उसके रूप, रस, तथा रूपत्व, रसत्व के साथ सबध है वैसे ही आकाश और उसका शब्द तथा शब्दत्व के साथ भी इन्द्रियों का सबध है, फिर क्या बात है कि हम आकाश को नहीं जानते। अमूर्तिकपने की दलील भी गलत है। जिसको जानने की योग्यता है उसी में सन्निकर्ष प्रमिति को पैदा करता है, सब में नहीं, ऐसा वैशेषिक का कथन भी विशेष लक्ष देने योग्य नहीं है क्योंकि योग्यता क्या बला है, यह पहले बताना चाहिये यदि शक्ति को योग्यतारूप कहोगे तो यह बात बनने की नहीं, क्योंकि आपने शक्ति को अतीन्द्रिय नहीं माना है, यदि सहकारी कारणों की निकटता को योग्यता रूप कहोगे तो वह सारी निकटता घर की तरह आकाश में भी है। हा, यदि प्रमाता के प्रति-बधक कर्म के अभाव को योग्यता मानकर उस योग्यता को ही साधकतम मानो तो बात ठीक है, उसी का प्रमिति में उपयोग है, सन्निकर्ष को प्रमाण मानने में एक बड़ा भारी दोष यह आता है कि सर्वज्ञ का अभाव हो जाता है। सर्वज्ञ का ज्ञान इन्द्रिय के द्वारा छूकर होगा तो उसे तीन काल में भी सारे पदार्थों का ज्ञान होगा नहीं, क्योंकि पदार्थ अनन्त है। योगज धर्म भी इन्द्रियों को अतिशय युक्त नहीं कर सकता।

“यत्राप्यतिशयो दृष्ट. स स्वार्थानतिलंघनात्” इन्द्रियों में कितना भी अतिशय आ जावे तो भी वह तो अपने ही विषय को ग्रहण करेगी। क्या आखे रस

को चखेगी, कान देखने लग जायेगे ? समझ में नहीं आता कैसा अतिशय है, तथा च-इन्द्रिया वर्तमान काल के पदार्थों को ही जानती है फिर उनके द्वारा तीन काल में होने वाले पदार्थों का ज्ञान कैसे होगा, बिना त्रिकालवर्ती पदार्थ को जाने सर्वज्ञता बनती नहीं, इस प्रकार सन्निकर्ष को प्रमाण मानने में सर्वज्ञता का अभाव होता है नेत्र और श्रवण में भी सन्निकर्ष की अव्याप्ति है । अतः सन्निकर्ष प्रमाण नहीं कहा जा सकता है ।

*** सन्निकर्षवाद का सारांश समाप्त ***

इन्द्रियवृत्ति प्रमाण पूर्वपक्ष

साख्य और योगदर्शन में इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण माना है—

“इन्द्रियप्रणालिकया बाह्यवस्तुपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषाव-
धारणप्रधानवृत्तिः प्रत्यक्षम्” — —योगदर्शन व्यास भा० पृ० २७

अत्रेयंप्रक्रिया—इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण

लिङ्गज्ञानादिना वा आदौ बुद्धे अर्थाकारावृत्तिः जायते ।

—साख्य प्र भा पृ० ४७

इन्द्रियरूपी प्रणाली के द्वारा बाह्यवस्तु के संबध से सामान्य विशेषात्मक पदार्थ का विशेष अवधारण स्वरूप जो वृत्ति होती है, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । उस वृत्ति का तरीका यह है कि पहिले इन्द्रिय का पदार्थ से सन्निकर्ष होता है अथवा लिङ्गज्ञानादि (अर्थात् अनुमान मे धूम आदि हेतु का ज्ञान होना) के द्वारा बुद्धि की अर्थाकार वृत्ति हो जाती है अर्थात् बुद्धीन्द्रिया जो चक्षु आदि हैं उनका अर्थाकार होना या अर्थों को जानने के लिये उनकी प्रवृत्ति होना प्रमाण कहलाता है, इस प्रकार चित्त-मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का पदार्थ से संबध होने मे जो प्रवृत्ति है वह प्रमाण है । यही बात अग्रिम श्लोक मे कही है—

विषयैश्चित्तसंयोगाद् बुद्धीन्द्रियप्रणालिकात् ।

प्रत्यक्षं सांप्रतं ज्ञानं विशेषस्यावधारकम् ॥ २३ ॥

—योग कारिका

चित्त संयोग से बुद्धि इन्द्रिय के द्वारा विषयों के साथ संबध होने पर विशेष का अवधारण करने वाला वर्तमान प्रत्यक्ष ज्ञान पैदा होता है, यहा जो इन्द्रियो की वृत्ति हुई है वह तो प्रमाण है और विषयों का जो अवधारण निश्चय होना है वह फल है, हम साख्य योग ३ प्रमाण मानते है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम) इनमे से उपर्युक्त प्रमाण तो प्रत्यक्ष है । अनुमान मे भी लिङ्ग (हेतु) ज्ञान आदि के द्वारा बुद्धीन्द्रिय का अर्थाकार होना और फिर साध्य का ज्ञान होना है अतः वहां भी प्रमाण का लक्षण घटित होता है शब्द प्रमाण मे भी यही बात है । इसलिये इन्द्रिय वृत्ति प्रमाण का लक्षण स्वीकार किया है ।

* पूर्वपक्ष समाप्त *

इन्द्रियवृत्तिविचारः

एतेनेन्द्रियवृत्ति प्रमाणमित्यभिदधान. साङ्ख्यः प्रत्याख्यात* । ज्ञानस्वभावमुख्यप्रमाण-
करणत्वात् तत्राप्युपचारतः प्रमाणव्यवहाराभ्युपगमात् । न चेन्द्रियेभ्यो वृत्तिर्व्यतिरिक्ता, अव्यतिरिक्ता
वा घटते । तेभ्योहि यद्यव्यतिरिक्तासौ, तदा श्रोत्रादिमात्रमेवासौ, तच्च सुप्ताद्यवस्थायामप्यस्तीति
तदाप्यर्थपरिच्छित्तिप्रसक्ते सुप्तादिव्यवहारोच्छेद । अथ व्यतिरिक्ता, तदाप्यसौ किं तेषां धर्मः,
अर्थान्तर वा ? प्रथमपक्षे वृत्तेः श्रोत्रादिभिः सह सम्बन्धो वक्तव्य — स हि तादात्म्यम्, समवाया-
दिर्वा स्यात् ? यदि तादात्म्यम्; तदा श्रोत्रादिमात्रमेवासाविति पूर्वोक्त एव दोषोऽनुषज्यते । अथ
समवायः, तदास्य व्यापिन सम्भवे व्यापिश्रोत्रादिसद्भावे च ।

साङ्ख्य मतवाले इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण मानते हैं, सो उसका खडन भी उसी
सन्निकर्ष के खडन से हो जाता है । क्योंकि ज्ञान स्वभाव वाली वस्तु ही मुख्य प्रमाण है ।
हा, उपचार से भले ही इसे भी प्रमाण कह दो, अच्छा—आप साङ्ख्य यह बतावे कि
इन्द्रियो की वृत्ति इन्द्रियो से भिन्न है या अभिन्न है ? दोनो तरह से वह बनती नहीं,
क्योकि वह वृत्ति यदि इन्द्रिय से अभिन्न है तो वह इन्द्रियरूप ही हो गई, सो ये
इन्द्रिया तो निद्रादिरूप अवस्था मे भी रहती है, तो फिर वहा भी ज्ञान होता रहेगा,
ऐसी हालत मे यह निद्रित है यह जाग्रत है यह लोकव्यवहार ही नहीं बनेगा, यदि
इन्द्रियो से उनकी वृत्ति पृथक है तो क्या वह उनका धर्म है या और कोई चीज है ?
यदि धर्म है, तो उस धर्म रूप वृत्ति का इन्द्रियो के साथ कौनसा संबध है ? तादात्म्य
संबध है या समवाय सम्बन्ध है ? यदि तादात्म्य है तो वृत्ति और इन्द्रिया एक ही हो
गई सो उसमे वही सुप्तादि का अभाव होना रूप दोष आता है, यदि इन्द्रिय और
वृत्ति का समवाय संबध है सो श्रोत्रादिक इन्द्रिय और समवाय इन दोनो के व्यापक
होने से आपका सिद्धान्त सदोष बन जाता है, क्योकि आपके यहा लिखा है—

“प्रतिनियतदेशावृत्तिरभिव्यज्येत्” [] इति प्लवते । अथ सयोग , तदा द्रव्यान्तरत्व-प्रसक्तं तद्धर्मो वृत्तिर्भवेत् । अर्थान्तरमसौ , तदा नासौ वृत्तिरर्थान्तरत्वात् पदार्थान्तरवत् । अर्थान्तरत्वेऽपि प्रतिनियतविशेषसद्भावात्तेषामसौ वृत्ति , नन्वसौ विशेषो यदि तेषां विषयप्राप्तिरूपः ; तदेन्द्रियादिसन्निकर्ष एव नामान्तरेणोक्त स्यात् । स चानन्तरमेव प्रतिव्यूढ । अथाऽर्थाकारपरिणतिः ;

“प्रतिनियतदेशावृत्तिरभिव्यज्येत्”

प्रतिनियत देश मे से प्रकट करे, इत्यादि ।

यदि कहा जाये कि इन्द्रिय और वृत्ति-प्रवृत्ति का संयोग सबध है सो वृत्ति में इन्द्रिय धर्मता नही आती, क्योकि सयोग पृथक् पृथक् दो द्रव्यों में होता है, इसलिये इन्द्रिय और वृत्ति ये दो द्रव्य हो जायेगे, फिर इन्द्रिय का धर्म वृत्ति है यह बात नही बनती यदि इन्द्रिय से वृत्ति कोई भिन्न ही वस्तु है तब तो उसे “इन्द्रिय की वृत्ति” ऐसा नही कह सकोगे जैसे कि दूसरे भिन्न पदार्थों को नही कहते ।

सांख्य—यद्यपि वृत्ति इन्द्रियो से अर्थांतर रूप है फिर भी प्रतिनियत विशेष रूप होने से यह वृत्ति इन्द्रियो की है, इस प्रकार कहा जाता है ।

जैन—अच्छा तो यह बतलाइए कि वह प्रतिनियत विशेष क्या विषय प्राप्ति रूप है अर्थात् इन्द्रिय का विषय के निकट होना यह प्रतिनियत विशेष है, तो इससे तो आपने सन्निकर्ष को ही नामान्तर से कह दिया है, सो उसका तो अभी खडन ही कर दिया गया है । यदि अर्थाकार परिणति को प्रतिनियत विशेष तुम कहो सो वह भी ठीक नही है, क्योकि अर्थाकार होना सिर्फ बुद्धि मे ही आपके यहा माना गया है, और कही अन्यत्र नही, तथा वह अर्थाकार परिणति प्रत्येक इन्द्रिय आदि के स्वभाव वाली नही है, और न वह इन्द्रियो की वृत्ति स्वरूप है, न किसी अन्य स्वरूप ही है, क्योकि उनमे वे पूर्वोक्त दोष आते है । तथा सांख्य के यहा परिणामी से परिणाम भिन्न है कि अभिन्न है यह कुछ भी नही सिद्ध होता है इस विषय का विचार हम आगे करनेवाले है ।

विशेषार्थ—इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण मानने वाले सांख्य के यहा इन्द्रियवृत्ति का लक्षण इस प्रकार पाया जाता है—

“इन्द्रियप्रणालिकया बाह्यवस्तुपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्ति प्रत्यक्षम्”—अर्थात् इन्द्रियप्रणाली के द्वारा बाह्य पदार्थ के साथ

न; अस्या बुद्धावेवाभ्युपगमात् । न च श्रोत्रादिस्वभावा तद्धर्मरूपा अर्थान्तरस्वभावा वा तत्परिणति-
घटते, प्रतिपादितदोषानुपपन्नात् । न च परपक्षे परिणाम. परिणामिनो भिन्नोऽभिन्नो वा घटते इत्यग्रे
विचारयिष्यते ॥

सवध होता है, और उस सम्बन्ध के होने पर जो सामान्य विशेषात्मक पदार्थ का विशेष रूप से अवधारण होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है, तात्पर्य इसका यही है कि इन्द्रियो के द्वारा पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होने पर अथवा हेतु के ज्ञान से जो शुरु मे बुद्धि (इन्द्रिय) का पदार्थ के आकार रूप होने पर उस पदार्थ का अवधारण होता है वह प्रमाण है, साख्यमत का यह प्रमाण का लक्षण असमीचीन है, क्योंकि ये साख्यादि मतवाले ज्ञान को तो प्रमाण का फल मानते हैं और ज्ञान के प्रमाण के जो कारण है, जो कि ज्ञान के साथ व्यभिचरित भी होते है—अर्थात् निश्चित रूप से जो ज्ञान को पैदा कर ही देते हो ऐसे जो नहीं है उन उन कारणोको प्रमाण मानते हैं, अत यह इन्द्रियवृत्ति सन्निकर्ष और कारक साकल्य के समान प्रमाण नहीं है, वास्तविक प्रमाण तो ज्ञान ही है अन्य नहीं है ।

* इन्द्रियवृत्ति का विचार समाप्त *



ज्ञातृव्यापार विचार पूर्वपक्ष

प्रमाणलक्षण के प्रणयन करने में प्रभाकर का ऐसा कहना है कि वस्तु को जानने के लिये जो ज्ञाता रूप आत्मा का व्यापार या प्रवृत्ति होती है वह प्रमाण है। कहा भी है—

“तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते ।

तदेव च प्रमारूप तद्वती करणं च धीः” ॥ ६१ ॥

—मीमांसकश्लोकवार्तिक

विषयों में ज्ञान की उत्पत्ति होना ज्ञाता का व्यापार है, वही प्रमाण है, और वही करण है। यद्यपि यह ज्ञातृव्यापार प्रत्यक्ष नहीं है तो भी पदार्थों का प्रकाशित होना रूप कार्य को देखकर उसकी सिद्धि कर सकते हैं—

व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम् ॥ ६१ ॥

—मी० श्लो० वा०

जब आत्मा में वह व्यापार नहीं रहता तब जानना रूप फल भी उत्पन्न नहीं हो पाता, कारण के अभाव में कार्य होता नहीं देखा जाता है, ऐसा नहीं है कि वस्तु निकट में मौजूद है, हमारी इन्द्रिया भी ठीक है, किन्तु उस वस्तु का बोध नहीं हो। अतः निश्चित होता है कि आत्मा में—ज्ञाता में व्यापार-क्रिया वही है, इसीलिये पदार्थ का ग्रहण नहीं हुआ, इस प्रकार हमारा कथन सिद्ध होता है कि पदार्थ को जानने का जो ज्ञाता का व्यापार है वह प्रमाण है और पदार्थ का बोध होना—उसे जानना यह प्रमाण का फल है।

* पूर्व पक्ष समाप्त *

ज्ञातृव्यापारविचारः

एतेन प्रभाकरोपि अर्थतथात्वप्रकाशको ज्ञातृव्यापारोऽज्ञानरूपोऽपि प्रमाणम्' इति प्रतिपादयन् प्रतिव्यूढः प्रतिपत्तव्यः; सर्वत्राज्ञानस्योपचारादेव प्रसिद्धे । न च ज्ञातृव्यापारस्वरूपस्य किञ्चित्प्रमाणं ग्राहकम्-तद्धि प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, अन्यद्वा ? यदि प्रत्यक्षम्, तर्हि स्वसंवेदनम्, बाह्येन्द्रियजम्, मनः प्रभवः वा ? न तावत्स्वसंवेदनम्, तस्याज्ञाने विरोधादनभ्युपगमाच्च । नापि बाह्येन्द्रियजम्, इन्द्रियाणां स्वसम्बद्धेऽर्थे ज्ञानजनकत्वोपगमात् । न च ज्ञातृव्यापारेण सह तेषां सम्बन्धः, प्रतिनियतरूपादिविषयत्वात् । नापि मनोजन्यम्, तथाप्रतीत्यभावादनभ्युपगमादतिप्रसङ्गाच्च । नाप्यनुमानम्,

प्रभाकर का कथन है कि पदार्थ को जैसा का तैसा जानने रूप जो ज्ञाता का व्यापार है भले ही वह अज्ञान रूप ही प्रमाण है । सो प्रभाकर को इस मान्यता (प्रमाणता) का भी निराकरण उपर्युक्त सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति आदि के खडन से हो जाता है ऐसा समझना चाहिये । क्योंकि इन सब मान्यताओं में अज्ञान को प्रमाण मान लिया है । ऐसो को तो प्रमाण उपचार से ही कह सकते हैं अन्यथा नहीं ।

प्रभाकर के ज्ञाता के व्यापार रूप प्रमाण को ग्रहण करने वाला प्रमाण तो कोई है नहीं, यदि है तो वह कौनसा है ? प्रत्यक्ष या अनुमान, अथवा और कोई तीसरा ? यदि प्रत्यक्ष है तो वह कौनसा प्रत्यक्ष है—स्वसंवेदन प्रत्यक्ष या बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा मनः प्रत्यक्ष ? स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अज्ञानरूप ज्ञातृव्यापार में प्रवृत्ति नहीं करता है, क्योंकि ऐसा मानने में विरोध है तथा आपने ऐसा माना भी नहीं है । बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञाता के व्यापार को कैसे जानेगा—क्योंकि इन्द्रियां तो अपने से सबधित पदार्थ में ज्ञान को पैदा करती हैं । ज्ञाता के व्यापार के साथ इन्द्रियों का सबध हो नहीं सकता क्योंकि उनका तो अपना प्रतिनियत रूपादि विषयो में सबध

“ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः” [शाबरभा० १।१।५] इत्येवलक्षणत्वात्तस्य । सम्बन्धश्च कार्यकारणभावादिनिराकरणेन नियमलक्षणोऽभ्युपगम्यते । तदुक्तम्—

कार्यकारणभावादिसम्बन्धाना द्वयी गतिः । नियमानियमाभ्यां स्यादनियमादनङ्गता ॥१॥

सर्वेऽप्यनियमा ह्येते नानुमोत्पत्तिकारणम् । नियमात्केवलादेव न किञ्चिन्नानुमीयते ॥२॥

• एव परोक्तसम्बन्धप्रत्याख्याने कृते सति । नियमो नाम सम्बन्धः स्वमतेनोच्यतेऽधुना ॥३॥ []
इत्यादि ।

होता है । मनोजन्य प्रत्यक्ष भी उस ज्ञातृव्यापार को ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि न तो वैसी प्रतीति आती है और न आपने ऐसा माना है, तथा ऐसा मानने में अति प्रसंग दोष भी आता है । अनुमान के द्वारा ज्ञातृव्यापार को सिद्ध करो तो भी नहीं बनता, क्योंकि अनुमान का लक्षण—“ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धि — जिसने सबध को जाना है ऐसे व्यक्ति को जब उसी विषय के एक देश का दर्शन होकर जो दूरवर्ती पदार्थ का ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं” ऐसा शाबर भाष्य में लिखा है । आप प्रभाकर के द्वारा अनुमान में कार्यकारण संबंध और तादात्म्यादि संबंध माना नहीं गया है । केवल नियम अर्थात् अविनाभाव सबध माना है । कहा भी है—

“कार्य कारण आदि जो संबध होते हैं—वे दो प्रकार के होते हैं—एक नियम-रूप और एक अनियमरूप, जो नियमरूप सबध होता है वही अनुमान में कार्यकारी है, दूसरा नहीं ॥ १ ॥

अविनाभाव संबध रहित हेतु अनुमान की उत्पत्ति में उपयोगी नहीं है, तथा नियम एक ही ऐसा है कि उससे ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं जिसको कि इसके द्वारा न जाना जाय ।

इस प्रकार सौगत आदि के द्वारा माना गया सबध खडित किया जाने पर अब अपने (प्रभाकर) मत के अनुसार नियम सबध बताया जाता है ॥ ३ ॥ इत्यादि । इस प्रकार आपके मत में अनुमान में नियम संबंध को ही सही माना है यह बात सिद्ध हुई । अब यह देखना है कि ऐसा सबध अर्थात् ज्ञाता के व्यापार के साथ अर्थ-प्रकाशन का अविनाभाव है इस बात का निर्णय अन्वय निश्चय के द्वारा होता है या व्यतिरेक निश्चय के द्वारा होता है ? यदि अन्वयनिश्चय के द्वारा होता है अर्थात्

स च सम्बन्ध किमन्वयनिश्चयद्वारेण प्रतीयते, व्यतिरेकनिश्चयद्वारेण वा ? प्रथमपक्षे किं प्रत्यक्षेण, अनुमानेन वा तन्निश्चयः ? न नावत्प्रत्यक्षेण, उभयरूपग्रहणे ह्यन्वयनिश्चयः, न च ज्ञातृ-व्यापारस्वरूप प्रत्यक्षेण निश्चीयते इत्युक्तम् । तदभावे च—न तत्प्रतिबद्धत्वेनार्थप्रकाशनलक्षणहेतुरूप-मिति । नाप्यनुमानेन, अस्य निश्चितान्वयहेतुप्रभवत्वाभ्युपगमात् । न च तस्यान्वयनिश्चयः प्रत्यक्ष-समधिगम्य पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात् । नाप्यनुमानगम्य, तदनन्तरप्रथमानुमानाभ्या तन्निश्चयेऽनवस्थे-रेतराश्रयानुषङ्गात् । नापि व्यतिरेकनिश्चयद्वारेण, व्यतिरेको हि साध्याभावे हेतोरभावः । न च

जहा जहा ज्ञातृव्यापार है वहा वहा अर्थ प्रकाशन है ऐसे अन्वय का निश्चय कौन करता है, क्या प्रत्यक्ष करता है या अनुमान करता है, प्रत्यक्ष ऐसे अन्वय का निश्चय नहीं कर पाता क्योंकि वह साध्य साधन दोनों को ग्रहण करे तब उसके द्वारा उनके अन्वय का निश्चय हो, परन्तु ज्ञाता का व्यापार प्रत्यक्ष है नहीं—अर्थात् ज्ञाता का व्यापार प्रत्यक्षसे ग्रहीत नहीं होता—इस बात को पहिले ही बता दिया है, और उसके प्रत्यक्ष हुए बिना वह उसके साथ अविनाभाव संबंध रखने वाले अर्थ प्रकाशन को कैसे जान सकता है । अनुमान से भी दोनों के अन्वय का निश्चय होता नहीं, क्योंकि यह अनुमान निश्चित अन्वय रूप हेतु से—साध्यके साथ जिसका अविनाभाव सबंध निश्चित है ऐसे हेतु से—उत्पन्न होगा, अब वह अन्वय जानने के लिये आया हुआ जो अनुमान है वह भी तो अन्वय सहित है, अतः उसके लिये—उसके अन्वय को निश्चय करने के लिये—वे ही प्रथम कहे गये प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं और वे ही दोष आते हैं, अर्थात् वह अन्वय प्रत्यक्ष से जाना नहीं जाता, अनुमान के द्वारा जानना मानो तो कौन से अनुमान से—प्रकृत अनुमान से या अनुमानान्तर से ? अनुमानान्तर से मानने पर अनवस्था और प्रकृत अनुमान से—प्रथम अनुमान से मानने पर इतरेतराश्रय दोष आता है ।

भावार्थ—अनवस्था दोष तो इस प्रकार से आता है कि ज्ञाता का व्यापार और अर्थतथात्व का प्रकाशन इन दोनों के अन्वय को जानने के लिए एक अनुमान आया सो उस अनुमान में भी साध्यसाधन का अन्वय है इस बात को जानने के लिये तीसरा अनुमान चाहिए इस प्रकार अनुमान आते रहेंगे और ज्ञाता का व्यापार अज्ञात ही रहेगा, इस तरह ज्ञाता का व्यापार जानने के लिये अनुमान की परम्परा चलती जायेगी सो यही अनवस्था दोष है । अन्योन्याश्रय दोष इस प्रकार से होगा—ज्ञाता का व्यापार है क्योंकि अर्थतथात्व का प्रकाशन हो रहा है, यह अनुमान है इसमें

प्रकृतसाध्याभावः प्रत्यक्षाधिगम्य, तस्य ज्ञातृव्यापाराविषयत्वेन तद्भाववत्तदभावेऽपि प्रवृत्ति-
विरोधात् । समर्थित चास्य तदविषयत्व प्रागिति । नाप्यनुमानाधिगम्यः, अत एव ।

अथानुपलम्भनिश्चयः अत्रापि किं दृश्यानुपलम्भोऽभिप्रेतः. अदृश्यानुपलम्भो वा ? यद्यदृश्यानु-
पलम्भ ; नासौ गमकोऽतिप्रसङ्गात् । दृश्यानुपलम्भोऽपि चतुर्धा भिद्यते स्वभाव-कारण-व्यापकानु-
पलम्भविरुद्धोपलम्भभेदात् । तत्र न तावदाद्यो युक्तः, स्वभावानुपलम्भस्यैवविधे विषये व्यापारा-

ज्ञाता का व्यापार साध्य है और अर्थतथात्व का प्रकाशन हेतु है । इन दोनों का अवि-
नाभाव जानने के लिये दूसरा अनुमान चाहिये, तथा उस दूसरे अनुमान में जो साध्य
साधन का अन्वयरूप अविनाभाव होगा उसे वह पहिला अनुमान जानेगा, इस प्रकार
एक दूसरे के आश्रय होने से एक की भी सिद्धि नहीं होती है । ऐसे ही सर्वत्र अनवस्था
और अन्योन्याश्रय दोष का मतलब समझना चाहिये ।

ज्ञाता का व्यापार और अर्थतथात्व प्रकाशन इनका अविनाभाव संबध
व्यतिरेक निश्चय के द्वारा भी नहीं होता है, व्यतिरेक उसे कहते है कि जहां साध्य
के अभाव में हेतु का अभाव दिखाया जाय, किन्तु यहां ज्ञाता का व्यापार रूप जो
साध्य है वह प्रत्यक्षगम्य है नहीं, क्योंकि ज्ञाता का व्यापार प्रत्यक्ष का विषय नहीं है,
अतः ज्ञाता का व्यापार होने पर तथा न होने पर भी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति का विरोध
ही है, प्रत्यक्ष का विषय ज्ञाता का व्यापार नहीं है इस बात को पहिले ही बता दिया
गया है । अनुमान से व्यतिरेक का निश्चय नहीं होता क्योंकि उसकी भी (ज्ञाता का
व्यापार होवे अथवा न होवे) प्रवृत्ति नहीं होती ।

प्रभाकर—ज्ञाता के व्यापार का अभाव अनुपलम्भ हेतु के द्वारा किया जाता
है, अर्थात्—ऐसी आत्मा में ज्ञाता का व्यापार नहीं है क्योंकि उसके कार्य की उपलब्धि
नहीं है, जैसे कि गधे के सींग ।

जैन—इस प्रकार मानने पर भी हम पूछते है कि आपने अनुपलम्भ कौन
सा माना है—दृश्यानुपलम्भ कि अदृश्यानुपलम्भ, अदृश्यानुपलम्भ साध्य का गमक नहीं हो
सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर अति प्रसंग दोष आता है, अर्थात् अदृश्य उसे कहते
है जो देखने योग्य नहीं है, ऐसी अदृश्य वस्तु का अनुपलम्भ कैसे जान सकते है ।
क्योंकि अदृश्य पदार्थ तो मौजूद होते है फिर भी वे उपलब्ध नहीं होते और मौजूद न
हों तो भी वे उपलब्ध नहीं होते, जैसे कि पिशाच परमाणु आदि हों चाहे मत

भावात्, एकज्ञानससर्गिपदार्थान्तरोपलम्भरूपत्वात्तस्य । न च ज्ञातृव्यापारेण सह कस्यचिदेकज्ञान-संसर्गित्व सम्भवतीति । नापि द्वितीय, सिद्धे हि कार्यकारणभावे कारणानुपलम्भः कार्याभाव-निश्चायकः । न च ज्ञातृव्यापारस्य केनचित् सह कार्यत्व निश्चिनम्, तस्यादृश्यत्वात् । प्रत्यक्षानु-पलम्भनिवन्धनश्च कार्यकारणभावः । तत एव केनचित्सह व्याप्यव्यापकभावस्यासिद्धेर्न व्यापकानु-पलम्भोऽपितन्निश्चायक । विरुद्धोपलम्भोपि द्विधा भिद्यते विरोधस्य द्विविधत्वात्, तथा हि-को (एको) विरोधोऽविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावात्सहानवस्थालक्षण शीतोष्णयोरिव, विशिष्टा-

हो हम उन्हें जानते नहीं, फिर उनका अनुपलम्भ कैसे समझे, दृश्यानुपलम्भ, चार प्रकार का है—स्वभावानुपलम्भ, कारणानुपलम्भ, व्यापकानुपलम्भ और विरुद्धोपलम्भ, इनमें स्वभावानुपलम्भ तो यहा ठीक नहीं है—यहा वह उपयुक्त नहीं है—क्योकि ऐसे अत्यन्त परोक्ष रूप ज्ञाता के व्यापार में स्वभावानुपलम्भ की प्रवृत्ति ही नहीं होती है, स्वभावानुपलम्भ तो एकज्ञानससर्गी ऐसे पदार्थान्तर की उपलब्धि रूप होता है, मतलब—जैसे पहिले एक जगह पर किसी ने घट देखा फिर उसी ने दूसरी बार खाली भूतल देखा तब उसे वहा घट का अभाव है ऐसा ज्ञान होता है, ऐसा एकज्ञान-ससर्गीपना ज्ञाता के व्यापार के साथ किसी के सम्भवता नहीं है । दूसरा पक्ष जो कारणानुपलम्भ है वह भी नहीं बनता है, क्योकि कार्यकारणभाव सिद्ध हो तब कारण का अभाव कार्य के अभाव का निश्चायक होगा, किन्तु ज्ञाता के व्यापार का किसी भी कारण के साथ कार्यपना सिद्ध तो है नहीं, क्योकि वह तो अदृश्य है । कार्यकारण भाव तो अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा जाना जाता है और ज्ञातृव्यापार के साथ किसी का अन्वय व्यतिरेक बनता नहीं है, इस प्रकार कारणानुपलम्भ से ज्ञातृव्यापार की सिद्धि नहीं होती है । तीसरा पक्ष जो व्यापकानुपलम्भ है वह भी ज्ञातृव्यापार के अदृश्य होने से बनता नहीं है । क्योकि किसी के साथ ज्ञातृव्यापार का व्याप्यव्यापक-भाव सिद्ध हो तो व्यापक के अभाव में व्याप्य के अभाव की सिद्धि मानी जाय, परन्तु व्यापक ही जब असिद्धि है तो वह ज्ञाता के व्यापार के अभाव का निश्चायक कैसे होगा । चौथा पक्ष विरुद्धोपलम्भ है, सो प्रथम तो विरुद्ध के दो भेद है अत उसके उपलम्भ के भी दो भेद हो जाते है, इनमें एक विरोध सहानवस्थारूप है, यह विरोध अपने सपूर्ण कारणों के होते हुए अन्य के सदुभाव में अभावरूप होता है जैसा कि शीत और उष्ण का होता है, वह तो विशिष्ट प्रत्यक्ष से जाना जाता है । प्रकृत में ज्ञाता का व्यापाररूप साध्य किसी विरोधी कारण के होने पर अभावरूप होते हुए

प्रत्यक्षाग्निश्चीयते । न च प्रकृत साध्यमविकलकारण कस्यचिद्भावे निवर्त्तमानमुपलभ्यते; तस्या-
दृश्यत्वात् । द्वितीयस्तु परस्परपरिहारस्थितिलक्षण । सोप्युपलभ्यस्वभावभावनिष्ठत्वात्प्रकृतविषये न
सम्भवति ।

किञ्चानुपलम्भोऽभावप्रमाण प्रमाणपञ्चकविनिवृत्तिरूपम् । तच्च ज्ञातमेवाभावसाधकम्; कृत-
यत्नस्यैव प्रमाणपञ्चकविनिवृत्तेरभावसाधकत्वोपगमात् । तदुक्तम्—

गत्वा गत्वा तु तान्देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते ।

तदान्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते ॥

—मीमांसाश्लो० वा० अर्था० श्लो० ३८

प्रतीति में नहीं आता है—अर्थात् ज्ञाता के व्यापार के विरोधी कारण होने पर वह
निवर्त्तमान हो ऐसा देखने में नहीं आता है—क्योंकि वह अदृश्य है दूसरा विरोध
परस्पर परिहार स्थिति रूप होता है, यह विरोध उपलब्ध होने योग्य पदार्थ में ही
रहता है, किन्तु ज्ञाता का व्यापार तो अनुपलम्भ स्वभाववाला—उपलब्ध होने के
स्वभाववाला नहीं—है, अतः इस विरोध के होने की वहा सम्भावना ही नहीं है ?

दूसरी बात यह है कि वस्तु का अनुपलम्भ स्वभाव अभाव प्रमाण के द्वारा
जाना जाता है, तथा अभाव प्रमाण सद्भाव रूप के आवेदक पाचो प्रमाणों की
विनिवृत्तिरूप होता है—अर्थात् पाचो प्रमाणों के निवृत्त होने पर प्रवृत्त होता है और
वह अभाव प्रमाण जाने हुए देखे हुए पदार्थ का ही अभाव सिद्ध करता है, जहां पांचों
प्रमाण प्रयत्न करके थक गये हैं ऐसे विषयों का अभाव सिद्ध करने के लिये अभाव
प्रमाण आ जाता है । कहा भी है—

गत्वा गत्वा तु तान् देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते ।

तदान्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते ॥

—मीमांसाश्लोकवा० अर्था० श्लो० ३८

अर्थ—उन उन स्थानों पर जाकर भी यदि पदार्थ उपलब्ध नहीं होता है—
और अन्य कोई कारण है नहीं कि जिससे पदार्थ प्राप्त न हो तो वहा वह पदार्थ नहीं
है इस तरह से उस पदार्थ का असत्त्व निश्चित किया जाता है, ऐसा मीमांसा श्लोक
वार्तिक में कहा है, पांचों प्रमाणों का अभाव कोई अन्य अभाव प्रमाण से जाना
जायगा कि प्रमेय के अभाव द्वारा जाना जायगा ? यदि अन्य अभाव प्रमाण से जाना

तज्ज्ञानं चान्यस्मादभावप्रमाणात्, प्रमेयाभावाद्वा ? तत्राद्यपक्षेऽनवस्थाप्रसङ्ग — तस्याप्यन्यस्मादभावप्रमाणात्परिज्ञानात् । प्रमेयाभावात्तज्ज्ञाने च—इतरेतराश्रयत्वम् ।

किञ्चासी ज्ञातृव्यापार कारकैर्जन्यः, अजन्यो वा ? यद्यजन्य, तदासावभावरूपः, भावरूपो वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्त, तस्याभावरूपत्वेऽर्थप्रकाशनलक्षणफलजनकत्वविरोधात् । विरोधे वा फलार्थिन कारकान्वेषण व्यर्थम्, तत एवाभिमतफलसिद्धे विश्वमदरिद्र च स्यात् । अथ भावरूपोऽसी; तत्रापि किं नित्य, अनित्यो वा ? न तावन्नित्यः, अन्धादीनामप्यर्थदर्शनप्रसङ्गात् सुप्तादिव्यवहारा-

जायगा ऐसा कहो तो अनवस्था आती है—अर्थात् प्रथम प्रमाण पचक का अभाव सिद्ध करनेके लिये अभाव प्रमाण आया वह प्रमाण पचकके निवृत्त होने पर आया है ऐसा जानने के लिये दूसरा अभाव प्रमाण आवेगा और उस दूसरे के लिये तीसरा आयेगा ऐसे चलते चलते कही ठहरना होगा नहीं, अतः अनवस्था दोष स्पष्ट है । यदि प्रमेय के अभाव से प्रमाण पचक के अभाव का निर्णय किया जायेगा—तो अन्योन्याश्रय दोष होगा अर्थात् प्रमेयाभाव सिद्धि होने पर प्रमाण प्रचकाभाव की सिद्धि और फिर उससे प्रमेयाभाव की सिद्धि होगी ।

अच्छा आप प्रभाकर यह तो कहिये कि ज्ञाता का व्यापार कारको के द्वारा उत्पन्न होता है या नहीं ? यदि नहीं होता तो वह अभाव स्वरूप है या भाव-स्वरूप है ? यदि वह अभाव रूप है तो बड़ा भारी दोष आता है और वह ऐसा है कि ज्ञाता का व्यापार अभावरूप है तो वह अर्थप्रकाशन रूप फल को पैदा नहीं करेगा, यदि अभावरूप होकर भी वह कार्य करेगा तो फलार्थीजन कारको का अन्वेषण क्यों करेगे, अभावरूप व्यापार से अर्थ प्रकाशन होनेसे सारा जगत् धनी हो जायेगा, मतलब—बिना प्रयत्न के किसी भी कार्य की सिद्धि होने से धनादि कार्य भी ऐसे ही अपने आप होने लग जायेगे । ज्ञाता का व्यापार कारक से पैदा न होकर भी वह भावरूप है ऐसा कहो तो प्रश्न होता है कि वह नित्य है कि अनित्य है ? यदि नित्य है ऐसा माना जाय तो अथे आदि जीवो को भी ज्ञान होने लग जायगा, तथा यह सोया है यह मूर्च्छित है, इत्यादि व्यवहार भी समाप्त हो जायेगा, सभी व्यक्ति सर्वज्ञ बन जायेगे, कारको का अन्वेषण व्यर्थ होगा, इतने सारे दोष आ पडेगे, क्योंकि ज्ञाता का व्यापार तो नित्य है इसलिये । तथा प्रत्येक को प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान भी प्रत्येक अवस्था में होगा ही होगा ।

भावः सर्वसर्वज्ञताप्रसङ्गः कारकान्वेषणवैयर्थ्यं च स्यात् । अनित्यः; तदयुक्तम्; अर्जन्यस्वभाव-
भावस्यानित्यत्वेन केनचिदप्यनभ्युपगमात् । भवतु वाऽनित्यः; तथाप्यसौ कालान्तरस्थायी, क्षणिको
वा ? न तावत्कालान्तरस्थायी;

“क्षणिका हि सा न कालान्तरमवतिष्ठते” [शाबर भा०] इति वचसो विरोधप्रसङ्गात् ।
कारकान्वेषण चापार्थक्य-तत्काल यावत्तत्फलस्यापि निष्पत्तेः । क्षणिकत्वे, विश्व निखिलार्थप्रति-
भासरहित स्यात् क्षणानन्तर तस्यासत्त्वेनार्थप्रतिभासाभावात् । द्वितीयादिक्षणेऽपि स्वत एवात्मनो
व्यापारान्तरोत्पत्तेर्नायि दोषः; इत्यप्यसङ्गतम्; कारकानायत्तस्य देशकालस्वरूपप्रतिनियमायोगात् ।
किञ्च, अनवरतव्यापाराभ्युपगमे तज्जन्यार्थप्रतिभासस्यापि तथा भावात् तदवस्थः सुप्ताद्यभावदोषानु-
षङ्गः । तन्नाऽजन्योऽसौ ।

भावार्थ—सभी को समान ज्ञान होगा कोई भी पण्डित, मूर्ख इस तरह से
विषम ज्ञान वाले नहीं हो सकेगे । विद्यालयों में सभी विद्यार्थी समान श्रेणी में उत्तीर्ण
होंगे, तथा कोई छद्मस्थ-अल्पज्ञानी नहीं रहेगा, क्योंकि सभी जीवों में ज्ञातृव्यापार
समान रूप से है । अतः आप प्रभाकर ज्ञातृव्यापार नित्य है ऐसा नहीं कह सकते ।।
यदि ज्ञाता का व्यापार अनित्य है ऐसा कहा जावे तो भी ठीक नहीं क्योंकि जो
अजन्य—किसीसे पैदा नहीं होता है वह अनित्य है ऐसा किसी ने भी नहीं माना है,
अच्छा यदि उसे जबर्दस्ती अनित्य भी मान लिया जावे तो भी यह बताओ कि वह
कुछ काल तक रहता है या नहीं ? वह कालान्तर स्थायी हो नहीं सकता, क्योंकि
“क्षणिका हि सा न कालान्तरमवतिष्ठते” ज्ञाता की व्यापार रूप क्रिया क्षणिक है,
द्वितीयादि समय में वह रहती नहीं ऐसा “शाबरभाष्य में” लिखा है, सो कालान्तर
स्थायी मानने पर इस शाबरभाष्य के कथन से विरोध आवेगा—तथा कारको का
अन्वेषण करना भी व्यर्थ हो जायगा—क्योंकि कालान्तर स्थायी उस ज्ञातृव्यापार से
ही पदार्थ के जानने रूप फल की निष्पत्ति होजावेगी, ज्ञाता के व्यापार को क्षणिक
मानने पर सम्पूर्ण विश्व प्रतिभास—(ज्ञान) से रहित हो जावेगा क्योंकि वह ज्ञाता का
व्यापार एकक्षण में ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जावेगा और उसका असत्त्व हो जायगा,
अतः पदार्थ का प्रतिभास नहीं होगा ।

प्रभाकर—दूसरे आदि क्षणों में अपने आपही व्यापारान्तर होते रहते हैं अतः
यह उपरोक्त दोष नहीं आवेगा ।

नापि जन्य , यतोऽसौ क्रियात्मक , अक्रियात्मको वा ? प्रथमपक्षे किं क्रिया परिस्पन्दात्मिका, तद्विपरीता वा ? तत्राद्य पक्षोऽयुक्तः, निश्चलस्यात्मनः परिस्पन्दात्मकक्रियाया अयोगात् । नापि द्वितीय , तथाविधक्रियाया परिस्पन्दाभावरूपतया फलजनकत्वायोगात्, अभावस्य फलजनकत्वविरोधात् । न चासौ परिस्पन्दस्वभावा तद्विपरीता वा-कारकफलान्तरालवर्तिनी प्रमाणात् प्रतीयते । तन्न क्रियात्मको व्यापार । नापि तद्विपरीतः, अक्रियात्मको हि व्यापारो बोधरूपः, अबोधरूपो वा ? बोधरूपत्वे, प्रमातृवत्प्रमाणान्तरगम्यता न स्यात् । अबोधरूपता तु व्यापारस्यायुक्ता, चिद्रूपस्य ज्ञातुरचिद्रूपव्यापारायोगात् । 'जानाति' इति च क्रिया ज्ञातृव्यापारो भवताभिधीयते, स च बोधात्मक एव युक्तः ।

जैन—ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जो कारको के आधीन नहीं तो उसमें देश काल स्वरूप आदिका नियम ही बनता नहीं—तब हमेशा ही ज्ञाता का व्यापार होगा और हमेशा ही अर्थ प्रकाशनरूप कार्य भी होगा, इससे वही निद्रित मूर्च्छित आदि रूप व्यवहार के समाप्त होनेका दोष आयेगा, इसलिये ज्ञाता का व्यापार कारको से अजन्य है यह पक्ष गलत होजाता है ।

ज्ञाता का व्यापार कारको से जन्य है यदि ऐसा पक्ष माना जाय तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि वह जन्य है तो क्या वह क्रियात्मक है या अक्रियात्मक है ? यदि क्रियात्मक है, तो वह क्रिया परिस्पन्दवाली है या अपरिस्पन्दवाली है ? परिस्पन्दवाली क्रिया उसे मान नहीं सकते, क्योंकि निश्चल आत्मा में ऐसी क्रिया होती नहीं है, ऐसा आपने भी माना है । यदि वह अपरिस्पन्दरूप है तो ऐसी क्रियासे परिस्पन्दरूपवाला कार्य हो नहीं सकता, क्योंकि अभाव कोई फल पैदा नहीं करता, दूसरी बात यह है कि ज्ञातृव्यापार रूप क्रिया चाहे परिस्पन्दरूप हो चाहे अपरिस्पन्द रूप हो कारक और फल अर्थात्—प्रमाता और अर्थ प्रकाशन के बीचमें वह किसी भी प्रमाण से प्रतीति में नहीं आती है, इसलिए ज्ञाता के व्यापार को क्रियात्मक नहीं मान सकते, यदि ऐसा कहा जाय कि वह ज्ञातृव्यापार अक्रियात्मक है तो हम पूछते हैं कि वह अक्रियात्मक व्यापार बोधरूप है या अबोधरूप है ? यदि वह बोधरूप है तो प्रमाता की तरह वह दूसरे प्रमाण द्वारा काहे को जाना जायगा वह तो अपने आप से जाना जायगा, ज्ञातृव्यापार अबोध रूप तो बिलकुल होता नहीं क्योंकि ज्ञाता तो चैतन्यरूप है उसका व्यापार अचेतनरूप कैसे होगा, आपने स्वत ही "जानता है" इस प्रकार की

किञ्चासौ धर्मिस्वभावः, धर्मस्वभावो वा ? प्रथमपक्षे-ज्ञातृवन्न प्रमाणान्तरगम्यता । द्वितीयेपि पक्षे-धर्मिणो ज्ञातृर्व्यतिरिक्तो व्यापारः, अव्यतिरिक्तो वा, उभयम्, अनुभय वा ? व्यतिरिक्तत्वे सम्बन्धाभावः । अव्यतिरेके-ज्ञातृव तत्स्वरूपवत् । उभयपक्षे तु विरोधः । अनुभयपक्षोऽप्ययुक्तः; अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणां सकृत् प्रतिषेधयोगात् एकनिषेधेनापरविधानात् ।

किञ्च, व्यापारस्य कारकजन्यत्वोपगमे तज्जनने प्रवर्तमानानि कारकाणि किमपरव्यापारसापेक्षाणि, न वा ? तत्राद्यपक्षे अनवस्था, व्यापारान्तरस्याप्यपरव्यापारान्तरसापेक्षैस्तैर्जननात् । व्यापारनिरपेक्षाणां तज्जनकत्वे-फलजनकत्वमेवास्तु किमदृष्टव्यापारकल्पनाप्रयासेन ? अस्तु वा व्यापारः,

क्रिया को ज्ञातृव्यापार कहा है, अतः वह ज्ञातृव्यापार बोधस्वरूप मानना ही युक्त है ।

प्रभाकर अब यह बतावे कि वह व्यापार धर्मिस्वभावरूप है कि धर्मस्वभावरूप है ? यदि वह धर्मिस्वभावरूप है तो ज्ञाता और उसका व्यापार एक रूप ही हो गये फिर ज्ञाता की तरह उसके व्यापार को जो भिन्न प्रमाण से वह जाना जाता है ऐसी बात क्यों कहते हो, द्वितीयपक्ष को लेकर यदि उसे धर्मस्वभाव रूप माना जाय तो हम पूछते हैं कि वह व्यापार ज्ञाता से भिन्न है, या अभिन्न है, या उभयरूप है, अथवा कि अनुभय रूप है ? यदि वह ज्ञाता से भिन्न है तो ज्ञाता और व्यापार का संबन्ध नहीं रहेगा, अभिन्न है तो व्यापार ज्ञातारूप ही हो जायगा जैसा कि ज्ञाता का निजस्वरूप होता है, यदि उभयरूप है अर्थात् अभिन्न और भिन्न दोनों रूप वह है ऐसा माना जाय तो विरोध होता है, अनुभयपक्ष तो बिलकुल बनता ही नहीं है क्योंकि जो एक दूसरे के व्यवच्छेदरूप से रहते हैं उनका एक साथ सभी का प्रतिषेध नहीं किया जाता, उनमें एक का निषेध होने पर तो दूसरे की विधि अवश्य ही जाती है । क्योंकि एक का निषेध ही दूसरे की विधि है ॥ तथा ज्ञाता के व्यापार को कारको के द्वारा उत्पन्न किया जाता है ऐसा माना जाये तो यह बताईये कि ज्ञाता के व्यापार को उत्पन्न करने के लिये जो कारक प्रयुक्त हुए हैं वे अन्य व्यापार की अपेक्षा रखते हैं या नहीं ? यदि रखते हैं तो अनवस्था दोष आता है, क्योंकि व्यापार के लिये अन्यव्यापार और अन्य व्यापार के लिये अन्यव्यापार की अपेक्षा रहेगी इस प्रकार मानना पड़ेगा । यदि विना अन्यव्यापार के कारक प्रवृत्त होते हुए माने जाये तो वे कारक ही अर्थ प्रकाशन रूप फल को उत्पन्न कर देगे, काहे को अदृष्ट व्यापार की कल्पना करते बैठना ? अच्छा

तथाप्यसौ प्रकृतकार्ये व्यापारान्तरसापेक्ष, निरपेक्षो वा ? न तावत्सापेक्ष, अपरापरव्यापारान्तरा-
पेक्षायामेवोपक्षीणशक्तिकत्वेन प्रकृतकार्यजनकत्वाभावप्रसङ्गात् । व्यापारान्तरनिरपेक्षस्य तज्जनकत्वे
कारकाणामपि तथा तदस्तु विशेषाभावात् । अथैव पर्यनुयोग सर्वभावस्वभावव्यावर्तक, तथाहि-
वह्नेर्दाहकस्वभावत्वे गगनस्यापि तत्स्यात् इतरथा वह्नेरपि न स्यात्, तदसमीक्षिताभिधानम्,
प्रत्यक्षसिद्धत्वेनात्र पर्यनुयोगस्थानवकाशात्, व्यापारस्य तु प्रत्यक्षसिद्धत्वाभावान्न तथास्वभावबलम्बन
युक्तम् ।

अर्थप्राकट्य व्यापारमन्तरेणानुपपद्यमान त कल्पयतीत्यर्थापपत्तितस्तत्सिद्धिरित्यपि फलु-

ज्ञातृव्यापार मान भी लिया जावे, तो भी वह ज्ञातृव्यापार अपना कार्य जो अर्थ प्रका-
शन है उसमे व्यापारान्तर की अपेक्षा रखता है या नहीं ? यदि वह दूसरे व्यापार की
अपेक्षा रखता है ऐसा माना जाय तो उस ज्ञातृव्यापार की दूसरे दूसरे व्यापार की
अपेक्षा रखने मे ही शक्ति समाप्त हो जायगी फिर उसके द्वारा जो अर्थ प्रकाशनरूप
कार्य होता है वह कभी नहीं हो सकेगा यदि ज्ञातृव्यापार अर्थ प्रकाशनरूप अपने कार्य
मे व्यापारान्तर की अपेक्षा नहीं रखता ऐसा माना जाय तो कारक भी व्यापार की
तरह अर्थप्रकाशनरूप कार्य करने लग जावेगे कोई विशेषता नहीं रहेगी ।

प्रभाकर—जैव की यह प्रश्नमाला सारी ही गलत है, क्योंकि ऐसे कुतर्क
करोगे तो सारे ही पदार्थ नि.स्वभाववाले हो जावेगे । फिर तो ऐसा भी प्रश्न होगा कि
अग्नि मे जलाने का स्वभाव है तो आकाश मे भी वह होना चाहिये, यदि आकाश मे
वह नहीं है तो अग्नि मे भी वह मत होओ ?

जैन—यह विना सोचे तुमने कहा—देखो जो प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है उसमे
प्रश्न नहीं उठा करता है, किन्तु आपका ज्ञातृव्यापार तो ऐसा है नहीं—अर्थात् प्रत्यक्ष
है नहीं, अत उसमें व्यापारान्तर निरपेक्ष होकर कार्य करने का स्वभाव सिद्ध नहीं
होता है, इसप्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणों से ज्ञाता का व्यापार सिद्ध
नहीं होता ॥

प्रभाकर—हम तृतीय विकल्प को आश्रित करके ऐसा कहेंगे कि अर्थप्रकाशन
ज्ञाता के व्यापार के विना नहीं होता सो इस अर्थपत्ति से वह सिद्ध होगा ।

जैन—सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह अर्थप्रकटता व्यापार से
भिन्न है कि अभिन्न है ? यदि वह उससे अभिन्न है अर्थात् व्यापार और अर्थप्रकटता

प्रायम्; अर्थप्राकट्य हि ततो भिन्नम्, अभिन्न वा ? यद्यभिन्नम्; तदाऽर्थ एवेति यावदर्थं तत्सद्भावात्सुप्ताद्यभावः । भेदे-सम्बन्धासिद्धिरनुपकारात् । उपकारेऽनवस्था । किञ्च, एतदन्यथानुपपन्नत्वाननिश्चितं त कल्पयति, निश्चित वा ? न तावदनिश्चितम्, अतिप्रसङ्गात्-तथाभूत हि तद्यथा त कल्पयति तथा येन विनाप्युपपद्यते तदपि किं न कल्पयत्यविशेषात् ? निश्चित चेत्, क्व तस्यान्यथानुपपन्नत्वनिश्चय -दृष्टान्ते, साध्यधर्मिणि वा ? दृष्टान्ते चेत्, लिङ्गम्यापि तत्र साध्यनियतत्वनिश्चयोऽस्तीत्यनुमानमेवार्थापत्तिरिति प्रमाणसख्याव्याघातः । साध्यधर्मिण्यपि कुतः प्रमाणात्तस्य तन्निश्चयः ?

एकरूप है तब तो अर्थ हमेशा ही बना रहता है इससे उसकी सदा प्रकटता होती रहने से सुप्तादि व्यवहार ही समाप्त हो जायगा । यदि व्यापार से अर्थप्रकटता भिन्न है तो ऐसी स्थिति में इनमें सबध न होने से कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि इससे उसका कुछ उपकार तो होगा नहीं, यदि कुछ उपकार होगा भी तो अनवस्था आती है, अर्थात् उपकार का उपकार करने में सम्बन्ध नहीं जाना जाता है । अतः फिर दूसरे उपकार की, फिर तीसरे उपकार की अपेक्षा आती जावेगी, तथा हम जैनो का एक यह प्रश्न है कि वह अर्थप्राकट्य अन्यथानुपपत्तिरूप से निश्चित होकर उस ज्ञातृव्यापार का निर्णय कराता है-सद्भाव बनाता है, या अन्यथानुपपत्तिरूप से अनिश्चित होकर उसका निर्णय कराता है-सद्भाव बनाता है अर्थात् ज्ञाता के व्यापार बिना अर्थकी प्रकटता नहीं होती ऐसा निश्चित होकर वह ज्ञातृव्यापार की मान्यता कराता है अथवा यो ही ? यदि यो ही-विना अन्यथानुपपन्नत्व के निश्चय के-उसकी कल्पना कराता है तो अतिप्रसंग होगा, ज्ञाता के व्यापार के साथ अर्थ प्राकट्य की अन्यथानुपपत्ति निश्चित नहीं होने पर भी जैसे वह अर्थप्राकट्य व्यापार को बंताता है-उसका सद्भाव ख्यापित करता है-उसी प्रकार वह जिसके बिना उत्पन्न होता है ऐसे फालतू स्तम्भ कुंभादि पदार्थ भी उस व्यापार को बतलाने वाले हो जावे, क्योंकि जैसे अर्थ प्राकट्य का ज्ञातृ व्यापार से सबध नहीं है वैसे ही स्तम्भादिक के साथ भी व्यापार का सबध नहीं है-सो यह बड़ा भारी दोष आवेगा, यदि ऐसा कहा जाय कि ज्ञाता के व्यापार के साथ अर्थ प्राकट्य की अन्यथानुपपत्ति निश्चित है तो हम पूछते हैं कि अर्थ प्राकट्य में अन्यथानुपपन्नत्व का निश्चय कहां पर हुआ-अर्थात् साध्य के अभाव में-(ज्ञातृ व्यापार के अभाव में) अर्थ प्राकट्य अनुपपन्न है इस प्रकार के अन्यथानुपपन्नत्व का निश्चय आपने कहा पर किया है ? क्या दृष्टान्त में किया है या साध्यधर्मों में किया है ? यदि ज्ञाता का व्यापार और अर्थप्राकट्य इनकी अन्यथानुपपत्ति का निश्चय दृष्टान्त में किया है तो वही पर हेतु

विपक्षेऽनुपलम्भाच्चेत्; न, तस्य सर्वात्मसम्बन्धिनोऽसिद्धान्तकान्तिकत्वादित्युक्तम् । ततः प्रमाणतोऽचेतनस्वभावज्ञातृव्यापारस्याप्रतीतेः कथमर्थतथात्वप्रकाशकोऽसौ यतः प्रमाण स्यात् ॥

ज्ञानस्वभावस्य ज्ञातृव्यापारस्यार्थतथात्वप्रकाशकतया प्रमाणात्ताभ्युपगमात् भट्टस्यानन्तरोक्ता शेषदोषानुषङ्गः; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, सर्वथा परोक्षज्ञानस्वभावस्यास्यासत्त्वेन प्रतिपादयिष्य-

अपने साध्यके साथ अविनाभाव संबन्ध वाला है ऐसा निश्चय हो ही जायगा, इस तरह निश्चय होने से तो वह अनुमान ही हुआ अर्थापत्ति कहां रही, अर्थात् अनुमान ही अर्थापत्ति रूप हो गया अतः आपकी मान्य प्रमाणसंख्या का व्याघात हो जाता है,

भावार्थ—प्रभाकर ने सद्भाव ग्राहक पांच प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमा और अर्थापत्ति, अतः यहाँ पर अनुमान और अर्थापत्ति को एक रूप ही मानने पर प्रमाण संख्या का व्याघात हो जाता है ।

दूसरा पक्ष—ज्ञाता का व्यापार और अर्थ प्राक्कट्य इनकी अन्यथानुपपत्ति का निश्चय साध्य धर्मों में किया है, ऐसा माना जाय तो ऐसा निश्चय कौन से प्रमाण से किया है, यदि कहो कि विपक्ष में अनुपलम्भ से किया है अर्थात् स्तम्भादि में व्यापार का अभाव होने से अर्थ की प्रकटता का अनुपलम्भ है सो ऐसा भी नहीं कह सकते—क्योंकि विपक्ष में अनुपलम्भ किसको है ? सभी को या सिर्फ तुम्हें ही ? सभी को ऐसा अनुपलम्भ हो नहीं सकता, यदि तुम्हें अकेले को ऐसा अनुपलम्भ है तो भी किसी को उपलम्भ होता ही है, अतः हेतु अनैकान्तिक होगा, इसलिये किसी भी प्रमाण के द्वारा अचेतन रूप ज्ञातृ व्यापार है ऐसा जाना नहीं जाता है, फिर उससे अर्थ तथा स्व का प्रकाशनरूप कार्य कैसे होगा जिससे कि वह प्रमाण माना जाय ।

प्रभाकर—हम ज्ञातृव्यापार को ज्ञान स्वभाव वाला मानकर उससे अर्थ प्रकाशन होता है ऐसा मान लेवे तब तो हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं आता ।

जैन—ऐसा कथन भी बिना विचारे किया जा रहा है, क्योंकि आपने ज्ञान को सर्वथा परोक्ष माना है, ऐसे ज्ञान का हम आगे निरसन करने वाले हैं । कोई भी ज्ञान हो, वह स्व पर को जानने वाला होता है, यह बात सिद्ध हो चुकी है, अब विशेष कथन से बस ।

विशेषार्थ—प्रभाकर भट्ट ज्ञाता के व्यापार को प्रमाण मानते हैं । ज्ञाता अर्थात् जानने वाला जो आत्मा उस आत्मा का जो व्यापार याने प्रवृत्ति है वही

माणात्वात् । सकलज्ञानानां स्वपरव्यवसायात्मकत्वेन व्यवस्थिते इत्यलं प्रपञ्चेन ।

प्रमाण है, इससे बुद्धि जानने योग्य विषयो में—पदार्थों में—प्रवृत्त होती है, मतलब—जब बुद्धि विषयो की तरफ सन्मुख होती है वह प्रमाण है, तथा वह विषयोन्मुख बुद्धि ही करण है । जब इस प्रकार का व्यापार आत्मा में नहीं होता तब जाननारूप कार्य भी नहीं होता, आत्मा और कर्मरूप जो पदार्थ है इनका—इन दोनोंका—संबंध है जो कि मानस प्रत्यक्ष के द्वारा जाना जाता है, ऐसा संबंध ज्ञान को पैदा कर देता है, इसलिये ज्ञाता का व्यापार प्रमाणभूत स्वीकार किया गया है । इस प्रकार के प्रभाकर मान्य प्रमाण के लक्षण का जब हम जैन विचार करते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा का जो पदार्थों को जानने के लिये पदार्थोंकी तरफ झुकाव होता है जिसे हम जैन सामान्यावलोकन या दर्शन कहते हैं, उस दर्शन को ही ये अन्यमती प्रमाण स्वरूप मान बैठे हैं क्या ?

वास्तविक देखा जाय तो इन सब मतान्तरों में मिथ्यात्व के कारण ऐसी विपरीतता हो गई है कि जिससे ये लोग प्रमाण ही क्या अन्य किसी भी वस्तु का वास्तविक स्वरूप जानते नहीं हैं । इस प्रकार के अप्रमाणभूत ज्ञातृव्यापार का आचार्य ने विविध प्रकार से यह खंडन किया है ।

ज्ञातृव्यापार के खंडन का सारांश

प्रभाकर भट्ट की मान्यता है कि पदार्थ को जैसे का तैसा जानने रूप जो ज्ञाता का व्यापार है वही प्रमाण है, किन्तु उनकी यह मान्यता गलत है, क्योंकि वह व्यापार अज्ञान रूप है, तथा उसे जानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है, यदि प्रत्यक्ष जानेगा तो कौनसा प्रत्यक्ष जानेगा—स्वसवेदन या बाह्येन्द्रियज, या कि मन प्रत्यक्ष ? इन तीनों प्रत्यक्षों में से स्वसवेदन प्रत्यक्ष अज्ञानरूप उस ज्ञातृव्यापार में कैसे प्रवृत्ति करेगा, अर्थात् नहीं करेगा, इन्द्रिया वेचारी अपने संबंधित विषय में ही दौड़ती है तथा ज्ञाता के व्यापार के साथ उन इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध भी नहीं है । मानस प्रत्यक्ष ज्ञान, ज्ञाता के व्यापार को जानता है ऐसा आप मानते नहीं हो, अनुमान ज्ञान व्यापार को कैसे जाने ? क्योंकि वह तो साध्य साधन के अविनाभावरूप संबध को जानने के बाद होगा, किन्तु यहाँ जो ज्ञाता का व्यापार साध्य है और अर्थ तथा-

त्व प्रकाशन हेतु है। इनका आपस में अविनाभाव है कि नहीं ऐसा हम जान नहीं सकते क्योंकि ज्ञाता का व्यापार अदृश्य है। अनुमान से ज्ञाता का व्यापार जानना और उसका अन्वय जानने के लिये फिर अनुमान लाना ऐसे तरीके से अनवस्था एव अन्योन्याश्रय दोष आते हैं। अनुपलम्भ हेतु से सिद्ध करो तो वह बनता ही नहीं है, क्योंकि दृश्य-देखने योग्य पदार्थ का अभाव सिद्ध कर सकते हैं, जो स्वयं ही अदृश्य है दिखते ही नहीं, उनका क्या तो अभाव और क्या सद्भाव, अभाव प्रमाण ज्ञातृ व्यापार का ग्राहक तब हो जब कि कही पर वह उपलब्ध हो, जैसे कि घर को पहिले कही देखा और पुन वह उस स्थान पर नहीं दिखा तब उसका अभाव सिद्ध करते हैं, अच्छा—यह ज्ञातृव्यापार किसी कारक (कारण) से उत्पन्न होता है या नहीं, सो वहा पर भी बड़ी भारी प्रश्न माला खड़ी होती है—वह क्या सद्भाव रूप है या अभाव रूप है ? नित्य है या अनित्य है ? यदि सद्भावरूप नित्य व्यापार है तो हर एक व्यक्ति को हर समय हर एक पदार्थ का ज्ञान होने से सभी सर्वज्ञ बन जावेगे, फिर जगत में यह अधा है यह सोया है यह मूर्च्छित हुआ है इत्यादि जो व्यवहार होता है वह सब समाप्त हो जावेगा, ज्ञाता का व्यापार यदि अनित्य है तो उससे कोई कार्य होगा नहीं अर्थात् ज्ञातृव्यापार क्षणिक है तो उससे अर्थ प्रकाशन कैसे होगा, दूसरे समय व्यापारान्तर आता है तो फिर वही अनवस्था आवेगी, तथा ज्ञातृव्यापार यदि कारक से उत्पन्न होगा तो वे कारक क्या अन्य व्यापार की अपेक्षा रखते हैं या नहीं ? यदि रखते हैं तो अनवस्था तैयार है और यदि नहीं रखते हैं तो वे कारक ही स्वतः अर्थ प्रकाशन कर लेंगे, क्योंकि जैसे उन्हें व्यापार को उत्पन्न करने में किसी की अपेक्षा नहीं रही है वैसे ही अर्थ प्रकाशन करने में—अर्थ प्रकाशन को पैदा करने में भी ज्ञातृ व्यापार की उन्हें अपेक्षा नहीं रहेगी, अर्थात्पत्ति से ज्ञातृ व्यापार की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि अनुमान की तरह वहाँ अन्यथानुपपद्यमानत्व चाहिये।

इतना कहने पर भी यदि भाट्ट यो कहे कि अजी हम तो ज्ञातृ व्यापार को ज्ञान स्वरूप मानते हैं, बस अब तो वह प्रमाण ही हो जायगा, सो ऐसी बात भी नहीं बनती, क्योंकि आप लोगो ने ज्ञान को अत्यन्त परोक्ष माना है, और ऐसा ज्ञान तो रवपुष्प के समान असत् है, इस प्रकार ज्ञातृ व्यापार—किसी भी तरीके से प्रमाण रूप सिद्ध होता नहीं है।

*** ज्ञातृव्यापार के खंडन का सारांश समाप्त ***

प्राप्तिपरिहारविचारः

‘तन्नाज्ञान प्रमाणमन्यत्रोपचारात्’ इत्यभिप्रायवान् प्रमाणस्य ज्ञानविशेषणत्व समर्थयमान प्राह—

हिताऽहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥ २ ॥

हितं सुखं तन्साधनं च, तद्विपरीतमहितम्, तयोः प्राप्तिपरिहारौ । प्राप्तिं खलूपादेयभूतार्थ-
क्रियाप्रसाधकार्यप्रदर्शकत्वम् । अर्थक्रियार्थी हि पुरुषस्तन्निष्पादनसमर्थं प्राप्तुकामस्तत्प्रदर्शकमेव
प्रमाणमन्वेषत इत्यस्य प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम् । न हि तेन प्रदर्शितेऽर्थे प्राप्त्यभावः । न च क्षणिकस्य
ज्ञानस्यार्थप्राप्तिकालं यावदवस्थानाभावात्कथं प्रापकतेति वाच्यम् ? प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण तस्यास्तत्रा-

इस प्रकार अज्ञानरूप वस्तु प्रमाण नहीं होती है यह सिद्ध हुआ, उपचार से चाहे जिसे प्रमाण कह लो, अब माणिक्यनदी आचार्य इसी अभिप्राय को मन में रखते हुए प्रमाण के ज्ञान विशेषण का अग्रिम सूत्र द्वारा समर्थन करते हैं—

सूत्र—हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥ २ ॥

हित की प्राप्ति और अहित के परिहार कराने में प्रमाण समर्थ है अतः वह ज्ञान ही होना चाहिये ।

सुख और सुख के साधनों को हित कहते हैं, दुःख और दुःख के साधनों को अहित कहते हैं, हित की प्राप्ति और अहित का परिहार प्रमाण के द्वारा होता है, उपादेयभूत स्नानपानादि जो क्रियाएँ हैं उन क्रियाओं के योग्य पदार्थों का ज्ञान कराना प्राप्ति कहलाती है । अर्थ क्रिया को चाहने वाले व्यक्ति अपना कार्य जिससे हो ऐसे समर्थ पदार्थ को प्राप्त करना चाहते हैं ऐसे पदार्थ का ज्ञान जिससे हो उस प्रमाण को वे अर्थ क्रियार्थी ढूँढते हैं, इसलिये प्रमाण का जो अर्थ को बतलाना है उसी को यहाँ प्राप्तिपना— (प्रापकपना) माना है, प्रमाण के द्वारा बतलाये गये पदार्थों

सम्भवात् । न चान्यस्य ज्ञानान्तरस्यार्थप्राप्तौ सन्निकृष्टत्वात्तदेव प्रापकमित्याशङ्कनीयम्; यतो यद्यप्यनेकस्माज्ज्ञानक्षणात्प्रवृत्तावर्थप्राप्तिस्तथापि पर्यालोच्यमानमर्थप्रदर्शकत्वमेव ज्ञानस्य प्रापकत्वम्-नान्यत् । तच्च प्रथमत एव ज्ञानक्षणे सम्पन्नमिति नोत्तरोत्तरज्ञानाना तदुपयोगि (त्वम्), तद्विशेषाश-प्रदर्शकत्वेन तु तत् तेषामुपपन्नमेव । प्रवृत्तिमूला त्पादेयार्थप्राप्तिर्न प्रमाणाधीना-तस्याः पुरुषेच्छा-धीनप्रवृत्तिप्रभवत्वात् । न च प्रवृत्त्यभावे प्रमाणस्यार्थप्रदर्शकत्वलक्षणव्यापाराभावो वाच्या, प्रती-तिविरोधात् । न खलु चन्द्रार्कादिविषय प्रत्यक्षमप्रवर्तकत्वान्न तत्प्रदर्शकमिति लोके प्रतीतिः । कथ

में प्राप्ति का अभाव तो होता नहीं । बौद्ध के यहा माना गया क्षणिक ज्ञान अर्थ की प्राप्ति काल तक ठहरता तो है नहीं फिर वह प्रापक कैसे बने सो इस प्रकार की शंका नहीं करना, क्योंकि प्रमाण मे तो प्रदर्शक रूप ही प्राप्ति है और कोई प्राप्ति यहा सम्भव नहीं है । अर्थ प्राप्ति के समय दूसरा ज्ञान आता ही है, उस समीपवर्ती ज्ञान को अर्थप्रापक माना जाय सो ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि यद्यपि अनेक ज्ञानो के प्रवृत्त होने पर ही अर्थ की प्राप्ति होती है तो भी विचार मे प्राप्त जो पदार्थ है उसकी प्रदर्शकता ही ज्ञान की प्रापकता है अन्य नहीं, ऐसी प्रापकता तो ज्ञान के क्षण में ही हो जाती है, उसके लिये आगे २ के ज्ञान उपयोगी नहीं हैं । हा, उसी पदार्थ में विशेष २ अशो का प्रदर्शकपना आगे के ज्ञान के द्वारा हो जाय तो इसमे कोई बाधा नहीं है । पदार्थ मे प्रवृत्त होने रूप प्राप्ति तो ज्ञान के आधीन नहीं है वह तो पुरुष की इच्छा के आधीन है, यदि ऐसा कहा जाय कि प्रवृत्ति रूप प्राप्ति प्रमाण में न होने के कारण उसमें अर्थ प्रदर्शन रूप प्राप्ति भी नहीं हो सकेगी सो ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि ऐसा मानने मे विरोध आता है, देखो—चन्द्र सूर्य आदि का प्रत्यक्ष जो ज्ञान होता है वह उनमें प्रवृत्ति कराने वाला नहीं होता है अर्थात् उससे इन चन्द्रादि पदार्थों का ग्रहण तो होता नहीं है परन्तु फिर भी वह उनका प्रदर्शक तो होता ही है—और इतने ही मात्र से लोक मे वह प्रमाण माना जाता है, मतलब—[प्रमाण पदार्थों की हेयोपादेयता मात्र बतलाता है न कि वह उसमे प्रवृत्ति कराता है, या निवृत्ति कराता है, प्रवृत्ति आदि कराना तो उस ज्ञाता व्यक्ति की इच्छा के आधीन है, यदि प्रमाण पदार्थों मे प्रवृत्ति या उनसे निवृत्ति कराता होता तो जगत् मे अन्याय, विषभक्षण, अनर्गल प्रवृत्ति एव चोरी आदि कुछ भी अनर्थ होते ही नहीं, क्योंकि इनमे हानि है ऐसा ज्ञान तो हो चुका होता है, इसलिये वस्तु मे प्रवृत्ति कराना या उससे निवृत्ति कराना यह प्रमाण का कार्य नहीं है, वह तो ज्ञाता व्यक्ति की इच्छा

चैवंवादिनः सुगतज्ञानं प्रमाणं स्यात् ? न हि हेयोपादेयतत्त्वज्ञानं क्वचित् तस्य प्रवर्तकं कृतार्थत्वात्, अन्यथा कृतार्थता न स्यादितरजनवत् । सुखादिस्वसवेदनं वा; न हि क्वचित्तत्पुरुषः प्रवर्तयति फलात्मकत्वात्, अन्यथा प्रवृत्त्यनवस्था । व्याप्तिज्ञानं वा न खलु स्वविषयेऽर्थिनः तत्प्रवर्तयति अनुमानवैफल्यप्रसङ्गात् । ततः प्रवृत्त्यभावेऽपि प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम् ।

ननु प्रवृत्तेर्विषयो भावी, वर्तमानो वार्थ ? भावी चेत्; नासी प्रत्यक्षेण प्रवर्तयितुं शक्यस्तत्र तस्याप्रवृत्तेः । वर्तमानश्चेत्, न, अर्थिनोऽत्राऽप्रवृत्तेः, न हि कश्चिदनुभूयमान एव प्रवर्ततेऽनवस्थापत्तेः, इत्यसाम्प्रतम्, अर्थक्रियासमर्थार्थस्य अर्थक्रियायाश्च प्रवृत्तिविषयत्वात् । तत्रार्थक्रियासमर्थार्थोऽध्यक्षेण प्रदर्शयितुं शक्यः । न ह्यर्थक्रियावत्सोप्यनागतः । न चाध्याध्यक्षत्वे प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गः, अर्थक्रियार्थ-

पर निर्भर है] दूसरी बात यह है कि इस प्रकार से प्रमाण में प्रापकता मानी जावे तो बौद्ध के सुगतज्ञान में प्रमाणता ही नहीं रहेगी, क्योंकि सुगत का हेयोपादेयरूप तत्त्वज्ञान किसी विषय में सुगत की प्रवृत्ति तो कराता नहीं है, क्योंकि वे तो कृतार्थ हो चुके हैं, अन्यथा इतर जन की तरह— (साधारण मानव की तरह) उनमें कृतार्थता नहीं रहेगी, इसी तरह सुखादि सवेदन में भी प्रमाणता नहीं आ सकेगी, क्योंकि वे भी किसी भी विषय में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं कराते हैं, वे तो फलरूप हैं, यदि ये प्रवृत्ति कराने लग जावेगे तो ये कारणरूप मानना पड़ेगे और फिर इनका फल मानना पड़ेगा सो इस प्रकार से अनवस्था आवेगी, सुखसवेदन की तरह व्याप्ति ज्ञान भी प्रवृत्ति नहीं कराता, क्योंकि वह यदि अपने विषय में प्रवृत्ति करावे तो अनुष्ठान काहे को मानना, क्योंकि साध्य साधन का ज्ञान तो व्याप्ति से ही संपन्न हो गया, इसलिये यही निर्णय मानना चाहिये कि ज्ञान में प्रवृत्तिरूप प्राप्ति कराने का अभाव होने पर भी मात्र उस प्रवृत्ति के योग्य पदार्थ की प्रदर्शकता है, सो यही उसकी प्रमाणता है ।

शंका—प्रवृत्ति का विषय रूप पदार्थ भावी है या वर्तमान ? अर्थात् प्रवृत्ति का विषय भावी पदार्थ होता है या वर्तमान पदार्थ होता है ? भावी कहो तो वह प्रत्यक्ष से प्रवृत्त होने योग्य नहीं है, क्योंकि भावी पदार्थ में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती है । वर्तमान कहो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि अर्थ क्रिया के इच्छुक अनुभूयमान में ही प्रवृत्ति नहीं करता है, यदि ऐसा माना जाय तो व्यवस्था ही नहीं बनेगी, अर्थात् अर्थ प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति हुई थी और वह अर्थ प्राप्ति तो प्रत्यक्ष ही हो गई, फिर क्यों प्रवृत्ति की जाय ?

त्वात्तस्याः । कार्यादृष्टी कथम् 'एतत्तत्र समर्थम्' इत्यवगमो यत् प्रवृत्तिः स्यादिति चेत्, आस्ता तावदेतत्-कार्यकारणभावविचारप्रस्तावे विस्तरेणाभिधानात् । प्रतीयते च 'इदमभिमतार्थक्रियाकारि न त्विदम्' इत्यर्थमात्रप्रतिपत्तौ प्रवृत्ति पशूनामपि । तस्मादर्थक्रियासमर्थार्थप्रदर्शकत्वमेव प्रमाणस्य हितप्रापणम् । अहितपरिहारोपि 'अनभिप्रेनप्रयोजनप्रसाधनमेतत्' इत्युपदर्शनमेव । तयोः समर्थमव्यवधानेनार्थतथाभावप्रकाशक हि यस्मात्प्रमाण ततो ज्ञानमेव तत् । न चाज्ञानस्यैवविध तत्प्राप्तिपरिहारयोः सामर्थ्यं ज्ञानकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।

समाधान—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि अर्थ क्रिया में समर्थ जो पदार्थ और अर्थ क्रिया ये दोनों प्रवृत्ति का विषय हुआ करते हैं । उनमें यह पदार्थ अर्थक्रिया में समर्थ है यह बात प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा दिखाई जा सकती है, अर्थ क्रिया के समान वह पदार्थ तो अनागत नहीं है, अर्थात् जैसे जल देखा तो वह स्नान पान आदि के योग्य है यह ज्ञान तो हो ही जाता है, हा, उसकी वह स्नानादिक क्रिया तो पीछे ही होगी और इस तरह अर्थ में क्रिया का बोध हो जाने से फिर प्रवृत्ति का अभाव होगा सो ऐसी भी बात नहीं है, क्योंकि अर्थ क्रिया करने के लिये ही तो प्रवृत्ति होती है ।

शंका—उस विवक्षित जलादि पदार्थों की क्रिया देखे बिना यह कैसे जाना जावे कि यह पदार्थ इस कार्य को करता है कि जिससे उसमें प्रवृत्ति हो ?

समाधान—यह बात पीछे बताई जावेगी, क्योंकि कार्य कारण भाव का वर्णन करते समय इसे विस्तार से हम कहने वाले हैं । देखो— यह बात है कि किसी भी पदार्थ को देखते ही यह अपने इष्ट कार्य का करने वाला है और यह नहीं इस प्रकार के अर्थ को जानने में प्रवृत्ति तो पशुओं की भी होती है । इसलिये अर्थ क्रिया में समर्थ ऐसे पदार्थ को बतलाना यही प्रमाण की हित प्रापकता है । अहित परिहार भी अनिष्टकारी पदार्थ का दिखा देना रूप ही है । इस प्रकार प्राप्ति और परिहार में समर्थ बिना व्यवधान के पदार्थ का जैसा का तैसा प्रकाशित होना जिसके द्वारा होवे वह प्रमाण है, अतः वह ज्ञान ही है । अज्ञान रूप सन्निकर्ष आदि इस प्रकार के प्राप्ति परिहार कराने में समर्थ नहीं है, यदि वे ऐसे होते तो जगत में ज्ञान की कल्पना ही नहीं होती ।

प्रमाण के प्राप्ति-परिहार का सारांश

प्रमाण ज्ञानरूप होता है, वह हित की प्राप्ति और अहित का परिहार कराता है, माला, चन्दन, वनिता आदि पदार्थ हितरूप माने गये हैं, और शत्रु, कटक,

निर्विकल्पप्रत्यक्ष का पूर्व पक्ष



प्रत्यक्ष प्रमाण या ज्ञान के विषय में विभिन्न मतों में विभिन्न लक्षण पाये जाते हैं, उनमें से यहां पर बौद्ध समत प्रत्यक्ष का कथन किया जाता है, “तत्र प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभ्रान्तम्” ॥४॥ (न्याय बिन्दु टीका पृ० ३२) जो ज्ञान कल्पना और भ्रान्ति से विहीन होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। हम सब जीवों को जो वस्तुओं का साक्षात्कारी ज्ञान होता है वही प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है,

“कल्पनाया अपोढ अपेत कल्पनापोढ, कल्पनास्वभावरहितमित्यर्थ । अभ्रान्तमर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूपेऽविपर्यस्तमुच्यते । अर्थक्रियाक्षमच वस्तुरूप सन्निवेशोपाधिवर्णात्मकम् । तत्र यन्न भ्राम्यति तद् अभ्रान्तम्” (न्याय वि० टीका ३४ पृ०)

कल्पना से जो रहित होता है उसे कल्पनापोढ कहते हैं, अर्थात् कल्पनास्वभाव से रहित होना यही ज्ञानमें कल्पनापोढता है। अर्थक्रिया में समर्थ वस्तु के स्वरूप में जो ज्ञान अभ्रान्त—विपरीतता-से रहित होता है वही ज्ञान की अभ्रान्तता है, वस्तुका स्वरूप अर्थक्रिया समर्थरूप सन्निवेशविशिष्टवर्णात्मक ही होता है, ऐसे उस वस्तु स्वरूप में जो ज्ञान भ्रान्त नहीं होता है वही अभ्रान्त कहा जाता है, कल्पना का लक्षण—“अभिलापससर्गयोग्य प्रतिभासा प्रतीति कल्पना” ॥५॥

—(न्यायविन्दु पृ० ४२)

जिसके द्वारा अर्थ का अभिधान किया जाता है वह अभिलाप कहलाता है, ऐसा वह अभिलाप वाचक-शब्द होता है, एक ज्ञान में वाच्य अर्थ के आकार का वाचक शब्द के आकार के साथ ग्राह्यरूप में मिल जाना इसका नाम ससर्ग है, इस प्रकार जब एक ज्ञान में वाच्य और वाचक दोनों के आकार भासित होने लगते हैं तब वाच्य तथा वाचक संपृक्त हो जाते हैं, जिस प्रतीति में वाच्यार्थ के आकार का आभास वाचक शब्द के ससर्ग के योग्य होता है वह वैसी अर्थात् अभिलापससर्गयोग्य प्रतिभासा कही गई है, मतलब यह हुआ कि जिस ज्ञान में, नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि की कल्पना नहीं है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसमें केवल नील आदि वस्तुओं का भास होता है, वह भास “इद नील” इस रूप से नहीं होता, अपितु नीलवस्तु के

सामने आने पर अर्थात् उसे विषय करने पर उसी के आकार का—नीलाकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, यही प्रत्यक्ष—नील विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान है, और इसी कारण इस ज्ञान को नाम जात्यादिक कल्पना से विहीन होने के कारण निर्विकल्प कहा जाता है, इस ज्ञान के बाद फिर यही विकल्प के द्वारा जाना जाता है कि यह नील का ज्ञान है, इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण के कल्पनापोढ पद का—विशेषण का विवेचन करके अब अभ्रान्त पद का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि “तथा रहित तिमिराशुभ्रमण नौयान संक्षोभाद्यनाहित विभ्रमं ज्ञान प्रत्यक्षम् ॥ ६ ॥ (न्याय बि० पृ० ५१) जो ज्ञान पूर्वोक्त कल्पना से रहित है, तथा जिसमें तिमिर-रतोधी-शीघ्रता से घूमना, नाव से जाना एव बात आदि के प्रकोप के कारण भ्रम उत्पन्न होना ये सब नहीं है, वह प्रत्यक्ष है, इस प्रकार प्रत्यक्ष का लक्षण कल्पनापोढ और अभ्रान्त इन दो विशेषणों से विशिष्ट होता है, जिसमें केवल एक एक ही विशेषण होगा वह प्रत्यक्ष नहीं कहा जावेगा ।

प्रत्यक्ष के सभी भेदों में यह लक्षण व्याप्त होकर रहता है । हम बौद्धों ने उन प्रत्यक्षादि प्रमाणों को स्वसवित्ति स्वरूप भी माना है—जैसा कि कहा गया है —

“अप्रसिद्धोपलम्भस्य नार्थवित्ति प्रसिद्धयति ।

तन्न ग्राह्यस्य संवित्तिर्गाहिकानुभवाद्दते ॥” (तत्त्वसंग्रह)

जिसकी स्वयं उपलब्धि असिद्ध है—अर्थात् जो अर्थज्ञान अपने आपको नहीं जानता है—वह अर्थज्ञान किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिये हम लोगो ने ग्राह्य-अर्थ के ज्ञान को ग्राहक के अनुभव के बिना वह नहीं होता ऐसा माना है ।

इस प्रकार अपने आपका अनुभव करता हुआ भी जो ज्ञान निर्विकल्पक होता है वही प्रत्यक्ष है यह बात सिद्ध हो जाती है, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष चार प्रकार का होता है—

“तच्च चतुर्विध ॥ ७ ॥” (न्या० पृ० ५५)

जैसे—(१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष, (२) मनो विज्ञान प्र० (३) आत्म सवेदव

प्र० और (४) योगिप्रत्यक्ष, यही बात इन सूत्रों द्वारा प्रकट की गई है— “इन्द्रिय-ज्ञानम्” ॥ ८ ॥ (न्याय बि० पृ० ५५)

स्वविषयान्तर विषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तर'प्रत्ययेन जनित तन्मनो-विज्ञानम् ॥ ९ ॥ (पृ० ५६) सर्वचित्त चैत्यानामात्मसवेदन ॥ १० ॥ (पृ० ६२) भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्त योगिज्ञान चेति ॥ ११ ॥ (न्या० बि० पृ० ६५)

इन सूत्रों का अर्थ इस प्रकार से है— इन्द्रियो से जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, (१) इन्द्रिय ज्ञान का जो विषय है उस विषय के अनन्तर होने वाला— अर्थात् जिसका सहकारी इन्द्रिय ज्ञान है उस इन्द्रिय ज्ञानरूप सहकारी कारण द्वारा उत्पन्न होने वाला जो मनोजन्य ज्ञान है वह मानस प्रत्यक्ष है, सर्व प्रथम इन्द्रिय ज्ञान होता है, वह जिस वस्तु से उत्पन्न हुआ है उसका समान जातीय जो द्वितीय क्षण है, उससे तथा इन्द्रिय ज्ञान से जायमान जो ज्ञान है वह मानस प्रत्यक्ष है, इस प्रकार इन्द्रिय ज्ञान का विषय और मानस प्रत्यक्ष का विषय पृथक् पृथक् है, यह द्वितीय प्रत्यक्ष है, समस्त चित्त और चैत्त पदार्थों का आत्म सवेदन स्वसवेदन प्रत्यक्ष है, यह तीसरा प्रत्यक्ष है, वस्तु का ग्राहक चित्त अर्थात् विज्ञान है। ज्ञान की विशेष अवस्था को ग्रहण करने वाले सुख आदि चैत्त कहलाते हैं। मतलब सुख आदिक तो ज्ञान के ही अवस्था विशेष है, उनका सवेदन होना यह तीसरा स्वसवेदन प्रत्यक्ष है, चौथा योगी प्रत्यक्ष है, इसका स्वरूप ऐसा है कि यथार्थवस्तु की भावना जब परम प्रकर्ष को प्राप्त हो जाती है तो उस समय जो योगिजनो को प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है वह योगि प्रत्यक्ष है, भूतार्थ भावना का मतलब है कि सत्यपदार्थ का बार बार चिंतन इस भावना के बल से चित्त में स्थित हुए पदार्थ का जो स्पष्टाकाररूप में झलकना होता है वही भूतार्थ भावना का प्रकर्ष कहा गया है, इस तरह भूतार्थभावना की चरम सीमा से उत्पन्न हुआ योगिज्ञान ही योगिप्रत्यक्ष कहा जाता है, इन चारों प्रत्यक्ष प्रमाणों का इस तरह से लक्षण प्रदर्शित कर अब इनका “तस्य विषय स्व-लक्षणम्” (१२) विषय स्वलक्षण है यह वहा इस सूत्र द्वारा निर्दिष्ट किया गया है, स्वलक्षण का वाच्यार्थ स्पष्ट करने के लिये कहा गया है कि— ‘यस्यार्थस्य सन्निधाना सन्निधानाभ्या ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम्’ ॥ १३ ॥ (पृ० ७४) जिस वस्तु के निकट अथवा दूर होने से ज्ञान के प्रतिभास में स्फुटता या अस्फुटता का भेद होता है वह वस्तु स्वलक्षण है, अर्थात् वस्तु जब दूर देश में होती है तब ज्ञान में उस

वस्तु का आकार अस्पष्ट रहता है— उस वस्तु विषयक ज्ञान अस्पष्टाकार वाला होता है, और जब वही वस्तु निकट देशस्थ हो जाती है तो उस वस्तु को विषय करने वाला ज्ञान स्पष्टाकारता को धारण कर लेता है, इस तरह जिस कारण से ज्ञान में स्फुटता और अस्फुटता— स्पष्टता और अस्पष्टता होती है वही वस्तु स्वलक्षण है, इसे यों भी कह सकते हैं कि वस्तु का जो असाधारण रूप है वही स्वलक्षण है, “तदेव परमार्थं सत्” (न्याय बि० पृ० ७६) जो अपने सन्निधान और असन्निधान से प्रतिभास में भेद कराने वाली वस्तु है वही परमार्थं सत् है, यही अर्थ क्रिया में समर्थ होती है, इस प्रकार से यह निश्चय होता है कि ज्ञान में स्पष्टता और अस्पष्टता को लाने वाली जो वस्तु है वह स्वलक्षण कहलाती है, और वही वस्तु का असाधारण या विशेष रूप कहलाता है, तथा वही वस्तु का सत्य स्वरूप है। यही स्वलक्षण प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है, चूंकि हम बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण मान्य किये हैं, अतः प्रत्यक्ष के विषय की मान्यता का स्पष्टीकरण करके अब उन्ही की मान्यता के अनुसार अनुमान के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण किया जाता है— “अन्यत् सामान्यलक्षणम् १६ (न्याय बि० पृ० ७६, सोऽनुमानस्य विषय” न्या० बि० १७ पृ० ८०) वस्तु के स्वलक्षण या असाधारण रूप से जो अन्य कुछ है वह सामान्य लक्षण है और वह अनुमान का विषय है।

प्रत्यक्ष निर्विकल्प—नाम, जाति, आकार आदि की कल्पना से रहित है इस बात की सिद्धि प्रत्यक्ष से ही होती है क्योंकि ऐसा कहा है कि—

“प्रत्यक्ष कल्पनापोढ प्रत्यक्षेणैव सिद्धयति ।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसश्रयः” ॥

—प्रमाणवार्तिक ३/१२३

संहृत्य सर्वतश्चिन्ता स्तिमितेनान्तरात्मना ।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः ॥

—प्रमाण वा ३/१२४

प्रत्यक्ष प्रमाण कल्पना से रहित है यह तो साक्षात् ही प्रत्येक आत्मा में अनुभव में आ रहा है, इससे विपरीत शब्द, नाम, जाति आदि जिसमें होते हैं वह प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प है, सबसे पहिले तो निर्विकल्प ज्ञान ही होता है, सम्पूर्ण

चिन्ताओं को सब ओर से हटाकर—रोककर अन्तरग में स्थित हो जाने से चक्षु आदि द्वारा जो रूप दिखाई देता है वह प्रथम क्षण का प्रतिभास है, वस ! वही प्रत्यक्ष प्रमाण है, अब यह प्रश्न होता है कि जब इस प्रकार ज्ञान निर्विकल्प है तो हम सब जीवों को वैसा प्रतीत क्यों नहीं होता ? अर्थात् नाम आकार आदि से युक्त सविकल्प ज्ञान ही प्रतीत होता है, निर्विकल्प ज्ञान प्रतीत नहीं होता, तो उसका उत्तर ऐसा है कि—

“मनसो युगपद्वृत्ते सविकल्पाविकल्पयो ।

विमूढ सप्रवृत्तेर्वा (लघुवृत्तेर्वा) तयोरैक्य व्यवस्यति ॥

—प्रमाण वा० ३/१३३

सविकल्प और अविकल्प मन की एक साथ प्रवृत्ति होती है अथवा वह क्रम से होती हुई भी अतिशीघ्रता से होने के कारण उसमें क्रमता प्रतीत नहीं होती है, इसलिये मूढ प्राणी उन निर्विकल्प और विकल्पज्ञानों में एकपना मान लेता है, मतलब यह है कि सर्व प्रथम निर्विकल्पक ज्ञान ही उत्पन्न होता है, वही भ्रान्ति रहित, अविस्वादी, तथा अज्ञात वस्तु का बोध कराने वाला है, किन्तु उसी के साथ अथवा अतिशीघ्र विकल्प पैदा होने के कारण निर्विकल्प प्रत्यक्ष की स्पष्टता विकल्प में प्रतीत होने लगती है, वस्तुतः और पूर्णतः तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमानरूप विकल्प ज्ञान में भी प्रत्यक्ष के समान अविस्वादीपना, निभ्रान्तिपना और अज्ञात का ज्ञापकपना पाया जाता है अतः सम्यग्ज्ञान का लक्षण उसमें घटित होने से अनुमानरूप विकल्प प्रमाण माना गया है अन्य विस्वादीरूप विकल्प प्रमाण नहीं माने गये हैं, क्योंकि विकल्पज्ञान सकेतकालीन वस्तु को ही विषय करता है, पर वह वस्तु वर्तमान में ही नहीं, तथा वह शब्द ससर्गयुक्त है, अवद्यमान का ग्राहक होने से वह अस्पष्ट है, इसलिये विकल्पों को हम अप्रमाण मानते हैं, निर्विकल्प स्पष्ट प्रतिभास वाला है और विकल्प अस्पष्ट प्रतिभास वाले हैं फिर भी हम जैसी को विकल्प ही स्पष्ट प्रतिभास वाला प्रतीत जो होने लगता है उसका कारण ऊपर में बतला ही दिया है । अब प्रश्न होता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण यदि निर्विकल्पक है तो उसके द्वारा व्यवहार की प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ? तो इस प्रश्न का उत्तर तत्त्वसंग्रहकार ने इस प्रकार से दिया है—

“अविकल्पमपि ज्ञान विकल्पोत्पत्तिशक्तिकम् ।

निःशेषव्यवहारांग तद्द्वारेण भवत्यतः ॥१३०६॥

यद्यपि प्रत्यक्षज्ञान स्वयं निर्विकल्प है किन्तु उसमें विकल्प को उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान है अतः वह विकल्पज्ञान को उत्पन्न कर देता है, सो जगत् का सविकल्पकरूप व्यवहार चलता है, इसीलिये निर्विकल्प प्रत्यक्ष से उत्पन्न हुए विकल्प ज्ञान में प्रमाणता मानी गई है, सब विकल्पों में नहीं ।

*** निर्विकल्प प्रत्यक्ष का पूर्व पक्ष समाप्त ***



बौद्धाभिमत-निर्विकल्प प्रमाण का खंडन

ननु साधुक्त प्रमाणस्याज्ञानरूपतापनोदार्थं ज्ञानविशेषणमस्माकमपीष्टत्वात्, तद्वि समर्थ-
यमानैः साहाय्यमनुष्ठितम् । तत्तु किञ्चिन्निर्विकल्पक किञ्चित्सविकल्पकमिति मन्यमानप्रति अशेष-
स्यापि प्रमाणस्याविशेषेण विकल्पात्मकत्वविधानार्थं व्यवसायात्मकत्वविशेषणसमर्थनपर तन्निश्च-
यात्मकमित्याद्याह । यत्प्राक्प्रबन्धेन समर्थित ज्ञानरूप प्रमाणम्—

तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादानुमानवत् ॥ ३ ॥

सशयविपर्ययासान्ध्यवसायात्मको हि समारोप , तद्विरुद्धत्व वस्तुतथाभावग्राहकत्व निश्चयात्म-
कत्वेनानुमाने व्याप्त सुप्रसिद्धम् अन्यत्रापि ज्ञाने तद् दृश्यमान निश्चयात्मकत्व निश्चाययति, समारोप-

बौद्ध—आप जैनो ने प्रमाण का जो ज्ञान विशेषण दिया है वह अज्ञान-
रूपता को हटाने के लिए दिया है यह आपकी बात हम मानते हैं क्योंकि आप
हमारे—“ज्ञान ही प्रमाण है”—इस समर्थन में सहायक बन जाते हैं, परन्तु आपको
इतना और मानना चाहिये कि वह प्रमाण कोई तो निर्विकल्पक होता है और कोई
सविकल्पक होता है ।

जैन—यह मान्यता हमें स्वीकार नहीं है । हम तो हर प्रमाण को विकल्पा-
त्मक ही मानते हैं । इसलिए व्यवसायात्मक रूप प्रमाण का निश्चय कराते हैं— जो
पहले ज्ञानरूप से सिद्ध किया हुआ प्रमाण है वह— “तन्निश्चयात्मक समारोपविरुद्ध-
त्वादानुमानवत्” प्रमाण, पदार्थ का निश्चायक है, समारोपसशयादि का विरोधी होने
से अनुमान की तरह । सशय विपर्यय, अन्ध्यवसाय को समारोप कहते हैं । उसके
विरुद्ध अर्थात् वस्तु जैसी है वैसे ग्रहण करना निश्चायकपना कहलाता है । यह निश्चा-
यकपना अनुमान में है । यह बात तो तुम बौद्ध आदि के यहाँ प्रसिद्ध ही है । अत

विरोधिग्रहणस्य निश्चयस्वरूपत्वात् । प्रमाणत्वाद्वा तत्तदात्मकमनुमानवदेव । परनिरपेक्षतया वस्तुतथाभावप्रकाशकं हि प्रमाणम्, न चाविकल्पकम् तथा-नीलादौ विकल्पस्य क्षणक्षयेऽनुमानस्यापेक्षणात् । ततोऽप्रमाणं तत् वस्तुव्यवस्थायामपेक्षितपरव्यापारत्वात् सन्निकर्षादिवत् । नचेदमनुभूयते-अक्षव्यापारानन्तरं स्वार्थव्यवसायात्मनो नीलादिविकल्पस्यैव वैशद्येनानुभवात् ।

नच विकल्पाविकल्पयोर्युगपद्वृत्तेर्लघुवृत्तेर्वा एकत्वाध्यवसायाद्विकल्पे वैशद्यप्रतीतिः, तद्व्यतिरेकेणापरस्याप्रतीतिः । भेदेन प्रतीती ह्यन्यत्रान्यस्यारोपो युक्तो मित्रे चैत्रवत् । न चाऽस्पष्टाभो विकल्पो निर्विकल्पकं च स्पष्टाभं प्रत्यक्षतः प्रतीतम् । तथाप्यनुभूयमानस्वरूपं वैशद्यं परित्यज्याननुभूयमान-

और सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों में वह निश्चायकपना सिद्ध किया जाता है । समारोप के विरुद्ध रूप से ग्रहण करना यही तो निश्चायकत्व है । प्रमाणत्व हेतु के द्वारा भी उसका निश्चायकपना सिद्ध होगा । अनुमान के समान अर्थात् प्रमाण व्यवसायात्मक होता है सम्यग्ज्ञान होने से, अविसवादी होने से, अथवा निर्णयात्मक होने से इत्यादि हेतुओं के द्वारा भी प्रमाण में व्यवसायात्मकत्व सिद्ध है । किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखते हुए वस्तु को यथार्थ रूप से जानना, यही प्रमाण है । निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण नहीं है क्योंकि निर्विकल्पक के विषय जो नीलादि है उनमें क्षणिकपने को सिद्ध करने के लिये अनुमान की अपेक्षा होती है । अतः अनुमान से सिद्ध किया जाता है कि वह निर्विकल्पक अप्रमाण है क्योंकि वस्तु व्यवस्था के लिए उसे तो दूसरे की अपेक्षा करनी पड़ती है जैसे कि सन्निकर्षादि को ज्ञान की अपेक्षा करनी पड़ती है । दूसरी बात यह है कि यह निर्विकल्पक अनुभव में तो आता नहीं, इन्द्रियों की प्रवृत्ति के बाद अपने और पर के निश्चय रूप नीलादि विकल्प का ही स्पष्ट रूप से अनुभवन होता है ।

बौद्ध—विकल्प और निर्विकल्प एक साथ होते हैं इसलिए, अथवा वे क्रम-क्रम से होकर भी अतिशीघ्र होते हैं इसलिये एक रूप में प्रतीति में आकर अकेले विकल्प में ही स्पष्टता प्रतीत होती है ।

विशेषार्थ—सविकल्पक ज्ञान और निर्विकल्पक ज्ञान दोनों में एक साथ मन की प्रवृत्ति होती है अतः अज्ञानी जन उन दोनों को एक रूप ही मानने लग जाते हैं । कभी-कभी उन सविकल्पक और निर्विकल्पक में अति शीघ्रता से भी मन की प्रवृत्ति

स्वरूप वै (पमवैशद्य') परिकल्पयन् कथं परीक्षको नाम ? अनवस्थाप्रसङ्गात्-ततोप्यपरस्वरूप तदिति परिकल्पनप्रसङ्गात् । युगपद्वृत्तेश्चाभेदाध्यवसाये दीर्घशङ्कुलीभक्षणादी रूपादिज्ञानपञ्चक-स्यापि सहोत्पत्तेरभेदाध्यवसायः किल स्यात् ? भिन्नविषयत्वात्तेषां तदभावे-अत एव स प्रकृतयोरपि न स्यात् क्षणसन्तानविषयत्वेनानयोरप्यस्याविशेषात् । लघुवृत्तेश्चाऽभेदाध्यवसाये-खररदित-

हुआ करती है सो वह भी दोनो ज्ञानों में एकत्व का आरोप करा देती है और इसी के निमित्त से पीछे होने वाले विकल्प में वैशद्य मालूम पडता है जैसे कि शीघ्रता से बोले गये वाक्यो में, अंतिम वाक्य में, ही वैशद्य प्रतीत होता है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि एक मात्र विकल्प को छोड़कर दूसरे की प्रतीति ही नहीं है । जब वे भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीत होते, तब उन दोनो में से एक का दूसरे में आरोप होता जैसे कि मित्र में चैत्र का । विकल्प अस्पष्ट है और निर्विकल्प स्पष्ट है यह प्रत्यक्ष से तो प्रतीत होता नहीं फिर भी जिसमें विशदता दिखाई देती है उसे तो छोड़ देवे और जिसमें वह नहीं दिखती वहा उसकी कल्पना करे तो वह परीक्षक कैसे कहलायेगा ? तथा—ऐसी स्थिति में कोई स्वरूप व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी क्योंकि सविकल्पक ज्ञान जैसे विशद धर्म रहित है वैसे अविशद धर्म से भी वह पृथक् है ऐसी कल्पना भी की जा सकती है । “एक साथ होने से विकल्प-निर्विकल्प में अभेद मालूम पडता है” ऐसा कहना भी ठीक नहीं है । बडी तथा कडी पूडी खाते समय रूपादि पाचो ज्ञानो की प्रवृत्ति भी साथ-साथ होती है अत उनमें भी अभेद का प्रसर्ग प्राप्त होगा अर्थात् बडी पूडी खाते समय उसका रूप, रस, गन्ध, कड़-कड़ शब्द तथा स्पर्श ये पाचो ज्ञान एक साथ होते हुए के समान मालूम पडते हैं परन्तु फिर भी उनमें भिन्नता ही मानी गयी है । यदि कहा जाय कि उन पाचो का विषय पृथक-पृथक है उन्हें एक कैसे माना जा सकता है तो फिर इन विकल्प-निर्विकल्प में भी भिन्न भिन्न विषयता है । देखो-विकल्प का विषय सामान्य अर्थात् सतान है और निर्विकल्प का विषय क्षण अर्थात् स्वलक्षण है । यदि कहा जावे कि विकल्प और निर्विकल्प भिन्न भिन्न तो है किन्तु बहुत शीघ्र ही होने से उनमें अभेद मालूम पडता है सो यह कथन भी युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि गर्दभ की रेकने आदि रूप क्रिया में भी लघुवृत्ति होने से अभेद मानना पडेगा तथा कपिल के यहा बृद्धि और चैतन्य में भेद की उपलब्धि नहीं होने पर भी जैसे भेद माना गया है वह भी स्वीकार कैसे नहीं करना होगा ? क्योंकि तुमने भी विकल्प मात्र एक ही ज्ञान में सविकल्प और

मित्यादावप्यभेदाध्यवसायप्रसङ्ग । कथं चैव कापिलानां बुद्धिचैतन्ययोर्भेदोऽनुपलभ्यमानोऽपि न स्यात् ?

अथानयो सादृश्याद्भेदेनानुपलम्भः, अभिभवाद्वाभिधीयते ? ननु किंकृतमनयोः सादृश्यम्-विषयाभेदकृतम्, ज्ञानरूपताकृतं वा ? न तावद्विषयाभेदकृतम्; सन्तानेतरविषयत्वेनानयोर्विषयाभेदाऽसिद्धेः ज्ञानरूपतासादृश्येन त्वभेदाध्यवसाये—नीलपीतादिज्ञानानामपि भेदेनोपलम्भो न स्यात् । अथाभिभवात्, केन कस्याभिभवः ? विकल्पेनाविकल्पस्य भानुना तारानिकरस्येवेति चेत्; विकल्पस्याप्यविकल्पेनाभिभवः कुतो न भवति ? बलीयस्त्वादस्येति चेत्, कुतोस्य बलीयस्त्वम्—बहुविषयात्,

निर्विकल्प रूप दो असत्य भेद मान लिये है । पुनः हम आपसे पूछते हैं कि उन विकल्प और निर्विकल्प में सादृश्य होने से भेद का उपलभ नहीं होता है, ऐसा मानते हैं कि एक दूसरे के द्वारा दब जाने से भेद दिखाई नहीं देता । यदि सदृशता के कारण भेद का अनुपलंभ है ऐसा कहा जावे तो वह सादृश्य उन सविकल्पक, निर्विकल्पक ज्ञानों में किस बात को लेकर आया ? विषय के अभेद को लेकर आया या ज्ञानपने की समानता को लेकर आया ? यदि प्रथम पक्ष को लेकर समानता कही जावे तो ठीक नहीं क्योंकि दोनों का विषय पृथक-पृथक है । एक का विषय है सतान तो दूसरे का क्षण । द्वितीय पक्ष की अपेक्षा यदि सदृशता मानी जाती है तो जगत में जितने भी भिन्न-भिन्न नील पीतादि विषयक ज्ञान हैं वे सब एकमेक हो जायेंगे । यदि दब जाने से अभेद मालूम होता है ऐसा कहा जाय तो कौन किससे दबता है ? विकल्प के द्वारा निर्विकल्प दब जाता है, जैसे सूर्य से नक्षत्र, तारे आदि दब जाते हैं, ऐसा कही तो हम पूछेंगे कि विकल्प का निर्विकल्प से तिरस्कार क्यों नहीं होता ? बलवान होने के कारण विकल्प को निर्विकल्प नहीं दबा सकता तो यह बताओ कि विकल्प बलवान कैसे हुआ ? अधिक विषय वाला होने से कि निश्चयात्मक होनेसे ? प्रथम पक्ष तो बनता नहीं क्योंकि तुम्हारी मान्यतानुसार वह निर्विकल्प के विषय में ही प्रवृत्त होना कहा गया है अधिक में नहीं, अन्यथा अग्रहीत आही होने से विकल्प को प्रमाण मानना पड़ेगा । दूसरा पक्ष लेवे तो वह निश्चयात्मकत्व किसमें है अपने स्वरूप में या अर्थ में ? स्वरूप में हो नहीं सकता क्योंकि “सर्व चित्तचैतानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्” ऐसा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का लक्षण, आपके “न्यायबिन्दु” नाम के ग्रन्थ में लिखा है । अर्थात् पदार्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान को “चित्त” कहते हैं तथा उसी चित्त की अवस्था सुख दुःख आदि अनेक प्रकार की होती है उन अवस्था विशेषों को “चैत”

निश्चयात्मकत्वाद्वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः, निर्विकल्पविषय एव तत्प्रवृत्त्यभ्युपगमात्, अन्यथा अगृहीतार्थ-
शाहित्वेन प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गः । द्वितीयपक्षेपि स्वरूपे निश्चयात्मकत्व तस्य, अर्थरूपे वा ? न
तावत्स्वरूपे—

“सर्वचित्तचैतानामात्मसवेदन प्रत्यक्षम्” [न्यायवि० पृ० १६] इत्यस्य विरोधात् न नाप्यर्थ-
विकल्पस्यैकस्य निश्चयानिश्चयस्वभावद्वयप्रसङ्गात् । तच्च परस्पर तद्वत्तश्चैकान्ततोभिन्न चेत्, सम-
वायाद्यनभ्युपगमात् सम्बन्धासिद्धे. ‘बलवान्विकल्पो निश्चयात्मकत्वात्’ इत्यस्यासिद्धे । अभेदैकान्तेपि-
तद्वय तद्वानेव वा भवेत् । कथचित्तादात्म्ये—निश्चयानिश्चयस्वरूपसाधारणमात्मान प्रतिपद्यते

कहते हैं । इन चित्त और चैतनो का सवेदन होना—अनुभव मे आना स्वसवेदन प्रत्यक्ष
कहलाता है । ये ज्ञान अपने स्वरूप मे निर्विकल्प होते है, ऐसा इस वाक्य से सिद्ध
होता है । अत निश्चायक होने से विकल्प बलवान है ऐसा कहना सिद्ध नही हुआ ।
यदि दूसरा पक्ष कहो तो वह विकल्प ज्ञान अर्थ मे निश्चयात्मक है तो भी ठीक नही है
क्योकि फिर उस विकल्प मे निश्चय और अनिश्चय, यह दो स्वभाव मानने पडेगे,
अर्थात् विकल्प, स्वरूप का तो अनिश्चायक है और अर्थ का निश्चायक है ऐसे दो
स्वभाव उसमे मानने होंगे । तथा वे दोनो स्वभाव और खुद विकल्प, इनका परस्पर
मे भेद रहेगा या अभेद ? भिन्न-पना माने तो आपके यहा समवायादि सम्बन्ध स्वी-
कार नही किया है, अत उन भिन्न स्वभावो का सम्बन्ध उसके साथ किससे होगा ?
फिर “विकल्प बलवान है निश्चय स्वरूप होने से” इस अनुमान की बात कहा रही ?
यदि उन निश्चय और अनिश्चय स्वभावो का विकल्प मे अभेद माना जाय तो या तो
वे दो स्वभाव ही रहेगे या वह विकल्प ही रहेगा । विकल्प का स्वभावो के साथ
तादात्म्य है अर्थात् विकल्प निश्चय और अनिश्चय स्वरूप को समान रूप से अपने
मे धारण करता है, ऐसा कहो तो वह विकल्प स्वरूप मे भी विकल्पात्मक हो गया
सो ऐसी बात सिद्धात के विरुद्ध पड़ती है क्योकि बौद्धों ने विकल्प को स्वरूप की
अपेक्षा निर्विकल्प माना है । अन्यथा निश्चय स्वरूप के साथ विकल्प का तादात्म्य
नही बनता है । तथा यह बात भी है कि स्वरूप का निश्चय किये बिना वह विकल्प
अर्थ का निश्चय भी नही करा सकता है, नही तो फिर अपने स्वरूप को ग्रहण किये
बिना भी ज्ञान, पदार्थ को ग्रहण करने लगेगा । अप्रत्यक्ष अर्थात् अत्यन्त परोक्ष ज्ञान
के द्वारा अर्थ का ग्रहण नही होता ऐसा आपके यहा भी माना है, उसमे विरोध
आयेगा क्योकि यहा विकल्प को उस रूप मान रहे हो ।

चेद्विकल्प-स्वरूपेपि सविकल्पकः स्यात्, अन्यथा निश्चयस्वरूपतादात्म्यविरोधः । न च स्वरूपम-
निश्चिन्वन्विकल्पोऽर्थनिश्चायकः, अन्यथाऽगृहीतस्वरूपमपि ज्ञानमर्थग्राहक भवेत् तथाच—

“अप्रत्यक्षोपलम्भस्य” [] इत्यादिविरोध, तत्स्वरूपस्यानुभूतस्याप्यनिश्चितस्य
क्षणिकत्वादिवन्नान्यनिश्चायकत्वम् । विकल्पान्तरेण तन्निश्चयेऽनवस्था ।

कश्चानयोरेकत्वाध्यवसाय - किमेकविषयत्वम्, अन्यतरेणान्यतरस्य विषयीकरण वा, परत्रेतर-
स्याध्यारोपो वा ? न तावदेकविषयत्वम्, सामान्यविशेषविषयत्वेनानयोर्भिन्नविषयत्वात् । दृश्य-

भावार्थ—बौद्ध मत में ज्ञान को परोक्ष नहीं माना है, अर्थात् वे भी जैन के
समान ज्ञान को स्वसंवेद्य मानते हैं । उनके यहां पर कहा है कि जिस ज्ञान की खुद
की ही उपलब्धि नहीं है वह ज्ञान अर्थ की उपलब्धि में भी कारण नहीं बन सकता ।
ग्राह्य पदार्थ की सवित्ति ग्राहक ज्ञान के अनुभव के बिना कैसे हो ? अर्थात् नहीं हो
सकती । अतः यहां जैनाचार्य बौद्ध को समझा रहे हैं कि आपका वह विकल्प अपने
स्वरूप का निश्चय किये बिना अर्थ का ग्राहक नहीं बन सकता है । विकल्प का स्व-
रूप अनुभूत होते हुए भी वह अनिश्चित सा रहता है जैसे कि क्षणिकत्व आदि का
अनुभव होते हुए भी उसका निश्चय तो उस विकल्प से नहीं होता है । इस तरह से
विकल्प को मानो तो अर्थ का निश्चय कराने के लिये एक दूसरा विकल्प लाना पड़ेगा
इस तरह तो अनवस्था आयेगी ॥ एक प्रश्न यह भी है कि सविकल्प और निर्विकल्प
मे एक रूप से प्रतीति क्यों आती है ? दोनो का एक विषय होने से अथवा दोनो में
से कोई भी एक दूसरे का विषय करते हैं इसलिये अथवा पर में अन्य का अध्यारोप
होने से ? एक विषयपना तो है नहीं, क्योंकि अविकल्प का विषय विशेष है और
सविकल्प का सामान्य । अतः दोनो सविकल्प और निर्विकल्पक भिन्न-भिन्न विषय
वाले ही हैं ।

बौद्ध—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय तो दृश्य है और सविकल्प का विषय
विकल्प्य है, ये दोनो एक से हो जाते हैं । अतः दोनों ज्ञान अभिन्न विषय वाले मालूम
पड़ते हैं ।

जैन—यह कथन अयुक्त है क्योंकि—एकत्वाध्यवसाय तो वह है कि, दृश्य में
विकल्प्य का आरोप करना । अब वह आरोप दोनो के ग्रहण करने के बाद होगा या
बिना ग्रहण किये ही ? ग्रहण करके ही नहीं सकता क्योंकि जो भिन्न स्वरूप से

विकल्प (ल्प) योरेकत्वाध्यवसायादभिन्नविषयत्वम्, इत्यप्ययुक्तम्, एकत्वाध्यवसायो हि दृश्ये विकल्पस्याध्यारोपः । स च गृहीतयो, अगृहीतयोर्वा तयोर्भवेत् ? न तावद्गृहीतयो, भिन्नस्वरूपतया प्रतिभासमानयोर्घटपटयोरिवैकत्वाध्यवसायायोगात् । न चानयोर्ग्रहण दर्शनेन, अस्य विकल्प्यागोचरत्वात् । नापि विकल्पेन, अस्यापि दृश्यागोचरत्वात् । नापि ज्ञानान्तरेण, अस्यापि निर्विकल्पकत्वे विकल्पात्मकत्वे चोक्तदोषानतिक्रमात् । नाप्यगृहीतयो स सम्भवति अतिप्रसङ्गात् । सादृश्यनिबन्धन-आरोपो दृष्ट, वस्त्ववस्तुनोश्च नीलखरविषाणयोरिव सादृश्याभावान्नाध्यारोपो युक्त । तन्नैक-विषयत्वम् ।

अन्यतरस्यान्यतरेण विषयीकरणमपि-समानकालभाविनोरपारतन्त्र्यादनुपपन्नम् । अविषयीकृतस्यान्यस्यान्यत्राध्यारोपोप्यसम्भवी । किञ्च, विकल्पे निर्विकल्पकस्याध्यारोप, निर्विकल्पके

प्रतिभासित होते है उनमें घट-पट आदि की तरह एकत्व अध्यवसाय हो ही नहीं सकता । अच्छा यह तो बताओ कि दृश्य और विकल्प्य इन दोनों का ग्रहण कौन करेगा ? निर्विकल्प दर्शन के द्वारा तो होता नहीं क्योंकि निर्विकल्प का विकल्प्य विषय ही नहीं है । सविकल्प भी दोनों को नहीं जानेगा, क्योंकि यह स्वलक्षण को नहीं जानता । तीसरा ज्ञान आयेगा तो वह भी निर्विकल्प या सविकल्प हो रहेगा । उसमें वही पहले के दोष आते है । बिना दोनों को ग्रहण किये उनमें एकत्वपने का ज्ञान भी कैसे हो ? माने तो अतिप्रसंग दोष आयेगा अर्थात् फिर तो गधा और उसके सींग आदि पदार्थ में भी एकत्व का आरोप करते रहेगे । अच्छा, आरोप भी होता है तो वह सादृश्य के निमित्त से होता है, किन्तु आपके यहा दृश्य को तो वस्तु रूप और विकल्प्य को अवस्तरूप माना है, फिर उनमें आरोप कैसे होगा ? अत नील और गधे के सींग की तरह सदृशता का अभाव होने से अध्यारोप नहीं हो सकता है और इसीलिए सविकल्प और निर्विकल्प में एक विषयपना भी नहीं है ।

दूसरा पक्ष—विकल्प और निर्विकल्प में से अन्य का अन्य के द्वारा विषय किया जाता है अत उन दोनों में एक-पने का बोध होता है ऐसा मानना भी बनता नहीं । वे दोनों एक साथ होते हैं अत स्वतन्त्र होने से एक दूसरे के विषय को कैसे ग्रहण करेगे ? बिना विषय किये अन्य का अन्य स्थान पर आरोप भी काहे का । अंत में आपके मनः समाधान के लिये मान लिया जाय कि आरोप होता है तो यह बताओ कि विकल्प में निर्विकल्प का आरोप है कि निर्विकल्प में विकल्प का आरोप है ? विकल्प में निर्विकल्प का आरोप होता है ऐसा कहो तो सभी ज्ञान निर्विकल्प

विकल्पस्य वा ? प्रथमपक्षे—विकल्पव्यवहारोच्छेद निखिलज्ञानाना निर्विकल्पकत्वप्रसङ्गात् । द्वितीय-
पक्षेपि-निर्विकल्पकवार्तोच्छेदे— सकलज्ञानाना सविकल्पकत्वानुषङ्गात् ।

किञ्च, विकल्पे निर्विकल्पकधर्मोपाद्वैशद्यव्यवहारवत् निर्विकल्पके विकल्पधर्मोपादवैशद्य-
व्यवहारः किञ्च स्यात् ? निर्विकल्पकधर्मोपाद्वैशद्यव्यवहारवत् इत्यन्यत्रापि समानम् । भवतु
वा तेनैवाभिभवः, तथाप्यसौ सहभावमात्रात्, अभिन्नविषयत्वात्, अभिन्नसामग्रीजन्यत्वाद्वा स्यात् ?
प्रथमपक्षे गोदर्शनसमयेऽश्वविकल्पस्य स्पष्टप्रतिभासो भवेत्सहभावाविशेषात् । अथानयोर्भिन्नविषयत्वात्
न अस्पष्टप्रतिभासमभिभूयात्त्रविकल्पे स्पष्टतया प्रतिभासः; तर्हि शब्दस्वलक्षणमध्यक्षणानुभवता
तत्र क्षणक्षयानुमान स्पष्टमनुभूयतामभिन्नविषयत्वानीलादिविकल्पवत् । भिन्नसामग्रीजन्यत्वादनुमान-

हो जायेगे तथा विकल्प रूप जगत का व्यवहार समाप्त हो जायेगा । दूसरे पक्ष में
निर्विकल्प का अस्तित्व नहीं रहता, सभी ज्ञान सविकल्प ही रह जायेगे । दूसरी बात
यह है कि जैसे विकल्पमे निर्विकल्प का अध्यारोप होने से वह विकल्प विशद हो जाता
है तो वैसे ही निर्विकल्प मे विकल्प का आरोप होने से वह भी अविशद क्यों नहीं
होगा ? यदि कहो कि निर्विकल्प के धर्म द्वारा विकल्प का धर्म दब जाता है अतः
उसमें विशदता ही रहती है तो हम भी कहेगे कि विकल्प धर्म के द्वारा निर्विकल्प
का स्वभाव दब जाता है अतः वह अविशद होता है ऐसा भी क्यों न माने ? अच्छा
मान लिया कि निर्विकल्प से विकल्प तिरस्कृत होता है तो भी हम उसका कारण
पूछेगे कि वह अभिभव क्यों हुआ ? साथ होने से हुआ कि अभिन्न विषय के कारण,
अथवा अभिन्न सामग्री से उत्पन्न होने के कारण ? साथ होने से कहो तो गाय के
दर्शन (देखने) के समय अश्व का विकल्प स्पष्ट प्रतिभास वाला हो जायेगा,
क्योकि साथ तो दोनो है ही -। यदि कहो कि इनमे तो गौ और अश्व इस प्रकार
भिन्न भिन्न विषय है अतः अस्पष्ट प्रतिभास का तिरस्कार करके अश्व विकल्प में
स्पष्टता नहीं आ पाती है तो फिर श्रोतेन्द्रिय से पैदा हुये निर्विकल्प प्रत्यक्ष दर्शन
द्वारा शब्द रूप स्वलक्षण जानते हुए व्यक्ति को उसी शब्द के क्षणिकत्व की सिद्धि के
लिए होने वाला अनुमान स्पष्ट हो जाय । अभिन्न विषय तो है ही जैसे कि नीलादि
विकल्प अभिन्न विषय वाला है ।

बौद्ध — अनुमान की सामग्री हेतु रूप है, और प्रत्यक्ष दर्शन की श्रोत्रादि इन्द्रिय
रूप है, अतः भिन्न सामग्री जन्य विकल्प रूप अनुमान का प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा अभि-
भव नहीं होता, अर्थात् अनुमान स्पष्ट रूप नहीं हो पाता है ?

विकल्पस्याध्यक्षेण तद्धर्माभिभवाभावेसकलविकल्पाना विशदावभासिस्वसवेदनप्रत्यक्षेणाभिन्नसामग्री-
जन्येनाभिभवप्रसङ्गः । अथ तत्राभिन्नसामग्रीजन्यत्व नेष्यते—तेषा विकल्पवासनाजन्यत्वात्, सवेदन-
मात्रप्रभवत्वाच्च स्वसवेदनस्य इत्यसत्, नीलादिविकल्पस्याप्यध्यक्षेणाभिभवाभावप्रसङ्गात्तत्रापि
तदविशेषात् ।

किञ्च, अनयोरेकत्व निर्विकल्पकमध्यवस्यति, विकल्पो वा, ज्ञानान्तर वा ? त् तावन्निर्विकल्प-
कम्, अध्यक्षसायविकल्पत्वात्तस्य, अन्यथा भ्रान्तताप्रसङ्गः । नापि विकल्पः; तेनाविकल्पस्याविष-
यीकरणात्, अन्यथा स्वलक्षणगोचरताप्राप्तेः “विकल्पोऽवन्तुनिर्भासः” [] इत्यस्य विरोधः ।

जैन—इस तरह कहो तो सभी सविकल्प ज्ञानो का विशद प्रतिभास युक्त
स्वसवेदन प्रत्यक्ष रूप निर्विकल्प ज्ञान से अभिभव होने लगेगा ? क्योंकि उन सबकी
अभिन्न ही सामग्री है, अर्थात् वे ज्ञान अभिन्न सामग्री जन्य है ।

बौद्ध—सविकल्प ज्ञान और स्वसवेदन ज्ञान इन दोनों की सामग्री को हम
लोग समान नहीं मानते, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान तो विकल्पवासनाओं से जन्य है,
और स्वसवेदन ज्ञान सवेदन मात्र से जन्य हैं ।

जैन—यह बौद्ध का कथन बुद्धु जैसे लगता है, ऐसा माने तो नीलादि
विकल्प भी प्रत्यक्ष से अभिभूत न हो सकेंगे क्योंकि वहा भी भिन्न सामग्री
मौजूद है ।

भावार्थ—बौद्ध, निर्विकल्प ज्ञान को प्रमाण मानते हैं और सविकल्प को
अप्रमाण । जब जैन के द्वारा उनको पूछा गया कि यदि निर्विकल्प ही वास्तविक
प्रमाण है तो उसकी प्रतीति क्यों नहीं आती ? इस प्रश्न पर सबसे पहले तो उसने
जवाब दिया कि निर्विकल्प और विकल्प दोनों अति शीघ्र पैदा होते हैं अर्थात् निर्वि-
कल्प के पैदा होने के साथ ही विकल्प भी पैदा होता है अतः निर्विकल्प तो दब जाता
है और विकल्प ही विकल्प मालूम पडता है । इस असंगत उत्तर का खण्डन करते
हुए आचार्य ने कहा कि इस तरह से तो रूप रस आदि पाचो ज्ञानो मे अभेद मानना
होगा क्योंकि वहा भी शीघ्रवृत्ति है । विकल्प और निर्विकल्प का विषय अभिन्न है
अतः निर्विकल्प की प्रतीति नहीं है यह भी सिद्ध नहीं हुआ । निर्विकल्प का विकल्प
मे आरोप होना भी नहीं बनता है क्योंकि जब तक दोनों को जानते नहीं तब तक
एक का दूसरे मे आरोप भी नहीं हो पाता । निर्विकल्प बेचारा सत्यज्ञान होकर भी

न चाविषयीकृतस्यान्यत्रारोप । न ह्यप्रतिपन्नरजत शुक्तिकाया रजतमारोपयति । ज्ञानान्तर तु निर्विकल्पकम्, सविकल्पक वा ? उभयत्राप्युभयदोषानुषङ्गतस्तदुभयविषयत्वायोग । तदन्यतर-विषयेणानयोरेकत्वाध्यवसाये-अतिप्रसङ्ग-अक्षज्ञानेन त्रिविप्रकृष्टेतरयोरप्येकत्वाध्यवसायप्रसङ्गात् । तत्र तयोरेकत्वाध्यवसायाद्विकल्पे वैशद्यप्रतीति, अविकल्पकस्यानेनैवैकत्वाध्यवसायस्य चोक्तन्यायेना-प्रसिद्धत्वात् ।

यच्चोच्यते-सहस्रकलविकल्पावस्थाया रूपादिदर्शन निर्विकल्पक प्रत्यक्षतोऽनुभूयते । तदुक्तम्—

उस असत्य विकल्प के द्वारा दब जाता है तो यह बहुत आश्चर्यकारी बात हो जाती है । इसी प्रकार बौद्ध यह भी नहीं बता पा रहे कि विकल्प के द्वारा निर्विकल्प ही क्यों दब जाता है । दोनो ज्ञान साथ है, इसलिए कि अभिन्न विषय वाले है अथवा अभिन्न सामग्री से पैदा हुए है इसलिए इन तीनों में से किसी भी हेतु के द्वारा निर्विकल्प का अभिभव होना सिद्ध नहीं होता है ॥ अब यह बात बताओ कि इन विकल्प और निर्विकल्पो के एकत्व को निर्विकल्पक जानता है कि सविकल्पक ? अथवा तीसरा कोई ज्ञानान्तर ? निर्विकल्पक तो अध्यवसाय करता नहीं वह तो उससे बिल्कुल रहित है अन्यथा आपके उस निर्विकल्पक ज्ञान को भ्रातपने का प्रसंग आता है जैसे कि नीलादि विकल्पो को आपने भ्रातरूप माना है । विकल्प ज्ञान भी दोनो में एकत्वाध्यवसाय का निर्णय नहीं देता क्योंकि वह भी निर्विकल्प को जानता नहीं, यदि जानेगा तो उसे भी स्वलक्षण को जानने वाला मानना पड़ेगा । तथा च विकल्प अवस्तु में ज्ञान को उत्पन्न करता है ऐसा जो कहा है वह विरुद्ध होगा । बिना जाने अन्य का अन्य में आरोप भी कैसे करे । देखो—रजत को बिना जाने सीप में उसका आरोप कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं ? तीसरा पक्ष अर्थात् एक अन्य ही ज्ञान दोनो के सविकल्पक निर्विकल्पको के एकत्व को जानता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वह ज्ञानान्तर भी सविकल्प या निर्विकल्प ही होगा । अत दोनो पक्ष में पहले के वही दोष आवेगे, क्योंकि वे दोनो ही आपस में एक दूसरे के विषयों को जानते ही नहीं है । बिना जाने एक किसी को विषय करके ही एकत्वाध्यवसाय करेगे तो अति-प्रसङ्ग दोष आता है अर्थात् इन्द्रिय ज्ञान, दूर देश, दूर काल, दूर स्वभाव, वाले मेरु आदि पदार्थ में तथा निकटवर्ती घटादि पदार्थ में एकत्व का ज्ञान करने लगेंगे । क्योंकि जानने की जरूरत तो रही नहीं । इसलिए यह बात नहीं बनती कि उन विकल्प अवि-

“सहृत्य सर्वतश्चिन्तास्तिमितेनान्तरात्मना ।
स्थितोपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः” ॥ १ ॥

[प्रमाणवा० ३।१२४]

प्रत्यक्ष कल्पनापोढ प्रत्यक्षैराव सिद्धयति ।
प्रत्यात्मवेद्य सर्वेषा विकल्पो नामसश्रयः” ॥ २ ॥

[प्रमाणवा० ३।१२३] इति ।

न चात्रावस्थाया नामसश्रयतयाऽननुभूयमानानामपि विकल्पाना सम्भवः—अतिप्रसङ्गादित्यप्यु-
क्तिमात्रम्, अश्व विकल्पयतो गोदर्शनलक्षणया सहृतसकलविकल्पावस्थाया स्थिरस्थूलादिस्वभावा-

कल्प दोनो मे एकत्व का अध्यवसाय होने से निर्विकल्प की विशदता विकल्प मे प्रतीत होती है। निर्विकल्प भी एकत्वाध्यवसाय करने मे समर्थ नहीं है क्योंकि उसमे वही दोनो को विषय न करने की बात है ।

बौद्ध—हमारी मान्यता है कि सम्पूर्ण विकल्पो से रहित अवस्था मे रूपादि का निर्विकल्प दर्शन होता है यह बात प्रत्यक्ष से अनुभव मे आती है । कहा भी है—

चारो ओर से सम्पूर्ण चिन्ताओ को हटाकर निश्चल ऐसे आत्म चक्षु के द्वारा रूप का दर्शन होना इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है ॥१॥ प्रत्यक्ष प्रमाण कल्पना से रहित है वह प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होता है, प्रत्येक आत्मा के द्वारा वह जाना जाता है अर्थात् सभी को स्वसवेदन से अनुभव मे आता है । तथा विकल्प प्रमाण तो शब्द का आश्रय लेकर उत्पन्न होता है ॥२॥ सारे विकल्प जहां नष्ट हो गये है उस अवस्था मे शब्द के आश्रय से होने वाले विकल्प अनुभव मे नहीं आते हैं फिर भी यदि माने तो अति प्रसङ्ग आता है अर्थात् सुप्त मूर्च्छित आदि अवस्था मे भी विकल्प मानने पडेगे ।

जैन—यह सुगत वादी का कथन सुसगत नहीं है, कोई पुरुष है वह अश्व का विकल्प कर रहा है उसके उसी समय गो दर्शन हो रहा है जो कि अपने मे सम्पूर्ण विकल्प से रहित है, उस अवस्था मे स्थिर, स्थूलादि रूप से पदार्थ की प्रतीति कराने वाले तथा विपरीत जो क्षणिक आदि है उनके आरोप से जो विरुद्ध है ऐसे प्रत्यक्ष मे अनिश्चय का अभाव होगा, अर्थात् प्रत्यक्ष को निश्चायक मानना पड़ेगा, जो आपको इष्ट नहीं है । यदि वह प्रत्यक्ष अनिश्चायक होता तो उस अश्व विकल्प के हटते

र्थसाक्षात्कारिणो विपरीतारोपविहृदस्याध्यक्षस्यानिश्रयात्मकत्वायोगात् । तत्त्वे वा अश्वविकल्पाद्व्यु-
त्थितचित्तस्य गवि स्मृतिर्न स्यात् क्षणिकत्वादिवत् । नामसश्रयात्मनो विकल्पस्यात्र निषेधे तु न
किञ्चिदनिष्टम् । न चाशेषविकल्पानां नामसश्रयतैव स्वरूपम्, समारोपविरोधिग्रहणलक्षणत्वात्तेषां
मित्यग्रे व्यासतो वक्ष्यामः । न चानिश्चयात्मनः प्रामाण्यम्, गच्छत्तणस्पर्गसवेदनस्यापि
तत्प्रसङ्गात् । निश्चयहेतुत्वात्तस्य प्रामाण्यमित्युक्तम्, संशयादिविकल्पजनकस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गात् ।

ही उस व्यक्ति को गाय में स्मृति न होती जैसे कि क्षणिकादि की नहीं होती है ।
हां इस प्रत्यक्ष में शब्द के आश्रय से होने वाले विकल्प का निषेध करे तो हम जैन
को कुछ अनिष्ट नहीं है । यह एकांत तो है नहीं कि सारे विकल्प शब्दाश्रित ही हैं,
क्योंकि विकल्प समारोप के विरोधी ज्ञान स्वरूप हुआ करते हैं । इस बात को हम
शब्दाद्वैत के प्रकरण में विस्तार से कहने वाले हैं । जो अनिश्चयात्मक होता है उसमें
प्रमाणता नहीं होती है । यदि अनिश्चयात्मक ज्ञान भी प्रमाण हो तो चलते हुए
व्यक्ति को तृणादि का जो अनध्यवसाय रूप ज्ञान होता है उसे भी प्रमाण मानना
पड़ेगा ।

बौद्ध—निर्विकल्प ज्ञान निश्चय कराने में कारण भूत जो विकल्प है उसकी
उत्पत्ति में निमित्त पड़ता है अतः निर्विकल्प ज्ञान को प्रमाण माना गया है ।

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं, ऐसा माने तो जो निर्विकल्प ज्ञान संश-
यादि रूप विकल्पों को पैदा करते हैं उन्हें भी प्रमाण मानना होगा ।

बौद्ध—देखिये संशयादि रूप विकल्प पैदा करने वाले निर्विकल्प ज्ञान स्व-
लक्षण को तो जानते नहीं अतः उनसे होने वाले संशयादि रूप विकल्प भी अप्रमाण
होते हैं इसलिये जो स्वलक्षण का अध्यवसाय करते हैं ऐसे विशिष्ट निर्विकल्प से जो
विकल्प होंगे वे तो सच्चे ही रहेंगे ।

जैन—यह बात तो विकल्प के पक्ष में भी समान ही है क्योंकि नीलादि
विकल्प भी स्वलक्षण को जानते नहीं क्योंकि वे स्वलक्षण के आलम्बन से हुए ही नहीं
हैं, बिना उसके आलम्बन के उसको जानने में विरोध आता है । इस प्रकार नीलादि
विकल्प जैसे स्वलक्षण के ग्राहक न होकर भी प्रामाणिक माने हैं वैसे बौद्ध को संश-
यादि विकल्पों को भी प्रामाणिक मानना ही होगा ।

स्वलक्षणानध्यवसायित्वात्तद्विकल्पस्यादोषोऽयम्, इत्यन्यत्रापि समानम् । न हि नीलादिविकल्पोपि स्वलक्षणाध्यवसायी, तदनालम्बनस्य तदध्यवसायित्वविरोधात् । 'मनोराज्यादिविकल्प कथं तदध्यवसायी' ? इत्यप्यस्यैव दूषणं यस्यासीत् राज्याद्यग्राहकस्वभावो नास्माकम्, सत्यराज्यादिविषयस्य तद्ग्राहकस्वभावत्वाभ्युपगमात् ।

न चास्य विकल्पोत्पादकत्वं घटते स्वयमविकल्पकत्वात् स्वलक्षणवत्, विकल्पोत्पादनसामर्थ्या-

बौद्ध—मनोराज्यादि रूप (मन के मनोरथ रूप) विकल्प भी स्वलक्षण से नहीं हुए हैं फिर वे उनका निश्चय जैसे करते हैं वैसे ही नीलादि विकल्प भी स्वलक्षण से उत्पन्न न होकर उनका अध्यवसाय करेंगे ।

जैन—यह दोष तो तुमको ही आवेगा, क्योंकि तुमने मनोराज्यादि विकल्प को राज्यादिक पदार्थ का ग्राहक नहीं माना है, हमको क्या दोष ? हम तो मनोराज्यादि विकल्प का विषय भी सत्य राज्य रूप पदार्थ ही मानते हैं ।

भावार्थ—बौद्ध के यहाँ निर्विकल्प प्रमाण का विषय स्वलक्षण माना है और सविकल्पक प्रमाण जो कि मात्र संवृत्ति से प्रमाणभूत है उसका विषय क्षण या विकल्प रूप पदार्थ माना है । उनका कहना है कि निर्विकल्प ज्ञान ही वास्तविक प्रमाण है क्योंकि वह वास्तविक वस्तु को जानता है । स्वलक्षण वस्तु का स्वरूप है और उसको निर्विकल्प ज्ञान जानता है तथा सामान्य और विशेष में से विशेष को जानता है । सविकल्प ज्ञान सामान्य को जानता है । निर्विकल्प प्रमाण को लक्षण करते हुए कहा है कि "कल्पना पोढमभ्रात प्रत्यक्षम्" कल्पना अर्थात् नाम जात्यादि रूप कल्पना को जो हटाता है तथा जो भ्रात नहीं है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है । जैनाचार्य ने कहा कि जब निर्विकल्पक प्रमाण वस्तु का निश्चय ही नहीं कराता तब वह प्रमाण कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं । इस पर बौद्ध ने कहा कि स्वयं निश्चय नहीं कराता है, किन्तु निश्चय का कारण है, अतः प्रमाण है । तब आचार्य ने समझाया कि निश्चय का निमित्त होने मात्र से यदि निर्विकल्प प्रमाण भूत है तब सशयादि विकल्पो का कारण भूत जो निर्विकल्प है उसको भी सत्य मानना पड़ेगा । इस पर बौद्ध ने कहा कि सशयादि रूप विकल्प को पैदा करने वाला निर्विकल्प प्रमाण स्वलक्षण का अवलम्बन लेकर नहीं हुआ है अतः सत्य नहीं है । तब जैन ने उत्तर दिया कि नीलादि विकल्प भी स्वलक्षण का अध्यवसाय नहीं करते हैं फिर उनको सत्य विकल्प रूप

विकल्पकत्वयोः परस्परं विरोधात् । विकल्पवासनापेक्षस्याविकल्पकस्यापि प्रत्यक्षस्य विकल्पोत्पादनसामर्थ्यानि (वि) रोधे-अर्थस्यैव तथाविधस्य सोस्तु किमन्तर्गंडुना निर्विकल्पकेन ? अथाज्ञातोर्थः कथं तज्जनकोऽतिप्रसङ्गात् ? दर्शनं कथमनिश्चयात्मकमित्यपि समानम् ? तस्यानुभूतिमात्रेण जनकत्वे-क्षणक्षयादौ विकल्पोत्पत्तिप्रसङ्गः । यत्रार्थे दर्शनं विकल्पवासनायाः प्रबोधकं तत्रैव तज्जनकमि-

क्यो कहते हो ? यदि कहो कि मनोराज्य अथवा स्वप्न में देखे या मिले हुए साम्राज्य आदि के ज्ञान जैसे स्वलक्षण अर्थात् वस्तु से उत्पन्न नहीं होकर भी वस्तुभूत राज्य का अध्यवसाय करते हैं अर्थात् मानो सच्चा ही राज्य है ऐसा स्वप्न में भान हो जाया करता है वैसे ही नीलादि विकल्प स्वलक्षण से पैदा नहीं होकर भी उसका बोध कराते हैं तो यह बौद्ध का कहना भी गलत है क्योंकि ऐसा दोष तो इन्हीं बौद्ध पर लागू है जो कि मनोराज्यादि के ज्ञान का कारण सत्य राज्य स्वरूप नहीं मानते । हम जैन तो स्वप्न का राज्य हो चाहे मनोराज्य हो उसका कारण सत्य राज्य ही बताते हैं, क्योंकि जागृत दशा का वास्तविक राज्य न हो तो स्वप्न राज्य भी कहां से दिखायी दे सकता है ? मतलब, स्वप्न तो जागृत दशा का अवलम्बन लेकर हुआ करते हैं । इस प्रकार बौद्ध के निर्विकल्प की सिद्धि नहीं होती है ॥

तथा दूसरी बात यह है कि यह निर्विकल्प दर्शन विकल्प को पैदा नहीं कर सकता है क्योंकि वह स्वयं अविकल्पक है जैसा कि स्वलक्षण है । वह अविकल्पक भी रहे और विकल्प उत्पन्न करने की शक्ति भी रखे ऐसी परस्पर विरुद्ध बात बनती नहीं ।

बौद्ध — विकल्प की वासना का सहारा लेकर निर्विकल्प, विकल्प को पैदा करने की सामर्थ्य रखता है उसमें कोई विरोध की बात नहीं है ।

जैन—यदि ऐसा माने तो फिर पदार्थ स्वतः ही विकल्प वासना के बल से विकल्प उत्पन्न कर देगे फिर काहे को अन्तरंग फोड़े की तरह दुखदायी इस निर्विकल्प को माना जाय जो किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता है ।

बौद्ध—पदार्थ तो अज्ञात रहता है वह विकल्प को कैसे उत्पन्न करेगा ?

जैन—तो फिर निर्विकल्प दर्शन स्वतः अनिश्चयात्मक अर्थात् अज्ञात होकर विकल्प को कैसे उत्पन्न करेगा ? दोनों जगह समान बात है ।

बौद्ध—अनुभूति मात्र से वह विकल्प को उत्पन्न करता है ।

त्यप्यसाम्प्रनम्, तस्यानुभवमात्रेण तत्प्रबोधकत्वे नीलादाविव क्षणक्षयादावपि तत्प्रबोधकत्वप्रसङ्गात् ।

तत्राभ्यासप्रकरणबुद्धिपाटवार्थित्वाभावान्न तत्तस्याः प्रबोधकमिति चेत्; अथ कोयमभ्यासो नाम-भूयोदर्शनम्, बहुशो विकल्पोत्पत्तिर्वा ? न तावद्भूयो दर्शनम्, तस्य नीलादाविव क्षणक्षयादावप्यविशेषात् । अथ बहुशो विकल्पोत्पत्तिरभ्यास, तस्य क्षणाक्षयादिदर्शने कुतोऽभावः ? तस्य

जैन—तो हम कहेंगे कि वह निर्विकल्प क्षण-क्षयादि में भी विकल्प पैदा करेगा ? जिस प्रकार कि वह निर्विकल्प प्रमाण यह नीला है ऐसा विकल्प उत्पन्न करता है वैसे ही यह क्षणिक है ऐसा विकल्प भी उत्पन्न कर देगा ।

बौद्ध—क्षणिक में विकल्प इसलिए नहीं करता कि जहाँ पर ही दर्शन अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान विकल्प वासना का प्रबोधक है वही पर विकल्प को पैदा करेगा न कि सब जगह ।

जैन—यह कथन अयुक्त है क्योंकि स्वसवेदन रूप दर्शन अनुभव मात्र रूप होकर जिस तरह नीलादि में विकल्प उत्पन्न करता है वैसे ही क्षण-क्षयादि में करेगा, अनुभूति तो समान ही है । सारांश यह है कि बौद्ध लोग, निर्विकल्प दर्शन से नीलादि पदार्थ का विकल्प होता है ऐसा मानते हैं इसलिए फिर उसी दर्शन के द्वारा उसी नीलादि में होने वाला क्षणभगुरपना आदि का ज्ञान रूप विकल्प क्यों नहीं पैदा करेगा अर्थात् अवश्य करेगा, ऐसा तर्क से सिद्ध होता है किन्तु ऐसा मानना बौद्ध के सिद्धांत विरुद्ध पड़ता है क्योंकि ऐसी मान्यता में अनुमान निरर्थक हो जाता है ।

बौद्ध—क्षण क्षयादि में निर्विकल्प का अभ्यास आदि नहीं है अर्थात् अभ्यास, प्रकरण, बुद्धि पाटव, अर्थित्व इनका अभाव होने से उन क्षण क्षयादि में दर्शन विकल्प को पैदा नहीं करता है ।

भावार्थ—वस्तु को बार बार देखना तथा चिन्तवन करना अभ्यास है, प्रसङ्ग या प्रस्ताव को प्रकरण कहते हैं । बुद्धि पाटव अर्थात् बुद्धि की तीक्ष्णता या चतुराई बुद्धि पाटव कहलाता है । वस्तुओं की अभिलाषा करना अर्थित्व है । यहाँ बौद्ध का कहना है कि नीलादि विकल्पो को पैदा करने वाला जो दर्शन है उसमें तो अभ्यासादि चारों ही रहते हैं किन्तु क्षणिक आदि का विकल्प ज्ञान उत्पन्न कराने के लिए निर्विकल्प दर्शन के पास ये अभ्यासादि नहीं रहते हैं ।

विकल्पवासनाप्रबोधकत्वाभावाच्चेत्, अन्योन्याश्रय-सिद्धे हि क्षणक्षयादौ दर्शनस्य विकल्पवासना-प्रबोधकत्वाभावे तल्लक्षणाभ्यासाभावसिद्धिः, तत्सिद्धौ चास्य सिद्धिरिति । क्षणिकाक्षणिक-विचारणायां क्षणिकप्रकरणमप्यस्त्येव । पाटव तु नीलादौ दर्शनस्य विकल्पोत्पादकत्वम्, स्फुटतरा-नुभवो वा स्यात्, अविद्यावासनाविनाशादात्मलाभो वा ? प्रथमपक्षे-अन्योन्याश्रयात् । द्वितीयपक्षे तु-क्षणक्षयादावपि तत्प्रसङ्गं स्फुटतरानुभवस्थानाप्यविशेषात् । तृतीयपक्षोप्ययुक्तः; तुच्छस्वभावा-

जैन—अच्छा, तो यह बताइये कि अभ्यास किसे कहते हैं ? भूयो दर्शन को अर्थात् बार-बार देखने को कहो तो कह नहीं सकते, क्योंकि वह तो नीलादि की तरह, क्षण क्षयादि में भी समान ही है । यदि बहुत बार विकल्प पैदा करने को अभ्यास कहे तो वह क्षण-क्षयादि में क्यों नहीं-यह बताना होगा ।

बौद्ध—विकल्प वासना का वह वहा प्रबोधक नहीं होता है अतः क्षण क्षयादि में अभ्यास का अभाव है ।

जैन—ऐसा कहो तो अन्योन्याश्रय दोष आता है । देखिये-जब क्षण क्षयादि में दर्शन के विकल्प वासना के प्रबोधकपने का अभाव सिद्ध होगा तब इस दर्शन को क्षण-क्षयादिक में विकल्प उत्पन्न न करने की सिद्धि होगी, और जब विकल्प उत्पन्न न करने की सिद्धि होगी तब विकल्प वासना के प्रबोधकपने का अभाव सिद्ध होगा । इस प्रकार अभ्यास के अभाव के कारण क्षण-क्षयादि में विकल्प उत्पन्न नहीं करता है-यह बात समाप्त हो गई । प्रकरण भी क्षण-क्षयादि में है ही क्योंकि क्षणिक और अक्षणिक के विषय का विचार चलता ही है ।

तीसरा पक्ष—जो पाटव है वह क्या है ? क्या निर्विकल्प दर्शन का नीलादि में विकल्प को उत्पन्न करना यह दर्शन का पाटव है, अथवा उनका स्पष्ट अनुभव होना उसका पाटव है, या अविद्या वासना के नाश होने से आत्म लाभ होना यह पाटव है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है । क्षणिकादि में दर्शन के विकल्प वासना के प्रबोधक का अभाव सिद्ध होने पर विकल्पोत्पादक लक्षण वाला पाटव का अभाव सिद्ध हो और उसके सिद्ध होने पर क्षण क्षयादि में विकल्प वासना के प्रबोधक का अभाव हो । दूसरे पक्ष में अर्थात् स्पष्ट अनुभव को पाटव कहते हैं, ऐसा मानने पर भी हम पूछेंगे कि वह दर्शन क्षण-क्षयादि में विकल्प को क्यों नहीं उत्पन्न करता ? क्योंकि स्पष्ट अनुभव तो वहां है ही । तीसरा पक्ष अर्थात् अविद्यावासना के

भावानभ्युपगमात् । अन्धोत्पादककारणस्वभावस्योपगमे क्षणक्षयादी तत्प्रसङ्ग , अन्यथा दर्शनभेद-
स्याद्विरुद्धधर्माध्यासात् । योगिन एव च तथाभूत तत्सम्भाव्येत, ततोऽस्यापि विकल्पोत्पत्तिप्रसङ्गात्
“विधूतकल्पनाजाल” [] इत्यादिविरोधः । अर्थित्व चाभिलषितत्वम्, जिज्ञासितत्व वा ?
प्रथमपक्षोऽयुक्त , क्वचिदनभिलषितेपि वस्तुनि तस्याः प्रबोधदर्शनात् । चक्रकप्रमङ्गल-अभिलषि-
तत्वस्य वस्तुनिश्चयपूर्वकत्वात् । द्वितीयपक्षेतु-क्षणक्षयादी तद्वामनाप्रबोधप्रमङ्गो नीलादाविवात्रापि
जिज्ञासितत्वाविशेषात् ।

न चैव सविकला(ल्प)कप्रत्यक्षवादिनामपि प्रतिवाद्युपन्यस्तसकलवर्णपदादीना स्वोच्छ्वासा-
दिसख्यायाश्चाविशेषेण स्मृतिः प्रसज्यते, सर्वथैकस्वभावस्यान्तर्वहिर्वा वस्तुनोऽनभ्युपगमात् । तन्मते

नाश होने को पाटव कहते हैं सो यह भी बनता नहीं, क्योंकि तुच्छ स्वभाव वाला अभाव
तुमने माना नहीं है, तथा निर्विकल्प बुद्धि में इस तरह अन्य को उत्पन्न करने रूप
स्वभाव मानोगे तो क्षण-ज्ञयादि में भी विकल्प पैदा करने रूप स्वभाव मानना होगा ।
नहीं तो तुम्हारे निर्विकल्प दर्शन में भेद मानने होंगे । क्योंकि उसमें विरुद्ध दो धर्म
अर्थात् नीलादि में विकल्प उत्पन्न करना और क्षण क्षयादि में नहीं करना ऐसे दो
विरुद्ध स्वभाव हैं, वे एकमे ही कैसे रहेंगे ? और एक दोष यह भी आवेगा कि योगी-
जन भी ऐसे पाटव को धारण करते ही हैं अतः उनसे भी विकल्प पैदा होने लग
जायेंगे । फिर तुम्हारा सिद्धान्त गलत सिद्ध होगा कि “योगियो का ज्ञान विकल्पो की
कल्पना जाल से रहित है” । अर्थित्व-पना माने (चौथा पक्ष) तो वह क्या है ? अभि-
लाषपना या जानने की इच्छा ? अभिलाष रूप अर्थित्व तो बनता नहीं, क्योंकि
अभिलाषा रहित वस्तु में भी विकल्प वासना का प्रबोध देखा जाता है, तथा इस
मान्यता में चक्रकनामा दोष भी आता है, क्योंकि अभिलाषपना भी वस्तु के निश्चय
पूर्वक ही होगा । चक्रक दोष इस प्रकार आवेगा कि अभिलाष से विकल्प वासना
प्रबोध की सिद्धि होगी पुनः विकल्प वासना प्रबोध से विकल्प की सिद्धि होगी । फिर
विकल्प से अभिलाषित रूप अर्थित्व सिद्ध होगा । इस प्रकार तीन के चक्कर में चक्कर
लगाते जाना चक्रक दोष है । जानने की इच्छा को अर्थित्व कहते हैं तो उसमें वही आपत्ति
है कि नीलादि की तरह क्षण-क्षयादि में विकल्प वासना प्रबोध करानेका प्रसंग आता
है क्योंकि जानने की इच्छा तो नीलादि की तरह क्षण-क्षयादि में भी है ।

बौद्ध—इस प्रकार अनिश्चय रूप निर्विकल्प से विकल्प उत्पन्न होना नहीं
मानो तो सविकल्पक ज्ञानवादी जैन के ऊपर भी सौगत प्रतिवादी के द्वारा दिया गया

हि अवग्रहेहावायज्ञानादनभ्यासात्मकाद् अन्यदेवाभ्यासात्मकं धारणाज्ञान प्रत्यक्षम् । तदभावे परोपन्यस्तसकलवर्णादिषु अवग्रहादित्रयसद्भावेपि स्मृत्यनुत्पत्तिः तत्सद्भावे तु स्यादेव-सर्वत्र यथा-सस्कार स्मृत्युत्पत्त्यभ्युपगमात् । न च परेषामप्यय युक्त-दर्शनभेदाभावात्, एकस्यैव क्वचिदभ्यासादी-नामितरेषां वानभ्युपगमात् । न च तदन्यव्यावृत्त्या तत्र तद्योगः, स्वयमतस्वभावस्य तदन्यव्यावृत्ति-सम्भवे पावकस्याऽशीतत्वादिव्यावृत्तिप्रसङ्गात् । तत्स्वभावस्य तु तदन्यव्यावृत्तिकल्पने-फलाभावात्-प्रतिनियततस्वभावस्यैवान्यव्यावृत्तिरूपत्वात् ।

स्यान्मतम् अभ्यासादिसापेक्ष निरपेक्ष वा दर्शन विकल्पस्य नोत्पादकम् शब्दार्थविकल्प-

दोष आवेगा, उनके यहां भी वर्ण, पद आदि का तथा उच्छ्वास, लव, स्तोक आदि सख्या का समान रूप से ही स्मृति के आने का प्रसंग आता है ।

जैन—हमारे यहां ऐसा प्रसंग नहीं आवेगा क्योंकि हमने आत्मादि अतरग पदार्थ तथा जड पुद्गल आदि बहिरग पदार्थ इन सभी को सर्वथा एक स्वभाव वाला नहीं माने हैं । तथा हमारे यहां तो अवग्रह, ईहा, अवाय ज्ञानों को अनभ्यासरूप माना है, इनसे भिन्न अभ्यास स्वभाव वाला धारणा नामक प्रत्यक्ष ज्ञान है । जब वह धारणा ज्ञान नहीं होता तब सकल वर्ण पदादिका तोनो अवग्रहादि होने पर भी उनकी स्मृति नहीं होती है । हा यदि धारणा ज्ञान है तो सभी पदार्थों में यथा सस्कार स्मरण होता ही है । लेकिन ऐसी व्यवस्था तुम बौद्ध के यहां नहीं बनती है, अर्थात् निर्विकल्प दर्शन, नीलादि में तो विकल्प उत्पन्न करे और क्षण-क्षयादि में नहीं—ऐसा सिद्ध नहीं होता, क्योंकि तुम्हारे यहां निर्विकल्प दर्शन में भेद नहीं माने हैं, जैसे कि हमारे यहां अवग्रह, ईहा आदि में भेद माने हैं । एक में ही कही नीलादि में तो अभ्यास हो और कही क्षण-क्षयादि में न हो ऐसा भेद आप मानते नहीं । उस निर्विकल्प दर्शन में उस अभ्यास को अन्य से हटा करके उस नीलादि में ही अभ्यास का योग करा देना ऐसी विशेषता नहीं है, क्योंकि वह स्वयं अभ्यास और अनभ्यास स्वभाव से रहित है, इस तरह अतत् स्वभावी होकर भी उनमें अन्य की व्यावृत्ति रूप विशेषता माने तो अग्नि में अशीतत्व (उष्णत्व) की व्यावृत्ति माननी पड़ेगी । हा यदि आप बौद्ध उस दर्शन में अभ्यास, अनभ्यास रूप स्वभाव स्वरूप से ही है ऐसा स्वीकार करते हो तो फिर उसको अन्य व्यावृत्ति की क्या आवश्यकता है ? हर वस्तु के प्रति नियत स्वभाव, खुद ही अन्य वस्तुओं से व्यावृत्ति रूप ही होते हैं ।

वासनाप्रभवत्वात्तस्य । तद्वासनाविकल्पस्यापि पूर्वतद्वासनाप्रभवत्वादित्यनादित्वाद्विकल्पसन्तानस्य प्रत्यक्षसन्तानादन्यत्वात्, विजातीयाद्विजातीयस्योदयानिष्टेर्नोक्तदोषानुषङ्गः, इत्यप्यसङ्गतम्, तस्य विकल्पाजनकत्वे 'यत्रैव जनयेदेना तत्रैवास्यप्रमाणात्' [] इत्यस्य विरोधानुषङ्गात् । कथं वा वासनाविशेषप्रभवत्त(वात् त)तोऽध्यक्षस्य रूपादिविषयत्वनियमः मनोराज्यादिविकल्पादपि तत्प्रसङ्गात् ? प्रत्यक्षसहकारिणो वासनाविशेषादुत्पन्नाद्रूपादिविकल्पात्तस्य तन्नियमे स्वलक्षण-विषयत्वनियमोप्यत एवोच्यताम्, अन्यथा रूपादिविषयत्वनियमोप्यतो मा भूदविशेषात् । तथाच-

बौद्ध—हम दर्शन को विकल्प का उत्पादक मानते हैं सो वह दर्शन अभ्यासादि की अपेक्षा रखता है अथवा नहीं रखता है ऐसा नहीं मानते क्योंकि विकल्प तो शब्द तथा अर्थ की विकल्प वासना से उत्पन्न होता है, और वह विकल्प वासना अपनी पूर्व वासना से उत्पन्न होती है, इस प्रकार वे वासनाएं अनादि प्रवाह रूप हैं और वे प्रत्यक्ष की सतान से पृथक् रूप हैं । इसी कारण से विजातीय दर्शन से विजातीय रूप विकल्प होना माना नहीं । ऐसा मानना हमें भी अनिष्ट है । अतः पूर्वोक्त जैन के द्वारा दिये गये दोष हमारे पर नहीं आते हैं ।

जैन—यह कथन असंगत है, इस प्रकार यदि आप दर्शन को विकल्प पैदा करने वाला नहीं मानोगे तो अपसिद्धात का प्रसंग आयेगा । "यत्रैव जनयेदेना तत्रैवास्य प्रमाणात्" अर्थात् जहां ही यह दर्शन सविकल्प बुद्धि को पैदा करता है वही पर उसको प्रमाण माना है । यहां दर्शन को विकल्पोत्पादक माना ही है । दूसरी बात यह है कि विकल्प तो वासना विशेष से पैदा हुआ है फिर उससे प्रत्यक्ष के रूपादि विषय का प्रतिनियम कैसे बनेगा ? यदि बनना है तो मनोराज्यादि विकल्प के द्वारा भी प्रत्यक्ष के विषय का नियम बनना चाहिए ।

बौद्ध — प्रत्यक्षकी सहकारी ऐसी विशिष्ट वासना के कारण प्रति-नियत रूपादि में विकल्प पैदा होने का नियम बनता है ।

जैन—ठीक है फिर दर्शन को क्षण-क्षयादि विषय का नियम भी करना होगा नहीं करता है तो रूपादि में भी मत करे । कोई विशेषता तो है नहीं । फिर तो हम अनुमान प्रयोग करते हैं कि विकल्प स्वलक्षण को विषय करता है । (साध्य) प्रत्यक्ष के विषय में प्रतिनियम करनेवाला होने से (हेतु) जैसे कि रूपादि निर्विकल्प के विषय में प्रति नियम बनाता है ।

स्वलक्षणगोचरोऽसौ प्रत्यक्षस्य तन्नियमहेतुत्वाद् रूपादिवत् । रूपाद्युल्लेखित्वाद्धिकल्पस्य तद्बलात्तन्नियम-
स्यैवाभ्युपगमे-प्रत्यक्षस्याभिलापससर्गोपि तद्वदनुमीयेत-विकल्पस्याभिलपनाभिलप्यमानजात्याद्युल्ले-
खिततयोत्पत्त्यन्यथानुपपत्ते । तथाविधदर्शनस्याप्रमाणसिद्धत्वाच्च आत्मैवाहम्प्रत्ययप्रसिद्ध प्रतिबन्ध-
कापायेऽभ्यासाद्यपेक्षो विकल्पोत्पादकोऽस्तु किमदृष्टपरिकल्पनया ? ततो विकल्प. प्रमाणम् सवाद-
कत्वात्, अर्थपरिच्छिन्ती साधकतमत्वात्, अनिश्रितार्थनिश्चायकत्वात्, प्रतिपत्त्रपेक्षणीयत्वाच्च
अनुमानवत्, नतु निर्विकल्पक तद्विपरीतत्वात्सन्निकर्षादिवत् ।

भावार्थ—जब बौद्धाभिमत विकल्प ज्ञान निर्विकल्प प्रमाण का विषय जो रूपादिक हैं उनको ग्रहण करता है तब उसी निर्विकल्प का अन्य विषय जो स्वलक्षण है उसका भी प्रतिनियम करेगा ही अर्थात् स्वलक्षण को भी ग्रहण करेगा, इस प्रकार का दोष आता है अतः प्रत्यक्ष के सहकारी वासना से विकल्प उत्पन्न हुआ है और इसलिए रूपादिका प्रतिनियम करता है, ऐसा क्षणिकवादी कह रहे हैं, वह असत्य ठहरता है ।

बौद्ध—विकल्प मे यह नीला है, यह पीला है इस प्रकार रूपादि का उल्लेख देखा जाता है अतः निश्चय होता है कि निर्विकल्प के विषयों में से सिर्फ रूपादि को जानने वाले विकल्प उत्पन्न हुआ करते है । यह नीला है, इत्यादि उल्लेख के समान “यह स्वलक्षण है” ऐसा उल्लेख विकल्प करता नहीं इसलिए मात्र रूपादि का ही उल्लेख करने का नियम बन जाता है ।

जैन—ऐसा स्वीकार करे तो फिर हम भी अनुमान के द्वारा उसी प्रत्यक्ष में शब्द संसर्ग भी सिद्ध कर देगे । देखिये-प्रत्यक्ष ज्ञान शब्द संसर्गी है क्योंकि उससे होने वाले विकल्प मे अभिलपन = शब्द और अभिलप्य = वाच्य रूप जाति आदि के उल्लेख की अन्यथानुपपत्ति है । इस प्रकार विकल्प में शब्द का संसर्ग देख कर प्रत्यक्ष में भी शब्द का संसर्ग मानना पडेगा जो बौद्ध मत के विरुद्ध पड़ता है ।

तथा दूसरी बात यह है कि तुम जैसा निर्विकल्प दर्शन का वर्णन करते हो वैसा प्रमाण रूप सिद्ध होता नहीं । हा जो आत्मा है उस रूप दर्शन को मानो तो वह अह प्रत्यय से सिद्ध हो रहा है, उसीके जब प्रतिबन्धक ज्ञानावरणादि कर्मका क्षयोपशम होता है तब वही अभ्यासादि के कारण विकल्प को उत्पन्न करता है यही बात सत्य है फिर काहे को उस निर्विकल्पक दर्शन की कल्पना करते हो । अतः यह सिद्ध हुआ कि

तस्याप्रामाण्यं पुन स्पष्टाकारविकलत्वात्, अगृहीतग्राहित्वात्, असति प्रवर्तनात्, हिताहित-
प्राप्तिपरिहारसमर्थत्वात्, कदाचिद्विसवादात्, समारोपानिषेधकत्वात्, व्यवहारानुपयोगात्,
स्वलक्षणागोचरत्वात्, शब्दससर्गयोग्यप्रतिभासत्वात्, शब्दप्रभवत्वात्, (ग्राह्यार्थं विना तन्मात्रप्रभव
त्वाद्वा) गत्यन्तराभावात् ? न तावत्स्पष्टाकारविकलत्वात्तस्याऽप्रामाण्यम्, काचाभ्रकादिव्यवहितार्थ-
दूरपादपादिप्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात् । न चैतद्युक्तम्, अज्ञातवस्तुप्रकाशनसवादलक्षणस्य
प्रमाणलक्षणस्य सद्भावात् । प्रमाणान्तरत्वसङ्गो वा, अस्पष्टत्वाल्लङ्घ्यत्वाभ्या प्रमाणद्वयानन्त-
र्भूतत्वात् । नापि गृहीतग्राहित्वात्, अनुमानस्याप्यप्रामाण्यानुषङ्गात्, व्याप्तिज्ञानयोगिसवेदन-

विकल्प प्रमाण है, सवादक होने से तथा पदार्थ के जानने में साधकतम होने से अनिश्चित (अपूर्वार्थ) पदार्थ का निश्चय कराने वाला होने से तथा प्रमाता की अपेक्षा लेकर उत्पन्न होता है इसलिए । जैसे अनुमान पदार्थ का निश्चायक है । इस प्रकार चार हेतुओं के द्वारा विकल्प को प्रमाण रूप से सिद्ध किया है, लेकिन निर्विकल्प प्रमाण सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि वह इससे विपरीत है अर्थात् सवादक नहीं, साधक-
तम नहीं, निश्चायक नहीं, और प्रमाता के द्वारा अपेक्षणीय भी नहीं है, जैसे कि सन्निकर्षादि अप्रमाण है ।

आप बौद्ध विकल्प को प्रमाण नहीं मानते हो सो क्यों ? क्या वह स्पष्ट आकार से रहित है इसलिए, अथवा गृहीत ग्राही है, पदार्थ के असत् होने पर प्रवृत्ति करता है, हित प्राप्ति तथा अहित परिहार करने में असमर्थ है कदाचित् विसवादी होने से, समारोप का निषेधक न होने से व्यवहार में उपयोगी न होने से स्वलक्षण को जानता नहीं इसलिये शब्द ससर्ग से प्रतिभास कराता है इसलिये शब्द से उत्पन्न होने से ग्राह्यार्थ के बिना उत्पन्न होने से, इस प्रकार इन ग्यारह कारणों से आपने उस विकल्प को अप्रमाण माना है क्या ? इनसे और तो कोई कारण हो नहीं सकता ?

प्रथम पक्ष—स्पष्टाकार रूप विकल्प वही होने से उसे अप्रमाण नहीं कह सकते, अन्यथा काच, अभ्रकादि से ढके हुए या दूरवर्ती वृक्ष पर्वतादि का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसे भी अप्रमाण मानना पड़ेगा ? क्योंकि वह स्पष्टाकार से विकल है, किन्तु उसे अप्रमाण तो कहते नहीं, क्योंकि वह अज्ञात वस्तु का प्रकाशन करना रूप प्रमाणके लक्षण से युक्त है । अथवा ऐसे ज्ञान को कोई तीसरा प्रमाण मानना पड़ेगा क्योंकि वह अस्पष्ट है इसलिए प्रत्यक्ष नहीं रहा और हेतु से उत्पन्न हुआ नहीं, अतः वह अनुमान भी नहीं हुआ । अतः वह विकल्प दोनों में ही शामिल नहीं हुआ ।

गृहीतार्थग्राहित्वात् । कथं वा क्षणक्षयानुमानस्य प्रामाण्यम्—शब्दरूपावभास्यध्यक्षावगतक्षणक्षय-
विषयत्वात्?—नच अध्यक्षेण धार्मिस्वरूपग्राहिणा शब्दग्रहणेऽपि न क्षणक्षयग्रहणम्, विरुद्धधर्माध्या-
सतस्तद्भेदप्रसक्तेः । नाप्यसतिप्रवर्तनात्, अतीतानागतयोर्विकल्पकाले असत्त्वेऽपि स्वकाले सत्त्वात् ।
तथाप्यस्याप्रामाण्ये—प्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यानुषङ्गः तद्विषयस्यापि तत्कालेऽसत्त्वाविशेषात् । हिताऽहित-
प्राप्तिपरिहारासमर्थत्वादित्यसम्भाव्यम्, विकल्पादेवेष्टार्थप्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिदर्शनात् अनिष्टार्थाच्च

दूसरा पक्षः—विकल्प गृहीत ग्राही है अतः अप्रमाण है । यह पक्ष भी ठीक नहीं है, ऐसा माने तो अनुमान भी अप्रमाण होगा तथा व्याप्ति ज्ञान और योगि प्रत्यक्ष आदि भी गृहीत ग्राही होने से अप्रमाण होवेगे । क्षण क्षयादि को विषय करने वाला अनुमान भी असत् होगा, क्योंकि वह शब्द ग्राहक श्रावण प्रत्यक्ष के द्वारा जाने हुए विषय में ही प्रवृत्ति करता है ।

भावार्थ— निर्विकल्प के प्रवृत्त होने पर उसी में विकल्प प्रवृत्ति करता है । अतः गृहीत ग्राही ग्रहण किए हुए को ही ग्रहण करने वाला है इसलिए विकल्प अप्रमाण है—ऐसा बौद्ध कहेगे तो उन बौद्ध को अनुमान को अप्रमाण मानना पड़ेगा क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्ष के विषय में ही प्रवृत्ति करता है अर्थात् यह घट है ऐसा कर्ण प्रत्यक्ष के द्वारा सुना, अब वह शब्द तो ग्रहण हो चुका फिर उसीमें अनुमान आया कि यह शब्द क्षणिक है क्योंकि नष्ट होता है अथवा सद्गुरु है । इस प्रकार का अनुमान गृहीत-ग्राही होने से अप्रमाण बन जायेगा ।

बौद्ध—धर्मों के स्वरूप को ग्रहण करने वाला जो प्रत्यक्ष है उस प्रत्यक्ष के (श्रावण) द्वारा शब्द भले ही ग्रहण हुआ है किन्तु उसका धर्म जो क्षण क्षय है वह तो ग्रहण हुआ ही नहीं ।

जैन—ऐसा माने तो शब्द धर्मों में दो विरुद्ध धर्म होने से उसके भेद मानने पड़ेगे अर्थात् शब्द में शब्दत्व तो ग्राह्य और क्षणिकत्व अग्राह्य ऐसे विरुद्ध दो धर्म हो जायेगे (जो कि आपको इष्ट नहीं होगा क्योंकि हम जैन को छोड़कर अन्य किसी भी मतवालों ने एक ही वस्तु में विरुद्ध धर्मों का सद्भाव नहीं माना है) ।

तीसरा पक्ष—पदार्थ के न होने पर भी विकल्प प्रवृत्ति करता है अतः विकल्प अप्रमाण है ऐसा कहे तो भी ठीक नहीं, यद्यपि विकल्प का विषय वर्तमान में नहीं

निवृत्तिप्रतीते । कदाचिदर्थप्रापकत्वाभावस्तु—प्रत्यक्षेपि समानोऽनर्थित्वादप्रवृत्तस्याद्यप्रत्यक्षवत् कदाचिद्विसवादादित्यप्यसाम्प्रतम्, प्रत्यक्षेप्यप्रामाण्यप्रमङ्गात्, तिमिराद्युपहतचक्षुषोऽर्थाभावेपि प्रत्यक्षप्रवृत्तिदर्शनात् । भ्रान्तादभ्रान्तस्य भेदोऽन्यत्रापि समानः । समारोपानिषेधकत्वादित्यप्यसङ्गतम्; विकल्पविषये समारोपासम्भवात् । नापि व्यवहारायोग्यत्वात्, सकलव्यवहाराणां विकल्पमूलत्वात् । स्वलक्षणाऽगोचरत्वादित्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, अनुमानेपि तत्प्रसक्ते तद्वत्तस्यापि सामान्यगोचरत्वात् । न च तद्ग्राह्यस्य सामान्यरूपत्वेप्यध्यवसेयस्य स्वलक्षणरूपत्वाद् दृश्यविकल्प्यावथविकीकृत्य

होता किन्तु अतीत अनागत काल मे तो है, ऐसे होते हुए भी अप्रमाण कहो तो प्रत्यक्ष भी अप्रमाण होगा क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय भी प्रत्यक्ष के समय में नहीं होता है ।

चौथा पक्ष—हिताहित प्राप्ति परिहार करने मे विकल्प ज्ञान असमर्थ है ऐसा कहना तो असंभव है क्योंकि विकल्प से ही इष्टार्थ की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार होता है । यदि कभी-कभी विकल्प के द्वारा अर्थ प्रापकता नहीं होती है अतः उसको अप्रमाण मानते हैं ऐसा कहो तो कभी-कभी अर्थ प्रापकता का अभाव प्रत्यक्ष मे भी देखा जाता है । देखिये "इदं जल" यह जल है, इस प्रकार किसी को पहली बार जल का ज्ञान हुआ, वह व्यक्ति जल का इच्छुक नहीं है तो वह उस ज्ञान से अर्थ में अर्थात् जल में प्रवृत्ति नहीं करता है तब क्या वह जल ज्ञान मात्र अर्थ प्रापक न होने से अप्रमाण कहलानेगा ? अर्थात् नहीं । अतः कदाचित् अर्थ प्रापक न होने से विकल्प अप्रमाण है यह बात सिद्ध नहीं होती है ।

पाँचवा पक्ष—विकल्प मे कभी-कभी विसवाद रहता है यह पक्ष भी गलत है, कभी-कभी विसवाद तो प्रत्यक्ष मे भी होता है । देखो—तिमिर रोगादिसे युक्त नेत्र पदार्थ के अभाव मे भी उस पदार्थ को दिखाने मे प्रवृत्त होते है । क्या वह नेत्र ज्ञान संवादक है ? कहो कि वह भ्रात प्रत्यक्ष है, अभ्रात मे ऐसा नहीं होता तो विकल्प मे भी यही बात है । वहा भ्रात विकल्प और अभ्रात विकल्प ऐसा भेद तो है ही ।

छठा पक्ष—विकल्प समारोप का निषेध नहीं करता यह कथन भी विकल्प मे असंभव है, उल्टे विकल्प मे तो समारोप आता ही नहीं ।

सातवां पक्ष—विकल्प व्यवहार के उपयोगी नहीं ऐसा पक्ष बनेगा ही नहीं क्योंकि विकल्प ही सारे व्यवहारो का मूल है ।

ततः प्रवृत्तेरनुमानस्य प्रामाण्यम्; प्रकृतविकल्पेऽप्यस्य समानत्वात् । शब्दसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वादित्य-
प्यसमीचीनम्; अनुमानैपि समानत्वात् । शब्दप्रभवत्वादित्यप्यसाम्प्रतम्, शब्दाध्यक्षस्याप्रामाण्य-
प्रसङ्गात् । ग्राह्यार्थं विना तन्मात्रप्रभवत्वं चासिद्धम्; नीलादिविकल्पानां सर्वदार्थं सत्येव भावात् ॥
ऋस्यचित्तु तन्मध्येणापि भावोऽध्यक्षैपि समानः द्विचन्द्रादिप्रत्यक्षस्यार्थाभावेपि भावात् । भ्रान्ताद-
भ्रान्तस्यान्यत्वमत्रापि समानम् ।

आठवां पक्ष—स्वलक्षण को विकल्प विषय नहीं करता अतः उसमें प्रमाणता नहीं है यह कहना भी बिना विचारे है क्योंकि ऐसे तो अनुमान भी अप्रमाण ठहरेगा—
कारण—वह भी स्वलक्षण को विषय नहीं करता वह तो सामान्य को विषय करता है ।

बौद्ध—यद्यपि अनुमान सामान्य को ग्रहण करता है, तो भी जानने योग्य चीज तो स्वलक्षण ही है अतः दृश्य और विकल्प अर्थात् स्वलक्षण और विकल्प के विषय भूत पदार्थों को वह अनुमान एकत्रित मानकर उस स्थूल रूप हुए पदार्थ में प्रवृत्ति करता है इसलिए हम लोग अनुमान को प्रमाण भूत स्वीकार कर लेते हैं ।

जैन—ऐसी बात विकल्प में भी घटित हो सकती है । मतलब जो बात आपने अनुमान के विषय में घटित करके बताई वैसी विकल्प के विषय में भी कही जा सकती है । देखिये यद्यपि विकल्प का विषय स्वलक्षण नहीं है, तो भी जो विकल्प आदि है उसको और दृश्य इन दोनों अर्थों को एकत्रित करके उनमें विकल्प करने वाले व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है । इसलिये अनुमान के समान विकल्प भी प्रमाण है ।

नवमा पक्ष—विकल्प शब्द संसर्ग के योग्य पदार्थ का प्रतिभासन करता है अतः वह अप्रमाण है ऐसा कहो तो अनुमान में भी शब्द संसर्गता है, उसे भी विकल्प की तरह अप्रमाण मानना होगा ।

दसवां पक्ष—विकल्प शब्द के द्वारा होता है अतः अप्रमाण है ऐसा माने तो भ्रावण प्रत्यक्ष को अप्रमाण मानना होगा ।

ग्यारहवां पक्ष—विकल्प्य ज्ञान ग्राह्य अर्थ के बिना ही शब्द मात्र से उत्पन्न होता है ऐसा कहना भी असिद्ध है, क्योंकि सभी नीलादि विकल्प हमेशा पदार्थ के होने पर ही उत्पन्न होते हैं । यदि कहो कि कोई-कोई विकल्प बिना पदार्थ के भी होता है तो प्रत्यक्ष भी कभी-कभी पदार्थ के अभाव में होता है, जैसे दो चन्द्रादि का ज्ञान, दो

किञ्च, विकल्पाभिधानयोः कार्यकारणत्वनियमकल्पनायाम्किञ्चित्पद्यतः पूर्वानुभूततत्स-
दृशस्मृतिर्न स्यात् तन्नामविशेषास्मरणात्, तदस्मरणे तदभिधानाप्रतिपत्ति, तदप्रतिपत्तौ तेन
तदयोजनम् तदयोजनात्तदनध्यवसाय इत्यविकल्पाभिधान जगदापद्यते ।

किञ्च, पदस्य वर्णानां च नामान्तरस्मृतावसत्तामध्यवसाय., सत्या वा ? तत्राद्यपक्षे-नाम्नो

चन्द्र नहीं हैं फिर भी वैसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । वह प्रत्यक्ष भ्रांत है ऐसा कहो तो
वैसे ही जो विकल्प पदार्थ के बिना होता है उसे ही भ्रात मानना चाहिए ? सबको नहीं
इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान अप्रमाण क्यों है इस बात का निश्चय करने के लिए बौद्ध
से जैन ने ११ प्रश्न पूछे किन्तु बौद्ध किसी भी प्रकार से विकल्प को असत्य नहीं ठहरा
सका, उल्टे उसको यहां बड़ी भारी मुह की खानी पडी है । हम जैन बौद्ध से पूछते
हैं कि आप यदि विकल्प और शब्द में कार्यकारण का अविनाभाव मानते हैं तो किसी
नीलादि को देखते हुये पुरुष को उसी के समान पहले देखे हुये पदार्थ का स्मरण नहीं
आयेगा, क्योंकि उस वस्तु के नाम का स्मरण तो उसे होगा नहीं, नाम स्मृति बिना
उसे वह जानेगा नहीं और जाने बिना यह शब्द इसका वाचक है, यह वस्तु इस शब्द
के द्वारा वाच्य है—इत्यादि सबध की योजना नहीं होगी, योजना के बिना उसका
निश्चय नहीं होगा अर्थात् दृश्यमान नीलादि में विकल्प न होगा और इस प्रकार सारा
संसार विकल्प तथा अभिधान (शब्द) से रहित हो जायेगा ।

भावार्थ—यदि शब्द और विकल्प इन दोनों में कारण कार्य भाव मानते हैं
अर्थात् शब्द (नाम) कारण है और विकल्प उसका कार्य है ऐसा सर्वथा नियम बनाया
जाय तो बहुत दोष आते है । देखो—किसी नील या पीत आदि वस्तु को कोई पुरुष देख
रहा है उस समय उस पुरुष को पहले कभी देखे हुए सदृश नीलादि वस्तु स्मरण न हो
सकेगी । क्योंकि उस पूर्वानुभूत वस्तु का नाम नहीं लिया है और व उस नाम का
स्मरण ही है, इस प्रकार पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण न होने से इस वस्तु का यह नील
आदिक नाम है ऐसा वाच्य वाचक सबध रहेगा नहीं उस सबध के अभाव में उसका
निर्णय नहीं होगा और इस तरह तो सारा संसार ही अविकल्प-विकल्प ज्ञान रहित हो
जायेगा जो कि इष्ट नहीं है क्योंकि सभी को विकल्प ज्ञान अनुभव में आता है ।

अच्छा यह बताओ कि पद (गौ इत्यादि) और वर्णों का (ग् औ) का
ज्ञान उसी पद और वर्णों के दूसरे नामांतर याद होने पर होता है कि बिना याद हुए

नामान्तरेण विनापि स्मृतौ केवलार्थाध्यवसायः किन्न स्यात् ? 'स्वाभिधानविशेषापेक्षा एवार्था निश्चर्यैर्निश्चीयन्ते' इत्येकान्तत्यागात् । द्वितीयपक्षे तु-अनवस्था-वर्णपदाध्यवसायेप्यपरनामान्तरस्या-वश्य स्मरणात् ॥

होता है ? यदि कहा जाय कि नामान्तर के बिना भी नाम की स्मृति होती है तो वैसे ही नाम के बिना पदार्थ का निश्चय क्यों न होगा ? क्योंकि यह एकान्त तो रहा नहीं कि अपने नाम की अपेक्षा लेकर ही विकल्प के द्वारा पदार्थ का निश्चय होता है । दूसरा पक्ष कहो कि उन पदादि का दूसरा नामांतर का स्मरण होने पर ही निश्चय होता है तो अनवस्था दोष आता है अर्थात् एक पदादि की जानकारी के लिए दूसरे पदादि और उनके लिए तीसरे पदादि का स्मरण होना आवश्यक है । इस प्रकार बौद्ध का माना हुआ निर्विकल्प प्रमाण सिद्ध नहीं होता है ।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष के खंडन का सारांश

बौद्ध निर्विकल्प प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं । उनके यहां दो प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और अनुमान । इनमें से अनुमान को तो पदार्थ का निश्चायक माना है किन्तु प्रत्यक्ष को नहीं, निर्विकल्प दर्शन के बाद यह नील है अथवा पीत है इस प्रकार का विकल्प पैदा होता है वह अप्रमाण है । [अनुमान को लोक व्यवहार में प्रमाण माना है प्रत्यक्ष ही सर्वथा परमार्थ प्रमाण है] जैनाचार्य ने इसका विस्तृत खंडन किया है । सबसे प्रथम यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि निर्विकल्प दर्शन कोई प्रमाण है तो उसकी प्रतीति क्यों नहीं होती ? एक साथ अर्थात् निर्विकल्प के साथ ही विकल्प पैदा होता है, अतः दोनों में एकत्व दिखाई देता है यह कथन ठीक नहीं क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न मालूम पड़े तो एक का दूसरे में आरोप होकर एकत्व होता है ऐसा माना जाय किन्तु निर्विकल्प प्रतीति नहीं होता है । बौद्ध यह कहे कि निर्विकल्प के बाद ही अतिशीघ्र विकल्प उत्पन्न होता है अतः वह पहला प्रतीति में नहीं आता मात्र एकत्व का प्रतिभास होता है ? तो यह भी ठीक नहीं, ऐसे तो गधे के रेकना, चिल्लाना (गधा जो आवाज करता है, बोलता है) इनमें भी लघुवृत्ति= शीघ्रता होती है फिर उसमें एकत्व का प्रतिभास क्यों नहीं होगा ? मतलब गधा जो

शब्द करता है उसमें अव्यक्त शब्द रहते हैं और वह देरी तक चिल्लाता है वे शब्द क्रम से सुनाई भी नहीं देते, अतः उन शब्दों में एकत्व मानना होगा, किन्तु एकत्व किसी ने माना नहीं। सदृशता कौन सी है, विषय एक होना रूप या ज्ञान रूप ? विषय एक हो सही सकता, क्योंकि निर्विकल्प का विषय स्वलक्षण और विकल्प विषय सामान्य है अर्थात् दोनों का विषय एक नहीं ज्ञानपने की अपेक्षा एकता माने तो सारे ही नील पीतादि ज्ञान एक रूप मानो। अभिभव पक्ष भी बनता नहीं, क्या निर्विकल्प से विकल्प का अभिभव होता है या विकल्प से निर्विकल्प का। दोनों के द्वारा भी अभिभव हो नहीं सकता। अच्छा बौद्ध, यह बताओ कि निर्विकल्प और विकल्प में एकता है—यह कौन निर्णय करता है ? निर्विकल्प निर्णय रहित है वह क्या निर्णय करेगा ? विकल्प भी निर्विकल्प के विषय को नहीं जानने से निर्णय कर नहीं सकता। बिना जाने कैसा निर्णय हो ? इसलिए दोनों में एकता है इस बात को कोई भी जानने वाला न होनेसे उसका अभाव ही है अर्थात् “निर्विकल्प का अभाव सिद्ध होता है क्योंकि वह प्रतीति में नहीं आता है, विकल्प की प्रतीति आती है अतः वह प्रमाण है। बौद्ध कहते हैं कि निर्विकल्प के द्वारा विकल्प उत्पन्न होता है किन्तु यह बात घटित नहीं होती क्योंकि जो स्वतः विकल्प रहित है वह विकल्प को कैसे उत्पन्न करेगा ? जबरदस्ती मान भी लेवे तो फिर उनको सभी विषयों में विकल्प उत्पन्न करने पड़ेंगे, किन्तु आपने तो केवल नीलादि विषय में ही उसे विकल्पोत्पादक माना है, क्षणादि विषय में नहीं। इस पर सौगत अपनी सुष्ठु दलील पेश करते हैं कि जहाँ पर विकल्प वासना का प्रबोधक है वही पर वह निर्विकल्प दर्शन विकल्प को उत्पन्न करता है, किन्तु यह कोई बात में बात है ? विकल्प वासना तो नीलादि की तरह क्षण-क्षयादि में मौजूद है। तब भुंभुलाकर वादी ने जवाब दिया कि क्षण-क्षयादि विषय में निर्विकल्प का अभ्यास नहीं, प्रकरण (प्रस्ताव) पाटव अर्थित्व ये भी नहीं। अतः उसमें कैसे विकल्प उत्पन्न करे ? इस पक्ष में विचार करने पर कोई सार नहीं निकलता है। अभ्यास नीलादि में तो है और क्षणादि में नहीं ऐसा सिद्ध नहीं होता। प्रकरण दोनों नील और क्षणादि का चल ही रहा है। पाटव नीलादि में क्यों है और क्षण में क्यों नहीं—यह आप सिद्ध नहीं कर पाते। इस प्रकार खडित होने पर बौद्ध दूसरी प्रकार से कहते हैं—दर्शन को हमने अभ्यास आदि के होने अथवा न होने के कारण विकल्पोत्पादक नहीं माना अर्थात् विकल्प तो शब्द और अर्थ की वासना (संस्कार) के कारण

उत्पन्न होता है न कि निर्विकल्प से ? इस कथन से तो बौद्ध का शास्त्र गलत ठहरता है । वहा तो लिखा है—

“यत्रैव जनये देनां तत्रैवास्य प्रमाणता”

जिस विषय में निर्विकल्प के द्वारा विकल्प बुद्धि उत्पन्न की जाती है उसी विषय में उस निर्विकल्प को प्रमाण माना है (सब जगह नहीं) इस प्रकार बौद्ध निर्विकल्प को विकल्पोत्पादक भी नहीं कह सकते और न विकल्प का अनुत्पादक ही । सबसे बड़ी आश्चर्य की बात तो यह है कि जिसकी प्रतीति नहीं, भूलक नहीं, कुछ भी नहीं उस निर्विकल्प को तो प्रमाण माना, और जिसकी प्रतीति आती है उस विकल्प को अप्रमाण कहते हो । आचार्य ने, “विकल्प में प्रमाणता क्यो नहीं” इस बारे में ग्यारह प्रश्न-माला उठा कर अच्छी तरह यह सिद्ध किया है कि सब प्रकार से विकल्प ही प्रमाण है निर्विकल्प नहीं । विकल्प का स्वरूप यही है कि प्रतिबंधक कर्म का अभाव अर्थात् क्षयोपशम होना मतलब आत्मा में ज्ञानावरण का क्षयोपशम हो जाने से सविकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है और वह पदार्थ का निश्चय कराता है ऐसा बौद्ध को मानना चाहिए । निर्विकल्प के द्वारा न लौकिक कार्य की सिद्धि है और न पारमार्थिक कार्य की सिद्धि है क्योकि वह कुछ पदार्थ का निर्णय या दिग्दर्शन, प्रतीति कराता ही नहीं । इसलिए लोक व्यवहार तथा मोक्षादि पुरुषार्थ की सिद्धि जिस ज्ञान के द्वारा हो उसी ज्ञान को स्वीकार करना चाहिए । व्यर्थ ही निर्विकल्प सविकल्प आदि की कल्पना से मात्र तुम बौद्ध निर्विकल्प हो जाओ ।

* निर्विकल्प प्रत्यक्ष का सारांश समाप्त *

शब्दाद्वैतवाद—पूर्वपक्ष

श्री भर्तृहरि आदि वेदान्तवादियो ने समस्त विश्व को शब्दरूप माना है, उनका मन्तव्य उत्तर पक्ष के पहिले यहा पूर्वपक्ष के रूप मे प्रदर्शित किया जाता है— इसी पूर्वपक्ष का विचार आचार्य प्रभाचन्द्रजी ने इस प्रकरण मे किया है—

अनादिनिधन ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम् ।

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो मता ॥ १ ॥

—वाक्यपदी प्र० १,

आदि-अन्त रहित यह ब्रह्म— (जगत्) शब्द रूप है, उसमे किसी प्रकार का क्षरण नही होता, इसलिये वह अक्षर है, वही शब्द तत्त्व बाह्य-घट पट आदि रूप से दिखाई देने वाले पदार्थ रूप मे परिवर्तित होता है, इसी से जगत का व्यवहार चलता है, इस प्रकार एक, अखण्ड और व्यापक तथा सूक्ष्म ऐसे शब्द ब्रह्म से ही इस सृष्टि का सृजन हुआ है, यह शब्द ब्रह्म ही ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय आदि रूप से परिणामन करता है—ऐसा ही कहा है—

अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तर कारणम् ।

तद्वच्छब्दो ऽपि बुद्धिस्थ श्रुतीना कारण पृथक् ॥ ४६ ॥

—वाक्यप० पृ० ३६

जिस प्रकार अरणि में स्थित अव्यक्त अग्नि अन्यत्र प्रकाश का कारण हुआ करती है, उसी प्रकार बुद्धि में स्थित जो शब्द ब्रह्म है—अर्थात् शब्दमय ज्ञान है—वही सुनने योग्य शब्द रचना रूप होकर पृथक् २ रूप से सुनाई देता है, मतलब कहने का यह है कि जैसे काष्ठ में अग्नि अव्यक्त रहती है और मथन करने से प्रकट होकर अन्य दीपक आदि रूप प्रकाश का हेतु बनती है, उसी प्रकार शब्दमय बुद्धि या ज्ञान में स्थित जो शब्द है वही वर्ण स्वरूप को धारण कर श्रोता के कर्ण प्रदेश मे प्रविष्ट होता है—श्रोतागण के ज्ञान का कारण होता है ।

आत्मरूप यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च विद्यते ।

अर्थरूपे तथा शब्दे स्वरूपं च प्रतीयते ॥ ५० ॥

टीका—“यथा ज्ञानरूपेण ज्ञेयरूपेण चाभिन्नमेकमेव वस्तु द्वाभ्या रूपाभ्यां विभक्तमिवाभाति विषयरूपेण तयोरभिन्ना स्थितिश्च नैव हीयते ज्ञेयस्य ज्ञानाश्रितत्वात्, तथैवाभिन्ने चैकात्मके शब्दे श्रुतिरूपतया, अर्थप्रतीतिरूपतया च शब्दस्य स्वरूपं तस्यैवार्थरूपादभिन्नमिवाभाति । अनयो पृथक्ता प्रकाशनव्यापारे ह्येव प्रतीयते । अन्यथा बुद्धिस्थरूपेण तु शब्द एकात्मा ह्येव । अर्थरूप तु स्वाश्रितम् ।” — टीका-वाक्य प० पृ० ४४ जिस प्रकार अद्वैतवादी वेदान्ती ज्ञान और ज्ञेय को एक ही वस्तु के भेदरूप मानते हैं अर्थात् एक ब्रह्मरूप वस्तु ही ज्ञान और ज्ञेय इन दो रूपों में विभक्त होती है ऐसा मानते हैं क्योंकि ज्ञेय तो ज्ञान के आश्रित है, उसी प्रकार शब्द तत्त्व भी एक ही है, किन्तु उसीके श्रुतिरूप और अर्थप्रतीति रूप दो भेद हो जाते हैं, शब्द में अर्थरूपता और स्वरूपता दोनों ही छिपी रहती हैं, पदार्थ का बोध करते कराते समय ज्ञान में स्थित जो शब्द तत्त्व है वही वर्णरूप, श्रोता के कानमें ध्वनिरूप और घटादि पदार्थ रूप हो जाता है, अन्य समयों में अर्थात् शब्दोच्चारण काल के अतिरिक्त समय में वह शब्दतत्त्व मात्र बुद्धि रूप ही रहता है, विभक्त नहीं होता, अर्थ की सत्ता शब्द के बिना संभव न हो सकने के कारण शब्द की उपयोगिता अर्थ के बिना शून्य हो जाने के कारण दोनों रूपों को भिन्न या पृथक् कहना अपनी ही भ्रान्ति का परिचय देना है ।

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः ।

व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ॥ ११२ ॥

—वाक्यपदी: पृ० ११०

शब्द तत्त्व एक और अखंड है, उसी का मन और वचन रूप से विभाजन होता है, सूक्ष्मवाक्स्वरूप में ज्ञाता (या मन) स्थित है, इसीको अन्दर में रहने के कारण “आन्तर” कहा गया है, वही ज्ञाता या मनरूप शब्द ब्रह्म अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये शब्द-वचनरूप विवर्त-पर्याय को धारण करता है, इस प्रकार यहां तक यह प्रकट किया कि ज्ञेय और ज्ञाता आदि रूप अवस्था तो शब्द ब्रह्म की है । अब यह प्रकट किया जाता है कि विश्व में जितने भी ज्ञान हैं, वे भी शब्दब्रह्मरूप हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादुच्यते ।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ १२३ ॥

—वाक्यपदी पृ०-१२०

इस जगत् में ऐसा कोई प्रत्यय-ज्ञान नहीं है जो शब्दानुगम के बिना हो जावे, समस्त ज्ञान शब्द से अनुविद्ध है—शब्दरूप से ही प्रतीति में आता है। वक्ता की बुद्धि में स्थित—जो बुद्धिरूप शब्द है वही मुख से प्रकट होता है वही श्रोतागण के कानों में प्रविष्ट होता है तथा वही शब्दब्रह्म श्रोताओं के मन में जाकर ज्ञानरूप बन जाता है। जागृत अवस्था में वचनव्यापार प्रकट ही है और निद्रित अवस्था में वह रहते हुए भी सूक्ष्म होने के कारण अप्रकट बना रहता है, कहा भी है—

“न तैर्विना भवेच्छब्दो नार्थो नापि चित्तेर्गति ।”

तथा—“वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधम्य शाश्वती ।

न प्रकाश प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमशिनी ॥ १२४ ॥

—वाक्यपदी-पृ० १२१

ज्ञान की जो सदा की रहने वाली वचनरूपता है यदि उसका उल्लघन हो गया तो प्रकाश किसी को भी प्रकाशित नहीं कर सकता। क्योंकि उसी के द्वारा ही हर प्रकार का विचार विमर्श होता है। वचनात्मक अवस्था हो चाहे स्मृति काल हो, चाहे अन्य कोई अवस्था या समय हो शब्दपने का अतिक्रम नहीं हो सकता समस्त व्यवहार का माध्यम तो शब्दरूपता ही है।

अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः ।

तदुत्क्रान्तौ विसन्नोऽयं दृश्यते काष्ठकुडचवत् ॥ १२७ ॥

—वाक्यपदी—पृ० १२४

वाक् रूप ग्रहण किया गया चैतन्य ही सब प्राणियों को सभी प्रकार की सार्थक क्रियाओं में प्रवृत्त कराता है, यदि वह वाक् रूप चैतन्य न रहे तो प्राणी काष्ठ अथवा दीवार की भांति चैतन्य हीन और निष्प्राण रह जाये, वाक् उसकी सचेतना का सचोट प्रमाण है।

ग्राह्य ग्राहक भाव के सबधमें इस प्रकार से कथन है—

“ग्राह्यत्व ग्राहकत्व च द्वे शक्ती तेजसो यथा ।

तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते ॥ ५५ ॥

—वाक्यपदी पृ ५१

जिस प्रकार प्रकाशमें ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व ऐसी दो शक्तियाँ रहती हैं उसी प्रकार शब्दों में ग्राह्य और ग्राहकत्व शक्तियाँ अन्तर्निहित होती हैं। ग्राह्य का अभिप्राय यहाँ ज्ञेय से है और ग्राहक का अभिप्राय ज्ञानसे है, इस श्लोक द्वारा ग्राह्यग्राहकपना शब्द रूप ही है यह विवेचित किया गया है। अर्थात् ग्राह्य-पदार्थ और ग्राहक-ज्ञान ये दोनों शब्दरूप ही हैं, ऐसा यहाँ बतलाया गया है।

नित्याः-शब्दार्थं सबन्धा समाभ्राता महर्षिभिः ।

सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः ॥ २३ ॥

—वाक्यपृ० २१

शब्द और अर्थ का सार्वकालिक 'सबध' है, अर्थात् जहाँ शब्द है वहाँ उसका पदार्थ-वाच्य है, और जहाँ पदार्थ है वहाँ शब्द भी अवश्य है। ऐसा सूत्रकारों ने, महर्षियों ने तथा भाष्यकारों ने कहा है। इस प्रकार ज्ञान ज्ञेय, वाच्यवाचक, ग्राह्यग्राहक इत्यादि रूप संपूर्ण विश्व को शब्दमय सिद्ध करके अब शब्दब्रह्म में लीन होनेरूप जो मोक्ष है उसका उपाय बताया जाता है—

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।

प्रथमं छदसामगं प्राहुर्व्याकरणं बुधा ॥ १ ॥

—वाप पृ० ११

यदि उस परमब्रह्म का निकटवर्ती कोई है तो वह व्याकरण ही है, वही तपों में उत्तम तप है और वही वेदों का प्रथम अंग है। ऐसा बुद्धिमान पुरुष पुंगवो ने प्रतिपादन किया है।

तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।

पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥ १४ ॥

—वाप पृ० १४

वह व्याकरण मोक्ष का द्वार अर्थात् उपाय है, उसी से वचन दोष दूर होते हैं, व्याकरण सर्वविद्याओं में प्रमुख और पवित्र है। सारांश इसका यही है कि व्याकरण तप है, वेदज्ञान का अंग है, विद्याओं में प्रमुख है और इसी से मोक्षप्राप्ति होती है। शब्दब्रह्म में लीन हो जाना इसीका नाम मोक्ष है,

जितने भी प्रमाणभूत ज्ञान है वे सब शब्दात्मक है—शब्दरूप उपादान से निर्मित हैं। शब्द-वाक्के चार भेद हैं—वैखरी वाक्, मध्यमा वाक्, पश्यन्ती वाक्, और सूक्ष्मा वाक्, इनके लक्षण इस प्रकार से है—

वैखरी शब्दनिष्पत्ति मध्यमा श्रुतिगोचरा ।

द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥ १ ॥

—कुमार स टीका २/१७

वक्ता के मुख से तालु आदि स्थानों पर जो शब्द बनते हैं—निष्पन्न होते हैं—ककारादि वर्णों की निष्पत्ति होती है, उसे वैखरीवाक् कहा गया है। कर्णपुट में प्रविष्ट होवे के बाद जिसमें वर्णक्रम समाप्त हो गया है वह मध्यमा वाक् है, तथा अन्तरग में संकल्प विकल्परूप या अन्तःजल्पस्वरूप वाग् भी मध्यमा वाक् है, केवल बुद्धि या ज्ञानरूप पश्यन्ती वाक् है, सूक्ष्मावाक् तो सर्वत्र है वह अत्यन्त दुर्लक्ष्य है, उसी सूक्ष्म-वाक् से विश्व व्याप्त हो रहा है। इस प्रकार समस्त विश्व, मन वचन ज्ञान आदि सब शब्दमय हैं। शब्द के बिना कोई भी ज्ञान नहीं हो सकता, शब्द सर्वथा नित्य है, हमें जो वह कार्यकारण रूप या उत्पत्ति विनाश आदि रूप प्रतीत होता है वह केवल अविद्या के कारण होता है, अविद्या के अभाव में जगत् शब्दमय तथा नित्य ही प्रतिभासित होता है।



शब्दाद्वैतविचारः

येपि शब्दाद्वैतवादिनो निखिलप्रत्ययाना शब्दानुविद्धत्वेनैव सविकल्पकत्व मन्यन्ते-तत्स्पर्शवैक-
ल्ये हि तेषा प्रकाशरूपताया एवाभावप्रसङ्ग । वाग्रूपता हि शाश्वती प्रत्यवमर्शिनी च । तदभावे प्रत्य-
याना नापर रूपमवशिष्यते । सकल चेद वाच्यवाचकतत्त्व शब्दब्रह्माण एव विवर्तो नान्यविवर्तो नापि
स्वतन्त्रमिति । तदुक्तम्—

न सोस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते ।

अनुविद्धमिवाभाति सर्व शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

[वाक्यप० १।१२४]

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।

न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ २ ॥

[वाक्यप० १।१२५]

शब्दाद्वैत वादी जो भर्तृहरि आदि है उनका ऐसा मन्तव्य है—कि जितने भी ज्ञान
हैं उनका शब्दके साथ तादात्म्य सबध है, इसीलिये वे सविकल्प है, यदि इनमें शब्दा-
नुविद्धता न हो—शब्द सस्पर्श से ये विकल हो—तो ज्ञानो मे प्रकाशरूपता का—वस्तुस्व-
रूप के प्रकाशन करने का- अभाव होगा, वचन सदा से ज्ञान के कारण होते चले आ
रहे है, यदि ज्ञान मे शब्द सस्पर्शित्व न माना जावे तो ज्ञान का अपना निजरूप कुछ
बचता ही नहीं है, जितना भी यह वाच्यवाचकतत्त्व है वह सब शब्दरूप ब्रह्म की ही
पर्याय है और किसी की नहीं, न यह कोई स्वतन्त्र पदार्थ है । कहा भी है—“न सो
ऽस्ति प्रत्ययो लोके”—इत्यादि वाक्य प० १/१२४ ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द के
अनुगम के बिना हो, सारा यह जगत् शब्द के द्वारा अनुविद्ध सा हो रहा है, समस्त
विश्व शब्द ब्रह्म मे प्रतिष्ठित है” ॥१॥

ज्ञान मे अव्यभिचरित रूप से रहनेवाली शाश्वती वाग्रूपता का यदि ज्ञान
मे से उल्लघन हो जाता है तो ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं रह सकता, क्योंकि वह
वाग्रूपता—शब्दब्रह्म ज्ञान से सबधित होकर रहती है ॥ २ ॥

अनादिनिघन शब्दब्रह्मतत्त्व यदक्षरम् ।

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ ३ ॥

[वाक्यप० १/१]

अनादिनिघन हि शब्दब्रह्म उत्पादविनाशाभावात्, अक्षरं च अकाराद्यक्षरस्य निमित्तत्वात्, अनेन वाचकरूपता 'अर्थभावेन' इत्यनेन तु वाच्यरूपतास्य सूचिता । प्रक्रियेति भेदा । शब्दब्रह्मेति नामसङ्कीर्तनमिति,

तेष्वतत्त्वज्ञा, शब्दानुविद्धत्वस्य ज्ञानेष्वप्रतिभासनात् । तद्धि प्रत्यक्षेण प्रतीयते, अनुमानेन वा ? प्रत्यक्षेण चेत्किमैन्द्रियेण, स्वसवेदनेन वा ? न तावदैन्द्रियेण, इन्द्रियाणां रूपादिनियतत्वेन ज्ञानाविषयत्वात् । नापि स्वसवेदनेन, अस्य शब्दागोचरत्वात् । अर्थस्य तदनुविद्धत्वात् तदनुभवे ज्ञाने तदप्यनुभूयते इत्युच्यते, ननु किमिदं शब्दानुविद्धत्व नाम-अर्थस्याभिन्नदेशे प्रतिभासा, तादात्म्य

शब्दब्रह्म रूप तत्त्व तो अनादिनिघन—आदिअन्तरहित है क्योंकि वह अविन-
श्वर है, वही शब्दब्रह्म घटपटादिरूप से परिणमता है, अतः जगत्मे जितने पदार्थ हैं
वे सब उसी शब्दब्रह्म के भेद प्रभेद हैं ॥ ३ ॥ यह शब्दब्रह्म अनादिनिघन इसलिये है
कि उसमें उत्पाद विनाश नहीं होता, अकारादि अक्षरोका वह निमित्त है, अतः अक्षर
रूप भी उसे कहा गया है, इससे यह प्रकट किया गया है कि वह वाचक रूप है तथा
वही अर्थरूप से परिणमन करता है, अतः वही वाच्यरूप है, यही जगत् की प्रक्रिया
है अर्थात् प्रभेद भेद रूप जो ये जगत् है वह शब्दब्रह्ममय है ।

जैन—इस प्रकार से यह शब्दब्रह्म का प्रतिपादन तात्त्विक विवेक वालों के द्वारा
नहीं हुआ है, किन्तु अतत्त्वज्ञों के द्वारा ही हुआ जानना चाहिये, क्योंकि ज्ञान शब्दानु-
विद्ध है यह बात बुद्धि में उतरती नहीं है, ज्ञानों में शब्दानुविद्धता है” यह बात किस
प्रमाण से आप प्रमाणित करते हैं ? क्या प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? यदि कहा जाय
कि 'ज्ञानों में शब्दानुविद्धता प्रत्यक्ष से हम साबित करते हैं—तो पुनः प्रश्न होता है
कि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से या स्वसवेदन प्रत्यक्ष से ? इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तो ज्ञानों में
शब्दानुविद्धता को जान नहीं सकता, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति रूपादि नियत विषयों में
होती है, ज्ञान में नहीं, रहा स्वसवेदनप्रत्यक्ष—सो यह शब्द के अगोचर है, अर्थात् अचे-
तनशब्द में स्वसवेदनता का अभाव है ।

शब्दाद्वैतवादी—ठीक है प्रत्यक्ष “ज्ञान शब्द से अनुविद्ध है” इस बात को
साक्षात् रूप से नहीं जानता है तो मत जानो—परन्तु पदार्थ में शब्दानुविद्धता है सो जब

वा ? तत्राद्यविकल्पोऽसमीचीनः, तद्रहितस्यैवार्थस्याध्यक्षे प्रतिभासनात् । न हि तत्र यथा पुरोव-
स्थितो नीलादिः प्रतिभासते तथा तद्देशे शब्दोपि-श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे तत्प्रतिभासात् न चान्यदेशतयोप-
लभ्यमानोप्यन्यदेशोसौ युक्त, अतिप्रसङ्गात् । नापि तादात्म्यम्, विभिन्नेन्द्रियजनितज्ञानग्राह्यत्वात् ।

ज्ञान पदार्थ को जानता है तब उसके अनुभव होने पर ज्ञान में भी शब्दानुविद्धता का प्रतिभास होता है ।

जैन—अच्छा हम आपसे अब यह पूछते हैं कि यह शब्दानुविद्धता क्या है ? क्या अर्थ-पदार्थ-का जो देश है-उसी देश में शब्द का प्रतिभास होना-अर्थात् जहा पदार्थ है वही पर शब्द है ऐसा प्रतिभास होना यह शब्दानुविद्धत्व है ? अथवा अर्थ और शब्द का तादात्म्य होना यह शब्दानुविद्धत्व है ? प्रथम पक्ष की अपेक्षा यदि शब्दानु-विद्धत्व स्वीकार किया जावे तो वह सगत नहीं बैठता, क्योंकि प्रत्यक्ष से यही प्रतीति मे आता है कि पदार्थ शब्द से अनुविद्ध नहीं है, अर्थात्-शब्द से रहित पदार्थ ही प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होता है, ऐसा कभी भी प्रतीत नहीं होता कि जिस स्थान पर नीलादि पदार्थ प्रतिभासित हो रहे हो उसी स्थान पर तद्वाचक शब्द भी प्रतीति में आ रहा हो, शब्द की प्रतीति तो श्रोता के कर्ण कुहरप्रदेश में होती है, अतः ऐसा कहना कि अर्थ-देश मे शब्द की प्रतीति-प्रतिभास-होना शब्दानुविद्धता है सो न्यायानुकूल नहीं है—क्योंकि वाच्य और वाचक का देश भिन्न २ है, इसलिये वाच्यवाचक का देश अभिन्न मानना कथमपि सगत नहीं हो सकता, अन्यथा अतिप्रसंग दोष का सामना करना पड़ेगा । शब्द और अर्थ—तद्वाच्यपदार्थ—का तादात्म्य शब्दानुविद्धत्व है यदि ऐसा कहा जाये तो यह भी कहना युक्तिशून्य है, क्योंकि शब्द और अर्थ विभिन्न इन्द्रियो के विषय हैं, शब्द सिर्फ कर्णेन्द्रिय का विषय है । और अर्थ किसी भी अन्य इन्द्रिय ज्ञान का विषय हो सकता है, अतः भिन्न २ इन्द्रिय जनित ज्ञानों के द्वारा ग्राह्य होने से उस शब्द और अर्थ में भिन्नता ही सिद्ध होती है । अनुमान भी इसी बात की पुष्टि करता हुआ कहता है कि जिनका भिन्न २ इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण होता है उनमे एकता नहीं होती, जैसे-कि रूप और रस में, ये दोनों भिन्न २ इन्द्रियो के द्वारा जाने जाते हैं अतः इनमें एकता नहीं है, इसी प्रकार नीलादि पदार्थ और शब्द है अतः इनमें भी एकता नहीं है । शब्दाकार से रहित नीलादि अर्थ का रूप चाक्षुष प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है और नीलादि अर्थ से रहित अकेला शब्द कर्णजन्यज्ञान से प्रतीत होता है, अतः इनमें एकता किस प्रकार से संभावित हो सकती है ?

ययोर्विभिन्नेन्द्रियजनितज्ञानग्राह्यत्व न तयोरेक्यम् यथा रूपरसयो तथात्व च नीलादिरूपशब्दयो-
रिति । शब्दाकाररहित हि नीलादिरूप लोचनज्ञाने प्रतिभाति, तद्रहितस्तु शब्दः श्रोत्रज्ञाने इति कथ
तयोरेक्यम् ? रूपमिदमित्यभिधानविशेषणरूपप्रतीतेस्तयोरेक्यम्, इत्यसत्, रूपमिदमिति ज्ञानेन हि

भावार्थ—शब्दाद्वैतवादी का कहना है कि जगत के सपूर्ण पदार्थ शब्दब्रह्म से
उत्पन्न हुए हैं यहा तक कि ज्ञान भी बिना शब्द के होता नहीं है, किन्तु जब इस
उनकी मान्यता का तर्क सगत विचार किया जाता है तो उसका यथार्थ समाधान प्राप्त
नहीं हो पाता, शब्द के साथ यदि ज्ञान का अविनाभाव या तादात्म्य संबंध माना
जावे तो रूप रस आदि के ज्ञान जो बिना शब्द के प्रतीत होते रहते हैं वे कैसे प्रतीत
हो सकेगे, इसी तरह अर्थ का और शब्द का तादात्म्य मानना भी बुद्धि की कसौटी
पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि शब्द के साथ जब उसका अर्थ रहता है तो अग्नि शब्द
के उच्चारण करते ही जिह्वा का अग्नि द्वारा दाह हो जाने का प्रसंग प्राप्त होगा,
और भोजन शब्द का उच्चारण करने पर क्षुधा की निवृत्ति हो जाने की बात माननी
पड़ेगी, तथा शब्द कर्णेन्द्रिय के गोचर है और पदार्थ अन्यान्य इन्द्रियो के गोचर होता
है, इसलिये पदार्थ और शब्द का तादात्म्य मानना कथमपि घटित नहीं होता है, इसी
तरह ज्ञान भी शब्दमय नहीं बनता है ।

शब्दाद्वैतवादी—“यह रूप है” इस प्रकार के शब्दरूप विशेषण से ही रूपादि
पदार्थ का ज्ञान होता है, इसलिये इनमे शब्द और रूपवाले पदार्थ मे हम एकता
मानते हैं, क्योंकि वह रूपवाला पदार्थ अपने वाचक शब्द से अभिन्न है जैसा कि रूप
विशेषण से घट अभिन्न रहता है ।

जैन—यह कथन असत् है, “यह रूप है” इस प्रकार जो ज्ञान होता है वह
ज्ञान ये पदार्थ वचनरूपता को धारण किये हुए हैं इस प्रकार से रूपादि पदार्थों
को जानता है ? कि वा पदार्थ से भिन्न वाग्रूपता है इस प्रकार के विशेषण से सम-
न्वित करके उन्हें जानता है ? मतलब—जब रूप को नेत्रजन्यज्ञान जानता है उसी
समय शब्दरूप पदार्थ है ऐसा ज्ञान होता है ? या पदार्थ से शब्दरूप विशेषण भिन्न
है इस रूप से ज्ञान होता है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है क्योंकि चाक्षुषज्ञान शब्द मे प्रवृत्ति
ही नहीं करता, कारण कि नेत्र का विषय शब्द नहीं है, जैसा कि उसका विषय
रसादि नहीं है, यदि भिन्न विषयो मे नेत्र इन्द्रिय की प्रवृत्ति होने लगे—तो फिर और
अनेक इन्द्रियो को मानने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी, एक ही कोई इन्द्रिय समस्त

वाग्रूपताप्रतिपन्नाः पदार्थाः प्रतिपद्यन्ते, भिन्नवाग्रूपताविशेषणविशिष्टा वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्त ; न हि लोचनविज्ञान वाग्रूपताया प्रवर्तते तस्यास्तदविषयत्वाद्द्रसादिवत्, अन्यथेन्द्रियान्तरपरिकल्पनावैयर्थ्यम् तस्यैवाशेषार्थग्राहकत्वप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षेपि अभिधानेऽप्रवर्तमान शुद्धरूपमात्रविषयं

विषयों की ग्राहक बन जावेगी, दूसरा पक्ष—भी ठीक नहीं है, क्योंकि रूप को ग्रहण करनेवाला नेत्र ज्ञान यह पदार्थ शब्दरूप विशेषण वाला है यह नहीं जान सकता, कारण कि शब्द में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है, वह केवल शुद्ध रूप मात्र को ही विषय करता है, रूप पदार्थ शब्द विशिष्ट है यह वह कैसे बता सकता है ? नेत्रजन्य ज्ञान से यदि ऐसा जाना जाता है कि पदार्थ शब्दरूप विशेषण से भिन्न है तो ऐसी मान्यता में पदार्थ के रूप का भी ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि उसने पदार्थ के विशेषणरूप शब्द को जाना नहीं है, जैसे कि दण्ड को नहीं जानने पर यह दण्ड वाला है यह कैसे जाना जा सकता है, यदि कहा जाय कि दूसरे ज्ञान में (कर्ण ज्ञान में) तो वह शब्द रूप के विशेषण रूप से प्रतीत होता है, अतः शब्द पदार्थ का विशेषण बन जाता है, सो ऐसा कहना उचित नहीं है, कारण कि ऐसा मानने में तो उस शब्द और अर्थ में भेद ही सिद्ध होता है, यह अभी २ कहा ही जा चुका है कि जिनका भिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है वे पृथक् ही होते हैं, एक रूप नहीं होते ।

भावार्थ—शब्दाद्वैतवादी शब्द और उसके वाच्य अर्थों को परस्पर में अभिन्न मानता है, समस्त पदार्थ शब्दविशेषण से विशिष्ट ही हुआ करते हैं, क्योंकि इसी प्रकार से उनकी ज्ञान द्वारा प्रतीति होती है । तब प्रश्न होता है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष से उस शब्द विशेषण का ग्रहण क्यों नहीं होता ? जब नेत्र से पदार्थ के रूप-नीले पीले आदि वर्णों-का ग्रहण होता है उस समय उसी पदार्थ से अभिन्न रहने वाले शब्द का ग्रहण भी नेत्र ज्ञान द्वारा होना चाहिये, यदि नहीं होता है तब रूप का ज्ञान भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि विशेषण को जाने बिना विशेष्य का ज्ञान नहीं होता है, जैसे कि दण्ड विशेषण को जाने बिना दण्डेवाला देवदत्त नहीं जाना जाता है, इत्यादि, मतलब इसका यही है कि विशेषण को यदि हम जानते हैं तब तो उस विशेषण वाले विशेष्य को समझ सकते हैं अन्यथा नहीं, अतः पदार्थ शब्दविशेषण से विशिष्ट ही होते हैं यह बात सिद्ध नहीं होती ।

शब्दाद्वैतवादी— शब्द से मिला हुआ पदार्थ स्मरण में आता है अतः हम उसे शब्द रूप मानते हैं ?

लोचनविज्ञानं कथं तद्विशिष्टतया स्वविषयमुद्योतयेत् ? न ह्यगृहीतविशेषणा-विशेष्ये बुद्धिं दण्डाग्रहणं दण्डिवत् । न च ज्ञानान्तरे तस्य प्रतिभासाद्विशेषणत्वम् ; तथा सति अनयोर्भेदसिद्धिः स्यादित्युक्तम् । अभिधानानुषक्तार्थस्मरणात्तथाविधार्थदर्शनसिद्धिः, इत्यप्यसारम्, अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्-तथाविधार्थदर्शनसिद्धौ वचनपरिकरितार्थस्मरणसिद्धिः, ततश्च तथाविधार्थदर्शनसिद्धिरिति ।

का चैयमर्थस्याभिधानानुषक्तता नाम-अर्थज्ञाने तत्प्रतिभासः, अर्थदेशे तद्वेदनं वा, तत्काले तत्प्रतिभासो वा ? न तावदाद्यो विकल्पः, लोचनाध्यक्षे शब्दस्याप्रतिभासनात् । नापि द्वितीयः, शब्दस्य श्रोत्रप्रदेशे निरस्तशब्दसन्निधीना च रूपादीनां स्वप्रदेशे स्वविज्ञानेनानुभवात् । नापि तृतीयः, तुल्यकालस्याप्यभिधानस्य लोचनज्ञाने प्रतिभासाभावात्, भिन्नज्ञानवेद्यत्वे च भेदप्रसङ्ग इत्युक्तम् ।

जैन—यह कथन असंसार है, क्योंकि इस मान्यता में अन्योन्याश्रय दोष आता है, कारण कि शब्दरूप पदार्थ की प्रतीति होने पर वचन सहित पदार्थ है यह स्मरण में आवेगा और उसमें सिद्ध होने पर शब्दरूप पदार्थ का दर्शन होता है यह सिद्ध होगा ।

अच्छा— यह बताईये कि पदार्थ में अभिधानानुषक्तता क्या है ? अर्थज्ञान में उसका प्रतीत होना ? या अर्थ के स्थान पर ही उसका वेदन (अनुभवन) होना ? या अर्थज्ञान के समय ही शब्द का प्रतिभास होना ? इस प्रकार के इन तीन विकल्पों में से प्रथम विकल्प आख के द्वारा होने वाले ज्ञान में शब्द प्रतीत नहीं होता है इसलिये सिद्ध नहीं होता । दूसरा विकल्प शब्द तो कान से सुनाई देता है और जिसमें शब्द बिलकुल नहीं है ऐसे रूपादिस्वरूप पदार्थ का अपने प्रदेश में चाक्षुषादि ज्ञान के द्वारा अनुभव होता है इसलिये सगत नहीं होता है, पदार्थ के साथ शब्द का प्रतिभास होता है ऐसा तीसरा पक्ष भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि नाम—(शब्द) और अर्थ तुल्यकाल में भले ही हो, किन्तु उस शब्द का नेत्रजज्ञान में प्रतिभास नहीं होता है । अतः शब्द और रूपादिस्वरूप पदार्थ भिन्न २ हैं और वे भिन्न २ ज्ञानों के द्वारा जाने जाते हैं ।

दूसरी बात यह है कि यदि सर्वथा शब्द सहित पदार्थ ही प्रत्यक्षज्ञान में झलकते हैं ऐसा स्वीकार किया जावे तो बालक और मूकादिव्यक्ति को पदार्थदर्शन कैसे हो सकेगा क्योंकि वे तो शब्द नामादि को जानते नहीं हैं । तथा मन में घोड़े आदि का विचार करते हुए व्यक्ति को गौदर्शन भी कैसे संभव हो सकेगा, क्योंकि उस समय उस व्यक्ति के गोशब्द का उल्लेख तो पाया नहीं जाता, कारण उस समय उसके ज्ञान में तो वह झलक नहीं रहा है, वह तो घोड़े का विचार कर रहा है, यदि

कथं चैववादिनो । बालकादेरर्थदर्शनेसिद्धिः, तत्राभिधानाप्रतीतेः, अश्व-विकल्पयतो गोदर्शनं वा ? न हि तदा गोशब्दोल्लेखस्तज्ज्ञानस्यानुभूयते-युगपद्वृत्तिद्वयानुत्पत्तेरिति । कथं वा वाग्रूपताऽवबोधस्य शाश्वती यतो 'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेत्' इत्याद्यवतिष्ठेत लोचनाध्यक्षे तत्सस्पर्शाभावात् ? न खलु श्रोत्र-ग्राह्या वैखरी वाचं तत् सस्पृशति तस्यास्तदविषयत्वात् । अन्तर्जल्परूपा मध्यमा वा, तामन्तरेणापि शुद्धसविदोभावात् । सहताशेषवर्णादिविभागानु(तु)पश्यन्ती, सूक्ष्मा चान्तर्ज्योतीरूपा वागेव न भवति, अनयोरर्थात्मदर्शनलक्षणत्वात् वाचस्तु वर्णपदाद्यनुक्रमलक्षणत्वात् । ततोऽयुक्तमेतत्तल्लक्षणप्रणयनम्—

“स्थानेषु विवृते वायी कृतवर्णपरिग्रहा ।

वैखरी वाक् प्रयोक्तृणा प्राणवृत्तिनिबन्धना ॥ १ ॥

प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ।

अविभागाऽनु(गा तु) पश्यन्ती सर्वत सहतक्रमा ॥ २ ॥

कहा जाय कि एक साथ दोनो-अश्व विकल्प और गोदर्शन हो रहे है तो ऐसी मान्यता में दोनो की असिद्धि होने की प्रसक्ति होवेगी, क्योकि एक ही काल में दो वृत्तियां छद्मस्थ के हो नही सकती तथा— आपने जो ऐसा कहा है कि ज्ञान में वचनरूपता शाश्वती है, यदि इसका उल्लघन किया जावेगा तो ज्ञानरूप प्रकाश हो नहीं सकेगा इत्यादि, सो ऐसा कथन सत्य कैसे हो सकता है क्योकि नेत्रजन्य ज्ञान में तो शब्द का संसर्ग होता ही नही है, कर्ण के द्वारा ग्रहण योग्य वचन रूप वैखरी वाक् लोचन ज्ञान का स्पर्श करती ही नही है, क्योकि वह उसका विषय नही है । अन्तर्जल्पवाली मध्यमा वाक् का भी उस नेत्र ज्ञान द्वारा स्पर्शित होना संभव नही, उस मध्यमावाक् के विना भी शुद्ध रूपादि का ज्ञान होता ही है, सपूर्ण वर्ण पद आदि विभागो से रहित पश्यन्ती वाक् तथा अन्तर्ज्योतिरूप सूक्ष्मा वाक् तो त्राणीरूप होती ही नही, क्योकि उन दोनो-पश्यन्ती तथा सूक्ष्मा को आप शब्दाद्वैतवादी ने अर्थो एव आत्मा का साक्षात् कराने वाली माना है, यदि उन सूक्ष्मा और पश्यन्ती वाक् में शब्द नही है तो वह वाक् नही कहलावेगी, क्योकि वाक् तो पद, वाक्म रूप हुआ करती है, इसलिये आप शब्दाद्वैतवादी के यहा जो वैखरी आदि वाक् का लक्षण कहा गया है वह सब असत्य ठहरता है, तालु आदि स्थानो में वायु के फैलने पर वर्ण पद आदि रूप को जिसने ग्रहण किया है ऐसी वैखरी वाक् बोलने वाले के हृदयस्थ वायु से बनती है ॥१॥ प्राणवायु को छोड़कर अन्तर्जल्परूप मध्यमा वाक्, और वर्णादि क्रम से रहित अविभाग रूप पश्यन्ती वाक् है ॥२॥

स्वरूपज्योतिरेवान्त सूक्ष्मा वागनपायिनी ।

तथा व्याप्तं जगत्सर्वं ततः शब्दात्मकं जगत् ॥ ३ ॥”

[] इत्यादि ।

अन्तरंग ज्योतिस्वरूप सूक्ष्मा वाक् है और यह शाश्वती है, उसी सूक्ष्म वाक् से सारा जगत् व्याप्त है, इसलिये विश्व शब्दमय कहा गया है ॥ ३ ॥

इन उपर्युक्त तीन श्लोको द्वारा शब्दाद्वैतवादी ने जगत् को शब्दमय सिद्ध करने का प्रयास किया है सो यह प्रयास उसका इसलिये सफल नहीं होता है कि नेत्रज प्रत्यक्ष यह साक्षी नहीं देता है कि पदार्थ शब्द से अनुविद्ध है ।

भावार्थ—शब्दाद्वैतवादी के शब्द-वाग्-के चार भेद किये गये हैं—वैखरी १, मध्यमा २, पश्यन्ती ३, और सूक्ष्मा ४, वैखरी आदि चारों ही वाक् के सामान्य लक्षण उनकी मान्यता के अनुसार इस प्रकार से हैं—

वैखरी शब्दनिष्पत्ती मध्यमा श्रुतिगोचरा ।

द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥

—कुमार म० टी० २ । १७

ककारादिवर्णरूप या अन्य ध्वनिरूप जो शब्दमात्र है, वह वैखरी वाक् है । कर्ण में प्रविष्ट होकर उसका विषय हुई वाक् मध्यमा वाक् है, केवल जो अर्थ को प्रकट करती है वह पश्यन्ती वाक् है, तथा शाश्वत रहने वाली अति सूक्ष्म वाक् सूक्ष्मावाक् है, इन चारों वाग् का विस्तृत विवेचन वाक्यपदी नामक शब्दाद्वैत ग्रन्थ में लिखा है । वर्ण, पद, वाक्य आदि जिसमें व्यवस्थित है, उच्चारण करने में जो आती है तथा दुःसुभी, वीणा, वासुरी आदि वाद्यों की ध्वनि रूप जो है ऐसी अपरिमित भेद रूप वाणी वैखरी वाक् है, जो अन्तरंग में सकल्परूप से रहती है, तथा कर्ण के द्वारा ग्रहण करने योग्य व्यक्तवर्ण पद जिसमें समाप्त हो गये हैं ऐसी वह वाग् मध्यमावाक् है । यह वैखरी और पश्यन्ती के मध्य में रहती है इसलिये यह सार्थक नाम वाली मध्यमावाग् है । जो स्वप्रकाशरूप सच्चिद् है कि जिसमें ग्राह्य पदार्थ का भेदक्रम नहीं है वह पश्यन्तीवाक् है । इसमें वाच्य वाचक का विभाग अवभासित नहीं होता है, इसके परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभास, ससृष्टार्थप्रत्यवभास, और प्रशान्त-सर्वार्थप्रत्यवभास इत्यादि अनेक भेद हैं । अन्त ज्योतिस्वरूप सूक्ष्मा वाक् दुर्लक्ष्य और काल के भेद के स्पर्श से रहित होने के कारण कभी नष्ट नहीं होती, जैन मान्यता

अनुमानात्तेषां तदनुविद्धत्वप्रतीतिरित्यपि मनोरथमात्रम्; तदविनाभाविलिङ्गाभावात् । तत्सम्भवे वाऽध्यक्षादिबाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वाच्च । अथ जगत्-शब्दमयत्वात्तदुदरवर्तिना प्रत्ययानां तन्मयत्वात्तदनुविद्धत्वसिद्धमेवेत्यभिधीयते, तदप्यनुपपन्नमेव, तत्तन्मयत्वस्याध्यक्षादिबाधितत्वात्, पदत्राक्यादितोऽन्यस्य गिरितरूपुरलतादेस्तदाकारपराङ्मुखेणैव सविकल्पकाध्यक्षेणात्यन्तं विशदतयोपलम्भात् । 'ये यदाकारपराङ्मुखास्ते परमार्थतोऽनन्मया यथा

के अनुसार भी शब्द के अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक तथा भाषात्मक और अभाषात्मक आदि अनेक भेद किये गये हैं । अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प ऐसे भी शब्द के दो भेद हुए हैं । उपर्युक्त शब्दाद्वैतवादी मान्य भेद कितनेक तो इसमें अन्तर्भूत हो सकते हैं । बाकी के भेद मात्र काल्पनिक सिद्ध होते हैं ।

शब्दाद्वैतवादी का यह कथन तो सर्वथा असत्य है—कि समस्त विश्व शब्दमय है, इसी शब्दाद्वैत का मार्तण्डकार अनेक सबल युक्तियों द्वारा निरसन करते हुए कह रहे हैं कि शब्दमय पदार्थ है तो नेत्र द्वारा उन पदार्थों को ग्रहण करते समय शब्द प्रतीति में क्यों नहीं आता है, तथा ऐसी मान्यता में बाल, मूकादि व्यक्ति को किस प्रकार वस्तुबोध हो सकेगा । “शब्दमय जगत् है” यदि ऐसी तुम्हारी बात मान भी ली जावे तो इस बात को सिद्ध करने के लिये प्रमाण भी तो चाहिये, प्रत्यक्षादि प्रमाण तो इस बात को सिद्ध करने वाले हैं नहीं, क्योंकि बिचारे प्रत्यक्ष की इतनी सामर्थ्य नहीं है जो वह शब्दमय जगत् की सिद्धि कर सके, यदि उनकी तरफ से ऐसा कहा जावे कि प्रत्यक्ष जगत् को शब्दमय सिद्ध नहीं कर सकता है, तो क्या अनुमान भी नहीं कर सकता है ? अनुमान तो इस बात का साधक है सो इस पर मार्तण्डकार ने विशद विचार किया है।

तथा—ज्ञानो मे जो अनुमान प्रमाण द्वारा शब्दानुविद्धत्व सिद्ध करने का प्रयास किया गया है वह सब केवल मनोरथरूप ही है, क्योंकि अविनाभावी हेतु के बिना अनुमान अपने साध्यका साधक नहीं होता है, यदि कोई हेतु सभव भी हो तो वह हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष से दूषित ही रहेगा, क्योंकि जिसका पक्ष प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित होता है उसमें प्रयुक्त हुआ हेतु कालात्ययापदिष्ट दोषवाला कहा जाता है, जब नेत्रादि से होने वाले रूपादिज्ञान शब्दानुविद्ध नहीं है, फिर भी यदि सभी ज्ञानों को शब्दानुविद्ध ही सिद्ध किया जाता है तो वह प्रत्यक्षबाधित होगा ही ।

शब्दाद्वैतवादी—समस्त विश्व शब्दमय ही है, अतः उस विश्व के भीतर रहने वाले ज्ञान भी शब्द स्वरूप ही होंगे, इस प्रकार से ज्ञानों में शब्दानुविद्धता सिद्ध हो जावेगी ।

जलाकारविकला स्थासकोशकुशूलादयस्तत्त्वतो न तन्मया., परमार्थतस्तदाकारपराङ्मुखाश्च पद-
वाक्यादितो व्यतिरिक्ता गिरितरूपुरलतादयः पदार्थाः' इत्यनुमानतोस्य तद्वैधुर्यसिद्धेश्च ।

किञ्च, शब्दपरिणामरूपत्वाजगतः शब्दमयत्व साध्यते, शब्दादुत्पत्तेर्वा ? न तावदाद्य पक्ष ,
परिणामस्यैवात्रासम्भवात् । शब्दात्मक हि ब्रह्म नीलादिरूपता प्रतिपद्यमान स्वाभाविक शब्दरूप
परित्यज्य प्रतिपद्येत, अपरित्यज्य वा ? प्रथमपक्षे—अस्याऽनादिनिघनत्वविरोधः पौरस्त्यस्वभाव-
विनाशात् । द्वितीय पक्षे तु—नीलादिसवेदनकाले बधिरस्यापि शब्दसवेदनप्रसङ्गो नीलादिवत्तदव्य-
तिरेकात् । यत्खलु यदव्यतिरिक्तं तत्तस्मिन्सवेद्यमाने सवेद्यते यथा नीलादिसवेदनावस्थाया तस्यैव
नीलादेरात्मा, नीलाद्यव्यतिरिक्तश्च शब्द इति । शब्दस्यासवेदने वा नीलादेरप्यसवेदनप्रसङ्ग तादा-

जैन—यह कथन तो आपका तब सिद्ध माना जावे कि जब विश्व मे शब्द-
मयता सिद्ध हो, विश्व मे शब्दमयता तो प्रत्यक्ष से ही बाधित होती है, क्योंकि पद,
वाक्य आदि से भिन्न ही गिरि, वृक्ष, पुर आदि जो पदार्थ है, वे शब्दाकार रहित हुए
ही सविकल्पप्रत्यक्ष द्वारा अन्यन्त स्पष्ट रूपसे प्रतीति मे आते है, देखो—जो जिस आकार
से पराङ्मुख—पृथक—रूप मे प्रतीत होते है वे यथार्थ मे उनसे भिन्न ही होते हैं । जैसे
जलाकार से रहित स्थास, कोश, कुशूलादि आदि पदार्थ, ये जलाकार से रहित होते है
इसलिये जल से भिन्न होते हैं । तन्मय नही होते, इसी तरह गिरि आदि पदार्थ भी पद
वाक्य आदि के आकार से पराङ्मुख है. अत. वे भी उनसे भिन्न है,—तन्मय नही हैं ।
ऐसे इस अनुमान के द्वारा पदार्थ शब्दानुविद्ध नही हैं—शब्दमय नही है—ये सिद्ध हो
जाता है ॥ तथा आप जो जगत् मे शब्दमयता सिद्ध करते हो सो हम आपसे यह
जानना चाहते है कि जगत् शब्दका परिणाम है इसलिये उसमे शब्दमयता है ? या
वह शब्द से उत्पन्न होता है इसलिये उसमें शब्दमयता है ? प्रथम पक्ष इसलिये मनो-
रजक नही हो सकता—अर्थात् वह इसलिये ठीक-न्याय सगत-नही माना जा सकता है
कि शब्दब्रह्म मे परिणाम होने की सगति साबित नही होती, अर्थात् सर्वथा नित्य उस
शब्दब्रह्म मे परिणाम-परिणामन-होना ही असभव है । यदि आपके कहे अनुसार हम
शब्दब्रह्म में इस प्रकार का परिणाम होना मान भी ले तो वहा यह जिज्ञासा जगती
है कि वह शब्दब्रह्म जब जल नील आदि पदार्थरूप परिणमित होता है, उस समय वह
अपने स्वाभाविक शब्दरूप का परित्याग कर उस रूप परिणमित होता है ? या बिना
छोड़े ही वह उस रूप परिणमित होता है ? यदि वह अपने पूर्वस्वरूप को छोडकर
जलादिरूप परिणमित होता है तो उसमें अनादिनिघनता का अभाव प्रसक्त होता है,

त्म्याविशेषात्, अन्यथा विरुद्धधर्माध्यासात्तस्य ततो भेदप्रसङ्गः । न ह्येकस्यैकदा एकप्रतिपत्त्रपेक्षया ग्रहणमग्रहणं च युक्तम् । विरुद्धधर्माध्यासेष्यत्र भेदासभवे हिमवद्विन्ध्यादिभेदानामप्यभेदानुषङ्गः । किंच, असौ शब्दात्मा परिणामं गच्छन्प्रतिपदार्थभेदं प्रतिपद्येत, न वा ? तत्राद्यविकल्पे-शब्दब्रह्मणो-जनेकत्वप्रसङ्गः, विभिन्नानेकार्थस्वभावात्मकत्वात्तत्स्वरूपवत् । द्वितीयविकल्पे तु-सर्वेषां नीलादीना

क्योंकि इस स्थिति में उसके पूर्व स्वभाव का अभाव आता है । यदि इस दोष से बचने के लिये द्वितीय पक्ष का आश्रय लिया जाय तो नीलादिक पदार्थ के संवेदन कालमें वधिर पुरुष को भी उस नीलपदार्थगत शब्द का श्रवण होना चाहिये, क्योंकि वह नील पदार्थ शब्दमय है । यह नियम है कि जो जिससे अभिन्न होता है वह उसके संवेदन होते ही संविदित हो जाता है, जैसे कि वस्तुगत नीले रंग को जानते समय तदभिन्न नील पदार्थ भी जान लिया जाता है, नीलादिपदार्थ से आपके सिद्धान्तानुसार शब्द अभिन्न ही है, अतः वधिर पुरुष को नील पदार्थ जानते समय शब्द संवेदन अवश्य होना चाहिये । यदि शब्द का संवेदन नीलादिपदार्थ के संवेदन काल में वधिर को नहीं होता है तो नीलादि वर्ण का भी उसे संवेदन नहीं होना चाहिये । क्योंकि नील वस्तु के साथ नीलवर्ण के समान शब्द का भी तादात्म्य है, अन्यथा विरुद्ध दो धर्मों से युक्त होने से उस शब्दब्रह्म को उस नीलपदार्थ से भिन्न मानना पड़ेगा, कारण—नीलादिपदार्थ के संवेदन कालमें उसका तो संवेदन होता है और शब्द का नहीं, इस तरह एक ही वस्तु का एक ही काल में एक ही प्रतिपत्ता की अपेक्षा ग्रहण और अग्रहण मानना उसमें विरुद्ध धर्मों की अध्यासता का साधक होता है, अतः नीलादि पदार्थ शब्दमय हैं ऐसा सिद्ध नहीं होता है, विरुद्ध दो धर्मों से युक्त हुए भी नील पदार्थ और “नील” इस प्रकार के तद्वाचक दो अक्षरवाले नीलशब्द में भेद नहीं माना जावे तो फिर हिमाचल और विन्ध्याचल आदि भिन्न पदार्थों में भी अभेद मानने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा ।

किंच—हम आपसे यह और पूछते हैं कि शब्दब्रह्म उत्पत्ति और विनाशरूप परिणमन करता हुआ क्या प्रत्येक पदार्थरूप भेद को प्राप्त करता है या कि नहीं करता है ? यदि वह शब्दब्रह्म जितने भी पदार्थ हैं उतने रूप वह होता है तो शब्द ब्रह्म में अनेकता का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि इस स्थिति में वह नील पीत आदि भिन्न २ अनेक स्वभावरूप परिणामित हुआ माना जायगा, जैसे कि विभिन्न अर्थों के स्वरूप अनेक माने जाते हैं । यदि द्वितीय पक्ष की अपेक्षा लेकर ऐसा कहा जावे कि

देशकालस्वभावव्यापारावस्थादिभेदाभावः प्रतिभासभेदाभावश्चानुपज्येत—एकस्वभावाच्छब्दब्रह्मणोऽभिन्नत्वात्तत्स्वरूपवत् । तन्नशब्दपरिणामरूपत्वाज्जगत शब्दमयत्वम् ।

नापि शब्दादुत्पत्तेः, तस्य नित्यत्वेनाविकारित्वात्, क्रमेण कौर्योत्पादविरोधात् संकलकौर्याणां युगपदेवोत्पत्तिः स्यात् । कारणैककल्याद्वि कार्याणि विलम्बन्ते नान्यथा । तच्चैदविकलकिमप्युत्तरपेक्ष्य येन युगपन्न भवेयु ? किञ्च, अपरापरकार्यग्रामोऽतोऽर्थान्तरम्, अनर्थान्तरं वोत्पद्येत ? तत्रा-

“एक ब्रह्म जब अनेक पदार्थरूप परिणमित होता है तब वह प्रत्येक पदार्थके रूपसे भेदपने को प्राप्त नहीं होता है,” सो ऐसा मानना भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि नील, पीत, जड, चेतन आदि जितने भी पदार्थ हैं, इस मान्यता के अनुसार उनमें सबमें अभेद आ जाने के कारण देशभेद, कालभेद, स्वभावभेद, क्रियाभेद और अवस्था भेद नहीं रहेंगे ।

भावार्थ—सारा विश्व शब्दब्रह्म से निर्मित है, शब्दब्रह्म ही पदार्थ रूप परिणमन कर जाता है ऐसा माना जाय तो प्रश्न होता है कि एक अखंड शब्द ब्रह्म घट, पट, देवदत्त आदिरूप परिणमन करता है सो प्रत्येक पदार्थ रूप भिन्न भिन्न होता है या नहीं ? होता है तो एक शब्द ब्रह्म कहा रहा ? वह तो अनेक हो गया ? यदि नाना पदार्थ रूप नहीं होता तो यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला देशादिभेद समाप्त होगा । किन्तु देश भेद आदिसे वस्तुओंमें विभिन्नता उपलब्ध हो रही है—यह वस्त्र कौशाबीका है और यह उज्जैनका इत्यादि देशनिमित्तक वस्तु भेद, यह बालक दो वर्षीय है और यह दस वर्षीय इत्यादि काल निमित्तक वस्तु भेद, यह शीतल जल है और यह उष्ण अग्नि है इत्यादि स्वभावनित्तक वस्तुभेद, देवदत्त ग्राम जाता है, गोपाल गाय को दुहता है इत्यादि क्रिया निमित्तक भेद तथा यह वस्त्र जीर्ण हुआ और यह नया है इत्यादि अवस्था निमित्तक वस्तु भेद साक्षात् दिखायी दे रहा है अतः शब्द ब्रह्म विश्वरूप परिणमता हुआ भी प्रत्येक पदार्थ रूप नहीं होता है ऐसा कहना असत्य ठहरता है । तथा प्रतिभासों में भिन्नता का अभाव भी प्रसक्त होता है, जैसा कि शब्दब्रह्म का स्वरूप शब्दब्रह्म से अभिन्न होने के कारण उसमें भेद का अभाव माना गया है, उसी प्रकार शब्दब्रह्म से अभिन्न हुए नीलादिपदार्थों में भिन्नता—अनेकता—कथमपि नहीं आ सकती, अतः ऐसा मानना कि शब्दब्रह्म का परिणाम होनेसे जगत् शब्दमय है सर्वथा असत्य—न्यायसंगत नहीं है । द्वितीय पक्ष जो ऐसा कहा गया है कि जगत् की उत्पत्ति शब्दब्रह्म से होती है, अतः वह शब्दमय है—सो ऐसा कहना भी न्याय की

र्थान्तरस्योत्पत्तौ—कथं 'शब्दब्रह्मविवर्तमर्थरूपेण इति घटते । न ह्यर्थान्तरस्योत्पादे अन्यस्य तत्स्वभाव-
मनाश्रयतः ताद्रूप्येण विवर्तो युक्तः । तदनर्थान्तरस्य तूत्पत्तौ-तस्यानादिनिधनत्वविरोधः ।

ननु परमार्थतोऽनादिनिधनेऽभिन्नस्वभावेऽपि शब्दब्रह्मणि अविद्यातिमिरोपहतो जनः प्रादुर्भाव-
विनाशवत् कार्यभेदेन विचित्रमिव मन्यते । तदुक्तम्—

कसौटी पर खरा नही उतरता है । क्योंकि शब्दब्रह्म नित्य है, जो सर्वथा नित्य होता है उसमे किसी भी प्रकार का विकार नही हो सकता ।

तथा इस प्रकार की मान्यता मे ऐसी भी जिज्ञासा हो सकती है कि नित्य-
वस्तु के द्वारा जो कार्य उत्पन्न होता है वह क्रम २ से उत्पन्न नही होगा, प्रत्युत उसके द्वारा तो समस्त ही कार्य एक साथ ही उत्पन्न हो जावेगे, क्योंकि समर्थ कारण के न होने से ही कार्यों की उत्पत्ति में विलंब हुआ करता है, उसके सद्भाव में नही, जब समर्थ कारण स्वरूप शब्दब्रह्म मौजूद है तो फिर कार्यों को अपनी उत्पत्ति में अन्य की अपेक्षा क्यों करनी पड़ेगी कि जिससे वे सब के सब एक साथ उत्पन्न न होंगे, अर्थात् अपना समर्थ-अविकल कारण मिलने पर एक साथ समस्त कार्य उत्पन्न हो ही जाते हैं ।

किञ्च—जगत् में जो पृथक् २ घट पट आदि कार्योंका समूह दिखाई देता है वह शब्दब्रह्म से भिन्न स्वरूपवाला होकर उत्पन्न होता है ? या अभिन्न स्वरूपवाला होकर उत्पन्न होता है ? यदि घट पटादि पदार्थ उससे भिन्न रूप में होकर उत्पन्न होते हैं तो फिर जो ऐसा कहा गया है कि—“शब्दब्रह्मविवर्तमर्थरूपेण” शब्दब्रह्म की ही यह अर्थरूप पर्याय है—यह कैसे घटित होगा, अर्थात् नही होगा । शब्दब्रह्म से जब घट पटादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं और वे जब उसके स्वभाव का आश्रय नही लेते हैं तो उनकी उत्पत्ति शब्दब्रह्म से हुई है, अतः वे शब्दब्रह्म की पर्याय है यह कैसे युक्तियुक्त हो सकता है, अर्थात् नही हो सकता । यदि ऐसा कहो कि घट पटादि जो पदार्थ ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं वे उससे अभिन्नस्वरूप वाले होकर ही उससे उत्पन्न होते हैं, तो इस प्रकार के कथन में सबसे बड़ी आपत्ति का आपको सामना करना पड़ेगा, क्योंकि शब्द ब्रह्म में अनादि निधनता समाप्त हो जावेगी, और वह इस प्रकार से—कि जो पदार्थ उससे उत्पन्न हुए हैं वे तो उत्पाद विनाश स्वभाव वाले होते हैं उनसे शब्दब्रह्म अभिन्न है, अतः उत्पाद विनाश धर्मवाले पदार्थों से उसकी एकतानता हो जाने के कारण उसकी अनादि निधनता सुरक्षित नही रह सकती, वह समाप्त हो जाती है ।

“यथा विशुद्धमाकाश तिमिरोपप्लुतो जनः ।
सकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते ॥

[वृहदा० भा० वा० ३।५।४३]

तथेदममल ब्रह्मनिर्विकारमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्न भेदरूप प्रपश्यति” ॥

[वृहदा० भा० वा० ३।५।४४] इति ।

तदप्यसाम्प्रतम्; अत्रार्थे प्रमाणाभावात् । न खलु यथोपवर्णितस्वरूपं शब्दब्रह्म प्रत्यक्षतः प्रतीयते, सर्वदा प्रतिनियतार्थस्वरूपग्राहकत्वेनैवास्य प्रतीतेः । यच्च-अभ्युदयनिश्चयेसफलधर्मानुगृहीतान्तःकरणा

शब्दाद्वैतवादी—यथार्थतः शब्दब्रह्म तो अनादि निधन ही है, उसके स्वभावमे किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं है फिर भी अविद्यारूपी अघकार से युक्त प्राणी उस शब्द रूप ब्रह्म को उत्पत्ति और विनाश की तरह कार्यों के भेद से नानारूप वाला मानता है, कहा भी है—“यथा विशुद्धमप्याकाश इत्यादि” जैसे विशुद्ध आकाश को आंख का रोगी अनेक वर्णवाली रेखाओं से धूसर देखता है ॥ १ ॥ उसी प्रकार निर्मल, निर्विकार शब्दब्रह्म को अविद्या के कारण जन अनेक भेदरूप देखता है, ऐसा बृहदारण्यकभाष्य मे कहा है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, क्योंकि ऐसे कथन में प्रमाण का अभाव है, जैसा आपके सिद्धान्तमें वर्णित ब्रह्म का स्वरूप है वह किसी भी प्रमाण से प्रतीत नहीं होता है, इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण की जो प्रवृत्ति होती है वह तो समक्ष उपस्थित हुए अपने नियत विषय मे ही होती है, शब्दब्रह्म ऐसा है नहीं, फिर उसमे उसकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है, यदि ऐसा कहा जावे कि भले ही हम अल्पज्ञानो के प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति शब्दब्रह्म के साक्षात्कार करने मे न हो तो कोई बात नहीं, पर जिनका अन्तःकरण अभ्युदय एवं निश्चयेस फल वाले धर्म से अनुगृहीत है ऐसे वे योगीजन तो उसे साक्षात् देखते है, सो ऐसा कथन भी सदोष है—कहना मात्र ही है—कारण कि शब्दब्रह्म के सिवाय और कोई उससे भिन्न योगीजन वास्तविकरूप में है ही नहीं, कि जिससे वे उसे साक्षात् देखते है ऐसा आपका मन्तव्य मान्य हो सके । तथा वे योगी उसे देखे भी तब जब कि उनके ज्ञान मे शब्दब्रह्म का व्यापार हो, परन्तु पूर्वोक्तप्रकार से कार्य मे शब्दब्रह्म का व्यापार ही घटित नहीं होता, तथा ऐसा जो कहा गया है कि

योगिन एव तत्पश्यन्तीत्युक्तम्, तदप्युक्तिमात्रम्; न हि तद्व्यतिरेकेणान्ये योगिनो वस्तुभूताः सन्ति येन 'ते पश्यन्ति' इत्युच्येत । यदि च तज्ज्ञाने तस्य व्यापारः स्यात्तदा 'योगिनस्तस्य रूपं पश्यन्ति' इति स्यात् । यावतोक्तप्रकारेण कार्यं व्यापार एवास्य न सगच्छते । अविद्यायाश्च तद्व्यतिरेकेणासभवात्कथं भेदप्रतिभासहेतुत्वम् ? आकाशे च वितथप्रतिभासहेतुभूत वास्तवमेवास्ति तिमिरम् इति न दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः (साम्यम्) ।

नाप्यनुमानतस्तत्प्रतिपत्तिः, अनुमानं हि कार्यलिङ्गं वा भवेत्, स्वभावादिलिङ्गं वा ? अनुपलब्धेर्विधिसाधिकत्वेनानभ्युपगमात् । तत्र न तावत्कार्यलिङ्गम्, नित्यैकस्वभावात्तत् कार्योत्पत्तिप्रति-

अविद्या के कारण जन उस शब्दब्रह्म को भेद रूपवाला देखता है—सो शब्दब्रह्म के सिवाय अविद्या का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता, तो फिर वह भेद प्रतीति का कारण कैसे बन सकती है, आकाश दृष्टान्त भी यहाँ जचता नहीं, क्योंकि आकाश में असत् प्रतिभास का कारण जो तिमिर है वह तो वास्तविक वस्तु है, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में—तिमिर और अविद्या में—समानता नहीं है ।

अनुमान के द्वारा भी शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि जिस अनुमान से आप शब्दब्रह्म की सिद्धि करना चाहते हो वह कार्यलिङ्ग वाला अनुमान है ? या स्वभाव आदि लिङ्गवाला अनुमान है, अर्थात् जिस अनुमान से आप शब्दब्रह्म की सिद्धि करोगे उसमें हेतु कार्यरूप होगा ? या स्वभावादिरूप होगा ? अनुपलब्धिरूप हेतु तो हो नहीं सकता, क्योंकि आपके यहाँ उसे विधि साधक माना नहीं गया है, अब यहाँ यदि ऐसा कहा जावे कि कार्य हेतुवाला अनुमान शब्दब्रह्म का साधक हो जावेगा—तो वह यहाँ बनता नहीं है, क्योंकि नित्य एक स्वभाव वाले उस शब्दब्रह्म से घट-पटादि कार्यों की उत्पत्ति होनेका प्रतिषेध ही कर दिया है, अतः जब उसका कोई कार्य ही नहीं है तो हेतुकोटि में उसे कैसे रखा जावे—हा उसका कोई कार्य होता तो उसे हेतुकोटि में रखा जा सकता और कार्यलिङ्गक उस अनुमान से शब्दब्रह्म की सिद्धि करते, मतलब इसका यह है कि नित्य शब्दब्रह्म के द्वारा क्रम से या एक साथ अक्रम से—दोनों प्रकार से अर्थक्रिया-कार्यकी निष्पत्ति हो नहीं सकती है, स्वभाव हेतुवाला अनुमान भी शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं करता है, क्योंकि अभी तो धर्म रूप शब्दब्रह्म ही असिद्ध है, धर्म के असिद्ध होनेपर उसका स्वभावभूत धर्म स्वतंत्र रूप से सिद्ध नहीं हो सकता ।

पेधात्, क्रमयोगपद्याभ्या तस्यार्थक्रियारोधात् । नापि स्वभावलिङ्गम्, षड्ब्रह्माख्यधर्मिण एवासिद्धेः । न ह्यसिद्धे धर्मिणि तदखभावभूतो धर्मः स्वातन्त्र्येण सिद्ध्यत् ।

यच्चोच्यते-‘ये यदाकारानुस्यूतास्ते तन्मया यथा घटशरावोदञ्चनादयो मृद्विकारा मृदाकारानुगता मृन्मयत्वेन प्रसिद्धाः, शब्दाकारानुस्यूताश्च नव भावा इति’; तदप्युक्तिमात्रम्; शब्दाकारान्वितत्वम्या-सिद्धे । प्रत्यक्षेण हि नीलादिक प्रतिपद्यमानोऽनाविष्टामिनापमेव प्रतिपत्ता प्रतिपद्यते । कल्पितत्वा-

तथा-आपका जो ऐसा आनुमानिक कथन है कि-‘ये यदाकारानुस्यूतास्ते तन्मया यथा घटशरावोदञ्चनादयो मृद्विकारा मृदाकारानुगता मृन्मयत्वेन प्रसिद्धाः, शब्दाकारानुस्यूताश्च सर्वे भावा इति’ जो जिस आकार से अनुस्यूत रहते हैं वे तन्मय होते हैं-उसी स्वरूप होते हैं-जैसे मिट्टी के विकाररूप घट, सकोरा, उदचन आदि मिट्टी के आकार के अनुगत होते हैं अतः वे तन्मय-मिट्टी रूप ही होते हैं । वैसे ही शब्दाकार से अनुगत सभी पदार्थ हैं अतः वे शब्दमय हैं । सो ऐसा यह आनुमानिक कथन भी सदोष है, क्योंकि यहाँ “शब्दाकारान्वित” हेतु असिद्ध है-अर्थात् पदार्थ शब्दाकार से अन्वित हैं ऐसा कथन सिद्ध नहीं होता है, नीलादिक पदार्थ को जानने की इच्छा वाला व्यक्ति जब प्रत्यक्ष के द्वारा उन्हें जानता है तो वे शब्द रहित ही उसके द्वारा जाने जाते हैं-शब्द सहित नहीं । तथा पदार्थों में शब्दान्वितपना पदार्थों में है यह मान्यता केवल स्वकपोलकल्पित होने से भी असिद्ध है, यह कल्पित इसलिये है कि पदार्थों का स्वरूप शब्दों से अन्वित नहीं है, परन्तु फिर भी तुमने वे शब्दों से अन्वित हैं इस रूपसे उन्हें कल्पित किया है, इसलिये कल्पित इस शब्दान्वितत्वरूप हेतु के द्वारा शब्दब्रह्म कैसे सिद्ध हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता, तथा-घटादिरूप जो दृष्टान्त दिया है वह भी साध्य और साधन से विकल है, क्योंकि उनमें सर्वथा एक-मयत्व और एकान्वितत्व की असिद्धि है, जितने भी पदार्थ हैं वे सब समान और असमान दोनों ही रूप से परिणत होनेके कारण परमार्थतः एक रूपता से अन्वित नहीं हैं । तथा पदार्थ यदि शब्दमय ही होते तो घट इसप्रकार का शब्द सुनते ही उस व्यक्ति को सकेत के बिना ही घट का ग्रहण हो जाना चाहिये था और उसमें उसे सदेह भी नहीं रहना चाहिये था, क्योंकि शब्द के सुनने मात्र से ही नीलादि पदार्थ उसे प्रतीत ही हो जायेगे, यदि वे उसके उच्चारण करने पर प्रतीत नहीं होते तो फिर दोनों में शब्द और अर्थ में तादात्म्य कहा रहा, तथा-एक बात यह भी होगी-कि शब्दमय पदार्थ मानने पर अग्वि शब्द सुनते ही कानों को जल जानेका और पाषाण शब्द सुनते ही

च्चास्याऽसिद्धिः । शब्दान्वितरूपाधारार्थासत्त्वेपि हि ते तदन्वितत्वेन त्वया कल्प्यन्ते । तथाभूताच्च हेतोः कथं पारमार्थिकं-शब्दब्रह्म सिद्धयेत् ? सांध्यसाधनविकलश्च दृष्टान्तो घटादीनामपि सर्वथैकम-यत्वस्यैकान्वितत्वस्य चासिद्धेः । न खलु भावानां परमार्थनैकरूपानुगमोऽस्ति, सर्वार्थानां समानाऽसमान-परिणामात्मकत्वात् किञ्च, शब्दात्मकत्वेऽर्थानाम् शब्दप्रतीती सङ्केताग्राहिणोऽर्थे सन्देहो न स्यात्त-द्वत्तस्यापि प्रतीतत्वात्, अन्यथा तादात्म्यविरोधः । अग्निपाषाणादिशब्दश्रवणाच्च श्रोत्रस्य दाहाभि-घातादिप्रसङ्गः । तन्नानुमानतोपि तत्प्रतीतिः ॥

कानो में चोट लगजाने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, क्योंकि उन शब्दों से पदार्थ अभिन्न है, यदि ऐसा नहीं होता तो मानना चाहिये कि शब्द और अर्थ का तादात्म्य नहीं है, इसलिये अनुमान से भी शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं होती और न उसकी प्रतीति ही होती है ।

भावार्थ—शब्दाद्वैतवादी का यह हठाग्रह है कि-समस्त पदार्थ शब्दमय ही हैं, जैसे कि मिट्टी से बने हुए घटादि पदार्थ मिट्टीमय ही होते हैं, परन्तु ऐसा यह कथन इनका न्याय सगत सिद्ध नहीं होता, प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जब विश्व के पदार्थ शब्द-मय प्रतीत नहीं होते तो फिर उन्हें शब्दमय अनुमान के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करना केवल यह दुस्साहस जैसा ही है, यदि शब्दमय पदार्थ होते तो जिस व्यक्ति को 'घट शब्द का वाच्य कबुग्रीवादिमान् पदार्थ होता है' ऐसा सकेत नहीं मालूम है उसे भी घट शब्द के सुनते ही उसका बोध होजाना चाहिये, परन्तु सकेत ग्रहण किये बिना शब्द श्रवण मात्र से तद्वाच्यार्थ की प्रतीति नहीं होती, जब किसी अन्य देशका व्यक्ति किसी दूसरे देश में पहुंचता है तो उसको उस देश के नामों के साथ उस पदार्थ का सकेत नहीं होने से उस उस शब्द के सुनने पर भी उन उन शब्दों के वाच्यार्थ का बोध नहीं होता है, जैसे उत्तरीय पुरुष जब दक्षिण देश में पहुंचता है तो उसे यह पता नहीं चलता है कि "हालु मोसरू, मजिगे" ये शब्द किन २ वाच्यार्थों के कथक हैं, तथा यदि ऐसा ही माना जावे कि शब्दमय ही पदार्थ है तो मुखसे जब "अग्नि" इस प्रकार का शब्द निकलता है तो उसके निकलने से मुख और सुनने वाले के कानों को दग्ध हो जाने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है । और क्षुरा शब्द उच्चरित होने पर मुख के कट जाने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है । इसी तरह मोदक शब्द के सुनने वाले के उदर की पूर्ति हो जानेका प्रसङ्ग प्राप्त होता है । किन्तु ये सब कार्य उन २ शब्दों के उच्चरित होने पर

नाप्यागमात्, “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” [मैत्र्यु०] इत्याद्यागमस्य ब्रह्मणोऽर्थान्तरभावे-द्वैतप्रसङ्गात्, अनर्थान्तरभावे तु-तद्वदागमस्याप्यसिद्धिप्रसङ्गः । तदेव शब्दब्रह्मणोऽसिद्धेर्न शब्दानुविद्धत्व सविकल्पकलक्षणं किन्तु समारोपविरोधिग्रहणमिति प्रतिपत्तव्यम् ।

होते हुए जगत में देखे नहीं जाते अतः इससे यही निश्चय होता है कि शब्दमय ससार नहीं है, ससार तो भिन्न भिन्न चेतन अचेतन स्वभाव वाला है ।

आगम के द्वारा भी शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती है, “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” इत्यादि जो आगम वाक्य हैं वे यदि उस शब्दब्रह्म से अर्थान्तरभूत है तो द्वैतकी प्रसक्ति आती है और यदि वे शब्दब्रह्म से अनर्थान्तरभूत है-अभिन्न हैं तो इस पक्षमें शब्दब्रह्म की तरह उन आगम वाक्यों की भी सिद्धि नहीं होती है । अतः शब्दब्रह्म की सिद्धि के अभाव में ज्ञानमें शब्दानुविद्धत्व होना यही उसमें सविकल्पकता है यह कथन सर्वथा गलत ठहरता है । ज्ञानमें यही सविकल्पकता है कि समारोप से रहित होकर उसके द्वारा वस्तु का ग्रहण होना इस प्रकार सविकल्प प्रमाण की सिद्धि में प्रसंगवश आये हुए शब्दाद्वैत का निरसन टीकाकार ने किया है ।

* शब्दाद्वैत का निरसन समाप्त *

*

शब्दाद्वैत के निरसन का सारांश

शब्दाद्वैत को स्वीकार करने वाले अद्वैतवादियों में भर्तृहरिजी है । इनका ऐसा कहना है कि ज्ञान को जैन आदिको ने जो सविकल्प माना है उसका अर्थ यही निकलता है कि ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही अपने ग्राह्यपदार्थ का निश्चय कराता है, तात्पर्य कहने का यही है कि जितने भी ज्ञान है वे सब शब्द के बिना नहीं होते, शब्दानुविद्ध होकर ही होते हैं । पदार्थ भी शब्दब्रह्म की ही पर्याय हैं । शब्द-वाग्-के चार भेद इनके यहां माने गये हैं । जो इस इकार से हैं—(१) वैखरी वाक्, (२) मध्यमा वाक्, (३) पश्यन्ती वाक् और (४) सूक्ष्मा वाक् । कहा भी है—

वैखरी शब्दनिष्पत्तिः मध्यमा श्रुतिगोचरा ।

द्योतिता र्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥१॥

वक्ता के कण्ठ, तालु आदि स्थानों में प्राणवायु की सहायता से जो ककारादि वर्ण या स्वर उत्पन्न होते हैं—व्यक्त होते हैं वह वैखरीवाक् है, अन्तरङ्ग में जो जल्प-रूपवाक् है वह मध्यमावाक् है। यह वैखरी और पश्यन्ती के बीच में होती है, अतः उसे मध्यमा कहा गया है, जिसमें ग्राह्य भेद का क्रम नहीं होता अर्थात् ककारादि के क्रम से जो रहित होती है—केवल ज्ञानरूप जो है—ग्राह्यग्राहक, वाच्य वाचक का विभाग जिसमें प्रतीत नहीं होता वह पश्यन्ती वाक् है, सूक्ष्मावाक् ज्योतिः स्वरूप है, इसमें अत्यन्त दुर्लक्ष्य कालादि का भेद नहीं होता, इसी सूक्ष्मावाक् से समस्त विश्व व्याप्त है, यदि ज्ञान में वाक् रूपता की अनुविद्धता न हो तो वह अपना प्रकाश ही नहीं कर सकता, शब्द ब्रह्म तो अनादिनिधन है और अक्षरादि सब उसके विवर्त्त हैं, विश्व के समस्त पदार्थ उसी शब्द ब्रह्म की पर्यायि हैं।

इस प्रकार का मन्तव्य शब्दाद्वैतवादी का है, इस पर युक्तिपूर्वक गहरा विचार करते हुए मार्तण्डकार श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने कहा है कि शब्दानुविद्ध होकर ही यदि ज्ञान हो तो नेत्रादि के द्वारा जो ज्ञान होता है उसमें शब्दानुविद्धता होनी चाहिये, क्यों नहीं होती? कर्णजन्यज्ञान को छोड़कर शब्दानुविद्धता और किसी ज्ञान में नहीं पाई जाती है, ऐसा ही प्रतीति में आता है।

हम आपसे यह पूछते हैं कि ज्ञानकी यह शब्दानुविद्धता किस प्रमाण से जानी जाती है? क्या प्रत्यक्ष से या अनुमान से? यदि प्रत्यक्ष से जानी जाती है ऐसा आप कहो तो वह कौनसा प्रत्यक्ष है—इन्द्रियप्रत्यक्ष है या स्वसवेदन प्रत्यक्ष है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष की तो यह ज्ञानगत शब्दानुविद्धता विषय होती नहीं है, क्योंकि नेत्र से जो नीलादि-पदार्थ का प्रतिभास होता है वह शब्दानुविद्ध नहीं होता, वह तो शब्दरहित ही होता है स्वसवेदन प्रत्यक्ष का विषय शब्द है नहीं अतः इससे भी वह वहाँ सिद्ध नहीं होती है, अतः जब ज्ञान में शब्दानुविद्धता सिद्ध नहीं हुई तब शब्दाद्वैतवादी उसे अर्थगत मानने लग जाते हैं, किन्तु वह भी सिद्ध नहीं होती, इसकी सिद्धि तो तब ही हो सकती है कि जब पदार्थ का देश और शब्द का देश एक हो, किन्तु ऐसा अभिन्नपदा है नहीं, यदि ऐसा होता तो अग्नि आदि शब्द का उच्चारण करते ही उच्चारणकर्त्ता का मुख और श्रवणकर्त्ता के कान जलने लग जाते, क्योंकि वह अग्निशब्द अग्निपदार्थ रूप जो अपना वाच्य है उसके साथ ही अविनाभावी है, वह उस सहित ही है, ऐसा आपका सिद्धान्त है, जब कि पदार्थ और शब्द भिन्न—भिन्न इन्द्रियों के द्वारा विषयभूत किये जाते हैं, तब शब्द और अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध ही नहीं होता है, इसी तरह जगत् शब्दमय है यह कथन भी प्रत्यक्ष से बाधित होता है,

यदि शब्दब्रह्म का परिणाम जगत् माना जावेगा तब तो ऐसी आशका होना स्वाभाविक हो जाता है, कि शब्दब्रह्म जब जगतरूप परिणमित होता है तब वह अपने स्वरूप को छोड़कर जगतरूप में परिणमित होता है या नहीं छोड़कर परिणमित होता है ? यदि अपने स्वरूप को छोड़कर वह जगत् रूपसे परिणमित होता है तो सोचो फिर उसमें अनादि निधनता कहा रही, यदि स्वरूपको नहीं छोड़कर वह जगतरूपमें परिणमित होता है तो पदार्थ शब्दब्रह्ममय होनेसे बहिरे को भी शब्दश्रवण—शब्द का सुनना होना चाहिये, क्योंकि वह शब्द से तन्मय हुए पदार्थ को देखता जानता तो है ही ।

इसी तरह जगत् को जब शब्दब्रह्म का विवर्त माना जाता है—तब वह जगत् रूप विवर्त—पर्याय यदि उससे भिन्न हुई मानी जावेगी तो द्वैतापत्ति आनेसे अद्वैत की समाप्ति हो जावेगी, यदि इस आपत्ति से बचनेके लिये शब्दाद्वैतवादी ऐसा कहे कि है तो वास्तव में अद्वैत ही, परन्तु जो शब्दब्रह्म से भिन्न नानारूप पदार्थ दिखते हैं उसमें अविद्या कारण है, अविद्या के प्रभाव से ही ये नानारूपता पदार्थ माला में दिखती है, यदि ऐसा न होता तो जो योगी जन हैं उन्हें भी यह नानारूपता पदार्थों में दिखनी चाहिये—पर वे तो एक शब्दब्रह्म का ही दर्शन करते हैं सो ऐसा कहना स्वयं के सिद्धान्त का घातक बनता है, क्योंकि ऐसा यह कथन द्वैत का ही साधक बनता है, क्योंकि वहा भी तो यही प्रश्न हो सकता है कि क्या वह अविद्या ब्रह्म से भिन्न है ? यदि है तो द्वैत सिद्ध होता है, एक शब्दब्रह्म और दूसरी अविद्या द्वैत का अर्थ भी तो यही है कि “द्वाभ्यामितद्वैत”— । शब्दमय पदार्थ के मानने पर आपको यह सोचना होगा कि गिरि जैसा छोटा शब्द पहाड़ जैसे विशाल का वाचक कैसे हो सकेगा, और उस पहाड़ में अपनी विशालता को छोड़ “गिरि शब्द” जैसी अल्पता के आ जाने की भी आपत्ति क्यों नहीं आवेगी ।

यदि शब्दमय पदार्थ होता तो विचारिये—नारिकेल द्वीप निवासी व्यक्तिको शब्दसकेत ग्रहण किये बिना ही “घट” शब्द कम्बुग्रीवादिमान् घट का वाचक होता है ऐसा अर्थ बोध क्यों नहीं हो जावेगा, फिर सङ्केत ग्रहण के वश से ही शब्दादिक वस्तु की प्रतिपत्ति में हेतुभूत होते हैं यह सर्वमान्य सिद्धान्त अपरमार्थभूत हो जावेगा, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित होने के कारण यह आपका शब्दाद्वैत सिद्धान्त प्रमाण भूत सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि न तो जगत् शब्दमय है और न ज्ञान ही शब्दमय है ।

* शब्दाद्वैत के निरसन का सारांश समाप्त *

संशयस्वरूपसिद्धिः

ननु व्यवसायात्मकविज्ञानस्य प्रामाण्ये निखिल तदात्मक ज्ञान प्रमाण स्यात्, तथा च विपर्यय-ज्ञानस्य धारावाहिविज्ञानस्य च प्रामाण्यताप्रसङ्गात् प्रतीतिसिद्धप्रमाणेतरव्यवस्थाविलोपः स्यात्, इत्या-शङ्क्याऽतिप्रसङ्गापनोदार्थम् अपूर्वार्थविशेषणमाह । अतोऽनयोरनर्थविषयत्वाविशेषग्राहित्वाभ्या व्यव-च्छेद. सिद्ध. । यद्वानेनाऽपूर्वार्थविशेषणेन धारावाहिविज्ञानमेव निरस्यते । विपर्ययज्ञानस्य तु व्यवसाया-त्मकत्वविशेषणेनैव निरस्तत्वात् संशयादिस्वभावसमारोपविरोधिग्रहणात्वात्तस्य ।

शंका—प्रमाणका लक्षण करते समय श्री माणिक्यनदी आचार्यने जो व्यव-सायात्मक विशेषण दिया है वह ठीक नहीं, क्योंकि जो व्यवसायात्मक ज्ञान है वह प्रमाण है ऐसा कहेंगे तो जितने भी व्यवसायात्मक ज्ञान हैं वे सबके सब प्रमाण स्वरूप बन जायेंगे, इस तरहसे तो विपर्ययज्ञान, तथा धारावाहिक ज्ञान इत्यादि ज्ञानमें भी प्रामाण्य मानना होगा, फिर प्रतीति सिद्ध प्रमाणज्ञान और अप्रमाणज्ञान इस तरह ज्ञानोंमें व्यवस्था नहीं रह सकेगी ?

समाधान—इस अति प्रसंग को दूर करनेके लिये ही सूत्र में अपूर्वार्थ विशेषण दिया है, इस विशेषणसे विपर्यय ज्ञान तथा धारावाहिक ज्ञान इन दोनोंका निरसन हो जाता है, क्योंकि विपर्यय ज्ञानका विषय वास्तविक नहीं है और धारावाहिक ज्ञानका विषय अविशेष मात्र है । अथवा अपूर्वार्थ विशेषण द्वारा धारावाहिक ज्ञानका प्रमाणपना खण्डित होता है और व्यवसायात्मक विशेषण द्वारा विपर्यय ज्ञानका प्रमाणपना निरस्त होता है । क्योंकि व्यवसायात्मक ज्ञान तो संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित ही वस्तुको ग्रहण करता है [जानता है] ।

यहां पर कोई तत्वोपप्लववादी कहता है कि संशयादि ज्ञान तो कोई है नहीं फिर आप जैन व्यवसायात्मक विशेषण द्वारा किसका खडन करेंगे ? आप यह

ननु सशयादिज्ञानस्यासिद्धस्वरूपत्वात्क य व्यवसायात्मकत्वविशेषणत्वेन निरास ? सशयज्ञाने हि धर्मी, धर्मो वा प्रतिभाति ? धर्मी चेत्; स तात्त्विक, अतात्त्विकोवा? तात्त्विकश्चेत्, कथं तद्बुद्धेः सशयरूपता तात्त्विकार्थगृहीतिरूपत्वात्करतलादिनिर्णयवत् ? अथातात्त्विकः, तथाप्यतात्त्विकार्थविषयत्वात् केशोण्डुकादिज्ञानवद् भ्रान्तिरेव सशय । अथ धर्म-स स्थाणुत्वलक्षण, पुरुषत्वलक्षण, उभय वा ? यदि स्थाणुत्वलक्षण, तत्र तात्त्विकाऽतात्त्विकयो पूर्ववद्दोषः । अथ पुरुषत्वलक्षणः; तत्राप्ययमेव दोष । अथोभयम्, तथाप्युभयस्य तात्त्विकत्वाऽतात्त्विकत्वयो स एव दोषः । अथैकस्य तात्त्विकत्वमन्यस्यातात्त्विकत्वम्, तथापि तद्विषय ज्ञान तदेव भ्रान्तमभ्रान्त चेति प्राप्तम् । अथ सन्दिग्धोर्थस्तत्र प्रतिभासते, सोपि विद्यते न वेत्यादिविकल्पे तदेव दूषणम् । तन्न सशयो घटते । नापि विपर्ययस्तस्यापि स्मृतिप्रमोषाद्यभ्युपगमेनाव्यवस्थिते ।

बताइये कि सशय ज्ञानमें क्या झलकता है धर्म या धर्मी ? यदि धर्मी झलकता है तो वह सत्य है कि असत्य है ? सत्य है ऐसा कहो तो उस सत्य धर्मी को ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें सशयपना कैसे ? उसने तो सत्य वस्तुको जाना है ? जैसे कि हाथमें रखी हुई वस्तुका ज्ञान सत्य होता है ।

यदि उस धर्मीको असत्य मानो तो असत् को जानने वाले केशोण्डुक ज्ञानकी तरह सशय तो भ्रातिरूप हुआ ? यदि दूसरा पक्ष माना जाय कि सशयज्ञानमें धर्म झलकता है, तब प्रश्न होता है कि वह धर्म क्या पुरुषत्वरूप है, अथवा स्थाणुत्वरूप है, अथवा उभयरूप है ? यदि स्थाणुत्वरूप है तो पुन प्रश्न उठेगा कि सत है अथवा असत है ? दोनोमें पूर्वोक्त दोष आवेगे । पुरुषत्व धर्म में तथा उभयरूप धर्ममें भी वही दोष आते हैं, अर्थात् सशयज्ञान में स्थाणुत्व, पुरुषत्व अथवा उभयरूपत्व झलके, उनमें हम वही बात पूछेंगे कि वह स्थाणुत्वादि सत है या असत ? सत है तो सत वस्तु बतलाने वाला ज्ञान झूठ कैसे ? और यदि वह स्थाणुत्व धर्म असत है तो वह ज्ञान भ्रातिरूप ही रहा ? यदि कहा जाय कि एक धर्म [स्थाणुत्व] सत है और एक [पुरुषत्व] असत है, तब वह एक ही ज्ञान भ्रान्त तथा अभ्रान्त दोरूप हुआ ? यदि कहा जाय कि सशयमें सन्दिग्ध पदार्थ ही झलकता है तो उस पक्षमें भी वह है या नहीं इत्यादि प्रश्न और वही दोष आते हैं इसलिये सशय नामका कोई ज्ञान नहीं है । विपर्यय नामका भी कोई ज्ञान नहीं है क्योंकि विपर्ययको स्मृति प्रमोषादि रूप माना है अतः उसकी कोई स्थिति नहीं है ।

जैन—यह तत्वोपप्लव वादीका कथन असमीचीन है, क्योंकि सशय तो प्रत्येक प्राणीको चलित प्रतिभास रूपसे अपने आपमें ही झलकता है । सशयका विपर्यय

इत्यप्यसमीचीनम्, यतः सशय सर्वप्राणिना चलितप्रतिपत्त्यात्मकत्वेन स्वात्मसवेद्य । स धर्मविषयो वास्तु धर्मविषयो वा तात्त्विकातात्त्विकार्थविषयो वा किमेभिर्विकल्पैरस्य बालाग्रमपि खण्डयितुं शक्यते ? प्रत्यक्षसिद्धस्याप्यर्थस्वरूपस्यापह्नवे सुखदुःखादेरप्यपह्नवः स्यात् । कथं च 'धर्मविषयो धर्मविषयो वा' इत्यादि प्रश्नहेतुकसशयादि(धि)रूढेवाय सशय निराकुर्यात् न चेदस्वस्थः ? किंच, उत्पादककारणाभावात्सशयस्य निरासः, असाधारणस्वरूपाभावात्, विषयाभावाद्वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः, तदुत्पादककारणस्य सद्भावात्, स ह्याहितसस्कारस्य प्रतिपत्तुः समानाऽसमानधर्मोपलम्भानुपलम्भतो मिथ्यात्वकर्मोदये सत्युत्पद्यते । असाधारणस्वरूपाभावोप्यसिद्ध, चलितप्रतिपत्तिलक्षणस्यासाधारणस्वरूपस्य तत्र सत्त्वात् । विषयाभावस्तु दूरोत्सारित एव; स्थाणुत्वविशिष्टतया पुरुषत्वविशिष्टतया वाऽनवधारितस्य उर्ध्वतासामान्यस्य तद्विषयस्य सद्भावात् ।

चाहे धर्म हो चाहे धर्मी, सत हो चाहे असत, इतने विकल्पोसे सशयका बालाग्र भी खण्डित नहीं कर सकते, क्योंकि इस प्रकार आप प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुका भी अभाव करने लगोगे तो सुख दुःखादिका भी अभाव करना चाहिये ? आश्चर्य की बात है कि आप प्रभाकर स्वयं ही इस सशयका विषय धर्म है कि धर्मी, सत है कि असत ? इस प्रकार के सशयरूपी भूलेमे भूल रहे हो और फिर भी उसीका निराकरण करते हो ? सो अस्वस्थ हो क्या ? कि च आप उत्पादक कारणका अभाव होनेसे सशयको नहीं मानते है या उसमें असाधारण रूपका अभाव होनेसे, अथवा विषयका अभाव होनेसे सशयको नहीं मानते है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, देखो ! संशयका उत्पादक कारण मौजूद है । किस कारणसे संशय पैदा होता है सो बताते है—प्राप्त किया है स्थाणुत्व और पुरुषत्वके सस्कारको जिसने ऐसा व्यक्ति जब असमान विशेष धर्म जो मस्तक, हस्तादिक है तथा वक्र, कोटरत्वादि है उसका प्रत्यक्ष तो नहीं कर रहा और समान धर्म जो ऊर्ध्वता (ऊ चाई) है उसको देख रहा है तब उस व्यक्तिको अंतरगमे मिथ्यात्वके उदय होनेपर सशय ज्ञान पैदा होता है । सशयमे असाधारण स्वरूपका अभाव भी नहीं है, देखो ! चलित प्रतिभास होना यही सशयका असाधारण स्वरूप है । विषयका अभाव भी दूरसे ही समाप्त होता है स्थाणुत्व विशिष्टसे अथवा पुरुष विशिष्टसे जिसका अवधारण नहीं हुआ है ऐसा ऊर्ध्वता सामान्य ही सशयका विषय माना गया है, और वह मौजूद ही है । संशयकी सिद्धिसे विपर्ययकी भी सिद्धि होती है, क्योंकि उसको उत्पादक सामग्री भी मौजूद है ।

* संशयस्वरूपसिद्धि प्रकरण समाप्त *

विपर्ययज्ञाने अख्यात्यादिविचारः



एतेन विपर्ययनिरासोपि निराकृतः । तत्राप्युत्पादककारणादेः सद्भावाविशेषात् । किंच, अयं विपर्ययोऽख्यातिम्, असत्ख्यातिम्, प्रसिद्धार्थख्यातिम्, आत्मख्यातिम्, सदसत्त्वाद्यनिर्वचनीयार्थख्यातिम्, विपरीतार्थख्यातिम्, स्मृतिप्रमोष वाभिप्रोत्यनिराक्रियेत प्रकारान्तराऽसम्भवात् ?

अख्यातिं चेत्, तथा हि—जलावभासिनि ज्ञाने तावन्न जलसत्तालम्बनीभूतास्ति अभ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । जलाभावस्त्वत्र न प्रतिभात्येव ; तद्विधिपरत्वेनास्य प्रवृत्ते । अत एव मरीचयोऽपि नालम्बनम्, तत्त्वे वा तद्ग्रहणस्याभ्रान्तत्वप्रसङ्गः । तोयाकारेण मरीचिग्रहणमित्यप्युक्तम्, तदन्यत्वात् । न खलु घटाकारेण तदन्यस्य पटादेर्ग्रहणं दृष्टम् । ततो निरालम्बन जलादिविपर्ययज्ञानम्, इत्यप्यविचा-

अब हम जैन विपर्यय ज्ञानको अनेक तरहसे विपरीत मानने वाले चार्वाक, सौत्रान्तिक आदिसे विपर्ययका स्वरूप पूछते हैं कि क्या विपर्यय ज्ञान अख्याति रूप है [चार्वाक के प्रति] अथवा असत्ख्यातिरूप है [सौत्रान्तिक माध्यमिकके प्रति] या प्रसिद्धार्थख्यातिरूप है [साख्य, वेदान्ती, भास्करीयके प्रति] या आत्मख्यातिरूप है [विज्ञानाद्वैतवादी-योगाचारके प्रति] या सत् असत् रूपसे अनिर्वचनीय होनेसे अनिर्वचनीयार्थख्यातिरूप है [शाकर, ब्रह्माद्वैत, मायावादीके प्रति] या विपरीतार्थ ख्याति रूप है [नैयायिक, वैशेषिक, भाट्ट, वैभाषिक के प्रति] या स्मृति प्रमोष रूप है ? [प्रभाकरके प्रति] इतनी मान्यताओंको लेकर विपर्यय ज्ञानका खण्डन किया जा सकता है, अन्य कोई खण्डनका प्रकार नहीं है । प्रथम पक्ष अख्यातिरूप है, इस संबंधमें चार्वाक कहता है कि मरीचिकामें जायमान जल ज्ञानमें जलकी सत्ताका तो अवलंबन है नहीं, यदि होता तो वह ज्ञान सत्य कहलाता, इसी तरह जलाभाव भी नहीं है, क्योंकि ऐसा प्रतीत कहा है ? वहा तो "जल है" ऐसी विधिरूपसे उस ज्ञानकी प्रवृत्ति हो रही है, तथा इसी कारणसे मरीचिका भी उस ज्ञानका विषय नहीं है, यदि

रितरमणीयम्, विशेषतो व्यपदेशाभावप्रसङ्गात् । यत्र हि न किञ्चिदपि प्रतिभाति तत्केन विशेषेण जलज्ञान रजतज्ञानमिति वा व्यपदिश्येत ? भ्रान्तिसुषुप्तावस्थयोरविशेषप्रसङ्गश्च । न ह्यत्र प्रतिभासमानार्थव्यतिरेकेणान्योऽस्ति विशेषः । प्रतिभासमानश्च तज्ज्ञानस्यालम्बनमित्युच्यते । तन्नाख्यातिरेव विपर्यय ।

सत्यमेतत्, तथापि प्रतिभासमानोऽर्थं सद्रूपो विचार्यमाणो नास्तीत्यसदख्यातिरेवासौ । शुक्तिकाशकले हि न शुक्तिकादिप्रतिभासः, किं तर्हि ? रजतप्रतिभासः । स च रजताकारस्तत्र नास्तीति,

उस ज्ञानका विषय वह होती तो सत्य विषयको ग्रहण करनेके कारण विपर्ययज्ञान सत्य हो जाता । यदि कहो कि जलाकाररूपसे अर्थात् जलरूपसे मरीचिका ग्रहण होता है इसलिये वह ज्ञान सत्य नहीं है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जलसे वह मरीचि भिन्न है, अर्थात् जलाकार रूपसे परिणत ज्ञान मरीचिका से भिन्न है । ऐसा नहीं देखा जाता है कि घटाकार परिणत ज्ञान अन्य पट आदि का ग्रहण करने वाला होता हो । अतमे यही निष्कर्ष निकलता है कि यह विपर्यय ज्ञान बिल्कुल निरालब है [विषय रहित है] ।

जैन—यह कथन अविचार रूप है, क्योंकि यदि विपर्यय ज्ञान निरालब होता तो उसमें “यह विपर्यय ज्ञान है” ऐसा विशेष व्यपदेश (नाम) होता है वह नहीं होता । जिस ज्ञानमे कुछ भी नहीं भ्रलकता है तो फिर किस विशेषण द्वारा यह रजत ज्ञान है या जल ज्ञान है इत्यादि रूपसे उसका कथन कैसे हो सकता है ? तथा भ्रांत और निद्रित इन दोनों अवस्थाओमे, विपर्यय ज्ञानके निरालब मानने पर कुछ भेद नहीं रहेगा । जैसे—भ्रांत ज्ञानमे प्रतिभासमान अर्थको छोड़कर और कोई विशेषता नहीं है, उसी प्रकार विपर्यय ज्ञानमे प्रतिभासमान जो अर्थ है वही उसका अवलबन माना गया है, अतः विपर्यय ज्ञानको अख्याति रूप [कुछ भी नहीं कह सकना रूप] नहीं मानना चाहिये ।

भावार्थ—चार्वाक विपर्यय ज्ञानका विषय कुछ भी नहीं है ऐसा कहता है, इस पर आचार्य समझते हैं कि विपर्ययका विषय अख्याति अर्थात् मात्र अभाव स्वरूप है तो उस विपरीत ज्ञानके रजतज्ञान, जलज्ञान, इत्यादि भेद कैसे हो सकते ? अर्थात् नहीं हो सकते है । विपर्यय ज्ञानका विषय कुछ भी नहीं है ऐसा माननेसे दूसरा दोष यह भी आता है कि भ्रान्त और सुप्तावस्थामे कोई अन्तर नहीं रह जाता

तदयुक्तम्, इत्यपर! । कस्मात् ? असत् खपुष्पादिवत्प्रतिभासासम्भवात् । भ्रान्तिवैचित्र्या-
भावप्रसङ्गश्च, न ह्यसत्ख्यातिवादिनोऽर्थगत ज्ञानगत वा वैचित्र्यमस्ति येनानेकप्रकारा भ्रान्ति स्यात् ।
तस्मात्प्रमाणप्रसिद्ध एवार्थो विचित्रस्तत्र प्रतिभाति । न चास्य विचार्यमाणस्यासत्त्वम्, विचारस्य
प्रतीतिव्यतिरेकेणाऽन्यस्यासम्भवात् । प्रतीत्यबाधितत्वाच्च, करतलादेरपि हि प्रतिभासबलेनैव सत्त्वम्,
स च प्रतिभासोऽन्यत्राप्यस्ति । यद्यप्युत्तरकाल तथा सोऽर्थो नास्ति, तथापि यदा प्रतिभाति तदा तावद-

है क्योंकि स्वप्नावस्थाके ज्ञानमे झलके हुए पदार्थ जिस प्रकार अवास्तविक है, इसी
प्रकार विपर्यय ज्ञानमे झलका हुआ पदार्थ भी आपकी मान्यतानुसार अवास्तविक है,
अतः इन दोनों अवस्थाओंमें अंतरका अभाव नहीं हो इसके लिये ऐसा मानना चाहिये
कि भ्रान्तज्ञानभी निर्विषय नहीं है ।

माध्यमिक—आप जैनने ठीक कहा है किन्तु एक बात यह है कि विपर्यय
ज्ञानमे प्रतिभासमान अर्थका जब विचार किया जाता है तब वह सद्रूप नहीं है किन्तु
असद्रूप है ऐसा ही दिखायी देता है । अतः विपर्यय ज्ञानका विषय असत् ख्यातिरूप-
नास्तिरूप ही मानना चाहिये । सीपके टुकड़ेमे सीप आदिका प्रतिभास तो होता नहीं,
प्रतिभास तो रजतका होता है किन्तु रजत (चादी) वहा सत् रूपसे है नहीं ।

सांख्य—माध्यमिकका यह कथन अयुक्त है, क्योंकि विपर्यय ज्ञानका विषय
असत् होता तो आकाशके फूल के समान उसे प्रतिभासित नहीं होना चाहिये, तथा
भ्रान्तिकी विचित्रता अर्थात् अनेक तरहका भ्रम भी नहीं होना चाहिये, कारण कि
असत् ख्यातिको माननेवाले आपके यहा पदार्थोंकी विभिन्नता तथा ज्ञानोंकी विचित्रता
मानी नहीं गई है कि जिससे अनेक प्रकारकी भ्रान्ति हो सके । इसीलिए तो प्रमाण
प्रसिद्ध ही पदार्थ विचित्र रूपसे अर्थात् विपर्यय रूपसे भ्रान्त ज्ञानमे प्रतीत होता है
ऐसा हम मानते हैं । इस ज्ञानके विषय जो सीप आदि हैं उनका विचार करे तो उनमे
असत्त्व भी नहीं मालुम होता है, क्योंकि प्रतीति रूप ही विचार होता है, प्रतीतिसे
न्यारा कोई विचार है नहीं, अतः इस ज्ञानका विषय प्रतीतिसे अबाधित होनेके कारण
असत्त्वरूप नहीं है । हाथमे रखी हुई वस्तुका भी प्रतिभासके बलसे ही सत्त्व जाना जाता
है, वह प्रतिभास विपर्यय ज्ञानमे है ही । यद्यपि उत्तर कालमे वह प्रतिभासित पदार्थ
वैसा दिखाई नहीं देता अर्थात् जैसा प्रतिभासित हुआ वैसा प्रतीत नहीं होता तो भी
जब तक प्रतिभासित होता है तब तक तो वह है ही । यदि ऐसा नहीं माने तो बिजली

स्त्येव, अन्यथा विद्युदादेरपि सत्त्वसिद्धिर्न स्यात् । तस्मात्प्रसिद्धार्थख्यातिरेव युक्ता ;

इत्यप्यसाम्प्रतम्, यथावस्थितार्थगृहीतित्वाविशेषे हि भ्रान्ताऽभ्रान्तव्यवहाराभाव स्यात् । अपि चोत्तरकालमुदकादेरभावेऽपि तच्चिह्नस्य भूस्निग्धतादेरुपलम्भः स्यात् । न खलु विद्युदादिवदुदकादेरप्याशुभावी निरन्वयो विनाशः क्वचिदुपलभ्यते । सर्वतद्देशद्रष्टृदृष्टामविसवादेनोपलम्भश्च विद्युदादिवदेव स्यात् । बाध्यबाधकभावश्च न प्राप्नोति, सर्वज्ञानानामवितथार्थविषयत्वाविशेषात् ।

आदिका भी असत्त्व मानना होगा, क्योंकि वह भी उत्तर कालमे प्रतीत नहीं होती है, इसलिये विपर्यय ज्ञानका मतलब प्रसिद्धार्थ ख्याति ही करना चाहिये ! अर्थात् विपर्यय ज्ञानका जो विषय है वह प्रतिभासमान होनेसे सत्यभूत है ऐसा मानना चाहिये ।

जैन—यह कथन भी अयुक्त है, यदि ऐसा माना जाय अर्थात् सभी ज्ञानोंको यथावस्थित पदार्थका ग्राहक माना जाय तब तो भ्रान्त और अभ्रान्त ज्ञानका जो व्यवहार देखा जाता है वह समाप्त हो जायगा । दूसरी बात यह है कि तुमने कहा कि जब तक वह ज्ञान [सीपमे चादीका प्रतिभासरूप विपरीत ज्ञान] उत्तर कालमें बाधित नहीं होता तब तक उस विपर्ययका विषय सत्य ही है ? सो यदि ऐसी बात है तो मरीचिकामे जलका ज्ञान होने पर पीछे उत्तर कालमे जलका अभाव भले ही हो जाय किन्तु उसके चिह्न स्वरूप जमीनका गीला रहना आदि कुछ तो दिखायी देना चाहिये ? जलका स्वभाव बिजलीके समान तत्काल समूल नष्ट होनेका तो है नहीं, तथा सभी व्यक्तियोंको उस मरीचिकामे बिना विवादके जलकी उपलब्धि होनी चाहिये ? जैसे कि बिजली सबको दिखती है ? तथा उस मरीचि ज्ञानमे पीछे जो बाध्य-बाधकपना आता है वह भी नहीं आना चाहिये ? क्योंकि आपकी मान्यतानुसार सभी ज्ञान समान रूपसे सत्य विषयको ही जानने वाले माने गये हैं । भावार्थ—विपर्यय ज्ञानका विषय क्या है ? इस पर विचार चल रहा है, माध्यमिक बौद्धने विपर्यय ज्ञानका विषय नास्तिरूप सिद्ध करना चाहा तब बीचमें ही साख्यने अपना मन्तव्य प्रदर्शित करते हुए कहा कि विपर्यय ज्ञानका विषय बिल्कुल सत्य—मौजूद पदार्थ ही है, जैसे कि सत्य ज्ञानोका विषय वर्तमानमे मौजूद रहता है अन्तर इतना ही है कि उत्तर कालमे वह प्रतीत नहीं होता [तिरोभाव होनेसे] है । आचार्यने समझाया है कि विपर्यय ज्ञानका विषय असत् ख्याति की तरह प्रसिद्धार्थ ख्यातिरूप भी नहीं है अर्थात् इस ज्ञानका विषय सद्रूप भी नहीं है । यदि कहा जाय कि इस ज्ञानका

यदप्युच्यते-ज्ञानस्यैवायमाकारोऽनाद्यविद्योपप्लवसामर्थ्याद्बहिरिव प्रतिभामते । अनादिवि-
चित्रवासनाश्च क्रमविपाकवत्यः पु सा सन्ति तेनानेकाकाराणि ज्ञानानि स्वाकारमात्रसवेद्यानि क्रमेण
भवन्तीत्यात्मख्यातिरेवेति; तदप्युक्तिमात्रम्, यतः स्वात्ममात्रसवित्तिनिष्ठत्वे अर्थाकारत्वे च ज्ञान-
स्यात्मख्याति सिद्धयेत् । न च तत्सिद्धम्, उत्तरत्रोभयस्यापि प्रतिषेधात् । सर्वज्ञानानां स्वाकारग्राहित्वे
च भ्रान्ताऽभ्रान्तविवेको बाध्यबाधकभावश्च न प्राप्नोति, तत्र व्यभिचाराभावाविशेषात् । स्वात्म-

विषय तो बिजली की तरह, उत्तर कालमें नष्ट होता है सो यह कथन गलत है, सभी पदार्थ बिजली की तरह तत्काल विलीन नहीं होते हैं । अतः साख्यने विपर्यय ज्ञानका विषय सत्यभूत माना है वह ठीक नहीं है ।

विज्ञानाद्वैतवादी—सीपादिमें रजतादिका जो प्रतिभासरूप विपर्यय ज्ञान है वह मात्र ज्ञानका ही आकार है, किन्तु अनादि कालीन अविद्याके कारण ज्ञानसे बाहर हुए के समान प्रतीत होता है । अनादि अविद्याकी जो वासनाये है वे पुरुषोमें क्रम-क्रमसे प्रगट होती हैं, इस कारण स्वाकार मात्रसे जिनका सवेदन होता है वे ज्ञान क्रमशः अनेक आकारवाले होते हैं अर्थात् ग्राह्य-ग्राहक रूपमें उद्भूत होते हैं । अतः विपर्ययमें आत्मख्याति अर्थात् ज्ञानका ही आकार है, बाह्य वस्तुका नहीं क्योंकि ज्ञानके सिवाय बाह्य वस्तु है नहीं ?

जैन—यह कथन भी अयुक्त है, ज्ञान अपनेमें ही निष्ठ है और वही अर्थाकार होता है यह बात सिद्ध होनेपर ही इस विपर्यय ज्ञानकी आत्मख्याति रूपसे सिद्ध होगी, किन्तु ये दोनो अर्थात् ज्ञानमें अपना ही आकार है तथा वह खुद ही बाह्य पदार्थोंके आकारोंको धारण करता है ये दोनो बातें ही सिद्ध नहीं हैं, क्योंकि आगे इन दोनो बातोंका खण्डन होनेवाला है । यदि सारे ही ज्ञान अपना आकार मात्र ग्रहण करते हैं तो समस्त ज्ञानोंका यह भ्रान्त ज्ञान है, और यह अभ्रान्त है, ऐसा विवेक और बाध्य-बाधकभाव बनेगा ही नहीं, क्योंकि ज्ञानोंका अपने स्वरूप मात्रमें तो कोई व्यभिचार होता नहीं, अर्थात् आत्मस्वरूपको जाननेकी अपेक्षा समस्त ज्ञान प्रमाण भूत ही माने गये हैं । आकार सिर्फ ज्ञानमें ही निष्ठ है बाहरमें रजतादि नामकी कोई वस्तु नहीं है, तो फिर रजत सवेदन द्वारा वह रजत रूप आकार सुख सवेदनके समान अन्दर ही प्रतीतिमें आयेगा, बाहरमें स्थित होने रूपसे प्रतीतिमें नहीं आयेगा । तथा जाननेवाला व्यक्ति भी उस पदार्थको ग्रहण करने के लिये प्रवृत्ति क्यों

स्थितत्वेन रजताद्याकारस्य संवेदनेन च सुखाद्याकारवद्बहिष्ठतया प्रतीतिर्न स्यात् । प्रतिपत्ता च तदुपादानार्थं न प्रवर्त्तते, अबहिष्ठाऽस्थिरत्वेन प्रवृत्त्यविषयत्वात् । अथाविद्योपप्लववशाद्बहिष्ठ-स्थिरत्वेनाध्यवसायः, कथमेव विपरीतख्यातिरेव नैष्टा, ज्ञानादभिन्नस्यास्थिरस्य चार्थाकारस्यान्यथाध्यवसायाभ्युपगमादिति ?

यच्चोच्यते-न ज्ञानस्य विषय उपदेशगम्योऽनुमानसाध्यो वा येन विपरीतोऽर्थं कल्प्येत । किं तर्हि ? यो यस्मिन् ज्ञाने प्रतिभाति स तस्य विषय इत्युच्यते । जलादिज्ञाने च जलाद्यर्थं एव प्रतिभाति न तद्विपरीतः, जलादिज्ञानव्यपदेशाभावप्रसङ्गात् स च जलाद्यर्थः सन्न भवति; तद्बुद्धेरभ्रान्तत्व-प्रसङ्गात् । नाप्यसन्, खपुष्पादिवत्प्रतिभासप्रवृत्त्योरविषयत्वानुषङ्गात् । नापि सदसद्रूपः; लभ्य-दोषानुषङ्गात्, सदसतोरैकात्म्यविरोधाच्च । तस्मादयं बुद्धिसन्दर्शितोऽर्थः सत्त्वेनासत्त्वेनान्येन वा धर्मा-

करेगा ? क्योकि ज्ञानके अन्दर ही तो वह आकार (वस्तु) है ? तथा वह आकार ज्ञानके अस्थिर होनेसे अस्थिर है, अतः उसमे उठाना, रखना आदिरूप ज्ञाता मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है वह कैसे होगी ? अर्थात् नहीं हो सकती । तुम कहो कि अनादि अविद्याके कारण उस ज्ञानाकारकी बाहरी वस्तुरूपसे एवं स्थिर रूपसे अनुभव होता है, सो ऐसा माननेसे तो विपरीतार्थं ख्याति ही तुम्हारे द्वारा मान्य हुई ? क्योकि ज्ञानसे अभिन्न अस्थिर (क्षणिक) और बाहरमे स्थित रूपसे अध्यवसाय हुआ, सो ऐसा अध्यवसाय ही तो विपरीतार्थं ख्याति है और इसे आपने मान लिया है ?

शकर मतवाले कहते हैं कि इस विपर्यय ज्ञानका जो विषय है वह उपदेश गम्य या अनुमान गम्य तो है नहीं, जिससे कि उसको जैन लोग विपरीत मानते हैं, बात तो यह है कि जो जिस ज्ञानमें भ्रूलकता है वह उसीका विषय माना जाता है । जलादिके ज्ञानमें जलादिक ही प्रतीत होते हैं इससे विपरीत और कोई नहीं । यदि दूसरा विषय होता तो "जलका ज्ञान" यह नाम कैसे आता ? वह जलादि विषय सत तो है नहीं यदि होता तो उसको जाननेवाला ज्ञान सत्य हो जाता, तथा उस विपर्ययज्ञानका विषय असत भी नहीं है, क्योकि असत होता तो वह आकाशके पुष्प की तरह प्रति-भासित नहीं होता । सत-असत दोनो रूप मानो तो दोनों पक्षके प्रदत्त दूषण आयेगे । तथा सत असतका तादात्म्य भी नहीं है । इसलिए यह बुद्धिके द्वारा ग्रहण किया गया जो विषय है वह सत-असत आदि किसी भी स्वभावसे कहा नहीं जा सकता, अतः यह ज्ञान तो अनिर्वचनीयार्थं ख्याति रूप है ऐसा मानना चाहिये ?

न्तरेण निर्वक्तु न शक्यत इत्यनिर्वचनीयार्थख्यातिः सिद्धा; इत्यपि मनोरथमात्रम्, अद्वैतसिद्धौ ह्येतत्सिद्धयेत्, तच्चाद्वैत निराकरिष्याम. । यच्चोक्तम्—न ज्ञानस्य विषय उपदेशगम्य इत्यादि, तद्भवतामेव प्राप्तम्, तथा हि—जलादिभ्रान्तौ नियतदेशकालस्वभाव सदात्मकत्वेनैव जलाद्यर्थं प्रतिभाति तद्ग्रहणेऽसोस्तत्रैव प्रवृत्तिदर्शनात् तत्कथमसावनिर्वचनीयः स्यात् ? न ह्येवभूते प्रतिभास-प्रवृत्तौ अनिर्वचनीयेऽर्थे सम्भवत । अथ विचार्यमाण एवासौ सदसत्त्वादिभिरनिर्वचनीयः सम्पद्यते न तु भ्रान्तिकाले तथा प्रतिभातीति, नन्वेवमन्यथाप्रतिभासाद्विपरीतस्यातिरेव स्यात् ।

जैन—यह वर्णन भी मनोरथ मात्र है, जब अद्वैतपना सिद्ध हो तब यह कथन भी ठीक हो किन्तु हम तो उस अद्वैतका आगे निराकरण करनेवाले हैं । आपने कहा कि ज्ञानका विषय उपदेशगम्य नहीं इत्यादि, सो यह दोष तो आपको ही लगेगा, देखिये। जलके भ्रान्त ज्ञानमे जलादि पदार्थ भ्रूलकता है वह नियत देश, काल, स्वभाववाला है, अर्थात् सामने एक निश्चित स्थान पर और वर्तमान समयवाला है तथा सत रूपसे प्रतीतिमे आता है, उसको ग्रहण करनेके इच्छुक व्यक्तिकी वहाँ पर प्रवृत्ति भी देखी जाती है, ऐसी हालतमे उसे अनिर्वचनीय कैसे माने ? अनिर्वचनीयतामे इसतरहका प्रतिभास तथा प्रवृत्ति नहीं होती । तुम कहो कि इसकी सत-असत रूपसे विचार करने पर तत्तद्रूपसे प्रतीति नहीं होती है, इसलिये हम लोग इसे अनिर्वचनीय कहते हैं, न कि भ्रान्ति के समय अनिर्वचनीय कहते हैं, क्योंकि भ्रान्ति कालमे वह वैसा भ्रूलकता है ? सो ऐसा मानते हो तब तो उस ज्ञानको अन्यथा प्रतिभासरूप होनेसे विपरीतख्याति रूप ही क्यों नहीं कहते हो ?

शंका—“यह विपरीत है” ऐसा प्रतिभास न होनेके कारण इसे विपरीतार्थ ख्याति रूप भी नहीं मान सकते ?

समाधान—हम जैन भी ऐसा नहीं कहते हैं कि “यह विपरीत पदार्थ है” इस तरहके कथनको विपरीतार्थ कहते हैं । तुम पूछो कि विपरीतार्थ ख्याति किसे कहना ? सो बताते हैं—पुरुषसे विपरीत जो पदार्थ स्थाणु है उसमे “यह पुरुष है” ऐसी ख्याति ही विपरीतार्थ ख्याति कहलाती है ।

शंका—पुरुषको भ्रूलकानेवाला जो ज्ञान है उसमे स्थाणुका प्रतिभास तो है नहीं अतः उसको पुरुषको भ्रूलकानेवाले ज्ञानका विषय मानना अयुक्त है, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था हो जायगी अर्थात् घट-पट आदि पदार्थोंको प्रतिभासित करनेवाले ज्ञानोमें नहीं प्रतिभासित हुए पुरुषका विपर्यय मानना पडेगा ?

ननु विपरीतख्यातिरपि प्रतिभासविरोधान्न युक्तेति । क एवमाह—‘विपरीतोऽयमर्थः’ इति ख्याति ? किं तर्हि ? पुरुषविपरीते स्थाणु ‘पुरुषोऽयम्’ इति ख्यातिविपरीतख्याति । ननु पुरुषाव-
भासिनि ज्ञाने स्थाणुरप्रतिभासमानस्य विषयत्वमयुक्तं सर्वत्राप्यव्यवस्थाप्रसङ्गात्, तदयुक्तम्; यतः
स्थाणुरेवात्र ज्ञाने तद्रूपस्यानवधारणादधर्मादिवशाच्च पुरुषाद्याकारेणाध्यवसीयते । बाधोत्तरकाल हि
प्रतिसन्धत्ते स्थाणुरय मे ‘पुरुषं’ इत्येव प्रतिभात इति, कथमेव विपर्ययनिरास तस्या एव तद्रूप-

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि स्थाणु ही उस विपर्यय ज्ञानमें उसके स्वरूपका अवधारण न होनेसे काच कामलादि दोषके प्रभावसे पुरुषाकार रूप प्रतीत होता है, पीछे उत्तर कालमे बाधित होता है कि यह तो स्थाणु [ठूट] है मेरे को पुरुष रूपसे मालुम पडा था इत्यादि । इसलिये इस ज्ञानको विपरीतपना कैसे नहीं? है ही, यही तो विपरीतार्थ ख्याति है । मतलब जैन दार्शनिकोंने विपर्यय ज्ञानको विपरीत विषय वाला माना है, विपर्यय ज्ञानका लक्षण यही है कि दूरवर्ती होने आदि के कारण स्थाणु और पुरुषके कुछ समान धर्मोंको लेकर स्थाणुमें पुरुषाकारका प्रति-
भास होना । इसीतरह सीपमें चादीका भान, मरीचिकामे जलकी प्रतीति, रस्सीमें सर्पका ज्ञान ये सभी विपर्यय ज्ञान है । प्रभाकर मतमे माना गया जो स्मृति प्रमोष है उसके द्वारा इस विपर्यय ज्ञानका खण्डन होना अशक्य है, क्योंकि स्मृति प्रमोष ही असिद्ध है ।

भावार्थः—शकर मतवाले विपर्यय ज्ञानको सदसत्—अनिर्वचनीयार्थ ख्याति रूप मानते हैं, उनका कहना है कि विपर्यय ज्ञानके विषयको असत् नहीं कह सकते, क्योंकि उसका प्रतिभास होता है, तथा सत् भी नहीं कह सकते क्योंकि उस ज्ञानमे आगे जाकर बाधा आती है । शकर मतवालेको विज्ञानाद्वैतवादी ने कहा था कि विपर्यय ज्ञानका विषय आत्म ख्याति है अर्थात् ज्ञानका ही आकार है । विपर्यय हो चाहे और कोई ज्ञान हो, सभी ज्ञानोमे अपना ही आकार रहता है, क्योंकि ज्ञानको छोडकर दूसरा पदार्थ ही नहीं है । अनादि अविद्याके कारण बाहरमें अनेक आकार या पदार्थ दिखायी देते हैं ? जैनाचार्यने विज्ञानाद्वैतवादीको इतना ही कहकर छोड़ दिया है कि अभी आपका विज्ञानाद्वैत सिद्ध नहीं है, और आगे हम उसका भली प्रकारसे निरसन करेगे, अतः आत्मख्यातिको विपर्यय ज्ञान मानना असिद्ध है । अनिर्वचनीयार्थ ख्याति भी असत्य है, क्योंकि यदि विपर्यय ज्ञानका विषय अनिर्वचनीय [वचन के द्वारा नहीं कह सकना] होता तो “इदं जलं” यह जल है, इत्यादि प्रतिभास तथा तदनु-

त्वादिति ? स्मृतिप्रमोषाभ्युपगमेन तु विपर्ययप्रत्याख्यानमयुक्तम्; तस्यासिद्धरूपत्वात् ।

सार प्रवृत्ति नहीं होती, अतः अनिर्वचनीयार्थं ख्याति भी असत्य है । विपर्यय ज्ञानका विषय विपरीत ख्याति ही है, अर्थात् पुरुषसे विपरीत जो स्थाणु है उसमे “यह पुरुष है” ऐसी भूलक आना विपर्यय ज्ञान है, इस ज्ञानका विषय स्थाणु ही है किन्तु उसका अवधारण नहीं होनेसे पुरुषका आकार प्रतीत होता है ।

*** विपर्ययज्ञान अख्यात्यादिविचार समाप्त ***



स्मृतिप्रमोषविचारः

ननु शुक्तिकायाम् 'इदं रजतम्' इति प्रतिभासो विपर्ययः, न चांसौ विचार्यमाणो घटते । नहि 'इदं रजतम्' इत्येकमेवेदं ज्ञानकारणाभावात्, तथाहि—न दोषैश्चक्षुरादीनां शक्तेः प्रतिबन्धः क्रियते, कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । न हि दुष्टाय वा विपरीतकार्यमाविर्भावयन्ति । अत एव प्रध्वसोऽपि । किञ्च, "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादीनां" । [मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ८४] रजतस्य त्वासम्बद्ध-

प्रभाकर—सीपमें "यह रजत है" इसप्रकारका प्रतिभास होना विपर्यय ज्ञान कहलाता है, किन्तु इसपर विचार करे तो घटित नहीं होता, "यह रजत है" इस प्रकारका जो ज्ञान है वह एक नहीं है क्योंकि ऐसा एकत्वरूपसे प्रतिभास होनेमें कोई कारण नहीं दिखता है । चक्षु आदि इन्द्रियोंकी शक्तिका [काच, कामलादि] दोषों द्वारा प्रतिबन्ध होता नहीं, यदि होता तो उनसे देखने आदि रूप कार्य जो "यह चांदी है" इत्यादिरूप उत्पन्न नहीं हो पाते, क्या जो नामा धान्य खराब होनेपर भी विपरीत कार्य जो गेहू आदिके अंकुरोंको उत्पन्न करेगे ? अर्थात् नहीं करेगे । विशेषार्थ—जैन दार्शनिक विपर्यय ज्ञान होना मानते हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानमें विपरीतता का कोई भी कारण दिखायी नहीं देता है । चक्षु आदि इन्द्रियोंके सदोष होनेसे ज्ञान विपरीत हो जाय सो भी बात बनती नहीं, दोष तो कारणोंकी [इन्द्रियोंकी] शक्ति नष्ट करते हैं न कि विपरीत ज्ञानको पैदा करते हैं । देखो ! जो का बीज पुराणा हुआ तो क्या वह गेहूके अंकुरको पैदा करेगा ? अर्थात् नहीं करेगा, उसीप्रकार इन्द्रियोंके दोष विपरीत ज्ञानको पैदा नहीं कर सकते हैं ।

तथा वे बीज नष्ट होनेपर भी अंकुररूप कार्य उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि कारणका अभाव हुआ है । तथा यह भी बात है कि चक्षु आदि इन्द्रिया सम्बन्धित एव वर्तमान पदार्थोंको ग्रहण करती हैं, यहा जो सीपमें रजतका प्रतिभास हो रहा

त्वादवर्तमानत्वाच्च चक्षुषा कथं वर्तमानरजताकारावभासः स्यात् ? ज्ञाने च कस्यायमाकारः प्रथते ? न तावद्रजतस्य, अवर्तमानत्वात् । नापि ज्ञानस्यैव, स्वसिद्धान्तविरोधात् । किञ्च, अगृहीतरजतस्येदं विज्ञानं नोपजायते, अतिप्रसङ्गात् । गृहीतरजतस्य च 'तद्रजतमिदम्' इति स्यात्, इन्द्रियसंस्कारसादृश्यदोषैर्जन्यमानत्वात् । किञ्च, शुक्तिकाया रजतससर्गो न तावदसन् प्रतिभासते, खे खपुष्पससर्गवत् असत्ख्यातित्वप्रसङ्गात् । नापि सन्, रजतस्य तत्रासत्त्वात् । ततो ज्ञानद्वयमेतन् 'इदम्' इति हि

है वह रजत न वर्तमानमें मौजूद है न सीपसे सम्बन्धित है, फिर चक्षु द्वारा वर्तमानमें मौजूद सीपमें रजतका आकार कैसे प्रतिभासित हो रहा है ? यह जो ज्ञाव हुआ है उसमें किसका आकार भ्रलकता है ? यदि कहा जाय कि चांदीका आकार भ्रलकता है, तो यह उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि वह वर्तमानमें है ही नहीं । यदि कहा जावे कि ज्ञानका ही आकार प्रतिभासित होता है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि जैन सिद्धान्तसे यह कथन विरुद्ध पडता है । ज्ञानमें ज्ञानका ही आकार भ्रलकता है ऐसा जैन मत में माना ही नहीं । और एक बात यह है कि यदि बिना रजतके ग्रहण किये यह विपर्यय ज्ञान होता है ऐसा कह नहीं सकते क्योंकि ऐसा कहने पर अतिप्रसंग दोष आता है, अर्थात् फिर तो तलघर आदिमें पले हुए व्यक्तिको भी बाहर आते ही "यह चांदी है" ऐसा ज्ञान होना चाहिये । यदि कहो कि रजतको जाननेवाले व्यक्तिको "यह रजत है" ऐसा ज्ञान होता है तो फिर उसको "वह रजत यह है" ऐसी भ्रलक आनी चाहिये ? हम प्रभाकर तो इन्द्रिय संस्कार, सादृश्य, दोष इत्यादि कारणोंसे "यह रजत है" ऐसा ज्ञान होता है, इसप्रकार मानते हैं । विपर्यय ज्ञानके बारेमें हम प्रभाकरका कहना है कि सीपमें रजतका ससर्ग असत् होकर प्रतिभासित नहीं होता यदि होता तो वह आकाशमें आकाश पुष्पके ससर्गकी तरह असत् ख्याति रूप होता । अर्थात् फिर इस विपर्यय ज्ञानको असत् ख्याति रूप मानते किन्तु यह मान्यता हम प्रभाकरको इष्ट नहीं है । तथा वह रजतका ससर्ग सत् होकर भी प्रतिभासित नहीं होता, क्योंकि वहां रजतका अभाव है अतः 'इदं रजतं' इस ज्ञानको दो रूप मानना चाहिये "इदं" यह एक ज्ञान है, और "रजतं" यह दूसरा ज्ञान है, इनमें जो इदं अश है वह तो सामने रखे हुए अर्थका प्रतिभासरूप प्रत्यक्ष ज्ञान है, और "रजतं" ऐसी जो भ्रलक है वह पहले देखे गये रजतका स्मरण रूप ज्ञान है । सो ऐसा यह प्रतिभास सादृश्य आदि किसी दोषके निमित्तसे होता है । अतः "इदं रजतं" ऐसा ज्ञान स्मरण रूपसे वहां भ्रलकता नहीं है बस । इसीलिये हम प्रभाकर

पुरोव्यवस्थितार्थप्रतिभासनम् 'रजतम्' इति च पूर्वावगतरजतस्मरण सादृश्यादे. कुतश्चिन्निमित्तात् । तच्च स्मरणमपि स्वरूपेण नावभासत इति स्मृतिप्रमोषोऽभिधीयते । यत्र हि 'स्मरामि' इति प्रत्यय-स्तत्र स्मृतेरप्रमोष, न पुनर्यत्रस्मृतित्वेऽपि स्मरामि' इति रूपाप्रवेदनम् । प्रवृत्तिश्च भेदाऽग्रहणा देवोपपन्ना । ननु कोऽयं तदग्रहो नाम ? न तावदेकत्वग्रह., तस्यैव विपर्ययरूपत्वात् । नापि, तदग्रह-णप्रागभाव, तस्याऽप्रवृत्तिहेतुत्वात्, प्रवृत्तिनिवृत्त्यो प्रमाणफलत्वादिति चेत्, न, भेदाऽग्रहणस-चिवस्य रजतज्ञानस्य प्रवृत्तिहेतुत्वोपपत्तेरिति ।

उसे स्मृति प्रमोष कहते हैं । जहा "स्मरण करता हूं" ऐसी भूलक हो वहा तो स्मृति प्रमोष नहीं है, किन्तु जहा स्मृतिरूपता होते हुए भी "स्मरण करता हूं" ऐसी भूलक न हो वहा तो स्मृतिका प्रमोष ही है "यह रजत है" ऐसे ज्ञानके होनेपर जो प्रवृत्ति होती है वह तो भेदको न जाननेसे अर्थात् भेदके अग्रहणसे होती है । अब भेदका अग्रहण क्या है ? इसपर सोचे—एक रूपसे दोनोंका ग्रहण होना यह भेद अग्रहण है, सो ऐसा मानना इसलिये ठीक नहीं कि वह विपरीत ख्याति रूप कहलायेगा । भेद ग्रहणके प्रागभावको भेदका अग्रहण कहना भी संगत नहीं बैठता क्योंकि प्रागभाव प्रवृत्तिका कारण नहीं हुआ करता । कोई कहे कि प्रवृत्ति और निवृत्ति कराना तो प्रमाणका फल है प्रागभावका यह फल नहीं है । सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं कारण कि भेदका अग्रहण है सहायक जिसका ऐसा रजत ज्ञान ही प्रवृत्तिका हेतु होता है । इस प्रकार भेदके अग्रहणमे कारण जो स्मृति प्रमोष है उसके निमित्तसे हुआ रजत प्रतिभास ही प्रवृत्तिका अर्थात् "यह चादी है" ऐसा भान होते ही उसमें ग्रहणकी जो प्रवृत्ति होती है उसका कारण है । इसप्रकार "इदं रजतं" इत्यादि ज्ञान स्मृति प्रमोष लक्षण वाले हैं ।

विशेषार्थ—“इदं रजतं” यह प्रतिभास दो ज्ञानरूप है, “इदं” यह प्रत्यक्षरूप है, और “रजतं” यह स्मरणरूप है । यह स्मरण अपने स्वरूपसे प्रतीत नहीं होता है, अर्थात् रजतका स्मरण करता हूं ऐसी प्रतीति नहीं आनेसे वह स्मृति प्रमोष कहलाता है । इस ज्ञानमें वस्तुको ग्रहण करनेकी जो प्रवृत्ति होती है वह तो विवेक नहीं होनेसे अर्थात् सीप और चादी का सम्यग्बोध न होने से होती है “इदं रजतं” यह ज्ञान यद्यपि सत्य रजत ज्ञानसे भिन्न है, तथापि दोनोंका भेद मालूम न होनेसे ऐसा होने लग जाता है । “इदं रजतं” “इदं जलं” अर्थात् सीपमें यह चादी है ऐसा प्रतिभास होना, मरीचिमें यह जल है ऐसा प्रतीत होना विपर्यय ज्ञान है, और इसका दो वस्तुओंकी समानता, पदार्थका दूरवर्ती रहना, कुछ इन्द्रियोंकी सदोषता आदि है ऐसा जैन कहते

अत्र प्रतिविधीयते-न दोषैः शक्तेः प्रतिबन्धः प्रध्वसो वा विधीयते, किन्तु दोषसमवधाने चक्षुरादिभिरिदं विज्ञानं विधीयते । दोषाणां चेदमेव सामर्थ्यं यत्तत्सन्निधानेऽविद्यमानेष्वर्थे ज्ञानमुत्पादयन्ति चक्षुरादीनि । न चैवमसत्ख्यातिः स्यात्, सादृश्यस्यापि तद्धेतुत्वात् । असत्ख्यातिस्तु न तद्धेतुका, खपुष्पज्ञानवत् । रजताकारश्च प्रतिभासमानो न ज्ञानस्य, संस्कारस्यापि तद्धेतुत्वात् । दोषाद्वि-संस्कारसहायादनुभूतस्यैव रजतस्यायमाकारः पुरोवर्तिन्यर्थे प्रतिभासते । न चैव 'तद्रजतम्' इति

है, किन्तु हम प्रभाकर मतवाले तो इस ज्ञानको स्मृति प्रमोष रूप मानते हैं । इस ज्ञानका कारण दो ज्ञानोका एकत्रित होना है, अर्थात् "इदं" वर्तमान ज्ञान है, और "रजत" यह भूतकालीन ज्ञान है, किन्तु उसमें "स्मरण करता हूँ" ऐसा प्रतिभास नहीं होता बस । इसीलिये इसका नाम स्मृति प्रमोष रखा गया है ।

जैन—यहां पर प्रभाकरके उपर्युक्त कथनका खण्डन किया जाता है शुरूमें उन्होंने पूछा था कि दोषोंके द्वारा इन्द्रिय शक्तिका प्रतिबन्ध होता है या नाश होता है । इत्यादि सो इसका जवाब हम देते हैं कि काच कामलादि दोषों द्वारा नेत्रादिकी शक्तिका प्रतिबन्ध नहीं होता है और न उसका नाश होता है, किन्तु दोषके कारण चक्षु आदि इन्द्रियोके द्वारा ऐसा ज्ञान होने लग जाता है । दोषोका यही सामर्थ्य है कि उनके निमित्तसे पदार्थके न होनेपर भी उस विषयका वे चक्षुरादि इन्द्रिया ज्ञान पैदा करा देती हैं । ऐसी मान्यता से असत्ख्यातिका प्रसंग भी नहीं आता है, अर्थात् अविद्यमान वस्तुको जाने तो असत्वाद आवे सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस ज्ञानमें पहले देखे गये रजतादिकी सदृशता भी कारण है, असत् ख्यातिमें ऐसा सादृश्य हेतु नहीं है वह तो सर्वथा आकाश पुष्पके ज्ञान सदृश है । तथा सीपमें रजताकार जो प्रतिभास हो रहा है वह ज्ञानका आकार नहीं है किन्तु संस्कारके निमित्तसे ऐसा प्रतिभास होता है, मतलब काच कामला आदि दोष और बार बार सफेद चीजका देखना रूप संस्कार ये सब ऐसे प्रतिभासके हेतु हैं, पूर्वमें जाना गया रजतका आकार सामनेमें स्थित सीपमें झलकता है, ऐसा माननेपर "वह रजत है" इस तरह झलक आनेका प्रसंग जो आपने कहा था वह भी नहीं आयेगा, क्योंकि दोषके कारण सामने स्थित सीपमें रजतका आकार झलकता है अन्यथा आपको भी "वह रजत है" ऐसी झलक होनेका प्रसंग क्यों नहीं प्राप्त होगा ? इसलिये जैसे तुम्हारी मान्यताके अनुसार यहाँ स्मृतिका प्रमोष है वैसे ही दोषोंके कारण समानता का अर्थात् सफेदीका अधिकरण होनेसे सामने स्थित सीपमें रजताकारका अवभास होता है ऐसा क्यों नहीं मानते ? इस कथनसे आपके-

स्यात्; दोषवशात्पुरोऽव्यवस्थितार्थे रजताकारस्य प्रतिभासनात् । कथमन्यथा भवतोऽपि तद्रजतमिति प्रतिभासो न स्यात् ? ततो यथा तव स्मृतिप्रमोपस्तथा दोषेभ्यः सामानाधिकरण्येन पुरोवर्त्तिन्य-वर्तमानरजताकारावभास किञ्च स्यात् ? अनेन 'तत्ससर्गं सन्नसन्वा प्रतिभासते' इत्यपि निरस्तम् । न च विवेकाऽख्यातिसहायाद्रजतज्ञानात् प्रवृत्तिर्घटते, 'घटोयम्' इत्याद्यभेदज्ञानात्प्रवृत्तिप्रतीतेः । विवेकाख्यातिश्च भेदे सिद्धे मिद्ध्येत् । न चात्र ज्ञानभेदः कुतश्चित् सिद्ध, तथापि तत्कल्पने 'घटोयम्'

द्वारा किये गये सत प्रतिभासित होता है या असत प्रतिभासित होता है ? इत्यादि पूर्व प्रश्नोंका निरसन स्वयमेव हो जाता है । प्रभाकर ने कहा था कि विवेक का ग्रहण न होनेसे अर्थात् "यह रजत है" इसतरह की भ्रूलकमें दो ज्ञान हैं किन्तु उसका भेद मालूम न पडनेसे जो ज्ञान होता है कि "यह रजत है" सो इस ज्ञानके कारण सीपमें चांदी समझकर उसे ग्रहण करने के लिए प्रवृत्ति होती है । सो प्रभाकर का यह कहना गलत है. देखो ! "यह घट है" इत्यादि जो ज्ञान है वे भी अभेद को लिए हुए हैं उन ज्ञानोसे घटादि को ग्रहण करने के लिए मनुष्य की प्रवृत्ति हुआ ही करती है, आप प्रभाकरकी यह विवेक अख्याति—अर्थात् भेदोका अग्रहण तब सिद्ध होगा जब यह रजत है, इस ज्ञानमे भेद सिद्ध हो ! मतलब "यह" इसप्रकारका प्रत्यक्षज्ञान, और "रजत है" इस प्रकारका स्मरण ज्ञान ऐसे ये दो भेद यहा सिद्ध होते हो तब तो भेदोंका यहां अग्रहण है, इस प्रकार कह सकते है, किन्तु किसी भी प्रमाण से "यह रजत है" इस ज्ञानमे दो ज्ञानोंकी भ्रूलक सिद्ध नहीं होती है यदि ज्ञानोमे भेद सिद्ध नहीं होनेपर भी जबरदस्ती भेदकी कल्पना करो तो "यह घट है" इस ज्ञानमें भी भेद मानना पड़ेगा ? क्योंकि पूर्व मान्यता मे और इस मान्यतामे कोई विशेषता नहीं है, जिससे कि "यह घट है" इस ज्ञानमे तो भेद न माना जाय और "यह चांदी है" इस ज्ञानमे भेद न माना जाय ।

प्रभाकर—“यह घट है” इस ज्ञानमे तो सत्य घटका ग्रहण होता है अतः यहांपर ज्ञानमे भेद नहीं माना गया है ?

जैन— तो फिर अन्य जगह भी अर्थात् "यह रजत है" इस ज्ञानमे भी असत्य वस्तुका [चांदीका] ग्रहण हुआ है इसलिये यहांपर भी ज्ञानके भेदकी कल्पना नहीं होनी चाहिये । एक बात यह सिद्ध करना है कि आप प्रभाकर निर्मलता आदि गुणोसे युक्त नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा वर्त्तमान वस्तुमें एक ज्ञान पैदा होता है ऐसा मानते हैं,

इत्यादावपि ज्ञानभेदः कल्प्यतामविशेषात् । अथात्र सतो घटस्य ग्रहणान्नासी कल्प्यते, तर्हि अन्यत्राप्यसतो ग्रहणात्तत्कल्पना माभूत् । यथैव हि गुणान्वितैश्चक्षुरादिभिः सति वस्तुन्येक ज्ञान जन्यते, तथा दोषान्वितैः सादृश्यवशादसत्येक ज्ञान जन्यते । गुणदोषाणां च सद्भाव ज्ञानजनकत्व च स्वतः-प्रामाण्यप्रतिषेधप्रस्तावे प्रतिपादयिष्याम । न च प्रभाकरमते विवेकाख्याति सम्भवति, तत्र हि 'इदम्' इति प्रत्यक्षं 'रजतम्' इति च स्मरणमिति सवित्तिद्वय प्रसिद्धम्, तच्चाऽऽत्मप्राकट्येनैवोत्पद्यते । आत्म-प्राकट्य चान्योन्यभेदग्रहणेनैव सवेद्यते घटपटादिसवित्तिवत् । किञ्च, विवेकाख्याते प्रागभावो विवेकाख्याति । न चाभावः प्रभाकरमतेऽस्ति ।

उसीप्रकार काच कामलादि दोष युक्त नेत्र आदि इन्द्रियो द्वारा वस्तुओमे समानता होनेके कारण अविद्यमान वस्तुमे भी एक ही ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

गुण और दोष दोनोंका ही सद्भाव है, दोनों ही ज्ञानको उत्पन्न करनेमे [या नही करनेमे] समर्थ है, इस बातको हम स्वतः प्रामाण्यवाद—का खण्डन करते समय कहनेवाले है । आप प्रभाकरके मतमे विवेक अख्याति संभव नही है आप लोग "इद" इस भ्रूलक को प्रत्यक्ष और "रजत" इस भ्रूलकको स्मृति नाम देते हैं तथा यह भी कहते है कि वे दोनों ही अपने स्वरूपकी प्रगटतासे ही उत्पन्न होते हैं, यह स्वरूप प्रगटता तो आपसमें एक दूसरेके भेदोके ग्रहणके बाद ही अनुभवमे आती है, जैसे घट पट आदिके ज्ञानोमे अपना अपना भिन्न भिन्न रूप एक दूसरेके भेदकी विशेषताको जाननेके बाद ही अनुभवमे आता है । तथा विवेकके ख्यातिका प्रागभाव [अभाव] होना विवेक अख्याति कहलाती है किन्तु प्रभाकर मतमें अभावको नही माननेसे यह अख्याति सिद्ध नही होती । प्रभाकर यह बतानेका कष्ट करे कि स्मृतिप्रमोष कहते, किसे है ? स्मृतिके अभावको, या अन्यमे अन्यके प्रतिभासको, या विपरीताकार रूपसे जाननेको, या अतीत कालका वर्तमान रूपसे ग्रहण होनेको, या प्रत्यक्षके साथ दूध पानीके समान स्मृतिका अभेद रूपसे उत्पाद होनेको ? इन पाच विकल्पोको छोडकर अन्य कोई विकल्पसे तो स्मृति प्रमोषका लक्षण हो नही सकता ।

प्रथम विकल्प-स्मृतिके अभावको स्मृति प्रमोष कहते है तो वह है नही, क्योंकि यदि स्मृतिका अभाव होता तो पहले देखे हुए रजतकी प्रतीति सीपमे कैसे होती ? अर्थात् नही होती । तथा स्मृतिके अभाव को यदि स्मृति प्रमोष कहा जायगा तो मूर्च्छित आदि अवस्थामे जो भी ज्ञान होते है उनको भी स्मृति प्रमोषताका प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि वहा भी स्मृतिका अभाव है ? यदि कहा जाय कि स्वप्न मूर्च्छा आदि अवस्थामे तो "इद" यह

कश्चायं स्मृते प्रमोष—किं स्मृतेरभाव, अन्यावभासो वा स्यात्, विपरीताकारवेदित्व वा, अतीतकालस्य वर्तमानतया ग्रहण वा, अनुभवेन सह क्षीरोदकवदविवेकेनोत्पादो वा प्रकारान्तरा-सम्भवात् ? तत्र न तावदाद्य पक्ष, स्मृतेरभावे हि कथं पूर्वदृष्टरजतप्रतीतिः स्यात् ? मूर्च्छाद्य-वस्थाया च स्मृतिप्रमोषव्यपदेश स्यात् तदभावांविशेषात् । अथात्र 'इदम्' इति भासाभावान्नासौ; ननु 'इदम्' इत्यत्रापि किं प्रतिभातीति वक्तव्यम् ? पुरोव्यवस्थित शुक्तिकाशकलमिति चेत्, ननु स्वधर्मविशिष्टत्वेन तत्र प्रतिभाति, रजतसन्निहितत्वेन वा ? प्रथमपक्षे कुत स्मृतिप्रमोषः ? शुक्ति-काशकले हि स्वगतधर्मविशिष्टे प्रतिभासमाने कुतो रजतस्मरणसम्भवो यतोऽस्य प्रमोषः स्यात् ? न खलु घटे गृहीते पटस्मरणसम्भवः । अथ शुक्तिकारजतयोः सादृश्याच्छुक्तिकाप्रतिभासे रजतस्मरणम्;

भ्रूलकता ही नहीं अतः वहाँ स्मृति प्रमोषताका प्रसंग प्राप्त नहीं होता है । तो प्रश्न होता है कि "इदं" इसमें क्या भ्रूलकता है ? यदि सामने रखा हुआ सीपका टुकड़ा भ्रूलकता है ऐसा कहो तो वह भी अपने धर्मसे युक्त हुआ प्रतीत होता है कि रजतसे संबद्ध होकर प्रतीत होता है ? यदि वह अपने धर्मसे युक्त-त्रिकोण आदि रूपसे भ्रूल-केगा तो स्मृति प्रमोष कहा रहा ? अर्थात् नहीं रहा, क्योंकि सीपके टुकड़ेमें उसीके धर्मकी प्रतीति आ रही है । इसप्रकार सीपमें सीपका धर्म भ्रूलका है तो रजतका स्मरण क्यों होगा और क्यों उसका प्रमोष होगा ? ऐसा तो होता नहीं कि घटके ग्रहण करनेपर पटका स्मरण होता हो ?

प्रभाकर—सीप और चादीमें सदृशता है इस कारण सीपके प्रतिभास होनेपर रजतका स्मरण हो जाता है ।

जैन—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सादृश्यको हेतु बताना बेकार है, देखो ! यदि अपने असाधारण धर्मसे सहित सीपका स्वरूप प्रतीत हो रहा है तो वहाँ सदृश वस्तुके स्मरणकी क्या आवश्यकता है ? हा ऐसा हो सकता है कि जब वस्तुका सामान्य रूपसे ग्रहण होता है तब कदाचित् स्मरण भी हो जाय किन्तु असाधारण धर्मसे युक्त वस्तु जब ग्रहण हो जाती है तब तो सदृश वस्तुका स्मरण नहीं होता । जन्मसे जो नेत्र रोगी है उस व्यक्तिको एक ही चन्द्र में जो दो चन्द्रोंका प्रतिभास होता है उसमें सदृश वस्तुका प्रतिभास तो है नहीं फिर उस विचारेको वहाँ स्मृति कैसे होगी, और उसका प्रमोष भी वहाँ कैसे कहलायेगा ?

भावार्थ—प्रभाकरने विपर्यय ज्ञानको स्मृति प्रमोष रूप माना है उसका कहना है कि इस ज्ञानमें दो रूप भ्रूलकते हैं एक वर्तमान रूप और दूसरा अतीत रूप, अतीत

न, अस्याऽकिञ्चिदकरत्वात् । यदा ह्यसाधारणधर्माध्यासित शुक्तिकास्वरूप प्रतिभाति तदा कथं सदृशवस्तुस्मरणम् ? अन्यथा सर्वत्र स्यात् । सामान्यमात्रग्रहणे हि तत् कदाचित्स्यादपि नाऽसाधारणस्वरूपप्रतिभासे । द्विचन्द्रादिषु च जातिर्तमिरिकप्रतिभासविषये सदृशवस्तुप्रतिभासाभावात् कथं स्मृतेरुत्पत्तिर्यतः प्रमोष स्यात् ? नापि तत्सन्निहितत्वेन प्रतिभास ; रजतस्य तत्रासत्त्वेन तत्सन्निधानायोगात् । इन्द्रियसम्बद्धानां च तद्देशवर्तिना परमाण्वादीनामपि प्रतिभासः स्यात् तदविशेषात् । नाप्यन्यावभासोऽसी, स हि किं तत्कालभावी, उत्तरकालभावी वा स्यात् ? तत्कालभावी चेत्, तर्हि

वस्तुका स्मरण सदृशताको लेकर होता है—सो इस मान्यतामे प्रभाचन्द्राचार्य दूषण दे रहे है कि विपरीत ज्ञानका कारण यदि अतीत वस्तुकी सदृशताको माना जावे तो जन्म जात नेत्र रोगसे युक्त व्यक्तिको आकाशमे एक ही चन्द्रमामे दो चन्द्रमार्कोंका प्रतिभास होता है वह विपर्यय ज्ञान है सो इस ज्ञानमे आपके कथनानुसार वर्तमानमें प्रत्यक्ष और अतीतका स्मरण होना चाहिये ? किन्तु वह सभव नहीं है, क्योंकि उस तिमिर रोगी को सदृश वस्तुका प्रतिभास ही नहीं है तो स्मृति कैसे आयेगी ? अर्थात् नहीं आ सकती अतः विपर्यय ज्ञानका लक्षण स्मृति प्रमोष करना व्यभिचरित है ।

स्मृति प्रमोषके लक्षणमे दूसरा पक्ष यह था कि “इदं” इस ज्ञानमे रजतसे संबद्ध सीपका टुकड़ा प्रतीत होता है सो यह कथन भी जमता नहीं, कारण कि वहा रजतका ही जब अभाव है तो उसकी सन्निधि कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती । दूसरी बात यह भी होगी कि रजत नहीं है तो भी उसकी सन्निधि मानी जाय तो इन्द्रियसे संबद्ध उस सीपके देशमें जो परमाणु आदि रहते है उनका भी प्रतिभास होने लग जायगा ? क्योंकि निकटता तो उनकी भी है, इसप्रकार स्मृतिके अभावको स्मृति प्रमोष कहते है ऐसा पाच प्रश्नोमेसे प्रथम प्रश्न का कथन समाप्त हुआ । अब दूसरा प्रश्न या पक्ष देखिये ! अन्यका अवभास होना स्मृति प्रमोष है ऐसा माने तो भी ठीक नहीं है, यह अन्यावभास कब होता है तत्कालमे या उत्तर कालमे ? अर्थात् रजत के स्मरण कालमें अथवा अग्रिम कालमे ? तत्कालमे होता है ऐसा कहो तो घट आदि का ज्ञान भी तत्काल भावी अर्थात् रजत स्मरणके समयमे हो सकता है अतः उसे भी स्मृति प्रमोष रूप मानना होगा । उत्तरकाल भावी अन्यावभासको भी स्मृति प्रमोष कह नहीं सकते, अतिप्रसंग आयेगा, उसी अति प्रसंगको बताते है कि यदि उत्तरकालमें अन्यावभास प्रगट हो गया अर्थात् सीपमे चादीका प्रतिभास होनेके बाद सीपकी प्रतीति आगई तो वह पूर्व ज्ञान [रजत ज्ञान] स्मृति प्रमोष रूप नहीं कहलायेगा ? नहीं तो

घटादिज्ञान तत्कालभावि तस्याः प्रमोषः स्यात् । नाप्युत्तरकालभाव्यन्यावभासोऽस्याः प्रमोषः; अतिप्रसङ्गात् । यदि हि उत्तरकालभाव्यन्यावभासः समुत्पन्नस्तर्हि पूर्वज्ञानस्य स्मृतिप्रमोषत्वेनासौ नाभ्युपगमनीय, अन्यथा सकलपूर्वज्ञानाना स्मृतिप्रमोषत्वेनाभ्युपगमनीयः स्यात् । किञ्च, अन्यावभासस्य सद्भावे परिस्फुटवपुः स एव प्रतिभातीति कथं रजते स्मृतिप्रमोषः ? निखिलान्यावभासाना स्मृतिप्रमोषतापत्ते । अथ विपरीताकारवेदित्वं तस्याः प्रमोषः, तर्हि विपरीतख्यातिरेव, कश्चासौ विपरीत आकारः ? परिस्फुटार्थावभासित्वं चेत्; कथं तस्य स्मृतिसम्बन्धित्वं प्रत्यक्षाकारत्वात् ? तत्सम्बन्धित्वे वा प्रत्यक्षरूपतैवास्या स्यान्न स्मृतिरूपता । नाप्यतीतकालस्य वर्तमानतया ग्रहणं तस्याः प्रमोषः, अन्यस्मृतिवत्तस्या स्पष्टवेदनाभावानुषङ्गात्, न चैवम् । अतीतकालस्य स्पष्टचेनाधिकस्य

जितने भी पूर्वके ज्ञान है वे सब स्मृति प्रमोषरूप मानने पड़ेगे । तथा अन्यावभासका मतलब सीपका प्रतिभास है तो वह सीप मौजूद ही है, वही स्पष्ट भूलकेगी तो फिर रजतमें स्मृतिप्रमोष काहेका हुआ ? नहीं तो आपको सारे अन्य-अन्य प्रत्येक वस्तुओं के अवभासोको स्मृति प्रमोषरूप स्वीकार करना होगा ? तीसरा पक्ष विपरीत आकार से भूलकना स्मृति प्रमोष है तब तो साक्षात् ही हम जैनकी विपरीत ख्याति हो जाती है । यह बताना भी जरूरी है कि विपरीत आकार क्या चीज है ? स्पष्ट रूपसे अर्थका भूलकना है ऐसा कहो तो वह ज्ञान स्मृति सबधी नहीं रहा, क्योंकि स्पष्टाकारका अवभास होनेसे वह प्रत्यक्ष ही बन जायगा, यदि उस स्पष्टाकारकी भूलकको स्मृतिका सबधी माना जाय तो उस स्मृतिमे प्रत्यक्ष रूपता ही होगी, फिर उस विपरीताकारमें स्मृति रूपता नहीं रह सकती है ।

चौथा पक्ष—अतीत कालका वर्तमान रूपसे ग्रहण होना स्मृति प्रमोष है ऐसा मानते हो तो भी ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने पर यहांपर “यह रजत है” इस ज्ञानमें जो स्पष्टपना भूलकता है वह नहीं रहेगा, जैसे कि अन्य देवदत्त आदिके स्मरण रूप ज्ञानोमे स्पष्टता नहीं रहती है, किन्तु यहां रजत ज्ञानमें स्पष्टता है ।

प्रभाकर—अतीत कालकी स्पष्टताके साथ अधिक रूपसे सवेदन होना स्मृति प्रमोष है ?

जैन—ऐसा कहना आपको इष्ट नहीं रहेगा क्योंकि यदि रजत स्मृतिमे वास्तविक स्पष्टता है तो आप सर्वज्ञका निषेध नहीं कर सकेगे, जैसे यहां रजतके स्मृति ज्ञानमे विना इन्द्रियोके स्पष्टता आयी है, वैसे ही अन्य सर्वज्ञ आदिके ज्ञानोमें भी बिना इन्द्रियोके स्पष्टता संभव है ऐसा सिद्ध हो सकता है ।

सवेदनं स इति चेत्; न, तत्र परमार्थतः स्वाष्ट्यसद्भावे अतीन्द्रियार्थवेदिनो निषेधो न स्यात्, तत्स्मृतिवत् अन्यस्यापीन्द्रियमन्तरेण वंशद्यसम्भवात् । अथात्र पारम्पर्येणोन्द्रियादेव वैशद्यम्, न, तदविशेषात्सर्वस्यास्तत्प्रसङ्गात् । अथानुभवेन सह क्षीरोदकवदविवेकेनोत्पादोऽस्याः प्रमोषः, ननु कोयमविवेको नाम-भिन्नयोः सतोरभेदेन ग्रहणम् सश्लेषो वा, आनन्तर्येण उत्पादो वा ? प्रथमपक्षे विपरीतख्यातिरेव । सश्लेषस्तु ज्ञानयोर्न सम्भवत्येव, अस्य मूर्त्तद्रव्येष्वेव प्रतीते । आनन्तर्येणोत्पादस्य स्मृतिप्रमोषरूपत्वे अनुभेयशब्दार्थेषु देवदत्तादिज्ञानानां स्मरणानन्तरभाविना स्मृतिप्रमोषता-प्रसङ्गः स्यात् ।

भावा^१र्थ—प्रभाकर मतवाले अतीन्द्रिय ज्ञानीको नही मानते है, उनके लिये आचार्य कहते हैं कि “यह रजत है” इस प्रकारके ज्ञानमे आप लोग अतीतकालका अधिक स्पष्ट रूपसे ग्रहण मानते हो सो जैसे बिना इन्द्रियके इस ज्ञानमे स्पष्टता आयी ऐसा कहते हो वैसे ही सर्वज्ञके ज्ञानमे इन्द्रियो बिना स्पष्टता होनेमे क्या बाधा है ? अर्थात् कुछ भी नही ।

प्रभाकर कहे कि इस रजत की स्मृतिमें परपरा से इन्द्रियके द्वारा ही विशदता आती है किन्तु इन्द्रियोंके अभावमें सर्वज्ञके ज्ञानमे विशदता नही आ सकती, सो ऐसा नही कह सकते । ऐसी इन्द्रिय परपरा सभी ज्ञानोंमें मौजूद होनेसे सभी ज्ञानोंको विशद माननेका प्रसंग प्राप्त होगा ।

पांचवा पक्ष—अनुभव [प्रत्यक्ष] के साथ दूध पानीकी तरह स्मृतिका अभेद रूपसे उत्पन्न होना स्मृति—प्रमोष है ऐसा कहो तो वह क्या है ? दो भिन्न वस्तुओंका अभेद रूपसे ग्रहण होना, कि सश्लेष होना, अथवा अनंतर रूपसे उत्पन्न होना ?

प्रथम पक्षमें वही विपरीत ख्याति हुयी । सश्लेष तो ज्ञानोमे होता ही नही वह तो मूर्त्तिक द्रव्योमे होता है । अनंतर रूपसे ज्ञान उत्पन्न होनेको स्मृति प्रमोष माने तो अनुभेय आदि पदार्थोंमे तथा शब्द—आगम विषयक, अथवा अन्य उपमेयादि विषयोमे जो देवदत्तादि व्यक्तियोंको ज्ञान होते है वे ज्ञान भी तो स्मरणके बाद ही उत्पन्न होते है, अतः उनको भी स्मृति प्रमोष रूप मानना पड़ेगा ।

भावा^१र्थ—प्रभाकर मतवाले पांचवे पक्षके अनुसार स्मृतिप्रमोषका इस प्रकारसे लक्षण करते हैं कि दूध और पानीकी तरह अविवेक—अभेद रूपसे ज्ञान पैदा होना स्मृति प्रमोष है, इस कथन पर प्रश्न होता है कि अविवेक किसको कहना ?

यदि च द्विचन्द्रादिवेदन स्मरणम्, तर्हीन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायि न स्यात्, अन्यत्र स्मरणे नददृष्टे । तदनुविधायि चेदम्, अन्यथा न किञ्चित्त्तदनुविधायि स्यात् । तद्विकारविकारित्व चात एव दुर्लभ स्यात् । किञ्च, स्मृतिप्रमोषपक्षे बाधकप्रत्ययो न स्यात्, स हि पुरोवर्त्तिन्यर्थे तत्प्रतिभासस्यासद्विषयतामादर्शयन् 'नेद रजतम्' इत्युल्लेखेन प्रवर्त्तते, न तु 'रजतप्रतिभासः स्मृति' इत्युल्लेखेन । स्मृतिप्रमोषाभ्युपगमे च स्वतःप्रामाण्यव्याघात, सम्यग्रजतप्रतिभासेऽपि ह्याशङ्कोत्पद्यते 'किमेष स्मृतावपि स्मृतिप्रमोष, किं वा

भिन्न दो वस्तुओका अभेद से ग्रहण करने को अविवेक कहते हैं तब तो जैन की विपरीत ख्याति ही स्मृति प्रमोष कहलाया । सश्लेषको स्मृति प्रमोष इसलिये नहीं कहते कि ज्ञानोमे सश्लेष होता नहीं सश्लेष तो मूर्त्त द्रव्योमे पाया जाता है । अनन्तर अर्थात् प्रत्यक्षके बाद होना अविवेक है ऐसा कहो तो अनुमान आदि आगेके सभी ज्ञान स्मृति-प्रमोष बन जायेगे, क्योंकि अनुमान आदि ज्ञान प्रत्यक्षादि पूर्व-पूर्व ज्ञानोंके प्रवृत्त होनेपर पैदा होते हैं । प्रत्यक्षसे अग्नि और धूमका सबध जानकर फिर पर्वतादिमे धूमको देखकर अग्निका ज्ञान होता है आगमोक्त शब्दोको श्रावण प्रत्यक्षसे ग्रहण कर आगमज्ञान पैदा होता है, इत्यादि, इसलिये प्रत्यक्षके बाद होना अविवेक है और उससे स्मृति प्रमोष होता है ऐसा मानना असत्य है ।

प्रभाकर की मान्यतानुसार यदि "यह रजत है" इस विपरीत ज्ञानको स्मरण रूप माना जाय तो एक चन्द्रमे तिमिर रोगीको जो द्वि चन्द्र का ज्ञान होता है वह स्मरण रूप हो जायगा, तथा जितने भी विपरीत ज्ञान है वे सब स्मरण रूप बन जायेगे, जैसे मरीचिकामे जल का ज्ञान, रस्सीमे सर्पका प्रतिभास, आदि ज्ञान स्मृति-ज्ञान कहलाने लगेंगे, फिर इन द्वि चन्द्रादि ज्ञानोका इन्द्रियोके साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं बनेगा, किन्तु इन ज्ञानोमे बराबर इन्द्रियोके साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है अर्थात् यदि नेत्रेन्द्रिय है तो ये द्वि चन्द्रादि ज्ञान होते हैं और नेत्र नहीं होते तो ये ज्ञान भी उत्पन्न नहीं होते हैं, इस प्रकार इनका इन्द्रियोके साथ अन्वय व्यतिरेक देखा जाता है । स्मरणमे तो ऐसा अन्वयव्यतिरेक घटित नहीं होता है । द्वि चन्द्रादि ज्ञानो मे इन्द्रियोका अन्वय व्यतिरेक होते हुए भी नहीं मानो तो कोई भी ज्ञान इन्द्रियोके साथ अन्वय व्यतिरेक वाला नहीं रहेगा, तथा इन्द्रियोके विकृत हो जानेसे ज्ञानोमे जो विकारता पायी जाती है वह भी नहीं रहेगी, क्योंकि ज्ञान इन्द्रियोसे हुए ही नहीं हैं ।

दूसरी बात यह है कि यदि विपरीत ज्ञानको स्मृति प्रमोष रूप माना जाय तो उस ज्ञानमें पीछेसे जो बाधा देनेवाला ज्ञान उत्पन्न होता है वह नहीं हो सकेगा,

सत्यप्रतिभासे' इति, बाधकाभावापेक्षणात्—यत्र हि स्मृतिप्रमोषस्तत्रोत्तरकालमवश्य बाधकप्रत्ययो यत्र तु तद्भावस्तत्र स्मृतेः प्रमोषासम्भव । बाधकाभावापेक्षाया चानवस्था । तस्मात् 'इद रजतम्' इत्यत्र ज्ञानद्वयकल्पनाऽसम्भवात्स्मृतिप्रमोषाभाव । तत सूक्तम्—विपर्ययज्ञानस्य व्यवसायात्मकत्वविशेषणेनैवं निरास इति ।

किन्तु वह इस प्रकारसे जरूर उत्पन्न होता है कि सामने रखे हुए सीपमे जो रजत ज्ञान हुआ है वह असत है अर्थात् यह रजत—चादी नहीं है सीप है, इस प्रकारसे पूर्वके विपरीत ज्ञानमे बाधा देनेवाला ज्ञान आता है । “रजत प्रतिभास स्मृति है” ऐसा उल्लेख तो वह ज्ञान करता नहीं, और एक बात यह होगी कि विपर्यय ज्ञानको स्मृति प्रमोष रूप मानेगे तो प्रभाकरके स्वत प्रामाण्यवादका सिद्धांत समाप्त हो जायगा अर्थात् प्रभाकर जितने भी प्रमाण है उन सबको स्वत प्रमाण भूत मानते है, यहा, पर जो उन्होंने इस विपरीत ज्ञानको स्मृति प्रमोष रूप माना है सो उससे सिद्ध होता है कि प्रमाणोमे प्रामाण्यको लानेके लिये अन्य प्रमाणोकी आवश्यकता पडती है, देखिये—सत्य भूत चादीके प्रतिभासित होनेपर भी “यह जो प्रतिभास हो रहा है” वह क्या स्मृति प्रमोष रूप है अथवा सत्य चादीका ही प्रतिभास है ? इस प्रकार की शकाके आ जानेसे वहापर बाधकके अभाव की खोज करनी पडेगी कि जहा स्मृति प्रमोष है वहा उत्तरकालमे अवश्य ही बाधक ज्ञान आ जाता है और जहा बाधा देने वाला ज्ञान नहीं रहता वहा पर स्मृति प्रमोष सभव नहीं है । इस प्रकार ज्ञानोमे बाधकके अभावकी अपेक्षा रखनेसे प्रमाणोमे प्रामाण्य तो परसे ही आया तथा बाधकके अभाव की अपेक्षा होनेपर भी अनवस्था दोष नहीं आया । इसलिये “इद रजत” इस प्रतिभासमे दो ज्ञानोकी कल्पना करना बेकार है । जब विपर्यय ज्ञान दो रूप नहीं है तो उसको स्मृति प्रमोष रूप कैसे कह सकते है ? अर्थात् नहीं, अतमे यह सिद्ध हुआ कि आचार्य ने जो प्रमाणका लक्षण करते हुए [स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्] व्यवसायात्मक विशेषण द्वारा विपर्यय ज्ञानका निरासन किया है वह निर्दोष है ।

* विपर्ययज्ञानके स्वरूपके विवादका प्रकरण समाप्त *



विपर्ययज्ञानके विवादका सारांश

विपर्यय ज्ञानका क्या स्वरूप है इस पर चार्वाक आदि वादियोंका विवाद है, चार्वाक अख्याति—अर्थात् विपर्यय ज्ञानका विषय कुछ भी नहीं मानते। बौद्ध के चार भेदोंमें से जो माध्यमिक और सौत्रातिक है वे असत् ख्याति अर्थात् आकाश कुसुम सहस्र प्रतिभासका अभाव होना इसीको विपर्यय कहते हैं। साख्यादिक प्रसिद्धार्थ ख्याति—अर्थात् सत्य पदार्थकी भूलकको विपर्यय ज्ञान कहते हैं। योगाचार विज्ञानाद्वैत वादी आदि आत्म ख्यातिको अर्थात् ज्ञानके आकार को विपर्यय मानते हैं। अनिर्वचनीयार्थख्याति—अर्थात् सत् असत् कुछ कहनेमें न आना विपर्यय है ऐसा वेदान्ति आदि मानते हैं। स्मृतिप्रमोषको विपर्यय प्रभाकर (मीमांसक) मानते हैं। अब यहां पर सर्व प्रथम चार्वाककी अख्यातिका विचार करते हैं—उनका कहना है कि जलादिका जो विपरीत ज्ञान होता है उसका विषय न जल है और न जलका अभाव है तथा मरीचि ही है, इसलिये यह ज्ञान निर्विषय निरालंब है। मतलब इस ज्ञानका विषय जल है ऐसा माने तो वह है नहीं, जलका अभाव विषय है ऐसा माने तो वह प्रतीतिमें क्यों नहीं आता? यदि कोई कहे कि जलाकारसे मरीचिका ग्रहण होना यही इस विपर्ययका विषय है, सो यह गलत है। जलसे तो मरीचि भिन्न है, उसके द्वारा मरीचिका का ग्रहण कैसे होगा? यदि होगा तो घटाकारसे पटंका ग्रहण हो जाना चाहिये? आचार्यने चार्वाक के इस मतका एक ही बात कहकर खण्डन कर दिया है कि यदि विपर्यय ज्ञानका विषय कुछ भी नहीं होता तो “जल ज्ञान” इत्यादि विशेष व्यपदेश नहीं होता भ्रान्त और निद्रित इन दोनों अवस्थाओंमें समानताका प्रसंग भी आता है।

बौद्ध—इस विपर्यय ज्ञानमें प्रतिभासित अर्थ विचार करनेपर सत् रूप नहीं दिखता, अतः यह असत् ख्याति ही है। सीपमें सीपका प्रतिभास होता नहीं और रजतका प्रतिभास होता है किन्तु वह है नहीं बस। यही असत् ख्याति हुयी?

सांख्य—यह असत् ख्याति ही असत् है, यदि विपर्यय ज्ञानका विषय असत् होता तो आकाश पुष्प की तरह उसका प्रतिभास ही नहीं होता, बौद्धके यहां अद्वैत-वाद मान्य होनेसे इस विपर्यय को अनेकाकार रूप भ्रान्त ज्ञान भी नहीं मान सकते। इस प्रकार सांख्यने बीचमें ही बौद्धका खण्डन किया है, और अपनी प्रसिद्धार्थ ख्याति

का समर्थन किया है। आचार्यने कहा है कि बौद्ध के समान साख्यके अभिमतकी भी सिद्धि नहीं होती, साख्यमतके अनुसार विपर्यय के विषयको यदि सत्य मानते हैं तो भ्रान्त ज्ञान और अभ्रान्त ज्ञान ऐसा जगत प्रसिद्ध व्यवहार समाप्त होता है। बिजली के समान जलका स्वभाव तत्काल निरन्वय नष्ट होनेका नहीं है, जिससे कि विपर्यय ज्ञानमे जल प्रतीत होकर नष्ट होता है ऐसा कहना सिद्ध होवे ?

विज्ञानाद्वैतवादीका कहना है कि विपरीत ज्ञानमे ज्ञानका ही आकार है, अविद्या के कारण वह बाह्य देशमे प्रतीत होता है, अतः इस ज्ञानको आत्मख्याति रूप माना है। किन्तु यह कथन तब सिद्ध हो जब अद्वैतवादीके यहा ज्ञानका आकार सिद्ध हो। आकार वाला ज्ञान किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, तथा प्रत्येक ज्ञानमें अपना निजी आकार है तो सभी ज्ञान सत्यभूत कहलायेंगे। ज्ञानमे ज्ञानका ही आकार है तो वह बाहर क्यों प्रतीत होता है ? और यदि अविद्याके कारण होता है तो यह भी एक विपरीत ख्याति हुयी कि जो अदर प्रतीत होना था वह बाहरमे प्रतीत होने लगता है।

वेदाती इस विपरीत ज्ञानको अनिर्वचनीयार्थ ख्याति रूप मानते हैं, उनका कहना है कि इस ज्ञानको सत कहे तो वैसा पदार्थ है नहीं और असत कहे तो भ्रलक किसकी होगी ? अतः इसको वचनसे नहीं कह सकने रूप अनिर्वचनीयार्थ ख्याति कहते हैं। यह वेदातीका कथन भी असत है, इस विपर्यय ज्ञानमें वर्त्तमानमे तो जलादि पदार्थ सत रूप ही भ्रलकते हैं तथा इस ज्ञानसे वस्तुको ग्रहण करने आदिकी प्रवृत्ति भी होती है, अतः यह ज्ञान अनिर्वचनीयार्थ रूप भी नहीं है। विपर्यय ज्ञान तो वस्तुका विपरीत—उलटा प्रतिभास करता है, उसका विषय तो मौजूद है किन्तु वह भ्रलकता विपरीत है, अतः स्याद्वादीकी विपरीत ख्याति ही सिद्ध होती है।

✽

स्मृति प्रमोषवाद के खण्डनका सारांश

स्मृति प्रमोषवादी प्रभाकर ने अपना लंबा चौड़ा पक्ष रखकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि स्मरण का प्रमोष—अभाव होना ही विपर्यय ज्ञान है, इसमे दो भ्रलक है एक तो “इद” यह प्रत्यक्ष ज्ञान है, “रजत” यह ज्ञान स्मरण

रूप है, इन्द्रिय सस्कार आदिके कारण ऐसा ज्ञान पैदा होता है ? जैनाचार्यने इस मतव्य का खण्डन इस प्रकार किया है कि सर्व प्रथम यह सोचना है कि “स्मृति प्रमोष” इस पदका क्या अर्थ है ? स्मृतिका अभाव अन्य की भूलक, विपरीताकार वेदन, अतीतका वर्त्तमानसे ग्रहण, अनुभवके साथ क्षीर नीरवत अविवेक से उत्पाद, क्या ये स्मृतिप्रमोष पदके अर्थ है ? स्मृतिका अभाव स्मृतिप्रमोष है ऐसा प्रथम पक्ष का कहना गलत है, क्योंकि रजतकी स्मृति तो विपर्यय ज्ञानी को है ही । अन्यावभासको स्मृति प्रमोष कहे तो सारे ज्ञान स्मृति प्रमोष होंगे । विपरीताकार वेदनको स्मृति प्रमोष कहो तो जैनकी विपरीत ख्याति ही प्रसिद्ध होती है । इसी प्रकार आगेके विषयमें भी समझना चाहिये, प्रभाकर यदि इस ज्ञानको स्मृति प्रमोष रूप मानते हैं तो उनका स्वतः प्रामाण्यवाद खण्डित होता है । अंतमें “इदं रजत” इत्यादि ज्ञान विपरीत ख्याति रूप ही सिद्ध होते हैं । इन्द्रिय दोष, वस्तुकी सदृशता, कुछ प्रकाशका हलकापन इत्यादि कारणों से विपरीत ज्ञान पैदा होता है । इसी असत्य ज्ञानका व्यवच्छेद करने के लिये प्रमाणके लक्षण में “व्यवसायात्मक” यह विशेषण दिया गया है ।

*** स्मृतिप्रमोष खण्डनका सारांश समाप्त ***



अपूर्वार्थ-विचार का पूर्वपक्ष

✽

मीमांसको का ऐसा कहना है कि जो सर्वथा अपूर्व वस्तु का ग्राहक होगा वही प्रमाण कोटि में स्थापित होना चाहिये, क्योंकि पिष्टपेषण की तरह जाने हुए पदार्थ का पुनः जानना बेकार है, धारावाहिक ज्ञानको हमने इसीलिये प्रमाण नहीं माना है, धाराप्रवाहरूप से जो अनेक ज्ञान एक ही वस्तु के जानने में प्रवृत्त होते हैं वे अपूर्वार्थ के ग्राहक नहीं हो सकते, अतः वे प्रमाणभूत भी नहीं हो सकते, प्रमाण में प्रमाणता तभी ठीक मानो जाती है कि जब वह किसी भी प्रमाण के द्वारा जाने हुए विषयमें प्रवृत्त न हो, कहा भी है—

तत्रा पूर्वार्यविज्ञान निश्चित बाधवर्जितम् ।

अदुष्टकारणारब्ध प्रमाण लोकसमतम् ॥

जो सर्वथा अपूर्व अर्थका—नवीन वस्तु का ग्राहक हो, निश्चित, बाधारहित और निर्दोष कारण से उत्पन्न हुआ हो और लोकमान्य हो वही प्रमाण होता है, अतः प्रमाणमात्र अपूर्व अर्थ का ग्राहक होता है यह विश्वय हुआ ।

✽ पूर्वपक्ष—समाप्त ✽

✽

अपूर्वार्थत्वविचारः

तेनापूर्वार्थविशेषणेन धारावाहिविज्ञान निरस्यते नन्वेवमपि प्रमाणसम्प्लववादिताव्याघातः प्रमाणप्रतिपन्नेऽर्थे प्रमाणान्तरा प्रतिपत्ति , इत्यचोद्यम्, अर्थपरिच्छित्तिविशेषसद्भावे तत्प्रवृत्तोरप्यभ्युपगमात् । प्रथमप्रमाण प्रतिपन्ने हि वस्तुन्याकारविशेष प्रतिपद्यमान प्रमाणान्तरम् अपूर्वार्थमेव वृक्षो न्यग्रोध इत्यादिवत् । एतदेवाह—

अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥ ४ ॥

भाट्ट का ऐसा कहना है कि आपने जो अपूर्वार्थ विशेषण के द्वारा धारावाहिक ज्ञान का निरसन किया है सो उससे आपके मान्य प्रमाणसम्प्लववाद का व्याघात होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के द्वारा जाने हुए विषय में दूसरे अनुमान आदि प्रमाणों की प्रवृत्ति होना इसका नाम प्रमाणसम्प्लव है, प्रमाणसम्प्लव ग्रहण हुए पदार्थको ही ग्रहण करता है, अपूर्वार्थ को नहीं, अतः इसका आप अब निर्वाह कैसे कर सकेंगे ?

जैन—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जहा अर्थ-परिच्छित्ति की विशेषता होती है वहा उसी एक विषय में प्रवृत्त होने पर भी ज्ञान मे हमने प्रमाणता मानी है, देखो—प्रथम प्रमाण के द्वारा जाने गये पदार्थ को यदि विशेषाकार रूप से जानने के लिये वहां दूसरा प्रमाण प्रवृत्त होता है तो वह विषय उसके लिये अपूर्वार्थ ही है, जैसे—प्रथम प्रमाण ने इतना ही जाना कि यह वृक्ष है, फिर दूसरे प्रमाण ने उसे यह वृक्ष वट का है ऐसा विशेषरूप से जाना तो वह ज्ञान प्रमाण ही कहा जायगा, क्योंकि द्वितीय ज्ञान के विषय को प्रथम ज्ञान ने नहीं जाना था, अतः वृक्ष सामान्य को जानने वाले ज्ञान की अपेक्षा वट वृक्ष को जानने वाले ज्ञान के लिये वह वट वृक्ष अपूर्वार्थ ही है । यही बात—

अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥ ४ ॥

स्वरूपेणाकारविशेषरूपतया वानवगतोऽखिलोप्यपूर्वार्थं ।

दृष्टोपि समारोपात्तादृक् ॥ ५ ॥

न केवलमप्रतिपन्न एवापूर्वार्थः, अपि तु दृष्टोऽपि प्रतिपन्नोपि समारोपात् सशयादिसद्भावात् तादृगपूर्वार्थोऽधीतानभ्यस्तशास्त्रवत् । एवविधार्थस्य यन्निश्चयात्मकं विज्ञान तत्सकल प्रमाणम् ।

तन्न अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वमेव प्रमाणस्य लक्षणम् । तद्धि वस्तुन्यधिगतेऽनधिगते वाऽव्यभिचारादिविशिष्टा प्रमा जनयन्नोपालम्भविषय । न चाधिगतेऽर्थे किं कुर्वत्तत्प्रमाणाता प्राप्नोतीति वक्तव्यम् ? विशिष्टप्रमा जनयतस्तस्य प्रमाणाताप्रतिपादनात् । यत्र तु सा नास्ति तन्न प्रमाणम् ।

इस सूत्र द्वारा स्पष्ट की गई है, स्वरूप से अथवा विशेषरूप से जो निश्चित नहीं है वह अखिल पदार्थ अपूर्वार्थ है ।

दृष्टो ऽपि समारोपात्तादृक् ॥ ५ ॥

देखे जाने हुए पदार्थ में भी यदि समारोप आ जाता है तो वह पदार्थ भी अपूर्वार्थ बन जाता है । जैसा कि पढ़ा हुआ भी शास्त्र अभ्यास न करने से नहीं पढा हुआ जैसा हो जाता है, ऐसे अपूर्वार्थ का निश्चय करानेवाले सभी ज्ञान प्रमाण कहे गये हैं । इसलिये प्रभाकर की “अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वमेवप्रमाण” यह प्रमाण विषयक मान्यता गलत है, वस्तु चाहे जानी हुई हो चाहे नहीं जानी हुई हो उसमें यदि ज्ञान अव्यभिचार रूप से विशेष प्रमा को उत्पन्न करता है तो वह ज्ञान प्रमाण ही माना जायगा ।

शंका—जाने हुए विषय में यह क्या प्रमाणता लायेगा ?

समाधान—ऐसी शका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उसमें विशिष्ट अश का ग्रहण करके वह विशेषता लाता है, अतः उसमें प्रमाणता आती है, हा, जहाँ ज्ञानके द्वारा कुछ भी विशेषरूप से जानना नहीं होता है वहाँ उसमें प्रमाणता नहीं होती । विशिष्ट ज्ञान को उत्पन्न करने पर भी जाने हुए विषय में प्रवृत्ति करने के कारण उस दूसरे प्रमाण को अकिञ्चित्कर नहीं मानना चाहिये, अन्यथा अतिप्रसङ्ग की आपत्ति आती है, अर्थात् विशिष्ट ज्ञानको उत्पन्न करने पर भी यदि उसे प्रमाण भूत नहीं माना जाता है तो सर्वथा नहीं जाने हुए पदार्थ में प्रवृत्त हुए ज्ञान में भी अकिञ्चित्करता—प्रमाणभूतता नहीं आनी चाहिये, अतः जिस प्रकार सर्वथा नहीं जाने हुए

न च विशिष्टप्रमोत्पादकत्वेप्यधिगतविषयेऽस्याऽकिञ्चित्करत्वम्, अतिप्रसङ्गात् । न चैकान्ततोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वे प्रामाण्यं प्रमाणस्यावसातुं शक्यम्; तद्धर्थतथाभावित्वलक्षणं संवादादवसीयते, स च तदर्थोत्तरज्ञानवृत्तिः । न चानधिगतार्थाधिगन्तुरेव प्रामाण्ये संवादप्रत्ययस्य तद् घटते । न च तेनाप्रमाणेभूतेन प्रथमस्य प्रामाण्य व्यवस्थापयितुं शक्यम्; अतिप्रसङ्गात् । न च सामान्यविशेषयोस्तादात्म्याभ्युपगमे तस्यैकान्ततोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं सम्भवति । इदानीतन्नानास्तित्व (इदानीन्तनास्तित्व)स्य पूर्वास्तित्वाद्भेदात् तस्य च पूर्वमप्यधिगतत्वात् । कथञ्चिदनधिगतार्थाधिगन्तृत्वे

पदार्थ में विशिष्ट प्रमाजनक होने से ज्ञान में अकिञ्चित्करता नहीं आती है उसी प्रकार अधिगत अर्थ में विशिष्ट प्रमाजनक होने से ज्ञानमें अकिञ्चित्करता नहीं आती है ऐसा स्वीकार करना चाहिये । दूसरी बात यह है कि यदि एकान्ततः अनधिगत अर्थ को ही प्रमाणका विषय माना जावे तो उस प्रमाण में प्रमाणता का निश्चय करना शक्य नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह प्रमाणता तो वस्तु को जैसी की तैसी जानने से ज्ञान में आती है, अर्थात् इस ज्ञान का विषयभूत पदार्थ वास्तविक—ऐसा ही है ऐसा निश्चय होनेरूप ही प्रमाणता है; और वह सवादक प्रमाण से जानी जाती है, सवादक ज्ञान उस प्रथम ज्ञान के अनन्तर प्रवृत्त होता है, अब देखिये—सर्वथा अनधिगत पदार्थ ही प्रमाण का विषय है ऐसा ही एकान्तरूप से माना जावे तो सवादकज्ञान में यह बात घटित नहीं होती क्योंकि वह उस प्रथम प्रमाण की सत्यता को बतानेवाला होने से उसी के विषय का ग्राहक होता है । संवादकज्ञान के अप्रमाणभूत होने पर उसके द्वारा प्रथम ज्ञान की प्रमाणता व्यवस्थित नहीं हो सकती । यदि स्वतः अप्रमाणभूत ऐसे संवादक से प्रमाणता आवे तो संशयादि अप्रमाण से भी वह आनी चाहिये । तथा—सामान्य और विशेष का जब तादात्म्य सम्बन्ध है—तब किसी वस्तु का सामान्य धर्म जान लेने पर वह वस्तु विशेष धर्म के लिये भी अपूर्व कहां रही । तात्पर्य कहने का यही है कि जब वस्तु का सामान्य धर्म जान लिया तो विशेष धर्म भी जान लिया गया—अब वह वस्तु उस विशेषकी अपेक्षा अनधिगत कहां रही—वह तो अधिगत ही हो गई । अतः प्रमाण एकान्ततः अनधिगत को ही जानता है यह बात सिद्ध नहीं होती । तथा—इस समय का अस्तित्व पहिले अस्तित्व से तो अभिन्न ही है, और वह अस्तित्व प्रथम ही ग्रहण हो चुका है । मतलब—वृक्ष सामान्यरूप है उसीमें वटत्वादि विशेष हैं, सामान्य वृक्ष को जानते ही अविनाभावरूप से वर्तमान उसके वटत्वादि विशेष

त्वस्मन्मतप्रवेशः। निश्चिते विषये किञ्चिद्वचनान्तरेण प्रप्रोक्षावत्त्वप्रसङ्गात्। इत्यप्यवाच्यम्।
 भूयो निश्चये सुखादिसाधकत्वविशेषप्रतीतेः प्रथमतो हि वस्तुमात्रं निश्चीयते पुनः सुखसाधन-
 दुःखसाधन वा इति निश्चित्योपादीयते त्यज्यते वा, अन्यथा विपर्ययेणाप्युपादायागप्रसङ्गः स्यात्।
 केषाञ्चित्सकृदर्शतेपि तन्निश्चयो भवति अभ्यासादिति एकविषयाणासप्यागमानुमानाद्यक्षाणां
 प्रामाण्यमुपपन्नम् प्रतिपत्तिविशेषसद्भावात् सामान्याकारेण हि वचनप्रतीयते तद्धि अनुमानादे-
 शादिविशेषविशिष्टा अध्यक्षात्वाकारनिश्चय इति ततोऽयुक्तमुक्तम्

का ग्रहण ही ही जाता है इस तरह उस वृक्ष की विशेषता को जानने वाले सारे ही
 जान अप्रमाणभूत हो जायेंगे। हा, यदि कथंचित् अनधिगतोर्थगन्तृत्व में प्रमाणता
 मानो तो जैन, माध्य, अनेकान्त, मतों आप-प्रभाकरों का प्रवेश हो जावेगा।

शका—निश्चित किये हुए विषय में निश्चयान्तर की आवश्यकता क्या है,
 इस तरह से कहने वाला तो मूर्ख कहलाता है तात्पर्य कहने का यह है कि जो विषय
 निश्चित हो चुका उसे पुनः निश्चय करने की क्या आवश्यकता है, उससे कोई प्रयो-
 जन तो निकलता नहीं है, पिष्ट को पेषण करना ही तो मूर्खपने की बात है।

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिये—क्योंकि बार-बार निश्चय कराने वाले
 ज्ञानमें सुखादिसाधकता विशेष अच्छी तरह से प्रतीति हो जाती है, देखो पहिले तो
 ज्ञान से सामान्यवस्तु का निश्चय होता है, फिर यह वस्तु सुखसाधनरूप है या दुःख-
 साधनरूप है ऐसा जानकर ज्ञाता जन सुख साधन को ग्रहण करता है और दुःख-
 साधन को छोड़ देता है। यदि ऐसा निश्चय न हो तो विमरीतरूप से भी ग्रहण करता
 और छोड़ता हो सकता है अथवा दुःखसाधन का ग्रहण और सुखसाधन को छोड़ना
 ऐसा उल्टा भी हो सकता है, हां, कई व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो एकबार के निश्चय
 से ही वस्तु का निर्णय कर लिया करते हैं, क्योंकि उनका ऐसा अभ्यासी विशेष होता
 है, इस तरह विषयवाले भी आगम अनुमानादि अनेक प्रमाणों में प्रमाणता इसीलिये
 मानी गई है कि वे उसी एक विषय की आगे-आगे विशेष जिनकारी करते रहते हैं।
 जैसे कि अग्नि इस वज्र के द्वारा सामान्य अग्नि की जानना होता है। फिर वही
 देवादि विशेष विशिष्टरूप से अनुमात द्वारा जानी जाती है। पुनः उस स्थान पर
 जाकर प्रत्यक्ष से देखते पर वह और भी विशेषरूप से जान ली जाती है अतः आपने
 जो इस श्लोक द्वारा ऐसा कहा है कि—

तत्रापूर्वार्थविज्ञान निश्चित बाधवर्जितम् ।

अदुष्टकारणारब्ध प्रमाण लोकसम्मतम् ॥” [] इति । प्रत्यभिज्ञान-
स्यानुभूतार्थग्राहिणोऽप्रामाण्यप्रसङ्गात्, तथा च कथमतः शब्दात्मादेर्नित्यत्वसिद्धिः ? न चानुभू-
तार्थग्राहित्वमस्यासिद्धम्; स्मृतिप्रत्यक्षप्रतिपन्नेऽर्थे तत्प्रवृत्तेः । न ह्यप्रत्यक्षैऽस्मर्यमाणे चार्थे
प्रत्यभिज्ञानं नाम, अतिप्रसङ्गात् । पूर्वोत्तरावस्थाव्याप्येकत्वे तस्य प्रवृत्तेरयमदोषः, इति चेत्; किं
ताभ्यामेकत्वस्य भेदः, अभेदो वा ? भेदे तत्र तस्याप्रवृत्तिः । न हि पूर्वोत्तरावस्थाभ्यां भिन्ने सर्व-
थकत्वे तत्परिच्छेदिज्ञानाभ्यां जन्यमान प्रत्यभिज्ञानं प्रवर्तते अर्थान्तरैकत्ववत्, मतान्तर-

तत्रापूर्वार्थविज्ञान निश्चितं बाधवर्जितम् ।

अदुष्टकारणारब्ध प्रमाण लोकसमतम् ॥ १ ॥

जो ज्ञान सर्वथा अपूर्व अर्थ का निश्चायक हो, बाधा रहित हो, निर्दोष कारणों से उत्पन्न हो वही लोक संमत प्रमाण है वह गलत है ।

तथा—प्रमाण सर्वथा अपूर्व अर्थ को ही जानता है तो ऐसी मान्यता में प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण होगा, क्योंकि वह भी अनुभूत विषय को ही जानता है, यदि प्रत्यभिज्ञान अप्रमाणभूत हो जाय तो उस अप्रमाणभूत ज्ञान से जाना गया आत्मादि पदार्थ नित्य सिद्ध कैसे हो सकेगा, प्रत्यभिज्ञान अनुभूत पदार्थ को जानता है यह बात प्रत्यभिज्ञान में असिद्ध तो है नहीं, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष और स्मृति के द्वारा जाने हुए विषय में ही होती है, विस्मृत हुए तथा अप्रत्यक्ष विषय में प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, यदि वह बिना देखी और बिना स्मरण हुई वस्तु में प्रवृत्त होता हो तो फिर जो अतिपरोक्ष मेरु आदि पदार्थ है उनमें उसकी उत्पत्ति होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, तात्पर्य इसका यही है कि वर्तमान काल का प्रत्यक्ष और पूर्वदृष्ट वस्तु का स्मरण—इन दोनों का जोड़रूप जो ज्ञान होता है वही प्रत्यभिज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान और प्रकार से नहीं होता ।

यदि कहा जावे कि पूर्वोत्तर अवस्था में व्याप्त जो एकत्व है उसमें प्रत्यभिज्ञान प्रवृत्त होता है, इसलिये वह एकत्व अपूर्व होनेसे प्रत्यभिज्ञान अपूर्वार्थ का ही ग्राहक सिद्ध होता है, तो इस पर हम आप से यह पूछते हैं कि उन पूर्वोत्तर अवस्थाओं में वह एकत्व भिन्न है कि अभिन्न है ? यदि भिन्न है तो उसमें प्रत्यभिज्ञान प्रवृत्त नहीं होगा, क्योंकि पूर्वोत्तर अवस्था से सर्वथा भिन्न ऐसे एकत्व में उन पूर्वोत्तर

प्रवेशश्च । ताभ्यामेकत्वस्य सर्वथाऽभेदे अनुभूतग्राहित्व प्रत्यभिज्ञानस्य स्यात् । ताभ्या तस्य कथञ्चिदभेदे सिद्ध तस्य (कथञ्चिद्) अनुभूतार्थग्राहित्वम् । न चैववादिन प्रत्यभिज्ञानप्रतिपन्ने शब्दादि-नित्यत्वे प्रवर्तमानस्य “दर्शनस्य परार्थत्वात्” [जैमिनिसू० १/१८] इत्यादेः प्रमाणाता घटते । सर्वेषा चानुमानानां व्याप्तिज्ञानप्रतिपन्ने विषये प्रवृत्तेरप्रमाणाता स्यात् । प्रत्यभिज्ञानान्नित्यशब्दादिसिद्धावपि कुतश्चित्समारोपस्य प्रसूतेस्तद्व्यवच्छेदार्थत्वादस्य प्रामाण्ये च एकान्तत्यागः । स्मृत्यूहादेश्चाभिमत-प्रमाणसंख्याव्याघातकृत्प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गः स्यात्, प्रत्यभिज्ञानवत्कथञ्चिदपूर्वार्थत्वसिद्धेः । किञ्च,

अवस्था को जानने वाले स्मृति और प्रत्यक्ष से जन्यमान वह प्रत्यभिज्ञान प्रवृत्त नहीं होता है, जैसे कि और दूसरे नहीं जाने हुए पदार्थों के एकत्व में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है, तथा—उन पूर्वोत्तर अवस्थाओं से एकत्व को सर्वथा भिन्न माना जाता है तो ऐसी मान्यता आपका मतान्तर—नैयायिकके मत में प्रवेश होने की सूचना देती है । यदि उन पूर्व और उत्तर कालीन पर्यायों से प्रत्यभिज्ञान का विषय जो एकत्व है वह सर्वथा अभिन्न है ऐसा माना जावे तो वह प्रत्यभिज्ञान जाने हुए को ही जानने वाला हो जाता है । यदि आप पूर्वोत्तर अवस्थाओं से एकत्व का कथञ्चित् अभेद है ऐसा स्वीकार करते हैं तो वह प्रत्यभिज्ञान कथञ्चित् ग्रहीतग्राही (अनुभूतग्राही) सिद्ध हो जाता है ।

दूसरी बात यह भी है कि सर्वथा अपूर्वार्थ को प्रमाण विषय करता है अर्थात् प्रमाण का विषय सर्वथा अपूर्वार्थ ही होता है ऐसा मानने वाले आपके यहाँ प्रत्यभिज्ञान से जाने हुए शब्द आदि का धर्म जो नित्यत्व आदि है उसमें प्रवृत्त हुए ज्ञान में सत्यता कैसे रहेगी ? और कैसे आपका “दर्शनस्य परार्थत्वात्” यह कथन सत्य सिद्ध होगा ?

भावार्थ—शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिये प्रभाकर जैमिनि ने अनेक हेतु दिये हैं, उनमेंसे “नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्” शिष्य को समझाने के लिये बार बार उच्चारण में आने से भी शब्द नित्य है ऐसा कहा गया है, सूत्रस्थ दर्शन शब्द का अर्थ “शब्द” है, सो यदि प्रभाकर प्रमाण का विषय सर्वथा अपूर्व ही मान रहे हैं तो आचार्य कह रहे हैं कि जब शब्द की नित्यता बार २ उच्चारण से सिद्ध होती है तब वह अपूर्व कहा रहा, मतलब कर्णेन्द्रिय से जब वह प्रथम बार ग्रहण किया गया तब तो वह अपूर्व ही है, किन्तु बार २ ग्रहण किये जाने पर उसमें

अपूर्वार्थप्रत्ययस्य प्रामाण्ये द्विचन्द्रादिप्रत्ययोऽपि प्रमाण स्यात् । निश्चितत्व तु परोक्षज्ञानवादिनो न सम्भवतीत्यग्रे वक्ष्याम ।

ननु द्विचन्द्रादिप्रत्ययस्य सबाधकत्वान्न प्रमाणाता, यत्र हि बाधाविरहस्तत्प्रमाणम्, इत्यप्य-सङ्गतम्; बाधाविरहो हि तत्कालभावी, उत्तरकालभावी वा विज्ञानप्रमाणाताहेतु ? न तावत्तत्कालभावी, क्वचिन्मिथ्याज्ञानेऽपि तस्य भावात् । अथोत्तरकालभावी, स किं ज्ञातः, अज्ञातो वा ? न तावदज्ञातः, अस्य सत्त्वेनाप्यसिद्धेः । ज्ञातश्चेत्—किं पूर्वज्ञानेन, उत्तरज्ञानेन वा ? न तावत्पूर्व-

अपूर्वता नहीं रहती, और बार २ ग्रहण किये बिना उसमे नित्यता सिद्ध नहीं होती, तथा किसी को ऐसा जोड़रूप ज्ञान होता है कि यह वही देवदत्त है कि जिसे मैंने १० वर्ष पहिले देखा था, ऐसा ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञान है और इस ज्ञानसे वस्तु मे-नित्यता सिद्ध होती है, तथा—प्रत्यभिज्ञान की सहायता से अर्थापत्ति आदि ज्ञान होते हैं वे सभी ज्ञान पूर्वार्थ को ग्रहण करते हैं, सर्वथा अपूर्वार्थ को नहीं, अतः जो सर्वथा अपूर्व अर्थ हो वही प्रमाण का विषय है ऐसा जो प्रभाकर का मान्य प्रमाण लक्षण है वह घटित नहीं होता है । क्योंकि ऐसा मानने से अर्थापत्तिज्ञान में प्रमाणता नहीं बन सकती । तथा जितने भी अनुमानज्ञान है वे सब व्याप्तिज्ञान के द्वारा जाने गये विषय में ही प्रवृत्त होते हैं, अतः उनमें प्रमाणता का निर्वाह कैसे हो सकेगा ? प्रत्यभिज्ञान के द्वारा शब्दादि में नित्यता सिद्ध होने पर भी उसमे यदि किसी को सशयादि हो जाते हैं तब उस समारोप को दूर करने के लिये अनुमानादि प्रमाण माने गये हैं, यदि ऐसा कहा जावे तो फिर यह एकान्त कहां रहा कि अपूर्वार्थ ही प्रमाण का विषय होता है । तथा स्मृति, तर्क आदि और भी प्रमाणों का सद्भाव होने से आपके द्वारा स्वीकृत प्रमाण संख्या का व्याघात होता है, क्योंकि इन स्मृति आदि प्रमाणों के विषयो मे भी प्रत्यभिज्ञान की तरह कथञ्चित् अपूर्वार्थपना मौजूद ही है । किञ्च—यदि अपूर्वार्थ ही प्रमाण का विषय है तो द्विचन्द्रादि ज्ञान भी सत्य होने चाहिये, क्योंकि एक चन्द्र में द्विचन्द्र का ज्ञान तो बहुत ही अधिक अपूर्व विषय वाला है । एक बात और है कि आप सर्वथा ज्ञान को परोक्ष मानते हो सो ऐसे ज्ञानों मे निश्चायकपना ही नहीं हो सकता, ऐसा हम आगे कहने वाले हैं ।

शंका—द्विचन्द्रादिज्ञान बाधायुक्त है, अतः उनमें प्रमाणता नहीं है । जिस प्रमाण के विषयमें बाधा नहीं आती है वही प्रमाण होता है ।

ज्ञानेनोत्तरकालभावी बाधाविरहो ज्ञातु शक्य ; तद्धि स्वसमानकाल नीलादिक प्रतिपद्यमान कथम् 'उत्तरकालमप्यत्र बाधक नोदेष्यति' इति प्रतीयात् ? पूर्वमनुत्पन्नबाधकानामप्युत्तरकाल बाध्यमानत्वदर्शनात् । नाप्युत्तरज्ञानेनासौ ज्ञायते, तदा प्रमाणत्वाभिमतज्ञानस्य नाशात् । नष्टस्य च बाधाविरहचिन्ता गतसर्पस्य घृष्टिकुट्टनन्यायमनुकरोति । कथं च बाधाविरहस्य ज्ञायमानत्वेऽपि सत्यत्वम् ; ज्ञायमानस्यापि केशोण्डुकादेरसत्यत्वदर्शनात् ? तज्ज्ञानस्य सत्यत्वाच्चेत्, तस्यापि कुतः सत्यता ? प्रमेयसत्यत्वाच्चेत्, अन्योन्याश्रय । अपरबाधाभावज्ञानाच्चेत्; अनवस्था । अथ सवादादुत्तरकाल

समाधान—यह भी असंगत है, यहां बाधा के अभावको आपने प्रमाण माना है और इस कथन में क्या बाधा आती है सो देखिये—यदि बाधा का अभाव, प्रमाण में प्रमाणता का कारण है तो वह कब होता है ? तत्काल में या उत्तरकाल में ? तत्काल में कहो तो ऐसा बाधा का अभाव तो मिथ्याज्ञान में भी है, अर्थात् ज्ञान सत्य हो या मिथ्या हो सभी ज्ञानों में वस्तु को जानते ही तत्काल जो उसकी भूलक होती है उसमें उस समय तो कोई बाधा नहीं रहती । उत्तरकाल में कहो तो क्या वह बाधा का अभाव जाना हुआ रहता है या नहीं ? यदि जाना हुआ वही रहता है तो "वह वहा है" ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? यदि बाधा का अभाव ज्ञात है तो उसे किस ज्ञान ने जाना, उस पूर्वज्ञान ने कि उत्तरज्ञान ने ? पूर्वज्ञान ने जाना ऐसा तो कह नहीं सकते, क्योंकि आगे होनेवाला बाधा का अभाव उससे कैसे जाना जायगा, वह पूर्वकालीन ज्ञान तो अपने समान काल वाले नीलादि वस्तु का ही ग्राहक होगा, वह विचारा यह कैसे कह सकेगा कि आगे इसमें बाधा नहीं आवेगी ? क्योंकि पहिले जिसमें बाधा नहीं आई है ऐसे ज्ञानों में भी आगे के समय में बाधा आती हुई देखी जाती है । यदि कहा जाय कि उत्तरकाल के ज्ञान के द्वारा बाधा का अभाव जाना जाता है तो प्रमाणरूप से माना गया वह पहिला ज्ञान तो अब नष्ट हो चुका, (उत्तरकाल में) नष्ट होने पर उसमें बाधा के अभाव की क्या चिन्ता करना ? सर्प निकल-जाने के बाद उसकी लकीर को पीटने के समान नष्ट हुए ज्ञानमें बाधाविरह की चिन्ता व्यर्थ होगी । तथा—यह ज्ञान बाधारहित है अतः सत्य है यह भी कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि पूर्वकाल में अनुभूत हुआ केशों में मच्छर आदि का ज्ञान असत्य ही जाता है ।

भाट्ट—बाधारहित होने से उस पूर्वज्ञान में सत्यता मानी जाती है ?

जैन—अच्छा, तो यह बताइये कि वह सत्यता किस कारण से आई है ।

भावी-बाधाविरह इत्येवमेव ज्ञायते; तर्हि संवादस्योपर्यपस्संवादात्सत्यत्वसिद्धिस्तस्योपर्यपसंवादा-
 क्त्यनवस्था? किञ्च, क्वचित्कदाचित्कस्यचिद् बाधाविरहो विज्ञानप्रमाणता हेतुः, सर्वत्र सर्वदा
 सर्वस्य वा? प्रथमपक्षे कस्यचिन्मिथ्याज्ञानस्यापि प्रमाणताप्रसङ्गः, क्वचित्कदाचित्कस्यचिद्बाधा-
 विरहसद्भावात्? सर्वत्र सर्वदा सर्वस्याबाधाविरहस्तु नासर्वविदा विषयः। अत्र प्रमाणता-
 विरहसद्भावात्? सर्वत्र सर्वदा सर्वस्याबाधाविरहस्तु नासर्वविदा विषयः। अत्र प्रमाणता-
 विरहसद्भावात्? सर्वत्र सर्वदा सर्वस्याबाधाविरहस्तु नासर्वविदा विषयः। अत्र प्रमाणता-

भाट्ट—उस ज्ञान का विषय सत्य है—अर्थात् वह पूर्वज्ञान सत्य विस्तु को
 ग्रहण करता है; अतः वह सत्य कहलाता है।
 जैन—ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोष आता है अर्थात् उस पूर्वज्ञान में
 बाधारहितपना को लेकर सत्य विषय की सिद्धि होगी और विषय की सत्यता को
 लेकर बाधारहितपना ज्ञान में सिद्ध होगा, इस प्रकार इन ज्ञानों की सिद्धि परस्पर
 अवलंबित होने से एक की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी।

भाट्ट—अन्योन्याश्रय दोष नहीं आवेगा, क्योंकि उस पूर्वज्ञान की सत्यता दूसरे
 दूसरे बाधकाभाववाले प्रमाण के द्वारा जानी जाती है।
 जैन—ऐसा कहोगे तो अनवस्था दोष आवेगा—अर्थात् पूर्वज्ञान में बाधका-
 भाववाले ज्ञान से सत्यता आई और उस बाधकाभाववाले ज्ञान में सत्यता अन्य तीसरे
 बाधकाभाववाले ज्ञान से आई, इस प्रकार ऊपर ऊपर बाधा के अभावको सत्यता के
 लिये ऊपर ऊपर बाधकाभाववाले ज्ञानों की उपस्थिति होते रहने से कहीं पर भी
 बाधकाभाव की स्थिति स्वयं सिद्ध नहीं हो सकने से अनवस्था पसर जावेगी।

भाट्ट—पूर्वकाल भावी ज्ञान के बाद जो बाधकपने का उसमें अभाव होता
 है उसकी सत्यता तो संवादकप्रमाण से ग्रहण हो जावेगी।
 जैन—इस तरह से भी अनवस्थादूषण से आप छूट नहीं सकते, क्योंकि उस
 संवादक की सत्यता दूसरे संवादकज्ञान से और दूसरे संवादक की सत्यता तीसरे
 संवादकज्ञान से—इस प्रकार की कल्पना करते रहने से अनवस्था दोष तो अवस्थित
 ही रहेगा।

अच्छा, यह तो बताओ कि किसी एक स्थान पर किसी समय किसी एक
 व्यक्ति को ज्ञान में बाधारहितपना उस ज्ञान की प्रमाणता में हेतु होता है, कि सभी
 स्थान पर हमेशा सभी पुरुषों को बाधारहितपना उसी विधक्षित प्रमाण की प्रमाणता

सन्देहात् । नापि ज्ञातम् ; करणकुशलादेरतीन्द्रियस्य ज्ञप्तेरसम्भवात् । अस्तु वा तज्ज्ञप्तिः ; तथाप्यसौ अदुष्टकारणारब्धः ज्ञानान्तरात्, सवादप्रत्ययाद्वा ? आद्यविकल्पे अनवस्था । द्वितीयविकल्पेपि सवाद-
प्रत्ययस्यापि ह्यदुष्टकारणारब्धत्व तथाविधादन्यतो ज्ञातव्यं तस्याप्यन्यत इति । न चानेकान्त-
वादिनामप्युपालम्भः समानोऽयम् ; यथावदर्थनिश्चायकप्रत्ययस्याभ्यासदशायां बाधवर्धुर्यस्यादुष्ट-
कारणारब्धत्वस्य च स्वयं सवेदनात् ; अनभ्यासदशायां तु परतोऽभ्यस्तविषयात् । न चैवमनवस्था ;

का हेतु होता है ? प्रथम पक्ष यदि स्वीकार किया जावे तो ऐसा क्वचित् कदाचित् बाधकाभाव तो मिथ्याज्ञानो मे भी रहता है ; अतः उन्हें भी प्रमाण मानना पडेगा, और दूसरा पक्ष—सर्वत्र सभी व्यक्तियों को उसमें बाधरहितपना हो तब वह प्रामा-
णिक होता है ऐसा कहा जावे तो बनता नहीं, क्योंकि हम तुम जैसे अल्पज्ञानी के सर्वत्र सर्वदा सभी को बाधक का अभाव है ऐसा जानना बस की बात नहीं है ।

भाट्ट ने प्रमाण का एक विशेषण यह भी दिया है कि अदुष्ट-निर्दोष-कारणो से उत्पन्न होना प्रमाणता का हेतु है सो यह अदुष्टकारणारब्धत्व भी ज्ञात होकर प्रमाणता का हेतु होता है ? या अज्ञात होकर प्रमाणता का हेतु होता है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञात मे सत्त्व की शंका ही रहेगी—कि इसमें कैसी कारणता है पता नहीं ? यदि वह अदुष्टकारणारब्धत्व जाना हुआ है—अर्थात् यह प्रमाण निर्दोष हेतु से उत्पन्न हुआ है ऐसा जाना हुआ है—ऐसा कहो तो उसको कैसे जाना ? क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों की निर्मलता तो अतीन्द्रिय है, उसका ज्ञान होना असंभव है ।

भावार्थ—अदुष्टकारणारब्धत्व का अर्थ है कि जिन कारणों से प्रमाण उत्पन्न होता है उन कारणों का निर्दोष होना, प्रमाण ज्ञान इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से अर्थात् ज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है जो कि भावेन्द्रियस्वरूप है, वह क्षयोपशम अतीन्द्रिय होता है, हम जैसों के ज्ञानगम्य नहीं है, अतः यह प्रमाण-ज्ञान निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ है ऐसा निश्चय हम लोग नहीं कर सकते हैं ।

अच्छा दुर्जन सतोष न्याय से मान लिया जाय कि यह अदुष्टकारणारब्धत्व जाना हुआ है तो भी उसे किस ज्ञान से जाना ? ज्ञानान्तर से किं सवादक प्रत्यय से ? ज्ञानान्तर से मानो तो अनवस्था आती है और सवादक प्रत्यय से मानी तो वही अनवस्था है, क्योंकि सवादक हो चाहे अन्य ज्ञान हो वह भी एक प्रमाणभूत वस्तु है

क्वचित्कस्यचिदभ्यासोपपत्तेरित्यल विस्तरेण परत प्रामाण्यविचारे विचारणात् । लोकसम्मत्त्व च यथावद्वस्तुस्वरूपनिश्चयाभापरम् ।

और उसे भी अदुष्टकारण से उत्पन्न होना चाहिये, उनका अदुष्टकारणारब्धत्व किसी अन्य ज्ञान और संवादक से और वहा भी वह किसी अन्य ज्ञान और संवादक से जाना जायगा, इस तरह से अनवस्था आवेगी ही, हम अनेकान्तवादी के यहां पर ये दोष नहीं आते हैं, क्योंकि जैसी की तैसी वस्तु को जानने वाले जो ज्ञान है उनमें अभ्यासदशा में तो बाधा का अभाव और अदुष्टकारणों से उत्पन्न होना ये दोनों ही अपने आप जाने जाते हैं, सिर्फ-अनभ्यासदशा में तो यह जानकारी दूसरे स्वतः अभ्यस्त ऐसे किसी ज्ञान से ही होती है ऐसा मानने से अनवस्था भी नहीं आती, क्योंकि किसी स्थान में किसी विषय में किसी न किसी ज्ञान का अभ्यास रहता ही है, इस बात का आगे विस्तारसे परतः प्रामाण्य के प्रकरण में विचार करेंगे, प्रमाण का "लोकसंमत" विशेषण तो वस्तु का जैसा स्वरूप है उसका वैसा ही निश्चय करने रूप है, इसके सिवाय और कुछ नहीं है, इस प्रकार प्रभाकर भाट्ट के द्वारा माना गया सर्वथा अपूर्वार्थ का निरसन किया ।

* अपूर्वार्थ का प्रकरण समाप्त *

*

अपूर्वार्थ के खंडन का सारांश

अपना और अपूर्वार्थ का निश्चय करानेवाला जो ज्ञान है वही -प्रमाण है, प्रमाण के लक्षण में आगत ज्ञान के स्व, अपूर्वार्थ और व्यवसायात्मक इतने विशेषण हैं, इनमें से व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण होता है इसका स्पष्टीकरण बौद्ध संमत निर्विकल्पक ज्ञान में प्रमाणता का खंडन करते समय किया जा चुका है, ज्ञान रूप विशेषण की सार्थकता कारक साकल्यादि प्रकरण में की है, अब अपूर्वार्थविशेषण का खुलासा आचार्य करते हैं—किसी दूसरे प्रमाण के द्वारा जिसका निश्चय नहीं हुआ है वह तथा निश्चय होने के बाद भी उसमें संशयादिरूप समारोप उत्पन्न हो गया है तो वह वस्तु अपूर्वार्थरूप ही है, तथा एक ही वस्तु में जो अनेक सामान्य विशेषात्मक

गुण या धर्म होते हैं उनमें से किसी गुण या धर्म का किसी प्रमाण से निश्चय होने पर भी दूसरे गुण की अपेक्षा वह वस्तु दूसरे प्रमाण के लिये अपूर्वार्थ हो जाती है, जैसे पहिले धूम के द्वारा परोक्षरूप से अग्नि के विषय में दो प्रमाण प्रवृत्त हुए तो भी उनका विषय अपूर्वार्थ ही रहा, ऐसे ही वृक्षत्व सामान्यको जानकर पीछे उसका वटत्वादि विशेष धर्म जाना जाता है और वह वस्तु अपूर्वार्थ—अर्थात् जिसका ग्रहण अभी तक न हुआ हो ऐसी मानी जाती है, “अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वमेव प्रमाणम्” ऐसी प्रभाकर की मान्यता है, किन्तु यह गलत है, क्योंकि ऐसा एकान्त ग्रहण करने पर प्रमाण में प्रमाणता जो सवाद से आती है वह नहीं रहेगी, क्योंकि प्रमाण के द्वारा ज्ञात हुए विषय में ही सवादप्रत्यय प्रवृत्त होता है, प्रत्यभिज्ञान भी इसके अनुसार प्रमाण नहीं रहेगा, क्योंकि वह भी स्मृति और प्रत्यक्ष से जाने हुए विषय में ही प्रवृत्ति करता है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान के अप्रमाण ठहरने पर उसी प्रभाकर के यहाँ पर आत्मा, शब्द आदि में नित्यपना कैसे सिद्ध होगा, क्योंकि नित्यता सिद्ध करनेवाला प्रत्यभिज्ञान ही है, इस पर प्रभाकरने युक्ति दी है कि पूर्वोत्तर अवस्था में व्यापि ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान का विषय नवीन ही है सो यह युक्ति भी छिन्नभिन्न हो जाती है क्योंकि वह एकत्व उन दो अवस्थाओं से भिन्न तो है नहीं, तथा स्मृति तर्क आदि भी प्रत्यभिज्ञान के समान प्रमाण सिद्ध होने से प्रभाकर की मान्य प्रमाणसख्या का व्याघात होता है। उनके प्रमाण के विषय में दिये गये अदुष्टकारणारब्धत्व, लोक-समत आदि विशेषणों का भी विचार किया गया है, अन्त में यही प्रकट किया गया है कि प्रमाण का विषय सर्वथा अपूर्वार्थ न मानकर कथञ्चित् अपूर्वार्थ मानना चाहिये, प्रमाणसप्लव भी जैन दर्शन की तरह सबने किसी न किसी रूप से माना ही है, और यदि उसे न माना जावे तो इष्टतत्त्व की सिद्धि नहीं होती है। प्रमाणसप्लव अनेक विषयों में देखा जाता है, अनुमान के द्वारा जानी हुई अग्नि पुन प्रत्यक्षज्ञान से जानी जाती है। आगम या गुरु आदि से किसी विषय को समझकर या ज्ञातकर पुन उसीकी प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रतीति होती है, अतः प्रमाण का विषय कथञ्चित् अपूर्वार्थ है, यह सिद्ध होता है।

*** -सर्वथा अपूर्वार्थ के खण्डन का सारांश समाप्त ***

ब्रह्माद्वैतवाद पूर्वपक्ष

आगे आचार्य ब्रह्माद्वैतवाद का खण्डन करेगे अतः उस ब्रह्माद्वैतवाद का वर्णन उन्हींकी मान्यता के अनुसार किया जाता है जिससे कि पाठकगण ब्रह्माद्वैतवादके मत को सुगमता से समझ सकें ।

ब्रह्माद्वैतवाद शब्द का अर्थ—

ब्रह्म-अद्वैत-वाद इस प्रकार ये तीन पद हैं । “ब्रह्म च तत् अद्वैतं च ब्रह्माद्वैतं” यह कर्मधारय समास है । “ब्रह्माद्वैतस्यवाद.” “ब्रह्माद्वैतवादः” अद्वैत-अखण्ड एक ब्रह्म ही है, अन्य कुछ भी नहीं है—अर्थात् जगत् के चेतन अचेतन सब ही पदार्थ ब्रह्म स्वरूप ही है ऐसी जो मान्यता है वही ब्रह्माद्वैतवाद है, अद्वैत का अर्थ है और दूसरा कोई नहीं—केवल एक वही, इसी तरह विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत, शून्याद्वैत, शब्दाद्वैत आदि शब्दों का भी मतलब—अर्थ—सर्वत्र समझना चाहिये, ये सब ही प्रवादी-गण एक रूप चेतन या अचेतनरूप या शून्यरूप ही समस्त विश्व को मानते हैं, ये भेदों को—घट, पट, जीव आदि किसी प्रकार के भेद—द्वैतको स्वीकार नहीं करते हैं, इन्हे अभेदवादी भी कहा जाता है, अस्तु ।

सर्व खल्विद् ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।

आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ॥१॥

जगत् के दृश्यमान या अदृश्यमान जितने भी पदार्थ हैं वे- सब एक मात्र ब्रह्मस्वरूप हैं, ससार में अनेक या नानारूप कुछ भी वही है, उस अखण्ड परमब्रह्म को जो कि एक ही है कोई भी नहीं देख सकता है, हाँ, उस ब्रह्म की ये जो चेतन अचेतन पर्याये हैं उन्हे ही हम देख सकते हैं एव देख रहे हैं ।

अब यहां पर अनेक प्रश्न होते हैं कि जब एक ब्रह्मस्वरूप ही पदार्थ है, अन्य कुछ नहीं है तो यह सारा साक्षात् दिखायी दे रहा पदार्थ समुदाय क्यों प्रतीत होता ? (१) जब ये पदार्थ ब्रह्मकी विवर्तरूप हैं तो किस कारण से ये विवर्त या नाना पर्याये उत्पन्न हुई हैं ? (२) ये सब विवर्त या चेतन अचेतन पदार्थ किस क्रम से

उत्पन्न होते हैं ? (३) दृश्यमान या अदृश्यमान इन पदार्थों का कभी पूर्ण रूप से अभाव होता है क्या ? (४) हम जो चेतन जीव हैं सो किस प्रकार दुःखो से मुक्त हो सकते हैं या मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं ? (५) मोक्ष का स्वरूप क्या है ? (६) ।

इस प्रकार के इन सब प्रश्नों का ब्रह्माद्वैतमतानुसार समाधान किया जाता है—

प्रथम प्रश्न का समाधान—

विश्व में जो अनेकता-विविधता, घट, पट, जीव, पशु, मनुष्य आदि पदार्थ रूप से भिन्नता दिखाई देती है उसका कारण अविद्यावासना है, अर्थात् अविद्यावासना के कारण ही हमको अखड ब्रह्म में खड व भेद मालूम पड़ता है, अविद्यावासना के नाश होने पर एक परमब्रह्म ही अनुभव में आता है ।

द्वितीय प्रश्न का समाधान—

इन चेतन अचेतन पदार्थों के उत्पन्न होने में कारण स्वभाव ही है, इस जगत् या सृष्टि का उपादान कारण तथा निमित्त कारण भी ब्रह्म ही है, कहा भी है—

“कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चजगत्, कारणं परमब्रह्म शक्तिद्वयवदज्ञानो-
पहित चैतन्य स्वप्रधानतया निमित्तं, स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति”—

परमब्रह्म का कार्य जो आकाश, वायु, जल आदि हैं वह सब बहुविस्तार वाला ब्रह्म ही है, और कारण ब्रह्म ही है, अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—आवरण और विक्षेप, इन दो से जब चैतन्य सहित होता है तब अपनी प्रधानता से उपादान कारण और अपनी उपाधि की प्रधानता से निमित्त कारण बनता है, जैसे—“यथा लूता तन्तुकार्यं । प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति” । जिस प्रकार मकड़ी रेशम धागे का निमित्त और उपादान दोनों कारणरूप स्वयं है, अपनी प्रधानता से तो निमित्त कारण है और स्वशरीर की प्रधानता से उपादान कारण है, अन्यत्र भी कहा है—

उर्णनाभ इवाशुना, चन्द्रकान्त इवाम्भसाम् ।

प्ररोहाणामिव प्लक्ष स हेतु सर्वजन्मिनाम् ॥ १ ॥

जैसे—मकड़ी धागे का, चन्द्रकान्तमणि जल का, वट वृक्ष जटाओ का कारण है, वैसे ही वह परमब्रह्म सब जीवों का कारण है, अर्थात् मकड़ी से स्वभावतः जैसे धागा निकलता है अथवा—रेशम कीड़ा से जैसे रेशम की निष्पत्ति होती है, चन्द्रकान्तमणि से जैसे स्वभावतः जल उत्पन्न होता है वैसे ही ब्रह्म से स्वभाव से जगत्—चेतन अचेतन पदार्थ उत्पन्न होते हैं ।

तीसरे प्रश्न का उत्तर—

यह परमब्रह्म स्वभाव से ही जब कभी अज्ञानरूप हो जाता है, तब उसके द्वारा सृष्टि की रचना का क्रम प्रारम्भ होता है, “अज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति-शक्तिद्वयम्” सच्चिदानन्द स्वरूपमावृणोत्यावरणशक्ति, तथा ब्रह्मादिस्थावरान्तं जगत् जलबुदबुदवत् नामरूपात्मकं विक्षिपति, सृजतीति विक्षेपशक्तिः ॥

अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति, चिदानन्दस्वरूप को ढकनेवाली आवरणशक्ति है, और व्यक्तब्रह्म से लेकर—अर्थात् व्यक्तब्रह्म, आकाश, वायु आदि से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि की रचना को करनेवाली विक्षेपशक्ति है, “अनयैवावरण शक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख-दुःख-मोहात्मकतुच्छ संसार भावनाऽपि संभाव्यते” पूर्वोक्त आवरणशक्ति से युक्त आत्मा के अन्दर कर्तृत्व-बुद्धि, भोक्तृत्व, सुख दुःख मोह आदिक विकारभाव या तुच्छ संसारभावना उत्पन्न होती है, “तमः प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहतचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुवीयोर-ग्निरग्नेरापोऽदभ्यः पृथिवी चोत्पद्यते । तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सभूतः इत्यादिश्रुतेः”—तमोगुण है प्रधानं जिसमें ऐसे विक्षेपशक्तिवाले अज्ञान से जब यह चैतन्य या ब्रह्म उपहत हो जाता है, तब उससे आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथिवी उत्पन्न होती है, श्रुतिग्रन्थ में भी कहा है कि “इस ब्रह्म आत्मा से आकाश हुआ है इत्यादि ।

“तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमः प्राधान्य तत्कारणस्य । तदानीं सत्त्वरजस्तमासि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वआकाशादिषूत्पद्यन्ते । एतान्येव सूक्ष्म भूतानि तन्मात्राण्यपञ्ची-कृतानि चोच्यते ॥ एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते” ॥ उन आकाश आदि पृथिवीपर्यन्त के पदार्थों में जड़ता अधिकरूप से दिखाई देती है, अतः तमोगुण प्रधानविक्षेपशक्तियुक्त चैतन्य उनका कारण है, यह सिद्ध होता है, जब वे आकाश

आदिक उत्पन्न होते हैं, तब उनमें कारणगुण के अनुसार सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण पैदा हो जाया करते हैं, इन्हीं आकाश आदि को सूक्ष्मभूत, तन्मात्रा और अपञ्चीकृत इन नामों से कहा जाता है, इन्हीं आकाश, वायु आदि से सूक्ष्मशरीर तथा स्थूलभूत पैदा होते हैं। सूक्ष्मशरीर के १७ भेद हैं। “अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपचकं, बुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रियपचक, वायुपचक च” ॥—पाच ज्ञानेन्द्रिया-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण—, वचन, हाथ, पाद, पायु और उपस्थ ये पाच कर्मेन्द्रिया तथा—बुद्धि, मन, पांच वायु—प्राणवायु, अपानवायु, उदानवायु, व्यानवायु और समानवायु—ये १७ अवयव या भेद सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। दिखाई देनेवाले जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं वे स्थूलभूत हैं, इस प्रकार यह समस्त ससार एक ब्रह्म का कार्यरूप है, अर्थात् उसका भेदरूप है, सूक्ष्मशरीर के अवयव स्वरूप जो बुद्धि और मन हैं, वे जीव स्वरूप हैं। ऐसे सूक्ष्म शरीरादि तथा स्थूलभूतादिरूप विश्व की रचना है।

चौथे प्रश्न का समाधान—

इन दृश्यमान पदार्थों का विनाश या अभाव होता है, इसी का नाम प्रलय या लय है, यह प्रलय भी स्वभाव से हुआ करता है, सृष्टि की उत्पत्ति के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि-रचना होने में युगानुयुग-अनगिनतीकाल-व्यतीत हो जाता है, जिस क्रम से सृष्टिकी रचना-उत्पत्ति हुई थी उसी क्रम से उसका प्रलय भी होता है, कहा भी है—“एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपञ्चीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेण तत्कारणभूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्र भवति, एतदज्ञानमज्ञानोपहित चैतन्यञ्चेश्वरादिकमेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूप तुरीय ब्रह्ममात्र भवति”—सत्त्वादिगुण जो सूक्ष्म भूतादिक हैं उत्पत्ति के विपरीतक्रम से अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं—। अर्थात् पृथिवी जल में विलीन हो जाती है, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश अज्ञानरूप चैतन्य में तथा चैतन्य और ईश्वर भी तुरीय ब्रह्म में अन्तर्हित हो जाते हैं इस तरह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड समाप्त होता है—शून्यरूप होता है।

पाचवे प्रश्न का समाधान—

मोक्ष-अर्थात् दुःखों से छूटने के लिए साधन इस प्रकार से बतलाये गये हैं—“साधनानि-नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रफलभोगविरागशमादिषट्कसप्तमुमुक्षुत्वानि”—नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, इस लोक सबधी तथा परलोक सबधी भोगों को

इच्छा न होना, शम दम आदि छह कर्त्तव्य, और मोक्ष की इच्छा ये सब मोक्ष प्राप्तिके उपाय है । “शमादयस्तु—शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्या.” शम, दम, उपरति, तितिक्षा समाधान और श्रद्धान ये छह शमादिक है, इन शमादिरूप कर्त्तव्यों के साथ ध्यान आदि की सिद्धि होने पर मोक्ष प्राप्त होता है ।

छठवे प्रश्न का समाधान

“न तस्य प्राणा उत्क्रामति, अत्रैव समवलीयन्ते” शमादि षट्-सपत्ति से युक्त तथा ध्यान समाधि के अभ्यासक जीवकी जीवन्मुक्त अवस्था होती है, उस अवस्था में अज्ञान क्रिया समाप्त होती है अर्थात् आगामी कर्मका नाश होता है आनन्द और कैवल्य की प्राप्ति होती है, अन्त मे प्रारब्ध कर्म भोगते २ समाप्त हो जाते है तब उस जीवन्मुक्त व्यक्ति के प्राण वही विलीन हो जाते है—अर्थात् परलोक में-ब्रह्मलोक में-जन्म लेने के लिए गमन नहीं करते है । यही मुक्ति कहलाती है अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्ति का चैतन्य परमब्रह्म मे लीन हो जाता है, इसी का नाम मोक्ष है । मोक्ष होने पर उसके प्राण वही विलीन होते है; क्योंकि सर्वत्र ब्रह्म है ही, उसीमें उसके प्राण समा जाते है । यहा तक जगत् की व्यवस्था, परमब्रह्म, उसकी प्राप्ति आदि का कथन किया, इससे सिद्ध होता है कि सारा विश्व, विश्व के कार्यकारणभेद, मोक्ष, मोक्ष के साधन आदि सब ही ब्रह्मस्वरूप है, ये दिखाई पडने वाले भिन्न भिन्न देश, या आकार सभी एक ब्रह्म के विवर्त्त है, अविद्या के समाप्त होने पर भेदभावना नहीं रहती इस प्रकार अभेद या अद्वैतका ज्ञान होना विद्या है, सृष्टिक्रम, ज्ञानेन्द्रिय आदि पूर्वोक्त १७ अवयव भेदवाले सूक्ष्म शरीरका पृथिवी आदि स्थूलभूतका वास्तविक ज्ञान होना तथा ईश्वर अर्थात् ब्रह्म और आत्मा जिसका कि लक्षण “तत्तद्भुभासक नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्यस्व-भावं प्रत्यक् चैतन्यमेवात्म वस्तु, इति वेदान्तविद्वदनुभव.” ॥ तत्तद्वस्तुओं का प्रकाश करता है, और नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव आन्तरिक चैतन्यस्वरूप है, इन सबके तत्त्वज्ञान से परमब्रह्म प्राप्त होता है । इस प्रकार सारा विश्व ब्रह्ममय है, अतः ब्रह्माद्वैतवाद ही सिद्ध होता है ।

* ब्रह्माद्वैतवादका पूर्वपक्ष समाप्त *



ब्रह्माद्वैतवादः

ननु चोक्तलक्षणाऽपूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणमित्युक्तमुक्तम्; अर्थव्यवसायात्मकज्ञानस्य मिथ्यारूपतया प्रमाणत्वायोगात्, परमात्मस्वरूपग्राहकस्यैव ज्ञानस्य सत्यत्वप्रसिद्धे । अक्षसन्निपातानन्तरोत्थाऽविकल्पकप्रत्यक्षेण हि सर्वत्रैकत्वमेवाऽन्यानपेक्षतया भ्रुगिति प्रतीयते इति तदेव वस्तुत्वस्वरूपम् । भेदः पुनरविद्यासकेतस्मरणजनितविकल्पप्रतीत्याऽन्याऽपेक्षतया प्रतीयते इत्यसौ नार्थस्वरूपम् । तथा, यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्त प्रविष्टमेव यथा प्रतिभासस्वरूपम्, प्रतिभासते

ब्रह्माद्वैत—जो जैन के कहे हुए अपूर्वार्थ और व्यवसायात्मक प्रमाण के विशेषण है वे अयुक्त है, क्योंकि पदार्थ का व्यवसाय करनेवाला ज्ञान मिथ्यारूप होता है, इसलिये उसमें प्रमाणता का योग नहीं बैठता है, जो ज्ञान परमात्मस्वरूप का—परम-ब्रह्म का ग्राहक-निश्चय करनेवाला होता है उसीमें सत्यता की प्रसिद्धि है, आख के खोलते ही—अर्थात् दृष्टि विषय पर पडते ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है, उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वत्र एकत्व का भान, विना किसी भेदप्रतीति के शीघ्रातिशीघ्र जो होता है वही वस्तुका स्वरूप है, भेद जो प्रतीत होता है वह तो अविद्या, सकेत, स्मरण आदि से उत्पन्न होता है और उससे विकल्प (भेद) उत्पन्न होकर घट पट आदि भिन्न भिन्न पदार्थ मालूम पडते हैं, इसलिये भेद वस्तु का स्वरूप नहीं है, इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अखण्ड परम ब्रह्म सिद्ध होता है, अनुमानप्रमाण के द्वारा भी अखण्ड ब्रह्म की सिद्धि इस प्रकार से होती है—“जो प्रतिभासित होता है वह प्रतिभास के भीतर सामिल है प्रतिभासित होने से जैसा कि प्रतिभासका स्वरूप प्रतिभासित होता है अतः वह प्रतिभास के भीतर सामिल है, इसीतरह चेतन अचेतन सभी वस्तु प्रतिभासित होती हैं अतः वे सभी प्रतिभास के अन्दर प्रविष्ट हैं । इस अनुमानके द्वारा आत्माद्वैत—ब्रह्माद्वैत सिद्ध होता है । इस अनुमान में प्रयुक्त प्रतिभासमानत्व हेतु असिद्ध

चाशेष चेतनाचेतनरूप वस्तु' इत्यनुमानादप्यात्माऽद्वैतप्रसिद्धिः । न चात्राऽसिद्धो हेतु , साक्षादसाक्षाच्चाशेषवस्तुनोऽप्रतिभासमानत्वे सकलशब्दविकल्पगोचरातिक्रान्तया वक्तुमशक्तेः । तथागमोऽप्यस्य प्रतिपादकोऽस्ति ।

“सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।

आराम तस्य पश्यन्ति न त पश्यति कश्चन ॥” [] इति । तथा “पुरुष एवैतत्सर्वं यद्भूत यच्च भाव्य स एव हि सकललोकसर्गस्थितिप्रलयहेतुः ।” [ऋक्स० मण्ड० १० सू० ६० ऋ० २] उक्तञ्च—

“ऊर्णनाभ इवाशूना चन्द्रक्रान्त इवाम्भमाम् ।

प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतु सर्वजन्मिनाम् ॥” [] भेददर्शिनो निन्दा च श्रूयते— “भृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।” [बृहदा० उ० ४/४/१६] इति । न चाभेदप्रतिपादकाम्नायस्याऽध्यक्षवाधा, तस्याप्यभेदग्राहकत्वेनैव प्रवृत्ते । तदुक्तम्—

भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से या परोक्ष से किसी भी प्रकार से वस्तु को प्रतिभासमान स्वरूप नहीं मानोगे तो सपूर्ण शब्दों के अगोचर हो जाने से वस्तु को कहा ही नहीं जा सकेगा । आगम भी अनुमान की तरह ब्रह्म का प्रतिपादक है । श्लोकार्थ—“यह सारा विश्व ब्रह्मरूप है, कोई भिन्न भिन्न वस्तु नहीं है, दुनिया के जीव उस ब्रह्म के विवर्तों को—पर्यायों को—देखते हैं किन्तु उसे कोई नहीं देख सकता” ॥ १ ॥

जगत पुरुषमय है, जो हुआ अथवा होनेवाला है वह सब ब्रह्म ही है, वही सारे संसार की उत्पत्ति स्थिति और विनाश का कारण है, कहा भी है, श्लोकार्थ—

जैसे रेशमी कीड़ा रेशम के धागे को बनाता है, चन्द्रक्रान्तमणि जैसे जल को भरता है और वटवृक्ष जैसे जटाओं को अपने में से स्वयं निकालता है अतः वह उनका कारण होता है वैसे ही ब्रह्म समस्त जीवों का कारण होता है ॥ १ ॥

शास्त्र में भेद-द्वैत माननेवाले की निन्दा भी की गई है—जैसे—जो भेद को देखता है वह यमराज का अतिथि बनता है, अभेद-प्रतिपादक आगममें प्रत्यक्ष से वाधा नहीं आती है, क्योंकि प्रत्यक्ष भी स्वयं अभेद का ग्राहक है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—बुद्धिमान् लोक प्रत्यक्ष को विधिरूप ही मानते हैं निषेधरूप नहीं मानते, इसलिये अभेद प्रतिपादक आगम में प्रत्यक्ष के द्वारा वाधा नहीं आती है ॥१॥

“आहुर्विधातृ प्रत्यक्ष न निषेद्धु विपश्चितः ।

नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रवाच्यते ॥” []

किञ्च, अर्थाना भेदो देशभेदात्, कालभेदात्, आकारभेदाद्वा स्यात् ? न तावद्देशभेदात्; स्वतोऽभिन्नस्याऽन्यभेदेऽपि भेदानुपपत्तेः । नह्यन्यभेदोऽन्यत्र सक्रामति । कथं च देशस्य भेद ? अन्यदेश-भेदाच्चेदनवस्था । स्वतश्चेत्, तर्हि भावभेदोऽपि स्वत एवास्तु किं देशभेदाद्भेदकल्पनया ? तत्र देश-भेदाद्वस्तुभेदः । नापि कालभेदात्, तद्भेदस्यैवाव्यक्तोऽप्रसिद्धेः । तद्धि सन्निहित वस्तुमात्रमेवाधि-गच्छति नातीतादिकालभेद तदनतार्थभेद वा आकारभेदोऽप्यर्थाना भेदको व्यतिरिक्तप्रमाणात्प्रतिभाति, स्वतो वा ? न तावद् व्यतिरिक्तप्रमाणात्; तस्य नीलसुखादिव्यतिरिक्तस्वरूपस्याप्रतिभासमानत्वाद् ।

भेदवादी-द्वैतवादी पदार्थो मे भेद कयो मानते है ? क्या देशभेद होने से या कालभेद होने से या कि आकारभेद होने से ? यदि ऐसा माना जाय कि देशभेद होने से अर्थो मे (पदार्थो मे) भेद है तो वह बनता नहीं है, क्योंकि जो स्वत. स्वरूप से अभिन्न है उनमे अन्य के द्वारा भेद नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य का भेद अन्य मे सक्रामित नहीं होता है, तथा-देशभेद भी किससे सिद्ध होगा ? अन्य किसी देशभेद से कहो तो अनवस्था होगी, यदि देशभेद स्वत ही सिद्ध है ऐसा कहो तो वैसा ही पदार्थो में भी स्वत भेद मान लेना चाहिये, देशभेद से भेद की कल्पना करने से क्या लाभ-अर्थात् देशभेद से पदार्थो मे भेद होता है ऐसा मानने की क्या आवश्यकता है, अत देशभेद से वस्तुओ मे भेद होता है यह बात सिद्ध नहीं होती है ।

यदि कहो कि कालभेद से वस्तुओ में भेद होता है, सो ऐसा कहना भी नहीं बनता, क्योंकि कालभेद ही स्वतः प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता, कारण-प्रत्यक्ष तो निकटवर्ती वस्तुमात्र को ही ग्रहण करता है, वह तो अतीत काल आदि के भेद को और उसके निमित्त से हुए अर्थ भेद को नहीं जानता है ।

यदि कहो कि भिन्न-भिन्न सस्थानो के भेद से पदार्थो मे भेद होता है, सो ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि हम आप (जैन) से पूछते हैं कि आकार भेद किसी भिन्न प्रमाण से प्रतिभासित होता है ? कि स्वतः प्रतिभासित होता है ? यदि कहा जावे कि आकारभेद किसी अन्य प्रमाण से प्रतीत होता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि नीलादिरूप बहिरंग वस्तु एव सुखादिरूप अन्तरंग वस्तु के सिवाय अन्य कोई प्रमाणरूप वस्तु प्रतीति मे नहीं आती है । यदि आप (जैन) ऐसा कहे कि

अथाहप्रत्यये बोधात्मा तद्ग्राहकोऽवसीयते, न; तत्रापि शुद्धबोधस्याप्रतिभासनात् । स खलु 'अहं सुखी दुःखी स्थूलः कृशो वा' इत्यादिरूपतया सुखादि, शरीरं चावलम्बमानोऽनुभूयते न पुनस्तदव्यतिरिक्तं बोधस्वरूपम् । स्वतश्चाकाराणां भेदसवेदने स्वप्रकाशनियतत्वप्रसङ्गः, तथा चान्योऽन्यासवेदनात्कुत स्वतोऽप्याकारभेदसवित्तिः ।

अथैकरूपब्रह्मणो विद्यास्वभावत्वे तदर्थानां शास्त्राणां प्रवृत्तीनां च वैयर्थ्यं निवर्त्यप्राप्तव्यस्व-
भावाभावात् । विद्यास्वभावत्वे चासत्यत्वप्रसङ्गः ; तथाच "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तैत्ति० २/१]
इत्यस्य विरोधः; तदप्यसङ्गतम्; विद्यास्वभावत्वेऽप्यस्य शास्त्रादीनां वैयर्थ्यासंभवात् अविद्याव्यापार-
निवर्त्तनफलत्वात्तोषाम् । यत एव चाविद्या ब्रह्मणोऽर्थान्तरभूता तत्त्वतो नास्त्यत एवासौ निवर्त्यते,

अहं प्रत्यय मे आकाररूप भेदग्राहक बोधात्मा प्रतीति में आता है सो ऐसा भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अहं प्रत्यय मे भी शुद्ध बोध का प्रतिभास नहीं होता, क्योंकि वह अहं प्रत्यय भी "मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, इत्यादिरूप से सुखादि का या शरीर का अवलम्बववाला हुआ ही अनुभव में आता है, इससे अतिरिक्त अकेला बोधस्वरूप अनुभव मे नहीं आता, यदि कहा जावे कि भले ही किसी भी प्रमाण से आकार-भेद अनुभवित नहीं होता हो तो मत होओ परन्तु वह आकार भेद स्वतः तो अनुभव में आता है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसे तो पदार्थ स्वतः प्रकाशमान-अपने आपको जाननेवाले हो जावेगे, ऐसी दशा में अन्य का अन्य के द्वारा सवेदन न होने से (ज्ञान के द्वारा वस्तु का सवेदन प्रतिभास न होने से) आकारो का भेद ज्ञान में स्वतः प्रतीत होता है" यह बात सिद्ध नहीं होती है । यदि कोई (जैन आदि) इस प्रकार की शका करे" कि ब्रह्मा तो एक स्वभाव वाला है-अर्थात् विद्या (ज्ञान) स्वभाव वाला है-तो उसके लिये शास्त्रो एव अनुष्ठान आदिको का करना व्यर्थ है, क्योंकि त्यागने योग्य अविद्या रूप और प्राप्त करने योग्य विद्यारूप स्वभाव का उस ब्रह्म में अभाव है ।

यदि ब्रह्मा को अविद्यास्वरूप माना जाय तो उस ब्रह्मामें असत्यरूपता हो जाने से "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"-इस सूत्र की जो तैत्तरीयोपनिषद में कहा गया है-
कि परमब्रह्म सत्यस्वरूप है अन्तरहित है एव ज्ञान (विद्या) स्वभाववाला है"-
संगति नहीं बैठती है अर्थात् यह कथन गलत हो जाता है," सो इस प्रकार की यह जैन आदिको की आक्षेपरूप शका असंगत है, क्योंकि हम ब्रह्माद्वैतवादी ने ब्रह्म को विद्यास्वभाववाला माना है, ऐसे स्वभाव वाला मानने पर शास्त्रादिक व्यर्थ नहीं होते हैं, क्योंकि अनुष्ठान आदिक अविद्या के व्यापार को हटाते हैं, यही उनका फल है ।

तत्त्वतस्तस्याः सद्भावे हि न कश्चिन्निरर्त्तयितुं शक्नुयाद् ब्रह्मवत् । सर्वैरेव चातात्त्विकानाद्यविद्योच्छे-
दार्थो मुमुक्षूणा प्रयत्नोऽभ्युपगतः । न चानादित्वेनाविद्योच्छेदासम्भवः; प्रागभावेनाऽनेकान्तात् । तत्त्व-
ज्ञानप्रागभावरूपैव चाविद्या तत्त्वज्ञानलक्षणविद्योत्पत्तौ व्यावर्तत एव घटोत्पत्तौ तत्प्रागभाववत् ।
भिन्नाऽभिन्नादिविकल्पस्य च वस्तुविषयत्वात् अवस्तुभूताऽविद्यायामप्रवृत्तिरेव सवेयमविद्या माया
मिथ्याप्रतिभास इति ।

न चात्मश्रवणमननध्यानादीना भेदरूपतयाऽविद्यास्वभावत्वात्कथं विद्याप्राप्तिहेतुत्वमित्यभि-
घातव्यम् ? यथैव हि रज. सपर्ककलुषोदके द्रव्यविशेषचूर्णं रज.प्रक्षिप्त रजोऽन्तराणि प्रशमयत्स्वय-
मपि प्रशम्यमान स्वच्छा स्वरूपावस्थामुपनयति, यथा वा विष विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति,
एवमात्मश्रवणादिभिर्भेदाभिनिवेशोच्छेदात्, स्वगतेऽपि भेदे समुच्छिन्ने स्वरूपे ससारी समवतिष्ठते ।

अविद्या ब्रह्म से वास्तविकरूप में पृथक् होती तो उसका हटाना सर्वथा अशक्य हो
जाता, जैसा कि ब्रह्मा का हटाना सर्वथा अशक्य है, परन्तु, देखने में आता है कि
मोक्षार्थीजन अतात्त्विक अविद्या को हटाने—विनष्ट करने के लिये ही प्रयत्न करते
हैं ऐसी बात चाहे वादी हो चाहे प्रतिवादी हो सभी ने स्वीकार की है । यदि कोई
ऐसी आशका करे कि अविद्या तो अनादि की है अतः उसका विनाश नहीं हो सकेगा—
सो ऐसी आशका ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का यह कथन प्रागभाव के साथ
अनैकान्तिक हो जाता है, प्रागभाव अनादि है फिर भी उसका विनाश होता है,
अविद्या, तत्त्वज्ञान का प्रागभाव है वह तत्त्वज्ञानरूप विद्या के उत्पन्न होते ही हट
जाती है, जैसे—घट के उत्पन्न होने पर उसका प्रागभाव समाप्त हो जाता है, वह
अविद्या भिन्न है या अभिन्न है ? ऐसे प्रश्न तो वस्तुस्वरूप में होते हैं, अवस्तुरूप
अविद्या में नहीं, इस प्रकार इस अविद्या को माया एवं मिथ्याप्रतिभास ऐसे नाम से
भी आमोहित किया गया है ।

यहां ऐसी शका नहीं करनी चाहिये कि आत्मतत्त्व का श्रवण, श्रद्धान,
ध्यान आदि ये सब भेदरूप होने से अविद्या स्वभाववाले है, अतः इनसे विद्या की
प्राप्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि देखिये—जिस प्रकार धूलि कीचड़ आदि से गंदले
हुए पानी में फिटकरी चूर्ण आदिरूप एक तरह की धूलि डालने पर वह उसमें की अन्य
मिट्टी आदि रूप एक तरह की धूलि कीचड़ आदि को शान्त करनेवाली होती है और स्वयं
भी स्वच्छ अवस्था को प्राप्त हो जाती है, इस तरह जल बिलकुल स्वच्छ हो जाता है,
अथवा विष विष को दबा देता है और उसके साथ आप भी स्वयं शमित हो जाता

अवच्छेदक्यविद्याव्यावृत्तौ हि परमात्मैकस्वरूपतावस्थिते घटाद्यवच्छेकभेदव्यावृत्तौ व्योम्नः शुद्धाकाशतावत् ।

न चाद्वैते सुखदुःखबन्धमोक्षादिभेदव्यवस्थानुपपन्ना; समारोपितादपि भेदात्तद्भेदव्यवस्थोपपत्तेः; यथा द्वैतिना 'शिरसि मे वेदना पादे मे वेदना' इत्यात्मन समारोपितभेदनिमित्ता दुःखादिभेदव्यवस्था । पादादीनामेव तद्वेदनाधिकरणत्वात्तेषां च भेदात्तद् व्यवस्था युक्तेत्यप्युक्तम्; यतस्तेषामज्ञत्वेन भोक्तृत्वायोगात् । भोक्तृत्वे वा चार्वाकमतानुषङ्गः । तदेवमेकत्वस्य प्रत्यक्षानुमानागमप्रमितरूपत्वात्सिद्धं ब्रह्माद्वैत तत्त्वमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । किं भेदस्य प्रमाणबाधितत्वादभेदः साध्यते, अभेदे साधकप्रमाणसद्भावाद्वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः, प्रत्यक्षादेर्भेदानुकूलतया तद्बाधकत्वायोगात् । न खलु भेदमन्तरेण

है—खतम हो जाता है, बिलकुल यही प्रक्रिया अविद्या के बारे में है, अर्थात् श्रवण, श्रद्धान ध्यानादिरूप अविद्या के द्वारा भेद का हठाग्रह नष्ट होकर अपने में होनेवाले भेद भी नष्ट हो जाते हैं । एव ससारी जीव एकत्व में (ब्रह्मा में) स्थिर हो जाते हैं, भेद को करने वाली अविद्या व्यावृत्त होते ही परमात्मरूप एकत्व में जीव की स्थिति हो जाती है, जैसे कि घट आदि के भेदों की व्यावृत्ति होते ही आकाश शुद्धता को प्राप्त हो जाता है । हमारे अद्वैत में सुख दुःख बन्ध मोक्षादि की भेदव्यवस्था नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना, हमारे यहां तो काल्पनिक भेदों से भेदव्यवस्था बन जाती है । जैसे आप द्वैतवादों के यहां अपनी एक ही आत्मा में काल्पनिक भेद करके कहा जाता है, कि मेरे मस्तक में दर्द है, मेरे पैर में पीड़ा है, इत्यादि दुःख के भेद की व्यवस्था होती है या नहीं ? अर्थात् होती ही है, कहो कि उन पैर आदि वेदना के आधारभूत अवयवों में भेद है अतः दुःखों में भेद पड़ जाता है, सो यह ठीक नहीं, क्योंकि वे पैर आदि तो जड़ हैं वे क्या भोक्ता बनेंगे । यदि पैर आदि शरीरावयव भोक्ता होंगे तो चार्वाक मत आवेगा । इस प्रकार एकत्व अद्वैत ही प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान तथा आगम प्रमाणों के द्वारा सिद्ध होता है, अतः ब्रह्माद्वैत मात्र तत्त्व है ऐसा मानना चाहिये ।

जैन—अब यहां पर ऊपर लिखे ब्रह्माद्वैत का निरसन किया जाता है—आप अद्वैतवादी भेद का खण्डन करते हो सो क्यों ? क्या भेद प्रमाण से बाधित है अथवा अभेद को सिद्ध करनेवाला प्रमाण है, इसलिये ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं—क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण भेद के अनुकूल ही हैं, वे भेदों में बाधा नहीं दे सकते । तथा भेद के बिना

प्रमाणेतरव्यवस्थापि सम्भाव्यते । द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्त , भेदमन्तरेण साध्यसाधकभावस्यैवासम्भवात् । न चाभेदसाधक किञ्चित्प्रमाणमस्ति ।

यच्चोक्तम्—“अविकल्पकाव्यक्षैरैकत्वमेवावसीयते” तत्र किमेकव्यक्तिगतम्, अनेकव्यक्तिगतम्, व्यक्तिमात्रगत वा तत्त्वेन प्रतीयते ? एकव्यक्तिगत चेत्; तत्किं साधारणम्, असाधारणं वा ? त तावत्साधारणम्, ‘एकव्यक्तिगत साधारणं च’ इति विप्रतिषेधात् । असाधारणं चेत्; कथं नातो भेदसिद्धिः असाधारणस्वरूपलक्षणत्वाद्भेदस्य । अथानेकव्यक्तिगत सत्तासामान्यरूपमेकत्व प्रत्यक्षग्राह्यमित्युच्यते, तत्किं व्यक्त्यधिकरणतया प्रतिभाति, अनधिकरणतया वा ? प्रथमपक्षे भेदप्रसङ्गं ‘व्यक्तिरधिकरणं तदाधेयं च सत्तासामान्यम्’ इति, अयमेव हि भेदः । द्वितीयपक्षे—व्यक्तिग्रहणमन्तरेणाप्यन्तराले तत्प्रति-

प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था भी कहाँ रहेगी । दूसरा पक्ष अर्थात् अभेद को सिद्ध करनेवाला प्रमाण है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि भेद के बिना साध्य और साधन का भाव कैसे बन सकता है, अतः अभेद को सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है । आप (ब्रह्माद्वैतवादी) ने जो कहा था कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष से एकत्व जाना जाता है सो एक ही व्यक्ति का एकत्व जाना जाता है कि अनेकव्यक्तियों का एकत्व जाना जाता है या कि व्यक्तिमात्र का एकत्व जाना जाता है, यदि एक व्यक्तिगत एकत्व निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा जाना जाता है ऐसा कहो तो वह साधारण है या असाधारण ? साधारण तो उसे कह नहीं सकते क्योंकि वह व्यक्तिगत हो और साधारण हो ऐसा कथन तो आपस में निषिद्ध है अर्थात् जो साधारण होता है वह अनेक व्यक्तिगत होता है एक व्यक्तिगत नहीं होता । असाधारण कहो तो उससे भेद सिद्ध क्यों नहीं होगा । क्योंकि असाधारणरूपवाला ही भेद होता है । यदि कहो कि अनेकव्यक्तिगत एकत्व सत्ता सामान्य को ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष से ग्राह्य होता है, तो प्रश्न होता है कि अनेक व्यक्तियों जिसके आधारभूत हैं उन आधारों के साथ सत्ता सामान्यरूप एकत्व का ग्रहण होता है ? कि आधार रहित सत्तासामान्यरूप एकत्व का ग्रहण होता है ? यदि कहा जावे कि अपने आधारभूत अनेक व्यक्तियों के साथ सत्तासामान्यरूप एकत्व का ग्रहण होता है तो इससे भेद मालूम पड़ता है—अर्थात् भेद का प्रसङ्ग प्राप्त होता है—देखिये—व्यक्ति सत्तासामान्यरूप एकत्व का अधिकरणरूप एक पदार्थ हुआ और आधेयरूप सत्तासामान्य एक पदार्थ हुआ, यही तो भेद है । दूसरे पक्ष में—अर्थात् व्यक्तिभूत आधार के ग्रहण किये बिना सत्तासामान्यरूप एकत्व का ग्रहण होता है ऐसा मानो तो व्यक्ति (विशेष) जहाँ नहीं ऐसे स्थान पर भी सामान्य की

भासप्रसङ्गः । तथा किमेकव्यक्तिग्रहणद्वारेण तत्प्रतीयते, सकलव्यक्तिग्रहणद्वारेण वा ? प्रथमपक्षे विरोधः, एकाकारता ह्यनेकव्यक्तिगतमेक रूपम्, तच्चैकस्मिन् व्यक्तिस्वरूपे प्रतिभातेऽप्यनेकव्यक्त्यनुयायितया कथं प्रतिभासेत ? अथ सकलव्यक्तिप्रतिपत्तिद्वारेण तत्प्रतीयते, तदा तस्याऽप्रतिगतिरेवाखिलव्यक्तीना ग्रहणासम्भवात् । भेदसिद्धिप्रसङ्गश्च-अखिलव्यक्तीना विशेषणतया एकत्वस्य च विशेष्यत्वेन, एकत्वस्य वा विशेषणतया तासां च विशेष्यत्वेन प्रतिभासनात् । तथा तद्व्यक्तिभ्यस्तद्भिन्नम्, अभिन्नं वा ? यद्यभिन्नम्, तर्हि व्यक्तिरूपतानुषङ्गोऽस्य । न च व्यक्तिर्व्यक्त्यन्तरमन्वेतीति कथं सकलव्यक्त्यनुयायित्वमेकत्वस्य । अथार्थान्तरम्, कथं नानात्वाऽप्रसिद्धिः ? यथा चानुगतप्रत्ययजनकत्वेनैकत्व व्यक्तिसु कल्प्यते तथा व्यावृत्तप्रत्ययजनकत्वेनानेकत्वमप्यविशेषात् । तन्नैकत्व नानात्वमन्तरे-

प्रतीति होने लग जायगी, क्योंकि आधार को जानना जरूरी नहीं है, तथा—वह सत्ता-सामान्यभूत एकत्व एक व्यक्ति के ग्रहण से प्रतीत होता है ? या समस्त व्यक्तियों के ग्रहण करने से प्रतीत होता है ? पहिले पक्ष में विरोध आता है, एकाकारता उसे कहते हैं कि अनेक व्यक्तियों में पायी जानेवाली समानता—अर्थात् अनेक व्यक्तियों में विशेषों में जो सहशता है उसीका नाम एकाकारता है वह यदि एक व्यक्ति के प्रतिभासित होने से प्रतीति में आती है तो उसमें अनेक व्यक्तियों का अनुयायीपना कैसे मालूम होगा अर्थात् नहीं मालूम होगा । सारे व्यक्तियों के ग्रहण होने पर उनका सत्ता-सामान्यरूप एकत्व जाना जाता है, ऐसा कहो तो उस एकत्व का ज्ञान ही नहीं होगा, क्योंकि अखिल व्यक्तियों का ग्रहण होना असम्भव है । इस प्रकार मानने से भेद का प्रसङ्ग भी आता है—देखिये—अखिल व्यक्तियां विशेषणरूप से और एकत्व विशेष्यरूप से प्रतीत होगा, अथवा—एकत्व विशेषणरूप और सम्पूर्ण व्यक्तियां विशेष्यरूप प्रतीत हुए । यही तो विशेष्य और विशेषणरूप दो भेद हो गये, तथा—यह सत्ता-सामान्यरूप एकत्व व्यक्तियों से भिन्न है या अभिन्न है ? यदि अभिन्न है तो सत्तासामान्यरूप एकत्व व्यक्तिरूप ही ही गया, अब देखो ऐसा होने पर और क्या होता है—सामान्यभूत एकत्व जो कि एक संख्यारूप है वह जब एक व्यक्ति में चला गया तब अन्य अनेक व्यक्तियों में सामान्य कहां से आवेगा, व्यक्ति तो दूसरे व्यक्ति में जाता नहीं, फिर समस्त व्यक्तियों का अनुयायी एकत्व होता है यह बात कैसे हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती । यदि कहो कि व्यक्तियों से सत्तासामान्यरूप एकत्व भिन्न है तो उसमें नानापना कैसे सिद्ध नहीं होगा—अवश्य सिद्ध होगा । तथा एक बात और यह है कि जैसे अनुगत प्रत्ययों को करनेवाला एकत्व व्यक्तियों में घटित करते हैं वैसे ही व्यावृत्तप्रत्यय को करने वाला अनेकत्व भी उन्हीं नानाव्यक्तियों में मानने में क्या

णावकाश लभते । प्रयोगः विवादाध्यासितमेकत्व परमार्थसन्नानात्वाविनाभावि एकान्तैकत्वरूपतया-
ऽनुपलभ्यमानत्वात्, घटादिभेदाविनाभूतमृद्द्रव्यैकत्ववत् । एतेन व्यक्तिमात्रगतमप्येकत्वं प्रत्युक्तम्,
एकानेकव्यक्तिव्यतिरेकेण व्यक्तिमात्रस्यानुपपत्तेः ।

यच्चोक्तम्—‘भेदस्यान्यापेक्षतया कल्पनाविषयत्वम्’ तदप्युक्तिमात्रम्, एकत्वस्यैवान्यापेक्षतया
कल्पनाविषयत्वसम्भवात् । तद्वचनेकव्यक्त्याश्रितम्, भेदस्तु प्रतिनियतव्यक्तिस्वरूपोऽध्यक्षावसेय ।
अर्थैकत्व प्रत्यक्षैराव प्रतिपन्नम्, अन्यापेक्षया तु कल्पनाज्ञानेनानुयायिरूपतया व्यवहियते,
तर्हि भेदोऽप्यध्यक्षेण प्रतिपन्नोऽन्यापेक्षया विकल्पज्ञानेन व्यावृत्तिरूपतया व्यवहियते
इत्यप्यस्तु ।

का चेय कल्पना नाम-ज्ञानस्य स्मरणानन्तरभावित्वम्, शब्दाकारानुविद्धत्व वा स्यात्, जात्या-
द्युल्लेखो वा, असदर्थविषयत्व वा, अन्यापेक्षतयाऽर्थस्वरूपावधारण वा, उपचारमात्र वा प्रकारान्तरा-

बाधा आयेगी ? कुछ भी नहीं, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि अनेकत्व के बिना एकत्व
नहीं बनता, इसी बातको अनुमान से सिद्ध करके बताते हैं—“विवाद मे आया हुआ
अद्वैती का एकत्व भी वास्तविक अनेकत्व का अविनाभावी है क्योंकि सर्वथा एकान्त-
पने से एकत्व की उपलब्धि ही नहीं होती है, जैसे कि घटादि भेदो में अविनाभावी
सम्बन्ध से मिट्टी एकत्वरूप से रहती है, इसीप्रकार सामान्य व्यक्तिमात्रगत होता है
इसका खण्डन समझ लेना चाहिये, क्योंकि एक और अनेक को छोड़कर और भिन्न कोई
व्यक्तिमात्र होता नहीं है ।

जो ब्रह्मवादी ने कहा था कि भेद अन्य की अपेक्षा रखता है, इसलिये वह
काल्पनिक है सो यह गलत है, उल्टा एकत्व ही भेदरूप अनेको की अपेक्षा रखता है,
अतः वही काल्पनिक है । क्योंकि एकत्व अनेक व्यक्तियों के आश्रित रहता है और
भेद तो प्रतिनियत व्यक्तिरूप होता है, जो कि प्रत्यक्ष से जाना जाता है । कहो कि
एकत्व प्रत्यक्ष से प्रतीत है उसमे अन्य अपेक्षा जो दिखती है वह काल्पनिक ज्ञान के
द्वारा अनुयायीपने से व्यवहार में लाई गई है । तो फिर भेद भी प्रत्यक्ष से जाना हुआ
है, किन्तु अन्य की अपेक्षा लेकर विकल्पज्ञान के द्वारा वह व्यावृत्तिरूप से व्यवहार में
लाया जाता है ऐसा मानो ।

ब्रह्मवादी यह बतावे कि कल्पना कहते किसे है ? स्मरण के बाद ज्ञान का
होना ? शब्दाकारानुविद्धत्व होना ? जात्याद्युल्लेख का होना ? असत् अर्थ का

सम्भवात् ? न तावदाद्यविकल्प ; अभेदज्ञानस्यापि स्मरणान्तरमुपलम्भेन कल्पनात्वप्रसङ्गात् । शब्दाकारानुविद्धत्व च ज्ञाने प्रागेव प्रतिविहितम् । ननु सकृलो भेदप्रतिभासोऽभिलापपूर्वकस्तदभावे भेदप्रतिभासस्याप्यभाव स्यात् ; तन्न, विकल्पाभिलापयो कार्यकारणभावस्य कृतोत्तरत्वात् । अस्तु वासी, तथापि किं शब्दजनितो भेदप्रतिभास, तज्जनितो वा शब्द ? प्रथमपक्षे- किं शब्दादेव भेदप्रतिभासः, ततोऽसौ भवत्येवेति वा ? शब्दादेव भेदप्रतिभासाभ्युपगमे-प्रथमाक्षसन्निपातानन्तर चित्र-पट्यादिज्ञानस्य भेदविषयस्यानुत्पत्तिप्रसङ्ग, निर्विकल्पकानुभवानन्तरसकेतस्मरणविवक्षाप्रयत्नताल्वा-दिपरिस्पन्दक्रमेणोपजायमानशब्दस्याविकल्पकप्रथमप्रत्ययावस्थायामभावात् । शब्दादनेकत्वप्रतिभासो

जानना ? अथवा अन्य की अपेक्षा से अर्थ के स्वरूप का अवधारण करना ? या कि उपचारमात्र होना ? इतने कल्पना शब्द के अर्थ हो सकते हैं, इनसे अतिरिक्त और कोई कल्पना का अर्थ सभावित नहीं है, ज्ञानका स्मरण के बाद होना कल्पना कहलाती है तो यह प्रथम पक्ष ठीक नहीं है—क्योंकि इस प्रकार मानने से अभेदज्ञान भी स्मरण के बाद होता है, अतः उसमें कल्पनिकत्व आयेगा, दूसरा पक्ष जो ज्ञान में शब्दाकारानुविद्धत्व है उसका खडन तो पहिले ही हम कर चुके हैं ।

यदि कोई बीच में ऐसा कहे कि “सारा भेदप्रतिभास तो शब्द पूर्वक होता है फिर उसके अभाव में वह भेदप्रतिभास भी अभावरूप होगा” सो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि विकल्प अर्थात् भेद प्रतिभास और शब्द में कार्यकारणभाव का खडन पहिले कर आये है । अच्छा-मान भी लेवे कि शब्द और भेदप्रतिभास में कार्यकारणभाव है तो भी यह बताओ कि शब्द से भेदप्रतिभास उत्पन्न हुआ है ? या भेदप्रतिभास से शब्द उत्पन्न हुआ है ? प्रथम पक्ष में २ प्रश्न हैं—भेदप्रतिभास अकेले शब्द से ही होता है या उससे भेद प्रतिभास होता ही है, (अर्थात् शब्द से ही भेद प्रतिभास होता है यह प्रश्न अन्ययोगव्यवच्छेदकरूप है, तथा उससे भेद प्रतिभास होता ही है यह प्रश्न क्रियासंगत एवकारवाला होने से वह और किसी से भी हो सकता है ऐसा भाव व्यक्त करता है), मात्र शब्द से ही भेद होता है ऐसा माना जावे तो शब्द के अभाव में भी आख खोलते ही जो चित्रपट आदि अनेक स्थानों पर भेदों का ग्रहण होता है वह नहीं होना चाहिये था ? क्योंकि निर्विकल्प अनुभव के अनन्तर अनेक प्रवृत्तियाँ हुआ करती हैं—जैसे देखो—सकेत का स्मरण, विवक्षा, प्रयत्न, तालु आदिका परिस्पन्द फिर इनके बाद क्रम से उत्पन्न होनेवाला शब्द होता है सो वह शब्द विचारा उस प्रथम निर्विकल्प अवस्था में होता नहीं । शब्द से अनेकत्व का प्रतिभास होता ही है ऐसा दूसरी तरह

भवत्येवेत्यप्ययुक्तमुक्तम्, 'एक ब्रह्मणो रूपम्' इत्यादिशब्दस्य भेदप्रत्ययजनकत्वे सति आगमात्तस्यैकत्वप्रतिपत्तेरभावानुषङ्गात् । भेदप्रतिभासाच्छब्दे(ब्दोऽ)स्तीत्यभ्युपगते च-अन्योन्याश्रयत्वम्—शब्दाद्भेदप्रतिभास, भेदप्रतिभासाच्छब्द इति । 'घटोय पटोयम्' इत्यादिभेदप्रतिभासस्य जात्याद्युल्लेखित्वात्कल्पनात्वे-अभेदज्ञानस्यापि कल्पनात्वानुषङ्ग, तस्यापि सत्तादिसामान्योल्लेखित्वात् । असदर्थविषयत्व च भेदप्रतिभासस्यासिद्धम्, अर्थक्रियाकारिणो वस्तुभूतार्थस्य तत्र प्रतिभासनात् । विसवादित्व बाध्यमानत्व च कल्पनालक्षणमेतेन प्रत्युक्तम्, तस्यासदर्थविषयत्वादर्थान्तरत्वाऽसम्भवात् । अन्यापेक्षतयार्थस्वरूपावधारण चानन्तरमेव प्रत्याख्यातम्, यतो व्यवहार एवान्यापेक्षतया प्रवर्तते न स्वरूपावधारणम् । नापि भेदप्रतिभासस्योपचाररूप कल्पनात्वम्, मुख्यासम्भवे तस्याप्यदर्शनान्माणवके सिहाद्युपचारवत् । न चाभेदवादिनो मुख्य भेदाभ्युपगमोऽस्त्यपसिद्धान्तप्रसङ्गात् ।

से अवधारण करो तो भी अयुक्त है, क्योंकि—“एक ब्रह्मणो रूप” इत्यादि ब्रह्माद्वैत प्रतिपादक जो आपके यहा शब्द हैं वे भी भेद का प्रतिभास उत्पन्न कराते है ऐसा सिद्ध होगा, कारण कि शब्द से भेद होता ही है, ऐसा अवधारण आपने मान लिया है, अत आगमप्रमाण से जो ब्रह्मा के एकत्व का निश्चय होता था वह सिद्ध नहीं हो सकेगा । भेदप्रतिभास से शब्द होता है, ऐसा मानने पर तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, शब्द से भेदप्रतिभास की सिद्धि होगी और भेदप्रतिभाससे शब्द की सिद्धि होगी, इसप्रकार दोनो ही सिद्ध न हो सकेगे । यह घट है, यह पट है इत्यादि भेदो को करने वाले ज्ञानको जात्याद्युल्लेखरूप कल्पना माना जाये तो अभेदज्ञान भी काल्पनिक होगा, क्योंकि वह भी सत्तासामान्यरूप जातिका उल्लेखी है । जो असत् अर्थको विषय करती है वह कल्पना है, ऐसा माना जाये सो भी ठीक नहीं, क्योंकि भेद प्रतिभास असत् वस्तु में होता ही नहीं है, अर्थक्रिया को करनेवाला जो सत्य पदार्थ है, वही भेदज्ञान मे झलकता है, इसीप्रकार विसवादित्व और बाध्यमानत्व कल्पना का लक्षण किया जाय तो उसके—सम्बन्धमें—प्रश्न उत्तर ऊपरके कथन मे ही हो गये हैं, क्योंकि असदर्थ से विसवादित्व और बाध्यमानत्व भिन्न नहीं है एक ही है, “अन्य की अपेक्षा से अर्थस्वरूप का अवधारण करना कल्पना है” इस पक्षका भी खण्डन अभी ही किया जा चुका है, क्योंकि व्यवहार ही अन्य की अपेक्षा रखता है न कि स्वरूपावधारण, वह स्वरूप तो स्वत ही प्रतिभासित होता है । उपचारमात्र को यदि कल्पना कहा जावे सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि भेद का प्रतिभास उपचारमात्र नहीं है, देखो—मुख्य भेदके बिना उपचार भेद भी नहीं बनता है, जैसे कि बालक मे सिंह

यच्चानुमानादप्यात्माद्वैतसिद्धिरित्युक्तम्, तत्र स्वतःप्रतिभासमानत्व हेतुः, परतो वा । स्वतः-
श्रुते; असिद्धिः । परतश्चेत्, विरुद्धोऽद्वैते साध्ये द्वैतप्रसाधनात् । 'घट प्रतिभासते' इत्यादिप्रतिभास-
सामानाधिकरण्य तु विषये विषयिधर्मस्योपचारात्, न पुन प्रतिभासात्मकत्वात् । प्रतिभासन हि
विषयिणो ज्ञानस्य धर्मः स विषये घटादावध्यारोप्यते । तदध्यारोपनिमित्तं च प्रतिभासनक्रियाधिकरण-
त्वम् । तथा च 'अर्थमह वेदि' इत्यन्तः प्रकाशमानानन्तपर्यायाञ्चेतनद्रव्यवद्बहिःप्रकाशमानानन्तपर्या-
याञ्चेतनद्रव्यमपि प्रतिपत्तव्यम् । 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्यागमोपि नाद्वैतप्रसाधकं, अभेदे
प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावस्यैवासम्भवात् । न चागमप्रामाण्यवादिना अर्थवादस्य प्रामाण्यमभिप्रेतमति-

का उपचार मुख्य सिद्धि के बिना नहीं होता है, मतलब-सिद्धि न हो तो उसका उपचार बालक में नहीं होता है; उसी प्रकार मुख्यभेद न हो तो उपचार भेद भी नहीं रहता है । अभेदवादीके यहा मुख्यभेद तो है ही नहीं यदि वह माना जावे तो अद्वैतसिद्धान्त गलत होगा ।

आपने जो अनुमान से अद्वैतवाद की सिद्धि कही थी कि—“यत् प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तः प्रविष्टं प्रतिभासमानत्वात् यथा प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासते च चेतना-
चेतनारूपं वस्तु तस्मात्प्रतिभासान्तः प्रविष्टमिति” जो प्रतिभासित होता है, वह प्रतिभास के अन्दर शामिल है, क्योंकि वह प्रतिभासित हो रहा है जैसा कि प्रतिभास का स्वरूप अशेष चेतन, अचेतन पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, अतः वे प्रतिभास के अन्दर शामिल हैं । सो भी अयुक्त है, इस अनुमान में जो प्रतिभासमानत्व हेतु है वह स्वतः प्रतिभासमानत्व है कि परत प्रतिभासमानत्व है ? स्वतः कहो तो वह हेतु प्रतिवादी की अपेक्षा असिद्ध होगा, क्योंकि वे पदार्थों को स्वतः प्रतिभासमान नहीं मानते हैं, परसे कहो तो विरुद्ध होगा, क्योंकि अद्वैत में साध्य और हेतु ऐसा द्वैत होनेसे वह द्वैत को ही सिद्ध कर देगा, यदि कोई कहे कि घट प्रतिभासित होता है इत्यादि प्रतिभास का सामानाधिकरण्य जो वस्तु के साथ देखा जाता है वह कैसे देखा जाता है ? तो बताते हैं कि विषय में विषयी जो ज्ञान है उसके धर्मका उपचार करके ऐसा कहा जाता है, न कि वहां स्वतः प्रतिभासमानता है इसलिये कहा जाता है, क्योंकि प्रतिभासनज्ञान का धर्म है उसे घटादि विषयमें आरोपित करते हैं, वह आरोप भी इसलिये है कि प्रतिभासन क्रिया के घटादि पदार्थ अधिकरण हैं, तथा— जिस प्रकार “मैं पदार्थको जानता हूँ” इस प्रकार के ज्ञान में जो “मैं” अहं है वह अतः प्रकाशमान अनन्तपर्याययुक्त चेतन द्रव्य है, उसी प्रकार बहिःप्रकाशमान अनन्त

प्रसङ्गात् । आत्मैव हि सकललोकसर्गस्थितिप्रलयहेतुरित्यप्यसम्भाव्यम्, अद्वैतकान्ते कार्यकारणभाव-
विरोधात्, तस्य द्वैताविनाभावित्वात् । निराकृत च नित्यस्य कार्यकारित्वं शब्दाद्वैतविचारप्रक्रमे ।

किमर्थं चासी जगद्वै चित्र्य विदधाति ? न तावद्व्यसनितया, अप्रेक्षाकारित्वप्रसङ्गात्, प्रेक्षा-
कारिप्रवृत्ते प्रयोजनवत्तया व्याप्तत्वात् । कृपया परोपकारार्थं तत् करोतीति चेत्, न, तद्व्यतिरेकेण
परस्याऽसत्त्वात् । सत्त्वे वा-नारकादिदु खितप्राणिविधान न स्यात्, एकान्तसुखितमेवाखिल जगज्ज-
नयेत् । किञ्च, सृष्टे प्रागनुकम्प्यप्राण्यभावात् किमालम्ब्य तस्यानुकम्पा प्रवर्तते येनानुकम्पावशादय
स्रष्टा कल्प्येत ? अनुकम्पावशाच्चास्य प्रवृत्तौ देवमनुष्याणा सदाभ्युदययोगिना प्रलयविधानविरोधः,
दु खितप्राणिनामेव प्रलयविधानानुषङ्गात् । प्राण्यदृष्टापेक्षोऽसौ सुखदुःखसमन्वित जगत् जनयतीत्य-

पर्याययुक्त अचेतन द्रव्य को भी मानना चाहिये । “सर्व खल्विद” इत्यादिरूप आपका
आगम भी अद्वैत सिद्ध नहीं करता है, देखो—अभेदपक्ष मे तो प्रतिपाद्य (शिष्य)
प्रतिपादक (गुरु) यह भेद ही असम्भव है । आगम प्रमाणवादी को आगमके
स्तुतिरूप या प्रशसारूप वचनो को सत्य नहीं मानना चाहिये, अन्यथा अतिप्रसग
आवेगा, (पत्थर पानी मे तैरता है, अन्धा मणि को पिरोता है इत्यादि अतिशयोक्ति-
पूर्ण वचनो को सत्य खानने का अतिप्रसग आता है । ब्रह्मा ही सभी लोगो की—ब्रह्माण्ड
की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कारण है यह मानना भी गलत है, क्योंकि अद्वैत
मे कार्यकारणभाव का विरोध है, वह कार्यकारणभाव तो द्वैत का अविनाभावी है,
अर्थात् एक कारण और एक कार्य इस प्रकार दो पदार्थ तो हो ही जाते है, तथा
नित्य स्वभावी ब्रह्मा कार्य को कर नहीं सकता यह बात शब्दाद्वैत के प्रकरण मे
बता चुके है ।

अच्छा—यह बताओ कि यह ब्रह्मा जगत् को विचित्र—नानारूप क्यो रचता
है ? आदत के कारण वह ऐसा होकर रचता है तो वह अप्रेक्षावान् होगा, क्योंकि
बुद्धिमान तो प्रयोजनवत् ही कार्य मे प्रवृत्ति करते है न कि आदत से लाचार होकर
करते हैं । कृपा के वश हो परोपकार करने के लिये ब्रह्मा जगत् को रचता है यदि
ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्मा को छोड़कर और कोई दूसरा है ही नहीं,
फिर वह किसका उपकार करे ? अच्छा तो ब्रह्मा जगत् रचना करता है तो फिर उसे
नारक आदि दु खी प्राणियो को नहीं बनाना चाहिये था सभी सुखी ही जीव बनाना चाहिये
था, दूसरी बात यह है कि सृष्टि के पहिले अनुकम्प्य-अनुकम्पा योग्य प्राणी ही नहीं था
तो किसकी अपेक्षा लेकर उस ब्रह्मा को अनुकम्पा उत्पन्न हुई ? जिससे कि ब्रह्मा दया

प्यसङ्गतम्, स्वातन्त्र्यव्याघातानुषङ्गात् । समर्थस्वभावस्यासमर्थस्वभावस्य वा नित्यैकरूपस्य वस्तुनो-
ऽन्यापेक्षाऽयोगाच्च । अदृष्टवशाच्च जगद्वैचित्र्यसम्भवे-किमनेनान्तर्गुना पीडाकारिणा ? अदृष्टापेक्षा
चास्यानुपपन्ना, किं त्ववधीरणमेवोपपन्नम्, अन्यथा कृपालुत्वव्याघातप्रसङ्गः । न हि कृपालवः परदुःखं
तद्धेतु वाऽन्विच्छन्ति, परदुःखतत्कारणवियोगवाञ्छयैव प्रवृत्तेः ।

ननु यथोर्णनाभो जालादिविधाने स्वभावतः प्रवर्तते, तथात्मा जगद्विधाने इत्यप्यसत्;
उर्णनाभो हि न स्वभावतः प्रवर्तते । किं तर्हि ? प्राणिभक्षणालाम्पट्यात्प्रतिनियतहेतुसम्भूततया कादा-
चित्कात् । 'मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति निन्दावादोप्यनुपपन्नः; सकलप्राणिना
भेदग्राहकत्वेनैवाखिलप्रमाणाना प्रवृत्तिप्रतीतेः ।

के वश होकर जगत् की रचना करे । मान लिया जावे कि अनुकम्पा से वह जगत्
की रचना करता है, तो देव, मनुष्यादि सुखी प्राणी का नाश क्यों करता है ? दुःखी
प्राणी का ही उसे नाश करना था, कहो कि प्रत्येक प्राणी के भाग्य की अपेक्षा लेकर
सुख और दुःखमय जगत् की वह रचना करता है सो ऐसा कथन भी असंगत है, क्योंकि
ऐसे तो ब्रह्माजी की स्वतन्त्रता का व्याघात हो जावेगा । व्यक्ति समर्थ हो चाहे
असमर्थ हो, जो नित्य एक स्वरूप है वह अन्य की अपेक्षा रखता ही नहीं, यदि रखता
है तो वह नित्य और एक रूप नहीं कहलावेगा । तथा यदि अदृष्ट के वशसे ही जगत्
में विचित्रता आती है तो फिर यह बीच में दुःखदायी शरीर के भीतर के फोड़े के
समान ब्रह्मा को क्यों मानते हो, तथा अदृष्ट की अपेक्षा ब्रह्मा के बन ही नहीं
सकती है, क्योंकि यदि ब्रह्मा को किसी का भला करना है और अदृष्ट उसका ठीक
नहीं है तो वह उसका भला नहीं कर सकता, इस तरह अदृष्टाधीन ब्रह्मा को कहने
पर उसकी अवज्ञा-अपमान करना है, ब्रह्मा यदि स्वतन्त्र होता तो भला करता, स्वतन्त्र
रहकर ही यदि वह दया नहीं करे तो उसमें कृपालुता खतम हो जाती है, क्योंकि
दयावान् व्यक्ति दूसरों के दुःख अथवा दुःख के कारणों को तो चाहते नहीं, उनकी तो
दूसरे के दुःख दूर करने में ही प्रवृत्ति होती है ।

शंका—जैसे मकड़ी स्वभाव से जाल बनाती है वैसे ही ब्रह्मा जगत् की रचना
करने में स्वभावतः प्रवृत्त होता है ?

समाधान—यह कथन गलत है, क्योंकि मकड़ी स्वभावतः जाल नहीं बनाती,
किन्तु प्रतिनियत भूख आदि के कारण वह कभी कभी प्राणी भक्षण की आसक्तिरूप
कारण को लेकर जाल बनाती है ।

यच्चोक्तम्—‘आहुर्विधातृप्रत्यक्षम्’ इत्यादि, तत्र किमिदं प्रत्यक्षस्य विधातृत्व नाम—सत्तामात्रा-
वबोधः, असाधारणवस्तुस्वरूपपरिच्छेदो वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः, नित्यनिरशव्यापिनो विशेषनिर-
पेक्षस्व सत्तामात्रस्य स्वप्नेऽप्रतीतेः खरविषाणवत् । द्वितीयपक्षे तु—कथं नाद्वैतप्रतिपादकागमस्याध्य-
क्षबाधा ? भावभेदग्राहकत्वेनैवास्य प्रवृत्तेः, अन्यथाऽसाधारणवस्तुस्वरूपपरिच्छेदकत्वविरोधः ।

यच्च भेदो देशभेदात्स्यादित्याद्युक्तम्, तदप्यसङ्गतम्, सर्वत्राकारभेदस्यैवार्थभेदकत्वोपपत्तेः ।
यत्रापि देशकालभेदस्तत्रापि तद्रूपतयाऽऽकारभेद एवोपलक्ष्यते । स चाकारभेदः स्वसामग्रीतो जातोऽह-
महमिकया प्रतीयमानेनात्मना प्रतीयते । प्रसाधयिष्यते चात्मा सुखशरीरादिव्यतिरिक्तो जीवसिद्धि-
प्रघट्टके । कथं चाभेदसिद्धिस्तत्प्रतिपत्तावप्यस्य समानत्वात्, तथाहि—अभेदोऽर्थात् देशाभेदात्,

“जो व्यक्ति ब्रह्मा मे नाना भेदो को देखता है वह यम से मृत्यु को प्राप्त करता है” ऐसा जो निन्दा वाक्य कहा है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि समस्त प्राणियों के प्रमाणभूत ज्ञान पदार्थों को भिन्न भिन्न रूप से ही ग्रहण करते हैं यह बात प्रतीति-
सिद्ध है ।

ब्रह्मवादी ने कहा था कि प्रत्यक्ष प्रमाण विधिरूप ही होता है इत्यादि—सो उसमे यह बताइये कि प्रत्यक्ष मे विधातृत्व है क्या ? सत्तामात्र को जानना विधातृत्व है अथवा असाधारण वस्तुस्वरूप को जानना विधातृत्व है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि नित्य, निरश व्यापी और विशेष से रहित ऐसा सत्तामात्र तत्त्व स्वप्न मे भी दिखायी नहीं देता है, जैसे कि गधे के सींग दिखाई नहीं देते । द्वितीय पक्ष मे अद्वैत प्रति-
पादक आगम मे बाधा आवेगी, क्योंकि असाधारण वस्तुस्वरूप का ग्रहण तो वस्तुओं के भेदो को ग्रहण करके ही प्रवृत्त होता है, नहीं तो उसे असाधारण वस्तुस्वरूप का परिच्छेदक ही नहीं मानेगे । पहिले जो अद्वैतवादी ने पूछा था कि “देशभेद से अथवा कालभेद से भेद का ग्रहण होता है इत्यादि” सो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि सभी चेतन अचेतन वस्तुओं में आकारो के भेदो से ही भेद माना गया है । जहा भी देशभेद या कालभेद है, वहा भी उस रूप से आकारभेद ही दिखाई देता है, यह आकारभेद तो अपनी सामग्री के निमित्त से हुआ है, और वह “मैं ऐसा हूं या मेरा यह स्वरूप है” इस प्रकार से प्रतीत होता है, आत्मा शरीर आदि से भिन्न है यह बात हम जीवसिद्धि-
प्रकरण मे सिद्ध करने वाले हैं । तथा—अभेदसिद्धि मे यही ऊपर के प्रश्न समानरूप से ही आते हैं अर्थात्—हम पूछते हैं कि—आप पदार्थ मे अभेद मानते हो सो क्यों ? देश का अभेद होने से या काल का अथवा आकार का अभेद होने से ? देश अभेद से

कालाभेदात्, आकाराभेदाद्वा स्यात् ? यदि देशाभेदात्, तदा देशस्यापि कुतोऽभेदः ? अन्यदेशाभेदा-
च्चेदनवस्था । स्वतश्चेदर्थानामपि स्वत एवाभेदोऽस्तु कि देशाभेदादभेदकल्पनया ? इत्यादिसर्वमत्रापि
योजनीयम् । तस्मात्सामान्यस्य विशेषस्य वा स्वभावतोऽभेदो भेदो वाभ्युपगन्तव्यः ।

यच्चेदमुक्तम्—‘यत् एवाविद्या ब्रह्मणोऽर्थान्तरभूता तत्त्वतो नास्त्यत एवासौ निवर्त्यते’ इत्यादि,
तदप्यसारम्, यतो यद्यवस्तुसत्यविद्या कथमेषा प्रयत्ननिवर्तनीया स्यात् ? न ह्यवस्तुसन्तः शशशृङ्गादयो
यत्ननिवर्तनीयत्वमनुभवन्तो दृष्टाः । न चास्यास्तत्त्वतः सद्भावे निवृत्त्यसम्भवः, घटादीनां सतामेव
निवृत्तिप्रतीतेः । न चाविद्यानिर्मितत्वेन घटाग्रामारामादीनामपि तत्त्वतोऽसत्त्वम्, अन्योऽन्याश्रयानु-
पङ्गात्—अविद्यानिर्मितत्वे हि घटादीनां तत्त्वतोऽसत्त्वम्, तस्माच्चाविद्यानिर्मितत्वमिति । अभेदस्य-

कहो तो वह देश अभेद भी कहा से हुआ ? अन्य देश के अभेद से कहो तो अनवस्था
दोष आता है, स्वतः अभेद कहो तो पदार्थ में भी स्वतः अभेद मानो, देश अभेद से
पदार्थ में अभेद मानने की क्या आवश्यकता है ? इत्यादि सारे हमें दिये गये दूषण
अभेद पक्ष में भी समान हैं, इसलिये सामान्य हो चाहे विशेष—दोनों में भी स्वभाव से
ही अभेद अथवा भेद मानना चाहिये ।

ब्रह्मवादी ने जो कहा था—कि “अविद्या ब्रह्मा से भिन्न कोई वास्तविक पदार्थ
नहीं है, इसलिये वह नष्ट होती है इत्यादि”—सो यह कथन भी असार है, क्योंकि यदि
अविद्या अवस्तुरूप असत् है तो उसे प्रयत्न पूर्वक क्यों हटानी पड़ती है ? अवस्तुरूप
खरगोशशृङ्गा आदि क्या प्रयत्न पूर्वक हटाये जाते हुए देखे गये हैं ? या देखे जाते हैं ?

शंका—अविद्या वास्तविक होगी तो उसे कैसे समाप्त किया जा सकेगा ?

समाधान—यह कथन—ऐसी शंका ठीक नहीं है । देखिये—घटादि सत् होकर
भी समाप्त किये जाते हैं कि नहीं ? वैसे ही अविद्या सत् होवे तो भी हटायी जा
सकती है, आप ऐसा भी नहीं कहना घट, ग्राम, बगीचादि अविद्या से निर्मित हैं ।
अतः असत् है और इसी कारण से उन्हें भी हटा सकते हैं सो ऐसे तो अन्योन्याश्रय दोष
आता है अर्थात् घटादिकों में अविद्या से निर्मितपना सिद्ध हो तब उनमें असत्त्व सिद्ध
हो और असत्त्व सिद्ध हो तब उनमें अविद्या से निर्मितपना सिद्ध हो । “अभेद विद्या-
निर्मित है, अतः वह वास्तविक है” इस पक्ष में भी वही अन्योन्याश्रय दोष आता है,
अर्थात् पहिले विद्या परमार्थभूत है यह बात सिद्ध हो तब अभेद विद्या के द्वारा पैदा
है यह कथन सिद्ध हो और अभेद विद्या निर्मित है यह कथन सिद्ध होने पर विद्या में

विद्यानिर्मितत्वेन परमार्थसत्त्वेऽपि अन्योन्याश्रयो द्रष्टव्यः । न चानाद्यऽविद्योच्छेदे प्रागभावो दृष्टान्तः, वस्तुव्यतिरिक्तस्यानादेस्तुच्छस्वभावस्यास्याऽसिद्धे ।

यदपि—‘तत्त्वज्ञानप्रागभावरूपैवाविद्या’ इत्याद्यभिहितम्, तदप्यभिधानमात्रम्; प्रागभावरूपत्वे तस्या भेदज्ञानलक्षणकार्योत्पादकत्वाभावानुषङ्गात्, प्रागभावस्य कार्योत्पत्तौ सामर्थ्यासम्भवात् । न हि घटप्रागभावः कार्यमुत्पादयन्दृष्टः । केवल घटवत् प्रागभावविनाशमन्तरेण तत्त्वज्ञानलक्षण कार्य-भेद नोत्पद्येत । अथ न भेदज्ञान तस्याः कार्यम्, किं तर्हि ? भेदज्ञानस्वभावैवासी, तत्र, एव सति प्रागभावस्य भवान्तरस्वभावतानुषङ्गात् । न च ज्ञानस्य भेदाभेदग्रहणकृता विद्योत्तरव्यवस्था,

परमार्थता सिद्ध हो, इस तरह अभेद विद्यानिर्मित है यह बात सिद्ध नहीं होती है । अनादि अविद्या का नाश होने में आपने प्रागभाव का दृष्टान्त दिया है सो वह गलत है, क्योंकि वस्तु से भिन्न सर्वथा अनादि तुच्छाभावरूप इस प्रागभाव की असिद्धि है ।

तथा—आपने जो ऐसा कहा है कि “तत्त्वज्ञान का प्रागभाव ही अविद्या है” सो केवल कथन मात्र है, यदि अविद्या को प्रागभावरूप माने तो उससे भेदज्ञान लक्षण कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि प्रागभाव में कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है, प्रागभाव के नाश हुए बिना जैसे घटरूप कार्य नहीं होता वैसे ही अविद्यारूप प्रागभाव का नाश हुए बिना तत्त्वज्ञानरूप कार्य उत्पन्न ही नहीं होता है ।

भावार्थ—जैसे घट का प्रागभाव घटरूप कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है, उसी प्रकार विद्या का प्रागभावरूप अविद्या विद्यारूप कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकती, मतलब—वस्तु का जो प्रागभाव है उसका नाश हुए बिना आगामी कार्य नहीं होता है, जैसे कि घट का प्रागभाव जो स्थास कोश, कुशूल है उनका नाश हुए बिना घट नहीं बन सकता, उसी प्रकार अविद्या का नाश हुए बिना विद्या उत्पन्न नहीं हो सकती, और एक बात यह है कि घटादि वस्तु का जो प्रागभाव है उसका नाश होने मात्र से आगामी घटादि पर्यायरूप कार्य हो ऐसी भी बात नहीं है, अर्थात् घट का प्रागभाव जो कोशकुशूल है उसे यो ही बिगाड कर खतम कर दिया घटाकर नहीं बना ऐसा तो हो सकता है, पर इतना जरूर है कि प्रागभाव के नाश हुए बिना आगामी कार्य नहीं होता है, अतः तत्त्वज्ञान का प्रागभाव अविद्या है ऐसा कहना गलत है ।

आप यदि कहे कि भेदज्ञान अविद्या का कार्य नहीं है, किन्तु भेदज्ञान स्वभावरूप अविद्या है, सो ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि ऐसी मान्यता में आपको

सवादविसवादकृतत्वात्तस्य सत्येतरत्वव्यवस्थायाः । सवादश्च भेदाभेदज्ञानयोर्वस्तुभूतार्थग्राहकत्वात्तुल्य इत्युक्तम् ।

यदप्युक्तम्—‘भिन्नाभिन्नादिविचारस्य च वस्तुविषयत्वात्’ इत्यादि; तत्राविद्यायाः किमवस्तु-
त्वाद्विचारागोचरत्वम्, विचारागोचरत्वाद्वाऽवस्तुत्व स्यात् ? न तावद्यद्यदवस्तु तत्तद्विचारयितुमश-
क्यम्, इतरेतराभावादेरवस्तुत्वेऽपि ‘इदमित्थम्’ इत्यादिशाब्दप्रतिभासलक्षणविचारविषयत्वात् ।
नापि विचारागोचरत्वेनावस्तुत्वम्; इक्षुक्षीरादिमाधुर्यतारतम्यस्य तज्जनितसुखादितारतम्यस्य वा

हमारे समान प्रागभाव को भावान्तर स्वभावरूप मानना पडेगा । तथा ज्ञान में भेद-
ग्रहण और अभेदग्रहण के द्वारा विद्या और अविद्या की व्यवस्था नहीं होती अर्थात्
जो ज्ञानभेद को ग्रहण करे वह अविद्यारूप है और जो ज्ञान अभेद का ग्राहक है वह
विद्यास्वरूप है ऐसा नियम नहीं है; किन्तु सवाद और विसवाद के द्वारा ही ज्ञान में
सत्यता और असत्यता की व्यवस्था बनती है, मतलब—जिस ज्ञान का समर्थक अन्य
ज्ञान है वह सत्य है और जिसमें विसवाद है वह असत्य है, यह सवादकपना भेदज्ञान
और अभेदज्ञान दोनों में भी सभव है, क्योंकि दोनों ज्ञान वास्तविक वस्तु के ग्राहक है ।
जो कहा है कि भिन्न और अभिन्नादि विचार वस्तु में होते हैं, अविद्या अवस्तु है, अतः
उसमें भिन्नादि की शका नहीं करना इत्यादि—सो उस विषय में—हम प्रश्न करते हैं कि
अविद्या अवस्तु होने से विचार के अगोचर है या विचार के अगोचर होने से अविद्या
अवस्तु है ? अविद्या विचार के अगोचर है क्योंकि वह अवस्तु है ऐसा तो कह नहीं
सकते क्योंकि जो जो अवस्तुरूप है वह वह विचार के अगोचर है ऐसा नियम नहीं है,
देखिये—इतरेतराभाव आदि अवस्तुरूप है तो भी “यह इस प्रकार है” इत्यादिरूप से वे
शाब्दिक प्रतिभास रूप विचार के गोचर होते ही हैं, मतलब—इतरेतराभाव का लक्षण
तो होता ही है, जैसे-एक में दूसरी वस्तु का अभाव वह इतरेतराभाव है इत्यादिरूप से
अभाव का विचार किया ही जाता है । विचार के अगोचर होने से अविद्या अवस्तु है
ऐसे दूसरे पक्षवाली बात भी नहीं बनती देखो-गन्ना दूध आदिकी मिठास की तरतमता
अथवा उनके चखने से उत्पन्न हुए सुख की तरतमता ‘यह इतनी ऐसी है’ इस प्रकारसे दूसरे
व्यक्ति को नहीं बताई जा सकती है, तब भी वे हैं तो वस्तुरूप ही, वैसे ही वह अविद्या
विचार के अगोचर होने मात्र से अवस्तुरूप नहीं हो सकती है । तथा—यह जो भिन्ना-
भिन्न का विचार किया जाता है वह प्रमाण है कि अप्रमाण है ? यदि प्रमाण है तो
उस प्रमाणभूत विचार की जो विषय नहीं है ऐसी अविद्या का सत्व कैसे हो सकता है,

‘इदमित्थम्’ इति परस्मै निर्देष्टुमशक्यत्वेऽपि वस्तुरूपत्वप्रसिद्धे । किञ्च, अयं भिन्नाभिन्नादिविचारः प्रमाणम्, अप्रमाणं वा ? यदि प्रमाणम्; तेनाविषयीकृताया कथमविद्याया सत्त्वम् ? तदसत्त्वे च कथं मुमुक्षोस्तदुच्छित्तये प्रयासं फलवान् ? अथाप्रमाणम्, कथं तर्हि तस्य वस्तुविषयत्वम् ? यतो ‘भिन्नाभिन्नादिविचारस्य वस्तुविषयत्वात्’ इत्यभिधानं शोभेत ।

यच्चोक्तम्—‘यथा रजोरजोन्तराणि’ इत्यादि, तदप्यसमीचीनम्; यतो बाध्यबाधकभावाभावे कथं श्रवणमननादिलक्षणाऽविद्याऽविद्या प्रशमयेत् ? बाध्यबाधकभावश्च सतोरेव अहिनकुलवत्, न त्वसतो। शशाश्वविषाणवत् । दैवरक्ता हि किशुका. केन रज्यन्ते नाम । विद्यमानमेव हि रजो रजोन्तरस्य स्वकार्यं कुर्वन्तं सामर्थ्यापनयनद्वारेण बाधकं प्रसिद्धम्, विषद्रव्यं वा उपयुक्तविषद्रव्यसामर्थ्या-

और वह असत् है तो उसका नाश करने के लिये मुमुक्षु जीवों का प्रयत्न सफल कैसे होगा ? यदि भिन्न आदि का विचार अप्रमाण है ऐसा कहो तो स्वतः अप्रमाणभूत विचार वस्तुको विषय करने वाला कैसे हो सकता है, जिससे आपका वह कथन शोभित हो कि भिन्नाभिन्न विचार तो वस्तु विषयक होता है, अविद्या वास्तविक है नहीं, इत्यादि ।

आपने अविद्या से अविद्या का नाश होता है इस बात को समझाने के लिये धूलि आदि का दृष्टान्त दिया है सो असत् है, क्योंकि बाध्यबाधकभाव हुए बिना श्रवणमननादिरूप अविद्या अनादि अविद्या का नाश कैसे करेगी ? अर्थात् श्रवणमननादिरूप अविद्या और अनादि अविद्या इनका आपस में सर्प नीले की तरह बैर है कि जिससे यह उसे खतम करती है, तथा ऐसा बैररूप बाध्य बाधकभाव भी मौजूद वस्तु में ही होता है असत् में नहीं । क्या खरगोश के सींग और घोड़े के सींग में बाध्य बाधकभाव होता है । दैव से रगे किशुकों को कौन रंगाता है अर्थात् कोई नहीं रंगाता है, वैसे ही असत् रूप दोनों अविद्या—एक अनादि की अविद्या और दूसरी तत्त्वश्रवणादिरूप अविद्या के बीच में बाध्य बाधकभाव कौन उपस्थित कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है । विद्यमान रज ही क्लृप्ता कार्य को करती हुई भिन्न रज के सामर्थ्य को दूर करके बाधकरूप से प्रसिद्ध होती है, एक विषय भी दूसरे विषय के सामर्थ्य को खतम करने में उपयोगी है, अन्न आदि के सहस्य कार्य करने में उपयोगी नहीं है ।

किञ्च—भेद का नाश नहीं हो सकता है, क्योंकि अभेद की तरह वह भी वस्तु स्वभाववाला है, अतः उसका नाश करना असम्भव है ।

पनयने चरितार्थत्वाद्ब्रह्ममलादिसदृशतया न कार्यान्तरकरणे तत्प्रभवतीति । न च भेदस्योच्छेदो घटते, वस्तुस्वभावतयाऽभेदवत्तस्योच्छेत्तुमशक्ते ।

भावार्थ— ब्रह्माद्वैतवादी ने सारा विश्व एक ब्रह्मस्वरूप है इस प्रकार के अद्वैत को सिद्ध करते समय सबसे पहिले प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित किया था—कि प्रत्येक व्यक्ति को आंख खोलते ही एक अखण्ड अभेदरूप जो कुछ प्रतीत होता है वह ब्रह्म का स्वरूप है, सभी पदार्थ प्रतिभासित होते हैं और प्रतिभास ही ब्रह्म का लक्षण है, अतः अनुमान से भी ब्रह्मतत्त्व सिद्ध होता है । आगम में तो प्रसिद्ध है ही कि —

“सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।

आराम तस्य पश्यन्ति न त पश्यति कश्चन ॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से ब्रह्माद्वैत को सिद्ध कर तर्क-युक्तियों के द्वारा भी सिद्ध करना चाहा है, इसमें उन्होंने पदार्थों में दिखाई देने वाले प्रत्यक्ष भेदों का—प्रत्यक्ष प्रमाण से पदार्थों में दिखाई देने वाले भेदों का—असत्य अर्थात् प्रतीति से विरुद्ध तरीके से अभाव किया है । ब्रह्मा जगत् रचना को किस कारण से करता है, इस बात को समझाने के लिये—समर्थन करने के लिये—मकड़ी आदि का उदाहरण दिया है, विद्या और अविद्या की भी चर्चा की है जो कि मनोरंजक है, अन्त में अविद्या से ही अविद्या का नाश कैसे होता है इसके लिये रज और विष का उदाहरण देकर ब्रह्माद्वैत सिद्ध किया है, इन सभी प्रमाण और युक्तियों का जैनाचार्य ने अपनी स्याद्वादवाणी से यथास्थान सुयुक्तिक खण्डन किया है । प्रत्यक्षप्रमाण साक्षात् ही यह घट है यह पट है इत्यादि भेदरूप कथन करता है, न कि अभेदरूप । अनुमान से अभेद सिद्ध करना तो दूर रहा किन्तु उसी अनुमान से ही साध्य और हेतुरूप द्वैत-भेद दिखायी देता है, आगम में जहाँ कहीं ब्रह्म के एकत्व का वर्णन है वह मात्र अतिशयोक्ति रूप है, वास्तविक नहीं है, ब्रह्म को तर्क से सिद्ध करना तो नितरा असंभव बताया है । जब पदार्थों में भेद स्वतः ही है अर्थात् प्रत्येक वस्तु स्वतः अन्य वस्तु से अपना पृथक् अस्तित्व रखती है तब उनको हम अभेद रूप कैसे कह सकते हैं—सिद्ध कर सकते हैं । मकड़ी आदि प्राणी स्वभाव से जाल नहीं बनाते हैं, किन्तु आहारसंज्ञा के कारण ही उनकी ऐसी प्रवृत्ति होती है, अतः इस उदाहरण से

ननु स्वप्नावस्थाया भेदाभावेऽपि भेदप्रतिभासो दृष्टस्ततो न पारमार्थिको भेदस्तत्प्रतिभासो वा; इत्यभेदेऽपि समानम् । न खलु तदा विशेषस्यैवाभावो न पुनस्तद्व्यापकसामान्यस्य, अन्यथा कूर्म-रोमादीनामसत्त्वेऽपि तद्व्यापकस्य सामान्यस्य सत्त्वप्रसङ्गः । कथं च स्वप्नावस्थाया भेदस्यासत्त्वम् ? बाध्यमानत्वाच्चेत्, तर्हि जाग्रदवस्थाया तस्याबाध्यमानत्वात् सत्त्वमस्तु । एकत्रास्य बाध्यमानत्वो-पलम्भात्सर्वत्रासत्त्वे च म्थाण्वादी पुरुषप्रत्ययस्य बाध्यमानत्वेनासत्यतोपलम्भात् आत्मन्यप्यसत्यत्व-प्रसङ्गः । ततो जाग्रदवस्थाया स्वप्नावस्थाया वा यत्र बाधकोदयस्तदसत्यम्, यत्र तु तदभावस्तत्सत्यम-भ्युपगन्तव्यम् ।

“ब्रह्मा सृष्टि रचना करता है” यह सिद्ध नहीं होता है, अविद्या को अविद्या तभी नाश कर सकती है जब दोनों सद्भाव रूप हो, किन्तु अद्वैतवादी अनेक वस्तुओं को मान नहीं सकते, अतः विषय या रज का दृष्टान्त देकर अविद्या का अभाव करना सिद्ध नहीं होता है, इस प्रकार ब्रह्मवादी के अखण्ड ब्रह्मतत्त्व के स्याद्वादरूपी वज्र के द्वारा सहस्रशः खण्ड हो जाते हैं ।

शंका—स्वप्न अवस्था में घट पट आदि भिन्न भिन्न वस्तु नहीं रहती है फिर भी भेद दिखाई देता है, इसलिये पदार्थों में भेद और उन भेदों को ग्रहण करने वाला ज्ञान इन दोनों को हम पारमार्थिक नहीं मानते हैं ।

समाधान—इस प्रकार का कथन तो हम अभेद के विषय में भी कर सकते हैं । अर्थात् कहीं स्वप्नावस्था में अभेद दिखाई देता है, अतः अभेद वास्तविक नहीं है, स्वप्नावस्था में विशेष अर्थात्—भेद का ही अभाव है ऐसी तो बात नहीं है, वहाँ तो उस विशेष रूप भेद-व्याप्य का व्यापक जो सामान्य अभेद है उसका भी अभाव है, यदि विशेष के अभाव में सामान्य का अभाव नहीं माना जायगा तो बड़ा भारी दोष आवेगा, देखिये—कछुवे में रोम (केश) का अभाव होने पर भी उसका व्यापक रोमत्व सामान्य वहाँ है ऐसा कहना पड़ेगा, स्वप्न अवस्था में भेद का अभाव है यह कैसे जाना जाता है यह आप अद्वैतवादी को बताना चाहिये—यदि कहो कि स्वप्न का भेद बाधित होता है अतः उसे अभावरूप मानते हैं, तब तो जाग्रत अवस्था में दिखाई देनेवाला भेद अबाधित होने से सत्य मान लीजिये, मात्र स्वप्नावस्था में भेद बाधित होने से सब जगह उसका अभाव करोगे—तो ठीक नहीं होगा । फिर तो क्व-

ननु बाधकेन ज्ञानमपह्लियते, विषयो वा, फल वा ? न तावद् ज्ञानस्यापहारो युक्तः, तस्य प्रतिभातत्वात् । नापि विषयस्य; अत एव । विषयापहारश्च राज्ञा धर्मो न ज्ञानानाम् । फलस्यापि स्नानपांनावगाहनादेः प्रनिभातत्वान्नापहार । बाधकमपि ज्ञानम्, अर्थो वा ? ज्ञान चेत् तत्किं समान-

चित् स्थाणु आदि मे पुरुषज्ञान बाधित होने से असत्य है तो स्वयं अपने में होने वाला पुरुषत्व का ज्ञान असत्य कहलावेगा । इसलिये निष्कर्ष यह निकला कि जाग्रत अवस्था हो चाहे निद्रित अवस्था हो जिसमे बाधा आती है वह ज्ञान या वस्तु असत्यरूप कहलावेगी तथा जिसमे बाधा उपस्थित नहीं होती है वह वस्तु वास्तविक ही होगी ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये ।

भावार्थ—ब्रह्मवादी का कहना है कि स्वप्न में देखे गये पदार्थ के समान ही ये प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले पदार्थ काल्पनिक है किन्तु यह उनका कहना सर्वथा गलत है, निद्रित अवस्था में देखे गये पदार्थ अर्थक्रिया रहित होते हैं, अतः बाधित होने से वे असत्य माने जाते हैं, किन्तु जाग्रत अवस्था में दिखाई देने वाले पदार्थ ऐसे नहीं होते हैं—उनसे अर्थक्रिया भी होती है अर्थात् जाग्रत अवस्था में जल रहता है उससे पिपासा शांत होती है अतः वह जल वास्तविक ही है, इसलिये वस्तुओं को हम अनेक भेद रूप मानते हैं ।

अब आगे कोई परवादी अपना लंबा चौड़ा पक्ष रखता है—कहता है कि जैन ने जो ऐसा कहा है कि जहापर बाधा आती है उसे सत्य नहीं मानना चाहिये और जहा पर बाधा नहीं आती है उसे सत्य ही मानना चाहिये—सो इस पर प्रश्न होता है कि बाधक प्रमाण के द्वारा किस वस्तु को बाधित किया जाता है—ज्ञान को या विषय को या कि फल को ? अर्थात् प्रथम जो वस्तु का प्रतिभास हुआ है उसमें दूसरे ज्ञान से बाधा आई सो उस द्वितीयज्ञान ने प्रथमज्ञान को असत्य ठहराया या उसके द्वारा जाने गये पदार्थ को अथवा उस ज्ञान के फल को ? प्रथमज्ञानको दूसरे बाधकज्ञान ने बाधित किया सो ऐसा कह नहीं सकते क्योंकि वह तो प्रतिभासित हो चुका अब उसमे बाधा देना ही व्यर्थ है । उस प्रथम ज्ञान के विषय को बाधित करना भी शक्य नहीं है क्योंकि वह भी ज्ञान में भ्रूलक ही चुका है । एक बात यह भी है कि विषय अर्थात् पदार्थ में बाधा देना—उस का अपहार करना ये तो काम

विषयम्, भिन्नविषय वा ? तत्र समानविषयस्य सवादकत्वमेव न बाधकत्वम् । न खनु प्राक्तन घट-
ज्ञानमुत्तरेण तद्विषयज्ञानेन बाध्यते । भिन्नविषयस्य बाधकत्वे चातिप्रसङ्गः । अर्थोऽपि प्रतिभातः,
अप्रतिभातो वा बाधक स्यात् । तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः ; प्रतिभातो ह्यर्थं स्वज्ञानस्य सत्यतामेवाव-
स्थापयति, यथा पट पटज्ञानस्य । द्वितीयविकल्पेऽपि 'अप्रतिभातो बाधकश्च' इत्यन्योन्यविरोधः । न हि
खरविषाणमप्रतिभात कस्यचिद्बाधकम् । किञ्च, क्वचित्कदाचित्कस्यचिद्बाध्यबाधकभावाभावाभ्या

राजा का है, ज्ञानो का ऐसा कार्य नहीं है । प्रथमज्ञान का फल भी बाधित नहीं
होगा, वह स्नान, पान, अवगाहन आदि रूप से प्रतिभासित हो चुका है, अच्छा यह
भी सोचना होगा कि बाधक कौन है—ज्ञान है अथवा पदार्थ है ? यदि ज्ञान बाधा देने
वाला है तो वह कौन सा ज्ञान है ? क्या वह पूर्वज्ञान के समान ही विषय वाला ज्ञान
है, अथवा अन्य कोई विषय वाला ज्ञान है ? यदि वह पूर्वज्ञान के समान ही विषय
वाला ज्ञान है तो वह अपने पूर्ववर्ती ज्ञान का समर्थक ही रहेगा बाधक नहीं, देखा
जाता है कि पूर्वज्ञान घट को जानता है तो उत्तरवर्ती ज्ञान उसीको ग्रहण करने से
बाधक नहीं होता है । द्वितीय पक्ष यदि स्वीकार करो कि उत्तर ज्ञान विभिन्न विषय
वाला है तब तो वह प्रथम ज्ञान को बिलकुल बाधित नहीं कर सकेगा, वरना तो अति-
प्रसंग उपस्थित होगा, फिर तो घट विषयक ज्ञान पट विषयक ज्ञान को भी बाधा
देने लगेगा । यदि अर्थ बाधक है तो वह प्रतिभासित है या अप्रतिभासित है ? प्रथम
विकल्प कहो तो वह ठीक नहीं, क्योंकि प्रतीत हुआ पदार्थ तो अपने ज्ञान की सत्यता
को ही बतलावेगा, जैसे पट पटज्ञान की सत्यता को सिद्ध करता है । द्वितीय विकल्प
मानो कि बाधा देनेवाला पदार्थ अप्रतिभासित है तो परस्पर विरुद्ध बात होगी,
अप्रतिभासित है और फिर बाधक है, ऐसा सभव नहीं है । ज्ञान में नहीं भूलका—
प्रतिभासित नहीं हुआ खर विषाण किसी ज्ञान में बाधा देता हुआ नहीं देखा जाता
है । तथा किसी विवक्षित ज्ञान में बाधक प्रमाण नहीं है अतः वह सत्य है और जिस
ज्ञान में बाधा आती है वह असत्य है ऐसा विशिष्ट ज्ञान किसी एक व्यक्ति को किसी
एक समय किसी स्थान पर होता है और उतने मात्र से ज्ञान में सत्य और असत्य
व्यवस्था हो जाती है, अथवा—ऐसा विशिष्ट ज्ञान सभी व्यक्तियों को सर्वत्र सर्वकाल में
होवे तब सत्य असत्य ज्ञान सिद्ध होते हैं ? प्रथम विकल्प को मानेंगे तो सत्य और
असत्य ज्ञानों में सकर हो जावेगा अर्थात् सत्य ज्ञान तो असत्य सिद्ध होगा और असत्य
ज्ञान सत्य बन बैठेगा, देखिये—किसी को मरीचिका में जल मालूम हुआ उसमें

सत्येतरत्वव्यवस्था, सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य वा ? प्रथमपक्षे—सत्येतरत्वव्यवस्थासङ्कर, मरीचिकाचक्रादी जलादिसंवेदनस्यापि क्वचित्कदाचित्कस्यचिद्बाधकस्यानुत्पत्तेः सत्यसंवेदने तूत्पत्तेः प्रतीयमानत्वात् । द्वितीयपक्षे तु—सकलदेशकालपुरुषाणां बाधकानुत्पत्त्युत्पत्त्यो कथमसर्वविदा वेदन तत्प्रतिपत्तुः सर्व-वेदित्वप्रसङ्गात् ?

इत्यप्यनल्पतमो विलसितम्, रजतप्रत्ययस्य शुक्तिकाप्रत्ययेनोत्तरकालभाविनैकविषयतया बाध्यत्वोपलम्भात् । ज्ञानमेव हि विपरीतार्थख्यापकं बाधकमभिधीयते, प्रतिपादितासदर्थख्यापन तु बाध्यम् । ननु चैतद्गतसर्पस्य घृष्टि प्रति यष्ट्यभिहननमिवाभासते, यतो रजतज्ञान चेदुत्पत्तिमात्रेण चरितार्थं किं तस्यास्तीतस्य मिथ्यात्वापादनलक्षणयापि बाधया ? तदसत्, एतदेव हि मिथ्याज्ञान-

कदाचित् किसी जगह बाधा नहीं भी आती है और अन्य व्यक्ति को वास्तविक जल में ही जल की प्रतीति आई तो भी उसमें शका—विवाद पैदा हो जाता है, सभी व्यक्तियों को सर्वत्र बाधा नहीं हो तब ज्ञान में सत्यता होती है ऐसा माने तो सपूर्ण देश कालों में और सभी पुरुषों को अमुक ज्ञान में बाधा है और अमुक में नहीं है ऐसा ज्ञान छद्मस्थ—अल्पज्ञानियों को नहीं हो सकता है, वैसा बोध होवे तो वह सर्वज्ञ ही कहलावेगा ।

जैन—इस प्रकार से तत्त्वों का उपप्लव करने वाला यह कथन अत्यंत अज्ञानमय है । देखो—सीधी सादी प्रतीतिसिद्ध बात है कि सीप में “यह चांदी है” इस प्रकार का ज्ञान उत्तर समयवर्ती एक विषय वाले ज्ञान के द्वारा बाधित होता है, कि यह चांदी नहीं है सीप है, ज्ञान में ही ऐसी सामर्थ्य है कि वह पूर्वज्ञान के विषय को विपरीत सिद्ध कर देता है और इसीलिये उसे बाधक कहते हैं । तथा असत्य वस्तुको ग्रहण करने वाला पूर्वज्ञान ही बाध्य है, यहा और तो कोई वस्तु है नहीं ।

शंका—यह बाध्य बाधक का कथन तो सर्प के चले जाने पर उसकी लकीर को लकड़ी से पीटने के जैसा मालूम पडता है, क्योंकि वह अतीत काल का रजत ज्ञान उत्पन्न होने मात्र का प्रयोजन रखकर समाप्त भी हो चुका है, अब उस अतीत को मिथ्यारूप बताने वाली बाधा क्या करेगी ?

समाधान—यह बात असत्य है, उस बीते हुए मिथ्याज्ञान में बाध्यता यही है कि इस ज्ञान में मिथ्यापन है यह बताना तथा उस ज्ञानके विषय में प्रवृत्ति चही होने देना वह बाधक ज्ञान का फल है । यदि उस पूर्ववर्ती रजतज्ञान को मिथ्या व

स्यातीतस्यापि बाध्यत्वम्—यदस्मिन् मिथ्यात्वापादनम्; क्वचित्पुनः प्रवृत्तिप्रतिषेधोऽपि फलम्, अन्यथा रजतज्ञानस्य बाध्यत्वासम्भवे शुक्तिकादी प्रवृत्तिरविरता प्राप्नोति । कथं चैवं वादिनोऽविद्याविद्ययोर्बाध्यबाधकभावः स्यात् तत्राप्युक्तविकल्पजालस्य समानत्वात् ?

यच्च समारोपितादपि भेदादित्याद्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्; आत्मनः साशत्वे सत्येव भेदव्यवस्थोपपत्तेर्निराशस्यान्तर्बहिर्वा वस्तुनः सर्वथाप्यप्रसिद्धेरित्यात्माह ताभिनिवेश परित्यज्यान्तर्बहिःश्रानेकप्रकार वस्तु वास्तव प्रमाणप्रसिद्धमुररीकर्तव्यम् ।

बताया जावे तो सीप में ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति न रुक सकेगी । अद्वैतवादी इस प्रकार यदि बाध्यबाधकभाव का अभाव करेगे तो फिर आपके यहां विद्या और अविद्या में भी बाध्य बाधक भाव कैसे बनेगा, क्योंकि वहां पर भी हम ऐसे ही प्रश्न करेगे कि अविद्या के द्वारा ज्ञान का अपहार होता है कि विषय का या कि फल का इत्यादि, अतः विपरीत आदि ज्ञान बाधक प्रमाण के द्वारा बाधित होते हैं यह कथन अखण्डित ही है ।

अद्वैतवादी ने जो ऐसा कहा है कि सुख, दुःख, बंध और मोक्ष आदि भेद अद्वैत में भी समारोप भेद से बन जावेंगे इत्यादि—सो यह कथन अयुक्त है, क्योंकि जब तक आत्मा में साशता नहीं मानी जाती है तब तक मात्र कल्पना से भेद व्यवस्था होना सर्वथा अशक्य है । वस्तु चाहे चेतन हो चाहे अचेतन हो वह कोई भी निराश नहीं है, अतः ब्रह्माद्वैतवादी को अपने ब्रह्माद्वैत मनका जो हठाग्रह है उसे छोड़ देना चाहिये और सभी चेतन अचेतन पदार्थों को वे वास्तविक रूप से अनेक प्रकार वाले हैं ऐसी प्रामाणिक बात स्वीकार कर लेना चाहिये ।

* ब्रह्माद्वैतवाद का खंडन समाप्त *

*

ब्रह्माद्वैतके खंडनका सारांश

ब्रह्माद्वैतवादी का कहना है कि एक अविकल्प प्रत्यक्ष प्रमाण सभी को एकत्व रूप से सिद्ध करता है, मतलब—सारा विश्व एकमात्र ब्रह्ममय है और वह आख खोलते ही प्रतीति में आता है, हा पीछे से जो कुछ भेद दिखाई देता है वह तो अविद्या का विलास है, अनुमान से भी एक ब्रह्म सिद्ध होता है, जो प्रतिभासित होता

है वह प्रतिभास के स्वरूप की तरह प्रतिभास के अन्दर शामिल है, सारे जगत के पदार्थ प्रतिभासित तो होते ही हैं, अतः वे प्रतिभास के अन्दर शामिल हैं। प्रतिभास ही तो ब्रह्म है।

आगम में तो 'जगह जगह' पर उस परम ब्रह्म को ही सिद्ध किया गया है, अतः अद्वैत की सर्वत्र सिद्धि है किन्तु जो भेद अर्थात् द्वैत को मानता है उसकी वहाँ खूब निन्दा की गई है, द्वैतवादी पदार्थ को भिन्न भिन्न मानते हैं सो क्या वे उन्हें देश-भेद से भिन्न मानते हैं ? या काल भेद से भिन्न मानते हैं ? या कि आकार भेद से भिन्न मानते हैं ? देश भेद कैसे मालूम पड़े क्योंकि वस्तु अभिन्न है तो उसका देश की अपेक्षा भेद सच्चा नहीं रहेगा, काल भेद को कौन जाने, प्रत्यक्ष तो वर्तमान के पदार्थ को जानता है, वह उसके भेद को कैसे ग्रहण करे। ऐसे ही आकार भेद मानना व्यर्थ है, सच बात तो यह है कि भेद तो है ही नहीं, सिर्फ अविद्या के कारण वह भूठमूठ ही मालूम पड़ता है, यह अनादि अविद्या तत्त्वश्रवण मननादिरूप अविद्या के द्वारा प्रलीन हो जाती है, अविद्या से अविद्या कैसे नष्ट हो ऐसी शका भी गलत है, क्योंकि विष विष का मारक देखा गया है ?

जैन—उपरोक्त ब्रह्मवादी का कथन उन्मत्त की तरह प्रतीत होता है, प्रत्यक्ष से अभेद न दिखकर उल्टे आख खोलते ही नील पीत घट पट आदि अनेक विकल्प भेद द्वैतरूप ज्ञान ही पैदा होता है न कि अभेद। अद्वैतरूप, यदि जबर्दस्ती मान लेवे कि अभेद ग्राहक प्रत्यक्ष है तो भी वह अनेकों के अभेद को जानता है या एक के अभेद को जानता है या सामान्यरूप से अभेद को जानता है ? यदि अनेकों के अभेद को वह ग्रहण करना है तो अनेक तो उसने जान ही लिया, नहीं तो वह उनके अभेद को कैसे ग्रहण करता ? एक व्यक्ति में तो अभेद क्या और भेद क्या कुछ भी नहीं बनता, अद्वैतवादी कहते हैं कि भेद तो कल्पनारूढ है वास्तविक नहीं सो कल्पना का क्या स्वरूप है; इस पर विचार करे—स्मरण के बाद ज्ञान का होना कल्पना है, या शब्दाकारानुविद्धत्व कल्पना है, अथवा असत् अर्थ को विषय करना, जात्याद्युल्लेख-रूप होना, अन्य की अपेक्षा लेकर वस्तु को विषय करना या उपचार मात्र होना कल्पना है ? स्मरण के बाद होने वाला ज्ञान यदि कल्पनारूप माना जावे तो अभेद ज्ञान भी स्मरणानन्तर होने से कल्पना रूप माना जायगा, ज्ञान में शब्दाकारानुविद्धता तो है ही नहीं, इसका स्पष्टीकरण शब्दाद्वैत के प्रकरण में हो चुका है। जात्याद्यु-

ल्लेखीज्ञान को कल्पना कहा जावे तो अभेदज्ञान मे सत्तासामान्यरूप जाति का उल्लेखी होने से कल्पनारूपता का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, असत् अर्थ का ग्राहक ज्ञान कल्पना है तो ऐसी कल्पना भेद ज्ञान में है नहीं, अन्य को अपेक्षा ज्ञान मे है नहीं वह अपेक्षा व्यवहार में होती है, न कि ज्ञान मे । उपचार मात्र कल्पना भी ज्ञान मे तभी बने जब कि कही मुख्य हो तो, जैसे कि सच्चा सिंह है तभी उसका बालक में उपचार करते है, वैसे ही भेद सच्चा हो तो उसका कही उपचार होकर कल्पना होगी ।

इसी प्रकार अद्वैतग्राहक अनुमानादि प्रमाण भी विचार करने पर गलत ठहरते है, क्योंकि अनुमान मे दिया गया प्रतिभासमानत्व हेतु द्वैत को सिद्ध करता है, और कुछ नहीं तो साध्य और साधन हेतु-या प्रतिपाद्य तथा प्रतिपादक द्वैत तो मानना ही होगा, आगम मे जो ब्रह्मा को अद्वैतरूप दिखाया है सो वह एक अतिशयोक्ति या स्तुति है, ऐसे स्तुतिपरक वाक्य को सर्वथा सच मानो तो फिर पत्थर तैरता है, अन्धा माला पिरोता है ऐसे अतिशयपरक वाक्य भी सत्य होंगे, ब्रह्मा जगत रचना काहे को करता है यह तो समझ मे आता ही नहीं है, यदि वह दया से करता तो नारकी आदि दुखी प्राणियों को क्यों बनाता, यदि प्राणी के भाग्य के अनुसार वह बनाता तो स्वतंत्र वह कहा रहा, जगत रचना के पहिले प्राणी ही नहीं थे तो उसे दया किसके ऊपर उत्पन्न हुई, इत्यादि कथन कुछ भी सत्य नहीं जचता, अविद्या भी बड़ी विचित्र बला है, वह ब्रह्मा से पृथक् है तो द्वैत होता है और अपृथक् है तो वह कैसे नष्ट होगी, इसलिये विश्व को ब्रह्मरूप न मान कर वास्तविक चेतन अचेतनादि अनेक रूप मानना चाहिये ।

* समाप्त *

विज्ञानाद्वैतवाद-पूर्वपक्ष

बौद्ध के चार भेदों में से एक योगाचार नामका जो बौद्ध है वह बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार नहीं करता है, वह विज्ञप्तिमात्र तत्त्व मानता है, इसी-लिये इसे विज्ञानाद्वैतवादी भी कहा जाता है, उसी के मत का यहां पूर्वपक्ष उपस्थित किया जा रहा है—

दृश्य न विद्यते बाह्य चित्त चित्रं तु दृश्यते ।
देहभोग प्रतिष्ठान चित्तमात्रं वदाम्यहम् ॥

—लकावतार सूत्र ३/३२

ये बाह्य में दिखाई देने वाले पदार्थ वास्तविक नहीं हैं, मात्र काल्पनिक हैं, सिर्फ चित्त अर्थात् ज्ञान ही अनुभव में आता है, जो स्वयं अनेक रूपता को धारण किये हुए है, वही देह और भोगों का आधार है, अर्थात् ज्ञान ही सब कुछ है, इसलिये मैं ज्ञानमात्र तत्त्व का कथन करता हूँ । यद्यपि बाह्य में पदार्थों की सत्ता नहीं है तो भी अनादि से चली आई अविद्या की वासना के कारण विज्ञान का बाह्यपदार्थरूप से प्रतिभास होता है, जैसे बाह्य आकाश में दो चन्द्र नहीं होते हुए भी तिमिर रोगी को दो चन्द्र दिखाई देते हैं, उसी प्रकार बाह्य पदार्थ की प्रतीति अविद्या के कारण होती है, अतः वह भ्रान्त असत्य है, ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य और ग्राहक अर्थात् ग्रहण करने वाला ये दोनों ही बुद्धि या ज्ञान रूप ही हैं । कहा भी है—

चित्तमात्र न दृश्योऽस्ति द्विधा चित्तं हि दृश्यते ।

ग्राह्य-ग्राहकभावेन शाश्वतोच्छेदवर्जितम् ॥

—लकावतार सूत्र ३/६३

ज्ञान मात्र ही तत्त्व है, अन्य कोई दृश्यमान पदार्थ नहीं है, ज्ञान ही दो भेदों में प्रतिभासित होने लग जाता है, ग्राह्य और ग्राहक ज्ञान ही है, वही शाश्वत, उच्छेद से रहित है, यद्यपि वह ज्ञान या बुद्धि एक या अविभागी है, फिर भी विपरीत दृष्टि वालों को अर्थात् अल्पबुद्धिवाले ससारी प्राणियों को अनेक ग्राह्य-घट पट-गृह आदि रूप

तथा ग्राहक-ग्रहण करने वाले पुरुष या बुद्धि रूप भेद दिखायी देता है। जैसा कि कहा है—

“अविभागो ऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसवित्तिभेदानिव दृश्यते ॥”

—प्रमाणवार्तिक ३/३५४

भाग रहित एक ज्ञानमात्र ही वस्तु है, किन्तु विपर्यासबुद्धिवालो को अनेक अंश-भागरूप जगत् प्रतीत होने लगता है— यह ग्राह्य है यह ग्राहक है इत्यादि भेद प्रतिभासित होते हैं, इससे सिद्ध होता है कि यह दृश्यमान जगत् मात्र काल्पनिक है, क्योंकि जब ग्राह्य जो ग्रहण करने योग्य पदार्थ है वह ही नहीं है—ज्ञान ही स्वयं ग्राह्य हुआ करता है—तो उसके सिवाय अन्य की बात रहती ही कही है, ज्ञान के द्वारा कोई जानने योग्य या अनुभव करने योग्य पदार्थ ही नहीं है। यही बात हमारे प्रमाण-वार्तिक नामक ग्रन्थ में ३।३५४ पर लिखा है।

“नान्यो ऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपर ।

ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥ ३५४ ॥”

बुद्धि-ज्ञान-के द्वारा अनुभव करने योग्य कोई पदार्थ नहीं है तथा उस बुद्धि को जानने वाला भी कोई अन्य नहीं है, इस प्रकार ग्राह्य-ग्राहक भाव का अभाव होने से मात्र एक बुद्धि ही स्वयं प्रकाशित हो रही है। जब हमारे भाई सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थ को प्रत्यक्ष होना नहीं मानते तब उन पदार्थों की सत्ता ही काहे को मानना, जब बाह्य-पदार्थों के विषय में विचार करते हैं तब प्रतिभास तो अनुभव में आता है, किन्तु पदार्थ तो उससे सिद्ध नहीं हो पाते हैं, अतः एक ज्ञान ही सब कुछ है। वास्तव में देखा जाय तो ज्ञानमें ये प्रतीत होनेवाले नील पीत अथवा घट पट आदि आकार हैं, वे सब के सब असत्य हैं, हा, हमारे सगे भाई जो चित्राद्वैतवादी हैं उन्होंने तो ज्ञान के इन नील आदि आकारों को सत्य माना है, किन्तु—बाह्य पदार्थों को तो हम लोग मानते ही नहीं हैं। ग्राह्य ग्राहक का अभाव होने से घट पट आदि बहिरंग पदार्थ तथा ग्राहक-ज्ञाता पुरुष आदि पदार्थों का अभाव ही सिद्ध होता है और अन्त में एक ज्ञानमात्र तत्त्व अबाधितपने से सिद्ध होता है।

बौद्ध का चौथा भेद माध्यमिक है, यह शून्यवादी है, यह अपना मन्तव्य इस प्रकार से प्रकट करता है—

जब हमारे तीनों भाईयों ने—वैभाषिक, सौत्रान्तिक और योगाचार ने—क्रमशः पदार्थों को क्षणिक माना है और आगे उन्हें प्रत्यक्षगम्य अनुमानगम्य कहते हुए योगाचार ने उन दृश्य पदार्थों की सत्ता ही नहीं मानी, तब हमें तो लगता है कि ज्ञान भी पदार्थ नहीं है, जब जानने योग्य वस्तु नहीं है तो जाननेवाले ज्ञानकी भी क्या आवश्यकता है, यही बात हमारे प्रमुख आचार्य नागार्जुन ने कही है ।

“न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।

चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व माध्यमिका विदुः” ॥ १ ॥

जो भी कुछ ज्ञान या घटपटादिरूप तत्त्व है वह सत् नहीं है, असत् नहीं है, उभयरूप नहीं है और न अनुभयरूप ही है, वह तो सर्वथा चारों ही विकल्पों से अतीत है, इससे सर्वशून्यरूप वाद ही प्रतीत होता है ।

“अपरप्रत्यय शान्तं प्रपचैरप्रपचितम् ।

निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ॥ १८ ॥

तत्त्व अपर प्रत्यय है—एक के द्वारा दूसरे को उसका उपदेश नहीं दे सकते हैं, शान्त है—निःस्वभाव है, शब्दके प्रपच से रहित है, निर्विकल्प है—चित्त इसे जान नहीं सकता है, तथा यह नाना अर्थों से रहित है ।

“अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् ।

अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥ १ ॥

परमार्थतत्त्व अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, अनागम और अनिर्गम है । इस प्रकार इन अतिरोध आदि पदों से निश्चित होता है कि तत्त्व के विषयमें कुछ भी नहीं कह सकने से—वह है ही या नहीं है—ऐसा नहीं कह सकने के कारण शून्यवाद सिद्ध होता है ।

* पूर्वपक्ष समाप्त *

विज्ञानाद्वैतवादः

ननु चाविभागबुद्धिस्वरूपव्यतिरेकेणार्थस्याप्रतीतितोऽसत्त्वाद्विज्ञप्तिमात्रमेव तत्त्वमभ्युपगन्तव्यं तद्ग्राहकं च ज्ञानं प्रमाणमिति; तन्न, यतोऽविभागस्वरूपावेदकप्रमाणसद्भावतो विज्ञप्तिमात्रं तत्त्वमभ्युपगम्यते, बहिरर्थसद्भावबाधकप्रमाणावष्टम्भेन वा ? यद्याद्यः पक्षस्तत्रापि तथाभूतविज्ञप्तिमात्रं ग्राहकं (मात्रग्राहकं) प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा ? प्रमाणान्तरस्य सौगतैरनभ्युपगमात् । तत्र न तावत्प्रत्यक्षं बहिरर्थसस्पर्शरहितं विज्ञप्तिमात्रमेवेत्यधिगन्तुं समर्थम्; अर्थाभावनिश्रयमन्तरेण विज्ञप्तिमात्रमेवेत्यवधारणानुपपत्तेः ।

विज्ञानाद्वैतवादी— ऊपर जो जैन ने अद्वैत का निरसन कर अनेक प्रकारके पदार्थों को सिद्ध किया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि विभाग रहित एक मात्र बुद्धि अर्थात् ज्ञान को छोड़कर अन्य वस्तु की प्रतीति नहीं होती है, अतः उन अन्य वस्तुओं का अभाव ही है, आप जैन को तो एक विज्ञानमात्र तत्त्व है और उसे ग्रहण करने वाला ज्ञान ही प्रमाणभूत है ऐसा मानना चाहिये ।

जैन—यह आपका कथन हमें मान्य नहीं है, क्योंकि आप लोग जो ज्ञानमात्र तत्त्व को मानते हो सो उस अविभागरूप तत्त्व को ग्रहण करनेवाले प्रमाण का सद्भाव है इसलिये मानते हो या बाह्य अनेक प्रकारकी वस्तुओं को बाधा देनेवाला प्रमाण है इसलिये उस ज्ञानाद्वैत को मानते हो ? विज्ञानमात्र एक तत्त्व को जानने वाला प्रमाण है इसलिए विज्ञानमात्र एक तत्त्व मानते हैं सो इस प्रथम पक्ष में प्रश्न है कि विज्ञानाद्वैत को सिद्ध करनेवाला वह प्रमाण कौनसा है ? प्रत्यक्ष प्रमाण है अथवा अनुमान प्रमाण है ? इन दोनों को छोड़कर अन्य प्रमाणों को आप बौद्धोंने माना नहीं है, प्रत्यक्षप्रमाण बाह्य पदार्थोंसे सर्वथा रहित ऐसा एक विज्ञानमात्र ही तत्त्व है ऐसा जानने के लिये तो समर्थ है नहीं, क्योंकि जब तक पदार्थों

“अयमेवेति यो ह्येष भावे भवति निर्णय ।
नेष वस्त्वन्तराभावसवित्यनुगमादृते ॥”

[मी० श्लो० अभावपरि० श्लो० २०]

इत्यभिधानात् । न चार्थाभावः प्रत्यक्षाधिगम्यः, बाह्यार्थप्रकाशकत्वेनैवास्योत्पत्ते । न च प्रत्यक्षे प्रतिभासमानस्याप्यर्थस्याभावो विज्ञप्तिमात्रस्याप्यभावानुषङ्गात् । न च तैमिरिकप्रतिभासे प्रतिभासमानेन्दुद्वयत्रन्निर्मलमनोऽक्षप्रभवप्रतिभासविषयस्याप्यसत्त्वमित्यभिधातव्यम्; यतस्तैमिरिक-प्रतिभासविषयस्यार्थस्य बाध्यमानप्रत्ययविषयत्वादसत्त्व युक्तम्, न पुनः सत्यप्रतिभासविषयस्याऽबाध्य-

का अभाव सिद्ध नहीं होता है तब तक विज्ञानाद्वैत ही एक तत्व है ऐसा निश्चय नहीं हो सकता है । अन्यत्र भी लिखा है—

“विज्ञानमात्र ही तत्व है” इस प्रकार का जो निर्णय होता है वह अन्य बाह्य वस्तुओं के अभाव का ज्ञान हुए विना नहीं हो सकता है ॥ १ ॥ इत्यादि, सो इससे यही मतलब निकलता है कि बाह्य वस्तुतत्त्व का अभाव जाने विना आप विज्ञानाद्वैतवादी का विज्ञानमात्र तत्त्व सिद्ध नहीं हो सकता ।

विज्ञानाद्वैतवादी बाह्यपदार्थों का जो अभाव करते हैं वह किस प्रमाण के द्वारा करते हैं ? प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा बाह्यपदार्थों का अभाव कर नहीं सकते, क्योंकि वह तो बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ ही उत्पन्न होता है, प्रत्यक्षज्ञान में बाह्यपदार्थ प्रतीत होते हैं तो उनका अभाव कर नहीं सकते हो, अन्यथा आपके विज्ञानमात्र तत्त्व का भी अभाव हो जायेगा, अर्थात्—प्रत्यक्ष में पदार्थ झलकते हैं तो भी उनको नहीं मानते हो तो आपके प्रत्यक्ष में झलकने वाला विज्ञानमात्र तत्त्व भी अमान्य हो जावेगा, यदि कहा जावे कि नेत्र रोगीको नेत्रज्ञान में एक ही चन्द्रमा में दो चन्द्र का ज्ञान होता है, किन्तु दो चन्द्र तो रहते नहीं, उसी प्रकार नेत्रादि इन्द्रिया और मन इस सभी सामग्रियों के ठीक रहते हुए भी जो ज्ञान होता है उसके विषय भूत पदार्थ भी अभाव रूप रहते हैं सो ऐसा कहना भी शक्य नहीं है, देखिये—नेत्र रोगी को जो दो चन्द्र का प्रतिभास होता है वह तो बाधित है अर्थात् दो चन्द्र है नहीं, अतः द्विचन्द्रज्ञान असत्य कहलाता है, किन्तु, जिसका प्रतिभास सत्य है, जिसमें किसी प्रमाण से बाधा नहीं है वह पदार्थ तो सद्भाव रूप ही है बाध्य क्या है और बाधक क्या है इस बात का निर्णय तो अभी ब्रह्माद्वैत के प्रकरणमें कर ही आये है अर्थात् विपरीत पूर्वज्ञान को असत्य बतानेवाला उत्तरज्ञान तो बाधक भाव है और उस

मानप्रत्ययविषयत्वेन सत्त्वसम्भवात् । बाध्यबाधकभावश्चान्तरमेव ब्रह्माद्वैतप्रघट्टके प्रपञ्चितः । तत्रार्थाभावोऽव्यक्षैणाधिगम्यः ।

नाप्यनुमानेन, अव्यक्षविरोधेऽनुमानस्याप्रामाण्यात् । “प्रत्यक्षनिराकृते न पक्ष” [] इत्यभिधानात् । न च बाह्याथविदकाध्यक्षस्य भ्रान्तत्वान्न तेनानुमानबाधेत्यभिघातव्यम्, अन्योऽन्याश्रयात्—सिद्धे ह्यर्थाभावे तद्ब्रह्माध्यक्ष भ्रान्त सिद्धयेत्, तत्सिद्धौ चार्थाभावानुमानस्य तेनाऽबाधेति । किञ्च, तदनुमानं कार्यलिङ्गप्रभवम्, स्वभावहेतुसमुत्थं वा, अनुपलब्धिप्रसूतं वा ? न तावत्प्रथमद्वितीयविकल्पी, कार्यस्वभावहेत्वोर्विधिसाधकत्वाभ्युपगमात् । “अत्र द्वौ वस्तुसाधनी” [न्यायवि० पृ० ३६]

पूर्वज्ञान का जो विषय है वह बाध्यभाव है, इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा पदार्थों का अभाव जाना नहीं जाता है । अनुमान प्रमाण के द्वारा भी पदार्थों का अभाव सिद्ध करना ठीक नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण के विरोधी विषय में अनुमान प्रवृत्त होगा तो वह अनुमानाभास कहलावेगा, सर्वसम्मत और विशेष करके आपके लिये सम्मत यह बात है कि प्रत्यक्ष से जिसका निराकरण होवे वह पक्ष या साध्य नहीं बन सकता है । भावार्थ—‘स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृत पक्ष’ बौद्ध के न्यायविन्दु ग्रन्थमें लिखा है कि जो स्वरूप से स्वयं इष्ट हो, प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित न हो वही अनुमान के द्वारा सिद्ध किया जाता है, उसीको पक्ष बनाते हैं, प्रत्यक्ष के द्वारा बाधित नहीं होने पर भी अपने को सिद्ध करना इष्ट हो वही साध्य होता है, प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रतीति और स्ववचन इनके द्वारा जिनका निराकरण न हो सके वही पक्ष है, इस प्रकार का पक्ष के विषय में कथन है, अतः यहाँ पर प्रत्यक्ष बाधित जो विज्ञानाद्वैत है उसे यदि अनुमानके द्वारा सिद्ध करोगे तो वह अनुमान सत्य नहीं कहलावेगा ।

विज्ञानवादी—बाह्य पदार्थों की सत्ता सिद्ध करने वाला प्रत्यक्षज्ञान सत्य नहीं है, अतः उसके द्वारा अद्वैतसिद्ध करने वाला अनुमान बाधित नहीं होता है ।

जैन—यह कथन गलत है, क्योंकि इस तरह से तो अन्योन्याश्रय दोष आयेगा, देखिये—पहिले बाह्य वस्तुओं का अभाव सिद्ध हो तब बाह्यार्थग्राही प्रत्यक्ष में असत्यता सिद्ध होगी, और उस प्रत्यक्ष में असत्यता सिद्ध होने पर बाह्य पदार्थों का अभाव सिद्ध करने वाले अनुमान की सिद्धि होगी, इस प्रकार दोनों ही सिद्ध न हो । दूसरी बात यह है कि बाह्यपदार्थोंका अभाव सिद्ध करने वाले अनुमानमें हेतु अनसा रहेगा—कार्य हेतु या स्वभाव हेतु अथवा अनुपलब्धि हेतु, इनमें जो कार्य हेतु

इत्यभिधानात् । तृतीयत्रिकल्पोप्ययुक्तः, अनुपलब्धेरसिद्धत्वाद्बाह्यार्थस्याध्यक्षादिनोपलम्भात् । किञ्च, अदृश्यानुपलब्धिस्तदभावसाधिका स्यात्, दृश्यानुपलब्धिर्वा ? प्रथमपक्षेऽतिप्रसङ्गः । द्वितीयपक्षे तु सर्वत्र सर्वदा सर्वथार्थाभावाऽप्रसिद्धिः, प्रतिनियतदेशादावेवास्यास्तदभावसाधकत्वसम्भवात् ।

एतेन बहिरर्थसद्भावबाधकप्रमाणावष्टम्भेन विज्ञप्तिमात्र तत्त्वमभ्युपगम्यत इत्येतन्निरस्तम्; तत्सद्भावबाधकप्रमाणस्योक्तप्रकारेणासम्भवात् ।

वाला एवं स्वभाव हेतु वाला अनुमान होता है, वह आपने विधिसाधक (सद्भाव को सिद्ध करने वाला) होता है, ऐसा माना है, न्यायबिन्दु ग्रन्थ के पृष्ठ ३६ पर लिखा है कि “अत्र द्वौ वस्तु साधनौ” बौद्धाभिमत तीन हेतुओं में से दो हेतु—कार्य हेतु और स्वभाव हेतु विधि—अस्तित्व को सिद्ध करते हैं, और तीसरा अनुपलब्धि हेतु निषेध—नास्तित्व—अभाव—को सिद्ध करता है, इसलिये कार्य और स्वभाव दोनों हेतु यहाँ बाह्य-पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं कर सकने से अनुमान में अनुपयोगी ठहरते हैं । तीसरा अनुपलब्धि हेतुवाला अनुमान भी अयुक्त है, क्योंकि उनकी अनुपलब्धि ही असिद्ध है, अर्थात् बाह्यपदार्थ प्रत्यक्षप्रमाण से उपलब्ध हो रहे हैं, यह भी देखना चाहिये कि अनुपलब्धि किस जाति की है अर्थात् अनुपलब्धि दो प्रकार की होती है, एक अदृश्यानुपलब्धि और दूसरी दृश्यानुपलब्धि, इनमें से कौन सी अनुपलब्धि बाह्यपदार्थों के अभाव को सिद्ध करती है—यदि अदृश्यानुपलब्धि बाह्यपदार्थों का अभाव सिद्ध करे—तो अति प्रसंग दोष आता है—अर्थात् अदृश्य—जो दिखने योग्य नहीं है उनका अभाव है, ऐसा माना जाये तो परमाणु पिशाच आदि बहुत से पदार्थ मौजूद तो हैं, पर वे उपलब्ध नहीं होते—दिखाई नहीं देते हैं तो क्यों इतने मात्र से उनका अभाव माना जा सकता है—अर्थात् नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार अनुपलब्धि हेतु से—अनुपलब्धिजन्य अनुमान से—पदार्थों का अभाव होना तो मान नहीं सकते—अर्थात् अनुपलब्धि हेतुजन्य अनुमान बाह्यपदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं कर सकता है, दृश्यानुपलब्धि हेतुजन्य जो अनुमान है उससे यदि बाह्यवस्तुओं का अभाव सिद्ध करना चाहो अर्थात् “न सन्ति बाह्यपदार्थाः दृश्यत्वे सति अप्यनुपलम्भात्” बाह्यपदार्थ नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे दिखने योग्य होने पर भी उपलब्ध नहीं हो रहे हैं (हेतु) सो इस अनुमान के द्वारा सभी जगह सर्वदा सर्व प्रकार से पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं होगा, किन्तु किसी जगह किसी समय ही उनका अभाव सिद्ध होगा, विज्ञानाद्वैतवादी ने कहा था कि बाह्यपदार्थों का अस्तित्व बाधक प्रमाण से खण्डित होता है अतः विज्ञानमात्र एक तत्त्व हमारे द्वारा स्वीकार

ननु नार्थाभावद्वारेण विज्ञप्तिमात्र साध्यते, अपितु अर्थसविदोः सहोपलम्भनियमादभेदो द्विचन्द्रदर्शनवदिति विधिद्वारेणैव साध्यते, तदप्यसारम्; अभेदपक्षस्य प्रत्यक्षेण बाधनाच्छब्दे श्राव-
(ब्देऽश्राव)णत्ववत् । दृष्टान्तोपि साध्यविकलः, विज्ञानव्यतिरिक्तवाह्यार्थमन्तरेण द्विचन्द्रदर्शनस्याप्य-
सम्भवात् । कारणदोषवशात् खलु बहि स्थितमेकमपीन्दु द्विरूपतया प्रतिपद्यमान ज्ञानमुत्पद्यते,

किया गया है सो ऐसा यह उसका कथन उपर्युक्त प्रकार से निरस्त हो जाता है, क्योंकि बाह्यपदार्थों के सद्भाव में बाधा देने वाले कोई भी प्रत्यक्षादिक प्रमाण अभी तक सिद्ध नहीं हुए हैं—अर्थात् बाह्यपदार्थ ज्ञानरूप हैं। इस बात की सिद्धि प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से नहीं होती है ।

विज्ञानाद्वैत०—हम बाह्य अर्थों का अभाव होने से विज्ञानमात्र तत्त्व-को सिद्ध नहीं करते हैं, किन्तु पदार्थ और ज्ञान एक साथ उपलब्ध होते हुए दिखाई देते हैं, अतः उन दोनों में अभेद सिद्ध करते हैं, जैसे—दो चन्द्रों की प्रतीति करने वाले दर्शन में दो चन्द्रों में अभेद रहता है ।

भावार्थ—सवेदन जिससे अभिन्न रहता है वह सवेदन रूप ही होता है, जैसे नील का प्रतिभास नील से अभिन्न रहता है, अथवा नेत्ररोगी के ज्ञान में दूसरा चन्द्रमा अभिन्न रहता है, ज्ञान और पदार्थों में अभेदपना सिद्ध करनेवाला—अभिन्नता का साधनेवाला—विधिसाधक अनुमान इस प्रकार है—कि नीलआकार और उसे जाननेवाला ज्ञान इन दोनों में अभिन्नता है, क्योंकि ये एक साथ उपलब्ध होते हैं, इस प्रकार के अनुमान से विज्ञानतत्त्व की सिद्धि हम करते हैं ।

जैन—यह अद्वैतवादी का कथन असार है, क्योंकि अभेदपक्ष में प्रत्यक्ष बाधा आती है, जैसे कि शब्दपक्ष में अश्रावणत्व हेतु बाधित है—अर्थात् “शब्द अनित्य है क्योंकि वह कर्णेन्द्रियग्राह्य नहीं है” इस अनुमान में शब्दरूप पक्ष में दिया गया अश्रावणत्व हेतु कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने से प्रत्यक्ष बाधित होता है । तथा—अद्वैत साधक अनुमान में आपने जो दो चन्द्रदर्शन का दृष्टान्त दिया है वह भी साध्यविकल है—साध्यधर्म—जो विज्ञानमात्रतत्त्व है उससे रहित है, क्योंकि बाह्यपदार्थों के बिना दो चन्द्र का दर्शन भी नहीं हो सकता है, दो चन्द्र का देखना सदोष नेत्र के होने से होता है, जिससे कि बाह्य में (आकाश में) एक ही चन्द्रमा के होते हुए भी दो रूप से उसे जानने वाला—देखने वाला ज्ञान पैदा होता है, आगे जब बाधा देनेवाला ज्ञान उपस्थित होता है तब उस ज्ञान की भ्रान्तता निश्चित हो जाती है, ऐसी बात

कारणदोषज्ञानाद्बाधकप्रत्ययाच्चास्य भ्रान्तता । अर्थक्रियाकारिस्तम्भाद्युपलब्धौ तु तदभावात्सत्यता । सहोपलम्भनियमश्चासिद्धः; नीलाद्यर्थोपलम्भमन्तरेणाप्युपरतेन्द्रियव्यापारेण सुखादिसवेदनोपलम्भात् । अनैकान्तिकश्चायम्; रूपालोकयोर्भिन्नयोरपि सहोपलम्भनियमसम्भवात् । तथा सर्वज्ञज्ञानस्य तज्ज्ञेयस्य चैतरञ्जनचित्तस्य सहोपलम्भनियमेऽपि भेदाभ्युपगमादनेकान्तः । ननु सर्वज्ञः सन्तानान्तरं वा नेष्यते तत्कथमयं दोषः ? इत्यसत्, सकललोकसाक्षिकस्य सन्तानान्तरस्यानभ्युपगममात्रेणाऽभावाऽसिद्धेः । सुगतश्च सर्वज्ञो यदि परमार्थतो नेष्यते तर्हि किमर्थं “प्रमाणभूताय” [प्रमाणसमु०

बाह्यपदार्थों की सत्ता बताने वाले ज्ञानों में नहीं है, क्योंकि इन ज्ञानों में झलके हुए पदार्थों में—घट, स्तम्भ, पट आदि में अर्थक्रिया होती है, अतः इनमें सत्यता है, बाह्यपदार्थ के अभाव को सिद्ध करने के लिये आपने जो सहोपलम्भ हेतु दिया है—अर्थात् पदार्थ और ज्ञान साथ ही उपलब्ध होते हैं, इसलिये एक ज्ञान ही है, बाह्यपदार्थ नहीं है ऐसा कहा है सो यह कथन आपका असिद्ध है, क्योंकि नीला आदि बाह्यपदार्थों का ज्ञान जिस समय नहीं है और बाह्य में इन्द्रिय व्यापार को जिसने रोक लिया है ऐसे पुरुष के ज्ञान में सुखादि का सवेदन होता ही है—अर्थात् वहाँ बाह्यपदार्थ तो नहीं है, किन्तु मात्र सुख का सवेदन—ज्ञान मात्र ही है । सहोपलम्भ हेतु में असिद्धदोष के समान अनैकान्तिक दोष भी है, देखो—रूप और प्रकाश साथ २ उपलब्ध होते हैं, किन्तु वे एक तो नहीं हैं, इसलिये जो साथ २ होवे वे एक ही होते हैं ऐसा एकान्त नहीं बनता । बौद्ध ने सर्वज्ञ का ज्ञान और उस ज्ञानके विषय जो अन्य पुरुषों के चित्त है इन दोनों का एक साथ होना स्वीकार किया है, फिर भी उनमें भेद माना है, अतः सहोपलम्भ हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त है ।

बौद्ध—हम सर्वज्ञ को नहीं मानते हैं और न अन्य पुरुष के चित्त को ही मानते हैं, फिर तो दोष नहीं आवेगा ।

जैन—यह कथन असत्य है, क्योंकि सपूर्ण लोकों में प्रतीतिसिद्ध पाये जाने वाले जो चित्त हैं उनका अभाव आपके कहने मात्र से नहीं हो सकता है, यदि आप सुगत को परमार्थभूत सर्वज्ञ नहीं मानते हैं तो ग्रन्थों में उसका समर्थन क्यों किया जाता है कि “प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिते” इस प्रकार से दिग्नाग आदि विद्वानों ने उस सुगत की स्तुति भी अपने अद्वैतवादके समर्थक ग्रन्थों में की है, सो वह सब व्यर्थ हो जावेगी, क्योंकि सुगत तो सर्वज्ञ नहीं है । पदार्थों का यदि अस्तित्व नहीं होता तो उनके सत्त्व की कल्पना बुद्धि में नहीं आ सकती थी ।

श्लो० १] इत्यादिनासी समर्थितः, स्तुतश्चाद्वैतादिप्रकरणानामादी दिग्नागादिभिः सद्भिः । न खलु तेषामसति सत्त्वकल्पने बुद्धिः प्रवर्तते । विचार्य पुनस्त्यागाददोष इत्यप्यसारम्; त्यागाङ्गत्वे हि तस्य वर पूर्वमेव नाङ्गीकरणमीश्वरादिवत् । अद्वैतमेव तथा स्तूयते इत्यपि वार्त्तम्, तत्र स्तोतव्यस्तोतृ-स्तुतितत्फलानामत्यन्तासम्भवात् ।

किञ्च, सहोपलम्भः किं युगपदुपलम्भ, क्रमेणोपलम्भाभावो वा स्यात्, एकोपलम्भो वा ? प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतुः, 'सहशिष्येणागतः' इत्यादी योगपदार्थस्य सहशब्दस्य भेदे सत्येवोपलम्भात् ।

शंका—सुगत या बाह्यपदार्थों का प्रथम विचार करते हैं और फिर उन्हें असत् जानकर छोड़ देते हैं, इसलिये कोई दोष की बात नहीं है ।

समाधान—यह बात गलत है, क्योंकि यदि इन वस्तुओं को छोड़ना ही है तो प्रथम ही उनका ग्रहण नहीं करना ही श्रेयस्कर होता, जैसे ईश्वरादिक को आपने पहिले से ही नहीं माना है ।

शंका—हम लोग अद्वैत को ही सुगत आदि नाम देकर स्तुत्य मानते हैं और स्तुति करते हैं ।

समाधान—यह कैसी विचित्र बात है । एक विज्ञानमात्र तत्वमे स्तुति करने योग्य सुगत, स्तुति करने वाले दिग्नाग आदि ग्रन्थकर्त्ता स्तुतिरूप वाक्य और उसका फल इत्यादि भेद किस प्रकार सभव हो सकता है अर्थात् इन भेदों का अभेदवाद में सर्वथा अभाव-अत्यत अभाव ही है ।

किञ्च—अद्वैत को सिद्ध करने के लिये दिया गया जो सहोपलम्भ हेतु है उसका अब विचार किया जाता है—सहोपलम्भ शब्द का अर्थ क्या है—क्या युगपदुपलब्ध होना, या क्रम से उपलब्धि का अभाव होना, अथवा एक का उपलब्ध होना सहोपलम्भ है ? प्रथम पक्ष के स्वीकार करने पर हेतु विरुद्ध होगा, क्योंकि विपरीत-भेद के साथ हेतु रह जाता है, जैसे—वह शिष्य के साथ आया—इत्यादि वाक्यों में सह शब्द का अर्थ युगपत् है और वह भेद का ही द्योतक है, न कि अभेद का, तथा अभेद में एक साथपना बनेगा भी कैसे, एक गुरु के आने पर "एक साथ आ गये" ऐसा तो कहा नहीं जाता है, इसलिये सहोपलम्भ का अर्थ युगपत् प्राप्त होना बनता नहीं । दूसरा पक्ष स्वीकार करो तो हेतु असिद्धदोष युक्त होगा, अर्थात् क्रम से उपलब्धि का अभाव

न ह्येकस्मिन् यौगपद्यमुपपद्यते । द्वितीयपक्षेप्यसिद्धो हेतु ; क्रमेणोपलम्भाभावमात्रस्य वादिप्रतिवादि-
नोरसिद्धत्वात् ।

किञ्च, अस्मादभेदः—एकत्व साध्येत, भेदाभावो वा ? तत्राद्यविकल्पोऽसङ्गतः; भावाऽभाव-
योस्तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धाभावतो गम्यगमकभावायोगात् । प्रसिद्धे हि धूमपावकयोः कार्य-
कारणभावे—शिशपात्ववृक्षत्वयोश्च तादात्म्ये प्रतिबन्धे गम्यगमकभावो दृष्टः । द्वितीयविकल्पेपि—अभाव-
स्वभावत्वात्साध्यसाधनयोः सम्बन्धाऽभाव, तादात्म्यतदुत्पत्त्योरर्थस्वभावप्रतिनियमात् । अनिष्ट-

होना सहोपलभ है ऐसा हेतु का अर्थ करते हो तो ठीक नहीं है और न'वादी प्रतिवादी
जो तुम बौद्ध और हम जैन है उन्होने ऐसा तुच्छाभाव माना ही है, दोनों ने ही
प्रसज्य प्रतिषेधवाला तुच्छाभाव न मानकर पर्युदास प्रतिषेधरूप अभाव माना है ॥
अच्छा—आप अद्वैतवादी यह बताने का कष्ट करे कि अद्वैत को सिद्ध करने वाले अनु-
मान से पदार्थ और ज्ञान में एकत्वसिद्ध किया जाता है कि भेद का अभाव
सिद्ध किया जाता है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि भाव और अभाव
अर्थात् साध्य तो सद्भावरूप है और हेतु अभावरूप है, भाव और अभाव
में आपके यहां पर तादात्म्यसम्बन्ध या तदुत्पत्तिसम्बन्ध नहीं माना है, अतः इन
भाव और अभाव में साध्य साधनपना बनाना शक्य नहीं है, जब कही पर धूम और
अग्नि में कार्यकारणभाव तथा वृक्ष और शिशपा में तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध होता है,
तब उनमें गम्यगमक—साध्य साधनभाव देखा जाता है, अर्थात् धूम को देखकर अग्नि
का और शिशपा को देखकर वृक्ष का ज्ञान होता है, किन्तु यहा भाव अभाव में सम्बन्ध
न होने से वह बनता नहीं । भेद के अभाव को साध्य बनाते है ऐसा दूसरा विकल्प
मानो अर्थात् “बाह्यपदार्थों का अभाव है क्योंकि वे क्रम से उपलब्ध नहीं होते है” इस
प्रकार से अनुमान का प्रयोग किया जाय तो गलत होगा, क्योंकि साध्य साधन दोनों भी
अभाव स्वभाववाले हो जाते है । और अभावो में सम्बन्ध होता नहीं, सम्बन्धमात्र
चाहे तादात्म्य हो चाहे तदुत्पत्ति हो दोनों ही पदार्थों के स्वभाव है न कि अभावो के
स्वभाव है, आप बौद्ध यदि ऐसे साध्य साधन को अभावरूप मानेगे तो अनिष्ट सिद्धि
हो जायगी मतलब—आपको तुच्छाभाव मानना पड़ेगा जो कि आपके मत में इष्ट
नहीं है, इस क्रम से उपलब्धि नहीं होने रूप हेतु से आपका साध्य सिद्ध भी हो जाय
तो भी कोई सार नहीं निकलेगा, उस हेतु से आपके विज्ञानमात्रतत्त्व की सिद्धि होगी
नहीं, क्योंकि वह हेतु तो भेद का निषेधमात्र करता है, संपूर्ण भेदो का निषेध न

सिद्धिश्च; सिद्धेऽपि भेदप्रतिषेधे विज्ञप्तिमात्रस्येष्टस्यातोऽप्रसिद्धे, भेदप्रतिषेधमात्रेऽस्य चरितार्थत्वात् । ततस्तत्सिद्धौ वा ग्राह्यग्राहकभावादिप्रसङ्गो बहिरर्थसिद्धेरपि प्रसाधकोऽनुपपद्यते ।

अथैकोपलम्भ सहोपलम्भः । ननु किमेकत्वेनोपलम्भ एकोपलम्भ स्यात्, एकेनैव वोपलम्भः, एकलोलीभावेन चोपलम्भः, एकस्यैवोपलम्भो वा ? प्रथमपक्षे—साध्यसमो हेतुर्यथाऽनित्य शब्दोऽनित्यत्वादिति । बहिरन्तर्मुखाकारतया च नीलतद्वियोर्भेदस्य सुप्रतीतत्वात् कथं तयोरेकत्वेनोपलम्भः सिद्धयेत् ? एकेनैवोपलम्भोऽप्यन्यवेदनाऽभावे सिद्धे सिद्धयेत् । न चासौ सिद्धः, नीलाद्यर्थस्य तत्समानक्षणीरन्यवेदनैरुपलम्भप्रतीतेरित्येकेनैवोपलम्भोऽसिद्धः । एतेनैकलोलीभावेनोपलम्भ सहोपलम्भश्चिन्नज्ञानाकारवदणक्यविवेचनत्व साधनमसिद्ध प्रतिपत्तव्यम्, नीलतद्वियोरशक्यविवेचनत्वासिद्धेः अन्तर्वहिर्देशतया विवेकेनानयो प्रतीतेः ।

होकर सिर्फ भेद का निषेध सिद्ध भी हो जाय तो उतने मात्र से अन्य जो ग्राह्य-ग्राहक आदि भेद हैं वे तो अबाधित रहेंगे । तथा—वाह्यपदार्थ भी सिद्ध हो जायेंगे । क्योंकि हेतु मात्र भेदसामान्य का निषेधक है, न कि ग्राह्य ग्राहक, व्याप्य व्यापक आदि विशेषो का निषेधक है, अतः उसी क्रम से उपलम्भ के अभावरूप हेतु से ग्राह्य ग्राहक आदिरूप द्वैत सिद्ध हो सकता है ॥ यदि सहोपलम्भ शब्द का तृतीय अर्थ एकोपलम्भरूप किया जाय तो वह एकोपलम्भ क्या है ?—एकपने से उपलम्भ होना एकोपलम्भ है, या एक से ही उपलम्भ होना एकोपलम्भ है, अथवा एकलोलीभाव से उपलम्भ होना, या एक का ही उपलम्भ होना एकोपलम्भ है । प्रथम पक्ष—जो एकपने से उपलम्भ होना वह एकोपलम्भ है ऐसा है, सो ऐसा स्वीकार करने में हेतु साध्य-समदोषयुक्त हो जावेगा, जैसे कि शब्द अनित्य है क्योंकि उसमें अनित्यपना है । इस अनुमानमें साध्य भी अनित्य है और हेतु भी अनित्य है, सो ऐसा होने से हेतु साध्य के समान हो गया—अर्थात् असिद्ध हो गया,—वैसे ही पदार्थ और ज्ञान को एक सिद्ध करने के लिए एकत्व ही हेतु दिया, अतः वह एकत्वहेतु साध्यसम हुआ, नीलादिक पदार्थ बाहर से झलकते हैं और नीलका ज्ञान अन्तः प्रकाशमान है, इस तरह का जब दोनों में भेद बिलकुल ही प्रतीत हो रहा है तब उन दोनों में एकपना कैसे मान सकते हैं या कैसे माना जा सकता है, अर्थात् नहीं माना जा सकता है । एक से ही उपलम्भ होना वह एकोपलम्भ है ऐसा दूसरा अर्थ भी सही नहीं है, क्योंकि अन्य वस्तु का ज्ञान न हो तब एक से ही उपलम्भ होना सिद्ध हो सकता है, किन्तु वह तो सिद्ध नहीं है । नीलादि पदार्थ एक से ही उपलब्ध नहीं होते हैं, वे तो अनेक पुरुषों द्वारा

‘अर्थैकस्यैवोपलम्भः, किं ज्ञानस्य, अर्थस्य वा ? ज्ञानस्यैव चेत्, असिद्धो हेतुः । न खलु पर प्रति ज्ञानस्यैवोपलब्धिः सिद्धा, अर्थस्याप्युपलब्धेः । न चार्थस्याभावादनुपलब्धिः; इतरेतराश्रयानु-
षङ्गात्-सिद्धे ह्यर्थाभावे ज्ञानस्यैवोपलम्भः सिद्धचेत्, तदुपलम्भसिद्धौ चार्थाभावसिद्धिरिति । अथा-
र्थस्यैवैकस्योपलम्भः; नन्वेवकथमर्थाभावसिद्धिः ? ज्ञानस्यैवाभावमिद्धिप्रसङ्गात् । उपलम्भनिबन्धन-
त्वाद्वस्तुव्यवस्थायाः । स्वरूपकारणभेदाच्चानयोर्भेदः; ग्राहकस्वरूप हि विज्ञान-नीलादिक-तु ग्राह्य-
स्वरूपम् । अभेदे च तयोर्ग्राहकता ग्राह्यता वाऽविशेषेण स्यात् । कारणभेदस्तु सुप्रसिद्ध, ज्ञानस्य
चक्षुरादिकारणप्रभवत्वात्तद्विपरीतत्वाच्च नीलाद्यर्थस्येति ।

अनेक ज्ञानों से उपलब्ध होते रहते हैं, अर्थात् नीलादिक वस्तु जिस समय एक व्यक्ति के ज्ञान से जानी जा रही है उसी समय उसी वस्तु को अन्य २ पुरुष अपने २ ज्ञानों द्वारा जान रहे होते हैं, अतः “एक ज्ञान से ही उपलब्ध होते हैं” ऐसा यह हेतु असिद्ध हो जाता है, एकोपलम्भ के समान ही एकलोलीभावोपलम्भ भी खण्डित हो जाता है, अर्थात् चित्रज्ञान के आकारों का जिस प्रकार से एकलोलीभाव होने से उन आकारों का पृथक् पृथक् विवेचन कर नहीं सकते, उसी प्रकार एकलोलीभावोपलम्भ-रूप सहोपलम्भ होने से ज्ञान और पदार्थ में अभेद है ऐसा सिद्ध करना भी अशक्य है, नीलादि पदार्थ और ज्ञान इन दोनों का विवेचन-पृथक्करण अशक्य नहीं है, बिलकुल शक्य बात है, देखो—नील पदार्थ बाहर में सामने दिखायी दे रहा है और उसको जानने वाला ज्ञान तो अन्तः-अन्दर में अनुभव में आ रहा है ॥ अब एकोपलम्भ शब्द का जो चतुर्थ प्रकार से अर्थ किया है उस पर विचार किया जाता है— एक का ही उपलम्भ होना एकोपलम्भ है ऐसा सहोपलम्भ हेतु का अर्थ किया जाता है तो बताओ कि एक का ही किसका ? क्या एक—अकेले ज्ञान का ही अथवा एक पदार्थ का ही उपलम्भ एकोपलम्भ है ? एक ज्ञान का ही यदि उपलम्भ माना जाय तो हेतु असिद्ध बन जायगा, क्योंकि हम परवादी जैन को अकेले ज्ञान की ही उपलब्धि होती है ऐसी बात मान्य नहीं है क्योंकि पदार्थों की भी उपलब्धि होती है, यदि कहा जावे कि पदार्थों का अभाव होनेसे एक ज्ञान मात्र की ही उपलब्धि होना सिद्ध होती है सो ऐसा कहने से—मानने से अन्योन्याश्रय दोष आता है, क्योंकि अर्थों का जब अभाव सिद्ध हो जाय तो एक ज्ञान मात्र का उपलम्भ सिद्ध हो और उसके सिद्ध होने पर अर्थों के अभाव की सिद्धि हो, यदि द्वितीय विकल्प कि—एक अर्थ की ही उपलब्धि एकोपलब्धि है ऐसा मानो तो फिर अर्थ का अभाव सिद्ध न हो कर

यच्चोच्यते—‘यदभा(यदवभा) सते तज्जान यथा मुखादि, अवभासते च नीलादिकम्’ इति, तत्र किं स्वतोऽवभासमानत्व हेतुः, परतो वा, अभा(अवभा)समानत्वमात्र वा ? तत्राद्यपक्षे हेतु रसिद्धः । न खलु ‘परनिरपेक्षा नीलादयोऽवभासन्ते’ इति परस्य प्रसिद्धम् । ‘नीलादिकमह वैधि’ इत्यहमहमिकया प्रतीयमानेन प्रत्ययेन नीलादिभ्यो भिन्नेन तत्प्रतिभासाभ्युपगमात् । यदि च परनिरपेक्षावभासानीलादयः परस्य प्रसिद्धा स्युस्तर्हि किमतो हेतोस्त प्रति साध्यम् ? जानतेति चेत्, सा यदि प्रकाशतातर्हि हेतुसिद्धी सिद्धव न साध्या । असिद्धी वा तस्याः—कथं नासिद्धो हेतुः ? को हि नाम स्वप्रतिभास तत्रेच्छन् ज्ञानता नेच्छेत् ।

सभी को अनिष्ट ऐसे ज्ञानाभाव का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि उपलब्धि के अनुसार ही वस्तु व्यवस्था हुआ करती है, और भी देखो—वस्तु और ज्ञानमे किस प्रकार भिन्नता है—ज्ञान का स्वरूप भिन्न है और पदार्थों का स्वरूप भिन्न है, ज्ञान का कारण भिन्न है तथा पदार्थों का कारण भिन्न है, पदार्थ ग्राह्यस्वरूप होते हैं और ज्ञान ग्राहक माने जाते हैं, यदि इनमे अभेद माना जावे तो दोनों—ज्ञान और पदार्थ एक दूसरे के ग्राह्य और ग्राहक बन जावेगे । क्योंकि दोनों का स्वरूप एक मान रहे हो, ज्ञान और पदार्थ मे कारण भेद भी सुप्रसिद्ध है, ज्ञान अपने इन्द्रिय आदिरूप कारणो से उत्पन्न होता है और पदार्थ इससे विपरीत अन्य अन्य (सिद्धी आदि) कारणो से पैदा होते है ।

अद्वैतवादी ने जो अनुमान प्रयोग किया है कि जो प्रतिभासित होता है वह ज्ञान है (पक्ष साध्य), क्योंकि वह प्रतिभासमान है (हेतु), जैसे मुख दुखादि (दृष्टान्त), नीलादि पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, अतः वे सब ज्ञानस्वरूप ही हैं, सो इस अनुमान प्रयोग मे हेतु अवभासमानत्व है सो इसका आप क्या अर्थ करते हो, स्वतः अवभासमानत्व कि पर से अवभासमानत्व अथवा अवभासमानसामान्य ? यदि स्वतः अवभासमानत्व कहा जाय तो वह हेतु हम परवादियो के लिये असिद्ध है, क्योंकि देखो—ज्ञानके बिना अकेले नीलादि पदार्थ अपने आप प्रतिभासित नहीं होते है, “मैं नीलादिक को जानता हूँ” इस प्रकार के अह प्रत्यय से प्रतीत नीलादिक से भिन्न एक प्रतिभास है उससे नीलादिक प्रतीत होते है, न कि अपने आप, पर से निरपेक्ष अपने आप से प्रतिभासित होने वाले पदार्थ है ऐसा हम जैन ने स्वीकार किया होता तो आप बौद्ध किसलिये इस सहोपलम्भ हेतु को उपस्थित करते और उस हेतु से सिद्ध करने योग्य साध्य भी क्या रहता अर्थात् कुछ भी नहीं ।

ननु चाहम्प्रत्ययो गृहीतः, अगृहीतो वा, निर्व्यापार, सव्यापारो वा, निराकारः साकारो वा, (भिन्नकाल., समकालो वा) नीलादेर्ग्राहकः स्यात् ? गृहीतश्चेत्—किं स्वतः परतो वा ? स्वतश्चेत्, स्वरूपमात्रप्रकाशनिमग्नत्वाद्बहिरर्थप्रकाशकत्वाभाव एव स्यात् । परतश्चेदनवस्था; तस्यापि ज्ञानान्तरेण ग्रहणात् । न च पूर्वज्ञानाग्रहणेप्यर्थस्यैव ज्ञानान्तरेण ग्रहणमित्यभिधातव्यम्, तस्यासन्नत्वेन जनकत्वेन च ग्राह्यलक्षणप्राप्तत्वात् । तदाह—

शंका—नीलादि में ज्ञानपना सिद्ध करना ही यहा साध्य माना है ।

समाधान—अच्छा तो ज्ञानपना किसरूप है सो बताइये, यदि प्रकाशता को ज्ञानता कहते हौ तो वह साध्य के सिद्ध होने पर सिद्ध ही हो जायगी फिर उसे साध्य क्यों बनाते हो, यदि वह असिद्ध है तो हेतु असिद्ध क्यों नहीं हुआ, अर्थात् हुआ ही, भला ऐसा कौन व्यक्ति है जो अपना प्रतिभास बाह्यवस्तु में माने और उसमें ज्ञानता का प्रतिभास न माने । मतलब—ज्ञान के प्रतीत होने पर ज्ञानता भी प्रतीत होगी; उसे पृथक् रूप से सिद्ध करने की जरूरत नहीं ।

अब बौद्ध अह प्रत्यय का नाम सुनकर उसका दूर तक—विस्तृतरूप से खण्डन करते हैं—

बौद्ध—जैन द्वारा माना गया जो अह प्रत्यय नीलादिक का ग्राहक होता है सो वह कैसा होकर उनका ग्राहक-जानने वाला-होता है ? क्या वह गृहीत हुआ उनका ग्राहक होता है ? या अगृहीत हुआ उनका ग्राहक होता है ? या व्यापाररहित हुआ ? या व्यापार सहित हुआ ? या निराकार हुआ ? या साकार हुआ उनका ग्राहक होता है ? या भिन्नकालवाला हुआ या समकालवाला हुआ उनका ग्राहक होता है ? अर्थात् इनमें से किस प्रकार का अह प्रत्यय नील आदि को जानता है ? यदि कहा जाय कि नीलादिका वह गृहीत होकर ग्राहक होता है तो यह बताओ कि वह किससे गृहीत है—अपने आपसे या परसे ? यदि वह स्वतः गृहीत है तो वह अपने ही स्वरूप के प्रकाशित करने में मग्न रहेगा, बाह्य पदार्थों का प्रकाशन उससे वही बन सकेगा, यदि कहा जाय कि अह प्रत्यय परसे गृहीत होकर नीलादि पदार्थों को जानता है तो इस पक्षमें अनवस्था खड़ी हो जावेगी, क्योंकि अह प्रत्यय का ग्राहक जो परज्ञान होगा वह भी परसे गृहीत होकर ही उस अह प्रत्यय का ग्राहक होगा इसी तरह द्वितीय परज्ञानका जो तृतीय परज्ञान ग्राहक होगा वह भी चतुर्थ परज्ञान से गृहीत हुआ होकर ही उसका

“तां ग्राह्यलक्षणप्राप्तमासन्ना जनिका धियम् ।

अगृहीत्वोत्तर ज्ञानं गृह्णीयादपरं कथम् ॥” [प्रमाणवा० ३।५१३]

अगृहीतश्चेद्ग्राहकोऽतिप्रसङ्गः । न च निर्व्यापारो बोधोऽर्थग्राहकः, अर्थस्यापि बोधः प्रतिग्राहकत्वानुषङ्गात् । व्यापारवत्त्वे चातोऽव्यतिरिक्तो व्यापारः, व्यतिरिक्तो वा ? आद्यविकल्पे-बोधस्वरूपमात्रमेव नापरो व्यापारः कश्चित् । न चानयोरभेदो युक्तः, धर्मधर्मितायां भेदप्रतीतेः । द्वितीय-

ग्राहकः होगा । इस तरह से परापर ज्ञान सतान चली जाने से विश्रान्ति के अभाव में मूल को क्षति पहुँचाने वाली अनवस्था उपस्थित हो ही जायगी, यदि ऐसा कहा जाय कि पूर्वज्ञानको-अह प्रत्ययको-ग्रहण किये विना ही ज्ञानान्तर-द्वितीयज्ञान अर्थमात्र को, नीलादिको-ग्रहण कर लेता है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि वह पूर्ववर्तीज्ञान उत्तरवर्ती ज्ञान के निकट है तथा उत्तरज्ञान उससे पैदा भी हुआ है, इसलिये वह अवश्य ही ग्राह्य है, कहा भी है-निकटवर्ती, ग्राह्यलक्षण युक्त उस पूर्ववर्ती ज्ञानको विना ग्रहण किये उत्तरकालीन ज्ञान किस प्रकार अन्यपदार्थ-नीलादिक-को ग्रहण करेगा- अर्थात् नहीं ग्रहण कर सकता, इस प्रकार प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ में लिखा है, अह प्रत्यय यदि अगृहीत है ऐसा माना जाय तो वह पदार्थों का ग्राहक नहीं होगा, क्योंकि ऐसा मानने से अतिप्रसंग आवेगा-फिर तो देवदत्त का ज्ञान जिनदत्त के द्वारा अज्ञात रहकर उसके अर्थ को ग्रहण करने वाला हो जावेगा । यदि ऐसा कहा जाय कि अह प्रत्यय व्यापार रहित होकर नीलादि का ग्राहक होता है सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जो ज्ञान निर्व्यापार अर्थात् निष्क्रिय होता है वह पदार्थ का ग्राहक नहीं हो सकता, अन्यथा पदार्थ भी ज्ञान का ग्राहक बन जायगा, यदि अह प्रत्ययको व्यापार सहित मान भी लो, तो वह व्यापार उस अह प्रत्यय से पृथक् है कि अपृथक् है ? यदि वह अपृथक् है तो वह बोधस्वरूप ही-अह प्रत्ययरूप ही रहा व्यापाररूप कुछ नहीं रहा, परन्तु इन अह प्रत्यय और व्यापार में अभेद मानना युक्त नहीं है, क्योंकि अह प्रत्यय धर्म और व्यापार धर्मरूप होने से इनमें भेद प्रतीत होता है-भेद दिखाई देता है । अतः अह प्रत्यय से व्यापार पृथक् है ऐसा पक्ष लिया जावे तो भेद में सम्बन्ध न बनने के कारण उस व्यापार से अह प्रत्यय का कुछ उपकार या कार्य बन नहीं सकेगा, व्यापार से उसका उपकार होना माना जाय तो अनवस्था दोष आवेगा क्योंकि उपकार के लिये-उपकार करने के लिये-उस व्यापार को अपर व्यापार की और उसके लिये अन्य व्यापार की आवश्यकता होती ही रहेगी, यदि अह प्रत्यय को निराकार

विकल्पे तु सम्बन्धासिद्धि ; ततस्तस्योपकाराभावात् । उपकारे वानवस्था तन्निर्वर्तने व्यापारस्यापर-
व्यापारपरिकल्पनात् । निराकारत्वे वा बोधस्य; अतः प्रतिकर्मव्यवस्था न स्यात् । साकारत्वे वा
बाह्यार्थपरिकल्पनानर्थक्य नीलाधाकारेण बोधेनैव पर्याप्तत्वात् । तदुक्तम्—

“धियो(योऽ)लादिरूपत्वे बाह्योऽर्थं किन्निबन्धनः ।

धियोऽ(यो)नीलादिरूपत्वे बाह्योऽर्थं किन्निबन्धनः ॥ १ ॥”

[प्रमाणवा० ३।४३१]

तथा न भिन्नकालोऽसौ तद्ग्राहक , बोधेन स्वकालेऽविद्यमानार्थस्य ग्रहणे निखिलस्य

माना जावेगा तो उस अह प्रत्ययरूप ज्ञान से—विषय-व्यवस्था नहीं बनेगी, फिर घट
ज्ञान घट को ही जानता है और पट ज्ञान पट को ही ग्रहण करता है ऐसा विषयके
प्रति प्रतिनियम नहीं रहेगा । चाहे जो ज्ञान चाहे जिस वस्तु को जानने लगेगा । यदि
अहं प्रत्यय को साकार माना जावे तब तो बाह्यपदार्थों की कल्पना करना ही बेकार
है क्योंकि ज्ञान ही नील आदि आकार रूप परिणत हो जावेगा और उसी से सब
काम भी हो जायगा । प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ में लिखा है कि—

यदि बुद्धि में नील पीत आदि आकार नहीं है तो बाह्यपदार्थों का क्या
प्रयोजन है—उन्हें किसलिये मानना, और यदि बुद्धि स्वयं नील पीत आदि आकार
वाली है तो बाह्यपदार्थ होकर करेगे ही क्या ? अर्थात् फिर उनसे कुछ प्रयोजन ही
नहीं रहता है ।

अब अन्तिम विकल्प पर विचार करते हैं—कि वह अह प्रत्यय भिन्न काल
वाला है या समकाल वाला है ? भिन्न काल में रहकर यदि वह पदार्थोंको ग्रहण करता
है—जानता है—तो सभी पुरुष—सभी प्राणिमात्र—सर्वज्ञ बन जावेगे अर्थात् बोध अपने
समय में अविद्यमान पदार्थों का ग्राहक माना जायगा तो भूत और वर्तमान कालवर्ती
पदार्थ जो कि बोधकाल में नहीं है उनका भी वह ग्राहक—जानने वाला हो जाने से
प्राणिमात्र में सर्वज्ञता आजाने का प्रसंग आजाता है, अतः भिन्न काल वाला होकर
वह अह प्रत्ययरूप बोध नीलादि पदार्थों का ग्राहक नहीं बनता है । यदि वह पदार्थों
के समकालीन होकर उनका ग्राहक होता है ऐसा कहा जावे तो यह विकल्प भी नहीं
बनता है, क्योंकि समकाल में होने वाले ज्ञान और ज्ञेयो में उनसे उत्पन्न होना
आदि रूप किसी भी प्रकार का नियम न होने से ग्राह्य ग्राहक भाव होना असम्भव

प्राणिमानस्यशेषज्ञत्वप्रसङ्गात् । नापि-समकालः; समसमयभाविनोर्ज्ञानज्ञेययोः प्रतिबन्धाभावतो
 ग्राह्यग्राहकभावसम्भवात् । अन्यथाऽर्थोपि ज्ञानस्य ग्राहकः । अथार्थे ग्राह्यताप्रतीतेः स च ग्राह्यः न
 ज्ञानम्, न; तद्व्यतिरेकेणास्याः प्रतीत्यभावात् । स्वरूपस्य च ग्राह्यत्वे-ज्ञानेपि तदस्तीति तत्रापि
 ग्राह्यता भवेत् । अथ जडत्वान्नाथो, ज्ञानग्राहक, ननु कुतोऽस्य जडत्वसिद्धिः ? तदग्राहकत्वा-
 च्चेदन्योन्याश्रय-सिद्धे हि जडत्वे तदग्राहकत्वसिद्धिः, ततश्च जडत्वसिद्धिरिति । अथ गृहीतिकर-
 णादर्थस्य ज्ञान ग्राहकम्, ननु साऽर्थादर्थान्तरम्, अनर्थान्तर वा तेन क्रियते ? अर्थान्तरत्वे अर्थस्य न

है, 'यदि' समान समयवर्ती ज्ञान पदार्थ का ग्राहक है ऐसा माना जाय तो ज्ञान ही
 पदार्थ का ग्राहक क्यों, पदार्थ भी ज्ञान का ग्राहक हो सकता है ।

भावार्थ—हम बौद्धो ने ज्ञान में और पदार्थ में तद्रुत्पत्ति संबन्ध माना है,
 ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है, फिर वह पदार्थ के आकार होता है—पदार्थ के आकार
 को धारण करता है तथा उसी को जानता है ऐसा माना गया है, जैन ऐसा नहीं
 मानते, अतः उनके यहाँ पदार्थ ही ज्ञान के द्वारा ग्राह्य है ऐसा नियम नहीं बनता,
 वे समकालीन ज्ञान को ही पदार्थों का ग्राहक होना बतलाते हैं, अतः उनके यहाँ दोष
 आते हैं । जैन यदि कहे कि पदार्थों में ही ग्राह्यता प्रतीत होती है अतः उसे ही
 ग्राह्य माना है ज्ञान को नहीं सो यह बात हमें जचती, तभी क्योंकि ज्ञान के बिना तो
 ग्राह्यता प्रतीत ही नहीं हो सकती है, यदि पदार्थ के स्वरूप को ग्राह्य मानोगे तो
 भी गलत होगा, क्योंकि स्वरूप तो ज्ञान में भी है, अतः फिर वही दोष आवेगा कि
 ज्ञान भी ग्राह्य बन जावेगा ।

शंका—पदार्थ जड है अतः वह ज्ञान का ग्राहक बन नहीं सकता है ।

समाधान—पदार्थ जड है इस बात की सिद्धि आप कैसे करते हैं ? यदि
 कहो कि ज्ञान का वह ग्राहक नहीं होता है इसी से वह जड है, ऐसा सिद्ध होता है
 सो ऐसे कहने से तो स्पष्ट रूप से अन्योन्याश्रय दोष दिख रहा है क्योंकि पदार्थ में
 जडपने की सिद्धि हो तब उसमें ज्ञान की ग्राहकता नहीं है यह सिद्धि हो और ज्ञान
 का अग्राहकपना सिद्ध होने पर उसमें जडत्व है इसकी सिद्धि हो, इस प्रकार से दोनों
 में से एक भी सिद्ध नहीं हो सकेगा । यदि कहा जाय कि ज्ञान गृहीतिक्रिया का
 कारण है अतः वही पदार्थ का ग्राहक है अर्थात् करणज्ञान के द्वारा पदार्थ ग्रहण
 होता है अथवा "ज्ञानेन पदार्थो गृह्यन्ते" इस प्रकार से ग्रहण क्रिया का कारण ज्ञान

किञ्चित्कृतमिति कथं । तेनास्य ग्रहणम् ? तस्येयमिति सम्बन्धासिद्धिश्च । तथाप्यस्य गृहीत्यन्त-
स्करणेऽनवस्था । अनर्थान्तरत्वे तु तत्करणेऽर्थ एव तेन क्रियते इत्यस्य ज्ञानता ज्ञानकार्यत्वदुत्तर-
ज्ञानवत् । जडार्थोपादानोत्पत्तेर्न दोषश्चेत्, ननु पूर्वोऽर्थोऽप्रतिपन्नः कथमुपादानमतिप्रसङ्गात् ?
प्रतिपन्नश्चेत्; किं समानकालाद्भिन्नकालाद्वैत्यादिदोषानुषङ्गः । किञ्च, गृहीतिरगृहीता कथमस्तीति
निश्चीयते ? अन्यज्ञानेन चास्या ग्रहणे स एव दोषोऽनवस्था च, ततोऽर्थो-ज्ञान गृहीतिरिति त्रितय
स्वतन्त्रमाभातीति न परतः कस्यचिदवभासनमिति नासिद्धो हेतुः ।

है अतः वह ग्राहक है तो इस पर हम बौद्ध पूछते हैं कि वह गृहीति क्रिया ज्ञान के द्वारा पदार्थ से भिन्न की जाती है कि अभिन्न की जाती है ? यदि भिन्न की जाती है तो उस ज्ञान ने पदार्थ का कुछ भी नहीं किया, तो फिर उस भिन्न क्रिया से ज्ञान के द्वारा पदार्थ का ग्रहण कैसे होगा, तथा यह क्रिया उस पदार्थ की है यह संबंध भी कैसे बनेगा ? संबंध जोड़ने के लिये यदि अन्य गृहीति की कल्पना करते हो तो अनवस्था आती है । यदि गृहीति क्रिया अर्थ से अभिन्न की जाती है ऐसा कहते हो तो उसका अर्थ ऐसा निकलेगा कि ज्ञान के द्वारा पदार्थ किया गया, अर्थात् ज्ञान के द्वारा जो पदार्थ की गृहीति की जाती है वह पदार्थ से अभिन्न की जाती है तो गृहीति से अभिन्न होने के कारण पदार्थ ग्रहण हुआ याने पदार्थ किया गया ऐसा अर्थ निकलेगा, इस तरह ज्ञान से उत्पन्न होने से पदार्थ ज्ञान रूप हुआ, क्योंकि वह ज्ञान का कार्य है जैसा कि उत्तर ज्ञान पूर्वज्ञान से उत्पन्न होने से उसका कार्य होता है । इसलिये वह ज्ञानरूप होता है, यदि कोई कहे कि पदार्थ का उपादान तो जड़ होता है उससे पदार्थ उत्पन्न होते हैं अतः ज्ञान से पदार्थों के पैदा होने का प्रसंग ही नहीं आता तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्व पदार्थ भी यदि अज्ञात है तो वह उपादान बन नहीं सकता अन्यथा अज्ञात घोड़े के सींग आदि भी उसके उपादान बनेगे । यदि कहा जाय कि पूर्व पदार्थ अज्ञात नहीं है तो कहो वह किस ज्ञान से जाना हुआ है— क्या समकालीन ज्ञान से कि भिन्नकालीनज्ञान से इत्यादि प्रश्न और पूर्वोक्त ही दोष यहा उपस्थित होवेगे । दूसरी बात यह है कि वह गृहीति क्रिया यदि अगृहीत है अज्ञात है तो उसका अस्तित्व—वह है ऐसा उसका सद्भाव—कैसे निश्चित होगा, यदि किसी अन्यज्ञान से गृहीति का ग्रहण होना मानो तो भिन्न काल समकाल इत्यादि प्रश्न तथा अनवस्था आदि दोष उपस्थित हो जाते हैं । इसलिये यह मालूम होता है कि पदार्थ, ज्ञान और गृहीतिक्रिया ये तीनों ही स्वतन्त्ररूप से प्रतिभासित होते हैं,

ननु च 'अर्थमहं वेद्यि चक्षुषा' इति कर्मकर्तृक्रियाकरणप्रतीतिज्ञानमात्राभ्युपगमे कथम् ? इत्यप्यपेशलम्, तैमिरिकस्य द्विचन्द्रदर्शनवदस्या अप्युपपत्तेः । यथा हि तस्यार्थाभावेपि तदाकार ज्ञानमुदेत्येव कर्मादिष्वविद्यमानेष्वपि अनाद्यविद्यावासनावशात्तदाकार ज्ञानमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'अहप्रत्ययो गृहीतोऽगृहीतो वा' इत्यादि, तत्र गृहीत एवार्थग्राहकोऽसौ, तद्ग्रहश्च स्वत एव । न च स्वतोऽस्य ग्रहणे स्वरूपमात्रप्रकाशनिमग्नत्वादबहिरर्थ-प्रकाशकत्वाभाव, विज्ञानस्य प्रदीपवत्स्वपरप्रकाशस्वभावत्वात् ।

यच्चोक्तम्—'निर्व्यापारः सव्यापारो वेत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्, स्वपरप्रकाशस्वभावता-व्यतिरेकेण ज्ञानस्य स्वपरप्रकाशनेऽपरव्यापाराभावात्प्रदीपवत् । न खलु प्रदीपस्य स्वपरप्रकाश-

कोई भी पर से प्रतीत नहीं होता है, इस प्रकार प्रारम्भ अद्वैतसिद्धि में जो अवभास-मानत्व हेतु दिया है वह सिद्ध हो जाता है असिद्ध नहीं रहता ।

शंका—“मैं आख के द्वारा पदार्थ को जानता हूँ” इस प्रकार से कर्ता करण कर्म और क्रिया ये सब भेद ज्ञान मात्र तत्त्व को मानने पर कैसे सिद्ध होंगे ?

समाधान—यह शका ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार नेत्र रोगी को द्विचन्द्र का ज्ञान होता है वैसे ही कर्ता करण आदि की भी प्रतीति होती है, अर्थात् कर्ता आदि सभी भेद काल्पनिक होते हैं, द्विचन्द्र का ज्ञान दो चन्द्र नहीं होते हुए भी पैदा होता है, उसी प्रकार कर्म आदिरूप पदार्थ अविद्यमान होने पर भी अनादिका-लीन अविद्यावासना के वश उस उस आकार से ज्ञान पैदा होता है, इस प्रकार यहाँ तक विज्ञानवादी ने अपना लबा चौड़ा यह पूर्व पक्ष स्थापित किया ।

अब आचार्य इस पूर्वपक्ष का निरसन करते हैं—सबसे पहिले बौद्ध ने पूछा था कि अह प्रत्यय गृहीत होकर पदार्थ को जानता है कि अगृहीत होकर पदार्थ को जानता है, सो उस विषय में यह जवाब है कि वह प्रत्यय गृहीत होकर ही पदार्थ को ग्रहण करता है और उसका ग्रहण तो स्वतः, ही होता है । स्वतः ग्रहण होना मानने में जो दोष दिया था कि “अह प्रत्यय अपने को जानता है तो फिर वह अपनेमें ही मग्न हो जायगा फिर इसके द्वारा बहिरर्थ का प्रकाशन कैसे हो सकेगा ?” सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि विज्ञान दीपक की भाँति स्व और पर का प्रकाशक-जाननेवाला-माना गया है । तथा—हमसे जो आपने ऐसा पूछा है कि अह प्रत्यय व्यापार (क्रिया) सहित है कि व्यापार रहित है—सो यह आपका बकवास मात्र है, क्योंकि

स्वभावताव्यतिरेकेणान्यस्तत्प्रकाशनव्यापारोऽस्ति । न च ज्ञानरूपत्वे नीलादेः सप्रतिघादिरूपता घटते । न च तद्रूपतयाऽध्यवसीयमानस्य नीलादेः 'ज्ञानम्' इति नामकरणे काचित् क्षतिः । नामकरणमात्रेण सप्रतिघत्वबाह्यरूपत्वादेरर्थधर्मस्याव्यावृत्तेः । न च तद्रूपता ज्ञानस्यैव स्वभावः; तद्विषयत्वेनानन्यवेद्यतया चास्यान्तःप्रतिभासनात्, सप्रतिघान्यवेद्यस्वभावतया चार्थस्य बहिःप्रतिभासनात् । न च प्रतिभासमन्तरेणार्थव्यवस्थायामन्यन्नबन्धनं पश्याम ।

यदप्यभिहितम्—निराकारः साकारो वेत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्, साकारवादप्रतिक्षेपेण निराकारादेव प्रत्ययात् प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् ।

अपने को और परवस्तुओ को जानना यही उस ज्ञानका— (अहं प्रत्यय का) व्यापार याने क्रिया है, इससे भिन्न और किसी प्रकार की क्रियाएँ इसमें सम्भव नहीं हैं । जैसे दीपक में अपने और पर को प्रकाशित करना ही क्रिया है, और अन्य क्रिया नहीं, तथा—दीपक को प्रकाशित करने के लिये अन्य दीपक की जरूरत नहीं रहती वैसे ज्ञान को जानने के लिये अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती है, ज्ञान में जो नील आदि पदार्थों का प्रतिभास है वह ज्ञानरूप ही है, उसमें जड के समान उठाने धरने आदि की क्रिया होवे सो भी बात नहीं है, ज्ञान जब नील को जानता है तब उसे भी नील कह देते हैं अर्थात् यह नील का ज्ञान है ऐसा नाम रख देते हैं, सो ऐसा नाम धर देने से हमें कुछ बाधा नहीं आती है, देखिये नाम करने से उस बाह्यवस्तु के काठिन्य आदि गुण, बाह्य में रहना, छेदन आदि में आसकना आदि सारी बातें ज्ञान में भी आ जावे सो तो बात है नहीं, ज्ञान में पदार्थाकार होना एकमात्र धर्म नहीं है, बाह्य पदार्थ तो मात्र ज्ञान का विषय है, ज्ञान अनन्यवेद्य—अन्य से अनुभव में नहीं आने योग्य है, वह तो अन्त प्रतिभास मात्र है, तथा पदार्थ प्रतिघात के योग्य अन्य से जानने योग्य एव बाहर में प्रतिभासमान स्वरूप है, इस प्रकार पदार्थ और ज्ञान में महान् भेद है वे किसी प्रकार से भी एकरूप नहीं बन सकते हैं । ज्ञान में पदार्थों का प्रतिभास हुए बिना पदार्थों की व्यवस्था अर्थात् यह घट है यह पट है यह इससे भिन्न है इत्यादि पृथक् पृथक् वस्तुस्वभाव सिद्ध नहीं होता है । अहं-प्रत्यय साकार है या निराकार है ऐसा पूछकर जो दोनों पक्षों का खण्डन किया है वह गलत है, क्योंकि हम स्वयं आपके द्वारा माने गये साकार वाद का निराकरण करने वाले हैं, ज्ञान निराकार रहकर ही प्रत्येक वस्तु की पृथक् पृथक् व्यवस्था कर देता है, इस बात का प्रतिपादन आगे होगा । तथा आपने जो हमसे ऐसा पूछा है कि वह अहं

यच्चान्यदुक्तम्—न भिन्नकालोऽसौ तद्ग्राहक इत्यादि, तदप्यसारम्; क्षणिकत्वानभ्युपगमात् । यो हि क्षणिकत्व मन्यते तस्याय दोषः 'बोधकालेऽर्थस्याभावादर्थकाले च बोधस्यासत्त्वे तयोर्ग्राह्य-ग्राह्यकभावानुपपत्तिः' इति ।

यच्चाविद्यमानार्थस्य ग्रहणे प्राणिमात्रस्याशेषज्ञत्वप्रसक्तिरित्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्, भिन्न-कालस्य समकालस्य वा योग्यस्यैवार्थस्य ग्रहणात् । दृश्यते हि पूर्वोत्तरचरादिलिङ्गप्रभवप्रत्ययाद्भिन्न-कालस्यापि प्रतिनियतस्यैव शकटोदयाद्यर्थस्य ग्रहणम् ।

प्रत्यय अर्थ के समकालीन होकर अर्थ—नीलादि पदार्थ—को जानता है या भिन्नकालीन होकर उन्हे जानता है, सो इन दोनो प्रकार के विकल्पो मे जो आपने दोषोद्भावन बडे जोश के साथ किया है, सो वह सर्वथा असार है, क्योंकि हम ज्ञान और पदार्थ को क्षणिक नही मानते हैं, जो क्षणिक मानते हैं, उन्ही पर ये दोष आते हैं । अर्थात् आप बौद्ध जब ज्ञान और पदार्थ दोनो को क्षणिक मानते हो सो ज्ञान क्षणिक होने से पदार्थ के समय रहता नही है और पदार्थ भी क्षणिक है सो वह भी ज्ञान के समय नष्ट हो जाता है अत आपके यहा इनमे ग्राह्यग्राहकपना सिद्ध नही होता है । तथा आपने जो यह मजेदार दूषण दिया है कि भिन्नकालवर्ती ज्ञान यदि अर्थ का ग्राहक होगा अर्थात् अपने समय मे अविद्यमान वस्तु का ग्राहक होगा—उसे जानेगा—तो सभी प्राणी सर्वज्ञ बन जायेगे इत्यादि सो यह भी अयुक्त है क्योकि पदार्थ चाहे ज्ञान के सम-कालीन हो चाहे भिन्नकालीन हो ज्ञान तो (क्षयोपशम के अनुसार) अपने योग्य पदार्थों को ही ग्रहण करता है । देखो—पूर्वचर हेतु, उत्तरचर हेतु आदि हेतुवाले अनुमान ज्ञान भिन्नकालीन वस्तुओं को ग्रहण करते है तथा अपने योग्य शकटोदय आदि को ही ग्रहण करते हैं ।

विशेषार्थ—“उदेष्यति शकट कृतकोदयात्”—एक मुहूर्त के बाद रोहिणी का उदय होगा क्योकि कृत्तिका का उदय हो रहा है—यह पूर्वचर हेतुवाला अनुमान है, इस ज्ञान का विषय जो शकट है वह तो वर्तमान ज्ञान के समय मे है नही तो भी उसे अनुमान ज्ञान ने ग्रहण किया है, तथा “उद्गात् भरणी प्राग् तत एव”—एक मुहूर्त पहिले भरणी नक्षत्र का उदय हो चुका है, क्योकि कृत्तिका का उदय हो रहा है—सो इस ज्ञान मे भी भरणी का उदय होना वर्तमान नही होते हुए भी जाना गया है, इसी प्रकार और भी बहुत से ज्ञान ऐसे होते है कि उनका विषय वर्तमान मे नही

कथञ्चैववादिनोऽनुमानोच्छेदो न स्यात्, तथा हि—त्रिरूपात्त्रिङ्गाङ्गिनि ज्ञानमनुमान प्रसिद्धम् । लिङ्गं चावभासमानत्वमन्यद्वा यदि भिन्नकाल तस्य जनकम्, तर्ह्येकस्यानुमानस्याशेष-मतीतमनागत तज्जनकमित्यत एवाशेषानुमेयप्रतीतेरनुमानभेदकल्पनानर्थक्यम् । अथ भिन्नकालत्वा-विशेषेपि किञ्चिदेव लिङ्ग कस्यचिज्जनकमित्यदोषोयम्, नन्वेव तदविशेषेपि किञ्चिदेव ज्ञान कस्य-चिदेवार्थस्य ग्राहक किं नेष्यते ? अयातीतानुत्पन्नेऽर्थे प्रवृत्त ज्ञान निर्विषय स्यात्, तर्हि नष्टानुत्प-न्नलिङ्गादुपजायमानमनुमान निर्हेतुक किं न स्यात् ? यथा च स्वकाले विद्यमान स्वरूपेण जनकम् तथा ग्राह्यमपि । तन्न भिन्नकाल लिङ्गमनुमानस्य जनकम् । नापि समकाल तस्य जनकत्व-

होता तो भी वे ज्ञान के द्वारा ग्रहण अवश्य किये जाते हैं, अतः बौद्ध का यह कहना कि भिन्नकालीन वस्तु को ज्ञान कैसे जानेगा इत्यादि सो वह असत्य होता है ॥ आप बौद्ध ज्ञान के विषय में भिन्न काल कि समकाल ऐसा प्रश्न करोगे तो अनुमान प्रमाण की वार्त्ता छिन्न भिन्न हो जावेगी । देखिये—पक्षधर्म, सपक्षसत्व और विपक्ष व्यावृत्ति वाले त्रिरूप हेतु से साध्य का ज्ञान होता है, ऐसा आपके यहा माना है, सो अद्वैत साधक अनुमान में जो अवभासमानत्व हेतु है अथवा अन्य कोई सहोपलम्भ आदि हेतु है उस पर भी ऐसा पूछा जा सकता है कि यह किस प्रकार का होगा ? क्या भिन्न कालीन होगा ? यदि वह भिन्न कालीन होकर अनुमान को उत्पन्न करता है, तब उस एक ही अनुमान के हेतु से अतीत अनागत सभी अनुमान ज्ञान पैदा हो जायेगे, तथा उस एक ही अनुमान ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण साध्य वस्तुओं की सिद्धि हो जायगी, फिर भिन्न भिन्न अनुमानों की जरूरत नहीं रहेगी, यदि कहा जाय कि भिन्न कालीन होते हैं तो भी कोई एक हेतु किसी एक ही अनुमान ज्ञान को उत्पन्न करता है न कि सभी अनुमान ज्ञान को तब हम जैन भी कहते हैं कि—ज्ञान पदार्थ से पृथक् काल में रहकर भी किसी एक पदार्थ का ग्राहक होता है ऐसा कथन भी क्यों न माना जाय, अर्थात् मानना ही चाहिये ।

शंका—अतीत और अनागत सम्बन्धी पदार्थों को ज्ञान जानेगा तो ज्ञान निर्विषय हो जायगा ?

समाधान—तो फिर नष्ट और अनुत्पन्न—उत्पन्न नहीं हुए हेतुओं से पैदा होने वाला अनुमानज्ञान निर्हेतुक क्यों नहीं होगा, तथा हेतु जैसे अपने काल में स्वरूप से विद्यमान रहकर ही अनुमान को पैदा करता है, उसी प्रकार ज्ञान भिन्न काल में रहकर भी वस्तु को—अपने ग्राह्य को ग्रहण करता है ऐसा आपको मानना चाहिये,

विरोधात्, अविरोधे वानुमानमप्यस्य जनकं भवेत्, तथा चान्योन्याश्रयान्नैकस्यापि सिद्धिः । अथानुमानमेव जन्यम्, तत्रैव जन्यताप्रतीतिः, न, अनुमानव्यतिरेकेणार्थे ग्राह्यतावजन्यतायाः प्रतीत्यभावात् । न च स्वरूपमेव जन्यता, लिङ्गोऽपि तत्सद्भावेन जन्यताप्रसक्तेः । तथा चान्योन्यजन्यतालक्षणो दोषः स एवानुषज्यते । अथानयो स्वरूपाविशेषेऽप्यनुमान एव जन्यता लिङ्गापेक्षया, नतु लिङ्गे तदपेक्षया सेत्युच्यते, तर्हि ज्ञानार्थयोस्तदविशेषेपि अथस्यैव ज्ञानापेक्षया ग्राह्यता नतु ज्ञानस्याथपेक्षया सेत्युच्यताम् । न चोत्पत्तिकरणाल्लिङ्गमनुमानस्योत्पादकम्, तस्यास्ततोऽर्थान्तरा-

अतः भिन्न कालीन हेतु अनुमान को पैदा करता है यह सिद्ध होना आपको इष्ट नहीं रहेगा, समकालीन हेतु भी अनुमान को पैदा नहीं करता है, क्योंकि समकालीन में जन्यजनक भाव मानने में विरोध है । विरोध नहीं है, यदि ऐसा कहो तो कोई भी किसी का जनक बन सकेगा—इस तरह चाहे जिससे चाहे जो जन्य हो सकता है, फिर तो हेतु से अनुमान पैदा न होकर कहीं अनुमान से हेतु पैदा होने लगेगा, और इस प्रकार अन्योन्याश्रय—एक के आधीन दूसरा और दूसरे के आश्रय वह एक होने से एक की भी सिद्धि नहीं होवेगी ।

शंका—अनुमान ही जन्य (पैदा करने योग्य) है उसी में जन्यता की प्रतीति है ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, देखो—अनुमान के बिना जिस प्रकार पदार्थ की ग्राह्यता नहीं जानी जाती है उसी प्रकार उसकी जन्यता भी नहीं जानी जाती है, यदि अनुमान के बिना जन्यता जानी जाती है तो एक दूसरे के लिये जन्य जनक होने रूप पहिले का दोष आता है ।

शंका—हेतु और अनुमान का स्वरूप समान होते हुए भी हेतु की अपेक्षा से अनुमान में ही जन्यता स्वीकार की है, न कि अनुमान की अपेक्षा से हेतु में ।

समाधान—बिलकुल ठीक है, फिर वही बात ज्ञान और पदार्थ में मानी जाय अर्थात् ज्ञान और पदार्थों का स्वरूप सपन्न होते हुए भी ज्ञान की अपेक्षा से पदार्थ ही ग्राह्य होते हैं न कि पदार्थ की अपेक्षा से ज्ञान ग्राह्य होता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

शंका—हेतु अनुमान की उत्पत्ति का कारण है अतः वह जनक है ।

समाधान—यह सिद्ध नहीं हो सकता है, उत्पत्ति अनुमान से भिन्न है कि अभिन्न है ? इस प्रकार से विचार करने पर दोनों ही पक्ष बनते नहीं, क्योंकि

नर्थन्तरपक्षयोरसम्भवात् । सा हि यद्यनुमानादर्थान्तरम्; तदानुमानस्य न किञ्चित्कृतमित्यस्या-
भावः । अनुमानस्योत्पत्तिरिति सम्बन्धासिद्धिश्चानुपकारात् । उपकारे वाऽनवस्था । अयानर्थान्तर-
भूता क्रियते, तदानुमानमेव तेन कृतं स्यात् । तथा चानुमानं लिङ्गं लिङ्गजन्यत्वादुत्तरलिङ्गक्षणवत् ।
न च प्राक्तनानुमानोपादानजन्यत्वान्नानुमानं लिङ्गम्, यतस्तदप्यनुमानमन्यतो लिङ्गाच्चेत्तर्हि
तदप्यनुमानं लिङ्गं तज्जन्यत्वादुत्तरलिङ्गक्षणवदिति तदवस्था चोद्यम् । उत्तरमपि तदेवेति चेत्,
अनवस्था स्यात् । अथ तथाप्रतीतेर्लिङ्गजन्यत्वाविशेषे किञ्चिल्लिङ्गमपरमनुमानम्; तर्हि ज्ञानजन्य-
त्वाविशेषेपि किञ्चिज्ज्ञानमपरोऽर्थं इति किन्न स्यात् ? तथा च 'अर्थो ज्ञानं ज्ञानकार्यत्वादुत्तर-

उत्पत्तिः अनुमानं से भिन्नं है तो वह अनुमान को पैदा नहीं कर सकेगी, तथा अभिन्न
है तो दोनों एकमेक होंगे, तथा भिन्न पक्ष में यह भी दोष होगा कि उत्पत्ति और
अनुमान का संबंध नहीं रहता है, बिना सम्बन्ध के उत्पत्ति अनुमान का उपकार कर
नहीं सकती, भिन्न रहकर ही उपकार करेगी तो अनवस्था दोष होगा, क्योंकि
उत्पत्ति के लिये फिर दूसरी उत्पत्ति चाहिये, इस प्रकार अपेक्षा आती रहेगी, उत्पत्ति
अनुमान से अभिन्न की जाती है ऐसा मानो तो उस हेतु से अनुमान ही किया गया ।
फिर ऐसा कह सकेंगे कि अनुमान तो हेतु ही है, क्योंकि वह हेतु से पैदा हुआ है,
जैसा कि उस हेतु से उत्तरक्षण वाला हेतु पैदा होता है । यदि कहो कि अनुमान
के लिये अपना पूर्ववर्ती अनुमान ही उपादान हुआ करता है, अतः हेतु ही अनुमान
हो जाय ऐसा दोष नहीं आता सो भी ठीक नहीं, देखिये वह पूर्व का अनुमान भी
किसी अन्य लिंग से उत्पन्न हुआ है क्या ? यदि हुआ है तो पुनः हम कहेंगे कि वह
अनुमान भी लिंग है, क्योंकि वह लिंग जन्य है, जैसे उत्तरवर्ती लिंग क्षण पूर्व लिंग
क्षण से जन्य होनेके कारण लिंग ही कहलाता है, इसप्रकार पूर्वोक्त प्रश्न वैसे ही बने
रहते हैं । तुम कहो कि उनका उत्तर भी पहले के समान दिया जाता है ? तब तो
अनवस्था दोषसे छुटकारा नहीं होगा ।

शंका—यद्यपि पूर्व हेतु से हेतु भी पैदा होता है और अनुमान भी पैदा
होता है, तो भी किसी एक को तो अनुमान कहते हैं और दूसरे को हेतु कहते हैं ।

समाधान—तो फिर इसी प्रकार पदार्थ और ज्ञान के विषय में भी मानना
पड़ेगा, अर्थात् ज्ञान से ज्ञान और पदार्थ उत्पन्न होते हैं तो भी एक को ज्ञान और
दूसरे को पदार्थ ऐसा कहते हैं ऐसा मानना पड़ेगा, और ऐसा स्वीकार करने पर
पदार्थ ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञान का कार्य है ऐसी विपरीत बात बनेगी, जैसे उस ज्ञान

ज्ञानवत्' इत्ययुक्तम् । न च गृहीतिविधानादर्थस्य ग्राह्यतेष्यते, स्वरूपप्रतिनियमात्तदभ्युपगमात् । यथैव ह्येकसामग्र्यधीनाना रूपादीना चक्षुरादीना समसमयेऽपि स्वरूपप्रतिनियमादुपादानेतरत्वव्यवस्था, तथार्थज्ञानयोर्ग्राह्येतरत्वव्यवस्था च भविष्यति ।

ननु यथा प्रत्यासत्त्या ज्ञानमात्मान विषयीकरोति तथैव चेदर्थं तयोरैक्यम् । न ह्येकस्वभाववेद्यमनेक युक्तमन्यथैकमेव न किञ्चित्स्यात् । अथान्यथा, स्वभावद्वयापत्तिज्ञानस्य भवेत् । तदपि स्वभावद्वय यद्यपरेण स्वभावद्वयेनाधिगच्छति तदाऽनवस्था तद्वेदनेप्यपरस्वभावद्वयापेक्षणात् । तत'

का उत्तरक्षणवर्ती ज्ञानरूप कार्य है । तथा गृहीति—जाननेका कारण होने से पदार्थ को ग्राह्य मानते हैं सो भी बात नहीं है, ग्राह्य और ग्राहकता तो स्वरूप के प्रतिनियम से हुआ करती है ऐसा ही हमने स्वीकार किया है, देखिये—आप बौद्ध के यहा पर क्षणिकवाद है, अत पूर्व क्षणवर्ती वस्तु उत्तर क्षणवर्ती वस्तु को पैदा करती है ऐसा माना है, तथा पूर्वक्षण का रूप उत्तरक्षण के रूप को और चक्षुज्ञान को भी उत्पन्न करता है तो भी उस पूर्ववर्ती रूप को आगे के रूप के लिये तो उपादान माना है और चक्षुज्ञान के लिये सहकारी माना है, जैसे यहा पर एक सामग्री से पैदा होते हुए भी किसी के प्रति उपादान और किसी के प्रति सहकारीपना रहता है, तथा वे रूप और चक्षुज्ञान समान काल मे उत्पन्न होते हैं तो भी उनमें स्वरूप के नियम से ही ग्राह्य ग्राहक भाव बनता है, यही बात ज्ञान और पदार्थ मे है अर्थात् ज्ञान और पदार्थ समकालीन होते हैं तो भी पदार्थ ही ग्राह्य है और ज्ञान ग्राहक है ऐसा निर्बाध सिद्ध होता है ।

बौद्ध—ज्ञान जिस शक्ति से अपने आपको जानता है उसी शक्ति से पदार्थ को जानेगा तो दोनों में एकपना हो जायेगा, क्योंकि एक ही स्वभाव से जो जाना जाता है वह अनेक नहीं हो सकता, अन्यथा किसी मे भी एकपना नहीं रहेगा, तथा ज्ञान अपने को किसी अन्य शक्ति से जानेगा तो उसमे दो स्वभाव मानने होंगे, वे दो स्वभाव भी किन्ही अन्य दो स्वभावो से ग्रहण हो सकेंगे, इस तरह अनवस्था आती है, क्योंकि स्वभावो को जानने के लिये अन्य स्वभावो की जरूरत होती है, इसलिये ज्ञान तो अपने स्वरूप को जानता है, पदार्थों को नहीं ऐसा मानना चाहिये ।

जैन—यह कथन असत् है, क्योंकि ज्ञान तो अपने और पर को जानने रूप एक स्वभाव वाला होता है, ज्ञान का यह स्वभाव किस प्रकार सत्य है, उसमे किसी प्रकारके दोष नहीं आते हैं इन सब बातों को हम स्व सवेदन ज्ञान की सिद्धि करते

स्वरूपमात्रग्राह्येव ज्ञान नार्थग्राहि, इत्यप्यसमीचीनम्, स्वार्थग्रहणैकस्वभावत्वाद्विज्ञानस्य । स्वभावतद्वत्पक्षोपक्षिदोषपरिहारश्च स्वसवेदनसिद्धौ भविष्यतीत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

कथञ्चैववादिनो रूपादेः सजातीयेतरकर्तृत्वम् तत्राप्यस्य समानत्वात् ? तथा हि—रूपादिकं लिङ्गं वा यथा प्रत्यासत्या सजातीयक्षण जनयति तथैव चेद्रसादिकमनुमानं वा, तर्हि तयोरेक्यमित्यन्यतरदेव स्यात् । अथान्यथा, तर्हि रूपादेरेकस्य स्वभावद्वयमायात् तत्र चानवस्था परापर-स्वभावद्वयकल्पनात् । न खलु येन स्वभावेन रूपादिकमेका शक्तिं बिभर्ति तेनैवापरा तयोरेक्य-प्रसङ्गात् । अथ रूपादिकमेकस्वभावमपि भिन्नस्वभाव कार्यद्वयं कुर्यात्तत्करणैकस्वभावत्वात्; तर्हि ज्ञानमप्येकस्वभाव स्वार्थयो सङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण ग्राहकमस्तु तद्ग्रहणैकस्वभावत्वात् । ननु

समय कहने वाले हैं । अब विज्ञानाद्वैतवाद के विषय में अधिक क्या कहे—इतना ही बस है ।

अद्वैतवादी ज्ञान में दो स्वभाव मानने में दोष देते हैं, पर उनके यहां पर भी ऐसे दो स्वभाव एक वस्तु में हैं, देखिये—वे कहते हैं कि रूप आदि गुण उत्तरक्षणवाले सजातीयरूप को तथा विजातीय रस को पैदा करते हैं, इसलिये उसमें वही अनवस्था आदि दोष आवेगे । हम जैन आपसे पूछते हैं कि रूप हो अथवा हेतु हो वह जो उत्तर क्षणवर्ती रस तथा रूप को और हेतु तथा अनुमान को पैदा करते हैं सो जिस शक्तिस्वभाव से रूप उत्तर क्षणवर्ती रस को पैदा करता है उसी शक्तिस्वभाव से रूप ज्ञान को भी पैदा करता है क्या ? तथा जिस शक्ति से हेतु उत्तरक्षणवर्ती हेतु को पैदा करता है उसी शक्ति से अनुमान को भी उत्पन्न करता है क्या ? यदि एक शक्ति से ऐसे सजातीय और विजातीय कार्य करता है तो उनमें एकमेकपना होकर दोनों में से एक ही कोई रह जायगा, वे रूपादिपूर्ववर्ती कारण किसी अन्यशक्ति से तो रूप को और किसी अन्य शक्ति से रस को पैदा करते हैं ऐसा कहो तब उब रूप लिङ्ग आदि में दो स्वभाव आ गये ? फिर उन दोनों स्वभावों को किन्हीं अन्य दो स्वभावों से धारण करेंगे, इस प्रकार स्वभावों की कल्पना बढ़ती जाने से अनवस्था दोष आता है । रूपादि क्षण जिस एक स्वभाव से एक शक्ति को धारण करते हैं उसी से अन्य शक्ति को तो धारण नहीं सकेंगे क्योंकि ऐसा मानने पर उन रूप रस आदि में एकता हो जायगी भिन्नता नहीं रहेगी ।

शंका—रूप आदि पूर्ववर्ती कारण एक स्वभाववाले भले ही हों, किन्तु उनमें भिन्न २ स्वभाव वाले दो कार्य करने रूप ऐसा ही एक स्वभाव है ।

व्यवहारेण कार्यकारणभावो न परमार्थतस्तेनायमदोषः, तर्हि तेनैवाहमहमिकया प्रतीयमानेन ज्ञानेन नीलादेर्ग्रहणसिद्धे कथमसिद्ध स्वतोऽवभासमानत्वलक्षणो हेतुर्न स्यात् ?

न चैववादिनः स्वरूपस्य स्वतोऽवगतिर्घटते, समकालस्यास्य प्रतिपत्तावर्थवत् प्रसङ्गात् । न च स्वरूपस्य ज्ञानतादात्म्यान्नायं दोषः, तादात्म्येऽपि समानेतरकालविकल्पानतिवृत्ते । ननु ज्ञानमेव स्वरूपम्, तत्कथं तत्र भेदभावी विकल्पोऽवनरतीति चेत् ? कुत एतत् ? तथा प्रतीतेऽत्रेत्,

समाधान—ठीक है, ऐसी ही बात ज्ञान में भी है, अर्थात् ज्ञान भी एक स्वभाववाला है और वह सकर व्यतिकर किये बिना स्व और पर को ग्रहण करने वाला होता है, क्योंकि उन्हें ग्रहण करने का ऐसा ही उसका एक स्वभाव है ।

शंका—हम बौद्धों के यहाँ जो कार्यकारणभाव माना गया है वह मात्र व्यवहार रूप है, पारमार्थिक नहीं, इसलिये हम पर कोई दूषण नहीं आता है ।

समाधान—तो अहमहमिका रूप से अनुभव में आने वाले ज्ञान के द्वारा ही नील पीतादि पदार्थों का ग्रहण सिद्ध हो जायगा, अतः स्वतः अवभासमानत्वहेतु असिद्ध क्यों नहीं होगा अवश्य ही होगा, इस प्रकार आपने जो अद्वैत को सिद्ध करने के लिये “पदार्थ में स्वतः अवभासमानता है इसलिये वे ज्ञान स्वरूप हैं” ऐसा कहा है सो वह सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि पदार्थों का अवभासन स्वतः न होकर ज्ञान से ही होता है ।

बौद्धों ने जो ऐसा पूछा था कि समकालीन पदार्थ ग्राह्य होते हैं कि भिन्न कालीन ? इत्यादि, सो इस पर हमारा ऐसा कहना है कि इस प्रकार के प्रश्न आप करेंगे तो ज्ञान स्वरूप की स्वतः प्रतीति होती है इत्यादि कथन कैसे घटित होगा, क्योंकि उसमें भी प्रश्न होंगे— कि ज्ञान समकालीन उस स्वरूप को ग्रहण करता है तो भिन्न देशवर्ती स्वरूप को भी ग्रहण करेगा इत्यादि पदार्थ ग्रहण के सम्बन्ध में जो प्रश्न और दोष उपस्थित हुए थे वे सारे के सारे यहाँ उपस्थित हो जावेंगे, यदि आप कहें कि स्वरूप और ज्ञान का तो तादात्म्य है, अतः वहाँ दोष नहीं आते सो भी बात नहीं, क्योंकि तादात्म्य पक्ष में समानकाल और भिन्नकाल वाले प्रश्न-विकल्प उठते ही हैं ।

शंका—जब ज्ञान ही स्वरूप है तब भेद से होनेवाला विकल्प वहाँ पर किस प्रकार अवतरित हो सकता है ।

समाधान—यह बताओ कि किस प्रमाण से आपने यह निश्चित किया है

इयं यद्यप्रमाणं कथमतस्तत्सिद्धिरतिप्रसङ्गात् ? प्रमाणं चेत्, तर्हि स्वपरग्रहणस्वरूपताप्यस्य तथैवास्त्वलं तत्रापि तद्विकल्पकल्पनया प्रत्यक्षविरोधात् । तन्न स्वतोऽवभासमानत्वं हेतुरसिद्धत्वात् ।

नापि परतो वाद्यसिद्धत्वात् । न खलु सौगतं कस्यचित्परतोऽवभासमानत्वमिच्छति । “नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोपरः” [प्रमाणवा० ३३२७] इत्यभिधानात् । कथं च

किं ज्ञान ही ज्ञान का स्वरूप है ? उसी तरह से प्रतीति आती है इसलिये कहो, तो भी वह प्रतीति यदि भ्रूठी-अप्रमाणरूप है तब तो उससे ज्ञान के स्वरूप की सिद्धि नहीं होवेगी, यदि अप्रामाणिक प्रतीति से व्यवस्था होती हो तो सशयादि रूप प्रतीति से भी ज्ञान स्वरूप की सिद्धि होने का अतिप्रसंग आता है, ज्ञान के स्वरूप को ग्रहण करनेवाली प्रतीति यदि प्रमाणभूत है तो बड़ी अच्छी बात है, फिर उसी प्रतीति के द्वारा ज्ञान में स्वपर प्रकाशक स्वरूप भी सिद्ध हो जायगा, कोई उसमें बाधा नहीं है, उस ज्ञान के पदार्थ ग्रहण करने रूप स्वभाव में किसी प्रकार के विकल्प-प्रश्न या कल्पना करना ठीक नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष से प्रतीति होने पर प्रश्न करना तो प्रत्यक्ष विरोधी बात कहलावेगी, इस प्रकार पदार्थों का अभाव सिद्ध करने के लिये दिया गया स्वतः अवभासमानत्वं हेतु असिद्ध हो जाता है ।

अवभासमानत्वं हेतु को पर से यदि अवभासित होना मानते हो तो आप वादी के यहाँ हेतु असिद्ध होगा, क्योंकि आप सौगत ने किसी भी वस्तु का पर से प्रतिभासित होना नहीं माना है, लिखा भी है—कि बुद्धि द्वारा अनुभाव्य-अनुभव करने योग्य कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, तथा उस बुद्धि को जानने वाला भी कोई नहीं है, इत्यादि । भावार्थ—

नान्योऽनुभाव्यस्तेनास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।

तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥

प्रमाणवार्ति० ३।३२७

बौद्धाभिमत प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ में लिखा है कि हम बौद्ध उसी कारण से बुद्धि द्वारा अनुभव करने योग्य किसी को नहीं मानते हैं, फिर प्रश्न होता है कि उस बुद्धि को अनुभव करनेवाला कौन होगा ? जो होगा उसमें फिर से ग्राह्य ग्राहक भाव मानना पड़ेगा, इसलिये जो भी कुछ पर है वह सब सवेदन-ज्ञान में अन्तर्भूत है, इस प्रकार से एक बुद्धि—(ज्ञान) मात्र स्वयं अपने आप प्रकाशमान है, और कुछ भी अन्य पदार्थ नहीं है, इस प्रकार इस श्लोक द्वारा जब पर वस्तु का ही अभाव

साध्यसाधनयोर्व्याप्ति सिद्धा ? यतो 'यदवभासते तज्ज्ञानम्' इत्यादि सूक्त स्यात् । न खलु स्वरूप-
मात्रपर्यवसित ज्ञान निखिलमवभासमानत्व ज्ञानत्वव्याप्तम्' इत्यधिगन्तु समर्थम् । न चाखिल-
सम्बन्धप्रतिपत्तौ सम्बन्धप्रतिपत्ति । "द्विष्टसम्बन्धसवित्ति" [] इत्याद्यभिधानात् । न
च विवक्षित ज्ञान ज्ञानत्वमवभासमानत्व चात्मन्येव प्रतिपद्य तयोर्व्याप्तिमधिगच्छतीत्यभिघातव्यम्,
तत्रैवानुमानप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । तत्र च तत्प्रवृत्तेर्वैयर्थ्यं साध्यस्याध्यक्षेण सिद्धत्वात् । अथ सकल
ज्ञानमात्मन्यनयोर्व्याप्तिं प्रत्येतीत्युच्यते, ननु सकलज्ञानाज्ञाने कथमेव वादिना प्रत्येतु शक्यम् ?

सिद्ध किया है, तब ज्ञान से भिन्न अन्य किसी हेतु से उसकी कैसे सिद्ध होगी अर्थात्
बाह्य पदार्थ कोई नहीं है इस बात को सिद्ध करने के लिये अनुमान दिया था कि जो
प्रतिभासित होता है वह प्रतिभास में अन्तर्भूत है क्योंकि वह प्रतिभासमान है, सो
इस अनुमान में प्रतिभासमान हेतु को पर से प्रतिभासित होना कहते हो—तब आचार्य
कहते हैं कि यह आपका हेतु असिद्ध हेत्वाभास रूप हो जाता है, क्योंकि आपके यहा
ज्ञान से परे और कुछ है ही नहीं ।

आप अद्वैतवादी के यहा पर साध्य और साधन की व्याप्ति सिद्ध होना भी
कठिन है जिससे कि "जो अवभासित होता है वह ज्ञान है" ऐसा कथन सिद्ध होवे
जो मात्र स्वरूप ग्रहण में समाप्त हुआ ज्ञान है । वह सपूर्ण वस्तु प्रतिभासमान है—
ज्ञानपने से व्याप्त है ऐसा जानने के लिये कैसे समर्थ हो सकता है, सपूर्ण सबधित
वस्तुओ को जाने विना सबध का ज्ञान नहीं हो सकता, "द्विष्टसबध सवित्ति" सम्बन्ध
का ज्ञान दो के जानने पर होता है—ऐसा कहा गया है । भावार्थ—ज्ञान जब अपने
जानने में ही क्षीण शक्ति हो जाता है, तब वह "सभी वस्तु प्रकाशमान है" ऐसा
निश्चय कैसे कर सकता है, हेतु और साध्य इन दोनों की व्याप्ति तभी सिद्ध हो जब
दोनों का सम्बन्ध जाना जाय ।

शंका—एक विवक्षित ज्ञान प्रथम अपने में ज्ञानत्व और अवभासमानत्व का
निश्चय कर लेता है, फिर अवभासमानत्व और ज्ञानत्व की व्याप्ति को जान लेता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि इस प्रकार से तो उस व्याप्ति ग्राहक
ज्ञान को जानने के लिये अनुमान की प्रवृत्ति वही पर होगी । किन्तु वहा वह प्रवृत्ति
अनुमान भी व्यर्थ ही कहलावेगा, क्योंकि साध्य जो ज्ञान है वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है,
प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु में अनुमान की प्रवृत्ति होती नहीं है ।

न चासिद्धव्याप्तिकलिङ्गप्रभवादानुमानात्तथागतस्य स्वमतसिद्धिः; परस्यापि तथाभूताकार्याद्यनुमानादीश्वराद्यभिमतसाध्यसिद्धिप्रसङ्गात् । न चानयोः कुतश्चित् प्रमाणाद्व्याप्तिः प्रसिद्धा; ज्ञानवज्जडस्यापि परतो ग्रहणसिद्ध्या हेतोरनैकान्तिकत्वानुषङ्गात् ।

यदप्युक्तम्—जडस्य प्रतिभासायोगादिति, तत्राप्यप्रतिपन्नस्यास्य प्रतिभासायोगः, प्रतिपन्नस्य वा ? न तावदप्रतिपन्नस्यासौ प्रत्येतुं शक्य, अन्यथा सन्तानान्तरस्याप्रतिपन्नस्य स्वप्रति-

शंका— सभी ज्ञान अपने मे अवभासमानत्व और ज्ञानत्व की व्याप्ति को जाननेवाले होते है ऐसा हम मानते है ।

समाधान— सपूर्ण ज्ञानों को जाने बिना इस प्रकार का निश्चय आप कर नहीं सकते । जिस हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं हुई है उस हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान से आपके मत की (नील पीत आदि पदार्थ ज्ञान स्वरूप हैं इसी मन्तव्य की) सिद्धि कैसे हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती । अन्यथा परवादी जो योग आदिक है उनके यहा भी असिद्ध कार्यत्व आदि हेतुवाले अनुमान के द्वारा ईश्वर और उसके सृष्टि कर्तृत्व की सिद्धि हो जायगी ।

भावार्थ— सौगत यदि अपने असिद्ध स्वरूप वाले अवभासमानत्व हेतु से पदार्थों को ज्ञान रूप सिद्ध करना चाहते हैं तो सभी मतवाले अपने २ असिद्ध हेत्वाभासों से ही अपने इष्ट तत्त्व की सिद्धि करने लगेंगे । पर्वत, तनु, तरु आदि पदार्थ बुद्धिमान् के द्वारा निर्मित है क्योकि वे कार्यरूप है, जो जो कार्यरूप होते है वे वे बुद्धिमान् से निर्मित होते है, जैसे कि वस्त्र घट आदि, इत्यादि अनुमान के द्वारा ईश्वर कर्तृत्ववाद सिद्ध हो जावेगा, ऐसे ही अन्य २ मत के भी सिद्ध होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, अत इस आपत्ति से बचने के लिये प्रत्येक वादी का कर्तव्य होता है कि वह वादी परवादी प्रसिद्ध हेतु के द्वारा ही अपना इष्ट तत्त्व सिद्ध करे ।

सौगताभिमत इन साध्य और साधन अर्थात् ज्ञानत्व और अवभासमानत्व की व्याप्ति किसी प्रमाण से भी सिद्ध नहीं है, और दूसरी बात एक यह कि साध्य और साधन के ज्ञानो का व्याप्ति ज्ञान के द्वारा ग्रहण होना माना जाय तो अन्य नील आदि जड पदार्थ भी पर के द्वारा (ज्ञान के द्वारा) ग्रहण किये जाते है ऐसा सिद्ध होने से अवभासमानत्व, हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त होता है । भावार्थ—“विपक्षे ऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः” जो हेतु विपक्ष में भी अविरुद्धरूप से रहता है वह हेतु अनैकान्तिक होता है, यहा पर बौद्ध समत अवभासनत्व हेतु विपक्ष जो पर से प्रति-

भासायोगस्यापि प्रसिद्धेस्तस्याप्यभावः । तथा च तत्प्रतिपादनार्थं प्रकृतहेतूपन्यासो व्यर्थः । अथ सन्तानान्तर स्वस्य स्वप्रतिभासयोग स्वयमेव प्रतिपद्यते, जडस्यापि प्रतिभासयोग तदेव प्रत्येतीति किन्नेष्यते ? प्रतीतेरुभयत्रापि समानत्वात् । अथाऽप्रतिपन्नेपि जडे विचारात्तदयोगः, ननु तेनाप्यस्या-विषयीकरणे स एव दोषो विचारस्तत्र न प्रवर्तते । 'तत एव वात्र तदयोगप्रतिपत्ति' इति विषयीकरणे वा विचारवत्प्रत्यक्षादिनाप्यस्य विषयीकरणात्प्रतिभासायोगोऽसिद्धः । न च प्रतिपन्नस्य जडस्य

भासित होना है उसमें चला जाता है, अतः अनैकान्तिक है, आपने कहा था कि जड पदार्थ में प्रतिभास का अयोग है—अर्थात् जो जड होता है, उसका प्रतिभास नहीं होता है, इत्यादि—उस पर प्रश्न होता है कि जड में प्रतिभास का अयोग है यह बात जानी हुई है या नहीं ? मतलब—नहीं जानी हुई जडवस्तु में प्रतिभास के अभाव का निश्चय करते हो कि जानी हुई जड वस्तु में प्रतिभास के अभाव का निश्चय करते हो ? नहीं जानी हुई वस्तु में प्रतिभास के अभाव का निश्चय करना शक्य नहीं है, अन्यथा भिन्न सतान (शिष्य आदि) जो कि जाने हुए नहीं है उसमें भी स्वरूप प्रतिभास का अयोग सिद्ध होना मानना पड़ेगा, और इस तरह से प्रतिभास रहित होने से उस सतान का भी अभाव मानना पड़ेगा । फिर उस सतान—अर्थात् शिष्य आदि प्रतिपाद्य के नहीं रहने से प्रतिभासमानत्व हेतु का उपन्यास व्यर्थ होगा । मतलब—जिन्हें आपको अद्वैतवाद समझाना है वे पर—शिष्यादि पदार्थ ही नहीं है तो किसलिये अनुमान प्रयोग करना, अर्थात् प्रतिभासमानत्व हेतु देकर विज्ञानाद्वैतवाद को सिद्ध करना निष्फल ही है ।

बौद्ध—अन्य सतान—शिष्य आदि तो अपने प्रतिभास को आप ही जान लेते हैं ।

जैन—तो वैसे ही जड पदार्थ का प्रतिभास सबध भी वही सतानान्तर अपने आप जान लेगा ऐसा आप क्यों नहीं मानते, क्योंकि प्रतीति दोनों में—सतानान्तर के प्रतिभास में और जड के प्रतिभास में समान ही है ।

बौद्ध—जड पदार्थ अप्रतिपन्न है—यद्यपि नहीं जाने हुए है, फिर भी विचार से उनमें प्रतिभास का अयोग सिद्ध किया जाता है ।

जैन—वह विचार भी यदि पदार्थ को विषय नहीं करता है तो वही दोष आवेगा कि विचार भी प्रतिभास के अयोग को नहीं जानता है, विचार से ही पदार्थों में प्रतिभास का अयोग जाना जाता है—तो इसका मतलब यही निकला कि विचार ने

प्रतिभासायोगप्रतिपत्तिरित्यभिधातव्यम्; 'जडप्रतीति', प्रतिभासायोगश्चास्य, इत्यन्योन्यविरोधात् ।

साध्यविकलश्चाय दृष्टान्त, नैयायिकादीना सुखादी ज्ञानरूपत्वासिद्धे । अस्मादेव हेतोस्त-
त्रापि ज्ञानरूपतासिद्धौ दृष्टान्तान्तर मृग्यम् । तत्राप्येतच्चोद्ये तदन्तरान्वेषणमित्यनवस्था । नीला-
देर्दृष्टान्तत्वे चान्योऽन्याश्रयः—सुखादी ज्ञानरूपतासिद्धौ नीलादेस्तन्निदर्शनात्तद्रूपतासिद्धिः, तस्या च
तन्निदर्शनात्सुखादेस्तद्रूपतासिद्धिरिति । न च सुखादी दृष्टान्तमन्तरेणापि तत्सिद्धिः; नीलादावपि

जड को जाना—विषय किया, फिर विचार यदि जड़ को विषय करता है तो प्रत्यक्ष
अनुमानादि भी जड को विषय करेंगे—जानेंगे, इस तरह उन पदार्थों में प्रतिभास का
अयोग—अर्थात् अभाव सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि वे पदार्थ तो विचार आदि के विषय-
भूत हो चुके हैं ।

यदि जड पदार्थ प्रतिपन्न है—जाने हुए है और उनमें प्रतिभास का अयोग है
ऐसा जाना जाता है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि यह तो परस्पर सर्वथा
विरुद्ध बात है कि जड की प्रतीति है और फिर उसमें प्रतिभास का अयोग है ।

विज्ञान अद्वैतसिद्ध करने के लिये दिये गये अनुमान में जो दृष्टान्त है वह
भी साध्य विकल है, देखिये—परवादी जो नैयायिक आदि हैं, उनके यहां सुख आदि
में ज्ञानपना नहीं माना है, इसलिये जैसे सुख दुःख आदि ज्ञानरूप हैं वैसे पदार्थ
ज्ञान रूप है ऐसा आपका दिया हुआ यह उदाहरण गलत होता है । यदि तुम कहो कि
इसी प्रतिभासमानत्व हेतु से दृष्टान्तभूत सुखादि में भी ज्ञानपने की सिद्धि हो जावेगी सो
भी बात बनती नहीं—क्योंकि यदि दिये गये वे दृष्टान्तभूत सुखादि जो हैं उनमें मूल
हेतु से ज्ञानपना सिद्ध करना है तो वे साध्य कोटि में आ जावेगे अतः दूसरा दृष्टान्त
लाना होगा फिर उस द्वितीय दृष्टान्त में भी प्रश्न और उत्तर करने होंगे कि उनमें
ज्ञानत्वसिद्ध है या नहीं इत्यादि फिर वह भी साध्य की कोटि में चला जायगा सो
उसकी सिद्धि के लिये अन्य और दृष्टान्त देना होगा, इस प्रकार अनवस्था आयगी,
इस अनवस्था दोष से बचने के लिये यदि नील आदि जड पदार्थ का दृष्टान्त दोगे तो
अन्योन्याश्रय दोष आयगा—देखो सुख दुःख आदि में ज्ञानपने की सिद्धि हो तब नील
आदि में ज्ञानपना सिद्ध करने के लिये वे दृष्टान्तस्वरूप बन सकेंगे और उस दृष्टान्त के
द्वारा नील आदि में ज्ञानत्व की सिद्धि होने पर वे नील आदि पुन सुख दुःख आदि में
ज्ञानत्व सिद्धि के लिये, दृष्टान्त बन सकेंगे । इस अन्योन्याश्रय दोष को हटाने के लिये
सुख दुःख आदि में विना दृष्टान्त के ही ज्ञानत्व की सिद्धि मानी जावे तो हम कहेंगे

तथैव तदापत्तेस्तत्र दृष्टान्तवचनमनर्थकमिति निग्रहाय जायेत ।

अथ सुखादेरज्ञानत्वे ततः पीडानुग्रहाभावो भवेत् । ननु सुखाद्येव पीडानुग्रहौ, ततो भिन्नौ वा ? प्रथमपक्षे—क्व ज्ञानत्वेन व्याप्तौ तौ प्रतिपन्नी; यतस्तदभावे न स्याताम् । व्यापकाभावे हि नियमेन व्याप्याभावो भवति । अन्यथा प्राणादे सात्मकत्वेन क्वचिद्व्याप्त्यसिद्धावप्यात्माऽभावे स न भवेत् ततः केवलव्यतिरेकिहेत्वगमकत्वप्रदर्शनमयुक्तम् । तन्नाद्यपक्ष । नापि-द्वितीयो यतो यदि नाम

कि वैसे ही अर्थात् विना दृष्टान्त के ही नील आदि पदार्थ भी ज्ञान स्वरूप सिद्ध मानो फिर आपके द्वारा प्रयुक्त अनुमान मे दिया गया दृष्टान्त व्यर्थ हो जाता है और विना जरूरत के दृष्टान्त देने से आप निग्रह स्थान के पात्र बन जावेगे ।

भावार्थ—नैयायिकके यहा वस्तुतत्त्व की सिद्धि करने के लिए जो वादी और प्रतिवादी के परस्पर वाद हुआ करते है उसमे वाद के २४ निग्रहस्थान—दोष माने गये है । उन निग्रहस्थानो का उनके मतमें विस्तार से वर्णन किया गया है । वादी जब अपने मत की सिद्धिके लिये अनुमान का प्रयोग करता है तब उसमे उपयोग से अधिक वचन बोलने से निग्रह स्थान उसकी पराजयका कारण बन जाता है इत्यादि । जैनाचार्य ने इस विषय पर आगे जय पराजय व्यवस्था प्रकरण मे खूब विवेचन किया है ।

शंका—सुख दुख आदि मे इस तरह से ज्ञानपने का खण्डन करोगे तो उनसे पीडा और अनुग्रह रूप उपकार नहीं हो सकेगा ?

समाधान—बिलकुल ठीक बात है—किन्तु यह बताओ कि सुख आदि से होने वाले पीडा आदि स्वरूप उपकार सुख आदि स्वरूप ही है ? अथवा उनसे भिन्न है ? यदि अनुग्रह पीडा आदिक सुखादिरूप ही है ऐसा मानो तो उन पीडादिस्वरूप दुख सुख की ज्ञानपने के साथ व्याप्ति कहां पर जानी है, जिससे कि ज्ञानत्व के अभाव मे पीडा आदि का अभाव होनेको कहते हो, क्योकि व्यापक का जहा अभाव होता है वहा पर व्याप्य का भी अभाव माना जाता है, ऐसा नियम है, अत यहा भी ज्ञानपने के साथ पीडा अनुग्रह की व्याप्ति सिद्ध होवे तब तो कह सकते है कि ज्ञानपना नहीं है अतः पीडा आदि भी नहीं है, व्याप्य व्यापक का इस प्रकार नियम नहीं मानोगे तो प्राण आदि अर्थात् श्वासोच्छ्वास लेना आदि हेतु के द्वारा शरीर मे आत्मा का सद्भाव किया जाता है, उस अनुमान मे प्राणादिमत्त्व हेतु की कही कही दृष्टान्त मे व्याप्ति नहीं देखी जाती है तो भी उस प्राणादिमत्त्व हेतु से यह सिद्ध होता है कि इस हेतु के न

सुखदुःखयोर्ज्ञानत्वाभावः, अर्थान्तरभूतानुग्रहाद्यभावे किमायातम् ?' न खलु यज्ञदत्तस्य गौरत्वाभावे देवदत्ताभावो दृष्टः । ननु सुखादौ जैनस्य प्रकाशमानत्वज्ञानरूपतया व्याप्तं प्रसिद्धमेवेत्यप्यसारम्, यतः स्वतः प्रकाशमानत्वज्ञानरूपतया व्याप्तं यत्तस्यात्र प्रसिद्धतन्नीलाद्यर्थे (र्थे) नास्तीत्यसिद्धो हेतुः । यत्तु परतः प्रकाशमानत्वतत्र प्रसिद्धतन्नज्ञानरूपतया व्याप्तम् । प्रकाशमानत्वमात्रं च नीलादावुपलभ्यमानजडत्वेनाविरुद्धत्वं नैकान्ततो ज्ञानरूपता प्रसाधयेत् ।

होनेपर आत्मा भी नहीं होता है, इस प्रकार के केवल व्यतिरेकी हेतु को आपने अगमक माना है, वह अयुक्त हो जायगा ।

विशेषार्थ—बौद्ध ने केवल व्यतिरेकी हेतु को अगमक—अपने साध्य को नहीं सिद्ध करनेवाला माना है । उनका कहना है कि “सात्मक जीवच्छरीर प्राणादिमत्वात्” जीवत् शरीर आत्मा सहित है क्योंकि श्वास आदि क्रिया इसमें हो रही है । जिसमें श्वास आदि की क्रिया नहीं होती उसमें आत्मा भी नहीं होती, जैसे मिट्टीका ढेला, इस अनुमान में जो यह प्राणादिमत्त्व हेतु है वह केवलव्यतिरेकी हेतु है, ऐसे अनुमान को तथा हेतु को जैनाचार्य ने तो सत्य माना है क्योंकि वह अपने साध्यको अवश्य ही सिद्ध करता है, किन्तु बौद्ध का कहना है कि ऐसे हेतु को अनैकान्तिक मानना चाहिये, क्योंकि इस हेतु में सपक्षसत्त्व नहीं रहता है, हेतु में तीन धर्म होना जरूरी है, पक्षधर्म, सपक्ष सत्व और विपक्षव्यावृत्ति, जो केवल व्यतिरेकी होता है उसका सपक्ष नहीं होता, अतः उसे हेत्वाभासरूप में मानते हैं अब यहाँ पर आचार्य कहते हैं कि आपने सुख आदि में ज्ञानत्व सिद्ध करने के लिये केवल व्यतिरेकी हेतु दिया है वह कैसे आपको मान्य हुआ ? अर्थात् वह मान्य नहीं होना चाहिये था, सुख आदि ज्ञानरूप है क्योंकि वे आत्मा को अनुग्रह आदि करनेवाले होते हैं, जो अनुग्रह आदि नहीं करते वे ज्ञानरूप भी नहीं होते हैं इत्यादि अनुमान के द्वारा सुखादि में ज्ञानत्व सिद्ध किया सो वह तुम बौद्ध के मत के विरुद्ध पडता है । इस प्रकार सुखादि पीडा अनुग्रह रूप ही ऐसा पहिला पक्ष बनता नहीं है । दूसरा पक्ष—सुख दुःख आदि से पीडा अनुग्रह आदि भिन्न है ऐसा मानो तो भी बाधा आती है, देखो—सुख दुःखों में ज्ञानत्व का अभाव माना जाय तो उससे भिन्न स्वरूप पीडा आदि में भी क्या ज्ञानत्व का अभाव सिद्ध हो जावेगा, अर्थात् नहीं हो सकेगा, यदि ऐसा माना जाय तो यज्ञदत्त में गौरपने का अभाव होने से देवदत्त का अभाव भी सिद्ध होवेगा । किन्तु ऐसा तो होता नहीं है ।

यदप्युक्तम्—तैमिरिकस्य द्विचन्द्रादिवत्कर्त्त्रादिकमविद्यमानमपि प्रतिभातीति, तदपि स्वमनोर-
थमात्रम्; अत्र बाधकप्रमाणाभावात् । द्विचन्द्रादी हि विपरीतार्थख्यापकस्य बाधकप्रमाणस्य सद्भावा-
द्युक्तमसत्प्रतिभासनम्, न पुन कर्त्त्रादी; तत्र तद्विपरीताद्वैतप्रसाधकप्रमाणस्य कस्यचिदसम्भवेनाऽबा-
धकत्वात् । प्रतिपादितश्च बाध्यबाधकभावो ब्रह्माद्वैतविचारे तदलमतिप्रसङ्गेन । अद्वैतप्रसाधकप्रमाण-

शंका—जैनो के यहा तो सुख दुःख आदि मे प्रकाशमानत्व की ज्ञानत्व के साथ व्याप्ति रहती ही है, उसीसे हम भी मानेगे ।

समाधान—यह असिद्ध बात कहते हो, क्योंकि हम जैन तो जो स्वतः प्रकाशमानत्व की ज्ञानत्व के साथ व्याप्ति करते है वैसी व्याप्ति आपके दृष्टान्तरूप सुखादिको मे तो है किन्तु नील आदि दार्ष्टान्त मे तो ज्ञानत्व नही मानते हैं, अतः प्रतिभासमानत्व हेतु नीलादिक मे असिद्ध ही रहता है, और नील आदि पदार्थो मे जो परत प्रकाशमानत्व माना हुआ है उसकी ज्ञानत्व के साथ व्याप्ति है नही, इसलिये जैन के समान आप बौद्ध सुखादि मे ज्ञानत्व की व्याप्ति सिद्ध नही कर सकते । अद्वैत को सिद्ध करने मे दिया गया प्रतिभासमानत्व हेतु मे इस प्रकार से स्वतः और परत दोनो ही तरह से प्रकाशमानत्व सिद्ध नही हुआ, तीसरा पक्ष जो प्रतिभासमानमात्र है उसे यदि हेतु माना जाता है तो इससे आपका मतलब सिद्ध नही होता है, क्योंकि प्रतिभासमान सामान्य तो नीलादि पदार्थो मे उपलभ्यमान है ही, उसका जडपने के साथ कोई विरोध नही आता है, इससे तो यही सिद्ध होता है कि नीलादि पदार्थ प्रतिभासित होते है मात्र इतना ही उस प्रतिभाससामान्यरूप हेतु से सिद्ध होता है, यह सिद्ध नही होता कि वे नीलादिक ज्ञानरूप है । अर्थात् सर्वथा सभी पदार्थ ज्ञानरूप ही है ऐसी व्याप्ति प्रतिभाससामान्य हेतु सिद्ध नही कर सकता है ।

आप विज्ञानाद्वैतवादी ने कहा था कि नेत्र रोगी को द्विचन्द्र के ज्ञान की तरह अविद्यमान भी कर्त्ता कर्म आदि प्रतीति मे आते हैं अतः वे भूठे है—मिथ्या है । सो ऐसा कहना भी गलत है क्योंकि घट आदि पदार्थो मे जो कर्त्ता कर्म आदि का भेद दिखता है उसमें किसी प्रकार की बाधा नही आती है, द्विचन्द्र प्रतिभास मे तो ज्ञान के विषय को विपरीत बतलाने वाला बाधक प्रमाण आता है, अतः उस प्रतिभास को असत्य मानना ठीक है, किन्तु उससे अन्य कर्त्ता आदि मे असत्यपना कहना ठीक नही है, क्योंकि इस प्रसिद्ध कर्त्ता आदि के विपरीतपने को कहनेवाला आपका अद्वैत किसी प्रकार भी सिद्ध नही होता है । अतः उस अद्वैत से भेदस्वरूप कर्त्तादिक मे बाधा आ

सद्भावे च द्वैतापत्तितो नाद्वैत भवेत् । प्रमाणाभावे चाद्वैताप्रसिद्धिः प्रमेयप्रसिद्धेः प्रमाणसिद्धि-
निबन्धनत्वात् ।

किञ्चाद्वैतमित्यत्र प्रसज्यप्रतिषेध , पर्युदासो वा ? प्रसज्यपक्षे नाद्वैतसिद्धि । प्रतिषेधमात्रपर्यव-
सितत्वात्तस्य । प्रधानोपसर्जनभावेनाङ्गाङ्गिभावकल्पनायामपि द्वैतप्रसङ्ग । पर्युदासपक्षेपि द्वैतप्रसक्तिरेव

नही सकती । बाध्यबाधक भाव किस प्रकार सत्य होता है इस बात का विवेचन
ब्रह्माद्वैत का विचार—खण्डन करते समय विस्तार पूर्वक कह आये है, इसलिये अब
विशेष न कहकर विराम लेते है । एक आपत्ति और आपके ऊपर आ पड़ती है कि
अद्वैत को आप सिद्ध करने जाते हो तो उसका प्रसाधक प्रमाण मानना जरूरी होता है,
इस तरह तो द्वैतवाद होता है—एक अद्वैत और दूसरा उसका प्रसाधक प्रमाण । यदि
प्रमाण को नही मानोगे तो अद्वैत सिद्ध नही होगा । देखो—प्रमेयको जो सिद्ध करे वही
तो प्रमाण है, प्रमाणसिद्धिसे ही प्रमेय की सिद्धि हुआ करती है ।

आपको यह प्रगट करना होगा कि “अद्वैत” में जो “न द्वैत” ऐसा नञ् समास
है सो उसमें नकार का अर्थ प्रसज्य प्रतिषेधवाला है ? कि पर्युदास प्रतिषेधवाला
है ? प्रसज्य प्रतिषेधवाला है ऐसा कहो तो अद्वैतसिद्ध नही होगा, क्योंकि प्रसज्य
प्रतिषेध तो मात्र निषेध करनेवाला है । यदि नकार का अर्थ मुख्य और गौण रूप करो
तो “न द्वैत अद्वैत” ऐसे अर्थ में नकार मुख्यता से तो द्वैत का निषेध करता है
और गौणपने से अद्वैत की विधि भी करता है सो इस प्रकार से विशेष्य विशेषण की
कल्पना करने पर भी द्वैत ही स्पष्टरूप से सिद्ध होता है । नञ् समास का अर्थ
पर्युदास प्रतिषेधरूप मानो तो भी द्वैतवाद सिद्ध होता है, क्योंकि प्रमाण से निश्चित
हुआ—जाना हुआ ऐसा प्रसिद्ध द्वैत का निषेध करके ही अद्वैत की कल्पना करते हो,
ऐसा सिद्ध होगा, द्वैत से पृथक् ही कोई अद्वैत है ऐसा कहोगे तो भी द्वैत ही का प्रसग
आता है, द्वैत से अद्वैत अभिन्न है ऐसा कहोगे तो भी द्वैत की ही प्रसक्ति होती है,
क्योंकि भिन्न से अभिन्न के अभेद का विरोध है अर्थात् भिन्न और अभिन्न मे अभेद नही
रहता है । इस प्रकार अद्वैतवाद को आप द्वैतवाद से भिन्न नही कह सकते है । और
न अभिन्न ही कह सकते है । क्योंकि दोनों पक्षोंमें द्वैत की ही सिद्धि होती है ।

विशेषार्थ—“न द्वैत अद्वैत” इस प्रकार से तत्पुरुष समास का एक भेद जो
नञ् समास है उससे अद्वैत शब्द बनता है, इसके विग्रह मे जो नकार जुडा हुआ है
उस पर आचार्य ने प्रश्न करके उत्तर दिये है कि नकार का अर्थ किस प्रकार करते

प्रमाणप्रतिपन्नस्य द्वैतलक्षणवस्तुन प्रतिषेधेनाऽद्वैतप्रसिद्धेरभ्युपगमात् । द्वैतादद्वैतस्य व्यतिरेके च द्वैतानुषङ्ग एव । अव्यतिरेकेपि द्वैतप्रसक्तिरेव भिन्नादभिन्नस्याभेदे (द) विरोधात् ।

हो ? निषेध के दो भेद हैं “पर्युदास सद्व्याप्राही प्रसज्यस्तु निषेध कृत्” एक पर्युदास निषेध और दूसरा प्रसज्यप्रतिषेध । इनमें पर्युदासनिषेध सदृश को ग्रहण करता है, इससे तो इस प्रकार सिद्ध होगा कि द्वैत का निषेध करके अद्वैत को स्वीकार करना, किन्तु इस तरह के कथन से द्वैत का सर्वथा निषेध नहीं होता है कि द्वैत कहीं पर भी नहीं है । प्रसज्य प्रतिषेध मात्र निषेध करने में क्षीण शक्तिक हो जाता है, वह तो इतना ही कहता है कि द्वैत नहीं है, किन्तु अद्वैत है ऐसा सिद्ध करना उसके द्वारा शक्य नहीं है, अतः दोनों ही प्रतिषेध अद्वैतवाद को सिद्ध करने में असमर्थ हैं । इसी प्रकार द्वैत को अद्वैत से पृथक् कहे तो द्वैत की ही सिद्धि होती है, क्योंकि यह इससे पृथक् है ऐसा कथन तो दो पदार्थों में होता है, अद्वैत को द्वैत से सर्वथा अभिन्न कहे तो भी वही बात द्वैत की सिद्धि की आ जाती है, तथा द्वैत से अद्वैत को अभिन्न मानने में विरोध भी आता है, अतः किसी भी तरह से अद्वैतमत की सिद्धि नहीं होती है ।

* विज्ञानाद्वैतवाद का विचार समाप्त *



विज्ञानाद्वैतवाद के खंडन का सारांश

पूर्वपक्ष-बौद्ध—विज्ञानाद्वैतवादी का कहना है कि अविभागी एक बुद्धिमात्र तत्त्व को छोड़कर और कोई भी पदार्थ नहीं है, इसलिये एक विज्ञानमात्र तत्त्व ही मानना चाहिये, ऐसे ज्ञानमात्रतत्त्व को ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही प्रमाण है, हम लोग अर्थ का अभाव होनेसे एक ज्ञानमात्र तत्त्व को नहीं मानते किन्तु अर्थ और ज्ञान एकद्वे ही उपलब्ध होते हैं । अतः इनमें हम लोगो ने अभेद माना है । देखिये—“जो प्रतिभासित होता है वह ज्ञान है क्योंकि उसकी प्रतीति होती है, जैसे सुखादि नीलादि भी प्रतीत होते हैं अतः वे भी ज्ञानरूप ही हैं” । इस अनुमान के द्वारा समस्त पदार्थ ज्ञानरूप सिद्ध हो जाते हैं । द्वैतवादी जो जैन आदि हैं वे अहं प्रत्यय से नीलादिको का ग्रहण होना मानते हैं, किन्तु यह अहं प्रत्यय क्या है सो वही सिद्ध नहीं होता, वह प्रत्यय गृहीत है

या अगृहीत है ? निर्व्यापार है कि सव्यापार है ? साकार है या कि निराकार है ? भिन्नकालवाला है या समकालवाला है ? किस रूप है—यदि गृहीत है तो स्वतः गृहीत है या परके द्वारा गृहीत है ? यदि वह स्वतः गृहीत है तो पदार्थ भी स्वतः गृहीत क्यों न माना जाय ? परसे गृहीत है ऐसा माना जाय तो अनवस्था दोष आता है, यदि अगृहीत है तो दूसरे का ग्राहक नहीं बन सकता, निर्व्यापार होकर वह कुछ नहीं कर सकता तो वह दूसरे का ग्राहक कैसे बन सकता है, अर्थात् नहीं बन सकता । यदि वह सव्यापार है तो वह व्यापार उस अहं प्रत्यय से भिन्न है कि अभिन्न है ऐसी कई शंकाएँ होती हैं । निराकार यदि वह है तो वह पदार्थ का ग्राहक कैसे माना जा सकता है, साकार है तो बाह्य पदार्थ काहे को मानना । तात्पर्य यही है कि ज्ञान में ही सब कुछ है, भिन्नकाल में रहकर यदि वह ग्राहक होगा तो सारे प्राणी सर्वज्ञ बन जावेंगे । समकाल में रहकर वह ग्राहक होता है ऐसा माना जाय तो ज्ञान और पदार्थ दोनों ही एक दूसरे के ग्राहक बन जायेंगे । इस तरह अहं प्रत्यय की सिद्धि नहीं होती है, अतः बाह्यपदार्थ को ग्रहण करनेवाला कोई भी प्रमाण न होने से हम ज्ञानमात्र एकतत्त्व मानते हैं ।

उत्तरपक्ष—जैन—यह सारा विज्ञानतत्त्व का वर्णन बन्ध्यापुत्र के सौभाग्य के वर्णन की तरह निस्सार है । ज्ञानमात्र ही एकतत्त्व है इस बात को आप किस प्रमाण से सिद्ध करते हैं ? प्रत्यक्ष प्रमाण तो बाह्य पदार्थ के अभाव को सिद्ध करता नहीं है, क्योंकि यह तो बाह्य पदार्थ का साधक बतलाने वाला है । अनुमान से भी बाह्य पदार्थ का अभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जो बात प्रत्यक्ष से बाधित हो गई है उसमें अनुमान प्रवृत्त होगा तो वह बाधित पक्षवाला अनुमान हो जावेगा । पदार्थ और ज्ञान एक साथ उपलब्ध होते हैं इसलिये दोनों एक है ऐसा यदि माना जाता है तो वह भी गलत है, क्योंकि यह नियम है नहीं कि पदार्थ और ज्ञान एक साथ ही हों । देखो—नीलादि पदार्थ नहीं है तो भी अन्तरङ्ग में सुखादिरूप ज्ञानका अस्तित्व पाया जाता है । जो साथ हो वह एक हो ऐसी व्याप्ति भी नहीं है, देखा जाता है कि रूप और प्रकाश साथ है किन्तु वे एक तो नहीं हैं । सर्वज्ञ का ज्ञान और ज्ञेय एक साथ होने से क्या वे एकमेक हो जावेगे ? अर्थात् नहीं । आपने बड़े ही जोश में आकर जो अहं प्रत्ययका निराकरण किया है सो वह ठीक नहीं है, क्योंकि इस अहं प्रत्यय से आप छुटकारा नहीं पा सकते हैं, “मै ज्ञानमात्र तत्त्व को मानता हूँ” ऐसा आप मानते हैं

और अनुभव भी करते हैं तो क्या उसमें "मैं" यह अह प्रत्यय नहीं है ? यह अह प्रत्यय स्वतः गृहीत है अगृहीत नहीं। अपने को और पर को जानना यही उसको व्यापार है, इसके अतिरिक्त और कुछ उसका व्यापार नहीं है। वह अह प्रत्यय निराकार है, क्योंकि आगे साकारवाद का निराकरण किये जानेवाला है। यह अह प्रत्यय भिन्नकाल है कि समकाल है। यह प्रश्न तो आप बौद्धों पर ही लागू होता है हम पर नहीं, हमारे यहां तो ज्ञान चाहे समकाल हो चाहे अर्थ के भिन्नकाल में हो वह अपनी योग्यता के अनुसार पदार्थ का ग्राहक माना गया है। ज्ञानमात्र तत्त्व मानने में सबसे बड़ी आपत्ति यह होगी कि वह ज्ञान ही ग्राह्य ग्राहक बनेगा, तो जो बाह्य पदार्थ में धरना, उठाना, फोड़ना, पकड़ना आदि कार्य होते देखे जाते हैं वे सब उस ज्ञानतत्त्व में कैसे होंगे। अर्थात् ज्ञानमें आकार मात्र है और कुछ पदार्थ तो है नहीं तो फिर ज्ञान के आकार में उठाने धरने आदिरूप क्रिया कैसे संभवे हो सकती है, अतः अन्तरग अह रूप तत्त्व तो ज्ञान है और बहिरग अनेक कार्य जिसमें हो रहे हैं वे बाह्यतत्त्व हैं। ऐसे वे तत्त्व चेतन अचेतन रूप हैं, इनके माने विना जगत् का प्रत्यक्ष दृष्ट व्यवहार नहीं संभव सकता है। अद्वैतपक्ष में अनगिनती बाधाएँ आती हैं, सबसे प्रथम अद्वैत और उसे सिद्ध करने वाला प्रमाण यह दो-रूप द्वैत तो हो ही जाता है। अद्वैत में जो "नञ्" समास है "न-द्वैतं-अद्वैत" ऐसा, सो इसमें नकार का अर्थ सर्वथा विषेधरूप है तो शून्यवाद होगा और द्वैत का निषेधरूप है तो वह निषेध विधिपूर्वक ही होगा, इससे यह फलितार्थ निकलता है कि-द्वैत-कही पर-है तभी उसका निषेध है, इस प्रकार अद्वैत-सिद्ध न-होने से विज्ञान मात्र तत्त्व है, यह बात असिद्ध हो जाती है।

विज्ञानाद्वैतवाद के खंडन का सारांश समाप्त *

चित्राद्वैतवादः



एतेन “चित्रप्रतिभासायेकैव बुद्धिर्बाह्यचित्रविलक्षणत्वात्, शक्यविवेचन हि बाह्य चित्र-
मशक्यविवेचनास्तु बुद्धेर्नीलादय आकारा” इत्यादिना चित्राद्वैतमप्युपवर्णयन्नपाकृत ; अशक्य-
विवेचनत्वस्यासिद्धेः । तद्धि बुद्धेरभिन्नत्व वा, सहोत्पन्नाना नीलादीना बुद्धयन्तरपरिहारेण
विवक्षितबुद्ध्यैवानुभवो वा, भेदेन विवेचनाभावमात्र वा प्रकारान्तरासम्भवात् ? तत्राद्यपक्षे साध्य-

विज्ञानाद्वैत का निराकरण होने से ही चित्राद्वैतवाद का भी निराकरण हो
जाता है—ऐसा समझना चाहिये ।

चित्राद्वैतवादी का ऐसा कहना है कि बुद्धि (ज्ञान) में जो नाना आकार
प्रतिभासित होते हैं उनका विवेचन करना अशक्य है, अतः वह चित्र प्रतिभासवाला
ज्ञान एक ही है अनेक रूप नहीं है, क्योंकि वह बाह्य आकारों से विलक्षण हुआ करता
है, बाह्य चित्र नाना आकार जो हैं उनका तो विवेचन कर सकते हैं, किन्तु नील पीत
आदि बुद्धि के आकारों का विवेचन होना शक्य नहीं है, मतलब यह है कि यह ज्ञान
या बुद्धि है और ये नील पीत आदि आकार हैं ऐसा विभाग बुद्धि में होना अशक्य है,
सो इस प्रकार का विज्ञानाद्वैतवादी के भाई चित्राद्वैतवादी का यह कथन भी गलत है,
यहां इतना और समझना चाहिये कि विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान में होने वाले नील पीत या
घट पट आदि आकारों को भ्रान्त-असत्य मानता है और चित्राद्वैतवादी उन आकारों
को सत्य मानता है ।

चित्राद्वैतवादी का कथन असत्य क्यों है यह उसे अब आचार्य समझाते हैं कि
आप जो बुद्धि के आकारों का विवेचन होना अशक्य मानते हैं सो यह मान्यता असिद्ध
है, हम पूछते हैं कि उन आकारों का विवेचन करना अशक्य क्यों है, क्या वे नील
पीतादि आकार बुद्धि से अभिन्न हैं । इसलिये, अथवा बुद्धि के साथ उत्पन्न हुए नील

समो हेतु ; तथाहि—यदुक्तं भवति—‘बुद्धेरभिन्ना नीलादयस्ततोऽभिन्नत्वात्’ तदेवोक्तं भवति ‘अशक्यविवेचनत्वात्’ इति । द्वितीयपक्षैर्नैकान्तिको हेतु ; सचराचरस्य जगत् सुगतज्ञानेन सहोत्पन्नस्य बुद्ध्यन्तरपरिहारेण तज्ज्ञानस्यैव ग्राह्यस्य तेन सहैकत्वाभावात् । एकत्वे वा ससारी सुगतः ससारिणो वा सर्वे सुगता भवेयुः, ससारेतररूपता चैकस्य ब्रह्मवाद समर्थयते । अथ सुगत-सत्ताकालेऽन्यस्योत्पत्तिरेव नेप्यते तत्कथमयं दोष ? नन्वेव ‘प्रमाणभूताय’ [प्रमाणसमु० १।१] इत्यादिना केनासौ स्तूयते ? कथं चापराधीनोऽसौ येनोच्यते—

पीत आदि का दूसरी बुद्धि से अनुभव नहीं होकर उसी विवक्षित एक बुद्धि के द्वारा अनुभव होता है इसलिये, या भेदकरके उनके विवेचन होने का अभाव है इसलिये उन आकारो का विवेचन करना अशक्य है ? और अन्य प्रकार से तो अशक्य विवेचनता वहां हो नहीं सकती है, यदि प्रथम पक्ष की अपेक्षा वहां अशक्य विवेचनता मानी जावे तो हेतु साध्यसम हो जाता है, अर्थात्—नीलादिक बुद्धि से अभिन्न है क्योंकि वे उससे अभिन्न हैं, इस तरह जो साध्य है वही हेतु हो गया है, अतः साध्य असिद्ध होता है तो हेतु भी साध्यसम—असिद्ध हो गया, साध्य यहां बुद्धि से अभिन्नपना है और उसे ही हेतु बनाया है सो ऐसा हेतु साध्य का साधक नहीं होता है । द्वितीय पक्ष की अपेक्षा लेकर वहां अशक्य विवेचनता मानी जावे तो हेतु में अनैकान्तिकता आती है, अर्थात् अशक्य विवेचन रूप हेतु का अर्थ आपने इस तरह किया है कि बुद्धि के साथ उत्पन्न हुए नीलादि पदार्थ अन्य बुद्धि से ग्रहण न होकर उसी एक विवक्षित बुद्धि के द्वारा अनुभव में आते हैं सो यही अशक्य विवेचनता है—सो इस प्रकार की व्याख्यावाला यह अशक्य विवेचनरूप हेतु इस प्रकार से अनैकान्तिक होता है कि यह सारा जगत् सुगतज्ञान के साथ उत्पन्न हुआ है और अन्य बुद्धि का परिहार करके उसी सुगत की बुद्धि के द्वारा वह ग्राह्य भी है किन्तु वह सुगत के साथ एकरूप नहीं है, इसलिये जो बुद्धि में प्रतिभासित है वह उससे अभिन्न है ऐसा हेतु अनैकान्तिक होता है । तथा—यदि सुगत के साथ जगत् का एकपना मानोगे तो सुगत ससारी बन जायगा, अथवा सारे ससारी जीव सुगतरूप हो जावेंगे । ससार और उसका विपक्षी अससार उन्हें एकरूप मानना तो सुगत को ब्रह्मस्वरूप स्वीकार करना है, पर यह तो ब्रह्मवाद का समर्थन करना हुआ ?

शंका—सुगत के सत्ताकाल में अन्य कोई उत्पन्न ही नहीं होता है अतः सुगत को संसारी होने आदि का दोष कैसे आ सकता है ?

“तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां च महती कृपा” [प्रमाणवा० २।१९९] इत्यादि । न खलु वन्ध्यासुताधीनः कश्चिद्भूवितुमर्हति । मार्गोपदेशोपि व्यर्थो विनेयाऽसत्त्वात् । नापि ततः कश्चित्सौगती गतिं गन्तुमर्हति । सुगतसत्ताकालेऽन्यस्यानुत्पत्तेस्तत्कालश्चात्यन्तिक इति । बुद्ध्यन्तरपरिहारेण विवक्षितबुद्ध्यैवानुभवश्चासिद्धः, नीलादीना बुद्ध्यन्तरेणाप्यनुभवात् । ज्ञानरूपत्वात्तत्सिद्धौ चान्योन्याश्रयः—सिद्धे हि ज्ञानरूपत्वे नीलादीना बुद्ध्यन्तरपरिहारेण विवक्षितबुद्ध्यैवानुभव सिद्ध्येत्, तत्सिद्धौ च ज्ञानरूपत्वमिति । भेदेन विवेचनाभावमात्रमप्यसिद्धम्, बहिरन्तर्देशसम्बन्धित्वेन

समाधान—यदि सुगत के काल में कोई नहीं रहता है तो फिर आपके प्रमाण समुच्चय ग्रन्थ में ऐसा कैसे लिखा गया है कि “प्रमाणभूताय सुगताय...” प्रमाणभूत सुगत के लिये नमस्कार हो इत्यादि सुगत को छोड़कर यदि अन्य कोई नहीं है तो नमस्कार कौन करेगा ? किसके द्वारा उसकी स्तुति की जायगी ? तथा—जिनकी महती कृपा होती है वे पराधीन—सुगत के आधीन होते हैं इत्यादि वर्णन कैसे करते हैं ? उसी प्रमाणसमुच्चय ग्रन्थ में आया है कि “सुगत निर्वाण चले जाते हैं तो भी दया से आर्द्रहृदयवाले उन बुद्ध भगवान् की कृपा तो यहां संसार में हमारे ऊपर रहती ही है” इस वर्णन से यह सिद्ध होता है कि सर्वत्र सुगत के सत्ताकाल में अन्य सभी प्राणी मौजूद ही थे, यदि सुगतकाल में अन्य कोई नहीं होता तो किसके आधीन सुगत कृपा रहती, क्या बध्यापुत्र के आधीन कोई होता है ? अर्थात् नहीं होता है । उसी प्रकार पर प्राणी नहीं होते तो उनके आधीन सुगत की कृपा भी नहीं रह सकती, मोक्षमार्ग का उपदेश देना भी व्यर्थ होगा, क्योंकि विनेय-शिष्य आदिक तो सुगत के सामने रहते ही नहीं हैं । सुगत का उपदेश सुनकर कोई सुगत के समान सुगति को प्राप्त भी नहीं कर सकता, क्योंकि सुगत के कालमें तो अन्य की उत्पत्ति ही नहीं सकती और वह सुगत काल तो आत्यन्तिक-अत रहित है । अन्य बुद्धि का परिहार कर एक विवक्षित बुद्धि के द्वारा ही अनुभव में आना अशक्यविवेचन है ऐसा कहना इसलिये असिद्ध है कि नील पीतादिक पदार्थ अन्य अन्य बुद्धियों (ज्ञानों) के द्वारा भी जाने जाते हैं—अनुभव में आते हैं ।

शंका—नील आदि पदार्थ ज्ञानरूप हैं, अतः अन्य बुद्धि के परिहार से वे एक बुद्धि के द्वारा गम्य होते हैं ।

समाधान—ऐसा मानोगे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, नील आदि पदार्थ ज्ञानरूप हैं ऐसा सिद्ध होनेपर तो उनमें अन्य बुद्धि का परिहार कर एक बुद्धि से

नीलतज्ज्ञानयोर्विवेचनप्रसिद्धे । एकस्याक्रमेण नीलाद्यनेकाकारव्यापित्ववत् क्रमेणाप्यनेकसुखाद्या-
कारव्यापित्वसिद्धे । सिद्धः कथञ्चिदक्षणिको नीलाद्यनेकार्थव्यवस्थापकः प्रमातेत्यद्वैताय दत्तो
जलाञ्जलिः ॥

अनुभव में आना सिद्ध हो और उसके सिद्ध होने पर पदार्थों में ज्ञानपने की सिद्धि हो, ऐसे दोनों ही अन्य अन्य के आधीन होने से एक की भी सिद्धि होना शक्य नहीं है । भेद से विवेचन नहीं कर सकना अशक्य विवेचन है ऐसा जो तीसरा पक्ष है सो वह भी असिद्ध है, क्योंकि बहुत ही अच्छी तरह से बुद्धि और पदार्थ में भेद करके विवेचन होता है, नील आदि वस्तुएँ तो बाहर में स्थित हैं और ज्ञान या बुद्धि अंतरंग में स्थित है इस रूप से इन दोनों का विवेचन होना प्रसिद्ध है ? जिस प्रकार एक ज्ञान में अक्रम से नील पीत आदि अनेक आकार व्याप्त होकर रहते हैं ऐसा तुम मानते हो उसी प्रकार क्रम से भी सुख दुःख आदि अनेक आकार उसमें व्याप्त होकर रहते हैं ऐसा भी मानना चाहिये, अतः नीलादि अनेक अर्थोंका व्यवस्थापक प्रमाता है और वह कथञ्चित् अक्षणिक है ऐसा सिद्ध होता है, इससे अद्वैत की सिद्धि नहीं होती, किन्तु प्रमाता और प्रमेय ऐसे दो तत्त्व सिद्ध हो जाने से अद्वैत ही निर्बाध है—नाना आकारवाली बुद्धिमात्र—चित्राद्वैत ही तत्त्व है यह बात खण्डित हो जाती है ।

✱

चित्राद्वैत का सारांश—

विज्ञानाद्वैतवादी के भाई चित्राद्वैतवादी है, इन दोनों की मान्यताओं में अन्तर केवल इतना ही है कि विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान में होनेवाली नीलादि आकृतियों को—आकारों को भ्रान्त—भ्रूठ मानता है और चित्राद्वैतवादी उन आकारों को सत्य मानता है । दोनों के यहाँ अद्वैत का साम्राज्य है । चित्राद्वैतवादी का कहना है कि अनेक नीलादि आकारवाली बुद्धि एक मात्र तत्त्व है, और कोई ससार में तत्त्व नहीं है । बाह्य जो अनेक आकार हैं उनका तो विवेचन होता है पर चित्राबुद्धि का विवेचन नहीं होता, क्योंकि उसका विवेचन अशक्य है । इस प्रकार एक चित्रा बुद्धि को ही मानना चाहिये और कुछ नहीं मानना चाहिये, क्योंकि बाह्य पदार्थ मानने में अनेक दोष आते हैं ।

आचार्य ने इनसे पूछा है कि अशक्य विवेचन बुद्धि में क्यों है ? क्या नीलादि आकारों का उस बुद्धि से अभिन्न होना इसका कारण है ?-या वे आकार उसी एक विवक्षित बुद्धि से ही अनुभव में आते हैं यह कारण है ? प्रथम कारण मानने पर तो हेतु साध्यसम हो जाता है, अर्थात् साध्य "बुद्धि से अभिन्न पदार्थ का होना है" और "अशक्य विवेचन होने से" ऐसा यह हेतु है, सो अशक्यविवेचन और अभिन्न का अर्थ एक ही है, अतः ऐसे साध्यसम हेतु से साध्य सिद्ध नहीं होता और उसके अभाव में चित्राद्वैत गलत ठहरता है, तथा सुगत और संसारी इनके एक होने का प्रसंग भी आता है, अतः क्रम और अक्रम से, नीलादि अनेक पदार्थ के आकारवाला ज्ञानयुक्त आत्मा सिद्ध होता है और नीलादि बाह्य पदार्थ भी सिद्ध होते हैं ।

चित्राद्वैतवाद का सारांश समाप्त



शून्याद्वैतवादः

*

ननु चाक्रमेणाप्येकस्यानेकाकारव्यापित्वं नेष्यते ।

“किं स्यात्सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्या मतावपि ।

यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥”

[प्रमाणवा० ३।२१०]

अब यहां पर बौद्ध के चार भेदों में से एक माध्यमिक नामक अद्वैतवादी अपने शून्याद्वैत को सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष रखता है,—कहता है कि हम माध्यमिक बौद्ध तो चित्राद्वैतवादी के समान बुद्धि में एकमात्र अनेक आकार होना भी नहीं मानते हैं—हमारे यहां प्रमाणवार्तिक (ग्रन्थ) में कहा है कि बुद्धि में नाना आकार वास्तविक नहीं है, क्योंकि यदि बुद्धि के नानाकार सत्य हैं तो पदार्थ भेद भी सत्य बन जावेंगे, इसलिये एक बुद्धि में चित्रता अर्थात् नानापना वास्तविक रूप से स्वीकार नहीं किया है । “एक और नाना” यह तो परस्पर विरुद्ध बात पडती है । यदि बुद्धि को एक होते हुए भी नानारूप माना जाय तब तो सारे विश्व को ही एक रूप मानना होगा, उसके लिये भी कहेंगे कि विश्व एक होकर भी नानाकार है इत्यादि, बात यह है कि ज्ञानों का ऐसा ही स्वभाव है कि वे उस रूप अर्थात् नाना रूप नहीं होते हैं तो भी उस रूप से वे प्रतीत होते हैं, और इस प्रकार के ज्ञानों के स्वभाव के विषय में हम कर भी क्या सकते हैं अर्थात् यह पूछ नहीं सकते हैं कि ज्ञान नानाकार वाले नहीं होते हुए भी नानाकार वाले क्यों दिखलाते हैं । क्योंकि “स्वभावोत्कर्क गोचर” वस्तु स्वभाव तर्क के अगोचर होते हैं, इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि बुद्धि में अनेक आकार नहीं है । अतः जैन ने जो सिद्ध किया था कि जैसे एक बुद्धि में युगपत् अनेक आकार होते हैं वैसे ही क्रम से भी अनेक आकार उसमें होते हैं इत्यादि, सो यह सब कथन उनका असिद्ध हो जाता है ।

इत्यभिधानात् । तत्कथं तददृष्टान्तावष्टम्भेन क्रमेणाप्येकस्यानेकाकारव्यापित्वं साध्येत ? तदप्यसमीचीनम्, एवमति सूक्ष्मेक्षिकया विचारयतो माध्यमिकस्य सकलशून्यतानुषङ्गात् । तथा हि—नीले प्रवृत्तं ज्ञान पीतादौ न प्रवर्तते इति पीतादे सन्तानान्तरवदभावः । पीतादौ च प्रवृत्तं तन्नीले न प्रवर्तते इत्यस्याप्यभावस्तद्वत् । नीलकुवलयसूक्ष्मांशे च प्रवृत्तिमज् ज्ञान नेतराशनिरीक्षणे क्षममिति तदशानामप्यभावः । सविदिताशस्य चावशिष्टस्य स्वयमनशस्याप्रतिभासनात्सर्वाभावः । नीलकुवलादिसवेदनस्य स्वयमनुभवात्सत्त्वे च अन्यैरनुभवात्सन्तानान्तराणामपि तदस्तु । अथा-

जैन—शून्यवादी का यह सब कथन—पूर्वोक्त कथन असमीचीन है । क्योंकि इस प्रकार की सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने वाले आप माध्यमिक के यहां सारे विश्व को शून्य रूप होने का प्रसंग आता है, वह इस प्रकार से—बुद्धि में अनेक आकार नहीं हैं तो जो ज्ञान नील को ग्रहण करता है वह पीत को तो ग्रहण करेगा नहीं, इसलिये पीत आदि का अन्य सतान की तरह अभाव हो जायगा, इसी प्रकार पीत के ग्रहण में प्रवृत्त हुआ ज्ञान नील को ग्रहण वहीं करता है इसलिये नील का भी पीत के समान अभाव होगा, नीलकमल के सूक्ष्म अंशको जाचवे में प्रवृत्त हुआ ज्ञान उस कमल के अन्य अन्य अंशको ग्रहण करने में समर्थ नहीं होने से उन अंशों का भी अभाव होगा, तथा सविदित अंश वाले उस कमल के अवशिष्ट जो और अंश है कि जो अनशरूप—है अन्य अंश जिन्हो में नहीं है—उनका प्रतिभास नहीं होने से उनका अभाव होगा, इस तरह सर्व का अभाव हो जायगा ।

शंका — नील कमल आदिका सवेदन तो स्वयं अनुभव में आता है अतः उसका अस्तित्व माना जायगा ।

समाधान—तो इसी तरह अन्य संतानों का सवेदन भी स्वयं अनुभव में आता ही है अतः उनका अस्तित्व भी स्वीकार करना चाहिये ।

शंका—अन्य सतानो के द्वारा अनुभूयमान जो सवेदन है उसका सद्भाव असिद्ध है, अतः उसका सत्त्व नहीं माना जाता है ?

समाधान—तो फिर उन सन्तानान्तरो के सवेदन का निषेध करने वाला कोई प्रमाण नहीं होने से उनका अस्तित्व माना जायगा ।

माध्यमिक—संतानान्तर के संवेदन की अर्थात् अन्य व्यक्तिके ज्ञानकी सत्ता असिद्ध होने से ही उसका अभाव स्वीकार किया जाता है ?

न्यैरनुभूयमानसवेदनस्य सद्भावासिद्धिस्तेषामभावः, तर्हि तन्निषेधासिद्धिस्तेषा सद्भाव किञ्च स्यात् ? अथ तत्सवेदनस्य सद्भावासिद्धिरेवाभावसिद्धिः ; नन्वेव तन्निषेधासिद्धिरेव तत्सद्भावासिद्धिरस्तु । भावाभावाभ्या परसंवेदनसन्देहे चैकान्ततः सन्तानान्तरप्रतिषेधासिद्धे । कथं च ग्रामारामादिप्रतिभासे प्रतीतिभूधरशिखरारूढे सकलशून्यताभ्युपगमः प्रेक्षावता युक्तः प्रतीतिवाचनात् ? दृष्टहानेरदृष्टकल्पनायाश्चानुपज्ञात् ।

किञ्च, अखिलशून्यताया प्रमाणतः प्रसिद्धिः, प्रमाणमन्तरेण वा ? प्रथमपक्षे कथं सकल-

जैन—बिलकुल इसी प्रकार से अन्य सवेदन की सिद्धि होगी, देखो—सतानान्तर के सवेदन का निषेध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, अतः उसका अस्तित्व है ऐसा मानने में क्या बाधा है । अर्थात् कुछ भी नहीं है ।

माध्यमिक—जैन हमारी बात को नहीं समझे, परके सवेदन का अस्तित्व कैसे स्वीकार करे ? क्योंकि उसको सिद्ध करने वाला प्रमाण आपने नहीं दिया है, और अभी हमने भी उसको बाधा देने वाला प्रमाण उपस्थित नहीं किया है, अतः इस विषय में सदेह ही रह जाता है ।

जैन—ठीक है, किन्तु इससे सर्वथा सतानान्तर का निषेध तो सिद्ध नहीं हो सकता है, तथा—ग्राम, नगर, उद्यान आदि अनेक पदार्थ प्रत्यक्ष से ही प्रतीतिरूप पर्वत शिखर पर आरूढ हो रहे हैं, अनुभव में आ रहे हैं, तब किस प्रकार सकल शून्यता को माना जाय ? प्रेक्षावान् पुरुष शून्यवाद को कैसे स्वीकार करेगा । अर्थात् नहीं करेगा । क्योंकि इस मान्यता में बाधा आती है । प्रत्यक्ष सिद्ध बात को नहीं मानना और जो है नहीं उसकी कल्पना करने का प्रसंग आता है । हम आपसे पूछते हैं कि शून्यता को प्रमाण से सिद्ध करते हो कि बिना प्रमाण के ? प्रमाण से सिद्ध करते हो तो शून्यता कहा रही, शून्यता को सिद्ध करने वाला एक प्रमाण तो मौजूद ही है, बिना प्रमाण के शून्यता को सिद्ध करना शक्य नहीं है, क्योंकि प्रमेय की सिद्धि प्रमाणसिद्धि के निमित्त से होती है । इस प्रकार शून्यवाद का निरसन हो जाता है ।

* शून्याद्वैतवाद समाप्त *

इस प्रकार से प्रभाचन्द्र आचार्य ने ज्ञान के अर्थ "व्यवसायात्मक" इस विशेषण का समर्थन किया, क्योंकि वह प्रतीतिसिद्ध पदार्थोंको जानता है । इस सब में उसमें सुनिश्चित असंभवबाधकप्रमाणता है—अर्थात् ज्ञानमें प्रतीतिसिद्ध अर्थ की व्यवसायात्मकता है इस बात में बाधक प्रमाण की असंभवता सुनिश्चित है, इतने पर

शून्यता वास्तवस्य तत्सद्भावावेदकप्रमाणस्य सद्भावात् ? द्वितीयपक्षे तु कथं तस्याः सिद्धिः प्रमेयसिद्धेः प्रमाणसिद्धिनिबन्धनत्वात् ? तदेव सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वात् प्रतीतिसिद्धमर्थव्यवसायात्मकत्वं ज्ञानस्याभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथाऽप्रामाणिकत्वप्रसङ्गः स्यात् ।

अथेदानीं प्राक् प्रतिज्ञातं स्वव्यवसायात्मकत्वं ज्ञानविशेषणं व्याचिख्यासु स्वोन्मुखतयेत्याद्याह—

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥ ६ ॥

स्वस्य विज्ञानस्वरूपस्योन्मुखतोल्लेखिता तया इतीत्यभावे भा । प्रतिभासनं सवेदनमनुभवनं स्वस्य प्रमाणत्वेनाभिप्रेतविज्ञानस्वरूपस्य सम्बन्धी व्यवसायः ।

स्वव्यवसायसमर्थनार्थमर्थव्यवसायं स्वपरप्रसिद्धम् 'अर्थस्य' इत्यादिना दृष्टान्तीकरोति ।

अर्थस्येव तदुन्मुखतया ॥ ७ ॥

भी यदि प्रमाण-ज्ञान मे प्रतीतिसिद्ध अर्थ की व्यवसायात्मकता नहीं मानी जाय तो अप्रामाणिकता का प्रसंग प्राप्त होता है ।

अब माणिक्यनदी आचार्य पहिले कहे ज्ञान के स्वव्यवसायात्मक विशेषण का व्याख्यान करते हुए कहते हैं—

सूत्र — स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥ ६ ॥

अर्थ—अपने आपकी तरफ संमुख होने से जो प्रतिभास होता है वही स्वव्यवसाय कहलाता है, "स्वोन्मुखतया" ऐसी यह तृतीया विभक्ति है, सो यह "ज्ञान को अपनी तरफ झुकने से अर्थात् अपने स्वरूप की तरफ संमुख होने से" इस प्रकारके अर्थ में प्रयुक्त हुई है । प्रतिभासन का अर्थ सवेदन या अनुभवन है । प्रमाण रूप से स्वीकार किया गया जो ज्ञान है उसके द्वारा अपना-व्यवसाय निश्चय करना यह ज्ञान का अपना निश्चय करना कहलाता है । अब ग्रन्थकार इस स्वव्यवसाय विशेषण का समर्थन प्रतिवादी तथा वादी के द्वारा मान्य अर्थ व्यवसायरूप दृष्टान्त के द्वारा करते हैं ।

सूत्र—अर्थस्येव तदुन्मुखतया ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—जिस प्रकार पदार्थ की तरफ झुकने से संमुख होने से पदार्थ का निश्चय होता है अर्थात् ज्ञान होता है, उसी प्रकार अपनी तरफ संमुख होने से ज्ञानको अपना व्यवसाय होता है । सूत्र मे "इव" शब्द यथा शब्द के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है । मतलब—जैसे घट आदि वस्तु का उसकी तरफ उन्मुख होने पर ज्ञान के द्वारा व्यवसाय होता है वैसे ही ज्ञानको अपनी तरफ उन्मुख होने पर अपना निज का व्यवसाय होता है ।

इवशब्दो यथार्थे । यथाऽर्थस्य घटादेस्तदुन्मुखतया म्बोल्लेखितया प्रतिभासन व्यवसाय' तथा ज्ञानस्यापीति ।

विशेषार्थ—नैयायिक आदि परवादी ज्ञानको अपने आपको जाननेवाला नहीं मानते हैं, सो इस परवादीकी मान्यता को निरस्त करने के लिये आचार्य श्री माणिक्य नदी ने दो सूत्र रचे हैं । ज्ञान केवल परवस्तुको ही नहीं जानता है, अपितु अपने आपको भी जानता है, यदि ज्ञान स्वयं को नहीं जानेगा तो उसको जानने के लिए दूसरा कोई ज्ञान चाहिये, दूसरे को तीसरा चाहिये, इस तरह अनवस्था आवेगी तथा सर्वज्ञका भी अभाव हो जायगा, क्योंकि "सर्व जानाति इति सर्वज्ञ" व्युत्पत्ति के अनुसार सबको जाने सो सर्वज्ञ कहलाता है, अतः जिसने स्वयंको नहीं जाना तो उसका ज्ञान सबको जाननेवाला नहीं कहलायेगा । इस प्रकार ज्ञानको स्वसवेद्य नहीं माननेसे अनेक दूषण आते हैं । इस विषय पर ज्ञानातर वेद्य ज्ञान वाद प्रकरण में विशेष विवेचन होने वाला है ।



अचेतनज्ञानवादका पूर्वपक्ष

सांख्य ज्ञान को जड़ मानते हैं, उनका पूर्वपक्षरूप से यहां पर कथन किया जाता है—पुरुष और प्रकृति ये मूल में दो तत्त्व हैं, प्रकृति को प्रधान भी कहते हैं, प्रधान के दो भेद हैं, व्यक्त और अव्यक्त, अव्यक्त प्रधान सूक्ष्म और सर्वव्यापक है, व्यक्त प्रधान से [प्रकृति से] सारा जगत् रचा हुआ है, व्यक्त प्रधान से सबसे प्रथम महान् नामका तत्त्व उत्पन्न होता है, उसी महान् तत्त्व को बुद्धि या ज्ञान कहा गया है। कहा भी है—प्रकृतेर्महान्स्ततोऽहकारस्तस्माद्गणश्च षोडशक, तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ (सांख्यत० कौ० पृ० ६४, २२) अर्थ—व्यक्त-प्रधान से महान् अर्थात् बुद्धि, बुद्धि से अहकार, फिर उससे दश इन्द्रिया, आदि सोलह गण, उन सोलहगणों में अवस्थित पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। ये ही पच्चीस तत्त्व हैं। इनमें एक पुरुष—चेतन और २४ प्रकृति जड़ के भेद हैं। प्रकृति का प्रथम भेद जो महान् है वही बुद्धि या ज्ञान है, जैसा कि कहा है—“तस्या प्रकृतेः महानुत्पद्यते, प्रथमं कश्चिद् (महान्-बुद्धिः, प्रज्ञा मतिः संवित्तिः ख्यातिः, चित्ति, स्मृति, आसुरी, हरिः हर, हिरण्यगर्भ, इति पर्याया)

—माठरवृत्ति. गौडपाद भाष्ये ।

अर्थात् महान् को ही बुद्धि, स्मृति, मति, प्रज्ञा, संवित्ति आदि नामों से कहा जाता है। उस बुद्धि या ज्ञानका पुरुष अर्थात् जीवात्मा के साथ—चैतन्य के साथ संसर्ग होता है, अतः पुरुष में अर्थात् जीव या आत्मा में ही बुद्धि है ऐसा भ्रम होता है। बुद्धि और पुरुष अर्थात् ज्ञान और आत्मा का ऐसा संसर्ग है कि जैसे लोहे के गोले में अग्नि का है। जिस प्रकार चैतन्य पुरुष में रहता है और कर्तृत्व अन्तःकरण में रहता है फिर भी अन्तःकरण के धर्म का पुरुष में आरोप करके पुरुष को ही कर्ता मानने लग जाते हैं उसी प्रकार प्रकृति का धर्म जो बुद्धिरूप है उसका पुरुष में आरोप करके पुरुष को ही ज्ञाता कह देते हैं, कहा भी है—“तस्मात्तत् सयोगादचेतनं चेतनवदिव लिङ्गम्, गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तव्यं भवत्युदासीनः” ॥ २० ॥ यस्माच्चेतनस्वभावः पुरुष, तस्मात्तत्सयोगाद् अचेतनं महदादि लिङ्गं, अध्यवसाय, अभिमान-संकल्प-आलोचनादिषु वृत्तिषु चेतनावत् प्रवर्तते । को दृष्टान्तः ? तद्यथा—अनुष्णाशीतो घट.

शीताभिरद्भिः ससृष्टः शीतो भवति, अग्निना संयुक्तो (वा) उष्णो भवति, एव महदादि लिङ्गमचेतनमपि भूत्वा चेतनावद् भवति (माठरवृत्ति गौडपादभाष्य)” । पुरुष के ससर्ग के कारण ही महान् आदि तत्त्व अचेतन होते हुए भी चेतन के समान मालूम पड़ते हैं । वैसे ही सत्त्व आदि गुणों में ही कर्तृत्व है, तो भी पुरुष को कर्त्ता माना जाता है । अर्थात् चेतन स्वभावी पुरुष के सयोग में अपने से महान् आदि लिङ्ग अर्ध्यवसाय अर्थात् ज्ञान तथा अभिमान, संकल्प, विकल्प, विचार आदि क्रियाओं में चेतन के समान ही प्रवृत्ति किया करते हैं । जिस प्रकार घडा स्वतः न उष्ण है और न शीत है किन्तु शीतल जलके ससर्ग से शीत और अग्नि की उष्णता के ससर्ग से उष्ण कहलाता है, उसी प्रकार महान् बुद्धि आदि तत्त्व स्वतः अचेतन होते हुए भी चेतनावान् जैसे बन जाते हैं । इस विवेचन से अच्छी तरह से सिद्ध होता है कि ज्ञान जड प्रकृति का धर्म या विवर्त्त है, पुरुष-आत्मा का नहीं है, अतः बुद्धि या ज्ञान अचेतन है । ज्ञान अचेतन इसलिये है कि वह अनित्य है । मूर्तिक-आकारवान् है, और पुरुष नित्य अमूर्त्त का गुण धर्म वाला है । सो इस प्रकार से वह ज्ञान प्रकृति का ही धर्म हो सकता है आत्मा पुरुष का नहीं, क्योंकि पुरुष तो सर्वथा नित्य है कूटस्थ है, अमूर्तिक, अकर्त्ता है, अतः अनित्य ज्ञान उसका होना शक्य नहीं है, हां उसका अध्यारोप पुरुष में अवश्य होता है, उस अध्यारोपित व्यवहार से पुरुष को ज्ञाता, ज्ञानवान्, बुद्धिमान् आदि नामों से कहा जाता है, वास्तविकरूप में पुरुष तो मात्र चैतन्यशाली है । इस प्रकार बुद्धि-ज्ञान-जड प्रधान से उत्पन्न होने के कारण अचेतन है, यह निर्बाध सिद्ध हुआ ।

इस प्रकार से ज्ञान को अचेतन मानने वाले सांख्य (तथा योग का)
का पूर्वपक्षरूप कथन समाप्त



अचेतनज्ञानवादः



स्थान्मतम्—न ज्ञान स्वव्यवसायात्मकमचेतनत्वाद् घटादिवत् । तदचेतन प्रधानविवर्त-
त्वात्तद्वत् । यत्तु चेतन तन्न प्रधानविवर्त , यथात्मा, इत्यप्यसङ्गतम्, तस्यात्मविवर्तत्वेन प्रधानविव-
र्तत्वासिद्धे , तथाहि—ज्ञानविवर्तवानात्मा दृष्टृत्वात् । यस्तु न तथा स न द्रष्टा यथा घटादिः, द्रष्टा
चात्मा तस्मात्तद्विवर्तवानीति । प्रधानस्य ज्ञानवत्त्वे तु तस्यैव द्रष्टृत्वानुषङ्गादान्मकल्पनानर्थक्यम् ।

अब यहा पर साख्य कहते है कि ज्ञान स्वपरव्यवसायात्मक नही है क्योकि
वह अचेतन है, जैसे घट पट आदि पदार्थ अचेतन होने से अपने को नही जानते है ।
ज्ञान को हम अचेतन इसलिये मानते है कि वह प्रधान की पर्याय है, प्रधान स्वतः
अचेतन है, अत उसकी पर्याय भी अचेतन ही रहेगी, जो चेतन होगा वह प्रधान की
पर्याय नही होगा, जैसे आत्मा चेतन है, अत वह प्रधान की पर्याय नही है ।

जैन—यह कथन असगत है, ज्ञान तो साक्षात् आत्मा की पर्याय है, उसमें तो
प्रधानपने का अश भी नही है, देखिये—आत्मा ज्ञानपर्याय वाला है क्योकि वह द्रष्टा
है, जो ज्ञाता नही होता वह द्रष्टा भी नही हो सकता जैसे कि घट आदि जड़ पदार्थ,
आत्मा द्रष्टा है अत वह अवश्य ही ज्ञान पर्याय वाला है, आप प्रधान को ज्ञानवान्
मानोगे तो उसीको द्रष्टा भी कहना पडेगा, फिर तो आत्मद्रव्य की कल्पना करना व्यर्थ
हो जावेगा । जिस प्रकार आत्मा मे “मै चेतन हूँ” इस प्रकार का अनुभव होता है, अतः
वह चेतन स्वभाव वाला माना गया है, उसी प्रकार “मै ज्ञाता हूँ” इस प्रकार का भी
आत्मा में अनुभव होता है अत उसे ज्ञानस्वभाव वाला भी मानना चाहिये, इसमें
और उसमें कोई विशेषता नही है ।

सांख्य—ज्ञान के संसर्ग से “मै ज्ञाता हूँ” इस प्रकार आत्मा मे प्रतिभास
होता है, न कि ज्ञान स्वभाववाला होने से मै ज्ञाता हूँ ऐसा प्रतिभास होता है ?

‘चेतनोऽहम्’ इत्यनुभवाच्चैतन्यस्वभावतावच्चात्मनो ‘ज्ञाताऽहम्’ इत्यनुभवाद् ज्ञानस्वभावताप्यस्तु विशेषाभावात् । ज्ञानसंसर्गात् ‘ज्ञाताऽहम्’ इत्यात्मनि प्रतिभासो न पुनर्ज्ञानस्वभावत्वादित्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, चैतन्यादिस्वभावस्याप्यभावप्रसङ्गात् । चैतन्यसमर्गाद्धि चेतनो भोक्तृत्वसंसर्गाद्भोक्तो-
दासीन्यसंसर्गाद्दुदासीनः शुद्धिसंसर्गाच्चुद्धो न तु स्वभावतः । प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधोभयत्र । न खलु ज्ञानस्वभावताविकलोऽय कदाचनाप्यनुभूयते, तद्विकलस्यानुभवविरोधात् ।

आत्मनो ज्ञानस्वभावत्वेऽनित्यत्वापत्तिं प्रधानेऽपि समाना । तत्परिणामस्य व्यक्तस्यानित्यत्वो-
पगमात् अदोषे तु, आत्मपरिणामस्यापि ज्ञानविशेषादेरनित्यत्वे को दोषः ? तस्यात्मन कथञ्चिद-

जैन—यह बात बिना विचारे कही गई है, क्योंकि इस प्रकार के कथन से तो आत्मा मे चैतन्य आदि स्वभावों का भी अभाव हो जावेगा, वहा भी ऐसा ही कहेगे कि आत्मा चैतन्य के संसर्ग से चैतन्य है, भोक्तृत्व के संसर्ग से भोक्ता है, औदासीन्य के संसर्ग से उदासीन है और शुद्धि के संसर्ग से शुद्ध है, न कि स्वभाव से वह चेतन आदि रूप है ।

सांख्य—चैतन्य आदि के संसर्ग से आत्मा को यदि चेतन माना जायगा तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से बाधा आवेगी, अर्थात् हम प्रत्येक प्राणी जो ऐसा अनुभव करते हैं कि हम चैतन्य विशिष्ट है—हमारी आत्मा चैतन्य स्वभाववाली है इत्यादि सो इस अनुभव मे बाधा आवेगी ।

जैन—इसी प्रकार से यदि ज्ञानसंसर्ग से आत्मा को ज्ञानी मानोगे तो प्रत्यक्ष प्रमाण से वहां पर भी बाधा आती है, क्योंकि यह आत्मा किसी भी काल मे ज्ञान स्वभाव से रहित अनुभव में नहीं आती है, कारण कि ज्ञान के विना अनुभव होना ही शक्य नहीं है ।

सांख्य—आत्माको ज्ञानस्वभाव वाला मानोगे तो उसे अनित्य होने की आपत्ति आवेगी ।

जैन—तो फिर प्रधान के ऊपर भी यही दोष आवेगा, क्योंकि प्रधान को ज्ञान स्वभाव वाला मानते हो, तो वह भी अनित्य हो जावेगा ।

सांख्य—प्रधान का एक परिणाम व्यक्त नामका है वह अनित्य है, अतः उसमे ज्ञानस्वभावता मानने में कोई आपत्ति नहीं आती है ।

व्यतिरेके भङ्गुरत्वप्रसङ्ग प्रधानेपि समान । व्यक्ताव्यक्तयोरव्यतिरेकेपि व्यक्तमेवानित्यं परिणामत्वाच्च पुनरव्यक्तं परिणामित्वादित्यभ्युपगमे, अत एव ज्ञानात्मनोरव्यतिरेकेपि ज्ञानमेवानित्यमस्तु विशेषाभावात् । आत्मनोऽपरिणामित्वे तु प्रधानेपि तदस्तु । व्यक्तापेक्षया परिणामि प्रधान न शक्यपेक्षया सर्वदा स्थास्नुत्वादित्यभिधाने तु आत्मापि तथास्तु सर्वथा विशेषाभावात्, अपरिणामिनोऽर्थक्रियाकारित्वासम्भवेनाग्रेसत्त्वप्रतिपादनाच्च । स्वसंवेदनप्रत्यक्षाविषयत्वे चास्याः प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्वं

जैन—तो इसी प्रकार आत्मा के परिणाम ज्ञानविशेष आदि है और वे ही अचित्य है ऐसा मानने में भी कोई दोष नहीं आता है ।

सांख्य—आप जैन कथंचित् वादी हो, अतः आप आत्मा से ज्ञान का कथंचित् अभेद स्वीकार करते हो, इसलिये ज्ञान के निमित्त से आत्मा में अनित्यपने का प्रसंग आता है ।

जैन—यही दोष प्रधान पर भी लागू होगा, अर्थात् प्रधान का परिणाम प्रधान से अभिन्न होने के कारण प्रधान में भी परिणाम के समान अनित्यता आ जावेगी ।

सांख्य—व्यक्त प्रधान और अव्यक्त प्रधान दोनों अभिन्न है तो भी परिणाम रूप होने से महदादि व्यक्त ही अनित्य है और अव्यक्त प्रधान परिणामवाला होने से अनित्य नहीं है ।

जैन—इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान अभिन्न तो है परन्तु ज्ञान अनित्य है और आत्मा नित्य है । ऐसा सत्य स्वीकार करना चाहिये, दोनों मन्तव्यो में कोई विशेषता नहीं है । यदि आप आत्मा को सर्वथा कूटस्थ-अपरिणामी मानते हो तो प्रधान को भी सर्वथा अपरिणामी मानना होगा ।

सांख्य—व्यक्त की अपेक्षा से तो प्रधान परिणामी है, किन्तु शक्ति की अपेक्षा से तो प्रधान अपरिणामी ही है । क्योंकि शक्ति की अपेक्षा तो वह कूटस्थ नित्य है ।

जैन—इसी तरह आत्मा में भी स्वीकार करना चाहिये । ज्ञानकी अपेक्षा वह परिणामी है और शक्ति की अपेक्षा वह कूटस्थ है, कोई विशेषता नहीं है । यह बात भी ध्यानमें रखिये कि आत्मा हो चाहे प्रधान हो किसी को भी यदि सर्वथा अपरिणामी मानते है तो उसमें अर्थ क्रिया नहीं हो सकती है । जिसमें अर्थ क्रिया (उपयोगिता) नहीं है वह पदार्थ ही नहीं है । ऐसा हम जैन आगे प्रतिपादन ही करने वाले है । बुद्धि या ज्ञान को यदि स्वसंवेदन का विषय नहीं माना जाय तो वह ज्ञान प्रतिनियत वस्तुओं

न स्यात् । तद्व्यवस्थापकत्वं हि तदनुभवनम्, तत्कथं बुद्धेश्प्रत्यक्षत्वे घटेत् ? आत्मान्तरबुद्धितोपि तत्प्रसङ्गात्, न चैवम् । ततो बुद्धिः स्वव्यवसायात्मिका कारणान्तरनिरपेक्षतयाऽर्थव्यवस्थापकत्वात्, यत्पुनः स्वव्यवसायात्मकं न भवति न तत्तथाऽर्थव्यवस्थापकं यथाऽऽदर्शादीति । अर्थव्यवस्थितौ तस्या पुरुषभोगापेक्षत्वात् “बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते” [] इत्यभिधानात् । ततोऽसिद्धो हेतुरित्यपि श्रद्धामात्रम्, भेदेनानयोरनुपलम्भात् । एकमेव ह्यनुभवसिद्धं सविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारं विषयव्यवस्थापकमनुभूयते, तस्यैवैते ‘चैतन्यं बुद्धिरध्यवसायो ज्ञानम्’ इति पर्यायाः । न च शब्द-भेदमात्राद्वास्तवोऽर्थभेदोऽतिप्रसङ्गात् ।

की व्यवस्था कर नहीं सकता है । क्योंकि वस्तु व्यवस्था तो ज्ञानानुभव पर निर्भर है । जब बुद्धि ही अप्रत्यक्ष रहेगी तो उसके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ किस प्रकार प्रत्यक्ष हो सकते हैं । तथा आत्मा का ज्ञान यदि अपने को नहीं जानता है तो उसको अन्य पुरुष का ज्ञान जानेगा, किन्तु ऐसा देखा गया नहीं है । अतः यह अनुमान सिद्ध बात है कि बुद्धि (ज्ञान) स्वव्यवसायात्मक (अपने को जाननेवाला) है । क्योंकि वह अन्य कारण की अपेक्षा के बिना ही पदार्थों को ग्रहण करती है—जानती है । जो स्वव्यवसायी नहीं होता है वह पदार्थ की पर निरपेक्षता से व्यवस्था भी नहीं करता है । जैसे दर्पण आदि कारणान्तर की अपेक्षा के बिना वस्तु व्यवस्था नहीं करते हैं । इसीलिये उन्हें स्वव्यवसायी नहीं माना है ।

सांख्य—पदार्थों की व्यवस्था जो बुद्धि करती है वह इसलिये करती है कि वे पदार्थ पुरुष-आत्मा के उपभोग्य हुआ करते हैं । कहा भी है—बुद्धि से जाने हुए पदार्थ का पुरुष अनुभव करता है इसलिये “अन्य कारण की अपेक्षा के बिना बुद्धि पदार्थ को जानती है” ऐसा कहा हुआ आपका हेतु असिद्ध दोष युक्त हो जाता है, क्योंकि वह कारणान्तर सापेक्ष होकर ही पदार्थ व्यवस्था करती है ।

जैन—यह श्रद्धामात्र कथन है, क्योंकि बुद्धि और अनुभव इनकी भेदरूप से उपलब्धि नहीं देखी जाती है । अनुभव सिद्ध एक ही ज्ञानरूप वस्तु है जो कि हर्ष, विषाद आदि अनेक आकाररूप से विषय व्यवस्था करती हुई अनुभव में आ रही है, उसी के बुद्धि, चैतन्य, अध्यवसाय, ज्ञान ये सब पर्यायवाची शब्द हैं । इस प्रकार का शब्दमात्र का भेद होनेसे अर्थ में भेद नहीं हुआ करता है । अन्यथा अतिप्रसंग आवेगा ।

सांख्य—बुद्धि और चैतन्य में भेद विद्यमान है, सो भी सबध विशेष को देखकर विप्रलब्ध हुए व्यक्ति उस भेद को जान नहीं पाते हैं, जैसे अग्नि के सबध

ससर्गविशेषवशाद्विप्रलब्धो बुद्धिचैतन्ययोः सन्तमपि भेद नावधारयत्ययोगोलकादिवाग्नेः । न चात्रापि भेदो नास्तीत्यभिधातव्यम्, उभयत्र रूपस्पर्शयोर्भेदप्रतीतेः । अयोगोलकस्य हि वृत्तसन्निवेशः कठिनस्पर्शश्चान्योऽग्नि (ग्ने) र्भासुररूपोष्णस्पर्शाभ्या प्रमाणतः प्रतीयते । ततो यथात्राऽन्योऽन्यानु-प्रवेशलक्षणससर्गाद्विभागप्रतिपत्त्यभावस्तथा प्रकृतेपीत्यप्यसाम्प्रतम्, वह्नययोगोलकयोरप्यभेदात् । अयोगोलकद्रव्य हि पूर्वाकारपरित्यागेनाग्निमन्निधानाद्विशिष्टरूपस्पर्शपर्यायाधारभेकमेवोत्पन्नमनुभूयते आमाकारपरित्यागेन पाकाकाराधारघटद्रव्यवत् । कथं तर्हि तस्योत्तरकाल तत्पर्यायाधारताया विनाश-

विशेष के कारण लोहे का गोला अभिन्न दिखाई देता है, लोहा और अग्निमें भेद नहीं है ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि उन दोनों में रूप तथा स्पर्श का पृथक्पना स्पष्ट ही दिखता है, अर्थात् लोहे का गोला गोल गोल बड़ा होता है, कठोर स्पर्शवाला भी होता है, और अग्नि चमकीले रूपवाली तथा उष्ण स्पर्श युक्त होती है । इस प्रकार प्रत्यक्ष से ही प्रतीत होता है । इसलिये जैसे लोहा और अग्नि इन दोनों में अन्योन्यप्रवेशानु प्रवेशलक्षण सबध हो जाने से विभाग का ज्ञान नहीं होता है, वैसे ही बुद्धि और चैतन्य में परस्पर अनुप्रवेश होने से भेद नहीं दिखता ।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अग्नि और लोहे के गोले में भी भेद नहीं रहता, लोहे का गोला अग्नि के संसर्ग से अपने पूर्व आकार का त्यागकर विशिष्ट पर्यायवाला एव भिन्न ही स्पर्श तथा रूपवाला बन जाता है, जिस प्रकार घट अपने पहिले कच्चे आकार को छोड़कर उत्तरकाल में पाक के आकार को धारण करता है ।

शंका—यदि लोहे का गोला अग्नि ही बन जाता है तो आगे जाकर उस पर्याय को आधारता का विनाश कैसे दिखाई देता है ?

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं, क्योंकि उस लोहे के गोले का जो अग्निरूप परिणमन हुआ है वह तत्काल ही नष्ट होता हुआ नहीं देखा जाता है । देखिये—अनेक प्रकार के परिणमन और सबध वस्तुओं में पाये जाते हैं, कोई वस्तु तो कुछ परिणामन-उपाधि का कारण मिलने पर उस उपाधिरूप बन जाती है और उपाधि के हटते ही तत्काल उस परिणामन या पर्याय से रहित हो जाती है, जैसे जपापुष्प का सम्बन्ध पाकर स्फटिक तत्काल लाल बन जाता है और उसके हटते ही तत्काल अपने सफेद स्वभाव में आ जाता है । अन्य कोई वस्तु का परिणमन इस प्रकार भी होता है कि वह कुछ काल तक बना रहता है, जैसे सुन्दर स्त्री माला आदि विषयो के सम्बन्ध से आत्मा में सुख पर्याय कुछ समय तक बनी रहती है, पदार्थों का यह

प्रतीतिः? इत्यप्यचोद्यम्, उत्पत्त्यनन्तरमेव तद्विनाशाप्रतीतिः। किञ्चिद्बुद्धीपाधिक वस्तुरूपमुपास्यपा-
यानन्तरमेवापति, यथा जपापुष्पसन्निधानोपनीतस्फटिकरक्तिमा। किञ्चित्तु कालान्तरे, मनोज्ञाङ्गनादि-
विषयोपनीतात्मसुखादिवत्। सकलभावानां स्वतोऽन्यतश्च निवर्त्तनप्रतीतिः। तन्नान्ययोगोलकयोर्भेदः।

तद्वदिहाप्येकस्मिन् स्वपरप्रकाशात्मपर्यायेऽनुभूयमाने नान्यसद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा न
क्वचिदेकत्वव्यवस्था स्यात्। सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गश्च, अनिष्टार्थपरिहारेणैव वस्तुन्येकस्मिन्ननु-

परिणमन स्वतः और पर से भी होता है, इस प्रकार अग्नि और लोहे का गोला
इनमें सम्बन्ध के बाद कुछ समय तक भेद नहीं रहता है यह सिद्ध हुआ।

विशेषार्थ—साख्य का कहना है कि बुद्धि या ज्ञान आत्मा का धर्म नहीं है
वह तो प्रधान—जड का धर्म है, उस धर्म का आत्मा से ससर्ग होता है, इसलिये
आत्मा में ज्ञान है ऐसा मालूम पड़ता है। ससर्ग के कारण ही आत्मा में और बुद्धि में
अभेद दिखाई देता है, जैसे कि लोहे का गोला अग्नि का ससर्ग पाकर अग्निरूप ही
दिखता है। आचार्य ने उनको समझाया है कि यह अग्नि और लोहे का दृष्टान्त
यहाँ पर फिट बैठता नहीं है, क्योंकि जिस समय लोहा अग्नि का ससर्ग करता है उस
समय लोहा और अग्नि में भेद रहता ही नहीं है, मतलब—वे दोनों एक रूप ही हो
जाते हैं, हम जैन आपके समान द्रव्य को कूटस्थ नित्य नहीं मानते हैं, विकारी द्रव्य
की जो पर्याय जिस समय जैसी होती है द्रव्य भी उस समय वैसा ही बनता है, उस
पर्याय से द्रव्य का कोई न्यारा अस्तित्व नहीं रहता है। अतः अग्नि और लोहे का
दृष्टान्त आत्मा और ज्ञान पर लागू नहीं होता है। जैसे अग्नि और लोहे का सपर्क
होने पर उनमें कोई भेद नहीं रहता वह उसी अग्नि रूप ही हो जाता है, वैसे ही
आत्मा और ज्ञान में भेद नहीं है एक ही वस्तु है, ज्ञान और चैतन्य एक ही स्वपर
प्रकाशात्मक पर्यायस्वरूप अनुभव में आ रहा है, उसमें अन्य किसी का सद्भाव नहीं
मानना चाहिये, यदि पदार्थ एक रूप दिखाई दे रहा है तो भी उसको अनेक रूप
मानेंगे तो कहीं पर भी एकपत्ते की व्यवस्था नहीं रहेगी—संपूर्ण व्यवहार भी समाप्त
हो जावेगा, क्योंकि अनिष्ट वस्तु का परिहार करके किसी एक इष्ट वस्तु के अनुभव
होनेपर भी शका रहेगी कि क्या मालूम यह और कुछ दूसरी वस्तु तो नहीं है। इस
तरह सशय बना रहने से कहीं पर भी अपनी इष्ट वस्तु को लेने के लिये प्रवृत्ति नहीं
हो सकेगी, भावार्थ—अभिन्न एक वस्तुरूप जो चैतन्य और बुद्धि है उसमें भी यदि भेद
माना जाय तो किसी स्थान पर किसी भी एक वस्तु में एकत्व का निश्चय नहीं हो

भूयमानेऽन्यसद्भावाशङ्कया क्वचित्प्रवृत्त्याद्यभावात् । ततोऽबाधितैकत्वप्रतिभासादपरपरिहारेणाव-
भासमाने वस्तुन्येकत्वव्यवस्थामिच्छना अनुभवसिद्धकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनेकधर्माधारचिद्विवर्त्तस्याप्येक-
त्वमभ्युपगन्तव्यं तदविशेषात् । न चात्रैकत्वप्रतिभासे किञ्चिद्बाधकम्, यतो द्विचन्द्रादिप्रतिभासवन्मि-
थ्यात्वं स्यात् । स्वसवेदनप्रसिद्धस्वपरप्रकाशरूपचिद्विवर्त्तव्यतिरेकेणान्यचैतन्यस्य कदाचनाप्यप्रतीते ।
न चोपदेशमात्रात्प्रेक्षावता निर्बाधबोधाधिरूढोऽर्थोऽन्यथा प्रतिभासमानोऽन्यथापि कल्पयितुं युक्तोऽति-

सकेगा, फिर तो कही इष्ट भोजन स्त्री आदि वस्तुओ को देखकर उसमें भी सर्प, विष आदि की शंका के कारण लेना, खाना आदि रूप प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी ।

इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि जहां अबाधितपने से एकपने का प्रतिभास है, अन्य वस्तु का परिहार करके एकत्व प्रतीत हो रहा है वहा पर एकरूप एक ही वस्तु को मानना, इस तरह की वस्तु व्यवस्था को चाहते हुए सभी को अनुभव से जिसकी सिद्धि है ऐसे कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि अनेक धर्मों का आधार ऐसा एक चैतन्य है उस चैतन्य का ही धर्म बुद्धि है, इसी का नाम ज्ञान है । इस प्रकार मानना चाहिये, क्योंकि चैतन्य और बुद्धि में कोई आधार आदि का पृथक्पना या अन्य विशेषता नहीं देखी जाती है अर्थात् जहां पर चैतन्य का प्रतिभास है वही पर बुद्धि का भी प्रतिभास या उपलब्धि देखी जाती है, इन चैतन्य और बुद्धि में जो एकपना प्रतीत होता है उसमें कोई बाधा भी नहीं आती है, जब बाधा नहीं है तब किस कारण से उस प्रतिभास को द्विचन्द्रादि ज्ञान के समान मिथ्या माना जाय ? अर्थात् नहीं मान सकते है । स्वसवेदन ज्ञान से यह असिद्ध ही होता है कि स्वपर प्रकाशरूप अर्थात् अपना और पर पदार्थोंका जाननारूप ही पर्याय जिसकी है, ऐसा चैतन्य ही है, इस स्वपर प्रकाशक धर्म को छोड़कर अन्य किसी रूप से भी उस चैतन्य की प्रतीति नहीं आती है । अर्थात् चैतन्य को छोड़कर बुद्धि और बुद्धि को छोड़कर चैतन्य पृथक् रूप से कभी भी प्रतिभासित नहीं होते है । किसी के उपदेश या आगममात्र से बुद्धिमान् व्यक्ति निर्बाधज्ञान में प्रतिभासित हुए पदार्थ को विपरीत नहीं मान सकते है । अर्थात् किसी के काल्पनिक उपदेश से प्रत्यक्ष प्रतीति मे आये हुए पदार्थ को अन्य का अन्यरूप मानना युक्त नहीं होता है, अन्यथा अतिप्रसंग आता है । चैतन्य स्वरूप पुरुष ही जब अपना और पदार्थों का प्रकाशन-जानना रूप कार्य करता हुआ उपलब्ध हो रहा है तब उससे बुद्धि को पृथक् मानने में क्या प्रयोजन है और उस बुद्धि युक्त प्रधान तत्त्व की कल्पना भी किसलिये की जाय ? अर्थात् आत्मा से बुद्धि को भिन्न मानने मे कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं

प्रसङ्गात् । चैतन्यस्य च स्वपरप्रकाशात्मकत्वे किं बुद्धिसाध्य येनासी कल्प्यते ? - -

“ बुद्धेश्चाचेतनत्वे विषयव्यवस्थापकत्व न स्यात् । आकारवत्त्वात्तत्त्वमित्यप्युक्तम्, अचेतन-
स्याकारत्वे (रवत्त्वे) ग्यर्थव्यवस्थापकत्वासम्भवात्, अन्यथाऽऽदृशदिरपि तत्प्रसङ्गाद्बुद्धिरूपतानुषङ्ग ।
अन्त करणत्व-पुरुषोपभोगप्रत्यासन्नहेतुत्वलक्षणविशेषोपि मनोऽक्षादिनानेकान्तिकत्वान्न बुद्धेर्लक्षणम् ।
यदि च अयमेकान्त - 'अन्त.करणमन्तरेणार्थमात्मा न प्रत्येति' इति, कथं तर्हि अन्त-करणप्रत्यक्षता ?
अन्यान्त.करणबिम्बादेवेति चेत्, अनवस्था । अन्यान्त करणबिम्बमन्तरेणान्त करणप्रत्यक्षताया च

होता है । बुद्धि को प्रधान का धर्म - मानने से एक बड़ी आपत्ति यह आवेगी कि वह अचेतन होने से विषयो की व्यवस्था नहीं कर सकेगी ।

सांख्य—वह बुद्धि आकार धर्मवाली है अर्थात् उसमें पदार्थ का आकार रहता है । अतः वह विषय व्यवस्था करा देती है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, क्योंकि अचेतन ऐसी जड़ बुद्धि आकार वाली होने पर भी पदार्थ की व्यवस्था को अर्थात् जानने रूप कार्य को जो यह घट है यह इससे भिन्न पट है ऐसी पृथक् पृथक् वस्तुओं की व्यवस्था को नहीं कर सकती है । क्योंकि वह अचेतन है । आकार धारण करने मात्र से यदि वस्तु का जानना भी हो जाय तो दर्पण, जल आदि पदार्थ भी बुद्धि रूप मानना चाहिये, क्योंकि आकारों को तो वे जड़ पदार्थ भी धारण करते हैं ।

विशेषार्थ—सांख्य ने बुद्धि को जडतत्त्व जो प्रधान है उसका धर्म माना है । इसलिये आचार्य ने कहा कि अचेतन रूप बुद्धि से पदार्थों का जानना, सब विषयों की पृथक् पृथक् व्यवस्था करना आदि कार्य कैसे निष्पन्न हो सकेंगे । इस पर सांख्य यह जबाब देता है कि बुद्धि अचेतन भले ही रहे किन्तु वह आकारवती होने से विषयव्यवस्था कर लेती है, तब इसका खडन आचार्यदेव ने दर्पण के उदाहरण से किया है, दर्पण में भी आकार होता है—अर्थात् पदार्थों का आकार दर्पण में रहता है, किन्तु वह वस्तु व्यवस्था नहीं कर सकता है, आकार होने मात्र से वह पदार्थ को यदि जानने लग जाय तब तो जल काच आदि जितने भी पदार्थ पारदर्शी हैं वे सब के सब बुद्धिरूप बन जावेंगे । अतः आकारवान् होने से बुद्धि पदार्थ को जानती है यह बात सिद्ध नहीं होती है ।

सांख्य—जो अन्तःकरण रूप हो वह बुद्धि है अथवा जो पुरुष के उपभोग का निकटवर्ती साधन हो वह बुद्धि है ।

अर्थप्रत्यक्षतापि तथैवास्त्वलं तत्परिकल्पनया । अन्तःकरणप्रत्यक्षताभावे च कथं तद्गतार्थबिम्ब-
ग्रहणम् ? न ह्यादर्शाग्रहणे तद्गतार्थप्रतिबिम्बग्रहणं दृष्टम् ।

विषयाकारधारित्वं च बुद्धेरनुपपन्नम्, मूर्त्तस्यामूर्त्ते प्रतिबिम्बासम्भवात् । तथा हि—न
विषयाकारधारिणी बुद्धिर्धर्ममूर्त्तत्वादाकाशवत्, यत्तु विषयाकारधारि तन्मूर्त्तं यथा दर्पणादि । न
चासिद्धो हेतुः; तस्या सकलवादिभिरमूर्त्तत्वाभ्युपगमात् । अन्यथा बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गे दर्पणा-

जैन—ऐसा कहना भी सदोष है, देखिये—अन्तःकरण—आत्मा का अन्दर का
करण तो मन भी है पर वह बुद्धिरूप नहीं है, अत आत्मा का अन्दर का जो करण
हो वह बुद्धि है ऐसा कथन सदोष—अनैकान्तिक दोष से युक्त हो जाता है, इसी प्रकार
से जो पुरुष—आत्मा का उपभोग का निकटवर्ती साधन हो वह बुद्धि है ऐसा लक्षण
भी अतिव्याप्ति दोष वाला है, क्योंकि इन्द्रियां भी पुरुष के उपभोग में निकट साधन
होकर भी बुद्धिरूप नहीं है, आप साख्य का यदि ऐसा ही एकान्त पक्ष हो कि आकार
वाली बुद्धि के विना पदार्थ को आत्मा कैसे जानेगा ? सो इस पक्ष पर हम जैन का
कहना है कि उस आकार वाली बुद्धि को कौन जानेगा ? यदि अन्य किसी आकार
वाली बुद्धि उस विवक्षित बुद्धि को जानती है तो इस मान्यता में अनवस्था आती है,
यदि कहा जावे कि उस बुद्धि को जानने के लिये अन्य बुद्धि की आवश्यकता पड़ती
नहीं है, वह तो आप ही प्रत्यक्ष हो जाती है, तब तो पदार्थों का प्रत्यक्ष होना भी
अपने आप से ही हो जाना चाहिये, फिर बेकार की उस जड़ बुद्धि को काहे को माना
जाय । यदि कहा जावे कि बुद्धि को प्रत्यक्ष मानने की आवश्यकता नहीं तो ऐसा
कहना भी युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार दर्पण को विना ग्रहण किये उसमें रहे हुए
प्रतिबिम्ब को ग्रहण नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार बुद्धि को ग्रहण किये विना पदार्थ
के आकार को प्रतिबिम्ब को ग्रहण नहीं किया जा सकता—नहीं जाना जा सकता है ।

बुद्धि में विषयो का—सामने के बाहिरी जड़ पदार्थों का आकार आता है
सो यह बात इसलिये भी नहीं युक्ति युक्त प्रतीत होती है कि ज्ञान तो—(बुद्धि तो)
अमूर्त है, अमूर्त वस्तु में मूर्तिक का—विषयभूत पदार्थों का प्रतिबिम्ब—आकार पड़ना
असंभव है । अनुमान प्रमाण से यही बात सिद्ध होती है—अमूर्त होने से बुद्धि विषयों
के आकार को अमूर्त आकाश की तरह धारण नहीं करती है, जो विषय के आकार
को धारण करता है वह दर्पणादि की तरह मूर्तिक होता है, यहां जो अमूर्तत्व हेतु
है वह असिद्ध नहीं है क्योंकि सभी वादियों ने बुद्धि को अमूर्त माना है । यदि वह
मूर्तिक होती तो दर्पणादि की तरह बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने में आती ।

दिवदेव । अतिसूक्ष्मत्वात्तदप्रत्यक्षत्वे तद्गतार्थप्रतिबिम्बप्रत्यक्षतापि न स्यात्, मूर्तस्य चेन्द्रियादिद्वारेणैव सवेदनसम्भवात् । तदभावेऽसविदितत्वप्रसङ्गश्च । सर्वथा परोक्षत्वाभ्युपगमे चास्या मीमासकमतानुषङ्ग ।

शंका—बुद्धि अतिसूक्ष्म है, इसलिये वह अप्रत्यक्ष रहती है, अर्थात् बाह्येन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने में नहीं आती ।

समाधान—तो फिर उसकी अप्रत्यक्षता में उस बुद्धि में पडा हुआ जो प्रतिबिम्ब—आकारहै उसे भी अप्रत्यक्ष ही रहना चाहिये—बाह्येन्द्रिय द्वारा उसका भी ग्रहण नहीं होना चाहिये, इस तरह यह बात सिद्ध हो जाती है कि जो मूर्तिक होता है उसका बाह्य इन्द्रियादि द्वारा ही सवेदन होता है, और किसी के द्वारा नहीं, यदि बुद्धि का इन्द्रिय से या अन्य किसी से ग्रहण होना नहीं माना जाय तो वह असविदित हो जायगी और इस तरह उसकी सर्वथा असविदितता में—सर्वथा परोक्षरूपता में आपका प्रवेश मीमासक मत में हो जावेगा, अतः आपका बुद्धि को—(ज्ञान को) अचेतन मानना किसी भी युक्ति से सिद्ध नहीं होता है ।

* सांख्याभिमत अचेतनज्ञानवाद का खंडन समाप्त *

*

अचेतनज्ञानवाद के खंडन का सारांश

सांख्य ज्ञान को अचेतन मानते हैं, उनका कहना है कि प्रधान (प्रकृति) महान् बुद्धि को उत्पन्न करता है अतः वह अचेतन है । हा उस महान् रूप बुद्धि का ससर्ग पुरुष के साथ होता है, इसलिये हमें यह आत्मारूप मालूम पड़ती है । जैसे लोहे का गोला और अग्नि भिन्न होकर भी अभिन्न दिखाई देते हैं । दूमरा एक कारण और है कि बुद्धि आकारवती है अतः वह अचेतन है । चेतन में आकार नहीं है । सो इस मत का खंडन आचार्य ने इस प्रकार से किया है कि ज्ञान चेतन का धर्म है जैसा कि देखना दृष्टत्व धर्म चेतन का है, कर्तृत्व आदि धर्म भी चेतन के ही हैं । आपने जो ऐसा कहा कि बुद्धि आत्मा के साथ संसर्गित होने से चेतनरूप मालूम पड़ती है सो चेतन के बारे में भी ऐसा ही कह सकते हैं अर्थात् चेतन के ससर्ग से आत्मा चेतन दिखाई देता है,

किन्तु वास्तविक चेतन प्रधान का धर्म है, ऐसी विपरीत मान्यता भी माननी पड़ेगी ! तुम कहो कि आत्मा मे ज्ञान स्वत माने तो आत्मा अनित्य हो जायगा इसलिये ज्ञान से भिन्न आत्मा को माना है सो भी ठीक नहीं क्योंकि यही दोष प्रधान मे भी आता है अर्थात् प्रधान में बुद्धि मानी जाय तो वह भी अनित्य हो जायगा, इस पर सांख्य ने युक्ति दी है कि बुद्धिरूप विवर्त्त अव्यक्त प्रधान से पृथक् है तो फिर ऐसे ही आत्मा में मानो, कोई विशेषता नहीं, आत्मा भी अपने ज्ञानरूप स्वपर सवेदन से कथञ्चित् भिन्न है, अतः यह तो नित्य है और बुद्धि अर्थात् ज्ञान अनित्य है । बुद्धि यदि अचेतन है तो वह प्रतिनियत वस्तु को जान नहीं सकती है, जैसे दर्पण । बुद्धि और चैतन्य में कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता है, व्यर्थ ही उसमें भिन्नता मानते हो । अग्नि और लोहे का दृष्टान्त ठीक नहीं, क्योंकि जब लोहा अग्नि के साथ संबंध करता है तब वह खुद ही अपने कठोरता, कृष्णता आदि गुणों को छोड़कर उष्णादिरूप हो जाता है, इसलिये इनमे सर्वथा भेद नहीं है । बुद्धि में विषय का आकार मानना भी गलत है, क्योंकि बुद्धि तो अमूर्त है, उसमे मूर्त आकार कैसे आ सकता है ? बुद्धि के जो लक्षण किये गये है वे भी सदोष है । प्रथम लक्षण यह है कि अन्तःकरण रूप जो हो वह बुद्धि है सो यह लक्षण मत मे चला जाता है अतः अतिव्याप्त है, तथा पुरुष के उपभोग्य की निकटता का जो कारण है वह बुद्धि है सो ऐसा यह लक्षण इन्द्रियो के साथ अतिव्याप्त हो जाता है । इसलिये सदोष-लक्षण अपने लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर सकता, अन्त मे सार यही है कि बुद्धि, आत्मा-पुरुष का धर्म है उसी के ज्ञान, अध्यवसाय, प्रतिभास, प्रतीति आदि नाम है ।

* सारांश समाप्त *



साकारज्ञानवाद पूर्वपक्ष ।

जिस प्रकार हम बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं उसी प्रकार प्रमाण मात्र को अर्थाकार होना भी मानते हैं । अर्थात् ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है वह उसी के आकार वाला होता है । इसे ही तदुत्पत्ति तदाकार होना कहते हैं । ज्ञान नील आदि पदार्थ से उत्पन्न होता है यह उसकी तदुत्पत्ति है और वह उसी के आकार को धारण करता है यह उसकी तदाकारता है, जब ज्ञान उस नील आदि से उत्पन्न होता है और उसी के आकार को धारण करता है तब ही वह उसे जान सकता है और तभी वह सत्य की कोटि में आता है, यही तदध्यवसाय है, जैन आदि प्रवादी ज्ञान को तदाकार होना-पदार्थ के आकार होना नहीं मानते हैं, अतः उनके मत में अमुक ज्ञान अमुक वस्तु को ही जानता है ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकती है, अब आगे ज्ञान साकार है-पदार्थ को जानते समय पदार्थ के आकार हो जाता है इस बात को बौद्धों की मान्यता के अनुसार सप्रमाण सिद्ध किया जाता है—

अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् ॥ २० ॥

अर्थेन सह यत् सारूप्य सादृश्य अस्य ज्ञानस्य तत् प्रमाणम् इह यस्माद् विषया द्विज्ञानमुदेति तद्विषयसदृश तद्बुभवति, यथा नीलादुत्पद्यमान नीलसदृश, तच्च सारूप्य सादृश्य आकार इत्याभास इत्यपि व्यपदिश्यते ॥२०॥ न्यायबिन्दु पृ० ८४

अर्थ—ज्ञान का जो पदार्थ के आकार होता है वही उसका प्रमाणपना है अर्थात् ज्ञान जिस विषय से उत्पन्न होता है उसी विषय के आकार को धारण करता है । जैसे—नील पदार्थ से उत्पन्न हुआ ज्ञान नील सदृश ही बनता है, इसी सारूप्य को सादृश्य, आकार आभास इत्यादि नामों से पुकारा जाता है, अन्यत्र भी यही कहा है—

तस्मात् प्रमेयाधिगते प्रमाण मेयरूपता ॥ (प्रमाणवार्तिक) प्रमेय को जानने से ही प्रमाण का मेयाकार-पदार्थाकार होना सिद्ध होता है ।

अर्थेन घटयत्येना न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।

अन्यत् स्वभेदो ज्ञानस्य भेदकोऽपि कथंचने ॥ ३०५ ॥

—प्रमाणवार्तिक

अर्थ—यह जो निर्विकल्प बुद्धिका अर्थाकार होता है वही तो पदार्थ के साथ सबध जोड़ने वाला है, ज्ञान यदि पदार्थाकार न होवे तो उसमें घटज्ञान पटज्ञान इत्यादि भेद हो ही नहीं सकता । “न वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता तस्या. सर्वत्रा विशेषात् । तां तु सारूप्यमाविणत् सरूप यत्तद् घटयेत्” ॥ भामती पृ० ५४२ ॥ अर्थात् केवल विशुद्ध निराकार ज्ञान होने से ही यह नील है इस प्रकार से अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि वह ज्ञान तो सभी अर्थों में समानरूप से होता है, किन्तु वस्तु का सारूप्य जब उस ज्ञान में हो जाता है तब वह उस ज्ञान को वस्तु के आकार वाला बना देता है । इससे सिद्ध होता है कि कोई वस्तु ज्ञान का विषय इसलिये नहीं मानी जाती कि ज्ञान उसे ग्रहण करता है, अपितु जो ज्ञान जिस वस्तु से उत्पन्न होता है तथा जिसके सदृश होता है वही वस्तु उस ज्ञान का विषय कहलाती है ।

तत्सारूप्यतदुत्पत्तिभ्यां विषयत्वम् ।

तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते ॥

—प्रमाणवार्तिक पृ० २२४

तथा—स एव विषयोय आकारमस्यामर्पयति ॥ (न्यायवार्तिक ता पृ० ३८८)
बुद्धि या ज्ञान के विषय में प्रमाणवार्तिक आदि ग्रन्थों में इसी प्रकार का वर्णन मिलता है, कि ज्ञान जिस वस्तु के आकार का हुआ है वही वस्तु उस ज्ञान के द्वारा ग्राह्य-ग्रहण करने योग्य या जानने योग्य हुआ करती है । अन्य नहीं, जो पदार्थ ज्ञान में अपना आकार अर्पित करता है वही उसका विषय है, अन्य नहीं, इसीलिये अनेक पदार्थ हमारे सामने उपस्थित होते हुए भी ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न हुआ है और जिसके आकार को धारण किये हुए है उसी को मात्र वह जानता है, अन्य अन्य पदार्थ को नहीं । यहां यदि कोई प्रश्न करे कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है और उसके आकार को धारण करता है तो उसे इन्द्रिय के आकार भी होना चाहिये, क्योंकि ज्ञान जैसे पदार्थ से उत्पन्न होता है वैसे वह इन्द्रिय से भी उत्पन्न होता है ? सो उसका उत्तर इस प्रकार है—

यथैवाहारकालादेः समानेऽपत्यजन्मनि ।

पित्रोस्तदेकमाकारं घत्ते नान्यस्य कस्यचित् ॥

—प्रमाणवार्तिक पृ० ३६६

जिस प्रकार आहार समय आदि अनेक कारण बालक के जन्म में, समानरूप से निर्मित हुआ करता है किन्तु उन सर्वमें से माता या पिता इन दोमे से किसी एक के आकार-शकल को बालक धारण करता है, अन्य कारणों का आकार वह धारण नहीं करता, ठीक इसी प्रकार ज्ञान इन्द्रिय पदार्थ आदि कारणों से उत्पन्न होते हुए भी इनमें से पदार्थ के ही आकार को धारण करता है, इन्द्रियादि के आकार को नहीं।

खास बात तो यही है कि यदि ज्ञान को निराकार माना जावे तो प्रतिकर्म व्यवस्था समाप्त हो जाती है, कहा भी है—

“किमर्थं तर्हि सारूप्यमिष्यते प्रमाणम् ? क्रियाकर्म व्यवस्थायास्तल्लोके स्यान्निबधनम्... .

सारूप्यतोऽन्यथा न भवति नीलस्य कर्मण सवित्ति. पीतस्य वेति क्रियाकर्म प्रतिनियमार्थ इष्यते” ॥ प्रमाणवार्तिकालकार पृ० ११६

यदि कोई पूछे कि बौद्ध ज्ञान को साकार क्यों मानते हैं तो उसका उत्तर यही है कि पदार्थ की प्रतीति की पृथक् २ व्यवस्था बिना ज्ञान के साकार हुए बन नहीं सकती, अर्थात् यह नीला पदार्थ है, यह इस नीले पदार्थ का सवेदन हो रहा है और यह पीत का सवेदन हो रहा है इत्यादि प्रतिभास रूप क्रिया और उस क्रिया का कर्म जो पदार्थ है, इतकी व्यवस्था होना साकार ज्ञान के ऊपर ही निर्भर है।

स्वसंवित्ति. फलचास्य ताद्रूप्यादर्थनिश्चयः ।
प्रमाणवार्तिकालकार एवास्य प्रमाण तेन मीयते ॥

—प्रमाण समुच्चय १।१०।

प्रतीतिदाकार होने से ज्ञान के द्वारा पदार्थ का निश्चय हुआ करता है। उस ज्ञान को फल तो स्वै को अपना सवेदन होना मात्र ही है, इसी प्रकार प्रमाण की प्रामाणिकता विषयाकार होना साकार होने से ही तिश्चितता की जाती है।

इस प्रकार के इन उपर्युक्त कथनों से सिद्ध होता है कि ज्ञान साकार है, जिस वस्तु को वह जावता है, वही उसी से पैदा होकर उसी के आकार वाला हुआ करता है।

३३६ ० पु. न. १।१०।५५ — * पूर्वपक्ष समाप्त *

साकारज्ञानवादः



एतेन, बौद्धोप्याकारवत्त्वेन, ज्ञाने, प्रामाण्य, प्रतिपादयन्प्रत्याख्यात, । प्रत्यक्षत्रिरौघाच्च; प्रत्यक्षेण विषयाकाररहितमेव ज्ञान, प्रतिपुरुषमहमहमिकया घटादिग्राहकमनुभूयते, न पुनर्दर्पणादि-वत्प्रतिबिम्बाक्रान्तम् । विषयाकारधारित्वे च, ज्ञानस्यार्थे, दूरनिकटादिव्यवहाराभावप्रसङ्गः । न खलु-स्वरूपे स्वतोऽभिन्नेऽनुभूयमाने सोस्ति, न चैवम्, 'दूरे पर्वतो निकटे मदीयो बाहु' इति व्यव-

साख्य के द्वारा माना गया ज्ञान का अचेतनपना तथा आकारपना खडित होने से ही बौद्धसमत साकार ज्ञान का भी खडन हो जाता है, उन्होने भी ज्ञान में प्रमाणता का कारण विषयाकारवृत्त्व माना है, अर्थात् ज्ञान पदार्थ के आकार होकर ही पदार्थ को जानता है और तभी वह प्रमाण कहलाता है, यह ज्ञान में तदाकारपना प्रत्यक्ष से बाधित होता है, प्रत्येक पुरुष को अपना अपना ज्ञान घटादि-पदार्थों के आकार न होकर ही उन्हे ग्रहण करता हुआ अनुभव में आ रहा है, न कि, प्रतिबिम्ब से व्याप्त दर्पण के समान अनुभव में आता है। यदि ज्ञान पदार्थाकार को धारण करता है, ऐसा स्वीकार किया जावे तो पदार्थ में जो दूर और निकटपने का व्यवहार होता है वह नहीं हो सकेगा, क्योंकि ज्ञान स्वयं उस रूप हो गया है। वह आकार उस ज्ञान से अभिन्न अनुभव में आने पर उसमें क्या दूरता-एव, क्या निकटता प्रतीत होगी, अर्थात् किसी प्रकार भी आसन्नदूरता का भेद नहीं रहेगा, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि यह दूरवर्तीपना और प्रत्यासन्नपना सतत ही अनुभव में आता रहता है, देखो—“यह पर्वत दूर है, यह मेरा हाथ निकट है”, इत्यादि प्रतिभास बिल्कुल स्पष्ट और निर्बाध-रूप से होता हुआ उपलब्ध होता ही है। इसलिये ज्ञान में प्रतिभासित होनेवाले इस दूरनिकट व्यवहार से ही सिद्ध होता है कि ज्ञान पदार्थ के आकार-रूप नहीं होकर ही उसे जानता है, अतः पदार्थ के आकार के धारक उस ज्ञान में दूर आदि रूप से व्यवहार होना शक्य नहीं है, जैसा कि दर्पण में प्रतिबिम्बित हुए आकार में यह दूर

हारस्याऽऽखलद्रूपस्य प्रतीते । तनस्तदन्यथानुपपत्तेर्निराकार तत् । न चाकाराधायकस्य दूरादितया तथा व्यवहारो युक्त दर्पणादौ नथानुपलम्भात् । दीर्घस्वापवतश्च प्रबोधचेतसो जनकस्य जाग्रद्ज्ञानचेतसो दूरत्वेनातीतत्वेन चात्रापि दूरातीतादिव्यवहारानुपपन्न स्यात् ।

किञ्च, अर्थादुपजायमानं ज्ञानं यथा तस्य नीलतामनुकरोति तथा यदि जडतामपि, तर्हि जडमेव तत् स्यादुत्तरार्थक्षणवत् । अथ जडता नानुकरोति; कथं तस्या ग्रहणम् ? तदग्रहणे नीला-

है यह निकट है ऐसा व्यवहार शक्य नहीं होता । ज्ञान को साकार मानने में यह भी एक बड़ा विचित्र दोष आता है, देखिये—कोई दीर्घकाल तक सोया था जब वह जाग कर उठा तब उसे सोने के पहिले जाग्रद्दशा में जिस किसी घट आदि का तदाकार ज्ञान था वह अब निद्रा के बाद बहुत ही दूर हो गया है तथा व्यतीत भी हो गया है, अतः उस याद आये हुए घट ज्ञान में दूर और व्यतीत का भान होना चाहिये ॥

भावार्थ—जब वस्तु का आकार ज्ञान में मौजूद है तब कुछ समय ध्यतीत होने पर वह वस्तु हमें दूरपने से मालूम होनी चाहिये, देवदत्त दीर्घनिद्रा लेकर उठा, उसका निद्रित अवस्था के पहिले का हुआ जो ज्ञान है वह अब दूर हो चुका है, अतः उसको ऐसा प्रतिभास होना चाहिये कि मेरी वह पुस्तक बहुत दूरे है अथवा वह ज्ञान दूर है इत्यादि, किन्तु ऐसी प्रतीति किसी को भी नहीं होती है, अतः ज्ञान को साकार मानना ठीक नहीं है ।

बौद्धो ने ज्ञान को पदार्थ से उत्पन्न होना भी स्वीकार किया है वह ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर जैसे उस नील आदि के आकार को धारण करता है वैसे ही यदि वह उस पदार्थ के जडपने को भी धारण करता है तो वह ज्ञान स्वयं जड बन जावेगा, जैसे जड पदार्थ स्वयं उत्तर क्षण में दूसरे जड पदार्थों को पैदा कर देते हैं वैसे ही ज्ञान पदार्थ से पैदा होने के कारण जड रूप को भी धारण करेगा, यदि कहो कि ज्ञान जड़ाकार नहीं बनता है तो वह उस पदार्थ की जडता को कैसे जान सकेगा, क्योंकि उस रूप हुए विना वह उसे जान नहीं सकता, इस प्रकार यदि जडता को नहीं जानता है तो वह ज्ञान उसके नील आदि आकार को भी नहीं जान सकेगा, जडता को नहीं जाने और नील आकार को जाने ऐसी भेदभाव की बात कहो तब तो नील और जड धर्म में भिन्नता माननी पड़ेगी अथवा एक ही वस्तु में दो विरुद्ध धर्म मानने से अनेकान्त की वहा स्थिति आ जावेगी, क्योंकि इस प्रकार की मान्यता में एक ही नील वस्त्र आदि में उस का एक नील धर्म तो ग्राह्य हो जाता है और दूसरा जड-

कारस्याप्यग्रहणम् अन्यथा तयोर्भेदोऽनेकान्तो वा । नीलाकारग्रहणेपि च, अगृहीता जडता कथं तस्येत्युच्येत ? अन्यथा, गृहीतस्य स्तम्भम्यागृहीत त्रैलोक्य(क्य)रूप भवेत् । तथा चैकोपलम्भो नैकत्वसाधनम् । अथ नीलाकारवज्जडतापि प्रतीयते किन्त्वतदाकारेण ज्ञानेन, न, तर्हि नीलताप्य-तदाकारेणैवानेन प्रतीयताम् । तथाहि—यद्येन स्वात्मनोऽर्थान्तरभूतं प्रतीयते तत्तेनानदाकारेण यथा स्तम्भाद्देर्जाड्यम्, प्रतीयते च स्वात्मनोऽर्थान्तरभूत नीलादिकमिति । किञ्च, नीलाकारमेव ज्ञानं

धर्म अग्राह्य हो जाता है, यदि कहा जावे कि ज्ञान सिर्फ नील को ही जानता है जडता को नहीं तो वह ज्ञान “इस नील पदार्थ की यह जडता है” इस प्रकार कैसे कह सकेगा, यदि उसे विना जाने ही वह नील पदार्थ ग्राहक ज्ञान यह उसका धर्म है ऐसा कहता है तो ग्रहण किये गये स्तम्भ का अग्रहीत त्रैलोक्य स्वरूप हो जायगा, इस तरह कही पर भी एकत्व का साधक ज्ञान नहीं हो सकेगा प्रत्युत वह एक ही में अनेकत्व का साधक होगा ।

बौद्ध - जैसे ज्ञान वस्तु की नीलाकारता को जानता है वैसे ही वह उसकी जडता को भी जानता है, परन्तु जड़ता को वह तदाकार होकर नहीं जानता है ।

जैन—यह बात गलत है क्योंकि जडता को जैसे तदाकार हुए विना जान लेता है वैसे ही वह नीलाकार हुए विना ही नील पदार्थ को भी जान लेवे तो इसमें क्या बाधा है । अनुमान से भी सिद्ध होता है कि जो वस्तु जिसके द्वारा अपने से पृथक् रूप से जानी जाती है वह उससे अतदाकाररूप होकर ही जानी जाती है, जैसे कि स्तम्भ आदिके जडपने को स्तम्भज्ञान अतदाकार होकर जानता है, इसी तरह अपने से अर्थात् नीलज्ञान से नील आदि पदार्थ पृथक् प्रतीत होते ही हैं, अतः वे तदाकार हुए अपने ज्ञान द्वारा गृहीत नहीं होते हैं । पुनः आपसे हम पूछते हैं कि ज्ञान जो जड़ धर्म को जानता है वह कौनसा ज्ञान जानता है ? क्या नीलाकार हुआ ज्ञान ही जड़ धर्म को जानता है ? अथवा भिन्न कोई ज्ञान जड़ धर्म को—जडता को जानता है ? यदि नीलाकार हुआ ज्ञान ही जडता को जानता है ऐसा प्रथम पक्ष लेकर कहा जावे तो ठीक नहीं है, क्योंकि नीलको तो वह नीलाकार होकर जाने और जड़ता को विना जड़ताकार हुए जाने यह तो ज्ञान में अर्धजरती न्याय हुआ ॥ भावार्थ—“अर्धं मुख मात्रं वृद्धायाः कामयते नांगानि सोऽयमर्धजरती न्याय ” अर्थात् जैसे कोई कामी जन वृद्ध स्त्री के मुखमात्र को तो चाहे अन्य अवयवों को नहीं चाहे इसी प्रकार यहां पर बौद्धों ने ज्ञान के विषय में ऐसा ही कहा है कि ज्ञान वस्तु के नील धर्म को तो नीलाकार होकर जानता है

जडता प्रतिपद्यते, ज्ञानान्तर वा ? आद्यविकल्पे नीलाकारतां स्वात्मभूततया, जडता त्वन्यथा-
तज्जानातीत्यर्द्धजरतीयन्यायानुसरणं ज्ञानस्य । अथ ज्ञानान्तरेण सा प्रतीयते, तदप्यतदाकार यथा
जडतां प्रतिपद्यते तथाद्य(द्य)नीलतामिति व्यर्थं तदाकारकल्पनम् ।

किञ्च, ज्ञानान्तरेण जडतैव केवला प्रतीयते, तद्वन्नीलतापि वा ? न तावदुत्तरपक्षः, अर्द्धजर-
तीयन्यायानुसरणप्रसङ्गात् । प्रथमपक्षे तु नीलताया जडतेयमिति कुत प्रतीतिः ? नाद्यज्ञानात्, तेन

और उसी वस्तु के जड धर्म को अजडाकार होकर ही जानता है, अतः यह अर्धजरती
न्याय हुआ ॥ द्वितीय पक्ष के अनुसार यदि वस्तु के नीलत्व को जानने वाले ज्ञान से
पृथक् कोई दूसरा ज्ञान है और वह उस वस्तु के जडत्व को जानता है ऐसा कहा जाय
तो भी प्रश्न होगा कि वह भिन्न ज्ञान भी जडता को जडताकार होकर ग्रहण करता
है या बिना जडताकार हुए ग्रहण करता है, यदि बिना जडताकार हुए जडता को
जानता है तो नीलत्व को भी बिना नीलाकार हुए जाने, क्यों व्यर्थ ही तदाकारता की
कल्पना उसमें करते हो ।

किञ्च—अन्य ज्ञान से जो जडता को जानना तुमने स्वीकार किया है सो
वह ज्ञानान्तर एक मात्र जडता को ही जानता है कि जडता के साथ नीलाकार को
भी जानता है ? जडता से युक्त नीलत्व का ग्रहण अर्थात् यह जडता इस नील की है
यदि ऐसा वह ज्ञानान्तर जानता है तो इस उत्तर पक्ष में पहिले के समान अर्धजरती
न्याय का अनुसरण होने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है क्योंकि पदार्थ के नीलत्व को छोड़
उसका अर्धांश जो जडता है उसी को तो इसने जाना है । मात्र जडत्व के जानने की
बात तो बिलकुल बनती ही नहीं है, क्योंकि उस प्रतिभास में यह नील पदार्थ की
जडता है इस प्रकार की प्रतीति तो होगी नहीं, तो फिर उसे किस ज्ञान से जाना
जायगा ? प्रथम ज्ञान तो जानेगा नहीं क्योंकि वह तो सिर्फ नीलाकार को ही जान
रहा है । दूसरा ज्ञानान्तर भी जान नहीं सकता, क्योंकि उसका विषय भी तो
मात्र जडधर्म है, यदि इन दोनों को छोड़कर एक-तीसरा ज्ञान नील और जडता को
जानने वाला स्वीकार किया जाये तो उसमें भी निर्णय करना होगा कि वह तृतीय
ज्ञान दोनों आकारों को धारता है क्या ? यदि धारता है तो ज्ञान स्वयं जड बन
जायगा, यदि तृतीयज्ञान को निराकार मानते हो तब तो स्पष्ट ही जैन मत का
अनुसरण करना ही गया । कहीं पर नील आदि में ज्ञान साकार रहता है अन्यत्र वही
ऐसा कही तो वही पूर्वोक्त अनवस्था दोष आता है कि एक ज्ञान नीलत्व को जानेगा

नीलाकारमाश्रयैव प्रतीते । नापि द्वितीयात्तस्य जडतामात्रविषयत्वात् । अथोभयविषय ज्ञानान्तरं परिकल्प्यते, तच्चोदुभयत्र साकारम् स्वयं जडता निराकार चेत्, परमतप्रसङ्गः । क्वचित्साकारतायामुक्तदोषोऽनवस्था ।

ननु निराकारत्वे ज्ञानस्याखिल निखिलार्थवेदकं तत्स्यात् क्वचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावादि-
त्यप्यपेशलम्, प्रतिनियतसामर्थ्येन तत्तथाभूतमपि प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकमित्यग्रे वक्ष्यते ।
'नीलाकारवज्जडाकारस्यादृष्टेन्द्रियाद्याकारस्य चानुकरणप्रसङ्गं कारणात्वाविशेषात्प्रत्यासत्तिवि-
प्रकर्षाभावाच्च' इति चोद्ये भवतोपि योग्यतैव शरणम् ।

फिर अन्य कोई ज्ञान जडत्व को जानेगा वह भी तदाकार होवेगा, तो जड़ बन जायगा, और अतदाकार रह कर जानेगा तो नीलत्व को भी अतदाकार रह कर जान लेना चाहिये, इत्यादि ।

बौद्ध—ज्ञान को निराकार मानोगे तो वह एक ही समय में सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला हो जायेगा ? क्योंकि अब उस ज्ञान में तदाकारत्व तदुत्पत्ति आदि रूप निग्रामक कोई सबध तो रहा नहीं ।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि ज्ञान में एक ऐसा क्षयोपशमजन्य प्रतिनियत सामर्थ्य है कि जिससे वह निराकार रहकर भी नियमित पदार्थों की व्यवस्था बराबर करता रहता है । इस विषय का विवेचन हम आगे करेंगे ।

ज्ञान साकार होकर ही वस्तु को जानता है तो नीलत्व के समान जडत्व के आकार को क्यों नहीं धारण करता ? अदृष्ट जो पुण्य पाप रूप है उनके तथा मन-इन्द्रिया वस्तुओं के आकार को क्यों नहीं धारण करता है । उन सबके आकारों को भी उसे धारण करना चाहिये, क्योंकि जैसे आप ज्ञान का कारण जो पदार्थ है उसके आकार रूप ज्ञान हो जाता है ऐसा मानते हैं और वे सब इन्द्रिया मन आदि ज्ञान के कारण ही इसलिये ज्ञान को इन्द्रियाकार होना चाहिये और मन के आकार भी होना चाहिये, यदि आप कहो कि नील आदि की तो निकटता है और इन्द्रियादि की दूरता है अतः इन्द्रियादि के आकार रूप ज्ञान नहीं होता है सो भी बात नहीं, क्योंकि नीलत्व के समान इन्द्रियादिक भी निकटवर्ती ही है, अतः इन इन्द्रिय अदृष्ट आदि के आकार को ज्ञान क्यों नहीं धारता है ऐसा प्रश्न होने पर आपको हम जैन की कर्म के क्षयोपशम लक्षण वाली योग्यता की शरण लेनी पड़ती है ।

यच्चोच्यते—‘यथैवाहारकालादेः समानेऽपत्यं जननीपित्रोस्तदेकमाकारं घत्ते नान्यस्य कस्यचित्, तथा चक्षुरादेः कारणत्वाविशेषेपि नीलस्यैवाकारमनुकरोति ज्ञान नान्यस्य’ इति; तन्निराकारज्ञानेपि समानम् । तत्कार्यत्वाविशेषेपि हि यथा प्रत्यासत्त्या ज्ञान नीलमेवानुकरोति तथैव सर्वत्रानाकारत्वाविशेषेपि किञ्चदेव प्रतिपद्यते न सर्वमिति विभागः किं नेष्यते ? अन्योन्याश्रयदोषश्चोभयत्र समानः । किञ्च, प्रतिनियतघटादिवत्सकल वस्तु निखिलज्ञानस्य कारणं स्वाकारार्पकं वा किन्न स्यात् ? वस्तुसामर्थ्यात् किञ्चदेव कस्यचित् कारणं न सर्वं सर्वस्येति चेत्, तर्हि तत एव किञ्चित्कस्यचिद्ग्राह्यं ग्राहकं वा न सर्वं सर्वस्येत्यलं प्रतीत्यपलापेन ।

बौद्ध—जिस प्रकार आहार, काल आदि अनेको कारणो के समानरूप से मौजूद होते हुए भी बालक अपने माता या पिता के आकार को ही धारण करता है उसी प्रकार ज्ञान चक्षु आदि अनेकों कारणो के होते हुए भी नीलत्व के आकार को ही धारता है और अन्य किसी के आकार को नहीं धारता है ।

जैन—इस प्रकार का समाधान तो हम भी दे सकते हैं कि ज्ञान निराकार है, यद्यपि इन्द्रियादिक का वह समानरूप से कार्य भी है तो भी वह उसी योग्यता के कारण नियत नीलादिक को ही जानता है और अन्य किसी भी पदार्थ को नहीं जानता है । ऐसा विभाग निराकार ज्ञान में भी संभव है, अतः उसे क्यों नहीं माना जाये ।

बौद्ध—ज्ञान को निराकार मानने में अन्योन्याश्रय दोष आवेगा, अर्थात् ज्ञान प्रतिनियत वस्तु को ही जानता है यह सिद्ध होने पर उसके नियतयोग्यता रूप स्वभाव की सिद्धि होगी और उस नियत स्वभाव की सिद्धि होने पर प्रतिनियत वस्तु का जानना सिद्ध होगा ।

जैन—यही दोष आपके साकार ज्ञान में भी तो आवेगा, देखिये—ज्ञान नियत जो नीलादि आकार है उसीका अनुकरण करता है, जडता का नहीं यह बात सिद्ध होने पर ही उस ज्ञान की निश्चित किसी आकार रूप होने की योग्यता सिद्ध होगी और इस नियत योग्यता के सिद्ध होने पर ही नियत नीलाकार होने की संभावना हो सकेगी । इस प्रकार तो एक की भी सिद्धि नहीं होगी । एक बात और हम बौद्धों से पूछते हैं कि जिस प्रकार किसी एक ज्ञान को कोई एक घटादि पदार्थ अपना आकार समर्पित करता है और वह उसका कारण होता है, इसी प्रकार सभी वस्तुएँ सभी

प्रमाणत्वाच्चास्य तदभाव । अर्थाकारानुकारित्वे हि तस्य प्रमेयरूपतापत्तेः प्रमाणरूपता-
व्याघातः, न चैवम्, प्रमाणप्रमेययोर्बहिरन्तर्मुखाकारतया भेदेन प्रतिभासनात् । न चाध्यक्षेण ज्ञानः

ज्ञानो का कारण क्यों नहीं होती और क्यों नहीं वे सभी ज्ञानो को प्रपना आकार देती है ?

बौद्ध—वस्तु का ऐसा ही सामर्थ्य है कि जिससे कोई एक वस्तु किसी एक ज्ञान का ही कारण होती है, सभी वस्तुएँ सभी ज्ञानो के लिये कारण नहीं हो सकती ।

जैन— तो फिर इसी प्रकार से ही कोई एक ज्ञान किसी एक वस्तु को निराकार रहकर जानता है, सभी को नहीं जानता है, ऐसा मानना चाहिये, व्यर्थ ही प्रतीति का अपलाप करने से क्या लाभ ।

भावार्थ— बौद्ध यद्यपि ज्ञान को साकार मानते हैं, परन्तु कही २ पर वे उसे निराकार भी मानने लग जाते हैं, जडत्व, इन्द्रिया, मन, अदृष्ट आदि वस्तुओं को ज्ञान तदाकार हुए विना ही जानता है ऐसी भी उनकी मान्यता है, इससे उनकी मान्यता को लेकर आचार्यों ने उन्हें समझाया है कि जैसे ज्ञान कही निराकार रहकर उसे जान लेता है, वैसे ही वह सर्वत्र निराकार रहकर क्यों नहीं जानेगा, अर्थात् अवश्य ही जानेगा, ज्ञान में ऐसी प्रतिनियत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की योग्यता है कि जिसके कारण यह जितनी वस्तु को जानने का उसमें क्षयोपशम हुआ है उतनी ही वस्तुओं को जानता है, निराकार होने से कोई सभी को नहीं जानता, क्योंकि उतना उसमें क्षयोपशम ही नहीं है, बौद्ध से जब हम पूछते हैं कि सभी ज्ञानो में सभी पदार्थों का आकार क्यों नहीं आता तब वे भी योग्यता का ही उत्तर रूप में शरण लेते हैं कहते हैं कि सभी पदार्थों के आकार आने की योग्यता ही उसमें नहीं है इत्यादि, इसलिये योग्यता के अनुसार निराकार रहकर ही ज्ञान वस्तु को जानता है यह प्रतीति से सिद्ध होता है । एक बहुत मतलब की बात हम बौद्ध को बताते हैं कि ज्ञान प्रमाण-भूत है इसलिये उसमें पदार्थ का आकार नहीं रह सकता है, यदि ज्ञान पदार्थाकार होता है तो वह प्रमेय कहलावेगा, फिर प्रमाणता का उसमें लेश भी नहीं रहेगा । परन्तु इस प्रकार से प्रमाण का प्रमेयरूप होना या दोनों—प्रमाण और प्रमेयरूप होना संभव नहीं है, प्रमाणतत्त्व तो अन्तर्मुखरूप से प्रतीत होता है और प्रमेयतत्त्व बहिर्मुख रूप से । अतः इन दोनों में भेद है ।

मेवाऽर्थाकारमनुभूयते न पुनर्वाह्योऽर्थ इत्यभिधातव्यम्, ज्ञानरूपतया बोधस्यैवाध्यक्षे प्रतिभासना-
स्यार्थस्य । न ह्यनहङ्कारास्पदत्वेनार्थस्य प्रतिभासेऽहङ्कारास्पदबोधरूपवत् ज्ञानरूपता युक्ता, अहङ्का-
रास्पदत्वेनार्थस्यापि प्रतिभासोपगमे तु 'ग्रह घटः' इति प्रतीतिप्रसङ्ग । न चान्यथाभूता प्रतीतिरन्य-
थाभूतमर्थं व्यवस्थापयति, नीलप्रतीतेः पीतादिव्यवस्थाप्रसङ्गात् ।

बोधस्यार्थाकारता मुक्त्वार्थेन घटयितुमशक्ते 'नीलस्याय बोध' इति, निराकारबोधस्य
केनचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षसिद्धे सर्वार्थघटनप्रसङ्गात्सर्वैकवेदनापत्ते प्रतिकर्मव्यवस्था ततो न
स्यादित्यर्थाकारो बोधोऽभ्युपगन्तव्य । तदुक्तम्—

बौद्ध—ज्ञान ही पदार्थ के आकाररूप होता है यह तो प्रत्यक्ष से अनुभव में
आता है, किन्तु ज्ञान के आकार पदार्थ होता है यह दिखाई नहीं देता है ।

जैन—ऐसा नहीं है । प्रत्यक्ष में तो ज्ञान का ज्ञानरूप से प्रतिभास होता है
न कि अर्थ का ज्ञानरूप से प्रतिभास होता है, जो अनहकाररूप से प्रतीत होता है उस
पदार्थ को अहंकार (मैं) रूप से प्रतीत हुए ज्ञानरूप मानना तो युक्त नहीं है । यदि
अर्थ भी अहंकाररूप से प्रतीत होगा तो "मैं घट हूँ" ऐसी प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु
ऐसी प्रतीति होती नहीं है । अन्यरूप से प्रतीत हुए अर्थ की अन्यरूप से प्रतीति कराना
तो ज्ञान का काम नहीं है । यदि ऐसा होने लगे तो नील की प्रतीति से पीत आदि की
भी व्यवस्था होने लगेगी ।

बौद्ध—पदार्थ के साथ ज्ञानका सबध घटित करने के लिये अर्थाकारता को
माना है, उसके बिना नील अर्थ का यह ज्ञान है ऐसा कह नहीं सकते । निराकार ज्ञान
का किसी एक निश्चित पदार्थ के साथ कोई भी प्रत्यासत्तिविप्रकर्ष (तदाकारतदुत्पत्ति
सबध) तो बनता नहीं है, अतः सभी पदार्थों के साथ उसका सबध हो सकता है ।
फिर सभी पदार्थों को एक ही निराकार ज्ञान जानने वाला हो सकता है । ऐसी
परिस्थिति में प्रतिकर्म व्यवस्था—घट ज्ञान का घट विषय है, पट ज्ञान का पट विषय
है ऐसी व्यवस्था बनना अशक्य हो जायगा, अर्थात् घट ज्ञान का विषय घट ही है पट
नहीं और पट ज्ञान का विषय पट ही है घट नहीं इत्यादि रूप से निश्चित पदार्थ
व्यवस्था नहीं बन सकेगी, अतः वस्तु व्यवस्था चाहने वाले आप जैन को ज्ञान साकार
ही होता है ऐसा मानना चाहिये, कहा भी है—

“अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्ता(क्त्वा)र्थरूपताम् ।

तस्मात्प्रमेयाधिगते प्रमाण मेयरूपता ॥” [प्रमाणवा० ३।३०५]

इत्यनल्पतमोविलसितम्, यतो घटयति सम्बन्धयतीति विवक्षित ज्ञानम्, अर्थसम्बद्धमर्थरूपता निश्चाययतीति वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्त, न ह्यर्थसम्बन्धो ज्ञानस्यार्थरूपतया क्रियते, किन्तु स्वकारणै-स्तज्ज्ञानमर्थसम्बद्धमेवोत्पाद्यते । न खलु ज्ञानमुत्पद्य पश्चादर्थेन सम्बध्यात् । न चार्थरूपता ज्ञानस्यार्थ सम्बन्धकारण तादात्म्याभावानुषङ्गात् । द्वितीयपक्षोप्यसम्भाव्यः, सम्बन्धासिद्धे । न खलु ज्ञानगता-

अर्थेन घटयत्येना न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।

तस्मात्प्रमेयाधिगते. प्रमाण मेयरूपता ॥ ३०५ ॥

अर्थाकारता को छोड़कर और कोई भी ऐसा हेतु नहीं है कि जो इस बुद्धि को पदार्थ के साथ जोड़े-संबधित करे । अतः प्रमेय (पदार्थ) को जानने वाला होने से ही प्रमाण में मेयरूपता अर्थाकारता निश्चित होती है । मतलब-हमारे लिये प्रमाणभूत प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ में कहा है कि निर्विकल्प बुद्धि को पदार्थ के साथ संबधित करने वाली अर्थाकारता ही है । अर्थाकारता को छोड़कर अन्य कोई भी ज्ञानका निजी भेद नहीं है, और न वह अन्य का भेद करने वाला ही हो सकता है । पदार्थ के जानने रूप फल से ही मालूम पडता है कि ज्ञान अर्थाकार है ।

जैन—यह कथन अज्ञान से भरा हुआ है, क्योंकि आप यह तो बताइये कि उपर्युक्त कारिका की “घटयति” इस क्रिया का क्या अर्थ है ? संबधित कराना ऐसा अर्थ है कि निश्चय कराना ऐसा अर्थ है ? मतलब-वह अर्थरूपता विवक्षित ज्ञान का पदार्थ के साथ संबध जोडती है ? कि ज्ञान अर्थ से संबद्ध है ऐसा निश्चय कराती है ? प्रथमपक्ष को स्वीकार करना ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थाकारता के द्वारा ज्ञान का पदार्थ से संबध नहीं किया जाता है किन्तु अपने कारणों के द्वारा पदार्थ का ज्ञान अर्थ से संबद्धित हुआ ही उत्पन्न किया जाता है, ऐसा तो नहीं देखा जाता कि पहिले ज्ञान हो फिर पीछे से अर्थ के साथ उसका संबध होता हो । तथा अर्थाकारता पदार्थ में ज्ञान का संबध कराने में कारण भी नहीं है, यदि अर्थाकारता संबध का कारण हो तो उसका ज्ञानके साथ तादात्म्य कैसे माना जायगा, अर्थात् फिर ज्ञान और अर्थाकारपता ये दोनो भिन्न भिन्न हो जावेगे । दूसरा पक्ष भी असभव है, क्योंकि इनका संबध सिद्ध नहीं होता है । देखो ज्ञान में हुई जो अर्थाकारता है वह अर्थ से संबद्ध ज्ञान के साथ

र्थरूपता अर्थसम्बद्धेन ज्ञानेन सहचरिता बवच्चिदुपलब्धा येनार्थसम्बद्ध ज्ञान सा निश्चाययेत् । विशिष्ट-विषयोत्पाद एव च ज्ञानस्यार्थेन सम्बन्ध, न तु सश्लेषात्मकोऽस्य ज्ञानेऽसम्भवात् । स चेन्द्रियैरेव विधीयते इत्यर्थरूपतासाधनप्रयासो वृथैव । न चैव सर्वत्रासी प्रसज्यते, यतो निराकारत्वेप्यवबोधस्य इन्द्रियवृत्त्या पुरोवर्तिभ्येवार्थं नियमितत्वान्न सर्वार्थघटनप्रसङ्ग । 'कस्मात्तैस्तत्र तन्नियम्यते' ? इत्यत्र वस्तुस्वभावैरुत्तर वाच्यम् । न हि कारणानि कार्योत्पत्तिप्रतिनियमे पर्यनुयोगमर्हन्ति तत्र तस्य

रहती हुई कही पर उपलब्ध नहीं होती कि जिससे वह अर्थ से सबद्ध ज्ञान है ऐसा निश्चय करावे । पदार्थ के साथ ज्ञान का तो इतना ही सबन्ध है कि वह अपने विशिष्ट विषय को जाने—उसका निश्चय करे, सश्लेषात्मक सबध तो है नहीं अर्थात् दूध पानी की तरह या अग्नि और उष्णता की तरह पदार्थ का ज्ञान के साथ सबध नहीं है । क्योंकि ऐसा संबध सर्वथा असम्भव है । हा, पदार्थ को जाननारूप जो सबध है उसे तो इन्द्रिया ज्ञान के साथ खुद ही करा देती हैं । इसलिये ज्ञान में अर्थरूपता आती है तब ज्ञान पदार्थ को जानता है ऐसा सिद्ध करने का प्रयास करना व्यर्थ ही है, अर्थात् आप बौद्ध ज्ञान का पदार्थ के साथ सबध स्थापित करने के लिये ज्ञान को अर्थाकार मानते हैं सो उसकी कोई जरूरत नहीं है, पदार्थ के साथ सबध कराने वाली तो इन्द्रिया हुआ करती हैं । ज्ञान को अर्थाकार नहीं माने तो सभी को एक साथ जानने का प्रसंग आता है ऐसी आशका की भी कोई सभावना नहीं है । क्योंकि निराकार ज्ञान में भी इन्द्रियो के द्वारा यह नियम बन जाता है कि ज्ञान सामने को किसी निश्चित वस्तु को ही जानता है न कि सभी वस्तुओ को ।

शंका—ज्ञान में अर्थाकारता पदार्थ के जनाने में हेतु न मानकर यदि इन्द्रियो को पदार्थ के जनाने में हेतु माना जावे तो इन्द्रियो के द्वारा किसी एक वस्तु का ही ज्ञान क्यों कराया जायगा सभी पदार्थों का उनके द्वारा ज्ञान कराये जाने का प्रसंग प्राप्त होगा ।

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है । कारण कि स्वभाव रूप कारण में प्रश्न नहीं हुआ करते है । ज्ञान निराकार होता है, फिर भी उसे इन्द्रियो की वृत्ति पुरोवर्ति-अर्थ में ही नियमित करती है । इसलिये ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों के ग्रहण करने का प्रसङ्ग प्राप्त नहीं होता है । इन्द्रिया निराकार उस ज्ञान को पुरोवर्ती अर्थ में क्यों नियमित करती है तो इसका उत्तर उनका ऐसा ही स्वभाव है, जिन २ कारणों से जिस २ कार्य की उत्पत्ति होती है वे वे कारण उन २ कार्यों को क्यों

वैफल्यात् । साकारत्वेपि चाय.पर्यनुयोगः समानः—साकारमपि हि ज्ञान किमिति सन्निहित नीला-
दिकमेव पुरोवर्त्ति व्यवस्थापयति न पुनः सर्वम् ? 'तेनैव च तथा जननात्' इत्युत्तर निराकारत्वेपि
समानम् । किञ्च, इन्द्रियादिजन्य विज्ञान 'किमितीन्द्रियाद्याकारं नानुकुर्यात्' इति प्रश्ने भवताप्यत्र
वस्तुस्वभाव एवोत्तर वाच्यम् । साकारता च ज्ञाने साकारज्ञानेन प्रतीयते, निराकारेण वा ? साकारेण
चेत्, तत्रापि तत्प्रतिपत्तावाकारान्तरपरिकल्पनमित्यनवस्था । निराकारेण चेद्बाह्यार्थस्य तथाभूत-
ज्ञानेन प्रतिपत्ती को विद्वेष ?

उत्पन्न करते है ऐसा प्रश्न करना वहां व्यर्थ ही है । आप बौद्धो से हम भी यही प्रश्न
कर सकते है कि आपके साकार ज्ञान मे ऐसी व्यवस्था क्यो है, अर्थात् ज्ञान साकार
होकर भी किस कारण से निकटवर्ती-सामने के नील आदि को ही ग्रहण करता है, अन्य २
दूरवर्ती आदि सभी वस्तुओ को क्यों नही ग्रहण करता ? तुम कहो कि उसी एक
वस्तु से ज्ञान पैदा हुआ है अत उसी को जानता है सो यही बात निराकार पक्ष मे
भी हो सकती है । आपसे यदि हम जैन पूछे कि ज्ञान इन्द्रियादि से पैदा हुआ है अत.
उन इन्द्रियो के आकार को क्यों नही धारण करता है तब आपको भी वही वस्तु
स्वभावरूप उत्तर देना पड़ेगा, जो कि हमने दिया है । आप यही तो कहोगे कि ज्ञान
इन्द्रियाकार तो होता नही है पदार्थाकार ही होता है सो ऐसा ही ज्ञानका स्वभाव है ।
इस प्रकार बौद्ध को भी अंततोगत्वा स्वभाव की ही शरण लेनी पडती है । अब हम
बौद्धो से पूछते है कि ज्ञान मे पदार्थो का आकार है इस बात को किसके द्वारा जाना
जाता है, साकार ज्ञान के द्वारा या निराकार ज्ञान के द्वारा, साकार ज्ञान के द्वारा
कहो तो इस दूसरे ज्ञान की साकारता भी किससे जानी जाती है ? अन्य साकार
ज्ञान से कि निराकार ज्ञान से इत्यादि प्रश्न उठते ही रहेंगे । साकार ज्ञान की साकारता
जानने के लिये अन्य २ साकार ज्ञान आते रहेंगे और निर्णय होगा नही, अत
अनवस्था दोष आवेगा । निराकार ज्ञान से ज्ञान की साकारता जानी जाती है ऐसा
द्वितीय पक्ष प्रस्तुत किया जाय तो फिर जैसे ज्ञानके आकार को जानने के लिये
निराकार ज्ञान समर्थ है वैसे ही वह बाह्य वस्तुओ को भी जानने में समर्थ हो सकता है
फिर इस पर द्वेष करने से क्या लाभ । साकारज्ञानवादी आपके ऊपर एक आपत्ति और
भी यह आती है कि पदार्थ के साथ संवित्ति अर्थात् ज्ञान के सबध की अन्यथानुपपत्ति
करने से सन्निकर्ष को प्रमाण मानने का प्रसंग उपस्थित होता है । इस प्रसंग में
सन्निकर्ष तो प्रमाण और जानना उसका फल है ऐसा नैयायिक के समान आपको भी

किञ्च, अस्य वादिनोऽर्थेन सवित्तेर्घटनाऽन्यथानुपपत्तेः सन्निकर्ष प्रमाणम्, अधिगति-फल स्यात्, तस्यास्तमन्तरेण प्रतिनियतार्थसम्बन्धित्वासेम्भवात्। साकारसवेदनस्य अखिलसमानार्थ-साधारणत्वेन अनियतार्थेर्घटनप्रसङ्गात् निखिलसमानार्थानामेकवेदनापत्तिः, केनचित्प्रत्यासत्तिवि-प्रकर्षसिद्धेः।

कहना होगा, क्योंकि बिना सन्निकर्ष के सवित्तिका पदार्थ के प्रति नियमित सबध होना संभव नहीं है। यदि ज्ञान में पदार्थ का आकार मौजूद है-ज्ञान साकार है तो उस किसी एक विवक्षित घट आदि का आकार ज्ञान में आते ही उस घट के समान अन्य जगत के सारे ही घटों का जानना उस एक ज्ञान के द्वारा ही सपन्न हो जावेगा। क्योंकि आकार तो ज्ञान के अन्दर मौजूद है ही, इससे किसी भी ज्ञान का किसी भी वस्तु के साथ न निकटपना है और न दूरपना ही है।

भावार्थ—ज्ञान में वस्तु का आकार होने से उसी वस्तु को वही ज्ञान जानता है ऐसा नियम बौद्ध के यहाँ स्वीकार किया है, इस पर आचार्य दोष दिखाते हुए समझा रहे हैं कि ज्ञान में वस्तु का आकार है तो फिर किसी एक वस्तु को साकार होकर जानते समय अन्य जितनी भी उसके समान वस्तुएँ ससार में होगी उन सबको वह एक ही ज्ञान भट से जान लेगा। क्योंकि सबकी शकल समान है। और वह उसी एक ज्ञान में मौजूद है। एक वस्तु को जानते ही उसके समान अन्य सभी वस्तु यों ही जानने में आ जायेगे, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है, अतः साकारज्ञानवाद में दोष ही दोष भरे पड़े है ॥ बौद्ध ज्ञान को पदार्थ से उत्पन्न हुआ भी मानते है। किन्तु इस तदुत्पत्ति का इन्द्रियादिक के साथ व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात् ज्ञान इन्द्रियो से भी उत्पन्न होता है किन्तु वह इन्द्रियाकार तो होता ही नहीं, इसलिये यह नियम नहीं है कि ज्ञान जिससे पैदा होता है उसी का आकार धारता है।

बौद्ध—जहाँ पर तदुत्पत्ति और तदाकार दोनो ही होते हैं, अर्थात्—ज्ञान जिससे पैदा होता है और जिसके आकार होता है वही पर ज्ञान पदार्थ का नियामक बनता है इन्द्रियादिको का नहीं, क्योंकि वह तदुत्पत्ति वाला, तो है किन्तु तदाकार वाला नहीं है।

जैन—यह बात असंगत है। देखिये—जहाँ पर ये दोनो सबध-तदुत्पत्ति, तदाकार मौजूद है वहाँ पर भी वह ज्ञान उसका व्यवस्थापक नहीं होता है। क्योंकि समानार्थ समनन्तर प्रत्यय के साथ इसका व्यभिचार देखा जाता है, अर्थात्—समानार्थ

तदुत्पत्तेरिन्द्रियादिना व्यभिचारान्नियामकत्वायोगः । तदुत्पत्तेस्ताद्रूप्याच्चार्यस्य बोधो नियामको नेन्द्रियादेर्विपर्ययादित्यग्यसाम्प्रतम्, तद्द्वयलक्षणस्यापि समानार्थसमनन्तरप्रत्ययेनानैकान्ति-कत्वात् । कथं चार्थवदिन्द्रियाकार नानुकुर्यादिसौ तदुत्पत्तेरविशेषात् ? तदविशेषेप्यस्यकरणान्तर-परिहारेणार्थाकारानुकारित्वं पुत्रस्यैव पित्राकारानुकरणमित्यप्यसङ्गतम्; स्वोपादानमात्रानुकरण प्रसगात् । विषयस्यालम्बनप्रत्ययतया स्वोपादानस्य च समनन्तरप्रत्ययतया प्रत्यासत्तिविशेषसद्भावात् उभयाकारानुकरणेऽर्थवदुपादानस्यापि विषयतापत्तिरविशेषात् । तज्जन्मरूपाविशेषेप्यध्यवसायनियमात्

प्रथम क्षणवर्ती ज्ञान का जो विषय है वही द्वितीय क्षणवर्ती ज्ञान का भी विषय है— इसी का नाम समानार्थ है, समनन्तर—अर्थात् प्रथम के बाद विना व्यवधान के उत्पन्न हुआ जो प्रत्यय—ज्ञान है वह समनन्तर प्रत्यय है सो उस ज्ञान में तदाकार और तदुत्पत्ति ये दोनों लक्षण पाये जाते हैं तो भी वहाँ उसका जानना रूप कार्य नहीं देखा जाता है । अतः जिसमें दोनों सम्बन्ध हो वहाँ जानना होता है ऐसा नियम व्यभिचरित होता है ।

विशेषार्थ— बौद्ध के यहाँ क्षणिकवाद है, अतः ज्ञान और पदार्थ प्रतिक्षण बदलकर नये २ उत्पन्न होते रहते हैं, पूर्व पूर्व के ज्ञान उत्तर उत्तर के ज्ञानों को और पूर्व पूर्व के नीलादि पदार्थ उत्तर उत्तर के नीलादिकों को पैदा करते रहते हैं । उनकी यह निरविवत परपरा चलती रहती है । इसीका नाम सन्तान है । किसी एक विवक्षित ज्ञान ने नीलाकार होकर नील को जाना और दूसरे क्षण अपनी सतान को पैदाकर नष्ट हो गया । उस द्वितीय क्षणवर्ती ज्ञान में सभी बातें मौजूद हैं, अर्थात् तदुत्पत्ति और तदाकारता है—क्योंकि वह उस प्रथम ज्ञान से पैदा हुआ है अतः तदुत्पत्ति है तथा उस ज्ञान में आकार भी वही नील का है, इसलिये तदाकारत्व भी मौजूद है तो भी वह उत्तर क्षणवर्ती ज्ञान अपने उस पूर्व क्षणवर्ती ज्ञान को नहीं जानता है, वह तो द्वितीय क्षणवर्ती नीलको ही जानता है, ऐसा बौद्ध के यहाँ माना है, इसलिये जिसमें तदुत्पत्ति और तदाकारता होवे उसी के द्वारा उसका जाननारूप कार्य होता है, अर्थात् ज्ञान जिससे पैदा हुआ है और जिसका आकार उसमें आया है उसी को जानता है सबको नहीं यह कथन असत्य सिद्ध हुआ ॥

ज्ञान जैसे पदार्थ के आकार होता है वैसे इन्द्रियाकार क्यों नहीं होता यह भी एक प्रश्न है, क्योंकि जैसे ज्ञानको पदार्थ से पैदा होना माना है—वैसे ही इन्द्रियो से भी उसको पैदा होना माना है, ज्ञानके प्रति जनकता तो दोनों में समान ही है ?

प्रतिनियतार्थनियामकत्वेऽर्थद्रुपादानेऽप्यध्यवसायप्रसङ्गः; अन्यथोभयत्राप्यसौ मा-भूद्विशेषाभावात् । न च तदज्ञानादित्रयसद्भवेऽप्यर्थप्रतिनियमः, कामलाद्युपहतचक्षुषः शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानादुत्पन्नस्य तद्रूपस्य तदाकाराध्यवसायिनो विज्ञानस्य समनन्तरप्रत्यये प्रामाण्यप्रसङ्गात् । न चैववादिनो विज्ञानस्य स्वरूपे प्रामाण्यता घटते तत्र सारूप्याभावात् ।

बौद्ध—यद्यपि ज्ञान, पदार्थ और इन्द्रिय दोनों से उत्पन्न होता है तो भी वह पदार्थाकार को ही धारण करता है अन्य कारणों के आकारों को नहीं, जैसे कि पुत्र अनेक कारणों से उत्पन्न होता है किन्तु वह माता पिता की आकृति को ही धारण करता है अन्य की नहीं ?

जैन—यह कथन असंगत है, पुत्र का ऐसा दृष्टान्त यहाँ पर देने से ज्ञान को अपने उपादान कारण का ही आकार धारण करने का प्रसंग आयेगा, क्योंकि पुत्र ने भी जैसे अपने उपादान कारणभूत पिता माता का आकार ही धारण किया है वैसे ही ज्ञान को भी होना चाहिये, विषयभूत नीलादि पदार्थ तो ज्ञान के आलम्बन स्वरूप कारण है और पूर्वज्ञान उपादान कारण है ये दोनों ही प्रत्यासत्ति विशेष सहित है, अर्थात् इन दोनों से ही समानरूप से वह समनन्तरज्ञान पैदा हुआ है अतः इस ज्ञान को दोनों के ही—पूर्वज्ञान और पदार्थ के आकारों को धारण करना होगा, तथा दोनों को ही जानना भी हीगा, क्योंकि पदार्थ के समान पूर्वज्ञान भी उसका उपादान है ही, कोई विशेषता नहीं है ।

बौद्ध ज्ञान पदार्थ और पूर्व ज्ञान दोनों से ही पैदा हुआ है किन्तु अध्यवसाय का नियम होने से नियतमात्र अर्थ को ही ज्ञान जानता है ।

जैन—यह कथन गलत है, जब पदार्थ के समान पूर्वज्ञान भी उपादान है तब वह विवक्षित ज्ञान अपने उपादान को क्यों नहीं जानता है, अन्यथा दोनों को ही जानना चाहिये ।

बौद्ध—जहाँ तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसाय ये तीनों रहते हैं वहाँ पर ही पदार्थ के जानने का प्रतिनियम बनेगा ।

जैन—ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि जिसके नेत्रों में कामलादि रोग हो गया है ऐसे व्यक्ति को सफेद शंख से पीलेपने का ज्ञान होता है, सो उस ज्ञान में

किञ्च, ज्ञानगतालीलाद्याकारात् क्षणिकत्वाद्याकारः किं भिन्नः, अभिन्नो वा ? भिन्नश्चेत्; नीलाद्याकारस्याक्षणिकत्वप्रसङ्गस्तद्व्यावृत्तिलक्षणत्वात्तस्य । अथाभिन्नः, तर्हि ततोऽर्थस्य नीलत्वा-
'दिवत् क्षणिकत्वादेरपि प्रसिद्धेस्तदर्थमनुमानमनर्थकम् । तदसिद्धो वा नीलत्वादेरप्यत, सिद्धिर्न
स्यादविशेषात् । ननु चानेकस्वभावार्थाकारत्वेऽपि ज्ञानस्य यस्मिन्नेवाशे सस्कारपाटवान्निश्चयोत्पाद-

तदुत्पत्ति, तदाकार, और तदध्यवसाय ये तीनों ही है किन्तु वह ज्ञान सत्य नहीं कह-
लाता, अर्थात् पीलिया रोगी को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है सो उसका वह
ज्ञान तदुत्पत्ति—तदाकार और तदध्यवसाय वाला है अर्थात् उसी शख से वह उत्पन्न
हुआ है, उसी शख के आकार को धारण करता है तथा उसी शख को जानता है,
अतः उस समनन्तर प्रत्यय में प्रामाण्य मानना पडेगा, किन्तु ऐसा ज्ञान सत्य नहीं
कहलाता, इसलिये ये तदुत्पत्ति आदि तीनों हेतु ज्ञान के विषयों का नियामकपना सिद्ध
नहीं करते है, यदि बौद्ध का यही हठाग्रह हो कि साकारता के कारण ही ज्ञान में
प्रामाण्य आता है तो स्वरूप सवेदन में— अपने आपको जानने में प्रवृत्त हुए ज्ञान में
प्रमाणता नहीं घटित हो सकेगी, क्योंकि उसमें तदाकारता तो है नहीं ॥

पुन बौद्ध से हम पूछते है कि ज्ञान में होने वाले जो नील आदि आकार है
उनसे क्षणिकत्व आदि आकार भिन्न है कि अभिन्न है ? यदि भिन्न माने जावे तो उनसे
पृथक् हुए नीलादि आकार अक्षणिक—नित्य बन जावेगे, क्योंकि क्षणिकत्व की जहां
व्यावृत्ति है वहां अक्षणिकत्व रहता ही है । ज्ञानगत नीलादि आकारों से यदि
क्षणिकत्व आदि धर्म अभिन्न है ऐसा माना जाये तो वह नीलाकार ज्ञान जैसे नील
पदार्थ के नीलत्व को जानता है वैसे ही वह उसी पदार्थ के अभिन्न धर्म क्षणिकत्व को
भी जान लेगा, तब फिर उस क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिये अनुमान का प्रयोग
करना ही व्यर्थ होगा ।

भावार्थः— बौद्ध वस्तुगत नीलत्वादि धर्मोंका ग्रहण होना तो प्रत्यक्ष के द्वारा
मानते है, और क्षणिकत्वादि का ग्रहण अनुमान के द्वारा होना मानते हैं । इसलिये
आचार्य ने यहा पर पूछा है कि पदार्थ का आकार, जब ज्ञान में आता है तब-उसके
अन्य धर्म अभिन्न होने से उस प्रत्यक्ष ज्ञान में आ ही जावेगे, अतः “सर्व क्षणिक सत्त्वात्”
सभी पदार्थ क्षणिक है क्योंकि वे सदुरूप हैं इत्यादि अनुमान के द्वारा उस नील आदि
वस्तु के क्षणिक धर्म को जानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष
के द्वारा ग्रहीत हो जावेगे । यदि उस अभिन्न क्षणिकत्व को प्रत्यक्ष ज्ञान वही जानता

कत्व तत्रैव प्रामाण्यं नान्यत्रेति । नन्वसौ निश्चयः साकारः, निराकारो वा ? साकारत्वे—नत्रापि नीलाद्याकारस्य क्षणिकत्वाद्याकाराद्भेदाभेदपक्षयोः पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः । तत्रापि निश्चयान्तरकल्पनेऽनवस्था । अथ निराकारः, तर्हि निश्चयात्मना सर्वार्थेष्वविशिष्टस्य ज्ञानस्य 'अयमस्यार्थस्य निश्चयः'

है तब तो उससे नील आदि का जानना भी नहीं होगा, क्योंकि नीलत्व और क्षणिकत्व दोनों ही नीलाकार ज्ञान से अभिन्न हैं। वह एक को जानेगा तो दूसरा भी जानने में आवेगा ? नहीं तो दोनों को वह नहीं जानेगा ।

बौद्ध—पदार्थों में अनेक धर्म है और उनका आकार ज्ञान में है, परन्तु जिस अंश में ज्ञान के साकार की पटुता रहती है उसी में वह ज्ञान निश्चय कराने वाले विकल्प को पैदा करता है और उसी अंश में वह प्रमाण कहलाता है अन्य क्षणिक आदि में नहीं क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान के सस्कार की पटुता नहीं है ।

जैन—अच्छा तो यह तो बताईये कि वह निश्चयरूप विकल्प जिसे ज्ञान के सस्कार ने उत्पन्न किया है वह साकार है कि निराकार ? यदि साकार है तो वह निश्चय में आये हुए नीलादि आकारसे क्षणिकत्वादि आकार भिन्न है कि अभिन्न है ? भिन्न है तो नीलादि आकार नित्य बन जाते हैं, और अभिन्न है तो नीलाकारवत् क्षणिकत्वाकार भी संवेदन होगा ? इत्यादि पूर्वोक्त दोषोका प्रसंग वैसा ही बना रहता है ।

तुम कहो कि निश्चयगत नीलाकार के क्षणिकत्व को जानने के लिये अन्य निश्चयरूप ज्ञान आता है तो अनवस्था होगी अर्थात् किसी नीलाकार ज्ञानके आकार का निश्चय कराने वाला ज्ञान यदि साकार है तो उसके आकार का निश्चयक अन्य तीसरा ज्ञान मानना होगा इत्यादि, इस प्रकार अनवस्थादोष से छुटकारा नहीं हो सकता । बौद्ध यदि उस निश्चयात्मक विकल्पज्ञान को निराकार मानते हैं तब तो निश्चय स्वरूप से सभी पदार्थों में समान ही ज्ञान उत्पन्न हो जावेगा, क्योंकि आकार नहीं होने से वह ज्ञान इस नील का है इत्यादि प्रतिकर्म व्यवस्था बन नहीं सकती । निराकारज्ञान में भी यदि किसी विशिष्ट कारण से प्रतिकर्म व्यवस्था अर्थात् यह "घट है, यह पट है" घटज्ञान घट को जानता है, पट को नहीं जानता इत्यादि पृथक् व्यवस्था बन जाती है ऐसा माना जायगा तो फिर जैसे निश्चयज्ञान निराकार होकर वस्तु व्यवस्था कर देता है तो अन्य सभी ज्ञान भी निराकार सिद्ध हो ही जायेंगे, उनके सिद्ध होने पर तो साकार ज्ञान की कल्पना करना बेकार ही है ।

इति प्रतिकर्मनियमः कुतः सिद्ध्येत् ? निराकारस्यापि कुतश्चिन्निमित्तात् प्रतिकर्मसिद्धावन्यत्राप्यत एव तत्सिद्धेः किमाकारकल्पनयेति ?

भावार्थ—बौद्ध ज्ञान के भिन्न २ विषयों की व्यवस्था अर्थात् अमुक ज्ञान अमुक वस्तु को ही जानता है अन्य को नहीं इस प्रकार की सिद्धि करने के लिये ही ज्ञान को साकार मानते हैं। पुनः निश्चयज्ञान को निराकाररूप होने की बात करते हैं, तब आचार्य ने कहा—कि यदि एक ज्ञान निराकार होकर भी वस्तु व्यवस्था को कर लेता है तो सभी ज्ञानों को भी निराकार कहना होगा, विषय व्यवस्था की बात तो पहिले कह ही दी है। ज्ञान के अन्दर ऐसी ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम जन्य योग्यता है कि जिसके कारण विषयविभाग सिद्ध होता है—अमुकज्ञान अमुकवस्तु को ही जानता है अन्य को नहीं, क्योंकि अन्य विषय में उसका क्षयोपशम ही नहीं है, इस प्रकार ज्ञान को साकार मानना सिद्ध नहीं होता है।

* साकारज्ञानवाद समाप्त *



साकारज्ञानवाद के खंडन का सारांश

बौद्ध ज्ञान को आकारवान् मानते हैं, उनके यहाँ “ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है उसी पदार्थ के आकार को वह धारण करता है, और उसी को जानता है” ऐसा माना गया है। इसी को तदुत्पत्ति, तदाकार या ताद्रूप्य और तदध्यवसाय कहा गया है। इनकी मान्यता है कि जिस प्रकार पुत्र पिता से उत्पन्न होकर उसका आकार धारण करता है, वैसे ही ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर उसी के आकार वाला बन जाता है, ज्ञान में यदि पदार्थ का आकार न हो तो प्रतिनियत व्यवस्था—प्रतिनियत पदार्थ की कि घट का ज्ञान घट को जाने, पट का ज्ञान पट को जाने ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकती है, इस पर जैन का कहना है कि साकारज्ञान प्रत्यक्ष से तो अनुभव में आता नहीं है, तथा ज्ञान यदि विषयाकार होगा तो उसमें दूर निकट आदि व्यवहार कैसे सधेगा, अर्थात् यह मेरा हाथ बिलकुल मेरे पास है, यह पर्वत दूर है, ऐसा कैसे कहेंगे। क्योंकि हाथ और पर्वत दोनों ही उस ज्ञान के अन्दर ही

हैं, फिर पास और दूर कैसे, एक बड़ी आपत्ति तो यह है कि ज्ञान तो चेतन है, जब वह नीलादि जड पदार्थ को जानेगा—उसके आकार रूप हो जावेगा तो वह विचारा खुद ही जड बन जायगा, तुम कहो कि जडाकार न होकर, सिर्फ नीलादि आकार रूप ही होता है तो फिर वह जड को कैसे जानेगा ? किसी दूसरे ज्ञान से जानेगा तो वह भी जडाकार होकर जानता है या विना जडाकार हुए जानता है ? जडाकार होकर यदि जानता है तो वह स्वयं जड हो गया और जडाकार न होकर भी यदि जड को जानता है तो वैसे ही नीलादिक को भी विना नीलादि आकार रूप हुए उसको वह जान लेगा, इस तरह तदाकार, ताद्रूप्य साकार ज्ञान का निरसन हो जाता है, इसी प्रकार तदुत्पत्ति का भी, ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है उसी को जानता है ऐसा मानो तो इन्द्रियो को क्यों नहीं जानता ? अरे भाई ! जैसे ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न हुआ है वैसे ही वह इन्द्रियो से भी उत्पन्न हुआ है, तथा—अदृष्ट भी उसकी उत्पत्ति में कारण माना ही है, अत इन्द्रिय अदृष्टादि आकाररूप भी ज्ञान को होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है। तथा सारी ही वस्तुएँ समस्त ज्ञान के लिये अपना आकार क्यों नहीं अर्पित करती सो यह भी प्रश्न होता है। तीसरी बात—ज्ञान तो प्रमाण है वह यदि प्रमेयाकार हो गया तो प्रमाण कौन रहा ? ज्ञान निकटवर्ती पदार्थ के ही आकार वाला होता है, दूरवर्ती पदार्थ के आकारवाला नहीं, सो यह भी क्यों होता है, यदि कहा जाय कि इसमें योग्यता ही ऐसी है क्या किया जाय ? तो हम जैन भी मानते हैं कि ज्ञान निराकार होकर भी प्रतिनियत घटादि को ही जानता है सबको नहीं क्योंकि उसमें ऐसी क्षयोपशमजग्य योग्यता है सो ऐसा ही क्यों न माना जाय। ज्ञान की उत्पत्ति में उपादान कारण तो पूर्वक्षणवर्ती ज्ञान ही माना है, अत ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है उसी को जानता है तथा उसी के आकार होता है ऐसा तुम कहते हो तो पूर्व ज्ञान के आकार होकर वह उत्तरवर्ती ज्ञान उसे क्यों नहीं जानता ? आप कहो कि ऐसी ही उसमें योग्यता है तो वही पहिले की बात आती है कि निराकार ज्ञान में ऐसी ही योग्यता है कि वह निराकार होकर भी प्रतिनियत वस्तु को जानता है, यदि वस्तु के नीलादि आकार रूप ज्ञान होता है और वह उसी वस्तु को जानता है तो वह क्षणिकत्वादि को भी जानेगा, ऐसी हालत में क्षणिकत्व को साधने के लिये जो अनुमान प्रमाण माना गया है वह व्यर्थ होगा, अर्थात् “सर्व क्षणिक सत्त्वात्” यह बौद्ध का प्रसिद्ध

अनुमान नहीं रहेगा, क्योंकि क्षणिकत्व की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जावेगी, इस पर बौद्ध की दलील है कि जिस वस्तु के अंश में संस्कार, पटुता आदि रहती है ज्ञान उसी को जानता है सो वह संस्कार आदि की पटुता उसी अंश में क्यों और अंश में क्यों नहीं? इत्यादि शंकाएँ खड़ी रहती हैं। इसी प्रकार तदुत्पत्ति को इन्द्रिय के साथ व्यभिचार भी होता है, अर्थात् ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न होकर भी उसको नहीं जानता है, तथा तदाकारपना भी जडता के साथ व्यभिचरित है, अर्थात् ज्ञान जडाकार न होकर भी उस जडता को जानता है, तथा जिसमें तदुत्पत्ति और तदाकार दोनों हैं वहाँ भी व्यभिचार देखा जाता है; देखिये—विवक्षित एक ज्ञान अपने पूर्ववर्ती ज्ञान से पैदा होकर उसके अकार रूप भी रहता है फिर भी उसे नहीं जानता है। अच्छा तीनों—तदुत्पत्ति, तदाकार, और तदध्यवसाय जिसमें है वहाँ भी अव्याप्ति है, सफेद शख में पीलिया रोगी को पीले शंखरूप ज्ञान होता है, वहाँ तदुत्पत्ति—शंख से उत्पन्न होना, तदाकार—शखाकार होना, और तदध्यवसाय—शख को जानना ये सब हैं फिर भी वह ज्ञान प्रमाण नहीं है, इसलिये तदुत्पत्ति की इन्द्रियादि के साथ अति व्याप्ति होती है, तदाकारता की जडता के साथ अतिव्याप्ति होती है, दोनों की—तदुत्पत्ति तदाकार की पूर्वक्षणवर्ती ज्ञान के साथ अतिव्याप्ति होती है और तीनों की सफेद शंख में पीताकार ज्ञान के साथ अतिव्याप्ति होती है, इस प्रकार बौद्ध के ज्ञान का लक्षण जो साकारपना है वह अनेक दोषों से भरा है, अतः वह मानने योग्य नहीं है।

*** साकारज्ञानवाद का सारांश समाप्त ***

भूतचैतन्यवाद पूर्वपक्ष

भारतीय दर्शन में एक नास्तिक मत है और सब आस्तिकवादी हैं, जो शरीर से जीवात्मा की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं करता तथा परलोक—स्वर्ग आदि को नहीं मानता उस मत को नास्तिक मत कहा गया है, इसी का नाम चार्वाक मत है ।

जैनचार्य ने जब ज्ञान को स्व को जानने वाला और आत्मा का गुण है ऐसा कहा तब चार्वाक ज्ञान तथा जीव के विषय में अपना मन्तव्य प्रस्तुत करता है—

जैन ज्ञान को स्व सविदित मानकर जीव की पृथक् सत्ता सिद्ध करते हैं वह असत्य है, क्योंकि जीव नाम का कोई शरीर से भिन्न पदार्थ नहीं है, अतः उसमें ज्ञानादि गुण का वर्णन करना आकाश पुष्प की तरह बेकार है । देखिये—जीव या आत्मा को प्रत्यक्ष से तो सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि वह दिखायी नहीं देता है । अनुमान प्रमाण से सिद्ध करना चाहो तो प्रथम तो अनुमान ज्ञान असत्—अवास्तविक है और दूसरी बात शरीर से न्यारा जीव कभी भी किसी भी व्यक्ति को दिखाई नहीं देता है, तो फिर वह शरीर से पृथक् कैसे माना जाय । बात तो यह है कि जैन आदि प्रवादी जिसे जीव कहते हैं वह तो पृथिवी आदि भूत चतुष्टय से बना हुआ है—अर्थात् उनसे उत्पन्न हुआ है, हमारे यहाँ चार ही तत्त्व माने गये हैं—पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चारों को ही भूतचतुष्टय कहते हैं । इन भूतों के दो दो भेद हैं—(१) सूक्ष्म भूत और स्थूल भूत, इनमें जो सूक्ष्म पृथिवी आदि भूत हैं उनसे जीव या चैतन्य उत्पन्न होता है—कहा भी है—‘पृथिव्यप्तेजोवायुरितितत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषय-सज्ञा, तेभ्यश्चैतन्यम्’—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु ये चार तत्त्व हैं, इन चारों के समुदाय स्वरूप ही शरीर तथा इन्द्रिया एव उनके विषय स्पर्शादिक हैं । इन भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है । जगत् में जितने भर भी पदार्थ हैं वे सब दृश्यमान ही हैं । कोई अदृश्य पदार्थ नहीं है । यदि जबर्दस्ती मान भी लिया जाय तो उसकी किसी भी प्रकार से सिद्धि भी नहीं हो सकती है । जीव या आत्मा को किसी समय में किसी क्षेत्र में किसी भी व्यक्ति ने शरीर से पृथक् रूप में देखा नहीं है, अतः शरीर की उत्पत्ति के साथ ही एक चैतन्य या ज्ञानादि से विशिष्ट आत्मा नाम की शक्ति पैदा

हो जाया करती है, और शरीर के नष्ट होने पर वह शक्ति समाप्त हो जाया करती है, ऐसा सिद्ध होता है। जैसे—गुड़, महुआ, आटा आदि के मिश्रित होने पर मद-कारक शक्ति पैदा होती है, जब बिच्छू आदि जीव गोबर आदि से पैदा होते हुए साक्षात् देखे जाते हैं तब इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा भूतचतुष्टय—सूक्ष्मभूतों का ही परिणामन है अन्य कोई वह पृथक्—स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। जब जीव नाम की वस्तु ही नहीं तो उसका वर्णन करना कि उसमें ज्ञान आदि गुण पाये जाते हैं, जीव मरकर नरकादि गति में गमन किया करता है, कर्मों को नष्ट कर देता है और मोक्ष जाता है इत्यादि सब कथन बन्ध्या पुत्र के सौभाग्य के वर्णन करने के समान हास्यास्पद है, जीव का परलोक गमन ही नहीं है, अतः परलोक के लिये व्रत, नियम आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करना भी व्यर्थ, वर्तमान सामग्री को छोड़कर भविष्यत् की आशा से उसके लिये प्रयत्न करना मूर्खता है क्योंकि जीव और जीव का ज्ञानादिरूप स्वभाव भूततत्त्व से पृथक् सिद्ध नहीं होता है।

* पूर्वपक्ष समाप्त *



भूतचैतन्यवादः

*

नन्वस्तु निराकारत्व विज्ञानस्य; न तु स्वसविदित्व भूतपरिणामत्वादर्पणादिवदित्यप्य-
युक्तम्; हेतोरसिद्धे । भूतपरिणामत्वे हि विज्ञानस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गो दर्पणादिवत् ।
सूक्ष्मभूतविशेषणपरिणामत्वान्न तत्प्रसङ्ग ; इत्यप्यसङ्गतम्; स हि चैतन्येन सजातीयः, विजातीयो

यहा पर चार्वाक जैन से कहता है कि आपने बौद्ध के साकार ज्ञानका खडन करके निराकार ज्ञान सिद्ध किया यह बहुत ठीक हुआ, किन्तु उस ज्ञान को आप स्व-सविदित मानते हैं सो वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान भूततत्त्व का (अचेतन का) परिणामन है, जैसे कि दर्पण आदि पदार्थ ।

जैन—यह चार्वाक का कथन चारु नहीं है, क्योंकि उनका प्रस्तुत किया हुआ भूतपरिणामत्व असिद्ध है, यदि ज्ञान भूतो का परिणामस्वरूप होता तो उसका दर्पण के समान बाह्य इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्ष ग्रहण हो जाता; किन्तु वह किसी से ग्रहण नहीं होता ।

चार्वाक—ज्ञान अतिसूक्ष्म भूतो का परिणामन स्वरूप है, अत वह बाह्य इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण मे नहीं आता है ।

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है, हम आपसे पूछते हैं कि वह सूक्ष्म भूत चैतन्य का सजातीय होकर कि विजातीय होकर ज्ञान का उपादान कारण होता है ? यदि सूक्ष्मभूत चैतन्य का सजातीय होकर वह उसका उपादान कारण होता है तो इस पक्षमे सिद्ध साध्यता ही होगी, क्योंकि इस प्रकार को मान्यता सिद्ध को ही सिद्ध करती है, आप उसे सूक्ष्मभूत कहते हो हम जैन उसी को आत्मा कहते है । वह अचेतन द्रव्य से भिन्न स्वभाववाला है, रूप, रस, आदि से रहित है एव सर्वदा बाह्य नेत्र आदि इन्द्रियो से ग्रहण नहीं हो सकने वाला है । केवल स्वसवेदन प्रत्यक्ष से ही उसका ग्रहण

वा तदुत्पादन(तदुपादान)हेतुः स्यात् ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, सूक्ष्मो हि भूतविशेषोऽचेतनद्रव्य-
व्यावृत्तस्वभावो रूपादिरहितः सर्वदा बाह्येन्द्रियाविषयः स्वसवेदनप्रत्यक्षाधिगम्यः परलोकादिसम्ब-
न्धित्वेनानुमेयश्च आत्मापरनामा विज्ञानोपादानहेतुरिति परैरभ्युपगमात् ।

तस्यातो विजातीयत्वे नोपादानभावः । सर्वथा विजातीयस्योपादानत्वे बह्वैर्जलाद्युपादान-
भावप्रसङ्गात् तत्त्वचतुष्टयव्याघातः । सत्त्वादिना सजातीयत्वात्तस्योपादानभावेऽपि अयमेव दोषः ।
प्रमाणप्रसिद्धत्वाच्चात्मनस्तदुपादानत्वमेव विज्ञानस्योपपन्नम् । तथा हि—यद्यतोऽसाधारणलक्षणविशेष-
विशिष्ट तत्त्वतस्तत्त्वान्तरम्, यथा तेजसो वाय्वादिकम्, पृथिव्याद्यसाधारणलक्षणविशेषविशिष्ट च

होता है, वह परलोकगमन एव पुण्य पाप आदि से अनुमान का विषय होता है, वही
आत्मा ज्ञानका उपादान कारण है, अर्थात् ज्ञान आत्मा से उत्पन्न हुआ है ऐसा हम
मानते हैं । द्वितीय विकल्प के अनुसार यदि सूक्ष्म भूतविशेष को विज्ञान से भिन्न
जातिवाला मानने में आता है तो वह चैतन्य स्वरूप ज्ञान का उपादान कारण नहीं बन
सकता है, क्योंकि सर्वथा विजातीय तत्त्व यदि अन्य का उपादान बनता है तो अग्निका
उपादान जल भी बन सकता है, फिर तो आपका पृथक् रूप से सिद्ध किया गया तत्त्व
चतुष्टय का व्याघात ही हो जायेगा ।

चार्वाक—सत्त्व आदि की अपेक्षा से तो सूक्ष्मभूत चैतन्यस्वरूप ज्ञानका
सजातीय ही कहलाता है अर्थात् जिस प्रकार ज्ञानमें सत्त्व प्रमेयत्व आदि धर्म हैं, वैसे
ही सूक्ष्मभूतो में भी सत्त्व प्रमेयत्व आदि धर्म हैं, अतः वह ज्ञान का सजातीय होने से
उपादान बनता है ।

जैन — ऐसा मानने पर भी यही पूर्वोक्त दोष आता है, अर्थात् जैसे सत्त्व आदि
धर्म सूक्ष्मभूतो में हैं और ज्ञान में भी है अतः वे भूतविशेष ज्ञानके प्रति उपादान होते हैं
वैसे ही अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी इनमें भी समानरूप से सत्त्व आदि धर्म रहते हैं,
अतः इनमें भी परस्पर में उपादानभाव बनना चाहिये, अर्थात् अग्नि आदि से जल
आदि होना स्वीकार करना चाहिये, किन्तु आपको यह इष्ट नहीं है, आप तो इन चारों
का उपादान पृथक् पृथक् मानते हो, अतः सत्त्व आदि की अपेक्षा सजातीय बताकर
चैतन्य ज्ञानके प्रति जडभूतविशेष में उपादानता सिद्ध करना शक्य नहीं है, देखिये—
प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि आत्मा ही ज्ञान का उपादान है, अनुमान प्रयोग—चैतन्य
पृथिवी आदि से भिन्न जातीय है, क्योंकि उसकी अपेक्षा उसमें असाधारण लक्षणविशेष

चैतन्यमिति । न चायमसिद्धो हेतुः, चैतन्यस्य जना(ज्ञान)दर्शनोपयोगलक्षणत्वात्, भूपय पावकपव-
नाना धारणेरणद्रवोष्णतास्वभावाना तल्लक्षणाभावात् । न हि भूतानि ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणानि
अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्प्रत्यक्षत्वात् । यत्पुनस्तल्लक्षणं तन्नास्मदाद्यनेकप्रतिपत्प्रत्यक्षम् यथा चैतन्यम्,
तथा च भूतानि, तस्मात्तथैवेति ।

ननु ज्ञानाद्युपयोगविशेषव्यतिरेकेणापरस्य तद्वत् प्रमाणतोऽप्रतीते असिद्धमेवासाधारण-
लक्षणविशेषविशिष्टत्वम्, तथाहि—न तावत्प्रत्यक्षेणासी प्रतीयते, रूपादिवत्तत्स्वभावानवधारणात् ।

पाया जाता है, जो जिसकी अपेक्षा असाधारण लक्षण वाला होता है वह वास्तविक
उससे पृथक् ही होता है, जैसे कि अग्नि से पृथक् लक्षणवाला वायु है अतः वह उससे
भिन्न तत्त्व है, पृथिवी आदिकी अपेक्षा चैतन्य भी असाधारण लक्षण से लक्षित है अतः
वह भी उससे भिन्न तत्त्व है यह असाधारणलक्षणरूप विशेष हेतु असिद्ध भी नहीं है
क्योंकि चैतन्यलक्षण सर्वथा असाधारण है, देखिये—चैतन्यका लक्षण ज्ञानोपयोग और
दर्शनोपयोगस्वरूप है और भू, जल, अग्नि, वायु इनका क्रमशः धारण, द्रवण, उष्णता
और ईरण स्वरूप है, इसलिये आत्मा के असाधारण लक्षण का इनमें अभाव है । भूमि
आदि स्वरूप जो भूतचतुष्टय है वे ज्ञान—दर्शन—उपयोगलक्षण वाले नहीं हैं, क्योंकि वे
सब हम जैसे अनेक व्यक्तियों के द्वारा प्रत्यक्ष किये जाते हैं, जिस तत्त्व में ज्ञानोपयोग
आदि लक्षण रहते हैं वे पदार्थ हमारे जैसे अनेक जाननेवाले व्यक्तियों के द्वारा प्रत्यक्ष
नहीं किये जा सकते हैं, जैसा कि चैतन्य प्रत्यक्ष नहीं होता है, पृथिवी आदि भूतविशेष
हमारे प्रत्यक्ष तो होते हैं अतः वे ज्ञानादिस्वभाववाले सिद्ध नहीं होते हैं । इस प्रकार
अनुमान से ज्ञान का उपादान पृथक् ही सिद्ध हुआ ।

चार्वाक—ज्ञान और दर्शन उपयोगविशेष को छोड़कर अन्य कोई पृथक्
आत्मा नामका पदार्थ सिद्ध नहीं होता है कि जिसमें वे ज्ञानादि रहते हों, अतः असाधा-
रणलक्षण विशेष विशिष्टत्व हेतु असिद्ध दोष युक्त है, मतलब—ज्ञानादि से भिन्न आत्मा
तो कोई उपलब्ध होता नहीं, अतः आत्मा का लक्षण ज्ञान दर्शन है इत्यादि कहकर
उसको भूतो से असाधारणलक्षण से लक्षित बताना व्यर्थ है; देखो—आपका आत्मतत्त्व
प्रत्यक्ष से तो प्रतीत होता नहीं, क्योंकि उसका रूप आदि के समान स्वभावों का
अवधारण ही नहीं हो पाता । अनुमान से आत्मा को सिद्ध नहीं कर सकते हैं, क्योंकि
अनुमान को हम प्रमाणभूत मानते ही नहीं हैं, तथा जबदंस्ती मान भी लेवे तो भी
आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करनेवाला कोई अनुमान ही नहीं है ।

नाप्यनुमानेन; अस्य प्रामाण्याप्रसिद्धेः । न च तद्भावावेदक किञ्चिदनुमानमस्ति, इत्यसङ्गतम्, प्रत्यक्षैर्वात्मन प्रतीतेः 'सुख्यह दुःख्यहमिच्छावानहम्' इत्याद्यनुपचरिताहम्प्रत्ययस्यात्मग्राहिणः प्रतिप्राणि सवेदनात् । न चाय मिथ्याऽबाध्यमानत्वात् । नापि शरीरालम्बनः, बहिःकरणनिरपेक्षान्तःकरणव्यापारेणोत्पत्तेः । न हि शरीर तथाभूतप्रत्ययवेद्य बहिःकरणविषयत्वात्, तस्यनुपचरिताहम्प्रत्ययविषयत्वाभावाच्च । न हि 'स्थूलोऽह कृशोहम्' इत्याद्यभिन्नाधिकरणतया प्रत्ययोऽनुपचरितः, अत्यन्तोपकारके भृत्ये 'अहमेवायम्' इति प्रत्ययस्याप्यनुपचरितत्वप्रसङ्गात् । प्रतिभासभेदो बाधकः अन्यत्रापि समानः । न हि बहलतमःपटलपटावगुण्ठितविग्रहस्य 'अहम्' इति प्रत्ययप्रतिभासे स्थूल-

जैन—यह बात असंगत है, आत्मा तो प्रत्यक्ष से प्रतीति में आ रहा है—“मै सुखी हू, मै दुःखी हू, मै इच्छावाला हूँ” इत्यादि सर्वथा उपचाररहित सत्यभूत अह प्रत्यय से आत्मा प्रत्येक प्राणियों को प्रतीति में आ रहा है, वह प्रतीति मिथ्या तो बिलकुल ही नहीं है, क्योंकि यह अबाधित है, यह अह प्रत्यय शरीर में तो होता नहीं है, क्योंकि बाह्य जो नेत्र आदिक इन्द्रिया है; उनकी अपेक्षा किये बिना ही वह अन्तःकरण के व्यापार से उत्पन्न हुए ज्ञान से वेद्य होता है, शरीर इस प्रकार के ज्ञान से वेद्य नहीं होता है, क्योंकि उसका वेदन तो बाहिरी इन्द्रियों से होता है, नेत्र आदि से वह दिखाई देता है, ऐसे इस शरीर में अनुपचरित अर्थात् उपचार रहित वास्तविकरूप से अहंपने की प्रतीति हो नहीं सकती । कोई कहे कि शरीर में भी “मै कृश हू, मै स्थूल हूँ” इत्यादि रूप अह प्रत्यय होता है सो भी बात नहीं, यह प्रत्यय अहंपने का अनुकरण जरूर करता है किन्तु यह अनुपचरित तो नहीं है, ऐसे अहंपने को वास्तविक कहोगे तो अत्यन्त उपकारक निकटवर्ती नौकर के विषय में भी स्वामी को “मै ही यह हूँ” ऐसा अहंपना पाया जाता है, सो उसे भी अनुपचरित मानना पड़ेगा ।

चार्वाक—इस नौकर आदि में तो प्रतिभास का भेद दिखता है ।

जैन—तो फिर वैसे ही शरीराधार अहप्रत्यय भी प्रतिभास भेदवाला है, अर्थात् आत्मा में होनेवाला अहप्रत्यय वास्तविक है एव शरीर में होनेवाला अहप्रत्यय काल्पनिक है ऐसा सिद्ध होता है, देखो—बहुत गाढ अन्धकार से अगु ठित शरीरवाले पुरुष को अहंपने का ज्ञान होता है उस प्रतिभास में स्थूल आदि धर्मवाला शरीर तो प्रतीत होता ही नहीं है । बात यह है कि उपचार बिना निमित्त के होता नहीं, अतः आत्मा का उपकारक होने से शरीर में भी उपचार से अहंपना प्रतीत हो जाता है,

त्वादिधर्मोपेतो विग्रहोपि प्रतिभासते । उपचारश्च निमित्तं विना न प्रवर्तते इत्यात्मोपकारकत्व
निमित्तं कल्प्यते भृत्यवदेव । 'मदीयो भृत्यः' इतिप्रत्ययभेदवत् 'मदीय शरीरम्' इति प्रत्ययभेदस्तु
मुख्यः ।

यच्चीक्तिम्—रूपादिवत्तत्स्वभावानवधारणात्, तदयुक्तम्, 'अहम्' इति तत्स्वभावस्य प्रति-
भासनात् । न चार्थान्तरस्यार्थान्तरस्वभावेनाप्रत्यक्षत्वं दोषः, सर्वपदार्थानामप्रत्यक्षताप्रसङ्गात् ।
अथात्मन कर्तृत्वादेकस्मिन् काले कर्मत्वासम्भवेनाप्रत्यक्षत्वम्, तन्न, लक्षणभेदेन तदुपपत्तेः,

जैसे कि अत्यन्त उपकारक नौकर के लिये हम कह देते हैं कि अजी "मैं ही यह हूँ"
और कोई पराया व्यक्ति नहीं है, इत्यादि ।

चार्वाक—नौकर को तो ऐसा भी कहा जाता है कि यह मेरा नौकर है ।

जैन—तो जैसे ही शरीर को भी कहा जाता है कि यह मेरा शरीर है इत्यादि
यहां पर जो भिन्नता है वह तो वास्तविक ही है, मतलब—'मैं कृश हूँ' इत्यादि प्रतीति
में अहंपना तो उपचारमात्र है किन्तु "मेरा शरीर है" यह प्रतिभास तो सत्य है, आप
चार्वाक ने कहा था कि रूप आदि की तरह आत्मा का स्वभाव अवधारित नहीं होता
इत्यादि वह कथन अयुक्त है, आत्मा का स्वभाव तो "अह-मैं" इस प्रकार के प्रतिभास
से अवधारित हो रहा है । भिन्न स्वभाववाले पदार्थ का भिन्न किसी अन्य स्वभाव से
प्रत्यक्षपना न हो तो उसको नहीं माना जाय ऐसी बात नहीं है अन्यथा तो सभी
पदार्थ अप्रत्यक्ष हो जायेंगे । क्योंकि किसी एकरूप या ज्ञान आदि का अन्य दूसरे रस
आदि स्वभाव से प्रतिभास तो होता नहीं है ।

चार्वाक—आत्मा कर्त्ता है अतः एक ही काल में वह कर्मरूप से प्रतीत नहीं
होता इसीलिये उसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता अर्थात् "अह" यह तो कर्त्तृत्वरूप प्रतिभास
है, आत्मा को जानता हूँ या स्वयं को जानता हूँ ऐसे कर्मपनेरूप से उसका प्रतिभास
उस अह प्रत्यय के समय कैसे होगा ।

जैन—ऐसा नहीं कहना, लक्षण भेद होने से कर्त्तृत्व आदि की व्यवस्था बन
जाती है । कर्त्तृत्व का लक्षण स्वातन्त्र्य है, "स्वतन्त्र कर्त्ता" इस प्रकार का व्याकरण का
सूत्र है । तथा वह कर्त्तृत्व ज्ञान क्रिया से व्याप्त होकर उपलब्ध होता है, अतः कर्मत्व
भी आत्मा में अविच्छेद ही रहेगा कर्म का लक्षण तो "क्रिया व्याप्त कर्म" जो क्रिया
से व्याप्त हो वह कर्म है ऐसा है । सो आत्मा में जानने रूप क्रिया व्याप्त है अतः वह

स्वातन्त्र्यं हि कर्तृत्वलक्षण तदेव च ज्ञानक्रियया व्याप्यत्वोपलब्धेः कर्मत्व चाविरुद्धम्, लक्षणाधीन-
त्वाद्वस्तुव्यवस्थायाः ।

तथानुमानेनात्मा प्रतीयते । श्रोत्रादिकरणानि कर्तृप्रयोज्यानि करणत्वाद्वास्यादिवत् । न
चात्र श्रोत्रादिकरणानामसिद्धत्वम्; 'रूपरसगन्धस्पर्शशब्दोपलब्धि' करणकार्या क्रियात्वाच्छिदि-
क्रियावत्' इत्यनुमानात्तत्सिद्धेः । तथा शब्दादिज्ञान क्वचिदाश्रित गुणत्वाद्द्रूपादिवत् इत्यनुमानतो-
प्यसौ प्रतीयते । प्रामाण्यं चानुमानस्याग्रे समर्थयिष्यते । शरीरेन्द्रियमनोविषयगुणत्वाद्द्विज्ञानस्य न
तद्व्यतिरिक्ताश्रयाश्रितत्वम्, येनात्मसिद्धि स्यादित्यपि मनोरथमात्रम्, विज्ञानस्य तद्गुणत्वासिद्धेः ।

कर्मरूप भी बन जाता है । वस्तु व्यवस्था तो लक्षण के आधीन हुआ करती है, अर्थात्
वस्तु का जैसा असाधारण स्वरूप रहता है उसी के अनुसार उसे कहा जाता है ।

इस अनुमान के द्वारा भी आत्मा प्रतीति में आता है—श्रोत्र आदि इन्द्रियां
कर्त्ता के द्वारा प्रयोजित की जाती है, क्योंकि वे करण है । जैसे कि वसूला आदि करण
है । अतः वे देवदत्त आदि कर्त्ता के द्वारा प्रयोग में आते हैं—वैसे ही इन्द्रिया करण होने से
उनका प्रयोक्ता कोई अवश्य होगा, कर्ण आदि इन्द्रियो मे करणपना असिद्ध भी नहीं है,
क्योंकि रूप रस गंध स्पर्श शब्द इन सबकी जो उपलब्धि रूप क्रिया होती है वह
इन्द्रियो द्वारा होती है, अतः यह करण की कार्य रूप है, जैसे कि छेदन क्रिया एक कार्य
है । इस अनुमान से इन्द्रियो में करणपना सिद्ध होता है । आत्मा को सिद्ध करने वाला
श्रीर भी दूसरा अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—शब्दादि का जो ज्ञान होता है—शब्द सुन
कर जो अर्थ बोध होता है अथवा अन्य कोई भी इन्द्रियों के विषयों का जो ज्ञान होता
है वह कही पर तो अवश्य ही आश्रित है, क्योंकि वह शब्दादि का ज्ञान एक गुण है,
जो गुण होता है वह कही आश्रित जरूर रहता है, जैसे कि रूप आदिक गुण कही
घट आदि में आश्रित रहते हैं, जहां पर वह ज्ञान गुण आश्रित है वही तो आत्मा है, अनु-
मान में प्रमाणाता का हम आगे समर्थन करने वाले है ।

चार्वाक—ज्ञान गुण का आश्रय तो शरीर है, इन्द्रिया है, मत्त है और विषय-
भूत पदार्थ है । ये ही सभी ज्ञान के आश्रय भूत देखे जाते है । इन शरीरादि से भिन्न
और कोई दूसरा आश्रय है नहीं जिससे कि आत्मा की सिद्धि हो जाय, अर्थात् ज्ञान
का आश्रय सिद्ध करने के लिये आत्मा को सिद्ध करना जरूरी नहीं, वह तो शरीर आदि
रूप आश्रय में ही रहता है ।

तथाहि—न शरीरं चैतन्यगुणाश्रयो भूतविकारत्वाद् घटादिवत् । चैतन्यं वा शरीरविशेषगुणो न भवति सति शरीरे निवर्तमानत्वात् । ये तु शरीरविशेषगुणान् न ते तस्मिन्सति निवर्तन्ते यथा रूपादयः, सत्यपि तस्मिन्ननिवर्तते च चैतन्यम्, तस्मान्न तद्विशेषगुणः ।

तथा, नेन्द्रियाणि चैतन्यगुणवन्ति करणत्वाद्भूतविकारत्वाद्वा वास्यादिवत् । तद्गुणत्वे च चैतन्यस्योन्द्रियविनाशे प्रतीतिर्न स्याद्गुणविनाशे, गुणस्याप्रतीतिः । न चैवम्, तस्मान्न तद्गुणः । तथा च प्रयोगः—स्मरणादि चैतन्यमिन्द्रियगुणो न भवति तद्विनाशेप्युत्पद्यमानत्वात्, यो यद्विनाशेप्युत्पद्यते स

जैन — यह कथन मनोरथ मात्र है, ज्ञान शरीर आदि का गुण है यह बात हीं बिलकुल असिद्ध है । इसी को अनुमान से सिद्ध करके बताते हैं । शरीर चैतन्य गुणका आश्रय नहीं है क्योंकि वह शरीर तो भूतो का (पृथिवी आदि का) विकार (पर्याय) है, जैसे-घट आदि पदार्थ भूतो के विकार होने से चैतन्यगुण के आश्रय नहीं होते हैं, और भी सुनिये—चैतन्य शरीर का विशेष गुण नहीं है, क्योंकि शरीर के मौजूद रहते हुए भी वह निकल जाता है, जो शरीर के विशेष गुण होते हैं, वे शरीर के विद्यमान रहते हुए निकल कर नहीं जाते हैं जैसे कि रूपादिकगुण, शरीर के रहते हुए चैतन्य निवृत्त होकर चला जाता है, अतः वह शरीर का विशेषगुण नहीं है ।

जैसे शरीर ज्ञानगुण का आधारभूत सिद्ध नहीं हुआ उसी प्रकार नेत्र आदि इन्द्रियां भी चैतन्यगुण वाली सिद्ध नहीं होती हैं । क्योंकि इन्द्रियां तो करण हैं तथा भूतो का विकार स्वरूप भी हैं, जैसे वसूला आदि करण हैं । यदि चैतन्य इन्द्रियों का गुण होता तो इन्द्रियों के नाश होने पर चैतन्य की प्रतीति नहीं होनी चाहिये, गुणों का नाश होने पर गुणों की प्रतीति नहीं होती है, इन्द्रियों का नाश होनेपर भी चैतन्य का अभाव दिखाई नहीं देता है, अतः ज्ञान (चैतन्य) इन्द्रियों का गुण नहीं है । अनुमान प्रयोग से सिद्ध है कि स्मृति सुख आदि स्वरूप वाला चैतन्य इन्द्रियों का गुण नहीं होता है क्योंकि इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी वह उत्पन्न होता रहता है, जो जिसके विनाश होने पर भी पैदा होता रहता है वह उसका गुण ही नहीं होता है, जैसे—वस्त्र के नष्ट होने पर भी घट के रूपादिक गुण नष्ट नहीं होते हैं । इन्द्रियों का नाश होने पर भी स्मरण आदि का नाश तो होता नहीं, अतः वह ज्ञान उन इन्द्रियों का गुण नहीं है, यदि चैतन्य को इन्द्रियों का गुण माना जाय तो करण विना क्रिया की प्रतीति नहीं होगी, अर्थात् इन्द्रियां तो गुणी हो चुकी हैं चैतन्य उसका गुण है तो इन्द्रियां कर्तापने को प्राप्त हुईं, फिर “जानाति” जानता है इस क्रिया का करण कुछ

न तद्गुणो यथा पटविनाशेपि घटरूपादि, भवति चेन्द्रियविनाशेपि स्मरणादिकम्, तस्मान्न तद्गुणः । यदि चेन्द्रियगुणश्चैतन्य स्यात्तर्हि करण विना क्रियायाः प्रतीत्यभावात् करणान्तरैर्भवितव्यम् । तेषां च प्रत्येकं चैतन्यगुणात्वे एकस्मिन्नेव शरीरे पुरुषबहुत्वप्रसङ्गः स्यात् । तथाच देवदत्तोपलब्धेऽर्थे यज्ञदत्तस्येवेन्द्रियान्तरोपलब्धे तस्मिन् न स्यादिन्द्रियान्तरेण प्रतिसन्धानम् । दृश्यते चैतत्ततो नेन्द्रियगुणश्चैतन्यम् । अर्थकमेवेन्द्रियमशेषकरणाधिष्ठायकमिष्यतेऽतोयमदोषः, तर्हि सज्ञाभेदमात्रमेव स्यादात्मनस्तथा नामान्तरकरणात् ।

नापि चैतन्यगुणावन्मनः करणत्वाद्वास्यादिवत् । कर्तृत्वोपगमे तस्य चेतनस्य सतो रूपाद्युपलब्धौ करणान्तरापेक्षित्वे च प्रकारान्तरेणात्मवोक्ता स्यात् ।

भी नहीं रहा, अतः अन्य किसी को करण बनाना पड़ेगा, तथा अन्य करणभूत जो भी वस्तुएं आवेगी उनका भी एक एक का चैतन्य गुण रहेगा ही, ऐसी हालत में एक ही शरीर में अनेक पुरुष (जीव) या चैतन्य मानने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है । इस तरह से बहुत ही अधिक गडबडी मचेगी, देवदत्त के जाने गये किसी एक विषय में उसी की अन्य इन्द्रिय से प्रतिसंधान नहीं हो सकेगा, क्योंकि अन्य इन्द्रिय का चैतन्य पृथक् है, जैसे कि यज्ञदत्त की इन्द्रिय देवदत्त से पृथक् है ।

भावार्थ—जब एक शरीर में अनेक पृथक् २ चैतन्यगुण वाली इन्द्रियां स्वीकार करोगे तो एक ही देवदत्त के द्वारा जाने हुए पदार्थ में उसी की रसना आदि इन्द्रियां प्रवृत्त होने पर भी संबध नहीं जोड सकेगी, कि यह वही आम का भीठा रस है जिसे कि आंख से पीले रंग युक्त जाना था, नेत्र के द्वारा देखे हुए वीणा आदि वाद्य के शब्द का कर्ण के द्वारा प्रतिसंधान नहीं होगा, क्योंकि सब के चैतन्य गुण पृथक् २ हैं, जैसे कि अन्य पुरुष—यज्ञदत्त के द्वारा जाने हुए विषय में हमारी इन्द्रियां प्रतिसंधान नहीं कर पाती वैसे ही खुद की ही इन्द्रियों से प्रतिसंधान होना अशक्य हो जायगा, हमारी इन्द्रियों द्वारा प्रतिसंधान तो अवश्य ही होता देखा जाता है, अतः निश्चित होता है कि चैतन्य इन्द्रियो का गुण नहीं है ।

चार्वाक—सपूर्ण करणभूत इन्द्रियोका अधिष्ठायक अर्थात् प्रेरक या आधारभूत एक विशेष इन्द्रिय स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं आता है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा प्रतिसंधान न होना इत्यादि आपत्ति नहीं रहती है ।

जैन—तो फिर आपने नाममात्र का भेद किया—अर्थात् आत्मा का ही नाम “इन्द्रिय” इस प्रकार धर दिया, अर्थभेद तो कुछ रहा वहीं, मन भी चैतन्य गुणवाला

नापि विषयगुणैः; तदसाक्षिण्ये तद्विनाशे चानुष्मृत्यादिदर्शनात्। न च गुणिनोऽसाक्षिण्ये विनाशे वा गुणानां प्रतीतिर्युक्ता, गुणत्वविरोधानुपपन्नात्। ततः परिक्षेपान्छरीरादिव्यतिरिक्ताश्रया-
भित्तं चैतन्यमित्यतो भवत्येवात्मसिद्धिः।

'ततो निराकृतमेतत्-शरीरेन्द्रियविषयसङ्गेभ्य पृथिव्यादिभूतेभ्यश्चैतन्याभिव्यक्ति, पिष्टोदक-
गुडघातक्यादिभ्यो मदशक्तिवत्'। ततोऽसाधारणलक्षणविशेषविशिष्टत्वेऽप्यतत्त्वा(तस्तत्त्वा)न्तरत्वमेव।

नही है, क्योंकि वह करण है, जैसे वसूला आदि करण होते हैं। यदि आप मन को कर्त्तापने से स्वीकार करेंगे तो उस चैतन्यगुणवाले मनको कोई अन्य करण चाहिये जिसके द्वारा कि रूप आदि विषयों की उपलब्धि वह कर सके इस करणांतर की अपेक्षा को हटाने के लिये फिर आप उन सब करणों का एक प्रेरक कोई स्थापित करोगे तो वही नाम मात्र का भेद होवेगा कि आप उसको इन्द्रिय या अन्य कोई नाम से कहोगे और हम जैन आत्मा नाम से उसको कहेंगे।

चैतन्य रूप आदि विषय भूत पदार्थों का भी गुण नहीं है, रूपादि विषय चाहे निकट न रहे चाहे नष्ट हो जावे तो भी चैतन्य के अनुभव स्मृति आदि कार्य होते ही रहते हैं, गुणी के निकट न होने पर अथवा नष्ट हो जाने पर गुण तो रहते नहीं, यदि गुणी नहीं होने पर गुण रहते हैं तो इसके ये गुण है ऐसा कैसे कहा जा सकेगा, इस सब कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि चैतन्य न शरीर का गुण है न मन का गुण है, न इन्द्रियों का गुण है और न विषय भूत पदार्थों का ही गुण है, वह तो अन्य ही आश्रय में रहने वाला गुण है, और उसी आश्रयभूत का नाम आत्मा है, इस प्रकार आत्मद्रव्य की प्रसिद्धि अवस्थित है ॥ उपर्युक्त आत्मद्रव्य के सिद्ध होने पर चार्वाक का भूतचैतन्य-
वाद समाप्त हो जाता है। अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और विषय सङ्ग इन पृथिवी आदि भूतों से चैतन्य प्रकट होता है, जैसे कि आटे, जल, गुड, धातकी, महुआ आदि पदार्थों से मद शक्ति पैदा होती है सो ऐसा यह कथन असत्य ठहरता है, इसलिये अब यह सिद्ध ही हुआ कि असाधारण लक्षण विशेष से विशिष्ट होने से आत्मा एक सर्वथा पृथक ही तत्त्व है, इस प्रकार असाधारण लक्षण-ज्ञान-दर्शन उपयोग वाला आत्मा नामक भिन्न द्रव्य है यह निर्वाच सिद्ध हुआ।

चार्वाक के अन्य में लिखा है कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि ये चार तत्त्व हैं, इनके समुदाय होने पर शरीर, इन्द्रियां विषय आदि उत्पन्न होते हैं, और इन शरीर आदि

“पृथिव्य(ध्या)पस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः तेभ्यश्चैतन्यम्” []
इत्यत्र ‘अभिव्यक्तिमुपयाति’ इति क्रियाव्याहारादतः सदिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुरिति, शब्दसामान्याभिव्यक्तिनिषेधेनास्य चैतन्याभिव्यक्तिवादस्य विरोधाच्च ।

किंच, सतोऽभिव्यक्तिश्चैतन्यस्य, असतो वा स्यात्, सदसद्रूपस्य वा ? प्रथमकल्पनायाम्

से चैतन्य होता है, इस वाक्य में अभिव्यक्ति क्रिया का अध्याहार करते हैं, अर्थात् “पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः, तेभ्यश्चैतन्यम्” इस सूत्र में “अभिव्यक्तिमुपयाति” इस क्रिया का अध्याहार करने से चैतन्य प्रकट होता है ऐसा अर्थ होता है, तब तो वह पूर्वोक्त जैन के द्वारा कहा गया असाधारणलक्षणविशेष-विशिष्टत्व हेतु संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति वाला हो जाता है ।

भावार्थ—पृथिवी आदि से चैतन्य प्रकट होता है तो उसमें असाधारण धर्म रह सकता है, अर्थात् पृथिवी आदि से मात्र चैतन्य प्रकट होता है तो उन पृथिवी आदि से असाधारण-पृथिवी आदि में नहीं पाये जाने वाले धर्म चैतन्य में हो सकते हैं, क्योंकि पृथिवी आदि से वह चैतन्य प्रकट हुआ है, न कि पैदा हुआ है, इसलिये शंका बनी रहेगी कि क्या मालूम पृथिवी आदि से व्यक्त हुए इस चैतन्य में पृथिवी आदि के साधारण ही धर्म हैं अथवा असाधारण लक्षण है ? इसलिये जैन के द्वारा पहिले आत्मा को भूतचतुष्टय से पृथक् सिद्ध करने के लिये दिया गया असाधारण लक्षण विशेषविशिष्ट हेतु शक्ति हो जाता है न कि सर्वथा खडित ॥ चार्वाक संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति वाले हेतु का निषेध करते हैं—उन्होंने नैयायिक के आकाश से शब्द सामान्य की अभिव्यक्ति होने वाले मतका निषेध किया है, उसी प्रकार से यहां पर भी भूतचतुष्टय से चैतन्य की अभिव्यक्ति होने का निषेध होता है ।

विशेषार्थ—यौग—नैयायिक और वैशेषिक शब्द की उत्पत्ति आकाश से होती है ऐसा मानते हैं सो उस साम्यता का चार्वाक भी खण्डन करता है—चार्वाक का कहना है कि आकाश से विलक्षण लक्षण वाला शब्द कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता । आकाश से शब्द सामान्य अभिव्यक्त होता है ऐसा नैयायिक आदिक है तो वह भी बनता नहीं, क्योंकि जैसे दीपक आदि के द्वारा रात्रि में घट आदि पदार्थ प्रकट प्रकाशित किये जाते हैं, वैसे कोई शब्द आकाश में रहकर तालु आदि के द्वारा प्रकट होता हुआ माना नहीं जा सकता, अर्थात् दीपक से प्रकाशित होने के पहिले जैसे घट आदि पदार्थों की सत्ता तो सिद्ध ही रहती है, वैसे ही शब्द की सत्ता तालु आदि के

तस्यानाद्यन्तस्त्वसिद्धिः, सर्वदा सतोऽभिव्यक्तैस्तामन्तरेणानुपपत्तेः । पृथिव्यादिसामान्यवत् । तथा च
 "परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावः" [] इत्यपरीक्षिताभिधानम् । प्रागसत्त्वचैतन्यस्याभि-
 व्यक्तौ प्रतीतिविरोधः, सर्वथाप्यसत् कस्यचिदभिव्यक्त्यप्रतीतेः । न चैतन्नादिनो व्यञ्जककारकयोर्भेदः;
 प्रागसत्तः स्वरूपसंस्कारकं हि व्यञ्जकम्, असत्. स्वरूपनिर्वर्तकं कारकम्' इत्येवं तयोर्भेदप्रसिद्धिः ।

व्यापार के पहिले भी थी ऐसा सिद्ध नहीं होता, इसलिये वे मीमांसक आदि के शब्द के अभिव्यक्त वाद का निरसन करते हैं, इसी प्रकार खुद चार्वाक के चैतन्य अभिव्यक्ति-
 वाद का भी निरसन अवश्य हो जाता है, क्योंकि जैसे तुम चार्वाक ने शब्द की अभि-
 व्यक्ति के बारे में प्रश्न किये हैं वैसे ही वे यौग या हम जैन आप से चैतन्य अभिव्यक्ति
 के बारे में प्रश्न करेंगे कि भूतचतुष्टय से अभिव्यक्त होने के पूर्व चैतन्य की सत्ता तो
 सिद्ध होती नहीं है, तथा वह प्रकट होने से पूर्व अनभिव्यक्त चैतन्य कैसे और कहा पर
 था ? इत्यादि प्रश्नों का ठीक उत्तर न होने से "भूतो से चैतन्य प्रकट होता है" यह
 चार्वाक का कथन असत्य ठहरता है ।

चार्वाक को यह बताना होगा कि "चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है" सो वह
 सद्भूत चैतन्य की होती है कि असद्भूत चैतन्य की होती है ? अथवा सदसद्भूत
 चैतन्य की होती है ? प्रथम पक्ष के अनुसार तो चैतन्य आत्मा अनादि अनतरूप नित्य
 ही सिद्ध हो जाता है, क्योंकि जो सर्वदा सद्रूप रहकर व्यक्त होगा वह तो अनादि
 अनत ही कहलावेगा, नहीं तो उसके बिना वह सद् ही क्या कहलावेगा । जैसे पृथिवी
 आदि भूतो के सामान्य धर्म पृथिवीत्व आदि को अनादि अनत माना है वैसे ही चैतन्य
 सामान्य को अनादि अनत मानना चाहिये, इस प्रकार अनादि अनत चैतन्य आत्मा की
 सिद्धि होने पर "परलोक में जाने वाला ही कोई नहीं अतः परलोक का अभाव है"
 इत्यादि कथन असत्य ठहरता है ।

द्वितीय पक्ष— "पहिले चैतन्य असत् रहकर ही भूतो से अभिव्यक्त होता है"
 ऐसा कहा जावे तो विरोध दोष होगा क्योंकि सर्वथा असत् की कही पर भी अभिव्यक्ति
 होती हुई नहीं देखी है, तथा इस प्रकार सर्वथा असत् की अभिव्यक्ति मानने वाले आप
 चार्वाक के मत में व्यञ्जक कारण और कारक कारण इन दोनों में भी कुछ अन्तर ही
 नहीं रहेगा, व्यञ्जक का लक्षण "प्राक् सत्. स्वरूप संस्कारकं हि व्यञ्जकम्" पहिले
 से जो सत्-मौजूद है, उसी में कुछ स्वरूप का संस्कार करना व्यञ्जक कारण का

कथञ्चित्सतोऽसत्तन्नाभिव्यक्तौ परमतप्रवेशः—कथञ्चिद्द्रव्यत्. सत्तच्चैतन्यस्य पर्यायतोऽसत्तन्ना कार्याकार-
परिणतै पृथिव्यादिपुद्गलैः। परैरप्यभिव्यक्तेरभीष्टत्वात् पृथिव्यादिभूतचतुष्टयवत् । नन्वेव पिष्टोद-

काम है और “असत्ः स्वरूप निर्वर्तक” कारक असत् के स्वरूप को बनाना कारक कारण का काम है, इस प्रकार इनमें लक्षणभेद प्रसिद्ध ही है ।

भावार्थः—व्यञ्जक कारण दीपक के समान होते हैं जो पहिले से मौजूद हुए पदार्थ को मात्र प्रकट करते हैं, जैसे—अधरे में घट का स्वरूप दिख नहीं रहा था सो उसके स्वरूप को दीपक ने दिखा दिया । कारककारण मिट्टी या कुम्हार के समान होते हैं जो नवीन—पहिले नहीं हुई अवस्था को रचते हैं, चार्वाक यदि चैतन्य की अभिव्यक्ति होना मानते हैं तब तो वे भूतचतुष्टय स्वरूप शरीरादिक मात्र चैतन्य के अभिव्यजक होंगे—अर्थात् चैतन्य कहीं अन्यत्र था वह आकर शरीरादिक में प्रकट हुआ ऐसा सिद्ध होता है ॥ तीसरा पक्ष—सत् असत् रूप चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है—यदि ऐसा कहा जाय—तो आप चार्वाक स्पष्टरूप से ही जैन बन जाते हैं । हम जैन कथञ्चित् द्रव्यदृष्टि से सत् रूप चैतन्य है और पर्यायदृष्टि से असत् रूप चैतन्य है ऐसा मानते हैं । यहां पर वैसे ही शरीर के आकार से परिणत हुए पृथिवी आदि पुद्गल से चैतन्य का व्यक्त होना आपको इष्ट हो रहा है, इसलिये चैतन्य भी पृथिवी आदि भूतचतुष्टय के समान है अर्थात् जैसे पृथिवी आदि भूतद्रव्य पुद्गलरूप से सत् है और घट आदि पर्याय से प्रकट होते हैं वैसे ही चैतन्य द्रव्य से तो सत् है और पर्यायरूप से—अवस्था विशेष से प्रकट होता है यह जैनमत सिद्ध होता है ।

शंकाः—यदि इस प्रकार से अभिव्यक्ति का अर्थ करते हों तो फिर आटा, जल आदि से मद शक्ति प्रकट होती—अभिव्यक्त होती है ऐसा भी सिद्ध नहीं होगा । क्योंकि वहा पर भी वे ही विकल्प उपस्थित हो जायेंगे कि पहिले मद शक्ति सत् थी कि असत् थी, इत्यादि ?

समाधान—यह शंका गलत है । क्योंकि हम जैन मद शक्ति को भी द्रव्यदृष्टि से सत् रूप मानते हैं । सारे ही विश्व के पदार्थ सत् रूप से अनादि अनन्त माने गये हैं ।

भावार्थ—जैन धर्म का यह अकाट्य सिद्धान्त है कि जीव आदि प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी रूपमें हमेशा मौजूद ही रहता है । सृष्टिरचना की कल्पना इसलिये असत्य ठहरती है, प्रत्येक वस्तु स्वतः अनादि अनन्तरूप है । उसमें परिवर्तन

कादिभ्यो मदशक्त्यभिव्यक्तिरपि न स्यात् तत्राप्युक्तविकल्पाना समानत्वादित्यप्यसाम्प्रतम्, तत्रापि द्रव्यरूपतया प्राक्सत्त्वाभ्युपगमात्, सकलभावाना तद्रूपेणानाद्यनन्तत्वात् ।

शरीरेन्द्रियविषयसज्ञेभ्यश्चैतन्यस्योत्पत्त्यभ्युपगमात् 'तेभ्यश्चैतन्यम्' इत्यत्र 'उत्पद्यते' इति क्रियाध्याहारान्नाभिव्यक्तिपक्षभावी दोषोऽवकाश लभते इत्यन्य । सोपि चैतन्य प्रत्युपादानकारणत्वम्, सहकारिकारणत्व वा भूतानाम् इति पृष्ट स्पष्टमाचष्टाम् ? न तावदुपादानकारणत्व तेषाम्, चैतन्ये भूतान्वयप्रसङ्गात्, सुवर्णोपादाने किरीटादौ सुवर्णान्वयवत्, पृथिव्याद्युपादाने काये पृथिव्यान्वयवद्वा । न चाश्रयम्; न हि भूतसमुदयः पूर्वमचेतनाकार परित्यज्य चेतनाकारमाददा (घा)नो

अवश्य होता रहता है । उसीको लोक व्यवहार में पैदा होना नष्ट होना इत्यादि नामो से कहा जाता है ।

चार्वाकः— यदि हम शरीर, इन्द्रिया, विषय आदि सज्ञक भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति होती है ऐसा स्वीकार करे तो उपर्युक्त दोष नहीं रहेगे अतः हम चार्वाक "तेभ्यश्चैतन्यम्" इस सूत्राश के साथ "उत्पद्यते" इस क्रिया का अध्याहार करते हैं, इस तरह करने से अभिव्यक्ति के पक्ष में दिये गये दूषण समाप्त हो जावेगे ।

जैन—यह कथन भी खडित होता है, हम आपसे पूछते हैं कि भूतो से चैतन्य पैदा होता है सो वे भूतचैतन्य के उपादान कारण है कि मात्र सहकारी कारण है ? उपादान कारण तो बन नहीं सकते, क्योंकि यदि चैतन्यका उपादान कारण भूतचतुष्टय होता तो उन भूतों का चैतन्य में अन्वयपना होना चाहिये था, जैसे कि सुवर्णरूप उपादान से पैदा हुआ मुकुट सुवर्ण से अन्वय युक्त रहता है, अथवा—पृथिवी आदि उपादान से पैदा हुए शरीर में पृथिवी आदि का अन्वयपना रहता है ऐसा अन्वयपना चैतन्य में नहीं है, देखिये—भूतचतुष्टय कभी अपने पहिले के अचेतन आकार को छोड़कर चैतन के आकार होते हुए नहीं देखे जाते हैं । तथा—अपना २ धारण, द्रवण, उष्णता, ईरण स्वभावों का और रूप आदि गुणों का त्याग करते हुए भी नहीं देखे जाते हैं । वे तो अपने भूत स्वभाव युक्त ही रहते हैं । चैतन्य तो धारण आदि स्वभावरहित अदर में ही स्वसवेदन से अनुभव में आता है । कोई कहे कि जैसे काजल दीपक रूप उपादान से पैदा हुआ है तो भी उसमें दीपक का अन्वय—भांसुरपना नहीं रहता है, इसलिये आपका कथन व्यभिचरित है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि काजल और दीपक इनमें रूप आदिक गुणों का अन्वय तो रहता है, अर्थात् दीपक में भी रूप रस आदि गुण हैं, तथा काजल में भी हैं । पुद्गल के जितने भी विकार होते हैं उन सब में रूपादिका व्यभिचार नहीं हो

धारणेरगद्रवोष्णतालक्षणेन रूपादिमत्त्वस्वभावेन वा भूतस्वभावेनान्वितः प्रमाणप्रतिपन्नः, चैतन्यस्य धारणादिस्वभावरहितस्यान्त सवेदनेनानुभवात् । न च प्रदीपाद्युपादानेन कज्जलादिना प्रदीपाद्यनान्वितेन व्यभिचारः, रूपादिमत्त्वमात्रेणात्राप्यन्वयदर्शनात् । पुद्गलविकाराणां रूपादिमत्त्वमात्राव्यभिचारात् । भूतचैतन्ययोरप्येव सत्त्वादिक्रियाकारित्वादिधर्मैरन्वयसद्भावात् उपादानोपादेयभावः स्यादित्यप्यसमीचीनम्, जलानलादीनामप्यन्योन्यमुपादानोपादेयभावप्रसङ्गात्, तद्धर्मैस्तत्राप्यन्वयसद्भावाविशेषात् ।

किञ्च, 'प्राणिनामाद्य चैतन्य चैतन्योपादानकारणक चिद्विवर्तत्वान्मध्यचिद्विवर्तवत् । तथान्त्यचैतन्यपरिणामश्चैतन्यकार्यस्तत एव तद्वत्' इत्यनुमानात्तस्य चैतन्यान्तरोपादानपूर्वकत्वसिद्धेर्न भूतानां चैतन्य प्रत्युपादानकारणत्वकल्पना घटते । सहकारिकारणत्वकल्पनाया तु उपादानमन्यद्वा-

सकता, मतलब—किसी पुद्गल में रूपादिगुण हों और किसी में नहीं हो ऐसा नहीं होता है ।

चार्वाक — ऐसा अन्वय तो भूत और चैतन्य में भी हो सकता है, अर्थात् सत्त्व, क्रियाकारित्व आदि धर्म भूत और चैतन्य में समानरूप से पाये जाते हैं । अतः इसमें उपादान उपादेयभाव—भूतचतुष्टय उपादान और चैतन्य उपादेय—इस प्रकार होने में कोई बाधा नहीं है ।

जैन — यह कथन असमीचीन है, इस प्रकार का सत्त्व आदिमात्र का अन्वय देखकर भूत और चैतन्य में उपादान उपादेयपना स्वीकार करोगे तो जल और अग्नि आदि में भी उपादान उपादेय भाव सिद्ध होगा, क्योंकि सत्त्व आदि धर्म जैसे जल में है वैसे वे अग्नि में हैं, फिर क्यों तुम लोग इन तत्त्वों को सर्वथा पृथक् मानते हो । अब हम अनुमान से चैतन्य के वास्तविक उपादान की सिद्धि करते हैं—

प्राणियों का आद्य चैतन्य चैतन्यरूप उपादान से हुआ है, जैसे कि मध्य अवस्था का चैतन्य चैतन्यरूप उपादानसे होता है, तथा अंतिम चैतन्य (उस जन्म का चैतन्य) भी पूर्व चैतन्य का ही कार्य है, क्योंकि उसमें भी चैतन्यधर्म पाया जाता है, इस प्रकार के अनुमान से चैतन्य का उपादान चैतन्यान्तर ही सिद्ध होता है, भूतचतुष्टय चैतन्य के प्रति उपादान नहीं बन सकता है, इस प्रकार यहां तक भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है इस वाक्य का विश्लेषण करते हुए पूछा था कि चैतन्य को कारण जो भूत है वह उसका उपादान कारण है कि सहकारी कारण? उनमें से उपादान कारणपना भूतचतुष्टय में नहीं है यह सिद्ध हुआ ।

च्यम्, अनुपादानस्य कस्यचित्कार्यस्यानुपलब्धेः। शब्दविद्युदादेरनुपादानस्याप्युपलब्धेरदोषोयमित्य-
प्यपरीक्षिताभिधानम्; 'शब्दादि सोपादानकारणक कार्यत्वात् पटादिवत्' इत्यनुमानात्तत्सादृश्योपा-
दानस्यापि सोपादानत्वसिद्धेः ।

'गोमयादेरचेतनाच्चेतनस्य वृश्चिकादेरुत्पत्तिप्रतीतिः' तेनानेकान्त इत्ययुक्तम्; तस्य पक्षान्त-
भूतत्वात् । वृश्चिकादिशरीर ह्यचेतनं गोमयादेः प्रादुर्भवति न पुनर्वृश्चिकादिचेतन्यविवर्तस्तस्य
पूर्वचेतन्यविवर्तदिवोत्पत्तिप्रतिज्ञानात् । अथ यथाद्य पथिकाग्निः अरणिनिर्मन्योत्थोऽनग्निपूर्वकः

यदि भूतचतुष्टय चैतन्य के मात्र सहकारी माने जायें तो चैतन्य का उपादान
कारण कोई न्यारा बताना होगा, क्योंकि बिना उपादान के कोई कार्य उपलब्ध नहीं
होता है ।

चार्वाक—शब्द, विजली आदिक पदार्थ तो बिना उपादान के ही उत्पन्न होते
है । वैसे ही चैतन्य बिना उपादान का उत्पन्न हो जायगा । कोई दोष नहीं ।

जैन—यह तो कथन मात्र है, क्योंकि शब्द आदि पदार्थ भी उपादान कारण
सयुक्त है । अनुमान प्रयोग—शब्द विजली आदि वस्तुएँ उपादान कारण सहित हुआ
करती है, क्योंकि वे कार्य है, जैसे पट किसी का कार्य है तो उसका उपादान धागे
भोजूद ही हैं । इस अनुमान से चेतन सहश्य चैतन्य का उपादान निर्बाध सिद्ध होता है ।

चार्वाक—गोबर आदि अचेतन वस्तुओं से चेतनस्वरूप बिच्छु आदि जीव
पैदा होते हैं, अतः चेतन का उपादान चेतन ही है, इस प्रकार का कथन अनैकान्तिक
दोष से दुष्ट होगा । अर्थात्—“प्राणियो का प्रथम चैतन्य चैतन्यरूप उपादान से ही
हुआ है, क्योंकि वह चैतन्य की ही पर्याय है” इस अनुमान मे चैतन्य की पर्याय होने
से वह चैतन्योपादानवाला है ऐसा हेतु दिया था वह अनैकान्तिक हुआ, क्योंकि यहा
अचेतन गोबर से चेतन बिच्छु की उत्पत्ति हुई है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, क्योंकि उस बिच्छु के चैतन्य को भी हमने पक्ष के
ही अन्तर्गत किया है, देखो—बिच्छु आदि का शरीर मात्र गोबर से पैदा हुआ है, बिच्छु
का चैतन्य उससे पैदा नहीं हुआ है, क्योंकि वह तो पूर्व चैतन्य पर्याय से ही उत्पन्न हुआ
माना गया है ।

चार्वाक—जैसे कोई पथिक रास्ते में अग्नि को जगल की सूखी अरणि की
रगड से उत्पन्न करता है, तो वहां वह अग्नि अग्नि से पैदा नहीं हुई होती है, ठीक इसी

अन्यस्त्वग्निपूर्वकः तथाच चैतन्य कायाकारपरिणतभूतेभ्यो भविष्यत्यन्यत्तु चैतन्यपूर्वक विरोधाभावा-
दित्यपि मनोरथमात्रम्; प्रथमपथिकाग्नेरनग्न्युपादानत्वे जलादीनामप्यजलाद्युपादानत्वापत्ते पृथिव्या-
दिभूतचतुष्टयस्यतत्त्वान्तरभावविरोधः । येषां हि परस्परमुपादानोपादेयभावस्तेषां न तत्त्वान्तरत्वम् यथा
क्षितिविवर्त्तानाम्, परस्परमुपादानोपादेयभावश्च पृथिव्यादीनामित्येकमेव पुद्गलतत्त्व क्षित्यादिविवर्त्त-
मवतिष्ठेत सहकारिभावोपगमे तु तेषां चैतन्येपि सोऽस्तु । यथैव हि प्रथमाविभूतपावकादेस्तिरोहित-

प्रकार प्रथम चैतन्य तो शरीराकार परिणत हुए भूतों से पैदा हो जायगा और अन्य
मध्य आदि के चैतन्य चैतन्य पूर्वक हो जावेगे तब कोई विशेष बाधा वाली बात
नही होगी ।

जैन—यह बात भी गलत है, क्योंकि आप यदि इस तरह से रास्ते की अग्नि
को बिना अग्नि रूप उपादान के पैदा हुई स्वीकार करेगे तो जल आदि तत्त्व भी अजल
आदि रूप उपादान से उत्पन्न हो जावेगे । ऐसी हालत में पृथिवी आदि भूतचतुष्टय मे
भिन्न भिन्न तत्त्वपना होना शक्य नही रहेगा, तब पृथिवी आदि में से एक ही तत्त्व सिद्ध
होगा, पृथिवी आदि पदार्थ पृथक् तत्त्व नही हैं क्योंकि इन चारों में परस्पर उपादान
उपादेय भाव पाया जाता है । जिनका परस्पर में उपादान उपादेयपना होता है वे
पृथक् पृथक् तत्त्व नही कहलाते । जैसे पृथिवी आदि की खुद की पर्याये परस्पर में
उपादान उपादेय भूत हैं अत वे एक पृथिवी तत्त्व की ही कहलाती है । इसी तरह
इस भूतचतुष्टय में परस्पर में उपादान उपादेय भाव है । अत वे भिन्न तत्त्व नही है
एक ही पुद्गल तत्त्व है और उसी एक तत्त्व की पृथिवी आदि पर्याये है ऐसा
सिद्ध होवेगा ।

यदि चार्वाक कहे कि पथिक की अग्नि के लिये वह जंगल की लकड़ी आदिक
पदार्थ सहकारी होता है तो हम जैन भी कहेगे कि इसी प्रकार चैतन्य को शरीररूप
में परिणत हुए भूतमात्र सहकारी कारण होते है, उपादान रूप कारण नहीं । आप जिस
प्रकार प्रथम बार प्रकट हुई उस पथिकाग्नि को छिपी हुई अग्नि से उत्पन्न हुई मानते
है, उसी प्रकार हम जैन गर्भ स्थित चैतन्य को छिपे हुए चैतन्य से प्रकट होना मानते
हैं । इस प्रकार भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है यह बात गलत सिद्ध हुई ।

अनादि एक चैतन्य स्वरूप आत्मा तत्त्व जबतक हम स्वीकार नही करते तब
तक जन्म लेते ही बालक मे इष्ट विषय में तथा अनिष्ट विषय में प्रत्यभिज्ञान होना,
अभिलाषा होना सिद्ध नही हो सकता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान अभिलाषा आदिक तो-

पावकान्तरादिपूर्वकत्व तथा गर्भचैतन्यस्याविभूतस्वभावस्य तिरोहितचैतन्यपूर्वकत्वमिति ।

न चानाद्ये कानुभवितृव्यतिरेकेणैष्टानिष्टविषये प्रत्यभिज्ञानाभिलाषादयो जन्मादौ युज्यन्ते, तेषामभ्यासपूर्वकत्वात् । न च मात्रुदरस्थितस्य बहिर्विषयादर्शनेऽभ्यासो युक्तः, अतिप्रसङ्गात् । न चावलम्बावस्थायामभ्यासपूर्वकत्वेन प्रतिपन्नानामप्यनुसन्धानादौना जन्मादावतत्पूर्वकत्व युक्तम्; अन्यथा घूमोऽग्निपूर्वकोदृष्टोप्यनग्निपूर्वकः स्यात् । मातापित्रभ्यासपूर्वकत्वात्तेषामदोषोयमित्यप्यसम्भाव्यम्, सन्तानान्तराभ्यासादन्यत्र प्रत्यभिज्ञानेऽतिप्रसङ्गात् । तदुपलब्धे 'सर्वं मयैवोपलब्धमेतत्' इत्यनुसन्धान

संस्कार—पूर्व अभ्यास के कारण ही होते हैं । जब बालक माता के गर्भ में रहता है तब उसके बाहर के विषय में अभ्यास तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसने अभी तक उन विषयों को देखा ही नहीं है, बिना देखे अभ्यास या संस्कार होना मानोगे—तो सूक्ष्म परमाणु, दूरवर्ती सुमेरुपर्वतादि, अतीतकालीन राम आदि का भी अभ्यास होना चाहिये था, चार्वाक कहे कि चैतन्य में मध्यम अवस्था में जो प्रत्यभिज्ञान आदिक होते हुए देखे जाते हैं वे अभ्यास पूर्वक होते हुए ही देखे जाते हैं किन्तु जन्म जात बालको के तो वे प्रत्यभिज्ञान आदिक बिना अभ्यास के होते हैं सो ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि संस्कार पूर्वक होनेवाले प्रत्यभिज्ञान आदिक बिना संस्कार के होने लग जायेंगे तो फिर अग्निपूर्वक होनेवाला घूम बिना अग्नि के भी होने लगेगा—ऐसा मानना चाहिये ।

चार्वाक—बालक को जन्मते ही जो कुछ अभिलाषा आदि होती है उसमें कारण खुद के संस्कार नहीं है, बालक के माता, पिता के संस्कार वहा काम आते हैं । अर्थात् बालक में माता आदि के अभ्यास से अभिलाषा आदि उत्पन्न होती है ।

जैन—यह बात असंभव है, क्योंकि माता आदि भिन्न सत्तान के अभ्यास से अन्य किसी बालक आदि में प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति मानोगे तो अतिप्रसंग उपस्थित होगा—देवदत्त के संस्कार से उसके निकटवर्ती मित्र यज्ञदत्त आदि को भी प्रत्यभिज्ञान होने लगेगा । माता पिता को कोई वस्तु की प्राप्ति होतों पर या जानने पर भेरे को ही यह सब प्राप्त हुआ । इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान सभी बालको को हो जायेगा तथा कभी ऐसा भी होवेगा कि एक माता पिता के अनेक बालको में भी परस्पर में एक दूसरे के संस्कार-अभ्यास से प्रत्यभिज्ञान होने लगेगा, जैसे कि एक के ही द्वारा जाने हुए स्पर्श विषय का देखे हुए विषय के साथ जोड़ रूप ज्ञान अर्थात् प्रत्यभिज्ञान होता है कि यह वही आमा है जिसका मैंने स्पर्श किया था, इत्यादि, वैसे ही वह भिन्न २ व्यक्ति को भी

चाखिलापत्याना स्यात् । परस्पर वा तेषां प्रत्यभिज्ञानप्रसङ्गः स्यात्, एकसन्तानोद्भूतदर्शनस्पर्शनप्रत्ययवत् ।

‘ज्ञानेनाह घटादिकं जानामि’ इत्यहमप्रत्ययप्रसिद्धत्वाच्चात्मनो नापलापो युक्तः । अत्र हि यथा कर्मतया विषयस्यावभासस्तथा कर्तृतयात्मनोपि । न चात्र देहेन्द्रियादीनां कर्तृता, घटादिवत्तेषामपि कर्मतयाऽवभासनात्, तदप्रतिभासनेऽप्यहमप्रत्ययस्यानुभवात् । न हि बहलतमपटलपटावगुण्ठितविग्रहस्योपरतेन्द्रियव्यापारस्य गौरस्थौल्यादिधर्मोपेत शरीर प्रतिभासते । अहमप्रत्ययः स्वसविदितः पुनस्तस्यानुभूयमानो देहेन्द्रियविषयादिव्यतिरिक्तार्थालम्बन सिद्ध्यतीति प्रमाणप्रसिद्धोऽनादिनिधनो द्रव्यान्त-

होने लगेगा ॥ “मैं ज्ञान के द्वारा घट को जानता हूँ” इस अह प्रत्यय से अत्मा की सिद्धि हो रही है इसलिये भी आत्मद्रव्य का अपलाप करना शक्य नहीं है । “मैं ज्ञान के द्वारा घट आदि को जानता हूँ” इस प्रकार की प्रतीति में जैसे बाह्य पदार्थ घट आदि का कर्मपने से प्रतिभास होता है वैसे ही आत्मा का कर्त्तापने से प्रतिभास हो ही रहा है, इस प्रतीति में कर्त्ता का जो प्रतिभास है वह शरीर या इन्द्रिय आदि के निमित्त से नहीं है क्योंकि शरीर आदिक तो घटादि पदार्थों के समान कर्मरूप से प्रतीति में आते हैं । शरीर आदि का प्रतिभास नहीं होने पर भी अह प्रत्यय तो अनुभव में आता ही रहता है । शरीर के बिना अह प्रत्यय कैसे प्रतीति में आता है सो बताते हैं—कोई पुरुष गाढ अन्धकार में बैठा है उसका शरीर अन्धकार के निमित्त से बिलकुल खुद को भी दिखायी नहीं दे रहा है, तथा उसने अपनी सारी नेत्र आदि इन्द्रिया भी बंद कर रखी है, उससमय उस पुरुष को अपना गौरा स्थूल आदि स्वभाव वाला शरीर तो प्रतीत होता नहीं, किन्तु आत्मा तो अवश्य अह प्रत्ययस्वरूप सवेदन में आ रहा है, यह अह प्रत्यय शरीर इन्द्रिया, मन आदि से तयारा ही आत्मद्रव्य का अवलम्बन लेकर प्रवृत्त हुआ है, इसलिये अनादि निधन एक पृथक् तत्त्व भूत ऐसा आत्मा प्रमाण प्रसिद्ध है । यह सिद्ध हो जाता है, आत्मा आदि अत रहित अनादि निधन है क्योंकि वह एक द्रव्य है, जैसे पृथिवी आदि द्रव्य होने से अनादिनिधन है । इस अनुमान में दिया गया द्रव्यत्व हेतु आश्रयासिद्धदोष वाला नहीं है, क्योंकि इस द्रव्यत्वरूप हेतु का आश्रय आत्मा है । जो अह प्रत्यय से सिद्ध हो चुका है । इस द्रव्यत्व हेतु का स्वरूप भी असिद्ध नहीं है । अर्थात् यह हेतु स्वरूपासिद्ध भी नहीं है, क्योंकि आत्मा द्रव्य लक्षण से लक्षित (सहित) है, देखो—सिद्ध करके बताते हैं । आत्मा द्रव्य है क्योंकि उसमें गुण और पर्याये पायी जाती हैं जैसे कि पृथिवी आदि में गुण पर्याय होने से उन्हें द्रव्य मानते हैं । यहां इस दूसरे अनुमान

रमात्मा । प्रयोग—अनाद्यनन्त आत्मा द्रव्यत्वात्पृथिव्यादिवत् । न तावदाश्रयासिद्धोय हेतुः, आत्म-
नोऽहम्प्रत्ययप्रसिद्धत्वात् । नापि स्वरूपासिद्धः, द्रव्यलक्षणोपलक्षितत्वात् । तथाहि—द्रव्यमात्मा
गुणपर्ययवत्त्वात्पृथिव्यादिवत् । न चायमप्यसिद्धो हेतुः, ज्ञानदर्शनादिगुणानां सुखदुःखहर्षविषादादि-
पर्यायाणां च तत्र सद्भावात् । न च घटादिनानेकान्तस्तस्य मृदादिपर्ययत्वात् ।

ननु शरीररहितस्यात्मन प्रतिभासे ततोऽन्योऽनादिनिधनोऽसाविति स्यात् जलरहितस्यानल-
स्येव, न चैवम्, आससार तत्सहितस्यैवास्यावभासनात् । तत्र 'शरीररहितस्य' इति कोऽर्थः ? किं तत्स्व-
भावविकलस्य, आहोस्वित्तद्देशपरिहारेण देशान्तरावस्थितस्येति ? तत्राद्यपक्षेऽस्त्येव तद्रहितस्यास्य
प्रतिभास —रूपादिमदचेतनस्वभावशरीरविलक्षणतया अमूर्त्तचैतन्यस्वभावतया चात्मनोऽध्यक्षगोचर-

में दिया गया गुण पर्यायत्व हेतु भी असिद्ध नहीं है । आत्मा में तो अनन्त ज्ञान दर्शन
आदि गुण भरे हुए हैं । तथा सुख दुःख आदि अनेक पर्यायों भी भरी हैं । इस द्रव्यत्व आदि
हेतु को घट आदि द्वारा व्यभिचरित भी नहीं कर सकते, क्योंकि घटादि भी मिट्टी आदि
द्रव्य की पर्याय स्वरूप हैं । मतलब-पृथिवी आदिमें भी द्रव्यत्व और पर्यायत्व रहता ही है ।

चार्वाक—शरीर रहित कही पर आत्मा का प्रतिभास होवे तब तो उसको
अनादि निधन माना जाय, जैसे कि जल रहित अग्नि की कही पृथक् ही प्रतीति होती
है, किन्तु ऐसी आत्मा की न्यारी प्रतीति तो होती नहीं है, ससार में हमेशा ही वह
आत्मा शरीर सहित ही अनुभव में आता है ।

जैन—शरीर रहित आत्मा प्रतीति में नहीं आता ऐसा जो आपका कहना है
सो "शरीर रहित" इस पद का क्या अर्थ है ? क्या शरीर के स्वभाव से रहित होने
को शरीर रहित कहते हो कि शरीर के देश का परिहार करके अन्य किसी
देश में रहने को शरीर रहित होना कहते हो ? प्रथमपक्ष की बात कहो तो वह
बात असत्य है, क्योंकि शरीर के स्वभाव से रहित तो आत्मा का प्रतिभास तो अवश्य
ही होता है, देखो—रूप आदि गुण युक्त अचेतन स्वभाव वाले ऐसे शरीर से विलक्षण
स्वभाव वाला अमूर्त्त चैतन्यस्वभाववान् ऐसा आत्मा तो प्रत्यक्ष के गोचर ही रहा
है । दूसरा पक्ष—शरीर के देश का परिहार करके उसके रहने को शरीर रहित कहते हो
तो बताइये कि आत्मा का शरीर से अन्यत्र अनुपलभ होने से अभाव करते हो कि शरीर
देश में ही उपलब्ध होने से उसका अभाव करते हो ? प्रथम पक्ष में सिद्ध साधनता है,
अर्थात् शरीर से अन्यत्र आत्मा की उपलब्धि नहीं होती ऐसा कहो तो वह बात हमें
इष्ट ही है, क्योंकि हमारे यहाँ भी शरीर से अन्य स्थानों पर आत्मा का अभाव ही

त्वेनोक्तत्वात् । द्वितीयपक्षे तु-शरीरदेशादन्यत्रानुपलम्भात्तत्र तदभावात्, शरीरप्रदेश एव वा ? प्रथमविकल्पे-सिद्धसाधनम्, तत्र तदभावाभ्युपगमात् । न खलु नैयायिकवज्जैनेनापि स्वदेहादन्यत्रात्मेष्यते । द्वितीयविकल्पे तु-न केवलमात्मनोऽभावोऽपि तु घटादेरपि । न हि सोपि स्वदेशादन्यत्रोपलभ्यते ।

किञ्च, स्वशरीरादात्मनोऽन्यत्वाभाव तत्स्वभावत्वात्, तद्गुणत्वात् वा स्यात्, तत्कार्यत्वाद्वा प्रकारान्तरासम्भवात् । पक्षत्रयेपि प्रागेव दत्तमुत्तरम् । ततश्चैतन्यस्वभावस्यात्मनः प्रमाणतः प्रसिद्धे-स्तत्स्वभावमेव ज्ञान युक्तम् । तथा च स्वव्यवसायात्मकं तत् चेतनात्मपरिणामत्वात्, यत्तु-न स्वव्यवसायात्मकं न तत्तथा यथा घटादि, तथा च ज्ञान तस्मात्स्वव्यवसायात्मकमित्यभ्युपगन्तव्यम् ।

माना गया है, हम जैन नैयायिक मत के समान आत्मा को-गृहीत देह को छोड़कर अन्य शरीर या स्थानों में रहना स्वीकार नहीं करते हैं । अर्थात् नैयायिक शरीर से अन्यत्र भी आत्मा का अस्तित्व मानते हैं । किन्तु हम जैन तो शरीर में ही आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं । दूसरी बात मानो कि शरीर-प्रदेश में ही आत्मा की प्राप्ति होती है, अतः आत्मा को पृथक् द्रव्यरूप नहीं मानते हैं तब तो इस मान्यता के अनुसार एक आत्मा का ही अभाव नहीं होगा किन्तु सारे ही घट आदि पदार्थों का अभाव भी मानना पड़ेगा । क्योंकि वे पदार्थ भी अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते हैं । आप चार्वाक अपने शरीर से आत्मा को पृथक् नहीं मानते शरीररूप ही मानते हैं सो उसमें क्या कारण हैं ? शरीर का स्वभाव ही आत्मा है इसलिये आत्मा को भिन्न नहीं मानते ? अथवा शरीर का गुण होने से आत्मा को भिन्न नहीं मानते ? कि शरीर का कार्य होने से आत्मा शरीररूप है ऐसा मानते हो, सो तीनों ही पक्ष की बातें असत्यरूप हैं, क्योंकि शरीर का धर्म, या शरीर का गुण अथवा शरीर का कार्य स्वरूप आत्मा है ही नहीं, अतः आप उसको शरीररूप सिद्ध नहीं कर सकते, इस विषय पर अभी २ बहुत कुछ कहा जा चुका है, इसलिये निर्बाधपने से चैतन्यस्वभाव वाले आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, उसीका स्वभाव ज्ञान है, न कि अन्य किसी अचेतन पृथिवी आदि भूतों का, ज्ञान स्वको भी जानता है क्योंकि वह चैतन्य आत्मा का परिणाम है, जो स्व को नहीं जानता वह उस प्रकार का चैतन्य स्वभावी नहीं होता, जैसे घट आदि पदार्थ, अपने को नहीं जानने से चैतन्य नहीं हैं, ज्ञान तो चैतन्य स्वरूप है, अतः वह स्वव्यवसायी है, इस प्रकार चार्वाक के द्वारा माने गये भूतचैतन्यवाद का निरसन होता है ।

* चार्वाक के भूतचैतन्यवाद का निरसन समाप्त *

भूतचैतन्यवाद के खंडन का सारांश

चार्वाक—जीव को पृथिवी, जल, अग्नि, और वायु इन चारों से उत्पन्न होना मानते हैं, उनके यहाँ चारों पृथिवी आदि भूत बिलकुल भिन्न २ माने गये हैं। (जैसे कि वैशेषिक के यहाँ माने हैं)। इन चारों का समुदाय जब होता है, तब एक चेतन विशेष उत्पन्न होता है। जैसे कि गोबर आदि से बिच्छू आदि जीव पैदा होते हुए देखे जाते हैं। जैन यदि ऐसा कहें कि आत्मा यदि भूतो से निर्मित है तो उसे नेत्रादि इन्द्रियों से गृहीत होना चाहिये सो बात भी नहीं, क्योंकि वह चेतन सूक्ष्मभूत-विशेष से उत्पन्न होता है, अतः इन्द्रियों द्वारा वह न दिखायी देता है और न गृहीत होता है। शरीर, इन्द्रिय विषय इनसे ही ज्ञान पैदा होता है, जीव से नहीं, जिसप्रकार पथिक मार्ग में बिना अग्नि के ही पत्थर लकड़ी आदि को आपस में रगड़ कर उससे अग्नि पैदा कर देता है, वैसे ही शुरू में जो चेतन जन्म लेता है वह बिना चेतन के उत्पन्न होता है, और फिर आगे आगे मरण तक चेतन से चेतन पैदा होता रहता है, मरण के बाद वह खतम—समाप्त—समूलचूल—नष्ट हो जाता है, न कहीं वह परलोक आदि में जाता है और न परलोक आदि से आता है, क्योंकि परलोक और परलोक में जाने वाले जीव इन दोनों का ही अभाव है अनुमानादि से यदि आत्मा की सिद्धि करना चाहो तो वह अनुमान भी हमें प्रमाणभूत नहीं है। क्योंकि हम एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। इसलिये जैसे आटा, जल, गुड़ के समिश्रण से मादकशक्ति पैदा होती है, वैसे ही सूक्ष्मभूतो से चेतन पैदा होता है ऐसा मानना चाहिये।

जैन—यह सारा ही प्रतिपादन बिलकुल निराधार, गलत है, पृथ्वी आदि चारों भूतो से चेतन उत्पन्न होता तो चूल्हे पर चढ़ी हुई मिट्टी की बटलोई में चेतन पैदा होना चाहिये था, क्योंकि वहाँ पर चारों पृथिवी, जल, अग्नि, वायु ये मौजूद हैं। सूक्ष्मभूत से उत्पत्ति मानने पर प्रश्न यह पैदा होता है कि सूक्ष्मभूतविशेष किसे कहा जाता है? सूक्ष्मभूत चेतन का सजातीय है या विजातीय है? सजातीय माना जाय तो ठीक ही है, सजातीय चेतन उपादान से सजातीय चेतन ज्ञान पैदा होता ही है, यदि विजातीय से माना जाय तो आपके भूतचतुष्टय का व्याघात होता है, क्योंकि विजातीय उपादान से विजातीय की —चाहे जिसकी उत्पत्ति होगी, तो जल से अग्नि आदि पैदा होंगे और फिर वे चारों पृथिवी आदि तत्त्व एक रूप मानने पड़ेगे क्योंकि उपादान

समान है। तथा आत्मा को सिद्ध करने वाला अह प्रत्ययरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्ष मौजूद है "मै ज्ञान के द्वारा घट को जानता हूँ, मै सुखी हूँ" इत्यादि प्रयोगों में "मै अह" जो है वे ही जीव है। आप शरीर इन्द्रिय, विषय आदि का गुण ज्ञान को मानते हैं सो वह बिलकुल गलत है देखिये—शरीर का गुण ज्ञान नहीं है क्योंकि शरीर के रहते हुए भी वह पृथक् देखा गया है, यदि वह शरीर का गुण होता तो गुणी के रहते हुए उसे भी रहना चाहिये था, इसी तरह चैतन्य इन्द्रिय का गुण भी सिद्ध नहीं होता और न पदार्थ का ही। क्योंकि इन किसी के साथ भी ज्ञान का अन्वय या व्यतिरेक नहीं पाया जाता है। आपके यहाँ दो मान्यताएँ हैं—भूतों से चैतन्य प्रकट होता है तथा भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है। प्रथम प्रकट होने का पक्ष लिया जावे तो उसमें यह प्रश्न है कि प्रकट होने के पहिले वह सत् है या असत् है? या सत्-असत् है? प्रथम पक्ष में उसमें अनादि अनतता की ही सिद्धि होती है, क्योंकि शरीर आकार परिणत हुए पुद्गल से चेतन जो कि अनादि निधन है वह प्रकट होता है, प्रकट होने का अर्थ ही यही है कि जो चीज पहले से मौजूद थी और व्यजक के द्वारा प्रकट हुई। जैसे—कमरे के अन्दर अन्धकार में स्थित घटादि पदार्थ पहले से ही हैं और वे दीपक आदि के द्वारा प्रकट होते हैं—दिखाई देते हैं। यदि प्रकट होने से पहिले चेतन सर्वथा असत् है तो उसे प्रकट होना ही नहीं कहते तथा सर्वथा असत् प्रकट होता है तो गधे के सींग भी प्रकट होने लग जायेंगे।

अविद्धकर्ण चार्वाक का पक्ष है कि भूतों से चैतन्य पैदा होता है, इस पक्ष में हम जैन प्रश्न करते हैं कि पैदा होने में वे भूत उपादान कारण हैं या सहकारी कारण हैं? उपादान कारण विजातीय हो नहीं सकता, क्योंकि अमूर्तज्ञानदर्शवादि विशिष्ट असाधारण गुणयुक्त ऐसे विजातीय चेतन के उपादान यदि भूत होते हैं तो वे जल को अग्नि, अग्नि को वायु, पृथ्वी को जल इत्यादि रूप से परस्पर में उपादानरूप हो जाने चाहिये? क्योंकि विजातीय उपादान आपने स्वीकार किया है। जीवका उपादान यदि भूतचतुष्टय है तो जीव में उनके गुणों का अन्वय भी होना चाहिये था। यदि सहकारी कारण मानो तो फिर उपादान न्यारा कौन है सो कहो—यदि कहो कि विना उपादान के बिजली आदि की तरह चेतन उत्पन्न हो जावेगा, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि बिजली आदि भी उपादान युक्त है, षट् शक्ति का उदाहरण भी विषम है अर्थात् मदशक्ति भी जड़ और उसका उपादान भी जड़ है अतः कोई बाधा नहीं है।

तथा चेतन यदि पहिले से नहीं था और भूतो से वह पीछे निर्मित हुआ है तो उसमें अभिलाषा, प्रत्यभिज्ञान आदि नहीं होना चाहिये, किन्तु जन्मते ही स्तनपान आदि की अभिलाषा जीव में देखी जाती है, इसलिये आत्मा अनादि निघन है, गुण-पर्यायवाला होने से, पृथिवी आदि तत्त्वों की तरह। इस प्रकार आत्मद्रव्य पृथिवी आदि भूतचतुष्टय से पृथक् सिद्ध होता है। चार्वाक का कहना है कि शरीर से अलग कहीं पर भी जीव की प्रतीति तो होती ही नहीं अतः हम उसे भिन्न नहीं मानते हैं, सो उसमें यह बात है कि शरीर के बाहर तो वह इसलिये प्रतीत नहीं होता कि वह शरीर के बाहर रहता ही नहीं, हम जैन नैयायिकों की तरह शरीर के बाहर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। ससार अवस्था में जीव स्वशरीर में रहता है, जब शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है तब तो वह पूर्व का शरीर यो ही पड़ा रहता है। इसीलिये तो शरीर से चेतन भिन्न माना है।

*** भूतचतुष्टय चैतन्यवाद के खंडन का सारांश समाप्त ***



ज्ञानको स्वसंविदित नहीं माननेवाले परवादीका पूर्व पक्ष

मीमांसक के दो भेद हैं । इनमें एक है भाट्ट और दूसरा है प्रभाकर, यहाँ भाट्ट ज्ञान के विषय में अपना पक्ष उपस्थित करता है—ज्ञान सर्वथा परोक्ष रहता है, किसी के द्वारा भी उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, “मैं ज्ञान के द्वारा घट को जानता हूँ” इस वाक्य में से आत्मा कर्ता, कर्म, घट और जानना रूप क्रिया ये तो प्रत्यक्ष हो जाते हैं, किन्तु करणभूत ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, हम मीमांसक नैयायिक के समान इस करण-ज्ञान का अन्य ज्ञान से प्रत्यक्ष होना नहीं मानते हैं, हमारा तो यही सिद्धान्त है कि ज्ञान सर्वथा परोक्ष ही रहता है, हाँ ! इतना जरूर है कि जानने रूप क्रिया को देखकर आत्मा ज्ञान युक्त है ऐसा अनुमान भले ही लगा लो, जबतक प्रमिति क्रिया के प्रति जो कर्म नहीं बनता तबतक उस वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता, ज्ञान करण भूत है अतः वह परोक्ष रहता है । यही बात ग्रन्थ में भी कही है कि—“करणज्ञान परोक्षं कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात्—(शाबरभाष्य १।१२) ।

ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिम् । ज्ञातताऽन्यथाऽनुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञान गृह्यते । (तर्क भाषा पृ० ४२) करणज्ञान सर्वथा परोक्ष है, क्योंकि वह कर्मपने से प्रतीत नहीं होता है, जब पदार्थ को ज्ञान जान लेता है तब उसका अनुमान हुआ करता है, अन्यथानुपपत्ति से अर्थात् अर्थापत्ति से भी ज्ञान का ग्रहण हो जाता है, अतः ज्ञान न स्वयं का ग्रहण है—स्वसंविदित है और न अन्य प्रत्यक्षज्ञान से उसका प्रत्यक्ष हो सकता है, मात्र किसी अनुमानादिरूप परोक्षज्ञान से उसकी सत्ता जानी जाती है, यह सिद्ध हुआ ।

*** पूर्वपक्ष समाप्त ***

स्वसंवेदनज्ञानवादः



ननु विज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽर्थवत्कर्मतापत्तेः करणात्मनो ज्ञानान्तरस्य परिकल्पना स्यात् । तस्यापि प्रत्यक्षत्वे पूर्ववत्कर्मतापत्तेः करणात्मक ज्ञानान्तर परिकल्पनीयमित्यनवस्था स्यात् । तस्या-प्रत्यक्षत्वेऽपि करणत्वे प्रथमे कोऽपरितोषो येनास्य तथा करणत्व नेष्यते । न चैकस्यैव ज्ञानस्य परस्पर-

मीमांसक ने जो ऐसा कहा है कि ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है सो अब वे इस बात को स्थापित करने के लिये अपना मन्तव्य रखते हैं—

मीमांसक—जैन ज्ञान को प्रत्यक्ष होना मानते हैं सो वह उनकी मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान को यदि प्रत्यक्ष होना माना जाय तो वह कर्मरूप बन जायगा, जैसे कि पदार्थों को प्रत्यक्ष होना मानते हैं तो वे कर्मरूप होते हैं, इस तरह ज्ञान भी कर्मरूप बन जायगा, तो उसको जानने के लिये दूसरे करण की आवश्यकता पड़ेगी, तथा वह करणभूत ज्ञान (जो कि दूसरा है) भी प्रत्यक्ष होगा तो कर्मरूप बन जायगा, फिर उस दूसरे ज्ञान के लिये तीसरा करणभूत ज्ञान चाहिये, इस प्रकार चलते चलते कही पर भी विश्राम तो होगा नहीं इससे अनवस्था आयेगी । तुम कहो कि ज्ञान को प्रत्यक्ष करने वाला वह दूसरे नम्बर का ज्ञान अप्रत्यक्ष रहकर ही करण बन जाता है अर्थात् उस दूसरे अप्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा ही प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है—तब तो आपको प्रथम ज्ञान को भी अप्रत्यक्ष ही मानना चाहिये—जिस प्रकार दूसरा ज्ञान स्वतः अप्रत्यक्ष रहकर प्रथम ज्ञान के लिये करण बनता है वैसे ही प्रथम ज्ञान स्वतः अप्रत्यक्ष रहकर पदार्थों के प्रत्यक्ष करने में करण बन जायगा, क्या बाधा है । तथा—जैन ज्ञान को कर्मरूप और करणरूप भी मानते हैं सो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही ज्ञान को परस्पर विरुद्ध दो धर्मयुक्त अर्थात् कर्म और करणरूप मानना ऐसा कही पर भी नहीं देखा जाता है । इस प्रकार मीमांसक की ज्ञान के बारे में शंका होने पर उसका समाधान माणिक्य नन्दी आचार्य दो सूत्रों द्वारा करते हैं—कि जिस प्रकार प्रमेय

विरुद्धकर्मकरणाकाराभ्युपगमो युक्तोऽन्यत्र तथाऽदर्शनादित्याशङ्क्य प्रमेयवत्प्रमातृप्रमाणप्रमितीनां प्रतीतिसिद्धं प्रत्यक्षत्वं प्रदर्शयन्नाह—

घटमहमात्मना वेद्मीति ॥ ८ ॥

कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ॥ ९ ॥

न हि कर्मत्व प्रत्यक्षता प्रत्यङ्गमात्मनोऽप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् तद्वत्स्यापि कर्मत्वेनाप्रतीतेः ।

अर्थात् पदार्थ प्रत्यक्ष हुआ करते है वैसे ही प्रमाता-आत्मा, प्रमाण अर्थात् ज्ञान तथा प्रमिति-फल ये सबके सब ही प्रत्यक्ष होते है—

सूत्र—घटमहमात्मना वेद्मीति ॥ ८ ॥

कर्मवत् कर्तृकरणक्रियाप्रतीते ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—मैं घट को अपने द्वारा (ज्ञान के द्वारा) जानता हूँ । जैसे कि घट पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही कर्त्ता-आत्मा, करण-ज्ञान और जानना रूप क्रिया-इन तीनों का भी प्रत्यक्ष होता है, देखिये—जो कर्मरूप होता है वही प्रत्यक्ष होता है ऐसा नियम नहीं है—अर्थात् प्रत्यक्षता का कारण कर्मपना हो सो बात नहीं है, यदि ऐसा नियम किया जाय कि जो कर्मरूप है वही प्रत्यक्ष है तो आत्मा के भी अप्रत्यक्ष हो जाने का प्रसंग आयेगा, क्योंकि करणभूत ज्ञान जैसे कर्मरूप नहीं है वैसे आत्मा भी कर्मरूप से प्रतीत नहीं होता है । मीमांसक कहे—कि आत्मा कर्मपने से प्रतीत नहीं होता है किन्तु कर्तृत्वरूप से प्रतीत होता है अतः वह प्रत्यक्ष है तो फिर ज्ञान भी करणरूप से प्रत्यक्ष होवे, कोई विशेषता नहीं है । अर्थात् ज्ञान और आत्मा दोनों ही कर्मरूप से प्रतीत नहीं होते है । फिर भी यदि आत्मा का प्रत्यक्ष होना स्वीकार करते हो तो ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानना होगा ।

मीमांसक—करणरूप से प्रतीत हुआ ज्ञान करण ही रहेगा वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा ।

जैन—यह बात तो कर्त्ता में भी लागू होगी—अर्थात् कर्तृत्वरूप से प्रतीत हुई आत्मा कर्त्ता ही कहलावेगी यह प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगी, इस प्रकार आत्मा के विषय में भी मानना पड़ेगा । दूसरी बात यह है कि मीमांसक आत्मा को प्रत्यक्ष होना मानते है फिर ज्ञान को ही परोक्ष क्यों बतलाते है । यह भी एक बड़ी विचित्र बात है ? क्योंकि स्वयं आत्मा ही अपने स्वरूप का ग्राहक होता है वैसे ही वह बाह्य पदार्थों का भी

तदप्रतीतावपि कर्तृत्वेनास्य प्रतीते प्रत्यक्षत्वे, ज्ञानस्यापि करणत्वेन प्रतीतेः प्रत्यक्षतास्तु विशेषा-
भावात् । अथ करणत्वेन प्रतीयमान ज्ञान करणमेव न प्रत्यक्षम्; तदन्यत्रापि समानम् । किञ्च,
आत्मनः प्रत्यक्षत्वे परोक्षज्ञानकल्पनया किं साध्यम् ? तस्यैव स्वरूपवद्बाह्यार्थप्राहकत्वप्रसिद्धे ? कर्तुः
करणमन्तरेण क्रियाया व्यापारासम्भवात्करणभूतपरोक्षज्ञानकल्पना नानर्थिकेत्यप्यसाधीय ; मनस-
श्चक्षुरादेश्चान्तर्बहि करणस्य सद्भावात् ततोऽस्य विशेषाभावाच्च । अनयोरचेतनत्वात्प्रधान चेतन

ग्राहक होता है । यह बात प्रसिद्ध है ही । अर्थात् आत्मा ही बाह्य पदार्थों को जानते
समय करणरूप हो जाती है ।

मीमांसक—कर्त्ता को करण के बिना क्रिया में व्यापार करना शक्य नहीं है,
अतः करणभूत परोक्ष ज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ नहीं है ।

जैन—यह कथन भी असाधु है । देखिये—कर्त्ताभूत आत्मा का करण तो मन
और इन्द्रियां हुआ करती हैं, अन्तःकरण तो मन है और बहि करण स्वरूप स्पर्शनादि
इन्द्रियां है । आपके उस परोक्षभूत ज्ञानकरण से इन करणों में तो भिन्नता नहीं है,
अर्थात् यदि आपको परोक्ष स्वभाव वाला ही करण मानना है तो मन आदि परोक्षभूत
करण है ही ।

मीमांसक—मन और इन्द्रिया करण तो है किन्तु वे सब अचेतन है । एक
मुख्य चेतन स्वरूप करण होना चाहिये ।

जैन—यह बात ठीक नहीं है, देखिये—भावमन और भावेन्द्रिया तो चैतन्य
स्वभाव वाली है, यदि आप उन भावमन और भावेन्द्रियों को परोक्ष सिद्ध करना
चाहते हो तब तो हमारे लिये सिद्ध साधन होवेगा, क्योंकि हम जैन स्वपर को जानने
की शक्ति जिसकी होती है ऐसी लब्धिरूप भावेन्द्रिय को तथा भावमन को चेतन मानते
हैं । यदि इनमें आप परोक्षता साधते हो तो हमें कोई बाधा नहीं है, क्योंकि हम
छद्मस्थों को—(अल्पज्ञानियों को)—इनका प्रत्यक्ष होता ही नहीं है, मतलब कहने का
यह है कि लब्धिरूप करण और भावमन तो परोक्ष ही रहते हैं । हां—जो उपयोग
लक्षणवाला भावकरण है वह तो स्व और पर को ग्रहण करने के व्यापाररूप होता
है, अतः यह स्वयं को प्रत्यक्ष होता रहता है—सो कैसे ? यह बताते हैं—जब चक्षु आदि
इन्द्रियों द्वारा घट आदि को ग्रहण करने की ओर जीव व्यापारवाला होता है—अर्थात्
भुक्ता है तब वह कहता है कि मैं घट को तो देख नहीं रहा हूँ, अन्य पदार्थों को देख
रहा हूँ—अर्थात् मैं हाथ से घट को उठा रहा हूँ किन्तु लक्ष्य मेरा अन्यत्र है—इस प्रकार

करणमित्येष्यसमीचीनम्, भावेन्द्रियमनसोश्चेतनत्वात् । तत्परोक्षत्वसाधने च मिद्धसाधनम्, स्वार्थ-
ग्रहणशक्तिलक्षणाया लब्धेर्मनसश्च भावकरणस्य छद्मस्थाप्रत्यक्षत्वात् । उपयोगलक्षणं तु भावकरणं
नाप्रत्यक्षम्; स्वार्थग्रहणव्यापारलक्षणस्यास्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात् 'घटादिद्वारेण घटादिग्रहणे
उपयुक्तोऽप्यहं घटं न पश्यामि पदार्थान्तरं तु पश्यामि', इत्युपयोगस्वरूपसवेदनस्याखिलजनानां सुप्रसि-
द्धत्वात् । क्रियायां करणाविनाभावित्वे चात्मनः स्वसवित्त्वि किङ्करणं स्यात् ? स्वात्मैवेति चेत्,
अर्थेऽपि स एवास्तु किमदृष्टान्यकल्पनया ? ततश्चक्षुरादिभ्यो विशेषमिच्छता ज्ञानस्य कर्मत्वेनाप्रतीता-
वप्यध्यक्षत्वमभ्युपगन्तव्यम् । फलज्ञानात्मनो फलत्वेन कर्तृत्वेन चानुभूयमानयोः प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमे
करणज्ञाने करणत्वेनानुभूयमानेऽपि सोऽस्तु विशेषाभावात् । न चाभ्यां सर्वथा करणज्ञानस्य भेदो

उपयोग के स्वरूप की प्रतीति या (अनुभव) सपूर्ण जीवों की आया करती
है । आप मीमांसकों का यह आग्रह हो कि क्रिया का तो करण के साथ अविनाभाव है—
बिना करण के क्रिया होना अशक्य है सो बताईये—जब स्वयं आत्मा को (अपने स्वरूप
को) ही आत्मा जानेगी तब वहां उस क्रिया का करण कौन बनेगा ? यदि कहा जाय
कि वहा आत्मा ही स्वयं करण बन जायगी सो ही बात पदार्थों में भी घटित हो
जायगी अर्थात् पदार्थ को जानते समय भी ज्ञान स्वयं ही करण बन जायगा । फिर
क्यो अदृष्ट ऐसे द्वितीय करणज्ञान की कल्पना करते हो, इसलिये सार यह निकलता है
कि यदि आप चक्षु आदि इन्द्रियो से ज्ञानरूप करण में विशेषता मानते है तो आपको
कर्मपने से प्रतीत नही होने पर भी ज्ञान-मे प्रत्यक्षता—स्वसंविदितता ही मानना चाहिये ।
आप लोग फलज्ञान (प्रमिति) और आत्मा को फल और कर्त्तारूप से प्रत्यक्ष होना
तो स्वीकार करते ही है—अर्थात् फलज्ञान का फलरूप से अनुभव होता है और आत्मा
का कर्त्तापने से अनुभव होता है अतः ये फलज्ञान और आत्मा दोनो प्रत्यक्ष है ऐसा तो
आप मानते ही है, अतः इसके साथ ही करणज्ञान करणरूप से अनुभव में आता है
इसलिये वह भी प्रत्यक्ष है ऐसा मानना चाहिये, और कोई अन्य विशेषता तो है नही ।
अपने स्वरूप से तो करण भी कर्त्ता आदि की तरह प्रतिभासित होता ही है । एक
बात यह भी है—कि फलज्ञान और आत्मा इन दोनो से सर्वथा भिन्न करणज्ञान नही
है, यदि सर्वथा भेद मानोगे तो अन्य मत जो नैयायिक का है उसमें आपका—मीमांसकों
का प्रवेश हुआ माना जायगा, इस दोष को हटाने के लिये आत्मा आदि से ज्ञान का
कथंचित् भेद स्वीकार करते हो तब तो ज्ञान में सर्वथा अप्रत्यक्षपने का एकान्त मानवा
कल्याणकारी रही होगा, क्योंकि प्रत्यक्षस्वभाववाले फलज्ञान और आत्मज्ञान से

मतान्तरानुषङ्गात् । कथञ्चिद्भेदे तु नास्याऽप्रत्यक्षतैकान्तं श्रेयान् प्रत्यक्षस्वभावाभ्या कर्तृफलज्ञानाभ्यामभिन्नस्यैकान्ततोऽप्रत्यक्षत्वविरोधात् ।

किञ्च, आत्मज्ञानयोः सर्वथा कर्मत्वाप्रसिद्धिः, कथञ्चिद्ब्रह्म? न तावत्सर्वथा, पुरुषान्तरापेक्षया प्रमाणान्तरपेक्षया च कर्मत्वाप्रसिद्धिप्रसङ्गात् । कथञ्चिच्चेत्, येनात्मना कर्मत्वं सिद्धं तेन प्रत्यक्षत्वमपि, अस्मदादिप्रमात्रपेक्षया घटादीनामप्यशत एव कर्मत्वाध्यक्षयोः प्रसिद्धे । विरुद्धा च प्रतीयमानयोः कर्मत्वाप्रसिद्धिः, प्रतीयमानत्व हि ग्राह्यत्व तदेव कर्मत्वम् । स्वतः प्रतीयमानत्वापेक्षया कर्म-

अभिन्न ऐसे करणज्ञान मे सर्वथा परोक्षता रह नही सकती, क्योंकि अभिन्न वस्तु के अशो मे एक को प्रत्यक्ष और एक को परोक्ष मानना विरुद्ध पडता है ।

विशेषार्थ—मीमांसक ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानते हैं अर्थात् ज्ञान पर को तो जानता है किन्तु वह स्वयं को नहीं जानता है ऐसा मानते हैं, “मैं ज्ञान के द्वारा घट को जानता हूँ” इस प्रकार के प्रतिभास में “मैं—आत्माकर्त्ता, घट—कर्म जानता हूँ” प्रमिति या क्रिया अथवा फलज्ञान इन सब वस्तुओं का तो प्रत्यक्ष हो ही जाता है, किन्तु “ज्ञान के द्वारा” इस रूप करण ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता है, इस पर आचार्य समझते हैं कि जब कर्त्ता स्वरूप आत्मा और प्रमितिरूप फल ये जब स्वसवेदनरूप से अवभासित हो जाते हैं, तब करणरूप ज्ञान का भी स्वसवेदनरूप प्रत्यक्ष से अर्थात् अपने आप से अवभासन कैसे नहीं होगा अर्थात् अवश्य होगा । क्योंकि कर्त्ता, करण आदि का आपस में कथञ्चित् अभेद है, जब कर्त्ता को प्रत्यक्ष किया तब करण अवश्य ही प्रत्यक्ष होगा, सब से बड़ी बात तो यह है कि ज्ञान का तो हर प्राणी को स्वयं वेदन होता रहता है, इस प्रतीतिसिद्ध बात का अपेलाप करना शक्य नहीं है ।

मीमांसक से हम जैन पूछते हैं कि आत्मा और ज्ञान ये दोनों सर्वथा ही कर्मरूप से प्रतीत नहीं होते कि कथञ्चित् कर्मरूप से प्रतीत नहीं होते ? सर्वथा कर्मपने से प्रतीत नहीं होते हैं ऐसा यदि प्रथम पक्ष लिया जाय तो ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान आदि को यदि सर्वथा प्रतीत होना नहीं मानोगे तो वे कर्त्ता आदिक दूसरे पुरुषों को भी प्रतीत नहीं हो सकेगे, तथा अन्य ज्ञान के लिये भी विवक्षित ज्ञान कर्मरूप नहीं बनेगा ।

भावार्थ—हमारी आत्मा और ज्ञान कभी कर्मरूप नहीं होते हैं ऐसा एकान्त रूप से यदि माना जावे तो हमें अन्य पुरुष ज्ञान नहीं सकेगे । फिर वक्ता आदि के ज्ञान

त्वाप्रसिद्धी परत कथ तत्सिध्येत् ? विरोधाभावाच्चेत्स्वतस्तत्सिद्धी को विरोधः ? कर्तृकरणत्वयो कर्मत्वेन सहानवस्थानम्, परतस्तत्सिद्धी समानम् । घटग्राहिज्ञानविशिष्टमात्मान स्वतोऽहमनुभवामि' इत्यनुभवसिद्धं स्वतः प्रतीयमानत्वापेक्षयापि कर्मत्वम् । तन्नार्थवज्ज्ञानस्य प्रतीतिसिद्धप्रत्यक्षताऽपलापोऽर्थप्रत्यक्षत्वस्याप्यपलापप्रसङ्गात् । प्रतीतिसिद्धस्वभावस्यैकत्रापलापेऽन्यत्राप्यनाश्वासान्न क्वचित्प्रतिनियतस्वभावव्यवस्था स्यात् ।

को जानना भी कठिन होगा कि इस व्यक्ति को ज्ञान अवश्य ही है, क्योंकि इसके उपदेश से पदार्थों का वास्तविक बोध हो जाता है इत्यादि, तथा मुझे स्वयं भी ज्ञान अवश्य है क्योंकि पदार्थ ठीक रूप से मुझे प्रतीत होते हैं, इत्यादि प्रतिभास जो अबाधितपने से हो रहा है वह ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानने में नहीं बन सकता है । अतः ज्ञान को प्रत्यक्ष—स्वसंवेदित मानना चाहिये, सर्वथा परोक्ष नहीं । यदि मीमांसक आत्मा और ज्ञान में कथंचित् रूप से—किसी अपेक्षा से कर्मत्व का अभाव मानते हैं तब तो ठीक है, देखो—जिस स्वरूप से ज्ञान में कर्मत्व की सिद्धि है उसी स्वरूप से उसे प्रत्यक्ष भी मान सकते हैं, घट आदि बाह्यपदार्थों में भी किसी २ स्थूलत्वादि धर्मों की अथवा अशो की अपेक्षा ही कर्मत्व माना जा सकता है अर्थात् हम जैसे छद्मस्थ पुरुषों का ज्ञान पदार्थों के सर्वांशों को ग्रहण नहीं कर सकता है अतः कुछ अश ही जानने में आने से वे कर्मरूप हैं, उसी प्रकार आत्मा हो चाहे ज्ञान हो उनकी भी कर्तृश और करणाश रूप से प्रतीति आती है, अतः वे भी प्रत्यक्ष ही कहलावेगे । कर्त्ता आत्मा और करणज्ञान प्रतीत हो रहे हैं तो भी उन्हें कर्मरूप नहीं मानना यह विरुद्ध बात होगी । देखिये—प्रतीत होना ही ग्राह्यपना कहलाता है और वही कर्मत्व से प्रसिद्ध होता है, तुम कहो कि जब कर्त्ता आदि स्वयं ही प्रतीत होते हैं तो उनको कर्मरूप कैसे माना जाय ? मतलब—घट आदि बाह्यपदार्थों का तो “घट को जानता हूँ इत्यादिरूप से कर्मपना दिखायी देता है वैसे स्वयं का कर्मपना नहीं दिखता, अतः कर्मपने आत्मादि को नहीं मानते हैं सो भी बात नहीं है । जब आत्मा आदिक पर के लिये कर्मपने को प्राप्त होते हैं तब अपने लिये कैसे नहीं होंगे ।

मीमांसक—आत्मा आदि तो पर के लिये कर्मरूप हो जाते हैं उसमें विरोध नहीं है ।

जैन—उसी प्रकार स्वयं के लिये भी वे कर्मरूप बन जावेगे इसमें क्या विरोध है ।

किञ्च, इयं प्रत्यक्षता अर्थधर्म, ज्ञानधर्मो वा ? न तावदर्थधर्म, नीलतादिवत्तद्देशे ज्ञानकाला-
दन्यदाप्यनेकप्रमातृसाधारणविषयतया च प्रसिद्धिप्रसङ्गात् । न चैवम्, आत्मन्येत्रास्या ज्ञानकाले एव
स्वासाधारणविषयतया च प्रसिद्धेः । तथा च न प्रत्यक्षता अर्थधर्मः तद्देशे ज्ञानकालादन्यदाप्यनेक-
प्रमातृसाधारणविषयतया चाऽप्रसिद्धत्वात् । यस्तु तद्धर्मः स तद्देशे ज्ञानकालादन्यदाप्यनेकप्रमातृसाधा-
रणविषयतया च प्रसिद्धो दृष्टः, यथा रूपादि, तद्देशे ज्ञानकालादन्यदाप्यनेकप्रमातृसाधारणविषयतया
चाप्रसिद्धा चैवम् तस्मान्न तद्धर्म । यस्यात्मनो ज्ञानेनार्थः प्रकटीक्रियते तद्ज्ञानकाले तस्यैव सोऽर्थः

मीमांसक—कर्तृत्व और करणत्व पर के लिये भी कर्मरूप बन नहीं सकते हैं
अर्थात् हमारा ज्ञान या आत्मा हमारे खुदके द्वारा कर्मरूप से प्रतीति में नहीं आता है
तो वह दूसरे देवदत्त आदि के द्वारा भी कर्मरूप से प्रतीति में नहीं आयेगा । लेकिन
ऐसा है नहीं, हम हमारे लिये कर्मरूप से प्रतीति में आते हैं । देखो—घट को ग्रहण
करने वाले ज्ञानसे युक्त अपनी आत्मा को स्वयं मैं खुद अनुभव कर रहा हूँ । इस प्रकार
अनुभव सिद्ध बात है कि स्व की प्रतीति में स्वयं ही कर्मरूप हो जाता है, इसलिये
जैसे पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं वैसे ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है ऐसा मानना चाहिये, यदि ज्ञान
में प्रत्यक्षता नहीं मानते हैं तो पदार्थों में प्रत्यक्षता की प्रतीति का अपलाप हो जायेगा,
क्योंकि प्रतीत हुए स्वभाव को एक जगह नहीं मानेंगे तो कहीं पर भी उस स्वभाव की
सिद्धि नहीं होगी, फिर तो प्रतिनियत वस्तुस्वभाव का ही लोप हो जायेगा ।

भावार्थ—आत्मा और ज्ञान में कर्त्ता और करणरूप से प्रतीति आ रही है तो
भी उनको परोक्ष माना जायगा तो घट आदि पदार्थ भी परोक्ष हो जावेगे, क्योंकि
प्रतीत होते हुए भी ज्ञानादि को परोक्ष मान लिया है, अतः पदार्थ भी परोक्ष हो जावेगे ।
फिर प्रतिनियत पदार्थों के स्वभावों की व्यवस्था ही समाप्त हो जाने से यह घट कृष्ण
वर्णवाला है, बड़ा है इत्यादि वस्तुओं का स्वभाव या धर्म प्रतीत होना शक्य नहीं
रहेगा । अतः पदार्थों के समान ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है ऐसा मानना चाहिये ॥ मीमा-
ंसक से हम यह पूछते हैं कि प्रत्यक्षता किसका धर्म है ? क्या वह घट पट आदि पदार्थों
का धर्म है ? अथवा ज्ञान का धर्म है ? प्रत्यक्षता पदार्थों का धर्म तो हो नहीं सकती,
यदि वह पदार्थ का धर्म होती तो उसी नील आदि धर्म के समान उसी पदार्थ के स्थान
पर अन्य समय में भी वह प्रत्यक्षता प्रतीत होती, तथा वह नील पीत आदि पदार्थ
जैसे ज्ञान काल से भिन्न समयों में भी प्रतीत होते हैं अनेक अनेक देवदत्त आदि पुरुष
उन नीलादि पदार्थों को जानते हैं वैसे ही उस प्रत्यक्षता को भी जानने का प्रसंग प्राप्त

प्रत्यक्षो भवतीत्यपि श्रद्धामात्रम्, अर्थप्रकाशकविज्ञानस्य प्राकट्याभावे तेनार्थप्रकटीकरणसम्भवात्प्रदीपवत्, अन्यथा सन्तानान्तरवर्तिनोपि ज्ञानादर्थप्राकट्यप्रसङ्ग । चक्षुरादिवत्तस्य प्राकट्याभावेप्यर्थे प्राकट्यं घटेतेत्यप्यसमीचीनम्, चक्षुरादेरर्थप्रकाशकत्वासम्भवात् । तत्प्रकाशकज्ञानहेतुत्वात् खलूपचारेणार्थप्रकाशकत्वम् । कारणस्य चाज्ञातस्यापि कार्ये व्यापाराविरोधो ज्ञापकस्यैवाज्ञातस्य ज्ञापकत्व-

होगा, किन्तु ऐसा होता नहीं है । प्रत्यक्षता तो ज्ञानके समय ही और आत्मा में प्रतीत होती है, तथा वह भी अपने को मात्र असाधारणरूप से प्रतीत होती है । अर्थात् अपने ज्ञान की प्रत्यक्षता तो अपने को ही प्रतीत होगी, अन्य किसी भी पुरुषको वह प्रतीत हो नहीं सकती है । इसलिये अनुमान सिद्ध बात है कि प्रत्यक्षता पदार्थ का धर्म नहीं है (साध्य), क्योंकि वह ज्ञान के समय को छोड़कर अन्य समय में प्रतीत नहीं होती, तथा पदार्थ के स्थान पर प्रतीत नहीं होती और न अन्य पुरुषों को साधारण रूप से वह ग्रहण में आती है (हेतु), जो पदार्थ का धर्म होता है वह पदार्थ के स्थान पर ही प्रतीत होता है, ज्ञानकाल से भिन्न समय में भी प्रतीत होता है । और अनेक व्यक्ति भी उस धर्म को विषय कर सकते हैं । जैसे कि रूप, रस आदि धर्म सभी के विषय हुआ करते हैं । यह प्रत्यक्षता तो न पदार्थ के स्थान पर प्रतीत होती है और न ज्ञानकाल से अन्य समय में भूलफती है और न अन्य पुरुषों को साधारण रूप से जानने में आती है, अतः प्रत्यक्षता पदार्थ का धर्म हो नहीं सकती ।

मीमांसक—जिसकी आत्मा के ज्ञान के द्वारा पदार्थ प्रकट किया जाता है वह पदार्थ उसी के ज्ञान के काल में उसी आत्मा को प्रत्यक्ष होता है अन्य समय में अन्य को नहीं ।

जैन—सो यह कथन भी श्रद्धामात्र है, जब कि आपके यहाँ पर पदार्थों को प्रकाशित करने वाला ज्ञान ही प्रकट नहीं है, तो उसके द्वारा पदार्थ प्रकट कैसे किये जा सकते हैं ? अर्थात् नहीं किये जा सकते । जैसे कि दीपक स्वयं प्रकाशस्वरूप है तभी उसके द्वारा पदार्थ प्रकट किये जाते हैं नहीं तो नहीं, वैसे ही ज्ञान भी जब तक अपने आपको प्रत्यक्ष नहीं करेगा तब तक वह पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है, अन्यथा—अन्य पुरुष के ज्ञानके द्वारा भी पदार्थ को प्रत्यक्ष कर लिया जाना चाहिये । क्योंकि जैसे हमारा स्वयं का ज्ञान हमारे लिये परोक्ष है वैसे ही दूसरे का ज्ञान भी परोक्ष है, अपने परोक्षज्ञान से ही पदार्थ को प्रत्यक्ष कर सकते हैं तो पराये ज्ञान से भी उन्हें प्रत्यक्ष कर लेना चाहिये, इस तरह का बड़ा भारी दोष उपस्थित होगा ।

विरोधात् “नाज्ञात ज्ञापक नाम” [] इत्यखिलं परीक्षादक्षैरभ्युपगमात् । प्रमातुरात्मनो ज्ञापकस्य स्वयं प्रकाशमानस्थोपगमादर्थं प्राकट्यसम्भवे करणज्ञानकल्पनावैफल्यमित्युक्तम् । नापि ज्ञानधर्मः; अस्य सर्वथा परोक्षतयोपगमात् । यत्खलु सर्वथा परोक्षं तन्न प्रत्यक्षताधर्माधागे यथाऽदृष्टादि, सर्वथा परोक्षं च परैरभ्युपगतं ज्ञानमिति ।

मीमांसक—जिस प्रकार नेत्र आदि इन्द्रियां स्वतः परोक्ष रहकर ही पदार्थों को प्रत्यक्ष किया करती हैं उसी प्रकार ज्ञान भी स्वयं परोक्ष रहकर पदार्थों को प्रत्यक्ष कर लेगा ?

जैन—यह कथन गलत है क्योंकि नेत्र आदि इन्द्रिया पदार्थों को प्रकट—(प्रकाशित) नहीं करती हैं किन्तु वे अर्थ प्रकाशक ज्ञान की हेतु होती हैं—अर्थात्—इन्द्रिया ज्ञान की सिर्फ सहायक बनती हैं, इसलिये उनमें अर्थ प्रकाशकत्व का उपचार कर लिया जाता है । और एक बात यह है कि जो कारणस्वरूप कारण होता है वह अज्ञात रहकर भी कार्य में व्यापार कर सकता है, किन्तु जो ज्ञापक कारण होता है वह ऐसा नहीं होता, वह तो ज्ञात होकर ही कार्य में व्यापार करता है । “नाज्ञात ज्ञापक नाम” अर्थात् अज्ञात वस्तु ज्ञापक नहीं कहलाती है, ऐसा सभी परीक्षक विद्वानों ने स्वीकार किया है ।

मीमांसक—प्रमाता आत्मा जब स्वयं ज्ञापककरण मौजूद है तो उसके द्वारा ही अर्थप्राकट्य ही जावेगा, ऐसा मानने पर ज्ञान में स्वप्रकाशकता की आवश्यकता ही नहीं रहती है, क्योंकि स्वप्रकाशक आत्मा उपस्थित ही है ।

जैन—तो फिर आपको ज्ञान को जानने के लिये कारण भूत अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहेगी, अर्थात्—आत्मा ही स्वयं पदार्थ को या स्वतः को जानते समय कारणभूत बन जायगा, यदि आत्मा से भिन्न कहीं ज्ञान उपलब्ध नहीं होता है अतः प्रत्यक्षता ज्ञान का धर्म है, ऐसा मीमांसक कहे तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उन्होंने ज्ञान को सर्वथा परोक्ष माना है । जो सर्वथा परोक्ष ही रहता है वह प्रत्यक्षता रूप धर्म का आधार नहीं हो सकता, जैसे कि अदृष्ट—पुण्यपापादि, ये सर्वथा परोक्ष हैं । अतः उनमें प्रत्यक्षता नामक धर्म नहीं रहता है । आप मीमांसकों ने ज्ञान को सर्वथा परोक्ष माना है, अतः प्रत्यक्षता उसका धर्म ही नहीं सकती है ।

पुनश्च—हम आपसे पूछते हैं कि जब आप ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानते हैं

कुतश्चैववादिनो ज्ञानसद्भावसिद्धिः—प्रत्यक्षात्, अनुमानादेर्वा ? न तावत्प्रत्यक्षात्तस्यात्तद्विषय-तयोपगमात् । यद्यद्विषय न भवति न तत्तद्व्यवस्थापकम्, यथास्मादृक्प्रत्यक्षं परमाण्वाद्यविषय न तद्व्यवस्थापकम् । ज्ञानाविषयं च प्रत्यक्ष परैरभ्युपगतमिति ।

नाप्यनुमानात्; तदविनाभावलिङ्गाभावात् । तद्धि अर्थज्ञप्तिः; इन्द्रियार्थो वा, तत्सहकारि-प्रगुण मनो वा ? अर्थज्ञप्तिश्चेत्सा कि ज्ञानस्वभावा, अर्थस्वभावा वा ? यदि ज्ञानस्वभावा; तदाऽ-

तो आप ज्ञान के सद्भाव की सिद्धि भी कैसे कर सकेंगे ? क्या प्रत्यक्षप्रमाण से ज्ञान के सद्भाव की सिद्धि करेंगे या अनुमान प्रमाण से करेंगे ? प्रत्यक्ष प्रमाण से तो कर नहीं सकते क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण का ज्ञान विषय ही नहीं है, जो जिसका विषय नहीं है वह उसका व्यवस्थापक भी नहीं होता है, यथा हम जैसे छद्मस्थ जीवों का प्रत्यक्ष ज्ञान परमाणु आदि को विषय नहीं करता है अतः उसका वह व्यवस्थापक भी नहीं होता है, आपने प्रत्यक्षप्रमाण को ज्ञान का विषय करनेवाला नहीं माना है । अतः वह ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, इस प्रकार प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होना तो सिद्ध नहीं होता ।

अनुमान प्रमाण से भी ज्ञान के सद्भाव की सिद्धि नहीं कर सकते हो । क्योंकि उस ज्ञान का अविनाभावी ऐसा कोई हेतु नहीं है यदि कहो कि हेतु है तो वह कौनसा होगा ? पदार्थ की ज्ञप्ति, या इन्द्रिय और पदार्थ अथवा इन्द्रियादिक का है सहकारी-पना जिसमें ऐसा एकाग्र मन ? यदि पदार्थ की ज्ञप्ति को उसका हेतु बनाते हो तो वह पदार्थ ज्ञप्ति भी किस स्वभाववाली होगी ? ज्ञान स्वभाववाली कि पदार्थ स्वभाव-वाली ? ज्ञान स्वभाववाली अर्थ ज्ञप्ति ज्ञान को प्रत्यक्ष करने वाले अनुमान मे हेतु है यदि ऐसा कहोगे तो वह अभी असिद्ध होने से अनुमापक नहीं बन सकती है—अर्थात् ज्ञान मे प्रत्यक्ष होने का स्वभाव है इस बात का ही जब आपको निश्चय नहीं—आप जब ज्ञान को प्रत्यक्ष होना ही स्वीकार नहीं करते हैं—तो किस प्रकार ज्ञानस्वभाववाली अर्थज्ञप्ति को हेतु बना सकते हो ? अर्थात् नहीं बना सकते । बड़ा आश्चर्य है कि आप ज्ञानस्वभावपना दोनों मे—अर्थज्ञप्ति और करणज्ञान में समान होते हुए भी अर्थज्ञप्ति को तो प्रत्यक्ष मान रहे हो और करणज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानते, इसमे तो एक महा मोह—मिथ्यात्व ही कारण है, कि जिसके निमित्त से ऐसी विपरीत तुम्हारी मान्यता हो रही है । अर्थज्ञप्ति और करणज्ञान इनमें तो मात्र शब्दों का ही भेद है अर्थ का भेद तो है नहीं फिर भी अपनी स्वच्छद इच्छा के अनुसार इनमे आप भेद करते हो कि

सिद्धत्वात्तस्या, कथमनुमापकत्वम्, ? न खलु, ज्ञानस्वभावाविरोधेपि 'ज्ञप्तिः प्रत्यक्षा न करणज्ञानम्' इत्यत्र व्यवस्थानिवन्धनं पश्यामोऽन्यत्र महामोहात् । शब्दमात्रभेदाच्च सिद्धासिद्धत्वभेद-स्वेच्छापरिकल्पितोऽर्थस्याभिन्नत्वात् । ज्ञानत्वेन हि प्रत्यक्षताविरोधे ज्ञप्तावपीय न स्यादविरोधात् । अथार्थस्वभावा ज्ञप्तिः तदार्थप्राकट्य सा, न चैतदर्थग्राहकविज्ञानस्यात्माधिकरणत्वेनापि प्राकट्याभावे घटते,

अर्थज्ञप्ति तो प्रत्यक्ष स्वरूप है और करणज्ञान परोक्ष स्वरूप है । देखिये—यदि आप करणज्ञान में ज्ञानपना होने से प्रत्यक्षतास्वभाव का विरोध करते हो तो अर्थज्ञप्ति में भी 'इस प्रत्यक्षता का विरोध मानना पड़ेगा, क्योंकि दोनों में—करणज्ञान और ज्ञप्ति में ज्ञानत्व तो समान ही है, कोई विशेषता नहीं है । इस प्रकार अर्थज्ञप्ति ज्ञान स्वभाववाली है यह नहीं सिद्ध हो सकने के कारण उस अर्थज्ञप्ति स्वरूप हेतुवाले अनुमान प्रमाण से ज्ञान का सद्भाव सिद्ध करना बनता नहीं है । अब यदि उस अनुमान के हेतु को अर्थ स्वभाववाली ज्ञप्ति स्वरूप मानते हो तो क्या दोष आते हैं सो बताते हैं—अर्थज्ञप्ति यदि अर्थस्वभाव है तो वह अर्थप्राकट्यरूप अर्थात् अर्थ को प्रत्यक्ष करने स्वरूप होगी, और ऐसा अर्थप्राकट्य तबतक नहीं बनता कि जबतक पदार्थों को ग्रहण करनेवाले करणज्ञान में प्राकट्य—(प्रत्यक्षता)—सिद्ध नहीं होता है । मैं जीव इस करणज्ञान का आधार हूँ इत्यादिरूप से जबतक ज्ञान, प्रत्यक्ष नहीं होगा तबतक ज्ञानसे जाना हुआ पदार्थ उसे कैसे प्रत्यक्ष होगा ? अर्थात् नहीं हो सकेगा, यदि ज्ञान के प्रत्यक्ष हुए बिना ही अर्थप्राकट्य होता है तो अन्य किसी देवदत्त के ज्ञान से यज्ञदत्त को पदार्थों का प्रत्यक्ष होना भी मानना पड़ेगा, क्योंकि जैसे अपना ज्ञान परोक्ष है, वैसे ही दूसरो का ज्ञान भी परोक्ष है, ज्ञानका अपने में अधिकरणरूप रूप से बोध नहीं होगा—ज्ञान स्वयं अज्ञात ही रहेगा ऐसा कहोगे तो एक बड़ा भारी दोष आता है, देखिये—ज्ञान कैसा और कहां पर है इस प्रकार ज्ञान के बारे में यदि ज्ञानकारी नहीं है तो जब ज्ञान विस्तृतो जानेगा तब आत्मा में उसका अनुभव नहीं हो सकेगा कि मैंने यह पदार्थ जाना है । इत्यादि । एक बात और भी है कि पदार्थों में होनेवाली प्रकटता या प्रत्यक्षता तो सर्वसाधारण हुआ करती है अर्थात् सभी को होती है, उस अर्थप्राकट्यरूप हेतु में तो अन्य अन्य सभी आत्माओं के ज्ञानों का अनुमान होगा न कि अपने खुद के ज्ञान का में मतलब—पदार्थों की प्रकटता को देखकर अपने में ज्ञान का सद्भाव करने वाली जो अनुमानप्रमाण की बात थी वह तो बेकार ही होती है, क्योंकि, उससे अपने में ज्ञान का सद्भाव सिद्ध करना शक्य नहीं है ।

पुरुषान्तरज्ञानादप्यर्थप्राकट्यप्रसङ्गात् । आत्माधिकरणत्वेपरिज्ञानाभावे च ज्ञानस्य ज्ञानेनोज्ञातोप्यर्थ-
नात्मानुभवितुं कत्वेन ज्ञातो भवेत् । 'मया ज्ञातोऽयमर्थ' इति । अर्थगतप्राकट्यस्य सर्वसाधारणत्वाच्चा-
त्मान्तरबुद्धेरप्यनुमानः स्यात् । यद्बुद्ध्या यस्यार्थः प्रकटीभवति तद्बुद्धिमेवासीत् । ततोऽनुमिमीते
नात्मान्तरबुद्धिमिन्वप्यसारम् ; बुद्ध्यात्मनोरप्रत्यक्षतैकान्ते 'यद्बुद्ध्या यस्यार्थः' प्रकटीभवति । इत्य-
स्यैवान्धपरम्परया व्यवस्थापयितुमशक्तेः । प्रत्यक्षत्वे चात्मन सिद्धं विज्ञानस्य स्वार्थव्यवसायात्मक-
त्वम् । आत्मैव हि स्वार्थग्रहणपरिणतो जानातीति ज्ञानमिति कर्तृसाधनज्ञानशब्देनाभिधीयते ।

मीमांसक—जिसकी बुद्धि के द्वारा जिसे अर्थ प्रकट—(प्रत्यक्ष) होता है वह उसी के ज्ञान का अनुमापक होगा, अन्य आत्मा के ज्ञान का नहीं, इस प्रकार मानने से ठीक होगा अर्थात् उपर्युक्त दोष नहीं आवेगा ।

जैन—यह कथन असार है, जब आपके ग्रहा पर बुद्धि अर्थात् करणज्ञान और आत्मा एकान्त से परोक्ष ही है तब जिसकी बुद्धि के द्वारा जो अर्थप्रकट होता है इत्यादि व्यवस्था होना शक्य नहीं है, कोई अन्धपरपरा से वस्तुव्यवस्था हुआ करती है क्या ? अर्थात् आत्मा परोक्ष है बुद्धि भी परोक्ष है और उन अघ्नस्वरूप बुद्धि आदि से वस्तु प्रत्यक्ष हो जाती है इत्यादि कथन तो अधो के द्वारा वस्तुस्वरूप बतलाने के समान असिद्ध है इस सब दोषपरपरा को हटाने के लिये यदि आप आत्माको प्रत्यक्ष होना स्वीकार करते हैं—तब तो ज्ञान भी स्वपरव्यवसायात्मक सिद्ध ही होगा, क्योंकि आत्मा ही स्वयं स्व और पर को ग्रहण करने में जब प्रवृत्त होता है तब उसी को "जानाति इति ज्ञान" ऐसा कर्तृसाधनरूप से ग्रहण करते हैं—निर्दिष्ट करते हैं, मतलब यह है कि आत्मा कर्ता और करण ज्ञान इनमें भेद नहीं है—अतः आत्मा प्रत्यक्ष होने पर करण-ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है यह सिद्ध हुआ ।

'ज्ञान' का सद्भाव सिद्ध करने के लिये मीमांसक ने जो अनुमान दिया था उस अनुमान का हेतु अब यदि इन्द्रिय और पदार्थ को—दोनों को—माना जाय तो वह हेतु भी अनुपयोगी रहेगा, क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थों का ज्ञान के सद्भावे के साथ कोई अविनाभाव सिद्ध नहीं है । इसी बात को बताया जाता है—जाननेवाला योग्य स्थान पर स्थित है तथा इन्द्रिय और पदार्थों का भी सद्भाव है तो भी यदि उस जाननेवाले व्यक्ति का मन अन्य किसी विषय में लगा है तो उसको उस उस इन्द्रिय के द्वारा उस विवक्षित पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है । यदि कदाचित् व्यक्ति का मन कहीं अन्यत्र नहीं

इन्द्रियाथौ लिङ्गमित्यप्यनालोचिताभिधानम्, तयोर्विज्ञानसद्भावाविनाभावासिद्धेः । योग्य-
देशे स्थितस्य प्रतिपत्तु रिन्द्रियार्थसद्भावेप्यन्यत्र गतमनसो विज्ञानाभावात् । तत्सिद्धौ चेन्द्रियस्याती-
न्द्रियत्वेनार्थस्यापि ज्ञानाऽप्रत्यक्षत्वेनासिद्धेः कथं तथापि हेतुत्व तयो ? सिद्धौ वा न साध्यज्ञानकाले
ज्ञानान्तरात्तत्सिद्धिर्गुणपद् ज्ञानानुत्पत्त्यभ्युपगमात् । उत्तरकालीनज्ञानात्तत्सिद्धौ तदा साध्यज्ञानस्या-
भावात्कस्यानुमानम् ? उभयविषयस्यैकज्ञानस्यानभ्युपगमादनवस्थाप्रसङ्गाच्चानयोरसिद्धिः ।

है और उसने पदार्थ को जान भी लिया तो भी उससे अपनी बात—अर्थात् ज्ञान के सद्भाव की बात सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि इन्द्रिया तो स्वयं अतिन्द्रिय हैं—स्वयं को जानती नहीं हैं । उस इन्द्रिय से जाना हुआ पदार्थ भी ज्ञान के परोक्ष होने से असिद्ध ही रहेगा, अतः वह असिद्ध स्वरूपवाले इन्द्रिया और पदार्थ ज्ञान की सिद्धि में कैसे हेतु बन सकते हैं । अर्थात् नहीं बन सकते हैं । एक बात और विचार करने की है—कि आपके कहने से मान लिया जाय कि असिद्ध स्वभाववाली इन्द्रिय और पदार्थ भी ज्ञान की सिद्धि करते हैं किन्तु उससे कुछ फायदा नहीं होगा । क्योंकि साध्यकोटि में रखे हुए जिस करणभूत ज्ञान को आप सिद्ध कर रहे हैं उस ज्ञान के समय अन्य जो अनुमान ज्ञान है वह प्रवृत्त ही नहीं हो सकता, क्योंकि एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न होना स्वीकार नहीं किया है । उत्तरकाल के ज्ञान के द्वारा उस करणज्ञान को सिद्ध करोगे तो उस समय करणज्ञान नहीं रहने से किसको सिद्ध करने के लिये अनुमान आयेगा, इन्द्रिय और पदार्थ इन दोनों को विषय करनेवाला एक ज्ञान माना नहीं है, तथा ऐसा ध्यान भी लेवे तो भी अनवस्था दोष आता है । अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थ स्वरूप हेतु से करणज्ञान की सिद्धि होगी, किन्तु इन्द्रिय और पदार्थ की किससे सिद्धि होगी ऐसा प्रश्न होने पर किसी दूसरे करण ज्ञान से सिद्धि कहनी होगी, इस करण-ज्ञान की भी किसी अन्य से सिद्धि होगी, इस प्रकार अनवस्था दोष आने से करणज्ञान और इन्द्रिय तथा पदार्थ इन सबकी ही सिद्धि नहीं हो सकेगी, इसलिये इन्द्रिय और पदार्थ को हेतु बनाकर उससे ज्ञानका सद्भाव सिद्ध करना शक्य नहीं है ।

मीमांसक—इन्द्रिय और पदार्थों की है सहकारिता जिसमें ऐसे एकाग्र हुए मन के द्वारा ज्ञान का सद्भाव सिद्ध होता है अर्थात् ज्ञान की सिद्धि उस इन्द्रिय और पदार्थ का सहकारी स्वरूप जो मन है वह है हेतु जिसमें ऐसे अनुमान से हो जायगी ।

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस मन के द्वारा भी ज्ञान का सद्भाव सिद्ध होना शक्य नहीं है, कारण कि स्वतः मन की ही अभी तक सिद्धि नहीं

इन्द्रियार्थसहकारिप्रगुण मनो लिङ्गमित्यप्यपरीक्षिताभिधानम्, तत्सद्भावासिद्धे । युगपद् ज्ञानानुत्पत्तेस्तत्सिद्धि, तथा हि—आत्मनो मनसा तस्येन्द्रियैः सम्बन्धे ज्ञानमुत्पद्यते । यदा चास्य चक्षुषा सम्बन्धो न तदा शेषेन्द्रियैरतिसूक्ष्मत्वात्, इत्यप्यसङ्गतम्; दीर्घशङ्कुलीभक्षणादी युगपद्रूपादि ज्ञानपञ्चकोत्पत्तिप्रतीतेः अश्वविकल्पकाले गोनिश्चयाच्च तदसिद्धेः । न चात्र क्रमैकान्तकल्पना—प्रत्यक्ष विरोधात् । किञ्चैववादिना (किं) युगपत्प्रतीत येनावयवावयव्यादिव्यवहारः स्यात् ? घटपटादिक-मिति चेत् न, अत्रापि तथा कल्पनाप्रसङ्गात् । किञ्चातिसूक्ष्मस्यापि मनसो नयनादीनामन्यतमेन

हो पायी है । आप लोग एक साथ ज्ञानो की उत्पत्ति नहीं होना रूप हेतु से मन की सिद्धि करते हो—किन्तु इस युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिरूप हेतु से मन सिद्ध नहीं होता है ।

मीमांसक—हम तो ऐसा मानते है कि आत्मा का मन के साथ सबध होता है, मन का इन्द्रियो के साथ सबध होता है, तब जाकर ज्ञान उत्पन्न होता है, जब यह मन एक नेत्र के साथ सबध करता है, तब शेष कर्ण आदि इन्द्रियो के साथ सबध नहीं कर सकता, क्योकि मन अति सूक्ष्म है, इस प्रकार एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होने से उससे मन की भी सिद्धि हो जाती है ।

जैन—यह कथन असगत है, देखो—दीर्घशङ्कुली—बडी तथा कडी कचौडी या पुडी खाते समय एक साथ रस रूप आदि पाचो ज्ञान उत्पन्न होते हुए देखे जाते है । तथा अश्व का विकल्प करते समय—(घोडे का निश्चय होते समय) गाय का दर्शन भी होता है, अश्व का विकल्प हो रहा है और उसी समय उसी पुरुष को गाय का निश्चय भी होता हुआ देखा जाता है, अत एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं इत्यादि कथन असत्य ठहरता है, इस दीर्घशङ्कुलीभक्षण आदि मे रूप रस आदि का क्रम से ही ज्ञान होता है ऐसा एकान्त नहीं मान सकते, प्रत्यक्ष विरोध होता है, अर्थात् हम सबको दीर्घशङ्कुली भक्षण आदि में एक साथ रूप आदि का ज्ञान होते हुए प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा है । आप मीमांसक यदि इस प्रकार एक साथ ज्ञान होना स्वीकार नहीं करेगे तो अवयव अवयवी आदि का व्यवहार किस प्रकार होगा, क्योकि अवयवों का ज्ञान अवयवी के साथ नहीं होगा और अवयवी का ज्ञान भी अवयवो के साथ उत्पन्न नहीं होगा ।

मीमांसक—जैसे घट पट आदि का ज्ञान होता है वैसे अवयव अवयवी आदि का भी ज्ञान हो जायगा ।

सन्निकर्षसमये रूपादिज्ञानवन्मानस सुखादिज्ञान किञ्च स्यात्- सम्बन्धसम्बन्धसद्भावात् । तथाविधादृष्ट-
स्याभावाच्चेत्; अदृष्टकृता तर्हि युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिस्तदेवानुमापयेन्न मनः ।

किञ्च, 'युगपद् ज्ञानानुत्पत्तेर्मनसि सिद्धिस्ततश्चास्याः प्रसिद्धिः' इत्यन्योन्याश्रयः । चक्रकप्रसङ्गश्च
- 'विज्ञानसिद्धिपूर्विका हि युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिसिद्धिः, तत्सिद्धिर्मनपूर्विका' इति । तस्मात्तत्सह-
कारिः प्रगुण मनो लिङ्गमित्यप्यसिद्धम् ।

जैन— यह कथन ठीक नहीं है, घटपट आदि में भी क्रम से ही ज्ञान होगा, क्योंकि आप एक साथ अनेकज्ञान होना मानते नहीं । एक बात हम जैन आप—(मीमांसक) से पूछते हैं कि आपका वह अतिसूक्ष्म मन जब नेत्र आदि इन्द्रियो में से किसी एक इन्द्रिय के साथ सबध करता है उस समय उसके द्वारा जैसे रूपादि का ज्ञान होता है वैसे ही उसी नेत्र ज्ञान के साथ मानसिक सुख आदि का ज्ञान भी क्यों नहीं होता है ? क्योंकि सबध सबध का सद्भाव तो है ही, अर्थात् मन का आत्मा से सबध है और उसी आत्मा में सुखादिका समवाय सबध है, अतः रूप आदि के साथ मानसिक सुखादिका भी ज्ञान होना चाहिये ।

मीमांसक—उस तरह का अदृष्ट नहीं है, अतः नेत्र आदि का ज्ञान और मानसिक सुखादि ज्ञान एक साथ नहीं हो पाते हैं ।

जैन—तो फिर एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होने में अदृष्टकारण हुआ, मन तो उसमें हेतु नहीं है, फिर युगपत् ज्ञानानुत्पत्ति मन लिङ्ग न होकर अदृष्ट का होगा । और वह हेतु अदृष्ट का ही अनुमापित करानेवाला होगा कि एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं क्योंकि ऐसा अदृष्ट ही नहीं कि जिससे एक साथ अनेक ज्ञान पैदा हो सके । किञ्च—एक साथ अनेकज्ञान नहीं होने में मन कारण है ऐसा मान लेवे तो भी अन्योन्याश्रय दोष आता है । देखिये—एक साथ अनेक ज्ञान पैदा नहीं होते हैं ऐसा सिद्ध होने पर तो मन की सिद्धि होगी, और मन के सिद्ध होने पर युगपत् ज्ञानानुत्पत्ति सिद्ध होगी । चक्रक दोष भी आता है—जब कारण ज्ञान का सद्भाव सिद्ध हो तब उसके एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होना सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर मन की सिद्धि होगी, फिर उससे कारणज्ञान की सिद्धि होगी, इस प्रकार तीन के चक्र में चक्कर लगाते रहने से एक की भी सिद्धि होना शक्य नहीं है । इसलिये ज्ञानका सद्भाव सिद्ध करने में दिया गया इन्द्रियार्थ सहकारी मन रूप हेतु असिद्ध हेत्वाभास दोष युक्त हुआ ।

अस्तु वा किञ्चिल्लिङ्गम्, तथापि—ज्ञानस्याप्रत्यक्षतैकान्ते तत्सम्बन्धासिद्धिः । न चासिद्ध-
सम्बन्ध(न्ध) लिङ्ग कस्यचिद्गमकमतिप्रसङ्गात् । ततः परोक्षतैकान्ताग्रहग्रहाभिनिवेशपरित्यागेन
'ज्ञानं स्वव्यवसायात्मकमर्थज्ञप्तिनिमित्तत्वात् आत्मवत्' इत्यभ्युपगन्तव्यम् । नेत्रालोकादिनानेकान्त
इत्यप्युक्तम्, तस्योपचारतोऽर्थज्ञप्तिनिमित्तत्वसमर्थनात्, परमार्थतः प्रमातृप्रमाणयोरेव तन्निमित्त-
त्वोपपत्तेरित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

मीमांसक के कहने से मान भी लेवे कि कोई हेतु है जो ज्ञान को सिद्ध करता है, किन्तु ज्ञान को सर्वथा—एकान्तरूप से अप्रत्यक्ष मानने से—उस परोक्ष ज्ञान के साथ हेतु का अविनाभाव सबध सिद्ध नहीं होता है, अविनाभाव सबध के बिना हेतु अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता, अन्यथा अतिप्रसंग आयेगा, उपर्युक्त सभी दोषों को दूर करने के लिये मीमांसकों को ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानने का दुराग्रह छोड़ देना चाहिये । एव ज्ञान अपने को जानता है क्योंकि वह पदार्थों के जानने में हेतु है जैसे कि आत्मा पदार्थों के जानने में कारण होने से उसको प्रत्यक्ष माना है, इस प्रकार युक्ति सगत बातको स्वीकार करना होगा ।

मीमांसक—जैन ने जो ऊपर अनुमान में हेतु दिया है कि पदार्थ के जानने में कारण होने से ज्ञान को स्वव्यवसायी मानना चाहिये सो यह हेतु अर्थात् पदार्थों के जानने में निमित्त होना रूप जो हेतु है वह नेत्र प्रकाश आदि के साथ व्यभिचरित होता है—अनेकान्तिक दोष वाला होता है । मतलब—नेत्रादि इन्द्रिया तथा प्रकाश भी पदार्थों के जानने में हेतु हैं पर उन्हें आपने अपने आपका जानने वाला—स्वव्यवसायी नहीं माना है, अतः जो अर्थज्ञप्ति में हेतु हो वह स्वव्यवसायी है ऐसा इस हेतु से सिद्ध नहीं होता है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, क्योंकि इन्द्रियां या मन अथवा प्रकाश ये सब के सब जो अर्थज्ञप्ति में कारण हैं वे सब उपचार से हैं । वास्तविकरूप से तो प्रमाता—आत्मा और प्रमाण—ज्ञान ये दोनों ही पदार्थों को जानते हैं । इस प्रकार प्रमाता और प्रमाण ही अर्थज्ञप्ति में कारण हैं, यह सिद्ध होता है । अब इस परोक्ष ज्ञान का खंडन करने से बस रहो । ज्ञान तो स्व को संवेदन करने वाला है यह अच्छी तरह से सिद्ध हुआ ।

* स्वसंवेदनज्ञान का प्रकरण समाप्त *

स्वसंवेदनज्ञानवाद के खंडन का सारांश

मीमांसको का कहना है कि ज्ञान के द्वारा घटादि वस्तु जानी जाती है किन्तु खुद ज्ञान नहीं जाना जाता क्योंकि वह करण है, जो करण होता है वह अप्रत्यक्ष रहता है। जैसे वसूलादि इनका यह भी कहना है कि जो कर्म है वह ज्ञान के प्रत्यक्ष है, मतलब—“मैं ज्ञान के द्वारा घट को जानता हूँ” इसमें मैं—कर्त्ता, घट—कर्म, और जानता हूँ—प्रमिति ये तीनों तो प्रत्यक्ष हो जाते हैं, किन्तु “ज्ञान के द्वारा” यह ज्ञान रूप करण तो सर्वथा परोक्ष रहता है।

यह मीमांसक का कथन असंगत है, आपने प्रत्यक्ष का कारण कर्म माना है लेकिन ऐसा एकान्त मानने से आत्मा भी परोक्ष हो जावेगा, जो तुम्हारे भाई भाट्ट मानते हैं। किन्तु आपको आत्मा को परोक्ष मानना इष्ट नहीं है। आत्मा यदि प्रत्यक्ष हो जाता है तो फिर ज्ञान को परोक्ष मानने में क्या प्रयोजन है समझ में नहीं आता? भावेन्द्रियरूप लब्धि और उपयोग ही ज्ञान है और वह आत्मारूप है, कोई पृथक् नहीं है। अतः आत्मा के प्रत्यक्ष होने पर यह करणरूप ज्ञान भी, उससे अभिन्न होने के कारण प्रत्यक्ष हो ही जायगा। अच्छा—यह तो आप बता देवे कि करणरूप ज्ञान है सो वह जाना जाता है कि नहीं? नहीं जाना जाता तो उसे जानने के लिये कोई दूसरा ज्ञान आयेगा वह भी करण रहेगा, अतः उसे जानने के लिये तीसरा ज्ञान आयेगा इस प्रकार अनवस्था आती है। यदि वह करणज्ञान करणरूप से अनुभव में आता है तो फिर उसे परोक्ष क्यों मानना? अहो! जैसे आत्मा कर्त्तारूप से अनुभव में आता है तो भी वह प्रत्यक्ष है ना, वैसे ही ज्ञान करणरूप से अनुभव में आता है वह भी प्रत्यक्ष है, ऐसी सरल सीधी अनुभव गम्य बात आप क्यों नहीं मानते हैं। मीमांसक होने के नाते आप अविचारशील हैं फिर क्यों नहीं मीमांसा करते? देखिये—करणरूप ज्ञान को प्रत्यक्षरूप से दूसरा ज्ञान तो प्रत्यक्ष न कर सकेगा, क्योंकि आपने उसका विषय ज्ञान नहीं माना है, यदि अनुमान करणज्ञान प्रत्यक्ष करे तो वह भी कैसे? उसके लिये तो सर्व प्रथम हेतु चाहिये, अर्थज्ञप्ति, इन्द्रिय, आत्मा तथा इनका सहकारीरूप एकाग्र हुआ मन, ये हेतु भी करणज्ञान को सिद्ध नहीं कर पाते। स्वभावरूप है तो ज्ञान ही खुद असिद्ध होने से वह करणज्ञान के लिये अर्थज्ञप्ति यदि ज्ञान अर्थज्ञप्ति तो किसी तरह से भी ज्ञान का लिङ्ग नहीं बनती है, इसी हेतु बनेगी? नरह इन्द्रिय और

पदार्थ है वे करणज्ञान के लिङ्ग नहीं बन सकते, क्योंकि उनमें वही दोष आते हैं । सहकारी एकाग्र मन को हेतुरूप मानना तब होगा जब कि खुद मन की सिद्धि हो ।

“युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्ग ” यह आपके यहा मन का लक्षण किया गया है सो वह सिद्ध नहीं हो पाता, तथा—जैसे तैसे उसे मान भी लेवे तो वह बिलकुल सूक्ष्म है । जब वह नेत्रादि के साथ संबंध करता है तब उसी आत्मा में होने वाले मानस सुखादि का भी ज्ञान होना चाहिये सबध तो है ही, मन का आत्मा से सबध है और उसी आत्मा मे सुखादि रहते है, अतः मन का किसी भी इन्द्रिय के साथ संबंध होते ही मानसिक सुखादि का अनुभव इन्द्रिय ज्ञान के बाद ही होने लग जायेगा, किन्तु आपको यह बात इष्ट नहीं है, क्योंकि एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न होना इष्ट नहीं है । अदृष्ट के कारण एक साथ ज्ञान उत्पन्न करने की योग्यता मन में नहीं होती ऐसा कहो तो अदृष्ट ही उस युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति मे करण हुआ मन नहीं हुआ । इस प्रकार करण-ज्ञान को परोक्ष मानने में अनेक दूषण प्राप्त होते हैं, अतः सही मार्ग यही है कि कर्त्ता, कर्म, करण, क्रिया ये चारों ही प्रत्यक्ष होते है—प्रतिभासित होते है ऐसा मानना चाहिये ।

**इस प्रकार मीमांसकाभिमत परोक्षज्ञान के खंडन का
सारांश समाप्त हुआ ।**



आत्माप्रत्यक्षत्ववाद पूर्वपक्ष

मीमांसक का दूसरा भेद प्रभाकर है, यह ज्ञान के साथ आत्मा को भी परोक्ष मानता है, इसका मतव्य है कि आत्मा कर्त्ता, और करणज्ञान ये दोनों ही सर्वथा परोक्ष है। हमारे भाई भाट्ट ज्ञान को परोक्ष मानकर भी आत्मा को प्रत्यक्ष होना कहते हैं, सो बात ठीक नहीं है, क्योंकि जब ज्ञान परोक्ष है तो उसका आधार आत्मा भी कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है। अर्थात् नहीं हो सकता। हम लोग अतीन्द्रिय ज्ञानी को भी नहीं मानते हैं। अतः सर्वज्ञ के द्वारा भी आत्मा का प्रत्यक्ष होना हम लोग स्वीकार नहीं करते, अतीन्द्रिय वस्तु का ज्ञान वेद से भले ही हो जाय, किन्तु ऐसा आत्मादिक अतीन्द्रिय वस्तु का साक्षात्कार कभी किसी को भी नहीं हो सकता है। यह अटल सिद्धान्त है। 'अहं ज्ञानेन घट वेदिम' इस वाक्य में 'अहं' कर्त्ता और ज्ञानेन-करण ये दोनों ही अप्रत्यक्ष हैं। सिर्फ घट-कर्म, और वेदिम क्रिया प्रत्यक्ष हुआ करती है। अनुभव में भी यही आता है कि जो इन्द्रियो से ग्रहण नहीं होता वह तो परोक्ष ही है। जैन आत्मा को प्रत्यक्ष होना बताते हैं, अतः वे आत्मप्रत्यक्षवादी कहलाते हैं; किन्तु हमको यह कथन असंगत लगता है। हम तो आत्मा को परोक्ष ही मानते हैं।

* पूर्वपक्ष समाप्त *



आत्माप्रत्यक्षत्ववादः



एतेन 'आत्माऽप्रत्यक्ष कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात्करणज्ञानवत्' इत्याचक्षारण प्रभाकरोपि प्रत्याख्यात । प्रमिते, कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वेपि प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात् । तस्या क्रियात्वेन प्रतिभासनात्प्रत्यक्षत्वे करणज्ञान-आत्मनो करणत्वेन कर्तृत्वेन च प्रतिभासनात्प्रत्यक्षत्वमस्तु । न चाभ्या तस्या सर्वथा भेदोऽभेदो वा-मतान्तरानुषङ्गात् । कथञ्चिदभेदे-सिद्ध तयोः कथञ्चित्प्रत्यक्षत्वम्, प्रत्यक्षाद-

यहा तक मीमांसक के एकभेद भाट्ट के ज्ञानपरोक्षवाद का खडन किया, और ज्ञान स्वसवेद्य है यह स्थापित किया, अब उन्ही मीमांसको का दूसरा भेद जो प्रभाकर है उसका आत्मप्रत्यक्षवाद अर्थात् आत्मा को परोक्ष मानने का जो मतव्य है उसका निराकरण ग्रन्थकार करते है—प्रभाकर का अनुमान वाक्य है कि “आत्मा अप्रत्यक्ष. कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात् करणज्ञानवत्” आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता क्योकि वह कर्मपने से प्रतीत नहीं होता, जैसा कि करणज्ञान कर्मरूपपने से प्रतीत नहीं होता अतः वह परोक्ष है । इस प्रकार का प्रभाकर का यह कथन भी करणज्ञान में स्वसंविदितत्व के समर्थन से खडित हो जाता है । क्योकि प्रभाकर ने प्रमिति को कर्मपने से प्रतीत नहीं होने पर भी प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया है ।

प्रभाकर—प्रमिति क्रियारूप से प्रतीत होती है, अत उसको हमने प्रत्यक्षरूप होना स्वीकार किया है ।

जैन — तो फिर करणज्ञान और आत्मा में भी करणरूप और कर्तृत्वरूप से उनकी प्रतीति होने से प्रत्यक्षता स्वीकार करना चाहिये, जैसे प्रमिति का कर्मरूप से प्रतिभास नहीं होने पर भी उसमे प्रत्यक्षता मानी गई है उसी प्रकार कर्मरूप से प्रतीत नहीं होने पर भी आत्मा और ज्ञान में प्रत्यक्षता मानना चाहिये । आत्मा और ज्ञान में प्रत्यक्षता मानने में यह भी एक हेतु है कि आत्मा और ज्ञान से प्रमिति सर्वथा भिन्न

भिन्नयोः सर्वथा परोक्षत्वविरोधात् । ननु शाब्दी प्रतिपत्तिरेषा 'घटमहमात्मना वेधि' इति नानुभव-
प्रभावा तस्यास्तदविनाभावाभावात्, अन्यथा 'अगुल्यग्रं हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादिप्रतिपत्तेरप्यनुभवत्व-
प्रसङ्गस्तत्कथमतः प्रमात्रादीना प्रत्यक्षताप्रसिद्धिरित्याह—

शब्दानुच्चारणोपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ॥ १० ॥

तो है नहीं, अतः प्रमिति मे प्रत्यक्षता होने पर आत्मा और ज्ञान भी प्रत्यक्ष हो जाते हैं । यदि आप प्रभाकर प्रमिति को आत्मा और ज्ञान से सर्वथा भिन्न ही मानते हैं तो आपका नैयायिकमत मे प्रवेश होने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है, क्योंकि उनकी ही ऐसी मान्यता है, तथा यदि प्रमिति को उन दोनों से सर्वथा अभिन्न ही मानते हो तो बौद्ध मत मे प्रवेश होने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है, क्योंकि वे ऐसा ही सर्वथा भेद या अभेद मानते है । इसलिये सौगत और नैयायिक के मत मे प्रवेश होने से बचना है तो प्रमिति को आत्मा और ज्ञान से कथंचित् अभिन्न मानना चाहिये, तब तो उन दोनों मे इस मान्यता के अनुसार कथंचित् प्रत्यक्षपना भी आ जावेगा, क्योंकि प्रत्यक्षरूप प्रमिति से वे आत्मादि पदार्थ कथंचित् अभिन्न हैं । अतः वे सर्वथा परोक्ष नहीं रह सकेगे । प्रत्यक्ष से जो अभिन्न होता है उसका सर्वथा परोक्ष होने मे विरोध आता है ।

शंका—“मै अपने द्वारा घट को जानता हूँ” इस प्रकार की जो प्रतिपत्ति है वह शब्दस्वरूप है, अनुभवस्वरूप नहीं है, क्योंकि इस प्रतिपत्ति का अनुभव के साथ अविनाभाव नहीं है । यदि इस प्रतिपत्ति को अनुभवस्वरूप माना जावे तो “अगुली के अग्रभाग पर सैकड़ो हाथियो का समूह है” इत्यादि शाब्दिक प्रतिपत्ति को भी अनुभव-स्वरूप मानना पडेगा, अतः इस शब्द प्रतिपत्ति मात्र से प्रमाता, प्रमाण आदि मे प्रत्यक्षता कैसे सिद्ध हो सकती है । अर्थात् नहीं हो सकती । मतलब—मै अपने द्वारा घट को जानता हूँ इत्यादि वचन तो मात्र वचनरूप ही हैं, वैसे सवेदन भी हो ऐसी बात नहीं है, इसलिये इस वाक्य से प्रमाता आदि को प्रत्यक्षरूप होना कैसे सिद्ध हो सकता है ?

समाधान—इस प्रकार की शका उपस्थित होने पर श्री मारिणक्यनदी आचार्य स्वयं सूत्रबद्ध समाधान करते है—

सूत्र—शब्दानुच्चारणोपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—शब्दों का उच्चारण किये विना भी अपना अनुभव होता है, जैसे कि पदार्थों का घट आदि नामोच्चारण नहीं करे तो भी उनका ज्ञान होता है, “घट

यथैव हि घटस्वरूपप्रतिभासो घटशब्दोच्चारणमन्तरेणापि प्रतिभासते । तथा प्रतिभासमाने-
त्वाच्च न शाब्दस्तथा प्रमात्रादीनां स्वरूपस्य प्रतिभासोपि तच्छब्दोच्चारणं विनापि प्रतिभासते ।
तस्मान्न न शाब्दः । तच्छब्दोच्चारणं पुनः प्रतिभातप्रमात्रादिस्वरूपप्रदर्शनपरं नाऽनालम्बनमर्थवत्,
अन्यथा 'सुख्यहम्' इत्यादिप्रतिभासस्याप्यनालम्बनत्वप्रसङ्गः ।

ननु यथा सुखादिप्रतिभास सुखादिसवेदनस्याप्रत्यक्षत्वेप्युपपन्नस्तथार्थसंवेदनस्याप्रत्यक्षत्वे-

है" ऐसा वाक्य नहीं बोले तो भी घट का स्वरूप हमें प्रतीत होता है, क्योंकि वैसे हमें अनुभव ही होता है, यह प्रतीति केवल शब्द से होने वाली तो है नहीं, ऐसे ही प्रमाता-
आत्मा, प्रमाण-ज्ञानादि का भी प्रतिभास उस उस आत्मा आदि शब्दों का उच्चारण विना किये भी होता है । इसलिये प्रमाता आदि की प्रतिपत्ति मात्र शाब्दिक नहीं है, आत्मा आदि का नामोच्चारण जो मुख से करते हैं वह तो अपने को प्रतिभासित हुए आत्मादि के स्वरूप बतलाने के लिये करते हैं । यह नामोच्चारण जो होता है वह विना प्रमाता आदि के प्रतिभास हुए नहीं होता है । जैसे कि घट आदि नामोंका उच्चारण विना घट पदार्थ के प्रतिभास हुए नहीं होता है, यदि अपने को अन्दर से प्रतीत हुए इन प्रमाता आदि को अनालम्बनरूप माना जाय तो "मैं सुखी हूँ" इत्यादि प्रतिभास भी विना आलम्बन के मानना होगा, किन्तु "मैं सुखी हूँ" इत्यादि वाक्यों को हम मात्र शाब्दिक नहीं मानते हैं, किन्तु सालम्बन मानते हैं । बस ! वैसे ही प्रमाता आदि का प्रतिभास भी वास्तविक मानना चाहिये, निरालम्बरूप नहीं ।

शंका—जिस प्रकार सुख दुःख आदि का प्रतिभास सुखादि के सवेदन के परोक्ष रहते हुए भी सिद्ध होता है वैसे ही पदार्थों को जानने वाले जो ज्ञान या आत्मा आदिक है वे भी परोक्ष रहकर भी प्रसिद्ध हो जावेगे ।

समाधान—यह कथन विना सोचे ही किया है, देखो—सुख आदि जो है वे सवेदन से—(ज्ञान से)—पृथक् हैं ऐसा प्रतिभास नहीं होता है, क्योंकि आह्लादनाकार से परिणत हुआ जो ज्ञानविशेष है वही सुखरूप कहा जाता है, ऐसे सुखानुभव में तो प्रत्यक्षता रहती ही है, यदि ऐसे सुखानुभव में परोक्षता मानी जाय और उसे अत्यन्त परोक्ष ज्ञान के द्वारा गृहीत हुआ स्वीकार किया जाय तो उसके द्वारा होने वाले अनुग्रह और उपघात नहीं हो सकेगे, अर्थात् हमारे सुख और दुःख हमें परोक्ष हैं तो सुख से आह्लाद, तृप्ति, आनन्द आदिरूप जो जीव में अनुग्रह होता है और दुःख से पीड़ा, शोक, संताप आदिरूप जो उपघात होता है वह नहीं

प्यर्थप्रतिभासो भविष्यति इत्यप्यविचारितरमणीयम्, सुखादे, सवेदनादर्थान्तरस्वभावस्याप्रतिभासनादाह्लादनाकारपरिणतज्ञानविशेषस्यैव सुखत्वात्, तस्य चाध्यक्षत्वात् तस्यानध्यक्षत्वेऽत्यन्ताप्रत्यक्षज्ञानग्राह्यत्वे च—अनुग्रहोपघातकारित्वासम्भवः, अन्यथा परकीयसुखादीनामप्यात्मनोऽत्यन्ताप्रत्यक्षज्ञानग्राह्याणां तत्कारित्वप्रसङ्गः । ननु पुत्रादिसुखाद्यप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्सद्भावोपलम्भमात्रादात्मनोऽनुग्रहाद्युपलभ्यते तत्कथमयमेकान्त ? इत्यप्यशिक्षितलक्षितम्, नहि तत्सुखाद्युपलम्भमात्रात् सौमनस्यादिजनिताभिमानिकसुखपरिणतिमन्तरेणात्मनोऽनुग्रहादिसम्भवः, शत्रुसुखाद्युपलम्भाद्दुश्चेष्टितादिना

होत्रेणा, यदि हमारे सुखादिक हमारे से अप्रत्यक्ष हैं, फिर भी वे हमारे लिये उपघात एव अनुग्रहकारी होते माने जावे तो फिर दूसरे जीव के सुख दुःख आदि से भी हमें अनुग्रह आदिक होने लग जावेगे, क्योंकि जैसे हम से हमारे सुखादिक, अप्रत्यक्ष हैं वैसे ही पराये व्यक्ति के भी वे हमसे अप्रत्यक्ष हैं फिर क्या कारण है कि हमारे ही सुखादिक से हमारा अनुग्रहादि होता है और पराये सुखादि से वह नहीं होता है ।

शंका—पुत्र, स्त्री, मित्र आदि इष्ट व्यक्तियों के सुख दुःख आदि हमको प्रत्यक्ष नहीं होते हैं तो भी उनके सुखादि को देखकर हमको भी उससे अनुग्रहादि होने लग जाता है, अतः यह एकान्त कहाँ रहा कि सुखादि प्रत्यक्ष हो तभी उनसे अनुग्रहादि होवे ।

जैन—यह कथन अज्ञान पूर्ण है, हमारे से भिन्न जो पुत्र आदिक हैं उनके सुखादिक का सब्बभावमात्र जानने से हमें कोई उससे अनुग्रहादिक नहीं होने लग जाते, हा, इतना जरूर होता है कि अपने इष्ट व्यक्ति के सुखी रहने से हमें भी प्रसन्नता आदि आती है और हम कह भी देते हैं कि उसके सुखी होने से मैं भी सुखी हो गया इत्यादि, यदि दूसरो के सुखादि से अपने को अनुग्रह होता तो शत्रुके सुख से या खोटे आचरण के कारण छोड़े गये पुत्रादि के सुख से भी हमें अनुग्रह होना चाहिये, किन्तु ऐसा होता तो नहीं । देखिये—पर के सुख की बात तो छोड़िये, किन्तु जब हम उदास या वैरागी हो जाते हैं तब अपने खुद के शरीर का सुख या दुःख भी हमें अनुग्रहादि करने में असमर्थ होता है । जो कि शरीर अति निकटवर्ती है, ऐसी हालत में हमसे अतिशय भिन्न पुत्र आदि के सुखों से हमको, किस प्रकार अनुग्रह आदि हो सकते हैं । अर्थात् नहीं हो सकते हैं ।

भावार्थ—प्रभाकर ज्ञान और आत्मा को, परोक्ष मानते हैं, अतः आचार्य उन्हें समझाते हैं कि हमारी स्वयं की आत्मा ही हमको प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगी तो सुख दुःख

परित्यक्तपुत्रसुखाद्युपलम्भाच्च तत्प्रसङ्गात् । विग्रहादिकमत्तिसन्निहितमपि आभिमानीकसुखमन्तरेणानुग्रहादिकं न विदधातिकिमङ्ग पुनरतिव्यवहिता पुत्रसुखादयः ।

अस्तु नाम सुखादे प्रत्यक्षता, सा तु प्रमाणान्तरेण न स्वतः 'स्वात्मनि क्रियाविरोधात्' इत्यन्य, तस्यापि प्रत्यक्षविरोधः । न खलु घटादिवत् सुखाद्यविदितस्वरूप पूर्वमुत्पन्न पुनरिन्द्रियेण सम्बद्धयते ततो ज्ञान ग्रहण चेति लोके प्रतीतिः । प्रथममेवेष्टानिष्टविषयानुभवानन्तरं स्वप्रकाशात्मनो-

आदि का अनुभव भी हम नहीं कर सकते हैं । किन्तु मैं सुखी हूँ इत्यादिरूप से प्रत्येक प्राणी को प्रतिक्षण प्रतीति हो रही है, इसीसे सिद्ध होता है कि हमारा ज्ञान और आत्मा स्वसवेदनस्वरूप अवश्य ही है । इस पर शका उपस्थित हुई कि इष्ट व्यक्ति के सुख दुःख आदि से हम सुखी तो हो जाते हैं तो जैसे वे पर के सुखादिक हमारे सवेदन में नहीं है अर्थात् परोक्ष है फिर भी उसके द्वारा हम में अनुग्रहादि होते हैं, वैसे ही अपने ज्ञानादि परोक्ष हो तब भी उससे पदार्थ का प्रतिभास तो हो ही जायगा तब आचार्य ने कहा कि यह तो औपचारिक कथन होता है कि मेरे इस पुत्र के सुख से मैं भी सुखी हूँ इत्यादि, वास्तविक बात तो यह है मोह या अभिमान आदि के कारण हम पर के सुख में सुखी हैं ऐसा कह देते हैं, पर जब वह मोह किसी कारण से हट जाता है तब पर की तो बात ही क्या है अपने शरीर के सुख आदि का भी अनुभव नहीं आता है । अतः ज्ञानादि परोक्ष रहकर पदार्थ को जानते हैं यह बात सुखादि के उदाहरण से सिद्ध नहीं होती है ।

यहां पर जब जैनाचार्य ने सुख दुःख आदि को प्रत्यक्ष होना सिद्ध किया तब कोई अपना पक्ष रखता है कि जैन लोग सुख दुःख आदि को प्रत्यक्ष मान लेवे किन्तु उन सुखादि की प्रत्यक्षता तो किसी भिन्न प्रमाण से होनी चाहिये, स्वतः नहीं, क्योंकि अपने आप में क्रिया नहीं होती है, इसप्रकार किसी नैयायिक ने कहा, तब आचार्य उत्तर देते हैं कि इस प्रकार भिन्न प्रमाण से सुखादि का प्रत्यक्ष होना मानो तो साक्षात् विरोध होगा, देखिये—जिस प्रकार घट पट आदि वस्तुओं का स्वरूप पहले अज्ञात रहता है और फिर उनका इन्द्रियो से संबन्ध होता है तब जाकर ज्ञान उत्पन्न होकर उन वस्तुओं को ग्रहण करता है, उस तरह से सुख आदि का स्वरूप पहले अज्ञात रहे फिर इन्द्रिय-सम्बन्ध होकर ज्ञान हो इस रूप से सुखादि में प्रक्रिया होती हुई प्रतीत नहीं होती, किन्तु प्रथम ही अपने को इष्ट अनिष्ट वस्तुओं का अनुभव होता है, अनन्तर स्वप्रकाशस्वरूप ज्ञान उदित होता है, अपने 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' अपने में क्रिया

ऽस्योदयप्रतीतेः । स्वात्मनि क्रियाविरोध चानन्तरमेव विचारयिष्याम । यदि चार्थान्तरभूतप्रमाण-
प्रत्यक्षाः सुखादयस्ताहि तदपि प्रमाण प्रमाणान्तरप्रत्यक्षमित्यनवस्था । विभिन्नप्रमाणग्राह्याणा
चानुग्रहादिकारित्वविरोध । न हि स्त्रीसङ्गमादिभ्यः प्रतीयमानाः सुखादयोऽन्यस्यात्मनस्तत्कारिणो
दृष्टाः । ननु परकीयसुखादीनामनुमानगम्यत्वान्नात्मनोऽनुग्रहादिकारित्वम् आत्मीयानां प्रत्यक्षाधिगम्य-
त्वात्तत्कारित्वमित्यप्यसारम्, योगिनोपि तत्कारित्वप्रसङ्गात् प्रत्यक्षाधिगम्यत्वाविशेषात् । आत्मीय-

होने का जो निषेध किया है सो इस विषय पर हम आगे विचार करेंगे, आप नैयायिक ने कहा है कि सुख आदि का साक्षात्कार किसी अन्य प्रमाण से हुआ करता है सो वह अन्य प्रमाण भी दूसरे प्रमाण से प्रत्यक्ष होगा, इस प्रकार से तो अनवस्था आवेगी, एक बात और भी है कि यदि सुख आदि का भिन्न प्रमाण से ग्रहण होना माना जाय तो उन सुख आदि से अनुग्रह आदि होने में विरोध आता है, ऐसा तो देखा नहीं गया है कि देवदत्त के द्वारा आचरित हुए स्त्री समागम आदि से प्रतीयमान सुखादिक यज्ञदत्त के द्वारा अनुभव में आते हो, अर्थात् देवदत्त का स्त्री समागम सबधी सुख देवदत्त को ही अनुभवित होता है न कि देवदत्त से भिन्न यज्ञदत्त को ।

शंका—यज्ञदत्त आदि को वे दूसरे के स्त्री समागमादि से प्रतीयमान सुखादिक इसलिये अनुग्रहादि कारक नहीं होते हैं कि उनमें अनुमानगम्यता है, और अपने सुख में—अपने खुद में होने वाले सुख में—प्रत्यक्षगम्यता है इसलिये वे खुद में अनुग्रहादि करते हैं, सो यदि ऐसा माना जाय तो क्या बाधा है ।

समाधान—बहुत बड़ी बाधा है, देखो योगिजन पर के सुख दुःख आदि को प्रत्यक्ष जानते हैं, अतः उनको भी वे पराये स्त्री समागमादि से उत्पन्न हुए सुख अनुग्रहादि कारक हो जावेगे, किन्तु ऐसा होता नहीं है ।

प्रभाकर—अपने सुख दुःख जो होते हैं वे ही अपने को अनुग्रह करते हैं अन्य को नहीं ।

जैन—यह प्रस्ताव बेकार है, जब ज्ञान, सुख आदि सभी हम से न्यारे-अत्यंत परोक्ष हैं—तब यह कैसे व्यवस्थित हो सकता है कि यह अपने ज्ञान तथा सुख दुःखादि हैं और ये ज्ञानादि पराये व्यक्ति के हैं, अत्यंत परोक्ष और भिन्न वस्तुओं में आपापराया भेद होना अशक्य है ।

प्रभाकर ने जो कहा है कि सुख दुःखादिक जो अपने होते हैं वे ही अपने को

सुखादीनामेव तत्कारित्वं नान्येषामित्यपि फल्गुप्रायम्, अत्यन्तभेदेऽर्थान्तरभूतप्रमाणग्राह्यत्वे चात्मीये-
तरभेदस्यैवासम्भवात् ।

आत्मीयत्व हि तेषां तद्गुणत्वात्, तत्कार्यत्वाद्वा स्यात्, तत्र समवायाद्वा, तदाधेयत्वाद्वा,
तददृष्टनिष्पाद्यत्वाद्वा । न तावत्तद्गुणत्वात्; तेषामात्मनो व्यतिरेकैकान्ते 'तस्यैव ते गुणा नाकाशा-
देरन्यात्मनो वा' इति व्यवस्थापयितुमशक्ते ।

अनुभव में आया करते हैं इत्यादि, सो इस पर हम जैन का प्रश्न है कि सुखादिक मे
अपनापना किस कारण से आता है, क्या उसी विवक्षित देवदत्त आदि के वे सुखादिक
गुण है इसलिये वे उनके कहलाते हैं अथवा उस देवदत्त का कार्य होने से, या उसी
देवदत्त मे उनका समवाय होने से, अथवा उसी देवदत्त मे आधेयरूप से रहने से, अथवा
उसी देवदत्त के भाग्य द्वारा निर्मित होने से, यदि पहिली बात स्वीकार की जाय कि
उसी देवदत्त के वे सुखादिक गुण है अतः वे उसके कहलाते हैं सो यह बात ठीक नहीं
क्योकि वे सुखादिक जब उस विवक्षित देवदत्त से सर्वथा भिन्न हैं तो ये सुखादिक
इसी देवदत्त के हैं अन्य के नहीं, अथवा आकाश आदि द्रव्यके नहीं—ऐसा उन्हें व्यव-
स्थित नहीं कर सकते और न अन्य व्यक्ति में ही उन्हें व्यवस्थित कर सकते हैं । वे
सुखादिक उसी एक निश्चित व्यक्ति का कार्य है अतः वे उसीके कहलाते हैं ऐसा दूसरा
पक्ष भी बनता नहीं है, क्योकि ये सुखादिक इसी व्यक्ति के कार्य है ऐसा किस हेतु से
सिद्ध करोगे, यदि कहा जाय कि वे उसी व्यक्ति के होने पर होते हैं अतः उसीका वे
कार्य है सो भी बात नहीं, क्योकि ऐसा मानने पर सुखादिक आकाश के भी कार्य
कहलावेगे, कारण कि आकाश की मौजूदगी में ही सुखादिक होते रहते हैं । जैसे कि वे
उस विवक्षित देवदत्त आदि के होने पर हुआ करते हैं ।

प्रभाकर—आकाश को तो सुखादिक का निमित्त कारण माना है, अतः सुखा-
दिक की उत्पत्ति मे भी वह व्यापार करे तो कोई आपत्ति नहीं ।

जैन—तो फिर आत्मा को सुखादिक का निमित्तकारण ही माना जाय ।

प्रभाकर—समवायी कारण अर्थात् उपादान कारण भी तो कोई चाहिए, क्योकि
विना समवायी कारण के कार्य पैदा नहीं होता है । अतः हम आत्मा को तो सुखा-
दिक का उपादान कारण मानते हैं और आकाश को निमित्त कारण मानते हैं ।

जैन—यह कथन भी अयुक्त है, जब सुख दुखादिक आकाश और आत्मा
दोनों से पृथक् है तब आत्मा ही उनका उपादान है, आकाश नहीं ऐसा कहना बन नहीं

तत्कार्यत्वाच्चेत्कुतस्तत्कार्यत्वम् ? तरिमन् सति भावात्, आकाशादौ नत्प्रसङ्गः । तस्य निमित्तकारणत्वेन व्यापाराददोषश्चेत्, आत्मनोपि तथा तदस्तु । समवायिकारणमन्तरेण कार्यानुत्पत्तौरात्मनस्तत्कल्प्यते, गगनादेस्तु निमित्तकारणत्वमित्यप्युक्तम्, विपर्ययेणापि तत्कल्पनाप्रसङ्गात् । प्रत्यासत्तौरात्मैव समवायिकारणं चेन्न, देशकालप्रत्यासत्तेरित्यव्यापित्वेनात्मवदन्यत्रापि समानत्वात् । योग्यतापि कार्ये सामर्थ्यम्, तच्चाकाशादेरप्यस्तीति । अथात्मन्यात्मनस्तज्जननसामर्थ्यं नान्यस्येत्यप्युक्तम्, अत्यन्तभेदे तथा तज्जननविरोधात् । तत्सामर्थ्यस्याप्यात्मनोऽत्यन्तभेदे 'तस्यैवेद नान्यस्य'

सकता क्योकि ऐसा मानने मे विपरीत कल्पना भी तो आ सकती है । अर्थात् आकाश सुख आदि का उपादान और आत्मा निमित्त है ऐसा भी मान लिया जा सकता है ।

प्रभाकर—प्रत्यासत्ति एक ऐसी है कि जिससे आत्मा ही उनका उपादान होता है अन्य आकाश आदि नहीं ।

जैन—ऐसा कहना भी शक्य नहीं, क्योकि आपके मत में जैसा आत्मा को व्यापक तथा नित्य माना है उसी प्रकार आकाश को भी व्यापक और वित्य माना गया है, अतः हर तरह की देश-काल आदि की प्रत्यासत्ति-निकटता तो उसमें भी रहती ही है, तब यह कैसे माना जा सकता है कि उनका उपादान आत्मा ही है आकाश आदि नहीं । यदि योग्यता को प्रत्यासत्ति कहते हों और उस योग्यतारूप प्रत्यासत्ति के कारण उपादान आदि का नियम बन जाता है ऐसा कहा जाय तो जचता नहीं, देखो—कार्य की क्षमता होना योग्यता है और ऐसी योग्यता आकाश में भी मौजूद है ।

प्रभाकर—अपने मे ही अपने सुख दुःख आदि को उत्पन्न करने की सामर्थ्य हुआ करती है, अन्य के सुखादि की नहीं ।

जैन—यह कथन अयुक्त है ! यदि 'अपने से अपने सुख दुःख आदि अत्यन्त भिन्न है तो उसमें ऐसा अपने सुखदुःखादि को उत्पन्न करने का विरोध आता है, तथा अपना या देवदत्त आदि व्यक्ति का सुख आदि को उत्पन्न करने का सामर्थ्य भी सर्वथा भिन्न है, फिर कैसे विभाग हो सकता है कि ये सुखादि इसी देवदत्त के हैं अथवा यह सामर्थ्य इसी व्यक्ति की है । अर्थात् सर्वथा पृथक् वस्तुओं में इस प्रकार विभाग होना अशक्य है । आप लोग समवाय सम्बन्ध से ऐसी व्यवस्था करते हों—किन्तु समवाय का हम आगे खडन करने वाले हैं । अतः समवाय सबंध के कारण देवदत्त के सुख या सामर्थ्य आदि देवदत्त में ही रहते हैं इत्यादि व्यवस्था होना संभव नहीं है, इस प्रकार

इति किङ्कृतोय विभागः ? समवायादेश्च निपे (तस्य) मानत्वान्नियामकत्वायोगः । तन्मान्वयमात्रेण सुखादीनामात्मकार्यत्वम् । तदभावेऽभावात्तच्चेन्न, नित्यव्यापित्वाभ्या तस्याभावासम्भवात् । तत्र समवायादित्यप्यसत्, तस्यात्रैव निराकरिष्यमाणत्वात्, सर्वत्राविशेषाच्च; तेन तेषां तत्रैव समवायासम्भवात् ।

अन्वय मात्र से अर्थात् उसके “होने पर होता है”, इतने मात्र से सुखादिक अपने ही कार्य है ऐसा नियम नहीं होता है ।

प्रभाकर—अच्छा तो व्यतिरेक से नियम हो जायगा, इस विवक्षित देवदत्त के अभाव होने पर उसके सुख दुख आदिका भी अभाव होता है, इस प्रकार का व्यतिरेक करने से उसीका कार्य है ऐसा सिद्ध हो जायगा ।

जैन—सो ऐसा भी नहीं बन सकता है । क्योंकि आप देवदत्तादि व्यक्ति की आत्मा को नित्य और व्यापी मानते हैं । अतः आत्मा का सुखादि के साथ व्यतिरेक बनना शक्य नहीं ।

प्रभाकर—देवदत्तादिक के सुखादिक देवदत्त में ही समवाय संबन्ध से रहते हैं, अतः नियम हो जायगा ।

जैन—यह भी असत् कथन है । हम जैन आगे समवाय का निरसन करने वाले ही हैं । समवाय सब जगह समानरूप से जब रहता है तब यह नियम नहीं बन सकता है कि इन सुखादिक का इसी व्यक्ति में समवाय है अन्य व्यक्ति में नहीं, इस प्रकार उसी एक देवदत्तादि का कार्य होने से वे सुखादिक उसी के कहलाते हैं ऐसा दूसरा पक्ष और उसी में वे समवाय संबन्ध से रहते हैं अतः वे सुखादि देवदत्तादि के कहलाते हैं यह तीसरा पक्ष, दोनों ही खडित हो जाते हैं ।

अब चौथा पक्ष—उसी विवक्षित देवदत्तादि में आधेयरूप से सुखादि रहते हैं, अतः वे उसी के माने जाते हैं—ऐसा कहो तो पहिले यह बताओ कि उसका आधेयपना क्या है—क्या उस विवक्षित व्यक्ति में समवाय होना, या तादात्म्य होना, या उसमें आविर्भूतमात्र होना ? यदि उस विवक्षित व्यक्ति में उनका समवाय होना यह तदाधेय है—तो ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि हम समवाय का आगे खडन करने वाले हैं ऐसा हम उत्तर दे चुके हैं । यदि तादात्म्य को तदाधेयत्व कहो—अर्थात् एक विवक्षित व्यक्ति के सुखादि का उसी में तादात्म्य होने को तदाधेयत्व मानते हो—तब हमारे जैनमत में

तदाधेयत्वाच्चेत्किमिदं तदाधेयत्व नाम तत्र समवायः, तादात्म्य वा, तत्रोत्कलितत्वमात्र वा ? न तावत्समवायः, दत्तोत्तरत्वात् । नापि तादात्म्यम्; मतान्तरानुषङ्गात् । तेषामात्मनोऽत्यन्तभेदे सकलात्मना गगनादीनां च व्यापित्वे 'तत्रोत्कलितत्वम्' इत्यपि श्रद्धामात्रगम्यम् । अथाऽदृष्टान्नियम, 'यद्दध्यात्मीयाऽदृष्टनिष्पाद्य सुखं तदात्मीयमन्यत्तु परकीयम्' इत्यप्यसारम्, अदृष्टस्याप्यात्मीयत्वसिद्धेः । समवायादेस्तन्नियामकत्वेऽप्युक्तदोषानुषङ्गः । यत्र यददृष्टं सुखं दुःखं चोत्पादयति तत्तस्यत्येपि

आपका (प्रभाकर का) प्रवेश हो जाता है, यदि उसी एक व्यक्ति में उनके आविर्भूत होने को तदाधेयत्व कहते हैं तो ऐसा यह तीसरा पक्ष भी बिलकुल ही गलत है, क्योंकि उस विवक्षित देवदत्तादि के सुख दुःख आदि उस देवदत्त से जब अत्यन्त भिन्न है तब वे सुखादिक सभी व्यापक आत्माओं में और आकाशादिक में भी प्रकट हो सकते हैं, जैसे—देवदत्त की आत्मा व्यापक है वैसे सभी आत्माएँ, तथा गगन आदि भी व्यापक हैं, अतः अन्य आत्मा आदि में वे प्रकट न होकर उसी देवदत्त में ही प्रकट होते हैं ऐसा कहना तो मात्र श्रद्धागम्य है, तर्क सगत वही है ।

प्रभाकर—इस देवदत्त के सुखादिक देवदत्त में ही प्रकट होते हैं ऐसा नियम तो उस देवदत्त के अदृष्ट (भाग्य) के निमित्त से हुआ करता है, क्योंकि जिस आत्मा के अदृष्ट के द्वारा जो सुख उत्पन्न किया गया है वह उसका है और अन्य सुखादिक अन्य व्यक्ति के है इस प्रकार मानने से कोई दोष नहीं आता है ।

जैन—यह समाधान भी असार है, क्योंकि अदृष्ट में भी अभी अपनापन निश्चित नहीं है । अर्थात् यह अदृष्ट इसी व्यक्ति का है ऐसा कोई नियामक हेतु नहीं है कि जिससे अपनापन अदृष्ट में अपनापन सिद्ध होवे ।

समवाय सबध को लेकर अदृष्ट का निश्चित व्यक्ति में सबध करना भी शक्य नहीं है, क्योंकि प्रथम तो समवाय ही असिद्ध है, दूसरे सर्वत्र व्यापक आत्मादि में यह नियम समवाय नहीं बना सकता है, कि यह सुख इसी आत्मा का है अन्य का नहीं ।

प्रभाकर—जिस आत्मा में जो अदृष्ट सुख और दुःख को उत्पन्न करता है वह उसी आत्मा का कहलाता है ।

जैन—यह कथन भी मनोरथ—कल्पना मात्र है, इससे तो परस्पराश्रय दोष आता है, देखो—पहले तो यह अदृष्ट इसी देवदत्त का है अन्य का नहीं ऐसा नियम सिद्ध होवे तब उस अदृष्ट के नियम से सुखादिक का उसी देवदत्त में रहने का नियम बने

मनोरथमात्रम्, परस्पराश्रयानुषङ्गात्-अदृष्टनियमे सुखार्देनियमः, तन्नियमाच्चादृष्टस्येति । 'यस्य श्रद्धयोपगृहीतानि द्रव्यगुणकर्माणि यददृष्ट जनयन्ति तत्तस्य' इत्यपि श्रद्धामात्रम्, तस्या अप्यात्मनोऽत्यन्तभेदे प्रतिनियमासिद्धेः । 'यस्यादृष्टेनासौ जन्यते सा तस्य' इत्यप्यन्योन्याश्रयादयुक्तम् । 'द्रव्यादी यस्य दर्शनस्मरणादीनि श्रद्धामाविर्भावयन्ति तस्य सा' इत्यप्युक्तिमात्रम्, दर्शनादीनामपि प्रतिनिय-

और उन सुखादिक के नियम से अदृष्ट का उसी देवदत्त में रहने का नियम सिद्ध हो सके, इस प्रकार परस्पर में आश्रित होने से एक में भी नियम की सिद्धि होना शक्य नहीं है ।

प्रभाकर—जिस आत्मा के विश्वास से ग्रहण किये गये द्रव्य गुण कर्म जिस अदृष्ट को उत्पन्न करते हैं वह अदृष्ट उस आत्मा का बन जाता है ।

जैन—यह वर्णन भी श्रद्धामात्र है, यह श्रद्धा या विश्वास जो है वह भी तो आत्मा से अत्यन्त भिन्न है । फिर किस प्रकार ऐसा नियम बन सकता है । अर्थात् नहीं बन सकता है ।

प्रभाकर—जिस आत्मा के अदृष्ट से श्रद्धा पैदा होती है वह उसकी कहलानी है ।

जैन—इस प्रकार से मानने में भी अन्योन्याश्रय दोष आवेगा—पहिले श्रद्धा का नियम बने तब अदृष्ट का नियम सिद्ध होवे और उसके सिद्ध होने पर श्रद्धा का नियम बने ।

प्रभाकर—द्रव्य आदि में जिस आत्मा के प्रत्यक्ष, स्मरण, आदि ज्ञान श्रद्धा को उत्पन्न करते हैं वह श्रद्धा उसी आत्मा की कहलाती है ।

जैन—यह कथन भी उपर्युक्त दोषों से अछूता नहीं है । आपके यहा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणज्ञानों का भी नियम नहीं बन सकता है कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण इसी आत्मा का है फिर किस प्रकार श्रद्धा या अदृष्ट का नियम बने ।

प्रभाकर—हम तो समवाय से ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का तथा अदृष्टादि का नियम बनाते हैं अर्थात् इस आत्मा में यह अदृष्ट या श्रद्धा अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण है क्योंकि इसी में इन सब का समवाय है ।

जैन—यह तो विना विचारे ही जबाब देना है, जब हम बार २ इस बात को कह रहे हैं कि समवाय नामका आपका संबन्ध असिद्ध है तथा आगे जब आपके मत

मासिद्धेः । समवायात्तेषां श्रद्धायाश्च प्रतिनियमः । इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, तस्य षट्पदार्थपरीक्षाया निराकरिष्यमाणत्वात् ।

के षट् पदार्थों की—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इनकी परोक्षा करेगे तब वहाँ समवाय का निराकरण करने वाले हैं, अतः समवाय सबध से प्रत्यक्ष या श्रद्धा आदि का एक निश्चित व्यक्ति में सबधित होकर रहना सिद्ध नहीं होता है ।

विशेषार्थ—प्रभाकर ने आत्मा और ज्ञान को अत्यन्त परोक्ष माना है, आत्मा और ज्ञान दोनों ही कभी भी जानने में नहीं आते हैं ऐसा मीमांसक के एक भेदस्वरूप प्रभाकर मत का कहना है । इस मान्यता में अनेक दोष आते हैं । ज्ञान यदि स्वयं को नहीं जानता है तो वह पदार्थों को भी नहीं जान सकता है । जैसे दीपक स्वयं प्रकाशित हुए बिना अन्य वस्तुओं को प्रकाशित नहीं करता है, ज्ञान को प्रभाकर आत्मा से सर्वथा पृथक् भी मानते हैं । ज्ञान को अप्रत्यक्ष सिद्ध करने के लिये प्रभाकर सुख दुःख आदि का उदाहरण देते हैं कि जैसे सुखादि परोक्ष रहकर भी प्रतिभासित होते हैं वैसे ही ज्ञान स्वयं परोक्ष रहकर भी पदार्थों को प्रत्यक्ष करता है सो यह बात सर्वथा गलत है । ज्ञान और सुखादिक ये सभी ही अपने आप प्रत्यक्ष साक्षात् हुआ करते हैं । यदि सुख आदि अप्रत्यक्ष हैं तो उससे जीव को प्रमत्त होना आदिरूप अनुग्रह बन नहीं सकता, जैसे कि पराये व्यक्ति के सुख से अन्य जीव में प्रसन्नता नहीं होती है । प्रभाकर ने इन सुख आदि को आत्मा से सर्वथा भिन्न माना है, अतः उनका किसी एक ही आत्मा में निश्चित रूप से रहकर अनुभव होना भी बनता नहीं, सुखादिक का एक निश्चित आत्मा में निश्चय कराने के लिये वे लोग अदृष्ट की कल्पना करते हैं, किन्तु अदृष्ट भी आत्मा से भिन्न है सो वह नियम नहीं बना सकता है कि यह सुख इसी आत्मा का है । समवाय सबध से सुख आदि का नियम बनावे तो भी ठीक नहीं क्योंकि भिन्न दो वस्तुओं को जोड़ने वाला यह समवाय नामक पदार्थ किसी प्रकार से सिद्ध नहीं होता है, श्रद्धा—(विश्वास) से अदृष्ट का निश्चय होवे कि यह अदृष्ट इसी आत्मा का है सो भी बात बनती नहीं, क्योंकि श्रद्धा भी आत्मा से पृथक् है । प्रत्यक्ष, स्मरण आदि प्रमाणों को लेकर श्रद्धा आदि का नियम किया जाय कि यह श्रद्धा इसी आत्मा की है सो यह भी गलत है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी आत्मा से भिन्न हैं । इस प्रकार सुख दुःख को आत्मा से संबद्ध करने वाला अदृष्ट, उस अदृष्ट को नियमित करने वाली श्रद्धा और उस श्रद्धा को सबधित करने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण ये सब परंपरारूप से

माने गये हेतु असिद्ध ठहरते हैं । अतः आत्मा और ज्ञान को प्रथम ही प्रत्यक्ष होना अर्थात् निजका अनुभव—अपने आपको इनका अनुभव होना मानना चाहिये, यही मार्ग श्रेयस्कर है । इस प्रकार यहां तक श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने प्रभाकर के आत्म अप्रत्यक्षवाद का या आत्मपरोक्षवाद का खडन किया और आत्मा-स्वसवेदनरूप प्रत्यक्ष से प्रतिभासित होती है ऐसा आत्माप्रत्यक्षत्ववाद सिद्ध किया है ।

*** आत्माप्रत्यक्षत्ववाद का प्रकरण समाप्त ***



आत्माप्रत्यक्षत्ववाद का सारांश

प्रभाकर कर्त्ता (आत्मा) और करण (ज्ञान) इन दोनों को ही अत्यन्त परोक्ष मानते हैं । उनका कहना है कि प्रमिति क्रिया और कर्म ये ही प्रत्यक्ष हैं, और नहीं । इस पर जैनाचार्यों ने उन्हें समझाया है कि—आत्मा यदि सर्वथा अप्रत्यक्ष है तो ज्ञान से होने वाला पदार्थ का प्रतिभास किसे होगा, सुख दुःखादि का अनुभव भी कैसे संभव है क्योंकि ये सुखादि भी ज्ञानविशेषरूप हैं । अन्य किसी प्रत्यक्ष ज्ञान से सुखादि को प्रत्यक्ष होना मान लो तो भिन्न ज्ञान द्वारा जानने से उन सुखादिको के द्वारा होने वाले अनुग्रह उपघातादिक आत्मा में न हो सकेंगे । क्योंकि जो ज्ञान हमारे से भिन्न है उस ज्ञान से हमको अनुभव हो नहीं सकता । तुम कहो कि पुत्र आदि के सुख का हमें अनुग्रहादिरूप अनुभव होता है जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है वैसे परोक्ष ज्ञान द्वारा सुखादि का अनुभव हो जावेगा सो यह बात ठीक नहीं है, अरे भाई ! जब कोई व्यक्ति उदासीन रहता है तब उसे अपने खुद के शरीर के सुखादि भी अनुग्रहादि नहीं कर पाते हैं तो फिर पुत्रादि के सुखादिक क्या करा सकेंगे । ऐसे तो दूसरे किसी यज्ञदत्तादि से किया गया विषयभोग अन्य किसी देवदत्तादि के सुख को करा देगा ? क्योंकि जैसे वह देवदत्त से भिन्न है और अप्रत्यक्ष है वैसे यज्ञदत्त से भी भिन्न तथा परोक्ष है । इस पर आपने जो यह युक्ति दी है कि जिसके अदृष्ट विशेष जो पुण्यपापादि हैं वे उसी को सुख दुःखादि अनुभव कराते हैं सो बात भी नहीं बनती है, क्योंकि अदृष्ट खुद भी आत्मा से भिन्न है ।

उसका आत्मा के साथ सबध कौन जोडे ? समवाय आपका सिद्ध नहीं होता है । दूसरी बात यह भी है कि जैसे घटादि पदार्थ पहले अज्ञात रहते है और पीछे इन्द्रिय से संबध होने पर ज्ञान के द्वारा अनुभव मे आते है वैसे सुख दुखादि नहीं है, वे तो अन्तरङ्ग में तत्काल ही अनुभवरूप होते है । इसलिये प्रभाकर का यह अनुमान गलत हो गया कि "आत्मा अप्रत्यक्ष है क्योंकि कर्मरूप से प्रतीत नहीं होता इत्यादि । आत्मा कर्त्तारूप से हर व्यक्ति को प्रत्यक्ष हो रहा है वह परोक्ष नहीं है ऐसा निश्चय हुआ ।

*** इस प्रकार आत्माप्रत्यक्षत्ववाद का सारांश समाप्त ***



ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादका पूर्वपक्ष

नैयायिक ज्ञान को दूसरे ज्ञान के द्वारा जानने योग्य मानते हैं, उनका कहना है कि ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है, उसको जानने के लिये अन्य ज्ञान की जरूरत पडती है, इसका विवेचन इन्ही के ग्रन्थ के आधार से यहा पर किया जाता है—

“विवादाध्यासिताः प्रत्ययाः प्रत्ययान्तरैव वेद्या प्रत्ययत्वात्, ये ये प्रत्ययास्ते सर्वे प्रत्ययान्तरवेद्या ” ।

—विधि वि० न्यायकणि० पृ० २६७

जितने भी विवाद ग्रस्त—विवक्षित ज्ञान है वे सब अन्यज्ञान से ही जाने जाते हैं, क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप हैं, यदि ज्ञान अपने को जानने वाला माना जाये तो क्या २ दोष आते हैं सो प्रकट किया जाता है—

“तथा च विज्ञानस्य स्वसवेदने तदेव तस्य कर्म क्रिया चेति विरुद्ध मापद्येत”
यथोक्तम्—

“अगुल्यग्रे यथात्मानं नात्मना स्पष्टुमर्हति ।

स्वाशेन ज्ञानमप्येव नात्मानं ज्ञातुमर्हति ॥ १ ॥”

यत् प्रत्ययत्व वस्तुभूतमविरोधेन व्याप्तम् तदविरुद्धविरोधदर्शनात् स्वसवेदना-
न्निवर्तमानं प्रत्ययान्तरवेद्यत्वेन व्याप्यते, इति प्रतिबधसिद्धिः । एव प्रमेयत्वगुणत्वस-
त्त्वादयोऽपि प्रत्ययान्तरवेद्यत्वहेतवः प्रयोक्तव्याः । तथा च न स्वसवेदनं विज्ञानमिति
सिद्धम् ।

—विधि वि० न्यायकणि पृ० २६७

अर्थ—ज्ञान को यदि स्व का जानने वाला मानते हैं तो वही उसका कर्म और वही क्रिया होने का प्रसंग आता है, जो कि विरुद्ध है, जिस प्रकार अगुली स्वय का स्पर्श नहीं कर सकती उसी प्रकार ज्ञान अपने आपको जानने के लिये समर्थ नहीं हो सकता, ज्ञान वस्तुस्वरूप तो अवश्य है किन्तु वह स्वसविदित न होकर पर से वेद्य है । इसी तरह प्रमेयत्व, गुणत्व, सत्त्वादि अन्य से ही जाने जाते हैं—(वेद्य होते हैं) इस प्रकार ज्ञान स्व का वेदन नहीं करता है यह सिद्ध हुआ ।

और भी कहा है—

“नासाधना प्रमाणसिद्धिर्नापि प्रत्यक्षादिव्यतिरिक्तप्रमाणाभ्युपगमो . नापि च तयैव व्यक्त्या तस्य ग्रहणमुपेयते येनात्मनि विरोधो भवेत्, अपि तु प्रत्यक्षादिजातीयेन प्रत्यक्षादिजातीयस्य ग्रहणमातिष्ठामहे । न चानवस्थाऽस्ति किञ्चित्प्रमाणाय (यत्) स्वज्ञानेन अन्यधीहेतु, यथा धूमादि, किञ्चित् पुनरज्ञातमेव बुद्धिसाधन यथाचक्षुरादि तत्र पूर्वं स्वज्ञाने चक्षुराद्यपेक्षम् चक्षुरादि तु ज्ञानानपेक्षमेव ज्ञानसाधनमिति क्वानवस्था ? बुभुत्सया च तदापि शक्यज्ञान, सा कदाचिदेव क्वचिदिति नानवस्था ।

—न्याय वा० ता० टी० पृ० ३७०

अर्थ—हम नैयायिक प्रमाण को अहेतुक नहीं मानते अर्थात् जैसे मीमांसक लोग ज्ञान को किसी के द्वारा भी जानने योग्य नहीं मानते वंसा हम लोग नहीं मानते, हम तो ज्ञान को अन्य ज्ञान से सिद्ध होना मानते हैं । जैन के समान उसी ज्ञान से पदार्थ को जानना और उसी ज्ञान से स्व को—अपने आपको जानना ऐसी विपरीत बात हम स्वीकार नहीं करते, प्रत्यक्षादि ज्ञानों को जानने के लिये तो अन्य सजातीय प्रत्यक्षादि ज्ञान आया करते हैं, इस प्रकार ज्ञानान्तर ग्राहक ज्ञान को मानने से वहा अनवस्था आने की शका भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि कोई प्रमाण ज्ञान तो ऐसा होता है जो अपना ग्रहण किसी से कराके अन्य को जानने में हेतु या साधक बनता है—जैसे धूम आदि वस्तु प्रथम तो नेत्र से जानी गई और फिर वह ज्ञात हुआ धूम अन्य जो अग्नि है उसे जनाने में साधकतम हुआ । एक प्रमाण, ऐसा भी होता है कि जो अज्ञात रहकर ही अन्य के जानने में साधक हुआ करता है, जैसे—चक्षु आदि इन्द्रिया धूम के उदाहरण में तो धूमादि के ग्रहण में चक्षु आदि की अपेक्षा हुई किन्तु चक्षु आदिक तो स्वग्रहण किये बिना ही अन्यत्र ज्ञान में हेतु हुआ करते हैं । अत अनवस्था का कोई प्रसंग नहीं आता है, जानने की इच्छा भी शक्य में ही हुआ करती है । अर्थात्—सभी ज्ञानों में अपने आपको जानने की इच्छा नहीं होती, क्वचित् ही होती है । कभी २ ही होती है, हमेशा नहीं, “इसलिये ज्ञान का अन्य के द्वारा ग्रहण होना माने तो अनवस्था आवेगी”, ऐसी आशका करना व्यर्थ है, “तस्माज्ज्ञानान्तरसवेद्य सवेदन वेद्यत्वात् घटादिवत्”—प्रश्न० व्यो० पृ० ५२६ ।

अनवस्थाप्रसङ्गस्तु अवश्यवेद्यत्वानभ्युपगमेन निरसनीय । इसलिये ज्ञान तो अन्य ज्ञान से ही जानने योग्य है, जैसे कि घट आदि पदार्थ अपने आपको ग्रहण नहीं

करते हैं अन्य से ही वे ग्रहण में आते हैं। अनवस्था की बात तो इसलिये खतम हो जाती है हर ज्ञान को अपने आपको अवश्य ही जानना जरूरी हो सो तो बात है नहीं। जहां कहीं शक्य हो और कदाचित् जिज्ञासा हो जाय कि यह अर्थ ग्राहक ज्ञान जानना चाहिये तो कभी उसका ग्रहण हो जाय, वरना तो पदार्थ को जाना और अर्थ-क्रियार्थी पुरुष अर्थक्रिया में प्रवृत्त हुआ, बस। इतना ही होता है, घड़े को देखा फूटा तो नहीं है खरीद लिया, फिर यह कौनसी मिट्टी से बना है इत्यादि बेकार की चिन्ता करने की कौन को फुरसत है। मतलब—प्रत्येक ज्ञान को जानने की न तो इच्छा ही होती है और न जानना ही शक्य है। अतः ज्ञान को अन्य ज्ञान से वेद्य मानने में अनवस्था नहीं आती है इस प्रकार ज्ञान स्वव्यवसायी नहीं है यही बात सिद्ध होती है, “स्वात्मनि क्रियाविरोध.” अर्थात् अपने आप में क्रिया नहीं होती है, क्योंकि अपने आप में क्रिया होने का विरोध है, अतः ज्ञान अपने आपको ग्रहण करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता। ईश्वर हो चाहे सामान्यजन हो सभी का ज्ञान स्वग्राहक न होकर मात्र अन्य को ही जानने वाला हुआ करता है। हां इतनी बात जरूरी है कि हम लोग मीमांसक की तरह ज्ञान को अग्राह्य—किसी ज्ञान के द्वारा भी जानने योग्य नहीं है ऐसा नहीं मानते हैं, किन्तु वह अपने आपको जानने योग्य नहीं है, अन्य ज्ञान के द्वारा जानने योग्य है ऐसा मानते हैं और यही सिद्धान्त सत्य है।

पूर्वपक्ष समाप्त



ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादः



एतेनैतदपि प्रत्याख्यातम् 'ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य प्रमेयत्वात्पटादिवत्,' सुखसवेदनेन हेतोर्व्यभिचारान्महेश्वरज्ञानेन च, तस्य ज्ञानान्तरावेद्यत्वेऽपि प्रमेयत्वात् । तस्यापि ज्ञानान्तरप्रत्यक्षत्वेऽनवस्था-

यौग—नैयायिक एवं वैशेषिक "ज्ञान अपने आपको नहीं जानता, किन्तु दूसरे ज्ञान से ही वह जाना जाता है" ऐसा मानते हैं, इस यौग की मान्यता का खडन प्रभाकर के आत्मपरोक्षवाद के निरसन से हो जाता है। फिर भी इस पर विचार किया जाता है—"ज्ञान प्रमेय है इसलिये वह दूसरे ज्ञान से जाना जाता है जैसे घट पटादि प्रमेय होने से दूसरे ज्ञान से जाने जाते हैं"। ऐसा यौग का कहना है किन्तु इस अनुमान में जो प्रमेयत्व हेतु दिया गया है वह सुख सवेदन के साथ और महेश्वर के ज्ञान के साथ व्यभिचरित होता है, क्योंकि इनमें प्रमेयता होते हुए भी अन्यज्ञान द्वारा वेद्यता नहीं है—अर्थात् सुखादिसवेदन दूसरे ज्ञान से नहीं जाने जाकर स्वयं ही जाने जाते हैं, यदि इन सुखादिसवेदनो को भी अन्यज्ञान से ये जाने जाते हैं ऐसा माना जाय तब तो अनवस्था होगी, क्योंकि सुखसवेदन को जानने वाला दूसरा ज्ञान किसी तीसरे ज्ञान के द्वारा जाना जायगा और वह तीसरा ज्ञान भी किसी चतुर्थज्ञान के द्वारा जाना जायेगा, इस तरह कही पर भी विश्रान्ति नहीं होगी।

यौग—अनवस्था दोष नहीं आवेगा, देखिये—महेश्वर में नित्य ही दो ज्ञान रहते हैं और वे नित्यस्वभाववाले होते हैं। उन दो ज्ञानों में एक ज्ञान के द्वारा तो महेश्वर सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है और दूसरे ज्ञान के द्वारा उस प्रथम ज्ञान को जानता है, बस—इस प्रकार की मान्यता में अन्य अन्य ज्ञानों की आवश्यकता ही नहीं है, उन दो ज्ञानों से ही कार्य हो जाता है।

तस्यापि ज्ञानान्तरेण प्रत्यक्षत्वात् । ननु नानवस्था नित्यज्ञानद्वयस्येश्वरे सदा सम्भवात्, तत्रैकेनार्थं जातस्य द्वितीयेन पुनस्तज्ज्ञानस्य प्रतीतेर्नापरज्ञानकल्पनया किञ्चित्प्रयोजन तावतैवार्थसिद्धेरित्यप्य-समीचीनम्; समानकालयावद्द्रव्यभाविसजातीयगुणद्वयस्यान्यत्रानुपलब्धेरत्रापि तत्कल्पनाऽसम्भवात् ।

सम्भवे वा तद्द्वितीयज्ञान प्रत्यक्षम्, अप्रत्यक्ष वा ? अप्रत्यक्ष चेत्, कथं तेनाद्यज्ञानप्रत्यक्षता-सम्भव ? अप्रत्यक्षादप्यतस्तत्सम्भवे प्रथमज्ञानस्याऽप्रत्यक्षत्वेऽप्यर्थप्रत्यक्षतास्तु । प्रत्यक्षं चेत्, स्वतः,

जैन— यह कथन अयुक्त है, क्योंकि इस प्रकार के समान स्वभाववाले सजातीय दो गुण जो कि सपूर्णरूप से अपने द्रव्य में व्याप्त होकर रहते हैं एक साथ एक ही वस्तु में उपलब्ध नहीं हो सकते हैं । इसलिये ईश्वर में ऐसे दो ज्ञान एक साथ होना शक्य नहीं है ।

विशेषार्थ—यौग ने महेश्वर में दो ज्ञानों की कल्पना की है, उन का कहना है कि एक ज्ञान तो अशेष पदार्थों को जानता है और दूसरा ज्ञान उस सपूर्ण वस्तुओं को जानने वाले ज्ञान को जानता है । ऐसी मान्यता में सैद्धान्तिक दोष आता है, कारण कि एक द्रव्य में दो सजातीय गुण एक साथ नहीं रहते हैं, “समानकालयावद्द्रव्यभाविसजातीय गुणद्वयस्य अभावात्” ऐसा यहाँ हेतु दिया है । इस हेतु के तीन विशेषण दिये हैं—(१) समानकाल, (२) यावद्द्रव्यभावि, और (३) सजातीय, इन तीनों विशेषणों में से समानकाल विशेषण यदि नहीं होता तो क्रम से आत्मा में सुख दुःखरूप दो गुण उपलब्ध हुआ ही करते हैं, अतः दो गुण उपलब्ध नहीं होते इतना कहने मात्र से काम नहीं चलता, तथा “यावद्द्रव्यभावि” विशेषण न होवे तो द्रव्यांश में रहनेवाले धर्मों के साथ व्यभिचार होता है, सजातीय विशेषण न होवे तो एक आयु आदि द्रव्य में एक साथ होने वाले रूप, रस आदि के साथ दोष होता है । अतः सजातीय दो गुण एक साथ एक ही द्रव्य में नहीं रहते हैं ऐसा कहा गया है, इसलिये महेश्वर में दो ज्ञान एक साथ होते हैं ऐसा यौग का कहना गलत ठहरता है ।

यदि परवादी यौग के मत की अपेक्षा मान भी लेवे कि महेश्वर में दो ज्ञान हैं तो भी प्रश्न होता है कि ज्ञान को जानने वाला वह दूसरा ज्ञान प्रत्यक्ष है कि अप्रत्यक्ष है ? यदि अप्रत्यक्ष माना जावे तो उस अप्रत्यक्षज्ञान से प्रथमज्ञान का प्रत्यक्ष होना कैसे संभव है, यदि अप्रत्यक्ष ऐसे द्वितीय ज्ञान से पहला ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है तो पहिलाज्ञान भी स्वयं अप्रत्यक्ष रहकर पदार्थों को प्रत्यक्ष कर लेगा, फिर उसे

ज्ञानान्तराद्या ? स्वतश्चेदाद्यस्यापि स्वतः प्रत्यक्षत्वमस्तु । ज्ञानान्तराच्चेत्सैवानवस्था । आद्यज्ञानाच्चे-
दन्योन्याश्रयः—सिद्धे ह्याद्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे ततो द्वितीयस्य प्रत्यक्षतासिद्धिः, तत्सिद्धौ चाद्यस्येति ।

किञ्च, अनयोर्ज्ञानयोर्महेश्वराद्भेदे कथं तदीयत्वसिद्धिः समवायादेरग्रे दत्तोत्तरत्वात् ?
तदाधेयत्वात्तत्त्वेप्युक्तम् । तदाधेयत्व च तत्र समवेतत्वम्, तच्च केन प्रतीयते ? न तावदीश्वरेण,

जानने के लिये द्वितीय ज्ञान की कल्पना करना बेकार है । दूसरा ज्ञान यदि प्रत्यक्ष है तो यह बताओ कि वह स्वतः ही प्रत्यक्ष होता है अथवा अन्यज्ञान से प्रत्यक्ष होता है ? स्वतः प्रत्यक्ष है कहो तो पहला जो पदार्थों का जानने वाला ज्ञान है वह भी स्वतः प्रत्यक्ष हो जावे, क्या बाधा है, और आप यदि उस द्वितीय ज्ञान को भी अन्यज्ञान से प्रत्यक्ष होना स्वीकार करते हैं तब तो वही अनवस्था खड़ी होगी, इस दोष को टालने के लिये ईश्वर के उस दूसरे ज्ञान का प्रत्यक्ष होना प्रथम ज्ञान से मानते हो अर्थात् प्रथमज्ञान सपूर्ण पदार्थों को साक्षात् जानता है और उस ज्ञान को दूसरा ज्ञान साक्षात् जानता है अर्थात् उसे वह प्रत्यक्ष करता है, पुनश्च उस दूसरे ज्ञानको प्रथमज्ञान प्रत्यक्ष करता है, ऐसा कहेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष पनपेगा, देखिये—प्रथमज्ञान प्रत्यक्ष है यह बात जब सिद्ध होगी तब उससे दूसरे ज्ञान की प्रत्यक्षता सिद्ध होगी, और दूसरे ज्ञान की प्रत्यक्षता सिद्ध होने पर प्रथम ज्ञान में प्रत्यक्षता—सिद्ध होगी, इस प्रकार दोनों ही असिद्ध कहलावेंगे ।

एक बात यह भी है कि वे दोनों ज्ञान महेश्वर से भिन्न हैं ऐसा आप मानते हैं, अतः ये ज्ञान ईश्वर के ही हैं इस प्रकार का नियम बनना शक्य नहीं है । समवाय सम्बन्ध से महेश्वर में ही ये ज्ञान सबद्ध हैं ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योंकि समवाय का तो अभी आगे खडन होने वाला है, उस एक ईश्वर में ही उन दोनों ज्ञानों का आधेयपना है ऐसा कहना भी बेकार है, क्योंकि इस तदाधेयत्व के सबध में अभी प्रभाकर के आत्मपरोक्षवाद का खडन करते समय कह आये हैं कि तदाधेयत्व का निश्चय सर्वथा भेदपक्ष में बनता नहीं है, आप यौग भी तदाधेयत्व का अर्थ यही करोगे कि उस महेश्वर में दोनों ज्ञानों का समवेत होना, किन्तु यह समवेतपना किसके द्वारा जाना जाता है ? ईश्वर के द्वारा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर स्वयं को तथा दोनों ज्ञानों को ग्रहण नहीं करता है तो किस प्रकार वह बनावेगा कि यहाँ मुझ महेश्वर में ये दोनों ज्ञान समवेत हैं इत्यादि ?

तेनात्मनो ज्ञानद्वयस्य चाग्रहणे 'अभेद समवेतम्' इति प्रतीत्ययोगात् । तस्य तत्र समवेतत्वमेव तद्ग्रहणमित्यपि नोत्तरम्; अन्योन्याश्रयात्-सिद्धे हि 'इदमत्र' इति ग्रहणे तत्र समवेतत्वसिद्धिः, तस्याश्च तद्ग्रहणसिद्धिः । यश्चात्मीयज्ञानमात्मन्यपि स्थित न जानाति सोऽर्थजात जानातीति कश्चेतनः श्रद्दधीत ? नापि ज्ञानेन 'स्थाणावहं समवेतम्' इति प्रतीयते, तेनाप्याधारस्यात्मनश्चाग्रहणात् । न च तद्ग्रहणे 'ममेद रूपमत्र स्थितम्' इति सम्भवः ।

अस्तु वा समवेतत्वप्रतीतिः, तथापि-स्वज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वात्सर्वज्ञत्वविरोधः । तदप्रत्यक्षत्वे चानेनाशेषार्थस्याप्यध्यक्षताविरोधः । कथमन्यथात्मान्तरज्ञानेनाप्यर्थसाक्षात्करणं न स्यात् ? तथा

यौग—उस ज्ञानद्वय का वहा पर समवेत होना ही उसका ग्रहण कहलाता है, अर्थात् ईश्वर मे ज्ञानद्वय का रहना ही उसका उसके द्वारा ग्रहण होना है ।

जैन—यह उत्तर भी अयुक्त है, इस उत्तर से तो अन्योन्याश्रय दोष होगा, वह कैसे सो बताते है—पहिले “यहा पर यह है” ऐसा सिद्ध होने पर उस ज्ञानद्वय का ग्रहण सिद्ध होगा, अर्थात् ईश्वर मे ज्ञानद्वय का समवेतत्व सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर “यहा पर यह है” ऐसा ग्रहण होगा ।

आश्चर्य की बात है कि अपने में ही स्थित अपने ज्ञान को जो नहीं जानता है वह सपूर्ण वस्तुओं को जानता है ऐसे कथन मे कौन बुद्धिमान् विश्वास करेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं करेगा, इस प्रकार ईश्वर के द्वारा ही ईश्वर के ज्ञानद्वय का समवेतपना जाना जाता है, ऐसा कहना सिद्ध नहीं हुआ । अब यदि, उस ईश्वर के दोनो ज्ञानो द्वारा अपना वहा समवेत होना जाना जाता है कि ईश्वर में हम समवेत है ऐसा पक्ष यदि स्वीकार करो तो भी गलत है । देखो—वह जो ज्ञानद्वय है वह भी अपने आधारभूत ईश्वर को नहीं जानता है और न स्वयं को ही जानता है तो विना जाने यह मेरा स्वरूप है वह यहां पर स्थित है ऐसा जानना संभव नहीं । अच्छा आपके आग्रह से हम मान भी लेवे कि ईश्वर मे ज्ञानद्वय के समवेतत्व का निश्चय होता है तो भी कुछ सार नहीं निकलता, क्योंकि ईश्वर का स्वयं का ज्ञान तो अप्रत्यक्ष है, अतः उस ईश्वर मे सर्वज्ञपना मानने मे विरोध आयेगा । तथा ईश्वरज्ञान अप्रत्यक्ष है (परोक्ष है) ऐसा मानते हो तो उस अप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार होने में भी विरोध आता है, ऐसी विरोध की बात नहीं होती तो अन्य आत्मा के ज्ञान के द्वारा भी सपूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार होना क्यों नहीं मानते ?

चेश्वरानीश्वरविभागाभावः—स्वयमप्रत्यक्षेणापीश्वरज्ञानेनाशेषविषयेणाशेषस्य प्राणिनोऽशेषार्थसाक्षात्कारप्रसङ्गात् । ततस्तद्विभागमिच्छता महेश्वरज्ञान स्वतः प्रत्यक्षमभ्युपगन्तव्यमित्यनेनानेकान्तःसिद्ध ।

अथास्मदादिज्ञानापेक्षया ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्व प्रमेयत्वहेतुना साध्यतेऽतो नेश्वरज्ञानेनानेकान्तोऽस्यास्मदादिज्ञानाद्विशिष्टत्वात्, न खलु विशिष्टे दृष्ट धर्ममविशिष्टेपि योजयन् प्रेक्षावत्ता लभते निखिलार्थवेदित्वस्याप्यखिलज्ञानाना तद्वत्प्रसङ्गात् । इत्यप्यसमीचीनम्; स्वभावावलम्बनात् ।

भावार्थ—ज्ञानको स्वसवेद्य नहीं माननेसे दो दोष आते हैं एक तो ईश्वर के सर्वज्ञपनेका अभाव होता है और दूसरा दोष यह होता है कि जब तक ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक उस ज्ञानके द्वारा जाने गये पदार्थ भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हैं । तथा ज्ञान जब स्वयं को नहीं जानते हुए भी अन्य पदार्थ को जान सकता है तो देवदत्त के ज्ञानसे जिनदत्त को पदार्थ साक्षात्कार हो सकता है ? क्योंकि स्वयं को प्रत्यक्ष होने की जरूरत नहीं है ।

जब अन्य व्यक्ति के ज्ञान द्वारा अन्य किसी को पदार्थका साक्षात्कार होना स्वीकार करते हैं तब ईश्वर और अनीश्वर का विभाग नहीं रह सकता, क्योंकि स्वयं को अप्रत्यक्ष ऐसे अशेषार्थ ग्राहक ईश्वर के ज्ञान के द्वारा सभी प्राणी संपूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार कर लेंगे ?

इसलिये यदि आप ईश्वर और अन्य जीवों में भेद मानना स्वीकार करते हो तो महेश्वर का ज्ञान स्वतः ही प्रत्यक्ष है ऐसा मानना जरूरी है, इस प्रकार महेश्वर का ज्ञान स्वयं वेद्य है ऐसा सिद्ध हुआ वह अन्यज्ञान से जाना जाता है ऐसा सिद्ध नहीं हुआ, इसलिये ही आपका वह प्रमेयत्व हेतु इस ईश्वर ज्ञान से व्यभिचरित हुआ—(अनैकान्तिक दोष युक्त हुआ । ज्ञान प्रमेय होने से दूसरे ज्ञानके द्वारा ही जाना जाता है ऐसा कहना गलत हुआ ।)

यौग—हम जैसे सामान्य व्यक्ति के ज्ञान की अपेक्षा लेकर ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य माना है, उसी को प्रमेयत्व हेतु से हमने ज्ञानान्तरवेद्य सिद्ध किया है, न कि महेश्वर के ज्ञान को अतः प्रमेयत्व हेतु ईश्वर ज्ञान के साथ अनैकान्तिक नहीं होता है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान तो हमारे ज्ञान से विशिष्ट स्वभाववाला है । जो विशिष्ट में पाये जाने वाले धर्म को—(स्वभाव को) अविशिष्ट में लगा देता है अर्थात् ईश्वर के

स्वपरप्रकाशात्मकत्व हि ज्ञानसामान्यस्वभावो न पुनर्विशिष्टविज्ञानम्यैव धर्म । तत्र तस्योपलम्भमात्रात्तद्धर्मत्वे भानी स्वपरप्रकाशात्मकत्वोपलम्भात् प्रदीपे तत्प्रतिषेधप्रसङ्गः । तत्स्वभावत्वे तद्वत्तोषा निखिलार्थवेदित्वानुषङ्गश्चेत्, तर्हि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशात्मकत्वे भानुवन्निखिलार्थोद्योतकत्वानुषङ्गः किन्न स्यात् ? योग्यतावशात्तदात्मकत्वाविशेषेपि प्रदीपादेर्नियतार्थोद्योतकत्व ज्ञानेपि समानम् । ततो

ज्ञान स्वभाव को हमारे जैसे सामान्य मनुष्य के ज्ञान में जोड़ता है वह व्यक्ति बुद्धिमान वही कहलाता है, यदि ईश्वर के ज्ञान का स्वभाव हमारे ज्ञान के साथ लागू करते हो तो ईश्वर का ज्ञान जिसप्रकार संपूर्ण पदार्थों का जाननेवाला है वैसा ही हमारा ज्ञान भी संपूर्ण पदार्थों को जानने वाला हो जावेगा ।

जैन—यह कथन भी असार है, हम तो यहा स्वभाव का अवलबन लेकर कह रहे है, क्योकि स्वभाव तो सभी ज्ञानो का स्वपर प्रकाशक है, किसी खास विशेष ज्ञान का नही यदि कहा जाय कि महेश्वर ज्ञान मे स्व पर प्रकाशक स्वभाव की उपलब्धि होती है, अत सिर्फ उसी मे वह स्वभाव माना जाय तो सूर्य में स्व पर प्रकाशकपना उपलब्ध है, अत मात्र उसी मे वह है प्रदीप मे नही है ऐसा भी मानना पडेगा किन्तु ऐसा तो है नही ।

यौग—यदि ईश्वर के ज्ञान के स्वभाव को हम जैसे सामान्य व्यक्ति के ज्ञान में लगाते हो तो ईश्वर के ज्ञानका स्वभाव तो संपूर्ण वस्तुओं को जानने का है, वह भी हमारे ज्ञान मे जोड़ना पडेगा ।

जैन—तो फिर सूर्य मे स्वपर प्रकाशकता और संपूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करना ये दोनो धर्म है अत दीपक मे भी दोनो धर्म मानना चाहिये, फिर क्यो दीपक में सिर्फ स्वपरप्रकाशकपना मानते हो, यदि कहा जाय कि योग्यता के वश से दीपक मे एक स्वपरप्रकाशकपना ही है, संपूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करने की उसमे योग्यता नही है, इसीलिये वह नियत पदार्थों को प्रकाशित करता है ? सो यह कहना भी ठीक नही है क्योकि फिर ज्ञान मे भी यही न्याय रह आवे ? अर्थात् महेश्वर के ज्ञान मे तो संपूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करना और स्वय को प्रकाशित करना ऐसे दोनो ही धर्म— (स्वभाव)—पाये जाते है और हम जैसे व्यक्ति के ज्ञान मे स्वय के साथ कुछ ही पदार्थों को जानने की योग्यता है, सबको जानने की योग्यता नही है, इस तरह दीपक और सूर्य के समान हम जैसे अल्पज्ञानी और ईश्वर जैसे पूर्णज्ञानी मे अन्तर मानना

ज्ञान स्वपरप्रकाशात्मक ज्ञानत्वान्महेश्वरज्ञानवत्, अव्यवधानेनार्थप्रकाशकत्वाद्वा, अर्थग्रहणात्मकत्वाद्वा तद्वदेव, यत्पुन स्वपरप्रकाशात्मक न भवति न तद् ज्ञानम् अव्यवधानेनार्थप्रकाशकम् अर्थग्रहणात्मक वा, यथा चक्षुरादि ।

आश्रयासिद्धञ्च 'प्रमेयत्वात्' इत्यय हेतुः, घर्मिणो ज्ञानस्यासिद्धे । तत्सिद्धि खलु प्रत्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रमाणान्तरस्यात्रानधिकारात् ? तत्र न तावत्प्रत्यक्षताः, तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वा-

आवश्यक है, अब इसी को अनुमान से सिद्ध करते हैं—ज्ञान स्व और पर को जानता है (साध्य), क्योंकि उसमें ज्ञानपना है, (हेतु) । जैसे महेश्वर का ज्ञान स्वपर का जानने वाला है, (दृष्टान्त) । अथवा—विना व्यवधानके वह पदार्थों को प्रकाशित करता है, अथवा पदार्थों को ग्रहण करने का—(जानने का)—उसका स्वभाव है, इसलिये ज्ञान स्वपरप्रकाशक स्वभाववाला है ऐसा सिद्ध होता है ।

भावार्थ—“ज्ञानत्वात्, अव्यवधानेन अर्थप्रकाशकत्वात्, अर्थग्रहणात्मकत्वात्” इन तीन हेतुओं के द्वारा ज्ञान में स्वपरप्रकाशकता सिद्ध हो जाती है, तीनों ही हेतुवाले अनुमानों में उदाहरण वही महेश्वर का है, ज्ञान स्वपरप्रकाशक है, क्योंकि वह ज्ञान है, अव्यवधानरूप से पदार्थ का प्रकाशक होता है, तथा पदार्थ को ग्रहण करनेरूप स्वभाववाला है जैसा कि महेश्वर का ज्ञान, इस प्रकार हेतु का अपने साध्य के साथ अन्वय दिखाकर अब व्यतिरेक बताया जाता है—जो स्वपरप्रकाशक नहीं होता वह ज्ञान भी नहीं होता, तथा वह विना व्यवधान के पदार्थ को जानता नहीं है, और न उसमें अर्थ ग्रहण का स्वभाव ही होता है, जैसे कि चक्षु आदि इन्द्रिया, वे ज्ञानरूप नहीं हैं । इसीलिये व्यवधान के सद्भाव में पदार्थ को जानती नहीं हैं, एव अर्थग्रहण स्वभाववाली भी नहीं हैं । अत वे स्वपर को जानती नहीं हैं । इस प्रकार यहाँ तक यौग के प्रमेयत्व हेतु में अनैकान्तिक दोष बतलाते हुए साथ ही ज्ञान में स्वपरप्रकाशपना सिद्ध किया, अब उसी प्रमेयत्व हेतु में असिद्धपना भी है ऐसा बताते हैं—प्रमेयत्व हेतु आश्रया सिद्ध भी है क्योंकि घर्मी स्वरूप जो ज्ञान है, उसकी अभी तक सिद्धि नहीं हुई है, मतलब—अनुमान में जो पक्ष होता है वह प्रसिद्ध होता है, असिद्ध नहीं, अत यहाँ पर ज्ञान स्वरूप पक्ष असिद्ध होने से प्रमेयत्व हेतु आश्रयासिद्ध कहलाया । यदि उस ज्ञान की सिद्धि करना चाहे तो वह प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमान प्रमाण से हो सकती है और प्रमाणों का तो यहाँ अधिकार ही नहीं है । अब यदि प्रत्यक्षप्रमाण से ज्ञान को सिद्ध करे तो बनता नहीं, क्योंकि आप इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष प्रमाण से उत्पन्न

भ्युपगमात्, तज्ज्ञानेन चक्षुरादीन्द्रियस्य सन्निकर्षाभावात् । अन्यदिन्द्रिय तेन चास्य सन्निकर्षो वाच्य । मनोन्त करणम्, तेन चास्य सयुक्तसमवायः सम्बन्ध, तत्प्रभव चाध्यक्ष धर्मिस्वरूपग्राहकम्—मनो हि सयुक्तमात्मना तत्रैव समवायस्तज्ज्ञानस्येति, तदयुक्तम्, मनसोऽसिद्धे । अथ 'घटादिज्ञानज्ञानम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षज प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानत्वात् चक्षुरादिप्रभंवरूपादिज्ञानवत्' इत्यनुमानात्तत्सिद्धिरित्यभिधीयते, तदप्यभिधानमात्रम्; हेतोरप्रसिद्धविशेषणत्वात् । न हि घटादिज्ञानज्ञानस्याध्यक्षत्व

हुए ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते है । अतः उस सन्निकर्ष प्रमाण से ज्ञान की सिद्धि होना असंभव है, क्योंकि ज्ञान का चक्षु आदि इन्द्रियो से सन्निकर्ष होना शक्य नहीं है । चक्षु आदि को छोड़कर और कोई इन्द्रिय ऐसी कौनसी है कि जिससे इस ज्ञान का सन्निकर्ष हो सके ।

यौग—मन नाम की एक अन्तःकरणस्वरूप इन्द्रिय है, उमका ज्ञान के साथ सयुक्त समवायरूप सबध होता है और उस सबधरूप सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ जो प्रत्यक्ष प्रमाण है उसके द्वारा इस धर्मिस्वरूप ज्ञान का ग्रहण होता है, देखिये—मन आत्मा से सयुक्त है, अतः मन का आत्मा में सयुक्त समवाय है और उसी आत्मा में ज्ञान समवाय सबध से रहता है, इस तरह उस मन से सयुक्त हुए आत्मा में सयुक्त समवायरूप सन्निकर्ष से ज्ञान का ग्रहण होता है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, क्योंकि आपके मत में माने हुए मन की अभी असिद्धि है, अतः उस असिद्धमन से ज्ञान की सिद्धि होना संभव नहीं है ।

यौग—हम अनुमान से मन की सिद्धि करके बताते है—घट आदि को जानने वाले ज्ञान का जो ज्ञान है वह मन स्वरूप इन्द्रिय और घट ज्ञानस्वरूप पदार्थ के सन्निकर्ष से पैदा हुआ है । क्योंकि वह प्रत्यक्ष होकर ज्ञानरूप है, जैसा कि चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि पदार्थ के सन्निकर्ष से जन्य रूपादि का ज्ञान होता है । इस अनुमान से मन की सिद्धि हो जाती है ।

जैन—यह भी कहनामात्र है, क्योंकि आपने जो हेतु का विशेषण "प्रत्यक्षत्वे सति" ऐसा दिया है वह असिद्ध है, सिद्ध नहीं है, इसी बात को बताया जाता है—घट आदि को जाननेवाले ज्ञान को ग्रहण करनेवाले ज्ञान में अभी तक प्रत्यक्षपना सिद्ध नहीं हुआ है, अतः उससे मन की सिद्धि होना मानते हो तो इतरेतराश्रय दोष आता है, वह

सिद्धम्, इतरेतराश्रयानुषङ्गात्-मनःसिद्धी हि तस्याभ्यक्षत्वसिद्धि, तत्सिद्धी च सविशेषणहेतुसिद्धे-
र्मन सिद्धिरिति । विशेष्यासिद्धत्व च, न खलु घटज्ञानाद्भिन्नमन्यज्ज्ञान तदग्राहकमनुभूयते । सुखादि-
सवेदनेन व्यभिचारश्च; तद्धि प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञान न तज्जन्यमिति । अस्यापि पक्षीकरणान्न दोष
इत्ययुक्तम्, व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणे न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात् । 'अनित्य. शब्दः प्रमेयत्वाद्
घटवत्' इत्यादेरप्यात्मादिना न व्यभिचारस्तस्य पक्षीकृतत्वात् । प्रत्यक्षादिबाधोभयत्र समाना । न हि

इस प्रकार से कि मन के सिद्ध होने पर ज्ञान की प्रत्यक्षता सिद्ध होगी और ज्ञानकी प्रत्यक्षता सिद्ध होने पर विशेषण सहित हेतु की सिद्धि होने से मन की सिद्धि होगी ।

हेतु का विशेष्य अश भी असिद्ध है, देखिये—घट आदि के ज्ञान को ग्रहण करने वाला उससे भिन्न कोई अन्य ही ज्ञान है ऐसा अनुभव मे नहीं आता है, आपके इस "प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानत्वात्" हेतु का सुख दुःख आदि के सवेदन से व्यभिचार आता है, देखिये—सुख दुःख आदि का सवेदन प्रत्यक्ष होकर ज्ञान भी है किन्तु यह ज्ञान किसी सन्निकर्ष से पैदा नहीं हुआ है, अतः ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, तथा वस्तुओं के ज्ञान को जानने वाला ज्ञान भी सन्निकर्ष से पैदा होता है इत्यादि हेतु अनैकान्तिक सिद्ध होते है ।

यौग—हम तो सुखादि सवेदन को भी पक्ष की कोटि मे रखते है अत दोष नहीं आयेगा ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, इस तरह जिस जिससे भी हेतु व्यभिचरित हो उस उसको यदि पक्ष मे लिया जायगा तो विश्व मे कोई भी हेतु अनैकान्तिक नहीं रहेगा, कैसे सो बताते है—किसी ने अनुमान बनाया "अनित्य शब्द प्रमेयत्वात् घटवत्" शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रमेय है, जैसे कि घट प्रमेय होकर अनित्य है, यह प्रमेयत्व हेतु आत्मादि नित्य पदार्थों के साथ व्यभिचरित होता है । ऐसा सभी वादी प्रतिवादी मानते हैं । किन्तु इस हेतु को अब व्यभिचरित नहीं कर सकेंगे, क्योंकि आत्मादिक को भी पक्ष में ले लिया है ऐसा कह सकते है । तुम कहो कि आत्मादिक को पक्ष मे लेते है—अर्थात् उसको अनित्य साध्य के साथ घसीट लेते हैं तो प्रत्यक्ष बाधा आती है अर्थात् आत्मा तो साक्षात् ही अमर अजर दिखायी देता है । सो यही बात सुख सवेदन को पक्ष की कोटि मे लेने की है अर्थात् सभी ज्ञान सन्निकर्ष से ही पैदा होते है—तो सुख सवेदन भी सन्निकर्ष से पैदा होता है ऐसा कहने मे भी प्रत्यक्ष बाधा आती है, क्योंकि सुखादि का अनुभव किसी भी इन्द्रिय और पदार्थ के

‘घटादिवत्सुखाद्यविदितस्वरूप पूर्वमुत्पन्न पुनरिन्द्रियेण सम्बध्यते ततो ज्ञान ग्रहण च’ इति लोके प्रतीतिः, प्रथममेवेष्टानिष्टविषयानुभवानन्तरं स्वप्रकाशात्मनोऽस्योदयप्रतीति ।

स्वात्मनि क्रियाविरोधान्मिथ्येय प्रतीतिः, न हि सुतीक्ष्णोपि खड्ग आत्मान छिनत्ति, सुशिक्षितोपि वा नटबटुः स्व स्कन्धमारोहतीत्यप्यसमीचीनम्, स्वात्मन्येव क्रियाया. प्रतीति. । स्वात्मा हि क्रियायाः स्वरूपम्, क्रियावदात्मा वा ? यदि स्वरूपम्, कथं तस्यास्तत्र विरोध स्वरूपस्याविरोधकत्वात् ? अन्यथा सर्वभावाना स्वरूपे विरोधान्निस्स्वरूपत्वानुषङ्ग । विरोधस्य द्विष्टत्वाच्च न क्रियाया.

सन्निकर्ष हुए विना ही प्रत्यक्ष गोचर होता रहता है । एक विषय यहा सोचने का है कि जिस प्रकार घट पट वस्तु का स्वरूप पहिले अज्ञात रहता है और पीछे इन्द्रिय से सबद्ध होकर उसका ज्ञान पैदा होता है और वह ज्ञान उस घट पट आदि को ग्रहण करता है वैसे सुख आदिक पहिले अज्ञात रहते हों पीछे इन्द्रिय से सबद्ध होकर उनका ज्ञान पैदा होता हो और वह ज्ञान उन सुखादिको को ग्रहण करता हो ऐसा प्रतीति नही होता है, किन्तु पहिले ही इष्ट अनिष्ट विषयरूप अनुभव के अनन्तर मात्र जिसमे स्व का ही प्रकाशन हो रहा है ऐसा सुखादि सवेदन प्रकट होता है इसीसे स्पष्ट बात है कि सुख आदि के अनुभव होने मे कोई सन्निकर्ष की प्रक्रिया नही हुई है ।

यौग—अपने आप मे क्रिया का विरोध होने से उपर्युक्त कही हुई प्रतीति मिथ्या है क्या तीक्ष्ण तलवार भी अपने आपको काटने की क्रिया कर सकती है ? अथवा—खूब अभ्यस्त चतुर नट अपने ही कधे पर चढने की क्रिया कर सकता है ? यदि नही, तो इसी प्रकार जानने रूप क्रिया अपने आप मे नही होती अर्थात् ज्ञान अपने आपको नही जानता है ।

जैन—यह कथन गलत है, क्योकि अपने आपमे क्रिया होती हुई प्रतीति मे आती है । हम जैन आपसे यह पूछते है कि “स्वात्मनि क्रिया”—“अपने मे क्रिया” इस पद का क्या अर्थ है ? अपना आत्मा ही क्रिया का स्वरूप है, अथवा क्रियावान् आत्मा क्रिया का स्वरूप है ? मतलब—स्व शब्द का अर्थ आत्मा है कि आत्मीयार्थ है ? यदि क्रिया के अपने स्वरूप को स्वात्मा कहते हो तो ऐसे क्रिया के स्वरूप का अपने मे क्यो विरोध होगा । अपना स्वरूप अपने से विरोधी नही रहता है, यदि अपने स्वरूप से हो अपना विरोध होने लगे तो सभी विश्व के पदार्थ नि.स्वरूप—स्वरूप रहित हो जावेगे । तथा एक विशेष यह भी है कि विरोध तो दो वस्तुओ मे होता है, यहा पर क्रिया और

स्वात्मनि विरोधः । क्रियावदात्मा नस्या स्वात्मा इत्यप्यसङ्गतम्, क्रियावत्येव तस्या प्रतीतेस्तत्र तद्विरोधासिद्धे 'अन्यथा सर्वक्रियाणा निराश्रयत्व सकलद्रव्याणा चाऽक्रियत्व स्यात् । न चैवम्, कर्मस्थायास्तस्या कर्मणि कर्तृस्थायाश्च कर्तरि प्रतीयमानत्वात् । किञ्च, तत्रोत्पत्तिलक्षणा क्रिया विरुध्यते, परिस्पन्दात्मिका, घात्वर्थरूपा ज्ञप्तिरूपा वा ? यद्युत्पत्तिलक्षणा, सा विरुध्यताम् । न खलु 'ज्ञानमात्मानमुत्पादयति' इत्यभ्यनुजानीम स्वसामग्रीविशेषवशात्तदुत्पत्त्यभ्युपगमात् । नापि परिस्पन्दात्मिकासौ तत्र विरुध्यते, तस्या द्रव्यवृत्तित्वेन ज्ञाने सत्त्वस्यैवासम्भवात् । अथ घात्वर्थरूपा, सा न

उसका स्वरूप ये कोई दो पदार्थ नहीं है, क्रियावान् आत्मा ही क्रिया का स्वात्मा कहलाता है—ऐसा द्वितीय पक्ष लिया जाय तो भी बनता नहीं, क्योंकि क्रियावान् मे ही क्रिया की प्रतीति आती है, उसमे विरोध ही नहीं सकता, यदि क्रियावान् मे ही क्रिया का विरोध माना जाये तो क्रियाओ मे निराधारत्व होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, और सपूर्ण द्रव्यो मे नि क्रियत्व—क्रिया रहितत्व होने का दोष उपस्थित होगा, लेकिन सभी द्रव्य क्रिया रहित हो ऐसी प्रतीति नहीं आती है । आपको हम बताते हैं—जो क्रिया कर्म मे होती है वह कर्म मे प्रतीत होती है, जैसे—“देवदत्त ओदन पचति” देवदत्त चावल को पकाता है, यहा पर पकने रूप क्रिया चावल मे हो रही है, अत “ओदन” ऐसे कर्म मे द्वितीया विभक्ति जिसके लिये प्रयुक्त होती है उस वस्तु मे होने वाली क्रिया को कर्मस्था क्रिया कहते है, कर्त्ता मे होने वाली क्रिया कर्त्ता मे प्रतीत होती है, जैसे—“देवदत्तो ग्राम गच्छति” देवदत्त गाव को जाता है, इस वाक्य मे गमनरूप क्रिया देवदत्त मे हो रही है । अत “देवदत्त ” ऐसी कर्त्तृविभक्ति से कहे जाने वाली वस्तु मे जो क्रिया दिखाई देती है उसे कर्त्तृस्थ क्रिया कहते है । हम जैन आपसे पूछते हैं कि—अपने मे क्रिया का विरोध है ऐसा आप ज्ञान के विषय मे कह रहे है सो कौनसी क्रिया का ज्ञान मे विरोध होता है ? सो कहिये, उत्पत्तिरूप क्रिया का विरोध है कि परिस्पन्दरूप—हलन चलनरूप क्रिया का ज्ञान मे विरोध है ? या घातु के अर्थरूप क्रिया का अथवा जानने रूप क्रिया का विरोध है ? प्रथम पक्ष—उत्पत्तिरूप क्रिया का विरोध है ऐसा कहो तो विरोध होने दो हमे क्या आपत्ति है । क्योंकि हम जैन ऐसा नहीं मानते है कि ज्ञान अपने को उत्पन्न करता है, ज्ञान तो अपनी सामग्री विशेष से अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्म के क्षयोपशम या क्षय से उत्पन्न होता है ऐसा मानते है । परिस्पन्दरूप क्रिया का ज्ञान मे विरोध है ऐसा कहो तो कोई विपरीत बात नहीं, क्योंकि परिस्पन्दरूप क्रिया तो द्रव्य मे हुआ करती है, ऐसी क्रिया का तो ज्ञान मे सत्त्व ही नहीं

विरुद्धा 'भवति तिष्ठति' इत्यादिक्रियाणा क्रियावत्येव सर्वदोषलब्धेः । ज्ञप्तिरूपक्रियायास्तु विरोधो दूरो-
त्सारित एव; स्वरूपेण कस्यचिद्विरोधासिद्धेः, अन्यथा प्रदीपस्यापि स्वप्रकाशनविरोधरतद्धि स्वका-
रणकलापात्स्वपरप्रकाशात्मकमेवोपजायते प्रदीपवत् ।

ज्ञानक्रियाया. कर्मतया स्वात्मनि विरोधस्ततोऽन्यत्रैव कर्मत्वदर्शनादित्यप्यसमीक्षिताभिधानम्,
प्रदीपस्यापि स्वप्रकाशनविरोधानुषङ्गात् । यदि चैकत्र दृष्टो धर्म सर्वत्राभ्युपगम्यते, तर्हि घटे प्रभा-
स्वरोण्यादिधर्मानुपलब्धेः प्रदीपेप्यस्याभावप्रसङ्गः, रथ्यापुरुषे वाऽसर्वज्ञत्वदर्शान्महेश्वरेप्यसर्वज्ञत्वा-
नुषङ्गः । अत्र वस्तुवेचित्र्यसम्भवे ज्ञानेन किमपराद्ध येनात्रासौ नेष्यते ?

पाया जाता है, तीसरापक्ष—धातु के अर्थरूप क्रिया का विरोध कहो तो ठीक नहीं देखो-
भवति, गच्छति, निष्ठति आदि धातुरूप क्रिया तो क्रियावान् मे हमेशा ही उपलब्ध
होती है । चौथा विकल्प—ज्ञान में ज्ञप्ति जानने रूप क्रिया का विरोध है ऐसा कहना तो
दूर से ही हटा दिया समझना चाहिये । क्या कोई अपने स्वरूप से ही विरोध होता है ।
अर्थात् नहीं होता, यदि आप ज्ञान मे अपने को जाननेरूप क्रिया का विरोध मानते है
तो दीपक मे भी अपने को प्रकाशित करने का विरोध आने लगेगा, अतः निष्कर्ष यह
निकला कि ज्ञान अपनी कारण सामग्री से—ज्ञानावरण के क्षयोपशमादि से जब उत्पन्न
होता है तब वह अपने और पर को जाननेरूप क्रिया या शक्तिरूप ही उत्पन्न होता है ।
जैसे दीपक अपनी कारण सामग्री—तेल बत्ती आदि से उत्पन्न होता हुआ स्व पर को
प्रकाशित करने स्वरूप ही उत्पन्न होता है ।

यौग—ज्ञान क्रिया का कर्मरूप से अपने मे प्रतीत होने मे विरोध माना है,
क्योकि अपने से पृथक् ऐसे घट आदि मे ही कर्मरूप प्रतीति होती है ।

जैन—यह कथन विना सोचे किया है, यदि इस तरह कर्मरूप से प्रतीत नहीं
होने से ज्ञान मे अपने को जाननेरूप क्रिया का विरोध करोगे तो दीपक मे भी स्व को
प्रकाशित करने रूप क्रिया का विरोध आवेगा ।

आप यदि एक जगह पाये हुए स्वभाव को या धर्म को सब जगह लगाते है
अर्थात् छेदन आदि क्रिया का अपने आप मे होने का विरोध देखकर जानना आदि
क्रिया का भी अपने आप में होने का विरोध करते हो तब तो बड़ी आपत्ति आवेगी ।
देखो—घट मे कान्ति उष्णता आदि धर्म नहीं है, अतः दीपक मे भी उसका अभाव
मानना पडेगा, अथवा रथ्यापुरुष में असर्वज्ञपना देखकर महेश्वर को भी असर्वज्ञ मानना

किञ्च ज्ञानान्तरापेक्षया तत्र कर्मत्वविरोधः, स्वरूपापेक्षया वा ? प्रथमपक्ष-महेश्वरस्यासर्वज्ञ-त्वप्रसङ्गस्तज्ज्ञानेन तस्याऽवेद्यत्वात् । आत्मसमवेतान्तरज्ञानवेद्यत्वाभावे च ।

“स्वसमवेतान्तरज्ञानवेद्यमर्थज्ञानम्” [] इति ग्रन्थविरोधो मीमांसकमतप्रवेशश्च स्यात् । ज्ञानान्तरापेक्षया तस्य कर्मत्वाविरोधे च-स्वरूपापेक्षयाप्यविरोधोऽस्तु सहस्रकिरणवत्स्वपरी-द्योतनस्वभावत्वात्तस्य । कर्मत्ववच्च ज्ञानक्रियातोऽर्थान्तरस्यैव करणत्वदर्शनात्तस्यापि तत्र विरोधोऽस्तु विशेषाभावात् । तथा च ‘ज्ञानेनाहमर्थं जानामि’ इत्यत्र ज्ञानस्य करणतया प्रतीतिर्न स्यात् ।

पडेगा । तुम कहो कि घट मे भासुरपना आदि नही हो तो न होवे, किन्तु दीपक मे तो भासुरपना आदि स्वभाव पाये ही जाते है, क्योकि वस्तुओ मे भिन्न २ विचित्रता पायी जाती है, सो हम जैन भी यही बात कहते है, अर्थात् छेदन आदि क्रिया अपने आप में नही होती तो मत होने दो, ज्ञान मे तो जानने रूप क्रिया अपने आप मे होती है, ऐसा आपको मानना चाहिये, भला ज्ञान ने ऐसा क्या अपराध किया है जो उसमे स्वभाव-वैचित्र्य नही माना जावे ?

हम आपसे पूछते है कि ज्ञान मे जो कर्मत्वरूप विरोध है वह दूसरे ज्ञान के द्वारा जाना जाने की अपेक्षा से है, अथवा स्वरूप की अपेक्षा से है ? प्रथम पक्ष लेते हैं तो महेश्वर असर्वज्ञ हो जायगा, क्योकि महेश्वर के ज्ञान के द्वारा वह ज्ञान जाना नही जायगा ।

भावार्थ—यदि ज्ञान दूसरे ज्ञान के लिये भी कर्मत्वरूप नही होता है अर्थात् ज्ञान ज्ञान को जानता है इस प्रकार की द्वितीयाविभक्तिवाला (ज्ञान) ज्ञान दूसरे ज्ञान के लिये भी कर्मत्वरूप नही बनता है तब तो महेश्वर किसी भी हालत मे सर्वज्ञ नही बन पायेगा । क्योकि उसने हमारे ज्ञानो को जाना नही तब “सर्वं जाना-तीति सर्वज्ञ” इस प्रकार की निरुक्ति अर्थ वहा भी सिद्ध नही होता है । तथा ईश्वर के स्वयं के जो दो ज्ञान है उनमे से वह प्रथम ज्ञान से विश्व के पदार्थो को जानता है और द्वितीय ज्ञान से प्रथम ज्ञान को जानता है इस प्रकार जो माना गया है वह भी गलत ठहरता है । तथा जब महेश्वर का ज्ञान अपने मे समवेत हुए ज्ञान को नही जानता है ऐसा माना जायगा तब “स्वसमवेतान्तर ज्ञान वेद्य मर्थ ज्ञान” पदार्थो को जाननेवाले ज्ञानको स्वयं मे समवेत हुआ ज्ञान जानता है—स्वसमवेत ज्ञानद्वारा अर्थ ज्ञान वेद्य [जाननेयोग्य] होता है ऐसा योग के ग्रन्थ मे लिखा है उसमे विरोध आवेगा । इसी प्रकार योग यदि ज्ञान मे सर्वथा कर्मत्व का विरोध करते हैं तो उनका मीमांसक

विशेषणज्ञानस्य करणत्वाद्विशेष्यज्ञानस्य तत्फलत्वेन क्रियात्वात्तयोर्भेद एवेत्यपि श्रद्धामात्रम्, 'विशेषणज्ञानेन विशेष्यमह जानामि' इति प्रतीत्यभावात् । 'विशेषणज्ञानेन हि विशेषण विशेष्यज्ञानेन च विशेष्य जानामि' इत्यखिलजनोऽनुमन्यते ।

किञ्च, अनयोर्विषयो भिन्नः, अभिन्नो वा । प्रथमपक्षे—विशेषणविशेष्यज्ञानद्वयपरिकल्पना व्यर्थार्थभेदाभावाद्धारवाहिविज्ञानवत् । द्वितीयपक्षे चानयो प्रमाणफलव्यवस्थाविरोधोऽर्थान्तरविषय-

मत में प्रवेश हो जाने का प्रसङ्ग भी आता है । क्योंकि वे ही सर्वथा ज्ञान में कर्मत्व का विरोध मानते हैं । आप यौग तो ज्ञान दूसरे ज्ञान के लिये कर्मरूप हो जाता है ऐसा मानते हैं । इस प्रकार का परमत प्रवेश का प्रसंग हटाने के लिये आप यदि ज्ञानान्तर की अपेक्षा कर्मरूप बनता है ऐसा मानते हैं तब तो उस ज्ञान को स्वरूप की अपेक्षा से भी कर्मत्वरूप मानना चाहिये, क्योंकि ज्ञान तो सूर्य के समान स्व और पर को प्रकाशित करने वाले स्वभाव से युक्त है ।

आपको एक बात हम बताते हैं कि ज्ञान की क्रिया में जिस प्रकार कर्मत्व का विरोध दिखलायी देता है उसी प्रकार उसमें करणत्व का भी विरोध दिखलाई देता है । कर्मत्व और करणत्व दोनों रूपों की ज्ञान से भिन्नता तो समान ही है, कोई विशेषता नहीं है । इस प्रकार ज्ञान में करणपने का भी विरोध आने पर "ज्ञान के द्वारा मैं पदार्थ को जानता हूँ" इस तरह की ज्ञान की करणपने से प्रतीति नहीं हो सकेगी ।

यौग—विशेषणज्ञान करणरूप होता है और विशेष्य ज्ञान उसके फलस्वरूप होता है, इस प्रकार करणज्ञान और क्रियाज्ञान में भेद माना है, इसलिये कर्मत्व आदि की व्यवस्था बन जायगी ।

जैन—यह कथन भी श्रद्धामात्र है, देखिये—विशेषणज्ञान के द्वारा मैं विशेष्य को जानता हूँ ऐसी प्रतीति तो किसी को भी नहीं होती है । विशेषणज्ञान के द्वारा विशेषण को और विशेष्य के ज्ञान द्वारा विशेष्य को जानता हूँ ऐसी सभी जनों को प्रतीति होती है । अब यहाँ पर विचार करना होगा कि विशेषणज्ञान और विशेष्यज्ञान इन दोनों का विषय पृथक् है या अपृथक् है ? यदि दोनों ज्ञानों का विषय अपृथक् है तो विशेषणज्ञान और विशेष्यज्ञान ऐसी दो ज्ञानों की कल्पना करना व्यर्थ है । क्योंकि पदार्थ में तो कोई भेद नहीं है । जैसे कि धारावाहिक ज्ञान में विषय भेद नहीं रहता है । दूसरा विकल्प—अर्थात् दोनों ज्ञानों का विषय पृथक् है ऐसा स्वीकार किया जाय

त्वाद् घटपटज्ञानवत् । न खलु घटज्ञानस्य पटज्ञान फलम् । न चान्यत्र व्यापृते विशेषणज्ञाने ततोऽर्था-
न्तरे विशेष्ये परिच्छित्तिर्युक्ता । न हि खदिरादानुत्पत्तननिघ(प)तनव्यापारवति परशी ततोऽन्यत्र
धवादी छिदिक्रियोत्पद्यते इत्येतत्प्रातीतिकम् । लिङ्गज्ञानस्यानुमानज्ञाने व्यापारदर्शनादत्राप्यविरोध
इत्यप्यसम्भाव्य तद्वत्क्रमभावेनात्र ज्ञानद्वयानुपलब्धेः, एकमेव हि तयोर्ग्राहक ज्ञानमनुभूयते । न चात्र

तो प्रमाण और फल की व्यवस्था नहीं बनती, मतलब—विशेषण ज्ञान प्रमाण है और विशेष्यज्ञान उसका फल है ऐसा आपने माना है वह गलत होता है, क्योंकि यहा पर आपने विशेषणज्ञान और विशेष्यज्ञान का विषय पृथक् पृथक् मान लिया है । जिस प्रकार घट ज्ञान और पट ज्ञान का विषय न्यारा न्यारा घट और पट है वैसे ही विशेषण और विशेष्य ज्ञानो का विषय न्यारा न्यारा बताया है, घट ज्ञान का फल पट ज्ञान होता हो सो बात नहीं है, अन्य विषय को जानने में लगा हुआ ज्ञान उससे पृथक् विषय को जानता है ऐसा प्रतीत नहीं होता है, अर्थात् विशेषणत्व जो नीलत्व या दण्ड आदि हैं उसे जो ज्ञान जान रहा है वह विशेषणज्ञान उस नीलत्वादिविशेषण से पृथक् ऐसे कमल या दण्डवाले आदि विशेष्य को जानता हो ऐसा अनुभव में नहीं आता है । इसी बात को और भी उदाहरण देकर समझाते हैं कि खदिर आदि जाति के वृक्ष पर जो कुठार छेदन क्रिया करते समय उसका नीचे पडना, फिर ऊंचे उठना इत्यादिरूप व्यापार है तो वह व्यापार उस खदिर से भिन्न धव आदि जाति के वृक्ष पर नहीं होता है अर्थात् कुठार का प्रहार तो होवे खदिर वृक्ष पर और कट जाय धववृक्ष जैसे ऐसा नहीं होता उसी प्रकार विशेषण ज्ञान विशेषण को तो विषय कर रहा हो, और जानना होवे विशेष्य को सो ऐसा भी नहीं होता, अखिल जन तो यही मानता है कि मैं विशेषणज्ञान से विशेषण को और विशेष्यज्ञान से विशेष्य को जानता हूँ, इससे विपरीत मान्यता प्रतीति का अपलाप करना है ।

यौग—जिस प्रकार अनुमान में लिंग ज्ञान का व्यापार होता हुआ देखा गया है, उसी प्रकार इन ज्ञानों में भी हो जायगा, अर्थात्—हेतुरूप जो धूमादि है उसके ज्ञान के द्वारा अग्नि आदि का ज्ञान होता है कि नहीं ? यदि होता है तो उसी तरह से विशेषणज्ञान भी विशेष्य के जानने में प्रवृत्त हो जायेगा कोई विरोधवाली बात नहीं है ।

जैन—यह कथन असंभव है, जैसे हेतु और अनुमान ज्ञानों में क्रमभाव होने से दो ज्ञान उपलब्ध हो रहे हैं वैसे विशेषण और विशेष्य में क्रमभाव से दो ज्ञान

विषयभेदाज्ज्ञानभेदकल्पना, समानेन्द्रियग्राह्ये योग्यदेशावस्थितेर्धे घटपटादिवदेकस्यापि ज्ञानस्य व्यापाराविरोधात् । न च घटादावपि ज्ञानभेदः समानगुणाना युगपद्भावाभ्युपगमात् । क्रमभावे च प्रतीतिविरोधः सर्वज्ञाभावश्च । युगपद्भावाभ्युपगमे चानयोः सव्येतरगोविषाणवत्कार्यकारणभावाभावाः । विशेषणविशेष्यज्ञानयोः क्रमभावेप्याशुवृत्त्या यौगपद्याभिमानो यथोत्पलपत्रशतच्छेद इत्यप्यसङ्गतम्, निखिलभावाना क्षणिकत्वप्रसङ्गात्सर्वत्रैकत्वाध्यवसायस्याशुवृत्तिप्रवृत्तत्वात् । प्रत्यक्षप्रतिपन्नस्यास्य

प्रतीति नहीं होते किन्तु विशेषण और विशेष्य दोनों को ग्रहण करनेवाला एक ही ज्ञान अनुभव में आता है, विशेषण और विशेष्य इस प्रकार दो विषय होने से ज्ञान भी भिन्न २ होवे ऐसा नियम नहीं है, इसी को बताते हैं—समान—एक ही इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य एव अपने योग्य स्थान में स्थित ऐसे घट पट आदि पदार्थों को एक ही ज्ञान जानता है इसमें कोई विरोध नहीं है । अतः यह निश्चय होता है कि विषय भेद से ज्ञान में भी भेद नहीं होता है । यदि यौग कहे कि घट पट आदि में एक साथ प्रवृत्त होनेवाले ज्ञान में भी हम भेद ही मानते हैं अर्थात् एक स्थान पर अनेक पदार्थ रखे हैं उन पर आँख की नजर पड़ते ही सब का जानना एक ही ज्ञान के द्वारा हो जाता है ऐसा जो जैन ने कहा था वह गलत है, क्योंकि उन घटादिकों में प्रवृत्त हुए ज्ञानों में भेद ही है, सो यह बात असिद्ध है, क्योंकि इस तरह एक ही वस्तु में एक साथ अनेक समान गुण नहीं रह सकते, अतः आत्मा में भी एक साथ अनेक ज्ञान होना शक्य नहीं है । और यह सिद्धान्त तो आप यौग को भी इष्ट है, दूसरी तरह से विचार करे कि वे विशेषण विशेष्यज्ञान या घट पट आदि के ज्ञान क्रम से होते हैं ऐसा माने तो भी बनता नहीं—दोष आते हैं । प्रतीति का अपलाप भी होता है । क्योंकि विशेषण और विशेष्य आदि को क्रम से ज्ञान जानता है ऐसा प्रतीति नहीं होता, तथा एक ज्ञान से अनेक वस्तुओं को जानना नहीं मानते हो तो सर्वज्ञ का अभाव भी हो जावेगा, मतलब—पदार्थ है अनन्त, उनको ज्ञान क्रम से जानेगा तो उन पदार्थों का ज्ञान होगा ही नहीं और सपूर्ण वस्तुओं को जाने बिना सर्वज्ञ बनता नहीं ।

विशेषण ज्ञान और विशेष्यज्ञान को आप यदि एक साथ होना भी मान लेवे तो भी उन ज्ञानों में कार्य कारण भाव तो बन नहीं सकता, क्योंकि एक साथ होनेवाले पदार्थों में कारण यह है और यह कार्य है ऐसी व्यवस्था होती नहीं जैसे—कि गाय के दाये और बाये सींग में कार्यकारणभाव इस दाये सींग से यह बायाँ सींग उत्पन्न हुआ है ऐसी व्यवस्था—नहीं होती है ।

दृष्टान्तमात्रेण निषेधविरोधाच्च, अन्यथा शुक्ले शङ्खे पीतविभ्रमदर्शनात्सुवर्णोपि तद्विभ्रमः स्यात् । मूर्त्तस्य सूच्यग्रस्योत्तरार्धस्थितमुत्पलपत्रशत युगपत्प्राप्तुमशक्तेः क्रमच्छेदेप्याशुवृत्त्या यौगपद्याभिमानो युक्तः, पु सस्तु स्वावरणक्षयोपशमापेक्षस्य युगपत्स्वपरप्रकाशनस्वभावस्य समग्रेन्द्रियस्याप्राप्तार्थग्राहिणः स्वयममूर्त्तस्य युगपत्स्वविषयग्रहणे विरोधाभावात् किञ्च युगपज्ज्ञानोत्पत्तिः ?

यौग—विशेषणज्ञान और विशेष्यज्ञान होते तो क्रम से हैं किन्तु वे आशु-शीघ्र होते हैं अतः हमको ऐसा लगता है कि एक साथ दोनो ज्ञान हो गये, जैसे—कमल के सौ पत्तों को किसी पौनी छुरी से काटने पर मालूम पड़ता है कि एक साथ सब पत्ते कट गये ।

जैन—यह उदाहरण असंगत है, इस तरह से कहोगे तो संपूर्ण पदार्थ क्षणिक सिद्ध हो जावेगे क्योंकि सभी घट पट आदि पदार्थों में आशुवृत्ति के कारण एकत्व अध्यवसाय-ज्ञान होने लगेगा, अर्थात् ये सब पदार्थ एकरूप ही हैं ऐसा मानना पड़ेगा ।

प्रत्यक्ष के द्वारा जिसका प्रतिभास हो चुका है उसका दृष्टान्तमात्र से निषेध नहीं कर सकते, अर्थात् विशेषणज्ञान और विशेष्यज्ञान एक साथ होते हुए प्रत्यक्ष में प्रतीत हो रहे हैं तो भी कमलपत्रों के छेद का उदाहरण देकर उनको क्रम से होना सिद्ध करे—अक्रम का निषेध करे तो ठीक नहीं है । अन्यथा सफेद शंख में पीलेपन का भ्रमज्ञान होता हुआ देखकर वास्तविक पीले रंगवाले सुवर्ण में भी पीले रंग का निषेध करना पड़ेगा, बात तो यह है कि मूर्त्तिमान ऐसी सुई आदि का अग्रभाग ऊपर नीचेरूप से रखे उन कमल पत्रों को एक साथ काट नहीं सकता है, अतः उनमें तो मात्र एक साथ काटने का भान ही होता है, वास्तविक तो एक साथ न कटकर वे पत्ते क्रम से ही कटते हैं । किन्तु आत्मा के ज्ञान के विषय में ऐसी बात नहीं बनती आत्मा तो अपने ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को प्राप्त हुआ है अतः उसमें एक साथ अपना और अन्य वस्तुओं को जानने का स्वभाव है, इसके संपूर्ण इन्द्रिया भी मौजूद हैं, अप्राप्त पदार्थ को ग्रहण करने वाला है—अर्थात् बिना सन्निकर्ष के ही पदार्थ को जानने के स्वभाववाला है, ऐसा स्वयं अमूर्त्त आत्मा यदि एक साथ अनेक विषयों को ग्रहण करले तो इसमें कोई विरोध का प्रसंग नहीं आता है अतः विशेषण आदि ज्ञान उसे एक साथ क्यों नहीं हो सकते, अवश्य हो सकते हैं ।

यौग—मन तो सुई के अग्रभाग के समान मूर्त्त है, तथा चक्षु आदि इन्द्रिया कमलपत्रों के समान एक दूसरे का परिहार करके स्थित हैं, अतः वह मन उन सब

न च मनोपि सूच्यग्रवन्मूर्त्तमिन्द्रियाणि तृत्पलपत्रवत्परस्परपरिहारस्थितानि युगपत्प्राप्तु न समर्थमिति वाच्यम्; तथाभूतस्यास्याऽसिद्धेः । युगपज्ज्ञानोत्पत्तिविभ्रमात्तत्सिद्धौ परस्पराश्रय तद्विभ्रमसिद्धौ हि मनःसिद्धिः, ततस्तद्विभ्रमसिद्धिरिति । 'चक्षुरादिकं क्रमवत्कारणापेक्ष कारणान्तरसाकल्ये सत्यप्यनुत्पाद्योत्पादकत्वाद्वासीकर्त्तर्यादिवत्' इत्यनुमानात्तत्सिद्धिरित्यपि मनोरथमात्रम्; भवदभ्यु-

इन्द्रियो को एक साथ प्राप्त नहीं हो सकता है, बस, इसी कारण एक साथ विशेषण आदि के ज्ञान न होकर वे शीघ्रता से होते हैं । और मांलूम पडता है कि ये एक साथ हुए हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इस प्रकार के लक्षणवाले मन की असिद्धि है । यदि आप एक साथ ज्ञानो की उत्पत्ति के भ्रम से मन की सिद्धि करना चाहते हैं अर्थात् "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्ग" एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होना यही मन को सिद्ध करने वाला हेतु है ऐसा मानते हो तो अन्योन्याश्रय दोष आता है इसीको बताते हैं—जब एक साथ ज्ञानो के उत्पन्न होने का भ्रम सिद्ध होवे तब मन की सिद्धि होगी और मन के सिद्ध होने पर एक साथ ज्ञान उत्पन्न होने का भ्रम सिद्ध होवे । इस प्रकार के दोष से किसी की भी सिद्धि नहीं होती है ।

यौग—हम अनुमान के द्वारा मन की सिद्धि करते हैं—चक्षु आदि इन्द्रियों किसी क्रमवान् कारण की अपेक्षा रखती है, क्योंकि अन्य प्रकाश आदि कारणो की पूर्णता होते हुए भी वे इन्द्रिया उत्पन्न करने योग्य को (ज्ञानो को) उत्पन्न नहीं करती है । जैसे कैंची या वसूला किसी एक क्रमिक कारण की (उत्थानपतनक्रिया-परिणत हाथो की) अपेक्षा रखते हैं इसी वजह से वे एक साथ काटने का काम नहीं कर पाते हैं ।

जैन—यह कथन भी मनोरथमात्र है, देखो ऐसा मानने से आपके ही मन के साथ व्यभिचार आता है । मन तो कारणान्तरों की साकल्यता होने पर क्रमवान् किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता है, अत यह हेतु "कारणान्तरसाकल्ये सति अनुत्पाद्य उत्पादकत्वात्" अनैकान्तिक होता है । यदि मन को भी क्रमवान् कारण की अपेक्षा रखनेवाला मानोगे तब तो अनवस्था दोष आवेगा ।

एक बात यहा विचार करने की है—कि आपने अनुमान मे हेतु दिया था "कारणान्तरसाकल्ये सत्यपि अनुत्पाद्य उत्पादकत्वात्" सो इसमें अनुत्पाद्य उत्पादकत्व

प्रगतेन मनसैवानेकान्तात् । न हि तत्साकल्ये तत् तथाभूतमपि क्रमवत्कारणान्तरापेक्षमनवस्था-
प्रसङ्गात् । किञ्च, अनुत्पाद्योत्पादकत्व युगपत्, क्रमेण वा ? युगपच्चेद्विरुद्धो हेतुः, तथोत्पादकत्वस्या-
क्रमिकारणाधीनत्वात् प्रसिद्धसहभाव्यनेककार्यकारिसामग्रीवत् । क्रमेण चेदसिद्धः, कर्कटीभक्षणादौ
युगपद् रूपविज्ञानोत्पादकत्वप्रतीतेः । आशुवृत्त्या विभ्रमकल्पनाया तूक्तम् । तन्न मनसः सिद्धिः ।

का मतलब क्या है ? उत्पन्न न कर पीछे एक साथ उत्पन्न करना ऐसा है अथवा क्रम से उत्पन्न करना ऐसा है ? यदि एक साथ उत्पन्न करना ऐसा अनुत्पाद्य उत्पादकत्व का अर्थ है तो हेतु विरुद्धदोष युक्त हो जायेगा, अर्थात् क्रमवत्कारण को वह सिद्ध न कर अक्रमवत्कारण को ही सिद्ध करेगा । जैसे "नित्य शब्द कृतकत्वात्" शब्द नित्य है क्योंकि वह किया हुआ होता है, ऐसा अनुमान में दिया गया हेतु जैसे शब्द में नित्यत्व सिद्ध न कर उल्टे अनित्यत्व की सिद्धि कर देता है वैसे ही चक्षु आदि इन्द्रियो के द्वारा क्रमिक ज्ञान उत्पन्न कराने के लिये अनुत्पाद्य उत्पादकत्व हेतु का अर्थ युगपत् ऐसा करते हैं तो उस हेतु द्वारा साध्य से विपरीत जो अक्रमता है वही सिद्ध होती है, क्योंकि जो उस प्रकार का एक साथ उत्पादकपना तो अक्रमिक कारणों के ही आधीन होता है, जैसे प्रसिद्ध सहभावी अनेक कार्यों को करनेवाली सामग्री हुआ करती है, मतलब—पृथिवी, हवा, जल आदि सामग्री जिनके साथ है ऐसे अनेक बीज अनेक अकुरों को एक साथ ही पैदा कर देते हैं । यहाँ पर अनेक अकुररूप कार्य अक्रमिक पृथ्वी जल आदि के आधीन है । यदि दूसरा पक्ष लेते हैं—कि अनुत्पाद्य उत्पादकत्व क्रम से है—तो यह हेतु असिद्ध दोष युक्त होता है, कैसे ? सो बताते हैं—ककड़ी या कचौड़ी आदि के भक्षण करते समय चक्षु आदि इन्द्रिया रूप आदि के ज्ञानों को एक साथ पैदा करती हुई प्रतीत होती है, तुम कहो कि वहाँ अतिशीघ्रता से रूप आदि का ज्ञान होता है, अतः मालूम पड़ता है कि एक साथ सब ज्ञान पैदा हुए, सो इस विषय में अभी २ दूषण दिया था कि इस तरह से आशुवृत्ति के कारण ज्ञानों में एक साथ होने का भ्रम सिद्ध करते हैं तो अन्योन्याश्रय दोष होता है, अतः आपके किसी भी हेतु से मन की सिद्धि नहीं हो पाती है ।

जैसे तैसे मान भी लेवे कि आपके मत में कोई मन नामकी वस्तु है तो उस मन का आत्मा के साथ सयोग होना तो नितरा असिद्ध है क्योंकि आपके यहाँ आत्मा और मन दोनों को ही निरश बताया है, सो उन निरशस्वरूप आत्मा और मन का एक देश से सयोग होना स्वीकार करते हैं तो उन दोनों में साशपना आ जाता है,

सिद्धी वा न संयोगः, निरंशयोरेकदेगेन सयोगे सांशत्वम् । सर्वात्मनैकत्वम् उभयव्याघातकारि स्यात् । 'यत्र संयुक्तं मनस्तत्र समवेते ज्ञानमुत्पादयति' इत्यभ्युपगमे चाखिलात्मसमवेतसुखादौ ज्ञान जनयेत् तेषा नित्यव्यापित्वेन मनसा, सयोगोऽविशेषात् । तथा च प्रतिप्राणि भिन्नं मनोन्तर व्यर्थम् । यस्य यन्मनस्तत्तत्समवायिनि ज्ञानहेतुरित्यप्यसारम्, प्रतिनियतात्मसम्बन्धित्वस्यैवान्नासिद्धेः । तद्धि तत्कार्यत्वात्, तदुपक्रियमाणत्वात्, तत्सयोगात्, तददृष्टप्रेरितत्वात्, तदात्मप्रेरितत्वाद्वा स्यात् ? न तावत्तत्कार्यत्वेन तत्सम्बन्धिता; नित्ये तदयोगात् । नाप्युपक्रियमाणत्वेन, अनाधेयाप्रहेयातिशये

यदि उस आत्मा का और मन का संयोग सर्वदेश से मानते हो तो दोनों एक मेक होने से दोनों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, एक ही कोई बचता है, या तो आत्मा सिद्ध होगा या मन । आत्मा और मन ऐसे दो पदार्थ स्वतन्त्ररूप से सिद्ध नहीं हो सकेंगे ।

यौग—जिस आत्मा में मन संयुक्त हुआ है उसी आत्मा में समवेतरूप से रहे हुए सुखादिकों में वह मन ज्ञान को पैदा करा देता है, इस तरह आत्मा और मन दोनों की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है ।

जैन—ऐसा मानने पर भी यह आपत्ति आती है कि ससार में जितने भी जीव हैं उन सबके सुख आदि का वह एक ही मन सब को ज्ञान पैदा कर देगा, क्योंकि सभी आत्माएँ नित्य और व्यापक हैं । अतः उनका मन के साथ संयोग तो समानरूप से है ही, इस प्रकार एक ही मन से सारी आत्माओं में सुख दुःख आदि के ज्ञान को पैदा करा देने के कारण प्रत्येक प्राणियों के भिन्न २ मन मानने की जरूरत नहीं रहेगी ।

यौग—जिस आत्मा का जो मन होता है वही मन उस आत्मा में समवेत हुए सुखादिक का ज्ञान उसे उत्पन्न कराता है, सब को नहीं अतः भिन्न २ मन की आवश्यकता होगी ही ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्येक आत्मा के साथ "यह इसका मन है" इस प्रकार का मन का संबन्ध होना ही असिद्ध है । यदि प्रतिनियत आत्मा के साथ मन का संबन्ध मानते हो तो क्यों मानते हो ? क्या वह उसी एक निश्चित आत्मा का कार्यरूप है इसलिये मानते हो, या प्रतिनियत आत्मा से वह उपकृत है इसलिये मानते हो, या प्रतिनियत आत्मा में उस विवक्षित मन का संयोग है, या एक ही निश्चित आत्मा के अदृष्ट से वह प्रेरित होता है, अथवा स्वयं उस आत्मा से वह प्रेरित होता है

तस्याप्यसम्भवात् । नापि सयोगात्, सर्वत्राम्याविशेषात् । नापि 'यददृष्टप्रेरितं प्रवर्तते निवर्तते वा तत्तस्य' इति वाच्यम्; अचेतनस्यादृष्टा स्यानिष्टदेशादिपरिहारेणैष्टदेशादौ तत्प्रेरणासम्भवात्; अन्य-
 थेश्वरकल्पनावैफल्यम् । न चेश्वरस्यादृष्टप्रेरणे व्यापारात्साफल्यम्, मनस एवासौ प्रेरकः कल्प्यताम् कि
 परम्परया ? तस्य सर्वसाधारणत्वाच्चातो न तन्नियमः । चादृष्टस्यापि प्रतिनियमः सिद्ध ; तस्यात्मनो-

इसलिये मानते हो ? पहिला पक्ष—यदि वह प्रतिनियत आत्मा का कार्य है इसलिये इस आत्मा का यह मन है ऐसा सबध सिद्ध होता है इस तरह कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि मन तो नित्य एव परमाणुरूप है, अतः वह आत्माका कार्यरूप नहीं हो सकता, क्योंकि नित्य वस्तु किसी का कार्य नहीं होती है । दूसरा हेतु—प्रतिनियत आत्मा के द्वारा उपक्रियमाण होने से यह मन इस आत्माका है इस प्रकार का सबध बनता है सो भी बात नहीं, क्योंकि मन तो अनाधेय और अप्रहेय है—अर्थात् न उसका आरोप कर सकते हैं और न उसका स्फोट कर सकते हैं, ऐसे अतिशयशाली मन का उपकार आत्मा के द्वारा होना शक्य नहीं है, तीसरा विकल्प—प्रतिनियत आत्मा में सयोग होने से मन का सबध प्रतिनियत आत्मा से बनता है, सो भी बात ठीक नहीं, क्योंकि सर्वत्र आत्माओं में उसका समानरूप से सबध रहता है । अतः यह इसी का मन है इस प्रकार कह नहीं सकते, जिसके अदृष्ट से वह मन इष्ट में प्रवर्तित होता है और अनिष्ट से निवृत्त होता है वह उस आत्मा का मन कहलाता है सो ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अदृष्ट तो अचेतन है, वह अचेतन अदृष्ट अनिष्ट देश आदि का परिहार कर इष्ट ही वस्तु या देशादि में मन को प्रेरित करता हो सो बात शक्य नहीं है, अर्थात् अचेतन अदृष्ट में ऐसी शक्ति सम्भव नहीं है । यदि अचेतन भाग्य ही ऐसा कार्य करता तो ईश्वर की कल्पना क्यों करते हो ।

यौग—ईश्वर तो अदृष्ट को प्रेरित करता है और पुनः अदृष्ट मन को प्रेरणा करने का काम करता है, अतः ईश्वर को मानना जरूरी है ।

जैन—यह बात ठीक नहीं, इससे तो मन को ही ईश्वर-प्रेरित करता है, ऐसा मानना श्रेयस्कर होगा, क्यों बेकार ही परंपरा लगाते हो कि महेश्वर के द्वारा पहिले अदृष्ट प्रेरणा पाता है पुनश्च उस अदृष्ट से मन प्रेरणा पाता है । एक बात और भी बताते हैं कि अदृष्ट तो सर्व साधारण कारण है, कोई विशेष कारण तो है नहीं, अतः उस अदृष्ट से आत्मा के साथ मन का नियम नहीं बनता है, कि यह मन इसी आत्मा

ऽत्यन्तभेदात् समवायस्यापि सर्वत्राविशेषात् । 'येनात्मना यन्मन' प्रेर्यते तत्तस्य' इत्ययुक्तम् अनुपलब्धस्य प्रेरणासम्भवात् ।

किञ्च, ईश्वरस्यापि स्वसविदितज्ञानानभ्युपगमे 'सद्सद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनोऽनेकत्वा-
त्पञ्चागुलवत्' इत्यत्र पक्षीकृतैकदेशेन व्यभिचारः—तज्ज्ञानान्यसदसद्वर्गयोरनेकत्वाविशेषेप्येकज्ञानाल-
म्बनत्वाभावादेकशाखाप्रभवत्वानुमानवत् । स्वसविदितत्वाभ्युपगमे चास्य अनेनैव प्रमेयत्वहेतोर्व्यभिचार
इत्युक्तम् । 'अस्मदादिज्ञानापेक्षया ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्व साध्यते' इत्यत्राप्युक्तम् ।

का है । खुद अदृष्ट का नियम बन नहीं पाता कि यह अदृष्ट इसी आत्मा का है । अदृष्ट तो आत्मा से अत्यन्त भिन्न है—पृथक् है । समवाय से सबध करना चाहो तो वह भी सर्वत्र समान ही है ।

यौग — जिस आत्मा के द्वारा जो मन प्रेरित होता है वह उसका कहलाता है ।

जैन—यह वाक्य अयुक्त है, क्योंकि जिसकी उपलब्धि ही नहीं होती उस मन को प्रेरित करना शक्य नहीं है । आप यौग ने ईश्वर के भी स्वसविदित ज्ञान माना नहीं, अतः आपके द्वारा कहे हुए अनुमान में दोष आता है, सद्-असद्वर्ग अर्थात् सद्वर्ग तो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय का समूहरूप है और असद्वर्ग प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यताभाव इनरूप है—सो ये दोनों ही वर्ग किसी एक ही ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं, क्योंकि ये अनेक रूप हैं, जैसे हाथ की पाचो अगुलिया अनेक होने से एक ज्ञान की अवलंबन स्वरूप है । अब इस अनुमान में सद्वर्ग और असद्वर्ग को पक्ष बनाया है, उस पक्ष का एक भाग जो गुणो में अन्तर्भूत विज्ञान है उसके साथ इस अनेकत्व हेतु का व्यभिचार होता है । कैसे—? ऐसा बताते हैं—ईश्वर का ज्ञान और अन्य सद् असद् वर्ग ये अनेकरूप तो हैं किन्तु एक ज्ञान के अवलम्बन—एक ज्ञान के द्वारा जानने योग्य नहीं है, क्योंकि ये सब एक ज्ञान से जाने जायेंगे, तो ज्ञान स्वसविदित बन जायगा, जो आपको इष्ट नहीं है, इस प्रकार आपका सद्-असद् वर्ग पक्षवाला उपर्युक्त अनुमान गलत ठहरता है, जैसे एक शाखाप्रभवत्व हेतुवाला अनुमान गलत होता है । अर्थात् किसी ने ऐसा अनुमानवाक्य प्रयुक्त किया कि ये सब फल पके हैं क्योंकि एक ही शाखा से उत्पन्न हुए हैं, सो ऐसा एक शाखाप्रभवत्वहेतु व्यभिचारित इसलिये हो जाता है कि एक ही शाखा में लगे-होने पर भी कुछ फल तो पके रहते हैं और कुछ फल कच्चे रहते हैं, इसलिये जैसे यह अनुमान सदोष कहलाता

किञ्चाद्ये ज्ञाने सति, असति वा द्वितीयज्ञानमुत्पद्यते ? सति चेत्—युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिविरोधः । असति चेत्, कस्य तद्ग्राहकम् ? असतो ग्रहणे द्विचन्द्रादिज्ञानवदस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः ।

किञ्च, अस्मदादीना तज्ज्ञानान्तर प्रत्यक्षम्, अप्रत्यक्ष वा । यदि प्रत्यक्षम्—स्वतः, ज्ञानान्तराद्वा ? स्वतश्चेत्, प्रथममप्यर्थज्ञान स्वतः प्रत्यक्षमस्तु । ज्ञानान्तरात्प्रत्यक्षत्वे तदपि ज्ञानान्तर ज्ञानान्तरात्प्रत्यक्षमित्यनवस्था । अप्रत्यक्ष चेत् कथं तेनाद्यज्ञानग्रहणम् ? स्वयमप्रत्यक्षेण ज्ञानान्तरेणात्मा-

है वैसे ही जो अनेक हैं वे एक ज्ञान से जाने जाते हैं ऐसा अनेकत्व हेतु भी ईश्वर ज्ञान और सद असद् वर्ग के साथ अनेकान्तिक हो जाता है । वे अनेक होकर भी एक ज्ञान से तो जाने नहीं जाते हैं । इस व्यभिचार को दूर करने के लिये यदि यौग ईश्वर ज्ञान को स्वसविदित मान लेते हैं तो ईश्वर के इस गुणरूपज्ञान से ही प्रमेयत्व हेतु व्यभिचरित हो जाता है, इस बात को हम पहिले ही अच्छी तरह से कह आये हैं । भावार्थ—पहिले यौग ने अनुमान प्रमाण उपस्थित किया था कि ज्ञान अन्यज्ञान से ही जाना जाता है, क्योंकि वह प्रमेय है जैसे कि घट पट आदि पदार्थ, इस अनुमान से सभी ज्ञानों को स्वय को नहीं जाननेवाले सिद्ध किया था, अब यहाँ पर ईश्वर के ज्ञान को स्वय को जाननेवाला मान रहे सो प्रमेयत्व हेतु गलत ठहरा, यदि हम जैसे अल्पज्ञानी के ज्ञानों को ज्ञानान्तर वेद्य मानते हैं तो इस विषय पर भी विवेचन हो चुका है, अर्थात् हम जैन ने यह सिद्ध किया है कि ज्ञान चाहे ईश्वर का हो चाहे सामान्य व्यक्ति का हो उसमें स्वभाव तो समानरूप से स्व और पर को जानने का ही है, (विषय ग्रहण करने की शक्ति में भेद हो सकता है किन्तु स्वभाव तो समान ही रहेगा ।

अच्छा अब इस बात को बतावे कि पहिला ज्ञान रहते हुए दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है ? अथवा वह प्रथम ज्ञान समाप्त होने पर दूसरा ज्ञान आता है ? प्रथम ज्ञान के रहते हुए ही दूसरा ज्ञान आता है ऐसा कहो तो एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते ऐसा आपका मत विरोध को प्राप्त होगा, दूसरा विकल्प माने कि पहिला ज्ञान समाप्त होने पर द्वितीयज्ञान होता है सो भी गलत है, जब पहिला ज्ञान समाप्त हो गया तब दूसरा ज्ञान किसको ग्रहण करेगा ? यदि असत् को भी ग्रहण करेगा तो वह ज्ञान द्विचन्द्र आदि को ग्रहण करनेवाले ज्ञानों के समान ही भ्रान्त कहलावेगा ।

यह भी सोचना है कि प्रथम ज्ञान को जाननेवाला दूसरा ज्ञान है वह हम जैसे सामान्य व्यक्तियों के प्रत्यक्ष का विषय होता है अथवा नहीं होता ? प्रत्यक्ष होता

न्तरज्ञानेनेवास्य ग्रहणविरोधात् । ननु ज्ञानस्य स्वविषये गृहीतिजनकत्वं ग्राहकत्वम्, तच्च ज्ञानान्तरे-
णागृहीतस्यापीन्द्रियादिवद्युक्तमित्यपि मनोरथमात्रम्; अर्थज्ञानस्यापि ज्ञानान्तरेणागृहीतस्यैवार्थ-
ग्राहकत्वानुषङ्गात् । तथा च ज्ञानज्ञानपरिकल्पनावैयर्थ्यं मीमांसकमतानुषङ्गश्च ।

लिङ्गशब्दसादृश्याना चागृहीताना स्वविषये विज्ञानजनकत्वप्रसङ्गात्तद्विषयविज्ञानान्वेषणा-
नर्थक्यम् । 'उभयथोपलम्भाददोष' इत्यभ्युपगमेपि किञ्चित्लिङ्गादिकमज्ञातमेव चक्षुरादिकं तु ज्ञात-

है ऐसा कहो तो वह स्वतः प्रत्यक्ष होता है या अन्य किसी ज्ञान से प्रत्यक्ष होता है ?
यदि स्वतः होता है ऐसा कहो तो वह पहिला पदार्थ को जाननेवाला ज्ञान भी स्वतः
प्रत्यक्ष अपने आपको जाननेवाला होवे क्या आपत्ति है, यदि उस प्रथम ज्ञान को जानने
वाला द्वितीयज्ञान भी अन्य ज्ञान से प्रत्यक्ष होता है, तब तो अनवस्थादोष साक्षात्
दिखाई देता है । आप यौग यदि उस दूसरे ज्ञान को अप्रत्यक्ष रहना ही स्वीकार करते
है तो उस अप्रत्यक्ष ज्ञान से पहिला ज्ञान कैसे गृहीत हो सकेगा ? देखिये—जो ज्ञान
स्वयं अप्रत्यक्ष है वह तो अन्य किसी पुरुष के ज्ञान के समान है उससे इस प्रत्यक्ष ज्ञान
का जानना हो नहीं सकता ।

यौग — ज्ञान का ग्राहकपना इतना ही है कि वह अपने विषय में गृहीति को
पैदा करता है और ऐसा कार्य तो उस ज्ञान को अन्य ज्ञान से नहीं जानने पर भी हो
सकता है, जैसे कि इन्द्रियादि अगृहीत रहकर ही गृहीति को पैदा कर देती है, मतलब
यह है कि पदार्थ को जाननेवाले पहिले ज्ञान को जानना इतना ही दूसरे ज्ञान का काम
है, इस कार्य को वह द्वितीय ज्ञान कर ही लेता है, भले वह अन्यज्ञान से नहीं जाना
गया हो या स्वयं को जाननेवाला न होवे, इस विषय को समझने के लिये इन्द्रियो का
दृष्टान्त फिट बैठता है कि जैसे चक्षु आदि इन्द्रिया स्वयं को नहीं जानती हुई भी रूपा-
दिको को जानती है ।

जैन—यह कथन गलत है—क्योकि इस प्रकार मानने पर तो पदार्थ को जानने
वाला प्रथमज्ञान भी अन्यज्ञान से नहीं जाना हुआ रहकर ही पदार्थ को जानलेगा ऐसा
भी कोई कह सकता है । ज्ञान का स्वयं को जानना तो जरूरी नहीं रहा । इस तरह तो
ज्ञान को जानने के लिये अन्यज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ ही है । तथा—आप यौग—
नैयायिक वैशेषिको का मीमांसक मत में प्रवेश भी हो जाता है । क्योकि मीमांसक ज्ञान
को जानने के लिये अन्यज्ञान की कल्पना नहीं करते हैं । ज्ञान स्वयं अगृहीत रहकर ही

मेव स्वविषये प्रमितिमुत्पादयेत्त एव । अथ चक्षुरादिकमेवाज्ञात स्वविषये प्रमितिनिमित्तम्, न लिङ्गादिकं तत्तु ज्ञातमेव नान्यथाऽतो नोभयत्रोभयथाप्रसङ्गः प्रतीतिविरोधात्, नन्वेव यथा अर्थज्ञान ज्ञातमर्थं ज्ञप्तिनिमित्तम्, तथा ज्ञानज्ञानमपि ज्ञानेऽस्तु, तत्राप्युभयथापरिकल्पने प्रतीतिविरोधाविशेषात् । यथैव हि—'विधादापन्नं चक्षुराद्यज्ञातमेवार्थं ज्ञप्तिनिमित्तं तत्त्वादस्मच्चक्षुरादिवत् । लिङ्गादिकं तु

अपने विषय में ज्ञान पैदा करता है, ऐसा मानने पर तो लिङ्गज्ञान (—अनुमानज्ञान) शब्द अर्थात् आगमको विषय करनेवाला आगमप्रमाण, सादृश्य को विषय करनेवाला उपमाप्रमाण, ये तीनों प्रमाणज्ञान भी स्वयं किसी से नहीं जाने हुए रहकर ही अपने विषय जो अनुमेय, शब्द और सादृश्य हैं उनमें ज्ञान को उत्पन्न करेंगे । फिर उन लिङ्ग अर्थात् हेतु आदि की जानकारी प्राप्त करना बेकार ही है ।

यौग—ज्ञान के जनक दोनों प्रकार से उपलब्ध होते हैं अर्थात् कोई ज्ञान के कारण स्वयं अज्ञात रहकर ज्ञान को पैदा करते हैं और कोई कारण ज्ञात होकर ज्ञान को पैदा करते हैं । अतः कोई दोष नहीं है ।

जैन—ऐसा स्वीकार करने पर तो हम कह सकते हैं कि कुछ लिङ्ग आदि कारण तो अज्ञात रहकर ही अपने विषय जो अनुमेयादि हैं उनमें प्रमिति (—जानकारी) को पैदा करते हैं और कुछ चक्षु आदि कारण ज्ञात रहकर अपने रूपादि विषयों में ज्ञान को पैदा करते हैं । क्योंकि उभयथा—दोनों प्रकार से ज्ञात और अज्ञात प्रकार से प्रमिति पैदा होती है । ऐसा आपका कहना है ।

यौग—देखिये । आप विपरीत प्रकार से कह रहे हैं, दोनों प्रकार से ज्ञान होता है, किन्तु चक्षु आदि तो स्वयं अज्ञात रहकर अपने विषय में प्रमिति पैदा करते हैं और लिङ्ग आदि कारण तो ऐसे हैं कि वे अज्ञात रहकर प्रमिति को पैदा नहीं कर सकते हैं । अतः लिङ्गादि और चक्षु आदि दोनों ही कारणों में दोनों ज्ञात और अज्ञात प्रकार से प्रमिति पैदा करने रूप प्रसंग आ ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा माने तो साक्षात् प्रतीति में विरोध आता है । अर्थात् इस तरह से प्रतीति नहीं होता है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो जिस प्रकार पदार्थों को जानने वाला ज्ञान, ज्ञात होकर ही पदार्थों में प्रमिति को पैदा करता है उसी प्रकार उस पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान को जाननेवाला ज्ञान भी ज्ञात रहकर ही उस प्रथमज्ञान को जान सकेगा । वहाँ उन ज्ञानों के विषय में भी दोनों अज्ञात और ज्ञात की कल्पना करने में प्रतीति का

ज्ञातमेव क्वचिज्ज्ञप्तिनिमित्तं तत्त्वादुभयवादिप्रमिद्धधूमादिवत्' इत्यनुमानप्रतीत्यात्रोभयथा कल्पने विरोधः । तथा 'ज्ञानज्ञान' ज्ञातमेव स्वविषये ज्ञप्तिनिमित्तं ज्ञानत्वादर्थज्ञानवत्' इत्यत्रापि सर्वथा विशेषाभावात् । यदि चाप्रत्यक्षेणाप्यनेनार्थज्ञानप्रत्यक्षता; तर्हीश्वरज्ञानेनात्मनोऽप्रत्यक्षेणाशेषविषयेण प्राणिमात्रस्याशेषार्थसाक्षात्करणं भवेत्, तथा चेश्वरेतरविभागाभावः । स्वज्ञानगृहीतमात्मनोऽध्यक्ष-मित्यप्यसङ्गतम्, स्वसविदितत्वाभावे स्वज्ञानत्वासिद्धे । 'स्वस्मिन्समवेत स्वज्ञानम्' इत्यपि वार्ताम्;

अपलाप होता है, मतलब—अर्थज्ञान तो ज्ञात रहकर प्रमिति को पैदा करे और उस ज्ञानका ज्ञान तो अज्ञात रहकर प्रमिति को पैदा करे ऐसा प्रतीत नहीं होता है ।

जिस प्रकार आप मानते हैं कि ज्ञान के कारणस्वरूप माने गये चक्षु आदि विवाद मे आये हुए पदार्थ अज्ञात रहकर अपने विषयभूत वस्तुओं में ज्ञप्ति पैदा करते हैं क्योंकि वे चक्षु आदि स्वरूप ही हैं । जैसे—हमारी चक्षु आदि इन्द्रिया अज्ञात है तो भी रूपादिको को जानती है, तथा—अन्य कोई ज्ञान के कारण लगादिक ऐसे हैं कि वे ज्ञात होकर ही स्वविषय मे ज्ञप्ति को पैदा करते हैं, क्योंकि वे कारण इसी प्रकार के हैं, जैसे—वादी प्रतिवादी के यहा माने गये धूम आदि लिग हैं, वे ज्ञात होते हैं तभी अनुमानादि ज्ञानो को पैदा करते हैं । इस अनुमान ज्ञान से सिद्ध होता है कि दोनो प्रकार से—अज्ञात और ज्ञात प्रकार से एक ही लिग आदि में ज्ञान को पैदा करने का स्वभाव नहीं है एक ही स्वभाव है, अर्थात् चक्षु आदिरूप कारण अज्ञात होकर ज्ञानके जनक है और धूम आदि लिग ज्ञात होकर ज्ञानके जनक है । जैसी यह लिग और चक्षु आदि के विषय मे व्यवस्था है वैसी ही अर्थज्ञान के ग्राहक ज्ञान मे बात है, अर्थात् अर्थ ज्ञान को जाननेवाला ज्ञान भी ज्ञात होकर ही अपना विषय जो अर्थज्ञान है उसमें ज्ञप्ति को पैदा करता है, क्योंकि वह ज्ञान है । जैसे कि अर्थज्ञान ज्ञात होकर अपना विषय जो अर्थ है उसको जानता है । इस प्रकार अनुमान से सिद्ध होता है । आपके और हमारे उन अनुमानो मे कोई विशेषता नहीं है । दोनो समानरूप से सिद्ध होते हैं ।

यदि आप नैयायिकादि इस द्वितीयज्ञान को अप्रत्यक्ष रहकर ही अर्थज्ञान को प्रत्यक्ष करनेवाला मानते हैं तो बड़ी भारी आपत्ति आती है, इसी को बताते हैं—ज्ञान अपने से अप्रत्यक्ष रहकर अर्थात् अस्वसविदित होकर यदि वस्तुको जानता है तो ईश्वर के सम्पूर्णविषयो को जाननेवाले ज्ञानके द्वारा सारे ही विश्व के प्राणी सपूर्ण पदार्थो को साक्षात् जान लेगे । फिर ईश्वर और अनीश्वर अर्थात् सवज्ञ और असर्वज्ञपने का विभाग ही समाप्त हो जावेगा ।

समवायनिषेधात्तदविशेषाच्च । 'स्वकार्यम्' इत्यप्यसम्यक्, समवायनिषेधे तदाधेयतयोत्पादस्याप्यसिद्धेः । जनकत्वमात्रेण तत्त्वे दिक्कालादौ तत्प्रसङ्गः । नित्यज्ञान चेश्वरस्यापि न स्यात् ततः स्वतो ज्ञान प्रत्यक्षम् अन्यथोक्तदोषानुषङ्गः ।

ननु ज्ञानान्तरप्रत्यक्षत्वेपि नानवस्था, अर्थज्ञानस्य द्वितीयेनास्यापि तृतीयेन ग्रहणादर्थसिद्धेर-
परज्ञानकल्पनया प्रयोजनाभावात् । अर्थजिज्ञासाया ह्यर्थे ज्ञानम्, ज्ञानजिज्ञासाया तु ज्ञाने, प्रतीतेरे-

यौग—जो अपने ज्ञान के द्वारा ग्रहण किया हुआ पदार्थ होता है वही अपने प्रत्यक्ष होता है, हर किसी के प्रत्यक्ष के विषय अपने प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता ।

जैन—यह कथन असंगत है, जब आपके मत में ज्ञान स्वसंविदित ही नहीं है तब यह अपना ज्ञान है ऐसा सिद्ध ही नहीं हो सकता ।

यौग—जो ज्ञान अपने में (—आत्मा में) समवेत (समवाय से संबन्धित है) है वह अपना कहलाता है ।

जैन—यह बात भी बेकार है । क्योंकि समवाय का तो हम आगे खडन करने वाले हैं । तथा समवाय तो सर्वत्र आत्मा में व्यापक होने से समान है । उसको लेकर अपना ज्ञान और पराया ज्ञान ऐसा विभाग हो नहीं सकता ।

यौग—अपनी आत्मा का जो कार्य है वह अपना ज्ञान है अर्थात् जो अपने आत्माखण्ड कारण से हुआ है वह अपना ज्ञान है इस तरह से विभाग बन जाता है ।

जैन—यह कथन भी अयुक्त है । कैसे सो बतलाते हैं—समवाय का तो निषेध कर दिया है, इसलिये इस एक विवक्षित आत्मा में ही यह ज्ञान आधेयरूप से उत्पन्न होता है ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता । यदि ज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त होने मात्र से अपना और पराया ऐसा विभाग होता है ऐसा मानोगे तो दिशा, आकाश, काल आदि का भी ज्ञान है, ऐसा कहलावेगा । क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति में उन दिशा आदिको को भी आपने निमित्त माना है । एक दोष यह भी आवेगा—कि अपना कार्य होने से ज्ञान अपना कहलाता है तो ज्ञान अनित्य बन जावेगा, फिर तो ईश्वर के ज्ञान को भी नित्य नहीं कह सकेंगे । इसलिये ज्ञान स्वयं ही प्रत्यक्ष हो जाता है ऐसा मानना चाहिये । अन्यथा पहिले कहे गये हुए अनवस्था आदि दोष आते हैं ।

यौग—ज्ञान अन्य ज्ञान के द्वारा जाना जाता है तो अनवस्था दोष आता है ऐसा आपने कहा सो ठीक नहीं है, कैसे ? सो समझाते हैं—प्रथम ज्ञान तो पदार्थों को

वविधत्वात्, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, तृतीयज्ञानस्याग्रहणे तेन प्राक्तनज्ञानग्रहणविरोधात्, इतरथा सर्वत्र द्वितीयादिज्ञानकल्पनानर्थक्यं तत्र चोक्तो दोषः ।

किञ्च, 'अर्थजिज्ञासाया सत्यामहमुत्पन्नम्' इति तज्ज्ञानादेव प्रतीतिः, ज्ञानान्तराद्वा ? प्रथमपक्षे जैनमतसिद्धिस्तथाप्रतिपद्यमान हि ज्ञान स्वपरपरिच्छेदकं स्यात् । द्वितीयपक्षेपि 'अर्थज्ञान-

जाननेवाला है उसे जाननेवाला दूसरा ज्ञान है, फिर दूसरे को जाननेवाला एक तीसरा ज्ञान आता है, बस फिर अन्य चौथे आदि ज्ञानों की जरूरत नहीं पडती है, क्योंकि सबसे पहिले तो पदार्थों को जानने की इच्छा होती है, अत विवक्षित पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है फिर वह पदार्थ को जाननेवाला ज्ञान कैसा है इस बात को समझने के लिये दूसरा ज्ञान आता है, इस तरह से प्रतीति भी आती है ।

जैन—यह कथन असत् है, क्योंकि इस तरह से आप अनवस्था दोष से बच नहीं सकते, आपने तीन ज्ञानों की कल्पना तो की है, उसके आगे भी प्रश्न आवेगे कि वह तीसरा ज्ञान भी किसी से ग्रहण हुआ है कि नहीं, यदि नहीं ग्रहण किया है तो उस अग्रहीत ज्ञान से दूसरे न० का ज्ञान जाना नहीं जा सकता, यदि अग्रहीत ज्ञान से किसी का जानना सिद्ध होता है तो दूसरे तीसरे ज्ञानों की जरूरत ही क्या है ? एक ही ज्ञान से काम हो जावेगा, और इस तरह ईश्वर मे एक ज्ञान मान लेते है तो उस पक्ष मे भी जो दूषण आता है वह आपको हम बता चुके है—कि ईश्वर स्वयं के ज्ञान को प्रत्यक्ष किये विना अशेष पदार्थों को जानता है तो हम जैसे पुरुष भी उस ज्ञान के द्वारा सपूर्ण पदार्थों को जान लेंगे—सभी सर्वज्ञ बन बैठेंगे ।

विशेषार्थ—योग ज्ञान को स्वसविदित नहीं मानते है अतः इस मत में आचार्यों ने बहुत से दोष दिये है, इनके ईश्वर का ज्ञान भी अपने आपको जाननेवाला नहीं है, ईश्वर का ज्ञान अपने को नहीं जानता तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता अत इस दोष को टालने के लिये उसके वे दो या तीन ज्ञान मानते है । एक प्रथमज्ञान से पदार्थों को जानना फिर उसे किसी दूसरे ज्ञान से जानना इत्यादि प्रकार की उनकी मान्यता मे तो अनवस्था आती है, तथा ज्ञान अपने को अज्ञात रखकर ही वस्तुओं को जानता है तब हर किसी के ज्ञान से कोई भी पुरुष वस्तुओं को जान सकेगा, ऐसी परिस्थिति में हम लोग भी ईश्वर के ज्ञान से सपूर्ण पदार्थों को जानकर सर्वज्ञ बन जावेगे । योग समवाय सबध से ईश्वर एव समस्त आत्माओं मे ज्ञान रहता है ऐसा कहते है, अत. यह हमारा

मज्ञातमेव मयार्थस्य परिच्छेदकम्' इति ज्ञानान्तर प्रतिपद्यते चेत्, तदेव स्वार्थपरिच्छेदक सिद्ध तथा-
द्यमपि स्यात् । न प्रतिपद्यते चेत्कथ तथाप्रतिपत्ति ?

किञ्च, अर्थज्ञानमर्थमात्मान च प्रतिपद्य 'अज्ञातमेव मया ज्ञानमर्थं जानाति' इति ज्ञानान्तर

ज्ञान है और यह ईश्वर का या अन्य पुरुष का ज्ञान है इस तरह का भेद बनना जटिल हो जाता है । क्योंकि समवाय और सारी आत्माएँ सर्वत्र व्यापक हैं । ज्ञान यदि स्वयं अप्रत्यक्ष है और पदार्थों को प्रत्यक्ष करता है तो धूमादि हेतु स्वयं अप्रत्यक्ष—अज्ञात रहकर ही अग्नि आदि साध्य का ज्ञान करा सकते हैं । यौग प्रत्यक्ष आगम, अनुमान और उपमा ऐसे चार प्रमाणों को मानते हैं, सो इनमें से आगम में तो शब्द मुख्यता है । अनुमान हेतु के ज्ञानपूर्वक प्रवर्तता है । उपमा प्रमाण में सादृश्य का बोध होना आवश्यक है । किन्तु जब कोई भी ज्ञान स्वयं अगृहीत या अप्रत्यक्ष रहकर वस्तु को ग्रहण करता है या जानता है तब ये हेतु या शब्द आदिक भी स्वयं अज्ञात स्वरूपवाले रहकर अनुमान या आगमादि प्रमाणों को पैदा कर सकते हैं । किन्तु ऐसा होता नहीं । इसलिये ज्ञानमात्र चाहे वह हम जैसे अल्पज्ञानी का हो चाहे ईश्वर का हो स्वयं को जाननेवाला ही होता है ।

यौग से हम जैन पूछते हैं कि पदार्थ को जानने की इच्छा होने पर मैं जो अर्थज्ञान हूँ सो पैदा हुआ हूँ इस प्रकार की प्रतीति होती है वह उसी प्रथमज्ञान से होगी कि अन्यज्ञान से होगी ? यदि उसी प्रथमज्ञान से होती है कहो तो हमारे जैनमत की ही सिद्धि होती है । क्योंकि इस प्रकार अपने विषय में जानकारी रखनेवाला ज्ञान ही तो स्व और पर का जाननेवाला कहलाता है । दूसरा पक्ष—अर्थ जिज्ञासा होने पर मैं उत्पन्न हुआ हूँ, ऐसा बोध किसी अन्य ज्ञान से होता है ऐसा माने तो उसमें भी प्रश्न होते हैं कि पदार्थ को जाननेवाला 'यह अर्थज्ञान मेरे द्वारा अज्ञात रहकर ही पदार्थ की परिच्छिन्ति करता है' इस तरह की बात को अर्थज्ञान का ज्ञान समझता है या नहीं ? यदि समझता है तो वही सिद्धान्त—स्वपर को जानने का मत—पुष्ट होता है । इस तरह से जो पहिला अर्थज्ञान है, वह भी स्वपर को जाननेवाला हो सकता है । जैसे द्वितीय ज्ञान स्व और पर को जानता है, यदि वह द्वितीयज्ञान "मेरे द्वारा अज्ञात रहकर ही यह अर्थज्ञान अर्थ को जाना करता है" इस प्रकार की प्रतीति से शून्य है तो आप ही बताईए कि इतनी सब बातों को कौन जानेगा और समझेगा कि पहिले पदार्थ को जानने की इच्छा होने से अर्थज्ञान पैदा हुआ है फिर उस ज्ञान को जानने की इच्छा हुई

प्रतीयात्' अप्रतिपद्य वा । प्रथमपक्षे त्रिविषय ज्ञानान्तर प्रसज्येत । द्वितीयपक्षे तु अतिप्रसङ्गः 'मयाऽ-
ज्ञातमेवाद्दृष्ट सुखादीनि करोति' इत्यपि तज्जानीयादविशेषात् ।

अतः द्वितीयज्ञान हुआ इत्यादि ।

यौग से हमारा प्रश्न है कि अर्थज्ञान को, अर्थ को और अपने को जानकर फिर वह द्वितीयज्ञान क्या ऐसी प्रतीति करता है कि मेरे द्वारा अज्ञात रहकर ही यह प्रथम अर्थज्ञान पदार्थ को जानता है यदि ऐसी प्रतीति करता है तो वह ज्ञानान्तर एक प्रथम पदार्थ ज्ञान को दूसरे पदार्थ को और तीसरे अपने आपको इस प्रकार के तीन विषयों को जानने के कारण तीन विषयवाला हो गया, पर ऐसा तीन विषयवाला ज्ञान अपने माना नहीं है । अतः ऐसा मानने में अपसिद्धान्त का प्रसङ्ग आता है अर्थात् तुम्हारे मान्य सिद्धान्त से विपरीत बात—(ज्ञान में स्वसविदितता) सिद्ध होती है जो अनिष्टकारी है । दूसरापक्ष—अर्थज्ञान को अर्थ को, और अपने को वह द्वितीय ज्ञान ग्रहण वही करता है अर्थात् जानता नहीं है और मेरे द्वारा अज्ञात ही रहकर इस प्रथम ज्ञान ने पदार्थ को जाना है, इस तरह से यदि मानते हो तो अतिप्रसङ्ग होगा, मतलब—यदि प्रथमज्ञान मेरे से अज्ञात रहकर ही पदार्थ को जानता है तो मेरे द्वारा अज्ञात रहकर ही अद्दृष्ट जो पुण्यपापस्वरूप है वह सुख दुःख को करता है इस प्रकार का ज्ञान भी उसी द्वितीय-ज्ञान से हो जायगा, क्योंकि तीनों को अर्थज्ञान, अर्थ और स्वयं अपने को जानने की जरूरत जैसे वहा नहीं है वैसे यहा भी अपने स्वयं को, अद्दृष्ट, और सुखादि को जानने की जरूरत भी नहीं होनी चाहिये ।

विशेषार्थ—जब ईश्वर या अन्य पुरुष में तीन ज्ञानों की कल्पना यौग करेगे तो वहा बड़े आपत्ति के प्रसङ्ग आवेगे । प्रथमज्ञान पदार्थ को जानता है, उसे दूसरा ज्ञान जानता है और उसे कोई तीसरा ज्ञान जानता है, तब अनवस्था आती है ऐसा तो पहिले ही कह आये हैं, अब दो ज्ञानों की कल्पना भी गलत है, कैसे, सो बताते हैं— प्रथमज्ञान पदार्थ को जानता है फिर उस प्रथमज्ञान को तथा पदार्थ को और अपने आपको इन तीनों को द्वितीयज्ञान जानता है सो ऐसा जानने पर तो वह दूसराज्ञान साक्षात् ही स्वसविदित बन जाता है, जो स्वसविदितपना यौगमत में इष्ट नहीं है, यदि दूसराज्ञान इन विषयों को नहीं जानता है तो अज्ञान अद्दृष्ट आदि भी सुखादि को उत्पन्न करते हैं इस बात को भी मानना चाहिये, इसलिये ज्ञानको स्वसविदित मानना श्रेयस्कर है ।

नापि शक्तिक्रियात्, ईश्वरात्, विषयान्तरसञ्चारात्, अदृष्टाद्वाऽनवस्थाभावः । न हि शक्तिक्रियाच्चतुर्थादिज्ञानस्यानुत्पत्तेरनवस्थानाभावः । तदनुत्पत्ती प्राक्तनज्ञानासिद्धिदोषस्य तदवस्थत्वात् । तत्क्षये च कुतो रूपादिज्ञान साधनादिज्ञान वा यतो व्यवहारः प्रवर्त्तते ? न च चतुर्थादिज्ञानजननशक्तेरेव क्षयो नेतरस्या, युगपदनेकशक्त्यभावात् । भावे वा तथैव ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः । नित्यस्यापरापेक्षाप्यसम्भाव्या । क्रमेण शक्तिसद्भावे कुतोऽसौ ? न तावदात्मनोऽशक्तात्, तदसम्भवात् । शक्त्यन्तरकल्पने चानवस्था ।

यदि यौग अपना पक्ष पुन इस प्रकार से स्थापित करे कि आत्मा दो या तीन ज्ञान से अधिक ज्ञान पैदा कर ही नहीं सकता अतः अनवस्था दोष नहीं आता है, आत्मा में दो तीन ज्ञान से अधिक ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है अतः ज्ञानान्तरो को लेकर आने वाली अनवस्था रुक जाती है । तथा ज्ञानान्तरो की अनवस्था को ईश्वर रोकता है अथवा विषयांतर संचार हो जाता है । मतलब—प्रथमज्ञान पदार्थ को जनता है, तब द्वितीयज्ञान उसे जानने के लिये आता है, उसके बाद उस ज्ञान का विषय ही बदल जाता है । अदृष्ट इतना ही है कि आगे आगे अन्यान्य ज्ञान पैदा नहीं हो पाते हैं, इस प्रकार शक्ति क्षय, ईश्वर, विषयान्तर संचार और अदृष्ट इन चारों कारणों से चौथे आदि ज्ञान आत्मा में उत्पन्न नहीं होते हैं । अब इन पक्षों के विषय में विमर्श करते हैं—शक्ति का नाश हो जाने से तीन से ज्यादा ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं इसलिये अनवस्था दोष नहीं आता है ऐसा पहिला विकल्प मानो तो ठीक नहीं, क्योंकि यदि चौथा ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा तो पहिले के सब ज्ञान सिद्ध नहीं हो पायेंगे । क्योंकि प्रथमज्ञान दूसरेज्ञान से सिद्ध होना माना गया है और दूसरा ज्ञान तीसरेज्ञान से सिद्ध होना माना गया है, अब देखिये—तीसरे ज्ञान की सिद्धि किससे होगी, उसके सिद्ध हुए बिना दूसरा ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता, और दूसरेज्ञान के बिना पहिला ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता, ऐसे तीनों ही ज्ञान असिद्ध होंगे । अतः चौथे ज्ञान की जरूरत पड़ेगी ही, और उसके लिये पाचवे ज्ञान की, इस प्रकार अनवस्था तदवस्थ है, उसका अभाव नहीं कर सकते ।

यदि प्रतिपत्ता की शक्ति का क्षय होने से चौथे आदि ज्ञान पैदा नहीं होते हैं—तब रूप, रस, आदि का ज्ञान कैसे पैदा होगा, क्योंकि उस प्रथम ज्ञान को जानने में अन्य दो ज्ञान लगे हुए हैं और उनकी सिद्धि होते होते ही शक्ति समाप्त हो जावेगी, फिर रूपज्ञान, साधनज्ञान आदि ज्ञान किसी प्रकार भी उत्पन्न नहीं हो पावेंगे और इन

ईश्वरस्ता निवारयतीत्यपि बालविलसितम्, कृतकृत्यस्य तन्निवारणे प्रयोजनाभावात् । परोपकार. प्रयोजनमित्यसत्, धर्मग्रहणाभावस्य तदवस्थत्वप्रसङ्गात्, अप्रतीतेर्निषिद्धत्वाच्चास्य ।

न च विषयान्तरसञ्चारोत्तन्निवृत्ति ; विषयान्तरसञ्चारो हि धर्मिज्ञानविषयादन्यत्र साधना-

ज्ञानों के अभाव में जगत का व्यवहार कैसे प्रवर्तित होगा ? अर्थात् नही प्रवर्तित होगा, तुम कहो कि चतुर्थ आदि ज्ञान को पैदा करने की शक्ति का क्षय तो होता है किन्तु रूपज्ञान, साधनज्ञान आदि ज्ञानों को उत्पन्न करने की शक्ति तो रहती ही है उसका क्षय नही होता सो ऐसी बात नही बनती, क्योंकि एक साथ अनेक शक्तियां नही रहती है ।

आप योग जबर्दस्ती कह दो कि रूपज्ञान आदि को उत्पन्न करने की शक्ति रहती ही है, तब तो वे ही पहिले के अपसिद्धान्त होने आदि दोष आते है अर्थात् त्रिविषयवाला ज्ञान का हो जाना या स्वसविदितता ज्ञान में बन जानी आदि दोष आते है । एक बात और सुनिये—आप आत्मा को नित्य मानते है, जो नित्य होता है वह अपने कार्य करने में अन्य शक्ति आदि की अपेक्षा नही रखता है, इसी बात का खुलासा किया जाता है ।

यदि नित्य आत्मा में क्रम से शक्ति का होना माना जाय तो वह शक्ति किस कारण से होती है यह देखना पडेगा, यदि कहा जावे कि वह आत्मा से होती है तो ठीक नही, क्योंकि आत्मा तो अशक्त है अतः उससे शक्ति पैदा होना असभव है, किसी अन्य शक्ति से वह शक्ति पैदा होती है ऐसा स्वीकार किया जाय तो अनवस्थाव्याघ्री खडी हो जाती है ।

यौग—आनेवाली अनवस्था को ईश्वर रोक देता है ऐसा दूसरा पक्ष यदि स्वीकार करो—तो ।

जैन—यह कहना बालक के कहने जैसा है, क्योंकि ईश्वर तो कृत-कृत्य-करने योग्य कार्य को कर चुका है, वह उस अनवस्था को रोकने में कुछ भी प्रयोजन नही रखता है ।

यौग—अन्य जीवों का उपकार करना यही उस कृतकृत्य ईश्वर का एक मात्र प्रयोजन है ।

दिविषये ज्ञानोत्पत्ति । न च तज्ज्ञानसन्निधानेऽवश्य साधनादिना सन्निहितेन भवितव्यमभिद्धादेर-
भावापत्तेः । सन्निहितेपि वा जिघृक्षिते धर्मिण्यगृहीते कथं विषयान्तरे ग्रहणाकाक्षा ? कथं वा तज्ज्ञान-
मेकार्थसमवेतत्वेन सन्निहित विहाय तद्विपरीते दृष्टान्तादी ज्ञान ज्ञायेत् ?

जैन—यह समाधान असत्य है । प्रथम तो यह बात है कि ईश्वर यदि परो-
पकार के कारण अनवस्था को रोक भी देवे तो उससे उसका क्या मतलब निकलेगा,
क्योंकि धर्मी का ग्रहण अर्थात् जब उस प्रथम अर्थज्ञान को जाननेवाले ज्ञान का ग्रहण
ही नहीं होता तो उस पहिले के ज्ञान में असिद्ध होने रूप जो दोष आता था वह तो
वैसा का वैसा ही रहा । उसका निवारण तो हो नहीं सका, तथा ऐसी प्रतीति भी
नहीं आती कि ईश्वर अनवस्था को रोक देता हो, और तीसरी बात यह भी हो चुकी
है कि दूसरे या तीसरे नम्बर के ज्ञान में या तो त्रिविषय को (अर्थज्ञान, अर्थ, और
अपने आपको) जानने का प्रसंग आता है या अदृष्ट को भी उस ज्ञान से ग्रहण होने का
अतिप्रसंग प्राप्त होता है, इसलिये इस दूसरे नम्बर आदि ज्ञान का निषेध हो जाता है,
अब तीसरा पक्ष—विषयान्तर में प्रवृत्ति होने से अनवस्था नहीं आती—अर्थात् तृतीय-
ज्ञान के बाद तो ज्ञानका या आत्मा का पदार्थ को जानने में व्यापार शुरु होता है,
अतः चौथे पाचवे आदि ज्ञानों की उत्पत्ति होनेरूप अनवस्थादोष का प्रसंग वही आता,
सो ऐसा कहना भी गलत है । देखिये—धर्मीज्ञान अर्थज्ञान को जाननेवाला ज्ञान या
उसके आगे का तीसरा ज्ञान जो है उसका विषय अर्थज्ञान है, उस विषय को छोड़कर
उस विषय से अन्य साधनादि में ज्ञान की उत्पत्ति होना विषयान्तर संचार कहलाता
है । ऐसे विषयान्तर में ज्ञानका—तृतीयज्ञान का संचार होना जरूरी नहीं है, मतलब—
यह है कि द्वितीयादि ज्ञान के होने पर बाह्य साधनादि का सन्निहित होना अवश्यभावी
नहीं है । क्योंकि ऐसी मान्यता में असिद्धादि दोषों के अभाव होने की आपत्ति आती है,
यदि उनका होना अवश्यभावी मानते हो तो ऐसा देखा भी नहीं गया है, तथा—धर्मी-
ज्ञानस्वरूप प्रथम द्वितीय (या तृतीय) ज्ञान की सन्निधि में साधनादि रहते हैं ऐसा
मान भी लिया जावे तो भी जिसके जानने की इच्छा से वह द्वितीयादि ज्ञान उत्पन्न
हुआ वह अर्थज्ञान का ज्ञान तो अभी तक अगृहीत है, अर्थात् चतुर्थादि ज्ञानके द्वारा वह
गृहीत नहीं हुआ है, तो अन्य विषय के जानने की उसे इच्छा कैसे हो सकती है, अर्थात्
नहीं हो सकती है, और एक बात यह भी है कि जब धर्मीज्ञानरूप द्वितीयज्ञान है उसके
साथ एकार्थरूप आत्मा में समवेतपने से रहनेवाला तीसराज्ञान है सो वह निकट है सो

अदृष्टात्तन्निवृत्तौ स्वसविदितज्ञानोत्पत्तिरेवातोऽस्तु किं मिथ्याभिनिवेशेन ? तन्न प्रत्यक्षाद-
मिसिद्धिः ।

नाप्यनुमानात्, तत्सद्भावावेदकस्य तस्यैवासिद्धेः । सिद्धौ वा तत्राप्याश्रयासिद्ध्यादिदोषोप-

उसे छोड़कर वह उससे विपरीत अर्थात् जो एकार्थसमवेत नहीं है ऐसे दृष्टान्तादि में कैसे प्रवृत्त होगा ।

भावार्थ—ज्ञान पदार्थ को जानता है, उसको अन्य दूसरे नम्बर का ज्ञान जानता है, इस प्रकार जब योग ने कल्पना करी तब आचार्य ने अनवस्थादोष दिया, उस दोष को हटाने के लिये योग ने चार पक्ष रखे थे, शक्तिक्षय, ईश्वर, विषयान्तर सचार, और अदृष्ट, अर्थात् इन शक्तिक्षयादि होनेरूप कारणों से, दो तीन से अधिक ज्ञान पैदा नहीं होते ऐसा कहा था, इन पक्षों में से तृतीयपक्ष विषयान्तरसचार पर विचार चल रहा है—आचार्य कहते हैं कि ज्ञान या आत्मा के द्वारा दूसरे विषय के जानने में तभी प्रवृत्ति होती है जब पहिला विषय जिसे जानने की इच्छा पहिले ज्ञान में उत्पन्न हुई है उसे जान लिया जाय, उसके जाने विना दूसरे अन्य विषय में जानने की इच्छा किस प्रकार हो सकती है । अर्थात् नहीं हो सकती, तथा जब पहिला ज्ञान तो जान रहा था उसको जानने के लिये दूसरा ज्ञान प्रवृत्ति कर रहा था, उस द्वितीयज्ञान का विषय तो मात्र वह प्रथम ज्ञान है, अथवा कभी उस द्वितीय ज्ञान को विषय करने वाला तृतीय ज्ञान भी प्रवृत्त होता है ऐसा योग ने माना है, अतः तीसरा ज्ञान जो कि मात्र द्वितीयज्ञान को जानने में लगा है उस समय अपना विषय जो द्वितीयज्ञान है उससे हटकर वह अन्यविषय जो ज्ञान के कारण बाह्यविषय आदि है उन्हें जाननेरूप प्रवृत्ति करे सो ऐसी प्रवृत्ति वह कर नहीं सकता, यदि कदाचित् कोई कर भी लेवे तो बाह्य विषय निकट हो ही हो ऐसा नियम नहीं है, तथा—क्वचित् बाह्यविषय मौजूद भी रहें तो भी ज्ञान का उसे (उन्हे) ग्रहण करने रूप व्यापार हो नहीं सकता, देखो—यह नियम है कि “अन्तरगबहिरगयोरतरगविधिर्बलवान्” अन्तरग और बहिरग में से अन्तरगविधि बलवान् होती है, अतः जब ज्ञानों की परपरा अपर २ ज्ञानके जानने में लगी हुई है—अर्थात् प्रथम ज्ञान को द्वितीय ज्ञान और द्वितीयज्ञान को तृतीयज्ञान ग्रहण कर रहा है तब उस अन्तरग ज्ञानविषय को छोड़कर बहिरग साधनादि विषय में प्रवृत्ति या सचार होना सम्भव नहीं है, इसलिये विषयान्तर सचार होने से अनवस्था नहीं आवेगी ऐसी योग की कथनी सिद्ध नहीं होती है ।

निपात. स्यात् । पुनरत्राप्यनुमानान्तरात्तिसद्धावनवस्था । इत्युक्तदोषपरिजिहीर्षया प्रदीपवत्स्वपर-
प्रकाशनशक्तिद्वयात्मक ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् । तदपह्लवे वस्तुव्यवस्थाभावप्रसङ्गात् ।

ननु स्वपरप्रकाशो नाम यदि बोधरूपत्व तदा साध्यविकलो दृष्टान्त 'प्रदीपे बोधरूपत्वस्या-
सम्भवात् । अथ भासुररूपसम्बन्धित्व तस्य ज्ञानेऽत्यन्तासम्भवात्कथ साध्यना ? अन्यथा प्रत्यक्षबाध-

चौथापक्ष—अदृष्ट इतना ही होनेसे चतुर्थ आदि अधिकज्ञान तृतीयादि ज्ञानो
को जानने के लिये उत्पन्न नहीं होते है और इसी कारण से अनवस्था दोष नहीं होता
है, अथवा अदृष्ट ही अनवस्था दोष को रोक देता है । सो ऐसा योग का कहना भी
गलत है, यदि अदृष्ट के कारण ही अनवस्था रुकती है अर्थात् अदृष्ट की ऐसी सामर्थ्य
है तो वह स्वसविदित ज्ञान को ही पैदा क्यों नहीं कर देता, अनवस्थादोष आने पर
उसे हटाने की अपेक्षा वह दोष उत्पन्न ही नहीं होने दे अर्थात् प्रथम ही स्व पर को
जाननेवाला ज्ञान ही पैदा कर दे यही श्रेयस्कर है, फिर किसलिये यह मिथ्या आग्रह
करते हो कि ज्ञान तो अन्यज्ञान से ही जाना जाता है, इस प्रकार यहा तक प्रत्यक्ष-
प्रमाण से धर्मी या पक्षस्वरूप जो ज्ञान है उसकी सिद्धि नहीं होती है यह निश्चित
किया, मतलब—शुरु मे योग की तरफ से अनुमान प्रस्तुत किया गया था कि—

“ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य प्रमेयत्वात् घटादिवत्” इस अनुमान मे जो ज्ञान पक्ष है
वह तो प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध नहीं हुआ, अब अनुमानप्रमाण से वही पक्षरूप जो ज्ञान है
उसे सिद्ध करना चाहे तो भी वह सिद्ध नहीं होता है ऐसा बताते हैं—धर्मी ज्ञान के
सद्भाव को सिद्ध करनेवाला जो अनुमान है वह स्वयं ही असिद्ध है । यदि कोई अनुमान
इस ज्ञान को सिद्ध करनेवाला हो तो उसमे जो भी हेतु होगा वह आश्रयासिद्ध आदि
दोषो से युक्त होगा, अत उस हेतु को सिद्ध करने के लिये फिर एक अनुमान उपस्थित
करना पडेगा, इस तरह से अनवस्थाचमू सामने खडी हो जावेगी, इस प्रकार यहा
तक ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानने से कितने दोष आते हैं सो बताये—अर्थात् ईश्वर का
ज्ञान भी यदि स्वसवेद्य नहीं है तो वह ईश्वर सर्वज्ञ नहीं रहता है और उसके ज्ञानको
स्वसवेद्य कहते हैं तो प्रमेयत्व हेतु साक्षात् ही अनैकान्तिक दोषयुक्त हो जाता है । तथा
सुखसवेदन के साथ भी यह हेतु व्यभिचरित होता है, इत्यादिरूप से स्थान स्थान पर
अनेक दोष सिद्ध किये गये है । अत उन दोषो को दूर करने के लिये योग को स्व-
सवेदनस्वरूपवाला ज्ञान स्वीकार करना चाहिये, जो दो शक्ति युक्त है—अपने को और पर

स्तदप्यसमीचीनम्, तत्प्रकाशो हि स्वपररूपोद्योननरूपोऽभ्युपगम्यते । स च क्वचिद्बोधरूपतया क्वचित्तु भासुररूपतया वा न विरोधमध्यास्ते ।

ननु 'येनात्मना ज्ञानमात्मान प्रकाशयति येन चार्थं तौ चेततोऽभिन्नी, तर्हि तावेव न ज्ञानं

-पदार्थ को जानने की क्षमता रखता है ऐसा दीपक के समान स्वपर प्रकाशक ज्ञान मानना चाहिये । ज्ञान को स्व और पर को जाननेवाला नहीं मानने—सिर्फ पर को ही जानने वाला मानते है तब किसी भी तरह वस्तुव्यवस्था नहीं बन सकती है । क्योंकि ज्ञानका स्वरूप ही यदि विपरीत माना तो उस ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थों का स्वरूप भी किस तरह निर्दोष सिद्ध होगा, अर्थात् नहीं होगा ।

शंका—ज्ञान स्वपर को जाननेवाला है इस बात को सिद्ध करने के लिये दीपक का उदाहरण दिया है—सो ज्ञान स्व को और पर को प्रकाशित करता है, यदि यही ज्ञान का स्वरूप है तो प्रदीप का दृष्टान्त साध्यधर्म से विकल हो जाता है । क्योंकि दीपक में बोधपना तो है नहीं, यदि दीपक का उदाहरण भासुरपने के लिये देते हो तो वैसा भासुरपना ज्ञान (दार्ष्टान्त) में नहीं पाया जाता है अतः उसको साध्यपना होना मुश्किल हो जाता है, अन्यथा प्रत्यक्षबाधा आती है ।

भावार्थ—दीपक के समान ज्ञान है तो इसका मतलब ज्ञान का धर्म जानना क्या दीपक में है ? नहीं है, उसीप्रकार दीपक का धर्म भासुरपना क्या ज्ञानमें है ? नहीं है, इसलिये दीपक का उदाहरण ठीक नहीं बैठता है ऐसी कोई शका करे तो इसका समाधान इस प्रकार से है—यहा जो दीपक को दृष्टान्त कोटि में रखा गया है वह इस बात को प्रकट करने के लिये रखा गया है कि जिस प्रकार दीपक को प्रकाशित करने के लिये अन्य दीपक की जरूरत नहीं पडती है क्योंकि वह स्वतः प्रकाशशील है और इसी से वह घटपटादिको का प्रकाशक होता है इसी प्रकार ज्ञान भी स्वतः प्रकाशशील है, उसे अपने आपको प्रकाशित करने के लिये अन्य ज्ञान की जरूरत नहीं होती, दीपक में यह जो प्रकाशपना है वह भासुररूप है और ज्ञान में यह स्वपर को जाननेरूप है । अतः कोई विरोध जैसी बात नहीं है ।

अब यहा पर यौग अपना लम्बा चौड़ा वक्तव्य उपस्थित करते हुए कहते है कि आप जैन जो ज्ञान को स्व और पर का प्रकाशक मानते है सो यह मानना ठीक नहीं है—देखिये—ज्ञान जिस स्वभाव से अपने आपको जानता है और जिस स्व-

तस्य तत्रानुप्रवेशात्तत्स्वरूपवत्, ज्ञानमेव तयोस्तत्रानुप्रवेशात्, तथा च कथं तस्य स्वपरप्रकाशनशक्तिद्वयात्मकत्वम् ? भिन्नी चेत्स्वसविदिता, स्वाश्रयज्ञानविदिता वा । प्रथमपक्षे स्वसविदितज्ञानत्रयप्रसङ्ग-स्तत्रापि प्रत्येक स्वपरप्रकाशस्वभावद्वयात्मकत्वे स एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च । द्वितीयपक्षेऽपि स्वपर-प्रकाशहेतुभूतयोस्तयोर्यदि ज्ञान तथाविधेन स्वभावद्वयेन प्रकाशक तर्ह्यनवस्था । तदप्रकाशकत्वे प्रमाणत्वायोगस्तयोर्वा तत्स्वभावत्वविरोध इति' एकान्तवादिनामुपलम्भो नास्माकम्; जात्यन्तरत्वा-

भाव से पर पदार्थ को जानता है वे दोनो स्वभाव या शक्तिया ज्ञान से भिन्न है कि अभिन्न हैं ? यदि अभिन्न है तो वे दो शक्तियां ही रहेगी, क्योंकि ज्ञान का तो उनमे ही प्रवेश हो जायगा, जैसे ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान में अनुप्रवेश है । अथवा—एक ज्ञान-मात्र ही रह जायगा । क्योंकि दोनो स्वरूप का उसीमे प्रवेश हो जायेगा, इस तरह हो जाने पर ज्ञान स्वपरप्रकाशक स्वभावरूप दो शक्तियो वाला है ऐसा कैसे कह सकेगे । अर्थात् नहीं कह सकेगे । दूसरा विकल्प—ज्ञान से स्वपर को जानने की दोनो शक्तिया भिन्न है यदि ऐसा मानते है, तो उसमे भी प्रश्न उठता है कि वे ज्ञान की शक्तिया स्वसविदित है अथवा अपने आश्रयभूत ज्ञान से ही जानी हुई हैं ? प्रथम पक्ष मानने पर तो एक ही आत्मा में तीन स्वसविदित ज्ञान मानने पड़ेगे, तथा—फिर वे एक एक भी स्वसविदित होने के कारण दो दो शक्तिवाले (स्व और पर के जानने वाले) होने से फिर वही प्रश्नमाला आवेगी कि वे शक्तिया भिन्न हैं कि अभिन्न है इत्यादि । इस प्रकार अनवस्था आती है इस अनवस्था से बचने के लिये यदि दूसरी बाल स्वीकार करो कि वे दोनो शक्तिया अपने को जाननेवाली नहीं है किन्तु अपने आश्रयभूत ज्ञान से ही वे जानी जाती हैं सो ऐसा कहने पर भी दोष है । कैसे ? सो बताते हैं स्वपर प्रकाशनरूप कार्य में कारणभूत जो दो स्वभाव है, उनको ज्ञान यदि उसी प्रकार के दो स्वभावो के द्वारा जानेगा तो अनवस्था साक्षात् ही दिखाई दे रही है । यदि ज्ञान उन दोनो स्वभावो को नहीं जानता है, तब उस ज्ञान मे प्रमाणपना नहीं रहता है । अथवा—वे दोनो स्वभाव उस ज्ञान के हैं ऐसा नहीं कह सकेगे । क्योंकि वे शक्तिया ज्ञान से भिन्न है । और ज्ञान उनको ग्रहण भी नहीं करता है । इस प्रकार ज्ञान को स्वसविदित मानने में कई दोष आते है ।

जैत— ऐसा यह लम्बा दोषो का भार उन्ही के ऊपर है जो एकान्तवादी हठाग्रही है । हम स्याद्वादियो के ऊपर यह दोषो का भार नहीं है । हम तो एक भिन्न ही स्व-भाववाला ज्ञान मानते है । स्वभाव और स्वभाववान् मे भेद तथा अभेद के बारे में

स्वभावतद्वतोर्भेदाभेद प्रत्यनेकान्तात् । ज्ञानात्मना हि स्वभावतद्वतोरभेद , स्वपरप्रकाशस्वभावात्मना च भेद इति ज्ञानमेवाभेदोऽतो भिन्नस्य ज्ञानात्मनोऽप्रतीतेः । स्वपरप्रकाशस्वभावे च भेदस्तद्व्यतिरिक्त-योस्तरप्रतीयमानत्वादित्युक्तदोषानवकाश । कल्पितयोस्तु भेदाभेदैकान्तयोस्तदूषणप्रवृत्तौ सर्वत्र प्रवृत्ति-प्रसङ्गात् न कस्यचिदिष्टतत्त्वव्यवस्था स्यात् । स्वपरप्रकाशस्वभावी च प्रमाणस्य तत्प्रकाशनसामर्थ्य-

हमारे यहा अनेकान्त है । कथंचित्—किसी सज्ञा प्रयोजन आदि की अपेक्षा से स्वभाव और स्वभाववान में (ज्ञान और ज्ञान के स्वभाव में) भेद है तथा—कथंचित् द्रव्य या प्रदेशादि की अपेक्षा से उनमें अभेद भी है । ऐसा एकान्त नियम नहीं है कि वे दोनों सर्वथा भिन्न ही हैं या सर्वथा अभिन्न ही हैं । ज्ञानपने की अपेक्षा देखा जाय तो स्वभाव और स्वभाववान् में अभेद है और स्व और पर के प्रकाशन की अपेक्षा उनमें भेद भी है । इस तरह से तो वे सब ज्ञान ही हैं, इसलिये ज्ञान को छोड़कर और कोई स्वपर प्रकाशन दिखायी नहीं दे रहा है, ज्ञान स्वय ही उसरूप है, स्वपर प्रकाशन जो स्वभाव है उनमें सर्वथा भेद भी नहीं है । इस प्रकार स्वभाव और स्वभाववान को छोड़कर कोई चीज नहीं है । ज्ञान स्वभाववान् है और स्वपर प्रकाशन उसका स्वभाव है, यह सिद्ध हुआ । इस प्रकार अपेक्षाकृत पक्ष में कोई भी अनवस्था आदि दोष नहीं आते है कल्पनामात्र से स्वीकार किये गये जो भेद और अभेद पक्ष है अर्थात् कोई स्वभाव या शक्ति से स्वभाववान् या शक्तिमान् को सर्वथा भिन्न ही मानता है, तथा कोई जडबुद्धि वाला अभेदवादी उन स्वभाव स्वभाववान् में अभिन्नता ही कहता है, उन काल्पनिक एकान्त पक्ष के दूषण सच्चे स्याद्वाद अनेकान्तवाद में नहीं प्रवेश कर सकते हैं । यदि काल्पनिक पक्ष के दूषण सब पक्ष में दिये जायेगे तो किसी के भी इष्टतत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, ज्ञान या प्रमाण में जो अपने और पर को जानने का सामर्थ्य है वही स्वपर प्रकाशन कहलाता है और यह जो सामर्थ्य है वह परोक्ष है, अपने और पर के जाननेरूप कार्य को देखकर उस सामर्थ्य का अनुमान लगाया जाता है—कि ज्ञान में अपने और पर को जानने की शक्ति है, क्योंकि वैसा कार्य हो रहा है, इत्यादि संसार में जितने भी पदार्थ हैं उन सभी की सामर्थ्य मात्र कार्य से ही जानी जाती है, शक्ति को प्रत्यक्ष से हम जैसे नहीं जान सकते ऐसा सभी वादी और प्रतिवादियोने स्वीकार किया है, हम जैसे अल्पज्ञानी अन्तरङ्ग आत्मा आदि सूक्ष्म पदार्थ और बहिरंग जड स्थूल पदार्थ इन दोनों को पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष नहीं जान सकते हैं । इस विषय में तो किसी भी वादी को विवाद नहीं है । इस तरह ज्ञान के स्वपर प्रकाशक विषय

मेव, तद्रूपतया चास्य परोक्षता तत्प्रकाशनलक्षणकार्यानुमेयत्वात्तयो । सकलभावाना सामर्थ्यस्य कार्यानुमेयतया निखिलवादिभिरभ्युपगमात् । अर्वाग्दृशा चान्तर्वर्हिर्वार्थो नैकान्ततः प्रत्यक्ष इत्यत्रा-
खिलवादिनामविप्रतिपत्तिरेवेत्युक्तदोषानवकाशतया प्रमाणस्य प्रत्यक्षताप्रसिद्धेरल विवादेन ॥

मे कुछ भी दोष नहीं आते है, वह कथंचित् स्वानुभव प्रत्यक्ष भी है यह निर्विवाद सिद्ध हुआ, अब इस विषय मे ज्यादा नहीं कहते हैं ।

भावार्थ—नैयायिक वैशेषिक के ज्ञानान्तर वेद्य ज्ञानवाद का यहा पर प्रभा-
चन्द्र आचार्य ने अपने तीक्ष्ण युक्ति पूर्ण वचनरूपकुठार के द्वारा खण्ड खण्ड कर दिया है, ज्ञान स्व को नहीं जानता है, दूसरे ज्ञान से ही वह जाना जाता है तो ऐसी स्थिति मे उसके द्वारा जाना हुआ पदार्थ अपने लिये अनुभव मे नहीं आ सकता है, दीपक स्वय अप्रकाशित रहकर दूसरो को उजाला दे नहीं सकता है । दर्पण स्वय दिखाई न देवे और उसमे प्रतिबिम्ब हुआ पदार्थ दिखे, ऐसी बात होना सर्वथा असभव है । यौग का यह कदाग्रह है कि जो प्रमेय होगा वह अन्य से ही जाना जायगा, सो यह बात सुखसवेदन के द्वारा कट जाती है, सुखानुभव प्रमेय होकर भी स्वसविदित है, कही सुख दुख का वेदन पर से ज्ञात होता है क्या ? अर्थात् नहीं । उसी प्रकार ज्ञान भी पर से नहीं जाना जाता, किन्तु स्वय सवेदित होता है यह सिद्ध हुआ । ज्ञान को स्वपर प्रकाशक मानने मे जो अनवस्था दूषण यौग ने उपस्थित किये है वे सब हास्या-
स्पद है । अर्थात् ज्ञान मे स्व और पर को जानने की जो दो शक्तिया है वे ज्ञान से भिन्न है तो एक ही आत्मा में तीव्र स्वसविदित ज्ञान मानने पडे गे, इस तरह अनवस्था होगी, तथा ज्ञान और उन दो शक्तियो को अभिन्न माने तो या तो ज्ञान रहेगा या शक्तिया रहेगी इत्यादि दोष दिये थे, किन्तु ऐसे दोष तो सर्वथा भेद या अभेदपक्ष अङ्गीकार करने वालो के ऊपर आते है, जैन तो ज्ञान और ज्ञान की उन दोनो शक्तियो को कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानते है । अतः उनके ऊपर कोई दोष लागू हो ही नहीं सकता है, ज्ञान मे जो स्व पर को जानने की शक्ति है वह कोई इन्द्रिय प्रत्यक्ष होनेवाली चीज नहीं है वह तो सिर्फ कार्यानुमेय है । अर्थात् स्व और पर को जाननेरूप कार्य को देखकर अनुमान लगाया जाता है कि ज्ञान मे स्वपरग्राहकता है । सपूर्णावस्तुओ की शक्तिया अल्पज्ञानी को अनुमानगम्य ही हुआ करती है । प्रत्यक्षगम्य

नही, ऐसा ही सभी मतवालो ने स्वीकार किया है इस प्रकार अन्त में कहकर आचार्य ने इस ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानवाद को समाप्त किया है ।

*** ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानवाद का प्रकरण समाप्त ***



ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञान के खंडन का सारांश

नैयायिक ज्ञान को दूसरे ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष होना मानते हैं । उनका कहना है कि ज्ञान प्रमेय है, जो प्रमेय होता है वह दूसरे के द्वारा जाना जाता है, जैसे घट पट आदि प्रमेय होने से अन्य द्वारा जाने जाते हैं ।

इस पर आचार्य का कहना है कि यदि ऐसा एकान्त रूप से माना जाय तो महेश्वर के ज्ञान तथा सुखसवेदनादिक के साथ व्यभिचार आवेगा-। अर्थात् महेश्वर का ज्ञान दूसरे ज्ञान से नहीं जाना जाता है, तथा सुखादि भी स्वतः प्रतिभासित होते रहते हैं । यदि कहा जाय कि महेश्वर के दो ज्ञान हैं एक ज्ञान से वह ससार-जगत को जानता है और दूसरे ज्ञान से पहिले ज्ञान को जानता है । सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे समान जातीय दो ज्ञान एक द्रव्य में एक ही काल में संभव नहीं है । तथा—महेश्वर का वह दूसरा ज्ञान भी प्रत्यक्ष है कि अप्रत्यक्ष यदि प्रत्यक्ष है तो वह स्वतः प्रत्यक्ष है या पर से प्रत्यक्ष है ? यदि वह स्वतः प्रत्यक्ष है तो प्रथमज्ञान को भी स्वतः प्रत्यक्ष मानना चाहिये ।

तथा—एक बात यह भी है कि यदि वे दो ज्ञान महेश्वर से पृथक् हैं तो उनका सबध किस तरह से होता है ? यदि कहो—समवाय से होता है तो यह कहना उचित इसलिये नहीं है कि हम समवाय का खंडन करने वाले हैं । यदि हठाग्रह से उसे मानो तो भी जब वह सर्वत्र समानरूप से व्याप्त होकर रहता है तो यह बात फिर

कैसे बन सकेगी कि वह उन दो ज्ञानों को ईश्वर के साथ ही जोड़ता है अन्य के साथ नहीं जोड़ता ।

अच्छा—एक बात और हम आपसे पूछते हैं कि—वे ज्ञान महेश्वर में ही समवेत है—मिले हुए है दूसरी जगह पर नहीं इस बात को कौन जानता है ? यदि ईश्वर जानता है तो स्वसविदितपना ज्ञान में आता है जो कि आप योग को कड़वा लगता है । यदि ज्ञान के द्वारा “मैं महेश्वर में समवेत हूँ” ऐसा जानना होता है तो बात यह है कि महेश्वर का ज्ञान जब खुद को नहीं जानता है तो मैं महेश्वर में समवेत हूँ ऐसा कैसे जान सकेगा ? और ज्ञान की अस्वसविदित अवस्था में महेश्वर विचारा अ सर्वज्ञ हो जावेगा, अपने अप्रत्यक्ष ज्ञान से ही संपूर्ण पदार्थ प्रत्यक्ष जानकर उसमें सर्वज्ञता मानो तो सभी प्राणी ऐसे ही सर्वज्ञ हो जावेगे । फिर ईश्वर और ससारी ऐसे दो भेद ही समाप्त हो जावेगे ।

एक विशिष्ट बात और ध्यान देने की है कि ज्ञान सामान्य का चाहे वह महेश्वर का हो चाहे हम जैसे का हो एक समान ही स्वपर प्रकाशक स्वभाव है, न कि किसी एक के ज्ञान का ।

योग का अनुमान में दिया गया प्रमेयत्व हेतु भी असिद्ध है, क्योंकि पक्ष जो ज्ञान है वही अभी सिद्ध नहीं है वह धर्मरूप ज्ञान प्रत्यक्ष से सिद्ध होगा या अनुमान से ? प्रत्यक्ष से यदि कहो तो वह इन्द्रियप्रत्यक्ष हो नहीं सकता—क्योंकि इन्द्रियों में ज्ञान को ग्रहण करने की ताकत नहीं है मानसिक प्रत्यक्ष कहो तो वह सिद्ध नहीं होता । युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति आदि रूप जो सूत्र है वह मन को सिद्ध नहीं करता है । क्योंकि एक साथ अनेक ज्ञान होते हैं कि नहीं यही पहिले असिद्ध है । अतः इस हेतु से मन की सिद्धि नहीं हो सकती । आपकी एक युक्ति है कि अपने आप में क्रिया नहीं होती है, अतः ज्ञान अपने आपमें अपने को जाननेरूप क्रिया नहीं करता है, सो यह युक्ति दीपकदृष्टान्त से समाप्त हो जाती है । दीपक अपने आपमें अपने को प्रकाशित करने रूप क्रिया करता है । आपके कहने से “स्वात्मनि क्रियाविरोध” इस पर हम विचार करेंगे तो यह बताओ—कि स्वात्मा कहते किसे है—क्रिया के स्वरूपको या क्रियावान् आत्मा को ? क्रिया का स्वरूप क्रिया में कैसे विरुद्ध हो सकता है ? यदि स्वरूप ही विरुद्ध होने लग जाय तो सारी वस्तुएँ स्वरूपरहित—शून्य हो जावेगी । “स्वात्मनि क्रिया-

विरोध” इस आपके वाक्य मे क्रिया का अर्थ उत्पत्तिरूप क्रिया से हो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि कोई अपने द्वारा आप पैदा नहीं होता, ऐसी उत्पत्तिरूप क्रिया तो ज्ञान में संभव ही नहीं। क्योंकि वह गुण है, ऐसी क्रिया तो द्रव्य में ही होती है। ज्ञानादि गुणो मे नहीं।

आप योग का ऐसा कहना है कि एक ज्ञान अपने को और पर को दोनों को कैसे जान सकता है ? अर्थात् नहीं जान सकता सो आपके इस कथन में विरोध आता है, क्योंकि आपके आगम में ऐसा लिखा है कि—“सद्सद्वर्गः एकज्ञानालंबनमनेकत्वात्” अर्थात्—सद्वर्गद्रव्यगुणादि और असद्वर्ग प्रागभाव आदि एक ईश्वरज्ञान के आलंबन (विषय) है, क्योंकि वे अनेक है। सद्वर्ग में गुणनामापदार्थको लिया है और ज्ञान भी एक गुण है सो द्रव्य, तथा ज्ञानादि गुण एक ही ज्ञान द्वारा जाने जाते है ऐसा कहनेसे तो ज्ञान अपने आपको जाननेवाला सिद्ध होता है।

तथा—पदार्थ को पहिला ज्ञान जानेगा फिर उस ज्ञान को दूसरा तथा उस दूसरे को तीसरा जानेगा, सो ऐसी तीन ज्ञान की परंपरा हो जाती है, तो चौथे पांचवे आदि ज्ञान भी क्यों नहीं होवेगे। यह एक जटिल प्रश्न है। आपके द्वारा इस सबधमें दिये गये शक्ति क्षय आदि चारो हेतु गलत हैं। अर्थात् आपने कहा है कि आगे चौथे आदि ज्ञान पैदा करने की आत्मा में ताकत ही नहीं है, सो बात कैसे जचे। क्योंकि शक्ति का क्षय होता हो तो आगे लगादि ज्ञान भी जो होते रहते हैं (तीन ज्ञान के बाद भी) वे कैसे होंगे ? इनके नहीं होने पर सासारिक व्यवहार का अभाव मानवे का प्रसंग प्राप्त होगा। ईश्वर भी आगे की ज्ञानपरपरारूप अनवस्था को रोक नहीं सकता, क्योंकि यह कृतकृत्य हो चुका है। उसे क्या प्रयोजन है। विषयान्तर संचार तब होता है जब कि ज्ञान ने पहिले विषय को जाना है, किन्तु यहा अभी धर्मी ज्ञान को जाना ही नहीं है। तब विषयान्तर संचार कैसे होगा ? अन्त में जब कुछ सिद्ध न हो पाया तब आपने कहा कि स्वपर दोनो को यदि ज्ञान जानेगा तो उसमें दो स्वभाव मानने पडे गे तथा वे स्वभाव भी उस स्वभाववान् से भिन्न रहेगे या अभिन्न इत्यादि कुतर्क किये है तो उसके बारे में यह जवाब है कि स्वभाव और स्वभाववान् में कथंचित् भेद है तथा कथंचित् अभेद भी है इसका खुलासा करते है कि स्वको जाननेवाला ज्ञान और परको जाननेवाला ज्ञान ये दोनो एक ही हैं एक ही ज्ञान स्वपर प्रकाशक

है, उसकी स्वको जाननेकी शक्ति और परको जाननेकी शक्ति उससे अभिन्न है स्व हो चाहे पर हो दोनो से जाननपना समान है अतः इनमे अभेद है । इसतरह ज्ञानत्व स्वरूपकी अपेक्षा अभेद और विषय भेदकी अपेक्षा भेद है ऐसा मानना चाहिये, तथा ऐसा स्वभाववाला ज्ञान आत्मासे कथंचित अभिन्न ऐसा स्वीकार करना चाहिये । तथा ज्ञान की स्वपर प्रकाशनरूप जो शक्ति है वह मात्र परोक्ष है, क्योंकि छद्मस्थ जीव किसी भी गुण की शक्ति को प्रत्यक्ष वही कर सकता सिर्फ उसका कार्य देखकर अनुमान से वह उन्हें जान लेता है । सामर्थ्य कार्यानुमेय है, इस बात को सभी वादी प्रतिवादी स्वीकार करते हैं । इसलिये ज्ञान स्वपर प्रकाशक है यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ ।

ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञान के खंडन का सारांश समाप्त



प्रामाण्यवाद का पूर्वपक्ष

मीमांसक “प्रत्येक प्रमाण मे प्रमाणता स्वतः ही आती है और अप्रमाण में अप्रमाणता परत ही आती है” ऐसा मानते हैं। इस स्वतः प्रामाण्यवाद का यहा कथन किया जाता है। प्रत्यक्षप्रमाण आदि ६ हों प्रमाणों में जो सत्यता अर्थात् वास्तविकता है वह स्वतः अपने आपसे है। किसी अन्य के द्वारा नहीं।

“स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
नहि स्वतो ऽसती शक्तिः कर्तुं मन्येन प्राक्यते ॥”

—मीमांसक श्लो० ॥ ४७ ॥ पृ० ४५

अर्थ—सभी प्रमाणों में प्रामाण्य स्वतः ही रहता है, क्योंकि यदि प्रमाण में प्रामाण्य निज का नहीं होवे तो वह पर से भी नहीं आ सकता, जो शक्ति खुद में नहीं होवे तो वह भला पर से किस प्रकार आ सकती है, अर्थात् नहीं आ सकती।

“जाते ऽपि यदि विज्ञाने तावन्नार्थोऽवधार्यते ।
यावत्कारणशुद्धत्व न प्रमाणान्तराद्भवेत् ॥ ४६ ॥
तत्र ज्ञानान्तरोत्पाद प्रतीक्ष्य कारणान्तरात् ।
यावद्धि न परिच्छिन्ना शुद्धिस्तावदसत्समा ॥ ५० ॥
तस्यापि कारणे शुद्धे तज्ज्ञाने स्यात्प्रमाणता ।
तस्याप्येवमितीच्छश्च न क्वचिद्वचवतिष्ठते ॥ ५१ ॥

—मीमांसक श्लो० पृ० ४५—४६

जो प्रवादीगण प्रमाणों मे प्रमाणता पर से आती है ऐसा मानते हैं उनके मत मे अनवस्था दूषण आता है, देखिये—ज्ञान उत्पन्न हो चुकने पर भी तब तक वह पदार्थ को नहीं जान सकता है, कि जब तक उस ज्ञान के कारणों की सत्यता या विशुद्धि अन्य ज्ञान से नहीं जानी है, अब जब उस विवक्षित ज्ञान के कारण की शुद्धि का निर्णय देनेवाला जो अन्य ज्ञान आया है वह भी अज्ञात कारण शुद्धिवाला है, अतः वह भी पहिले ज्ञान के समान ही है। उसके कारण की शुद्धि अन्य तीसरे ज्ञान से होगी, इस प्रकार कही पर भी नहीं ठहरनेवाली अनवस्था आती है। अतः ज्ञान के कारणों

से भिन्न किसी अन्य कारण से ही प्रामाण्य आता है ऐसा मानना सदोष है, यहां कोई ऐसा कहे कि मीमांसक ज्ञान में प्रामाण्य का भले ही स्वतः होना स्वीकार करे, किन्तु उसमें अप्रामाण्य तो परतः होना मानते हैं तो फिर उस परतः अप्रामाण्य में भी तो अनवस्था दोष आवेगा ? सो इस प्रकार की उत्पन्न हुई शका का समाधान इस प्रकार से है—

“नहि पराधीनत्वमात्रेणानवस्था भवति सजातीयापेक्षायां ह्यनवस्था भवति तेन यदि प्रमाणान्तरायत्तप्रामाण्यत्रदप्रमाणान्तरायत्तमप्रामाण्य स्यात्तत स्यादनवस्था । तत्तु प्रमाणभूतार्थान्यथात्वदोषज्ञानाधीनम् । प्रामाण्यं च स्वतः इति नानवस्था ।

—मीमांसक श्लोक ५६ टीका पृ० ४७

अर्थ— जो पर से होवे या पराधीन होवे इतने मात्र से प्रमाण या अप्रमाण में अनवस्था आती है सो ऐसी बात तो है नहीं । कारण कि अनवस्था का कारण तो सजातीय अन्य प्रमाण आदि की अपेक्षा होती है । अर्थात् किसी विवक्षित एक प्रमाण का प्रामाण्य अन्य सजातीय प्रामाण्य के आधीन होवे अथवा एक अप्रमाण का अप्रामाण्य अन्य सजातीय अप्रामाण्य के ही आधीन होवे तो अनवस्थादूषण आ सकता है, किन्तु अप्रामाण्य का कारण तो पदार्थ को प्रत्यथारूप से बतानेवाला दोषज्ञान है जो कि प्रमाणभूत है । प्रमाण में प्रामाण्य तो स्वतः ही, अतः अप्रामाण्य पर से मानने में अनवस्था नहीं आती है । ऐसी बात प्रामाण्य के विषय में हो नहीं सकती, क्योंकि प्रमाण की प्रामाण्यता बतानेवाला ज्ञान यदि प्रमाणभूत है तो उसमें प्रामाण्य कहा से आया यह बतलाना पड़ेगा, कोई कहे कि उस दूसरे प्रमाण में तो स्वतः प्रामाण्य आया है तो पहिले में भी स्वतः प्रामाण्य मानना होगा, और वह अन्य प्रमाण से आया है ऐसा कहो तो अनवस्था आयेगी ही । यदि उस विवक्षित प्रमाण में प्रामाण्य अन्य प्रमाण से नहीं आकर अप्रमाण से आता है ऐसा कहो तो वह बन नहीं सकता, क्योंकि प्रमाण में प्रामाण्य अप्रमाण से होना असंभव है । कहीं मिथ्याज्ञान से सत्य ज्ञान की सत्यता सिद्ध हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती । अतः हम मीमांसक परतः अप्रामाण्य मानते हैं । इसमें अनवस्था दोष नहीं आता है । और जो जैन आदि प्रवादी प्रामाण्य परतः मानते हैं उनके यहां पर तो अनवस्थादूषण अवश्य ही उपस्थित होता है । मतलब यह है कि प्रमाण की प्रामाण्यता पर से सिद्ध होना कहे तो वहां पर तो प्रमाणभूत सजातीय ज्ञान ही होना चाहिये, किन्तु अप्रामाण्य के लिये ऐसे सजातीय

ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। किसी अप्रमाणज्ञान की अप्रमाणता उससे भिन्न विजातीय प्रमाणभूत ज्ञान से बतायी जाती है, इसलिये परत. अप्रामाण्य मानने में अनवस्था नहीं आती। प्रामाण्य की उत्पत्ति ज्ञप्ति तथा स्वकार्य इन तीनों में भी अन्य की अपेक्षा नहीं हुआ करती है। अर्थात् ज्ञान या प्रमाण की जिन इन्द्रियादि कारणों से उत्पत्ति होती है उन्हीं कारणों से उस प्रमाण में प्रामाण्य भी आता है। ज्ञप्ति अर्थात् जानना भी उन्हीं से होता है, उसमें भी अन्य की आवश्यकता नहीं है। तथा पदार्थ की परिच्छित्तिरूपस्वकार्य में भी प्रामाण्य को पर की अपेक्षा नहीं लेनी पडती है। ये सब स्वत ही प्रमाण उत्पन्न होने के साथ उसी में मौजूद रहते हैं। अर्थात् प्रमाण इनसे युक्त ही उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष अनुमान आगम उपमान अर्थात्पत्ति और अभाव ये सब के सब प्रमाण स्वत. प्रामाण्य को लिये हुए है। प्रत्यक्षादि प्रमाण जिन जिन इन्द्रिय, लिङ्ग, शब्द आदि कारणों से उत्पन्न होते हैं उन्हीं से उनमें प्रामाण्य भी रहता है। यहाँ पर किसी को शका हो सकती है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में तो प्रामाण्य स्वत होवे किन्तु आगमप्रमाण में स्वत प्रामाण्य कैसे हो सकता है, क्योंकि शब्द तो अपनी सत्यता सिद्ध कर नहीं सकते, तथा शब्द की प्रामाणिकता तो गुणवान् वक्ता के ऊपर ही निर्भर है, सो इस शकाका समाधान इस प्रकार से है—

“शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थिति ।

तदभाव क्वचित् तावद् गुणवत्त्ववृत्तत् ॥ ६२ ॥

तद्गुणैश्चकृष्टाना शब्दे सक्रान्त्यसभवात् ।

यद्गुवा वक्त्रभावेन न स्युर्दोषा निराश्रया ॥ ६३ ॥

अर्थ—शब्द में दोष की उत्पत्ति वक्ता के आधीन है। वचन में अस्पष्टता आदि दोष तो वक्ता के निमित्त से होते हैं। वे दोष किसी गुणवान् वक्ता के वचनो में नहीं होते, ऐसा जो मानते हैं सो क्या वक्ता के गुण शब्द में सक्रामित होते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते, इसलिये जहाँ वक्ता का ही अभाव है वहाँ दोष रहेंगे नहीं और प्रामाण्य अपने आप आजायगा, इसीलिये तो हम लोग शब्द-आगम को अपौरुषेय मानते हैं, मतलब यह कि शब्द में अप्रामाण्य पुरुषकृत है, जब वेद पुरुष के द्वारा रचा ही नहीं गया है तब उसमें अप्रामाण्य का प्रश्न ही नहीं उठ सकता है।

चोदना जनिता बुद्धिः प्रमाण दोषवर्जितै ।

कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिङ्गाप्रोक्त्यक्षबुद्धिवत् ॥ १ ॥

—मीमासा० सूत्र २ श्लोक १८४

अर्थ—चोदता—अर्थात् वेद से उत्पन्न हुई बुद्धि प्रमाणभूत है, क्योंकि यह ज्ञान निर्दोष कारणों से हुआ है। जैसे कि हेतु से उत्पन्न हुआ अनुमान तथा आप्त-वचन और इन्द्रियो से उत्पन्न हुआ ज्ञान स्वतः प्रामाणिक है, वैसे ही वेदवाक्य से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रामाण्य है क्योंकि वेद स्वतः प्रमाणभूत है, इस प्रकार सभी प्रमाण स्वतः प्रामाण्यरूप ही उत्पन्न होते हैं, यह सिद्ध होता है।

यहां पर कोई प्रश्नकर्त्ता प्रश्न करता है कि प्रमाणों में प्रामाण्य स्वतः ही होता है यह तो मीमांसक ने स्वीकार किया है, किन्तु जब कोई भी प्रमाण उत्पन्न होता है तब उसी उत्पत्ति के क्षण में तो वह अपने प्रामाण्य को ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि वह तो उसकी उत्पत्ति का क्षण है, इस प्रकार जिसका प्रामाण्य जाना ही नहीं है उसके द्वारा लोक व्यवहार कैसे होवे, सो इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार से है—

प्रमाण ग्रहणात् पूर्व स्वरूपेणैव सस्थितम् ।

निरपेक्ष स्वकार्येषु गृह्यते प्रत्ययान्तरै ॥ ३ ॥

विनैवात्मग्रहणेन प्रमाण स्वसत्तामात्रेणैव सस्थित कृत कार्यं भवति अर्थपरि-
च्छेद करणात् परिच्छिन्ने चार्थे तन्मात्रनिबन्धनत्वात् कार्यस्य व्यवहारस्य तत्रापि तात्था-
पेक्षा एव कृतकार्ये पश्चात् सजाताया जिज्ञासायामानुमानिकं प्रत्ययान्तरैर्गृह्यते ।

अर्थ—प्रमाणभूत ज्ञान स्वग्रहण के पहिले स्वरूप में स्थित रहता है। वह तो अपना जानने का जो कार्य है उसके करने में अन्य से निरपेक्ष है। पीछे भले ही अन्य अनुमानादि से उसका ग्रहण हो जाय। मतलब—प्रमाण तो वह है जो पदार्थ को जानने में साधकतम है—करण है। उस साधकतम प्रमाण के द्वारा पदार्थ को जानना यही उसका कार्य है। व्यवहार में भी प्रमाण की खोज या जरूरत पदार्थ को जानने के लिये ही होती है। यह जो अपना उसका अर्थपरिच्छित्तिरूप कार्य है उसको प्रमाण उत्पन्न होते ही कर लेता है, उस कार्य को करने के लिये उसे स्वयं को ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है। अर्थात् कुछ भी आवश्यकता नहीं है। प्रमाण का अर्थपरिच्छित्ति रूप कार्य समाप्त हो जाने पर व्यक्ति को उसके जानने की इच्छा होने से अनुमानो

द्वारा उस प्रमाण का ग्रहण हो जाया करता है ।

“तेनास्य ज्ञायमानत्व प्रामाण्येनोपयुज्यते ।

विषयानुभवो ह्यत्र पूर्वस्मादेव लभ्यते ॥ ८४ ॥

तेनास्य ज्ञायमानत्वमात्मीयप्रामाण्ये ग्रहीतव्ये नोपयोग्येवेत्याह (तेनेति) । कथं तदज्ञाने तत् प्रामाण्यग्रहणमित्याह (विषयानुभव इति) न ज्ञानसंबन्धित्वेन प्रामाण्यं गृह्यते इति ब्रूमः, किन्तु विषयतथात्व तद्विज्ञानस्य प्रामाण्यं तन्निबन्धनत्वात् ज्ञाने प्रमाणबुद्धिशब्दयोः । तच्चाज्ञासादेव ज्ञानं स्वतः एव गृहीतमित्यनर्थकं प्रमाणान्तरमिति ।

—मीमां० पृ० ५३-५४

अर्थ—पदार्थ को जाननेवाला प्रमाण है, उसको यदि न जाना जाय तो उसमें प्रामाण्य किस प्रकार समझा जाय सो ऐसा कहना बेकार है, क्योंकि पदार्थ का बोध होना जरूरी है, और वह तो उसी प्रमाण से हो चुका है, हम लोग प्रमाण को स्वव्यवसायी मानते ही नहीं हैं, अतः प्रमाण को वस्तुग्रहण करने के लिये स्वग्रहण की आवश्यकता नहीं है, ज्ञान के सबध से प्रामाण्यग्रहण होता है ऐसा हम कहते ही नहीं हैं, हम तो विषय अर्थात् पदार्थ का यथार्थ जानना प्रामाण्य है ऐसा स्वीकार करते हैं । पदार्थ का अनुभव करने में ज्ञान कारण है, उस कारण को ही तो प्रमाणशब्द से पुकारते हैं । तथा उसीमें प्रमाणपनेका भान होता है । इस प्रकार कोई भी प्रमाण हो उसमें प्रमाणता लानेके लिए अन्यको जरूरत नहीं रहती है । सब प्रमाण स्वतः ही प्रमाणभूत है यह सिद्ध हुआ ।

* पूर्वपक्ष समाप्त *



प्रामाण्यवादः

*

अमुमेवार्थं समर्थयमान कोवेत्यादिना प्रकरणार्थमुपसहरति ।

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥११॥ प्रदीपवत् ॥१२॥

को वा लो(लौ)किकः परीक्षको वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव प्रमाणदेव तथा प्रत्यक्षप्रकारेण नेच्छेत् । अपि तु प्रतीति प्रमाणयन्निच्छेदेव । अत्रैवार्थे परीक्षकेतरजनप्रसिद्धत्वात् प्रदीप दृष्टान्तीकरोति, ? तथैव हि प्रदीपस्य स्वप्रकाशता प्रत्यक्षता वा विना तत्प्रतिभासिनोर्थस्य

अब ज्ञान के स्वसविदितपने को पुन पुष्ट करने के लिये “को वा” इत्यादि सूत्र द्वारा माणिक्यनदी आचार्य स्वय इस ज्ञानविषयक विवाद का उपमहार करते हैं—

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥११॥ प्रदीपवत् ॥१२॥

सूत्रार्थ—कौन ऐसा लौकिक या परीक्षक पुरुष है कि जो ज्ञान के द्वारा प्रतिभासित हुए पदार्थ को तो प्रत्यक्ष माने और उस ज्ञान को ही प्रत्यक्ष न माने, अर्थात् उसे अवश्य ही ज्ञान को प्रत्यक्ष—मानना चाहिये, चाहे वह सामान्यजन हो चाहे परीक्षकजव हो, कोई भी जन क्यों न हो, जब वह उस प्रमाण से प्रतिभासित हुए पदार्थ का साक्षात् होना स्वीकार करता है तो उसे स्वयं ज्ञान का भी अपने आप प्रत्यक्ष होना स्वीकार करना चाहिये । क्योंकि प्रतीति को प्रामाणिक माना है जैसी प्रतीति होती है वैसी वस्तु होती है, ऐसा जो मानता है वह ज्ञान में अपने आपसे प्रत्यक्षता होती है ऐसा मानेगा ही । इसी विषय का समर्थन करने के लिये परीक्षक और सामान्य पुरुषों में प्रसिद्ध ऐसे दीपक का उदाहरण दिया जाता है, जैसे दीपक में स्व की प्रकाशकता या प्रत्यक्षता विना उसके द्वारा प्रकाशित किये गये पदार्थों में प्रकाशकता एवं प्रत्यक्षता सिद्ध नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार प्रमाण में भी प्रत्यक्षता

प्रकाशकता प्रत्यक्षता वा नोपपद्यते । तथा प्रमाणस्यापि प्रत्यक्षतामन्तरेण तत्प्रतिभासिनोर्थस्य प्रत्यक्षता न स्यादित्युक्तं प्राक् प्रबन्धेनेत्युपरम्यते । तदेव सकलप्रमाणव्यक्तिव्यापि साकल्येनाप्रमाणव्यक्तिभ्यो व्यावृत्त प्रमाणप्रसिद्ध स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणलक्षणम् ।

ननुक्तलक्षणप्रमाणस्य प्रामाण्यं स्वतः परतो वा स्यादित्याशङ्क्य प्रतिविधत्ते ।

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥ १३ ॥

तस्य स्वापूर्वार्थेत्यादिलक्षणलक्षितप्रमाणस्य प्रामाण्यमुत्पत्तो परत एव । ज्ञप्ती स्वकार्थं च स्वतः

हुए विना उसके द्वारा प्रतीत हुए पदार्थ में भी प्रत्यक्षता नहीं हो सकती, इस विषय पर बहुत अधिक विवेचन पहिले कर आये है सो अब इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं । इस प्रकार श्री माणिक्यनदी आचार्य के द्वारा प्रतिपादित प्रथम श्लोक के अनन्तर ही कहा गया प्रमाण का “स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानं प्रमाण” यह लक्षण और उस लक्षण सम्बन्धी विशेषणों का सार्थक विवेचन, करने वाले ११ सूत्रों की श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने बहुत ही विशद व्याख्या की है, इस विशद विस्तृत व्याख्या से यह अच्छी तरह सिद्ध किया जा चुका है कि प्रमाण का यह जैनाचार्यद्वारा प्रतिपादित लक्षण प्रमाण के संपूर्ण भेदों में सुघटित होता है, कोई भी प्रमाण चाहे वह प्रत्यक्ष हो या परोक्ष हो उन सब में यह लक्षण व्यापक है, अतः अव्याप्ति नामक दोष— (लक्षण दोष)—इसमें नहीं है । जितने जगत में अप्रमाणभूत ज्ञान है उनमें या कल्पित सन्निकर्ष, कारकसाकल्य आदि अप्रमाणों में यह लक्षण नहीं पाया जाता है, अतः अतिव्याप्ति दूषण से भी यह लक्षण दूर है, अतः यह प्रमाणका लक्षण सर्वमान्य निर्दोष-लक्षण सिद्ध होता है ।

शंका—ठीक है—आपने स्वपर को जाननेवाले ज्ञान को प्रमाण माना है, यह तो समझ में आ गया, अब आप यह बतावे उस लक्षणप्रसिद्ध प्रमाण में प्रामाण्यता स्वतः होती है कि पर से होती है ? ऐसी आशंका के समाधानार्थ अग्रिम सूत्र कहा जाता है—

“तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च” ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—स्वपर व्यवसायी जो प्रमाण है उसमें प्रामाण्यता कही पर स्वतः होती है और कही पर परसे भी होती है । प्रमाण में प्रामाण्यता की उत्पत्ति तो पर से ही होती है । और उसमें प्रामाण्यता को जाननेरूप जो ज्ञप्ति है तथा उसकी जो स्व-

परतश्च अभ्यासानभ्यासापेक्षया ।

ये तु सकलप्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यं मन्यन्ते तेषु प्रष्टव्या—किमुत्पत्तौ, ज्ञप्ती, स्वकार्ये वा स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यं प्रार्थ्यते प्रकारान्तरासम्भवात् ? यद्युत्पत्तौ, तत्रापि 'स्वतः प्रामाण्य-मुत्पद्यते' इति कोर्थ ? किं कारणमन्तरेणोत्पद्यते, स्वसामग्रीतो वा, विज्ञानमात्रसामग्रीतो वा गत्यन्तराभावात् । प्रथमपक्षे—देशकालनियमेन प्रतिनियतप्रमाणाधारतया प्रामाण्यप्रवृत्तिर्विरोध

कार्यरूप प्रवृत्ति है—अर्थपरिच्छित्ति है वह तो अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में पर से आया करती है ।

मीमांसक का एकभेद जो भाट्ट है वह सपूर्ण प्रमाणों में प्रमाणता स्वतः ही मानता है । उनसे हम जैन पूछते हैं कि उत्पत्ति की अपेक्षा स्वतः प्रमाणता होती है अथवा जाननेरूप ज्ञप्ति की अपेक्षा स्वतः प्रमाणता होती है या प्रमाण की जो स्वकार्य में (अर्थपरिच्छित्ति में) प्रवृत्ति होती है, उसकी अपेक्षा स्वतः प्रमाणता होती है, इन तीनों प्रकारों को छोड़कर और कोई स्वतः प्रामाण्य का साधक निमित्त नहीं हो सकता है । यदि उत्पत्ति की अपेक्षा स्वतः प्रामाण्य माना जाय तो उसमें भी यह शका होती है कि "प्रामाण्य स्वतः होता है" सो इसका क्या अर्थ है ? क्या वह कारण के बिना उत्पन्न होता है यह अर्थ है ? या वह अपनी सामग्री से उत्पन्न होता है ? या कि विज्ञानमात्र सामग्री से उत्पन्न होता है यह अर्थ है ? इन तीनों प्रकारों को छोड़कर अन्य और कोई 'स्वतः प्रामाण्य उत्पन्न होता है' इस वाक्य का अर्थ नहीं निकलता है । प्रथमपक्ष के अनुसार कारण के बिना ही प्रमाण में प्रमाणता उत्पन्न होती है यही प्रामाण्य का "स्वतः प्रामाण्य उत्पन्न होना कहलाता है" ऐसा कहो तो देश और काल के नियम से प्रतिनियतप्रमाणभूत आधार से प्रामाण्य की जो प्रवृत्ति होती है वह विरुद्ध होगी, क्योंकि जो स्वतः ही उत्पन्न होता है उसका कोई निश्चित आधार नहीं रहता है, यदि रहता है तब तो वह आधार के बिना—अर्थात् कारण के बिना उत्पन्न हुआ है ऐसा कह ही नहीं सकते, मतलब—यदि प्रामाण्य बिना कारण के यो ही उत्पन्न होता है तो उस प्रामाण्य के सम्बन्ध में यह इसी स्थान के प्रमाण का या इसी समय के प्रमाण का यह प्रामाण्य है ऐसा कह नहीं सकते हैं—दूसरा पक्ष—यदि अपनी सामग्री से उत्पन्न होने को स्वतः प्रामाण्य कहते हो—तब तो इस पक्ष में सिद्धसाध्यता है—(सिद्ध को ही पुनः सिद्ध करना है) क्योंकि विश्व में जितने भी पदार्थ हैं उन सबकी उत्पत्ति अपनी अपनी सामग्री से ही हुआ करती है,

स्वतो जायमानस्यैवंरूपत्वात्, अन्यथा तदयोगात् । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता, स्वसामग्रीत सकल-
भावानामुत्पत्त्यभ्युपगमात् । तृतीयपक्षोप्यविचारितरमणीय ; विशिष्टकार्यस्याविशिष्टकारणप्रभव-
त्वायोगात् । तथा हि—प्रामाण्य विशिष्टकारणप्रभव विशिष्टकार्यत्वादप्रामाण्यवत् । यथैव ह्यप्रामाण्य-
लक्षण विशिष्ट कार्यं काचकामलादिदोषलक्षणविशिष्टेभ्यश्चक्षुरादिभ्यो जायते तथा प्रामाण्यमपि
गुणविशेषणविशिष्टेभ्यो विशेषाभावात् ।

ज्ञप्तावप्यनभ्यासदशाया न प्रामाण्य स्वतोऽवतिष्ठते; सन्देहविपर्ययाक्रान्तत्वात्तद्वदेव ।

ऐसा सभी मानते हैं, तीसरापक्ष—विज्ञानमात्र की सामग्री से (अर्थात् प्रमाण की जो उत्पादक सामग्री—इन्द्रियादिक है उसी सामग्री से) प्रमाण में प्रामाण्य उत्पन्न होता है, ऐसा माना जाय तो भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि प्रमाण से विशिष्ट कार्य जो प्रामाण्य है उसका कारण अविशिष्ट मानना—(ज्ञान के कारण जैसा ही मानना) अयुक्त है, अर्थात् प्रमाण और प्रामाण्य भिन्न २ कार्य है, अतः उनका कारणकलाप भी विशिष्ट—पृथक् होना चाहिये । अब यही बताया जाता है—प्रामाण्य विशिष्ट कारण से उत्पन्न होता है (पक्ष), क्योंकि वह विशिष्ट कार्यरूप है (हेतु), जैसा कि आप भाट्ट के मत में अप्रामाण्य को विशिष्ट कार्य होने से विशिष्टकारणजन्य माना गया है, अतः आप अप्रामाण्यरूप विशिष्टकार्य को काच कामल आदि रोगयुक्त चक्षु आदि इन्द्रियरूप विशिष्ट कारणों से उत्पन्न होना जैसा स्वीकार करते हैं ठीक उसी प्रकार प्रामाण्य भी विशिष्ट कार्य होने से गुणवान् नेत्र आदि विशिष्ट कारणों से उत्पन्न होता है ऐसा मानना चाहिये । प्रामाण्य और अप्रामाण्य इन दोनों में भी विशिष्ट कार्यपना समान है, कोई विशेषता नहीं है । इस प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत होती है, ऐसा जो प्रथम पक्ष रखा गया है उसका निरसन हो जाता है ।

अब ज्ञप्ति के पक्ष में अर्थात् प्रमाण में प्रामाण्य स्वतः जान लिया जाता है सो इस द्वितीय पक्ष में क्या दूषण है वह बताया जाता है—ज्ञप्ति की अपेक्षा प्रामाण्य स्वत है ऐसा सर्वथा नहीं कह सकते, क्योंकि अनभ्यासदशा में अपरिचित ग्राम तालाब आदि के ज्ञान में स्वतः प्रामाण्यता नहीं हुआ करती है, उस अवस्था में तो सशय, विपर्यय आदि दोषों से प्रमाण भरा रहता है, सो उस समय प्रमाण में स्वतः प्रामाण्यता की ज्ञप्ति कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती ।

भावार्थ—जिस वस्तु को पहिलीबार ज्ञान ग्रहण करता है, या जिससे हम परिचित नहीं है वह प्रमाण की [या हमारी] अबभ्यासदशा कहलाती है, ऐसे अन-

अभ्यासदशाया तूभयमपि स्वतः । नापि प्रवृत्तिलक्षणे स्वकार्ये तत्स्वतोऽवतिष्ठते, स्वग्रहणसंश्लेषत्वाद-
प्रामाण्यवदेव । तद्धि ज्ञात सन्निवृत्तिलक्षणस्वकार्यकारि नान्यथा ।

ननु गुराविशेषणविनिष्टेभ्य इत्यु(द्यु)क्तम्; तेषां प्रमाणतोऽनुपलम्भेनाद्यत्वात् । न खलु
प्रत्यक्ष तान्प्रत्येतु समर्थम्, अतीन्द्रियेन्द्रियाप्रतिपत्तो तद्गुणाना प्रतीतिविरोधान् । नाप्यनुमानम्;

भ्यस्त विषय मे प्रामाण्य स्वतः नही आता, जैसे—स्वर संबधी ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति
स्वर सुनते ही बता देगा कि यह किस प्राणी का शब्द है । उस समय उस प्राणी को
अन्य किसी को पूछना आदिरूप सहारा नही लेना पडता है, और उसका वह ज्ञान
प्रामाणिक कहलाता है, किन्तु उस स्वरविषयक ज्ञान से जो व्यक्ति शून्य होता है उस
पुरुष को स्वर सुनकर पूछना पडता है कि यह आवाज किसकी है, इत्यादि । अतः
अनभ्यास दशा मे प्रामाण्य की जप्ति स्वतः नही होती, यह सिद्ध हो जाता है । अभ्यास
दशा मे तो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो ही जप्ति की अपेक्षा स्वतः होते हैं, यहा
तक अभ्यास अनभ्यासदशा सबधी जप्ति की अपेक्षा लेकर प्रामाण्य स्वतः और परतः
होता है इस पर विचार किया । अब तीसरा जो स्वकार्य का पक्ष है उस पर जब
विचार करते है तो प्रमाण का प्रवृत्तिरूप जो कार्य है वह भी स्वतः नही होता है ।
क्योकि उसमें भी अपने आपके ग्रहण की अपेक्षा हुआ करती है कि यह चांदी का ज्ञान
जो मुझे हुआ है वह ठीक है या नही ? मतलब—जिस प्रकार भाट्ट अप्रामाण्य के विषय
मे मानते है कि अप्रामाण्य स्वतः नही आता—क्योकि उसमे पर से निर्णय होता है कि
यह ज्ञान काचकामलादि सदोष नेत्रजन्य है अतः सदोष है इत्यादि, उसी प्रकार प्रामाण्य
मे मानना होगा अर्थात् यह ज्ञान निर्मलता गुण युक्त नेत्र जन्य है अतः सत्य है ।
अप्रामाण्य जब ज्ञात रहेगा—तभी तो वह अपना कार्य जो वस्तु से हटाना है, निवृत्ति
कराना है उसे करेगा, अर्थात् यह प्रतीति असत्य है इत्यादिरूप से जब जाना जावेगा
तभी तो जाननेवाला व्यक्ति उस पदार्थ से हटेगा । अन्यथा नही हटेगा । वैसे ही
प्रामाण्य जब ज्ञात रहेगा तभी उस प्रमाण के विषयभूत वस्तु मे प्रामाण्य का प्रवृत्ति-
रूप स्वकार्य होगा, अन्यथा नही ।

मीमांसकभाट्ट—जैन ने अभी जो कहा है कि गुराविशेषण से विशिष्ट जो नेत्र
आदि कारण होते है उनसे प्रमाण मे प्रामाण्य आता है इत्यादि—सो यह उनका कथन
अयुक्त है, क्योकि प्रमाणसे गुणो की उपलब्धि नही होती है । देखिये—प्रत्यक्षप्रमाण तो
गुणो को जान नही सकता, क्योकि गुण अतीन्द्रिय है । प्रत्यक्षप्रमाण अतीन्द्रियवस्तु

तस्य प्रतिबन्धवलेनोत्पत्त्यभ्युपगमात् । प्रतिबन्धश्चेन्द्रियगुणै सह लिङ्गस्य प्रत्यक्षेण गृह्येत, अनुमानेन वा । न तावत्प्रत्यक्षेण, गुणाग्रहणे तत्सम्बन्धग्रहणविरोधात् । नाप्यनुमानेन, अस्यापि गृहीतसम्बन्धलिङ्गप्रभवत्वात् । तत्राप्यनुमानान्तरेण सम्बन्धग्रहणेऽनवस्था । प्रथमानुमानेनान्योन्याश्रयः । अप्रतिषन्नसम्बन्धप्रभव चानुमान न प्रमाणमतिप्रसङ्गात् ।

को ग्रहण नहीं करता इसलिये वह अतीन्द्रिय गुणो को जान नहीं सकता । अनुमान प्रमाण से भी गुणो का ग्रहण होना कठिन है, क्योंकि अनुमान के लिये तो अविनाभावी लिङ्ग चाहिये, तभी अनुमान प्रवृत्त हो सकता है । इन्द्रियों के गुणों के साथ प्रामाण्यरूप हेतु का अविनाभाव है, यह किसके द्वारा ग्रहण किया जायगा ? अनुमान द्वारा या प्रत्यक्ष द्वारा ? यदि कहो कि प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण होता है सो उसके द्वारा अविनाभाव का ग्रहण होना अशक्य है, क्योंकि जब गुणों का ही प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण नहीं होता है तब गुणो का और प्रामाण्य का अविनाभावी सबध है यह ग्रहण कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता । गुणो का प्रामाण्य के साथ जो अविनाभाव है उसे अनुमान के द्वारा जान लिया जायगा, ऐसा कहा जाय तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि यह अनुमान भी अपने अविनाभावी हेतु का ग्रहण होनेपर ही प्रवृत्त होता है, अब यदि इस दूसरे अनुमान के अविनाभावी हेतुको जाननेके लिये अनुमानान्तर को लाया जायगा तो अनवस्था स्पष्टरूपसे दिखायी देती है ।

प्रथम अनुमान द्वारा ही द्वितीय अनुमान [प्रथम अनुमान इन्द्रिय गुण और प्रामाण्यके अविनाभावका ग्राहक है और द्वितीय अनुमान उस प्रथम अनुमानका जो हेतु है उसके साध्याविनाभावित्वका ग्राहक है] के हेतुका अविनाभाव जाना जाता है ऐसा कहा जाय तो इस कथनमें अन्योन्याश्रय दोष आता है ।

यदि—इस अन्योन्याश्रयदोष को हटाने के लिये कहा जाय कि विना अविनाभाव संबधवाला अनुमान ही इन दोनों के सबधको ग्रहण कर लेगा—सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अविनाभाव सबध रहित अनुमान वास्तविक रूप से प्रमाणभूत नहीं माना जाता है । यदि वह अनुमान भी वास्तविकरूप से प्रमाणभूत माना जावे तो हर कोई भी यद्वा तद्वा अनुमान प्रमाणभूत मानना पड़ेगा इस तरह “गर्भस्थो मैत्रीतनय श्याम तत्पुत्रत्वात्” गर्भ मे स्थित मैत्री का पुत्र काला होगा, क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है, जैसे उसके और पुत्र काले है, इत्यादि भूठे अनुमान भी वास्तविक

किञ्च, स्वभावहेतो, कार्यात्, अनुपलब्धेर्वा तत्प्रभवेत् ? न तावत्स्वभावात्, तस्य प्रत्यक्ष-
गृहीतेर्थे व्यवहारमात्रप्रवर्तनफलत्वाद्बृक्षादौ शिशपात्वादिवत् । न चात्यक्षाऽक्षाश्रितगुणलिङ्गसम्बन्धः
प्रत्यक्षतः प्रतिपन्नः । कार्यहेतोश्च सिद्धे कार्यकारणभावे कारणप्रतिपत्तिहेतुत्वम्, तत्सिद्धिश्चाध्यक्षा-
नुपलम्भप्रमाणसम्पाद्या । न चेन्द्रियगुणाश्रितसम्बन्धग्राहकत्वेनाध्यक्षप्रवृत्ति, येन तत्कार्यत्वेन
कस्यचिल्लिङ्गस्याप्यध्यक्षतः प्रतिपत्ति स्यात् । अनुपलब्धेस्त्वेवत्रिधे विषये प्रवृत्तिरेव न सम्भवत्य-
भावमात्रसाधकत्वेनास्या व्यापारोपगमात् ।

बन जावेगे । क्योंकि हेतु का अपने साध्य के साथ अविनाभाव होना जरूरी
नहीं रहा है ।

अच्छा आप जैन यह बताइये कि इन्द्रियगुणों को सिद्ध करनेवाला अनुमान
स्वभावहेतु से प्रवृत्त होता है कि कार्य हेतु से प्रवृत्त होता है या कि अनुपलब्धिरूप
हेतु से प्रवृत्त होता है ? यदि कहा जाय कि स्वभावहेतु से उत्पन्न हुआ अनुमान गुणों
को सिद्ध करता है सो ऐसा कहना ठीक नहीं—क्योंकि स्वभाव हेतु वाला अनुमान
प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ में व्यवहार कराता है, यही इस अनुमान का
काम है, जैसे कि जब वृक्षत्वको शिशपाहेतु से सिद्ध किया जाता है—“वृक्षोऽयं शिश-
पात्वात्” यह वृक्ष है क्योंकि शिशपा है इत्यादि । तब यह स्वभाव हेतु वाला अनुमान
कहलाता है । ऐसे स्वभावहेतु वाले अनुमान से गुणों की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि
इन्द्रियों के आश्रय में रहनेवाले जो अतीन्द्रिय गुण हैं उन्हें आप प्रामाण्य का हेतु मान
रहे हैं, सो इन्द्रिय गुण और प्रामाण्य का जो संबन्ध है वह प्रत्यक्षगम्य तो है नहीं,
अतः स्वभाव हेतु वाला अनुमान गुणों का साधक है ऐसा कहना बनता नहीं है । यदि
कहा जाय कि कार्य हेतु से गुणों का सद्भाव सिद्ध होता है सो ऐसा कहना भी ठीक
नहीं, क्योंकि अभी तक उनमें कार्यकारण भाव सिद्ध नहीं हुआ है, जब वह सिद्ध हो
तब कार्य से कारणों की प्रतिपत्ति होना बने । कार्यकारणभाव की प्रतिपत्ति तो प्रत्यक्ष
प्रमाण से या अनुपलब्धि हेतुवाले अनुमान से हो सकती है, किन्तु यहाँ जो इन्द्रियगुणों
के आश्रय में रहनेवाला प्रामाण्य है उनके संबन्ध को अर्थात् इन्द्रियों के गुण (नेत्र-
विर्मलतादि) कारण हैं और उनका कार्य प्रामाण्य है इस प्रकार के संबन्ध को प्रत्यक्ष
प्रमाण तो ग्रहण कर नहीं सकता है, जिससे कि कार्यत्व से किसी हेतु की प्रतिपत्ति
प्रत्यक्ष से करली जावे, मतलब यह प्रामाण्यरूप कार्य प्रत्यक्ष हो रहा है अतः इन्द्रियों
में अवश्य ही गुण है इत्यादि कार्यानुमान तब बने जब इनका अविनाभाव संबन्ध

न चात्र लिङ्गमस्ति । यथार्थोपलब्धिरस्तीत्यप्यसद्गतम्, यतो यथार्थत्वायथार्थत्वे विहाय यदि कार्यस्योलब्ध्याख्यस्य स्वरूप निश्चित भवेत्तदा यथार्थत्वलक्षण. कार्यविशेष. पूर्वस्मात्कारणकलापादनिष्पद्यमानो गुणाख्य स्वोत्पत्तौ कारणान्तर परिकल्पयेत् । यदा तु यथार्थोपलब्धि स्वयो (स्वो)त्पादककारणकलापानुमापिका तदा कथं तद्व्यतिरिक्तगुणसद्भाव ? अयथार्थत्व तूपलब्धिविशेष. पूर्वस्मात्कारणसमूहादनुत्पद्यमान स्वोत्पत्तौ सामर्थ्यन्तर परिकल्पयतीति परतोऽप्रामाण्य तस्योत्पत्तौ दोषापेक्षत्वात् ।

प्रत्यक्ष से जान लिया होता, इसलिये यहा पर गुण और प्रामाण्य का कार्यकारणभाव प्रत्यक्षगम्य नहीं है यह निश्चित हुआ । अनुपलब्धि हेतु से गुण और प्रामाण्य का कारणकार्यभाव जानना भी शक्य नहीं है, क्योंकि अनुपलब्धि तो मात्र अभाव को सिद्ध करती है । इस तरह के विषय में तो अनुपलब्धि की गति ही नहीं है । यहा पर घट नहीं है क्योंकि उसकी अनुपलब्धि है इत्यादिरूप से अनुपलब्धि की प्रवृत्ति होती है, इसका इसके साथ कारणपना या कार्यपना है ऐसा सिद्ध करना अनुपलब्धि के वश की बात नहीं है ।

जैन “इन्द्रियोके गुणो से प्रामाण्य होता है, [प्रमाण में प्रामाण्य आता है] ऐसा मानते है किन्तु इन्द्रियगत गुणो को बतलाने वाला कोई हेतु दिखाई नहीं देता है । कोई शंका करे कि जैसी की तैसी पदार्थों की उपलब्धि होना ही गुणो को सिद्ध करने वाला हेतु है ? सो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि यथार्थरूप कार्य और अयथार्थरूप कार्य इन दोनों प्रकारके कार्यों को छोड़कर अन्य तीसरा उपलब्धि नामका कार्यत्व सामान्य का स्वरूप निश्चित होवे तो यथार्थ जाननारूप जो कार्य विशेष है वह पहिले कहे गये कारणकलाप (विज्ञानमात्र की इन्द्रियरूप सामग्री) से पैदा नहीं होता है इसलिये वह अपनी उत्पत्ति में अन्यगुण नामक कारणान्तर की अपेक्षा रखता है. इत्यादि बात सिद्ध होवे, किन्तु हमे इन्द्रियादि से यथार्थरूप पदार्थ की उपलब्धि होती है जो कि अपने उत्पादक कारणसमूह का ही अनुमान करा रही है तो फिर उस कारणसमूह से पृथक् गुणो का सद्भाव क्यों माने ? इन्द्रिय से यथार्थरूप पदार्थ का ग्रहण हो जाता है अतः वह इन्द्रियों को ही अपना कारण बतावेगा, उन्हे छोड कर अन्य को कारण कैसे बतायेगा ? इस तरह पदार्थ का यथार्थ ग्रहणरूप कार्य तो अपने सामान्यकारण को बताता है यह निश्चित हो जाता है । अब अयथार्थरूप से पदार्थ की उपलब्धि होनारूप जो कार्य है उस पर विचार करना है, यदि अयथार्थरूपसे पदार्थ

न चेन्द्रिये नैर्मल्यादिरेव गुणः; नैर्मल्य हि तत्स्वरूपम्, न तु स्वरूपाधिको गुण तथा व्यपदेशस्तु दोषाभावनिवन्धनः । तथाहि—कामलादिदोषासत्त्वाभिर्मलमिन्द्रियं तत्सत्त्वे सदोषम् । मनसोपि निद्राद्यभावः स्वरूप तत्सद्भावस्तु दोष । विषयस्यापि निश्चलन्वादिस्वरूप चलत्वादिस्तु दोष । प्रमातुरपि क्षुधाद्यभाव स्वरूप तत्सद्भावस्तु दोषः ।

न चैतद्वक्तव्यम्—विज्ञानजनकाना स्वरूपमयथार्थोपलब्ध्या समधिगतम् यथार्थत्व तु पूर्वस्मा-

की उपलब्धि होती है तो वह पूर्वकथित जो इन्द्रियरूप कारणकलाप है उससे नहीं होती है, उसके लिये तो अन्य ही कारणकलाप चाहिये, इस प्रकार अप्रामाण्य तो परापेक्ष है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति में दोषों की अपेक्षा होती है । दूसरी एक बात यह है कि इन्द्रियमें जो निर्मलपना है वह तो उसका स्वरूप है, स्वरूप से अधिक कोई न्यारा गुण नहीं है, इन्द्रिय के स्वरूप को जो कोई "गुण" ऐसा नाम कहकर पुकारते भी हैं सो ऐसा कहने में निमित्त कारणके दोषों का अभाव है, अर्थात् जब इन्द्रियो में दोषों का अभाव हो जाता है तब लोग कह देते हैं कि इस इन्द्रिय में निर्मलतारूप गुण है इत्यादि । इसी बात को सिद्ध करके प्रकट किया जाता है—जब नेत्र में पीलिया—कामला आदि रोग या काच बिन्दु आदि दोष नहीं होते हैं—तब नेत्र इन्द्रिय निर्मल है ऐसा कहते हैं, तथा—जब ये कामलादि दोष मौजूद रहते हैं तब उस इन्द्रिय को सदोष कहते हैं, जैसा चक्षु इन्द्रिय में घटित किया वैसे ही मन में भी घटित कर सकते हैं । देखो—मन का स्वरूप है—निद्रा आलस्य आदि का होना, और इससे विपरीत उन निद्रा आदि का होना वह दोष है, उसके सद्भाव में मन सदोष कहलावेगा, और इसी तरह प्रमेय का निश्चल रहना, निकटवर्ती रहना इत्यादि तो स्वरूप है और इससे उल्टा अस्थिर होना, दूर रहना इत्यादि दोष है । तथा—जाननेवाला जो व्यक्ति है उसका अपना स्वरूप तो क्षुधा आदि का न होना, शोक आदि का न होना है, और इन पीडा आदि का सद्भाव दोष है । इस प्रकार इन्द्रिय, विषय, मन और प्रमाता इनका अपने अपने स्वरूप में रहना स्वरूप है, और इनसे विपरीत होना—रहना वह दोष है और वे दोष ही अप्रामाण्य का कारण हुआ करते हैं, यह बात सिद्ध हुई । कोई इस तरह से कहें कि विज्ञान को उत्पन्न करनेवाली जो इन्द्रिया है उनका स्वरूप तो अर्थार्थरूप से हुई पदार्थ की उपलब्धि से जान लिया जाता है और पदार्थ की वास्तविक उपलब्धि तो पूर्व कथित इन्द्रियरूप कारण से उत्पन्न नहीं होकर अन्य गुण नामक सामग्री से होती है ? [अर्थात् पदार्थ का असत्यग्रहण इन्द्रिय के स्वरूप से होता है और सत्यग्रहण

त्कारणकलापादनुत्पद्यमान गुणाख्य सामग्र्यन्तर परिकल्पयति' इति, यतोऽत्र लोकः प्रमाणम् । न चात्र मिथ्याज्ञानात्कारणस्वरूपमात्रमेवानुमिनोति किन्तु सम्यग्ज्ञानात् ।

किञ्च, अर्थतथाभावप्रकाशनरूप प्रामाण्यम्, तस्य चक्षुरादिसामग्रीतो विज्ञानोत्पत्तावप्यनुत्पत्युपगमे विज्ञानस्य स्वरूप वक्तव्यम् । न च तद्रूपव्यतिरेकेण तस्य स्वरूप पश्यामो येन तदुत्पत्तावप्यनुत्पन्नमुत्तरकाल तत्रैवोत्पत्तिमदभ्युपगम्यते प्रामाण्य भित्ताविव चित्रम् । विज्ञानोत्पत्तावप्यनुत्पत्ती व्यतिरिक्तसामग्रीतश्चोत्पत्त्यभ्युपगमे विरुद्धधर्माध्यासात्कारणभेदाच्च तयोर्भेद स्यात् ।

इन्द्रिय के गुण से होता है] सो इस प्रकार की विपरीत कल्पना ठीक नहीं है, क्योंकि इस विषय में तो लोक ही प्रमाण है, [लोक में जैसी मान्यता है वही प्रामाणिक बात है] लोक में ऐसा नहीं मानते हैं कि मिथ्याज्ञान से चक्षु आदि इन्द्रियों का स्वरूप ही अनुमानित किया जाता है अर्थात्—मिथ्याज्ञान इन्द्रियो के स्वरूप से होता है ऐसा कोई नहीं मानता है, सब ही लोक इन्द्रियो के स्वरूप से सम्यग्ज्ञान होना मानते हैं । सम्यग्ज्ञानरूप कार्य से इन्द्रियस्वरूप कारण का अनुमान लगाते हैं कि यह सम्यग्ज्ञान जो हुआ है वह इन्द्रिय—स्वरूप की वजह से हुआ है इत्यादि, अतः इन्द्रिय का स्वरूप अर्थार्थउपलब्धि का कारण है ऐसा जैन का कहना गलत ठहरता है ।

इस बात पर विचार करे कि प्रामाण्य तो पदार्थ का जैसा स्वरूप है वैसा ही उसका प्रकाशन करनेरूप होता है अर्थात् प्रमाण का कार्य पदार्थ को यथार्थरूप से प्रतिभासित कराना है, यही तो प्रमाण का प्रामाण्य है, यदि ऐसा प्रामाण्य है, यदि ऐसा प्रामाण्य चक्षु आदि इन्द्रिय सामग्री से विज्ञान के उत्पन्न होने पर भी उत्पन्न नहीं होता है तो इसके अतिरिक्त विज्ञान का और क्या स्वरूप है वह तो आप जैनों को बताना चाहिये ? क्योंकि इसके अतिरिक्त उसका कोई स्वरूप हमारी प्रतीति में आता नहीं । कहने का तात्पर्य यह है कि प्रामाण्य ही उस विज्ञान या प्रमाण का स्वरूप है, उससे अतिरिक्त और कोई प्रामाण्य हमें प्रतीत नहीं होता कि जिससे वह प्रमाण के पैदा होने पर भी उत्पन्न नहीं हो, और उत्तरकालमें उसी में वह भित्ति पर चित्र की तरह पैदा हो ।

भावार्थ—प्रमाण अपनी कारणसामग्रीरूप इन्द्रियादि से उत्पन्न होता है और पीछे से उन इन्द्रियो के गुणादिरूप कारणों से उसमें प्रमाणता आती है जैसा कि दीवाल के वन जाने पर उसमें चित्र बनाया जाता है सो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि

किञ्च, अर्थतथात्वपरिच्छेदरूपा शक्ति प्रामाण्यम्, शक्तयश्च भावाना सत(स्वत) एवोत्पद्यन्ते नोत्पादककारणाधीना । तदुक्तम्—

“स्वत सर्वप्रमाणाना प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते ॥”

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४७]

न चैतत्सत्कार्यदर्शनसमाश्रयणादभिधीयते, किन्तु यः कार्यगतो धर्मः कारणे समस्ति स कार्यवत्तत एवोदयमासादयति यथा मृत्पिण्डे विद्यमाना रूपादयो घटेपि मृत्पिण्डादुपजायमाने मृत्पिण्ड-

यदि ज्ञानकी उत्पत्ति के अनंतर प्रमाणता आती है और ज्ञान के उत्पादक कारणों से उसमें प्रामाण्य नहीं आता है अन्य कारण से आता है, ऐसा कहा जाय तो यह कहना दिवाल के बननेके बाद उस पर चित्र बनाया जाता है उसके समान होगा अर्थात् दोनों का समय और कारण पृथक् पृथक् सिद्ध होगा ।

तथा प्रमाण की उत्पत्ति होने पर भी प्रमाणता उत्पन्न नहीं होती है और प्रमाण के कारणकलाप के अतिरिक्त कारण के द्वारा वह पैदा होती है इस प्रकार स्वीकार किया जाय तो ज्ञानरूप प्रमाण और प्रामाण्य में विरुद्ध दो धर्म—उत्पन्नत्व और अनुत्पन्नत्व पैदा हो जाने से एव प्रमाण और प्रामाण्य के कारणों में भेद हो जाने से प्रमाण और प्रामाण्य में महान् भेद पड़ेगा ? [जो किसी भी वादी प्रतिवादी को इष्ट नहीं है] ।

जैन को एक बात और यह समझानी है कि ज्ञान में पदार्थ को जैसा का तैसा जाननेरूप जो सामर्थ्य है वही प्रामाण्य है सो ऐसी जो शक्तिया पदार्थों में हुआ करती है वे स्वतः ही हुआ करती है, उनके लिये अन्य उत्पादक कारण की जरूरत नहीं होती है, कहा भी है—विश्व में जितने भी प्रमाण है उनमें प्रामाण्य स्वतः ही रहता है ऐसा बिलकुल निश्चय करना चाहिये, क्योंकि जिनमें स्वतः वैसी शक्ति नहीं है तो अन्य कारण से भी उसमें वह शक्ति आ नहीं सकती, ऐसा नियम है, इस भीमासा-श्लोकवार्त्तिक के श्लोक से ही निश्चय होता है कि प्रमाण में प्रामाण्यभूत शक्ति स्वतः है । यदि कोई ऐसी आशका करे कि इस तरह मानने में तो साख्य के सत्कार्यवाद का प्रसंग आता है ? सो इस तरह की शका करना भी ठीक नहीं है, इस विषय को हम अच्छी तरह से उदाहरण पूर्वक समझाते हैं, सुनिये ! कार्य में जो स्वभाव रहता है

रूपादिद्वारेणोपजायन्ते । ये तु कार्यधर्मा कारणेष्वविद्यमाना न ते ततः कार्यवत् जायन्ते किन्तु स्वत एव, यथा तस्यैवोदकाहरणशक्तिः । एव विज्ञानेष्वर्थतथात्वपरिच्छेदशक्तिश्चक्षुरादिष्वविद्यमाना तेभ्यो नोदयमासादयति किन्तु स्वत एवाविर्भवति । उक्त च —

“आत्मलाभे हि भावाना कारणापेक्षिता भवेत् ।

लब्धात्मना स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ॥”

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४८]

यथा—मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते ।

उदकाहरणे त्वस्य तदपेक्षा न विद्यते” ॥ []

वह उसमें अपने कारण से आता है कार्य जैसे ही कारण से उत्पन्न हुआ कि साथ ही वे स्वभाव उसमें उत्पन्न हो जाते हैं । जैसे मिट्टी के पिण्ड में रूप आदि गुण हैं वे घटरूप कार्य के उत्पन्न होते ही साथ के साथ घटरूप कार्य में आ जाते हैं । कोई कोई कार्य के स्वभाव ऐसे भी होते हैं कि जो कारणों में नहीं रहते हैं, ऐसे कार्य के वे गुण उस कारण से पैदा न होकर स्वतः ही उस कार्य में हो जाया करते हैं । जैसे-कार्यरूप घट में जल को धारण करने का गुण है वह सिर्फ उस घटरूप कार्य का ही निजस्वभाव है, मिट्टीरूप कारण का नहीं । जैसे यहां मिट्टी और घट की बात है वैसे विज्ञान की बात है, विज्ञान में भी पदार्थ को जैसा का तैसा जाननेरूप जो सामर्थ्य है वह उसके कारणभूत चक्षु आदि में नहीं है, अतः वह शक्ति चक्षु आदि से पैदा न होकर स्वत ही उसमें प्रकट हो जाया करती है । यही बात अन्यत्र कही है—पदार्थ उत्पत्ति मात्र में कारणों की अपेक्षा रखते हैं, जब वे पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुकते हैं तब उनकी निजी कार्य में प्रवृत्ति तो स्वय ही होती है । मतलब—पदार्थ या घटरूप कार्य मिट्टीकारण से सम्पन्न हुआ अब उस घट का कार्य जो जल धारण है वह तो स्वय घट ही करेगा, उसके लिये मिट्टी क्या सहायक बनेगी ? अर्थात् नहीं । इसी विषय का खुलासा कारिका द्वारा किया गया है—मिट्टी का पिण्ड, दड, कुम्हार का चक्र इत्यादि कारण घट की उत्पत्ति में जरूरी है, किन्तु घट के जल धारण करनेरूप कार्य में तो मिट्टी आदि कारणों की अपेक्षा नहीं रहती है । ऐसे अनेक उदाहरण हो सकते हैं कि कार्य निष्पन्न होने पर फिर अपने कार्य के संपादन में वह कारण की अपेक्षा नहीं रखता है ।

चक्षुरादिविज्ञानकारणादुपजायमानत्वात्तस्य परतोऽभिधाने तु सिद्धसाध्यता । अनुमानादि-
बुद्धिस्तु गृहीताविनाभावादिलिङ्गादेरुपजायमाना प्रमाणभूतैवोपजायतेऽतोऽत्रापि । तेषां न व्यापारः ।
तन्नोत्पत्तौ तदन्यापेक्षम् ।

नापि ज्ञप्ती, तद्धि तत्र किं कारणगुणानपेक्षते, सवादप्रत्यय वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्त, गुणाना
प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वेन प्रागेवासत्त्वप्रतिपादनात् । सवादज्ञानापेक्षाप्ययुक्ता, तत्खलु समानजा-

जैन का कहना है कि 'चक्षु आदि जो ज्ञान के कारण हैं उन कारणों से प्रामाण्य पैदा होता है अतः हम प्रामाण्य को पर से उत्पन्न हुआ मानते हैं सो ऐसा मानने में हम भाट्टों को कोई आपत्ति नहीं है, हम भी तो ऐसा ही सिद्ध करते हैं । प्रत्यक्षप्रमाण के प्रामाण्य में जो बात है वही अनुमानादि अन्य प्रमाणों में है । अनुमान प्रमाण साध्य के साथ जिसका अविनाभाव संबंध गृहीत हो चुका है ऐसे अविनाभावी हेतु से प्रमाणभूत ही उत्पन्न होता है । ऐसे ही आगमप्रमाण आदि जो प्रमाण हैं वे सभी प्रमाण अपने २ कारणों से प्रामाण्यसहित ही उत्पन्न होते हैं । इसलिये इन प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, आदि प्रमाणों में प्रामाण्य उत्पन्न कराने के लिये गुण चाहिये क्योंकि गुणों से ही प्रामाण्य होता है इत्यादि कहना गलत है । इस तरह प्रामाण्य की उत्पत्ति अन्य की अपेक्षा से होती है ऐसा उत्पत्ति का प्रथम पक्ष असिद्ध हो जाता है । इसी तरह ज्ञप्ति के पक्ष पर भी जब हम विचार करते हैं तो वहाँ पर भी उसे अन्य की अपेक्षा नहीं रहती है । ऐसा सिद्ध होता है । प्रामाण्य की ज्ञप्ति में अन्य कारण की अपेक्षा होती है ऐसा जैन स्वीकार करते हैं सो उनसे हम पूछते हैं कि वह अन्य कारण कौन है ? कारण (इन्द्रिय) के गुण है ? या सवादक ज्ञान है ? कारण के गुणों की अपेक्षा है ऐसा प्रथमपक्ष मानना ठीक नहीं है, क्योंकि अभी २ हमने यह सिद्ध कर दिया है कि गुणों का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण नहीं होता है, अतः वे असत् रूप ही हैं । द्वितीय विकल्प प्रामाण्य अपनी ज्ञप्ति में सवादक ज्ञान की अपेक्षा रखता है ऐसा कहना भी बेकार है, यही प्रकट किया जाता है, ज्ञप्ति में सवादक ज्ञान की अपेक्षा रहती है ऐसा कहा सो वह सवादकज्ञान समानजाति का है ? या भिन्न जाति का है ? समानजातीय सवादकज्ञान को ज्ञप्ति का हेतु माना जावे तब भी प्रश्न पैदा होता है कि वह समानजातीय सवादकज्ञान एकसतान से [उसी विवक्षित पुरुष से] उत्पन्न हुआ है ? अथवा दूसरे सतान से उत्पन्न हुआ है ? दूसरे सतान से उत्पन्न हुआ सवादक-ज्ञान इस विवक्षित प्रामाण्य का हेतु बन नहीं सकता, यदि बनेगा तो देवदत्त के घट

तीयम्, भिन्नजातीय वा ? प्रथमपक्षे किमेकसन्तानप्रभवम्; भिन्नसन्तानप्रभव वा ? न तावद्भिन्न-सन्तानप्रभवम्, देवदत्तघटज्ञाने यज्ञदत्तघटज्ञानस्यापि सवादकत्वप्रसङ्गात् । एकसन्तानप्रभवमप्यभिन्न-विषयम्, भिन्नविषय वा ? प्रथमविकल्पे सवाद्यसवादकभावाभावोऽविशेषात् । अभिन्नविषयत्वे हि यथोत्तर पूर्वस्य सवादक तथेदमप्यस्य किन्न स्यात् ? कथं चास्य प्रमाणत्वनिश्चयः ? तदुत्तरकाल-भाविनोऽन्यस्मात् तथाविधादेवेति चेत्, तर्हि तस्याप्यन्यस्मात्तथाविधादेवेत्यनवस्था । प्रथमप्रमाणा-त्तस्य प्रामाण्यनिश्चयेऽन्योन्याश्रयः । भिन्नविषयमित्यपि वार्त्तम्, शुक्तिशकले रजतज्ञान प्रति उत्तर-

ज्ञान में यज्ञदत्त के घट ज्ञान से प्रमाणाता आने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, क्योंकि अन्य सतान का ज्ञान अपने प्रामाण्य में सवादक बनना आपने स्वीकार किया है अब दूसरे विकल्प की अपेक्षा विचार करते हैं कि प्रामाण्य में सवादकज्ञान कारण है वह अपना एक ही विवक्षितपुरुष सबधी है सो ऐसा मानने पर फिर यह बताना पड़ेगा कि वह एक ही पुरुष का संवादक ज्ञान प्रामाण्य के विषय को ही ग्रहण करनेवाला है कि भिन्नविषयवाला है ? यदि कहा जावे कि प्रामाण्य का विषय और सवादक ज्ञान का विषय अभिन्न है तो सवाद्य और सवादक भाव ही समाप्त हो जावेगा—क्योंकि दोनों एक को ही विषय करते हैं । जहा अभिन्नविषयवाले ज्ञान होते हैं वहा उत्तरकालीन ज्ञान पूर्व का सवादक है ऐसा कह नहीं सकते, उसमें तो पूर्वज्ञान का सवादक जैसे उत्तरज्ञान है वैसे ही उत्तरज्ञान का सवादक पूर्वज्ञान भी बन सकता है । कोई विशेषता नहीं आती है । हम जैनसे पूछते हैं कि यदि प्रामाण्य, सवादकज्ञान की अपेक्षा रखता है तो उस सवादकज्ञान में भी प्रामाण्य है उसका निश्चय कौन करता है ? उत्तरकालीन अन्य कोई उसी प्रकारका ज्ञान उस सवादकज्ञान में प्रामाण्य का निर्णय करता है ऐसा कहा जाय तो अनवस्था आती है, क्योंकि आगे आगे के सवादक ज्ञानों में प्रामाण्य के निर्णय के लिये अन्य २ सवादकज्ञानों की अपेक्षा होती ही जायगी । अनवस्था को दूर करने के लिये प्रथमज्ञान से संवादकज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होता है ऐसा स्वीकार करो तो अन्योन्याश्रय दोष आयेगा, क्योंकि प्रथमज्ञान से उत्तरके सवादकज्ञान में प्रमाणता का निर्णय और उत्तरज्ञान की प्रमाणता से प्रथम ज्ञान में प्रामाण्य का निर्णय होगा, इस तरह किसी का भी निर्णय नहीं होगा । प्रामाण्य को अपना निर्णय करने के लिये जिसकी अपेक्षा रहती है ऐसा वह संवादक ज्ञान यदि भिन्न ही विषयवाला है ऐसा दूसरा पक्ष मानो तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में क्या दोष आता है यह हम बताते हैं—प्रामाण्य का विषय और सवादक

कालभाविशुक्तिकाशकलज्ञानस्य प्रामाण्यव्यवस्थापकत्वप्रसङ्गात् ।

नापि भिन्नजातीयम्, तद्वि किमर्थक्रियाज्ञानम्, उतान्यन् ? न तावदन्यत्, घटज्ञानात्पट-
ज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयप्रसङ्गात् । नाप्यर्थक्रियाज्ञानम्; प्रामाण्यनिश्चयाभावे प्रवृत्त्याभावेनार्थक्रियाज्ञाना-
घटनात् । चक्रकप्रसङ्गश्च । कथं चार्थक्रियाज्ञानस्य तन्निश्चय ? अन्यार्थक्रियाज्ञानाच्चेदनवस्था ।
प्रथमप्रमाणाच्चेदन्योन्याश्रयः । अर्थक्रियाज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यनिश्चयोपगमे चाद्यस्य तथाभावे किंकृत
प्रद्वेषः ? तदुक्तम्—

ज्ञान का विषय एक तो है नहीं पृथक् है, और फिर भी वह सवादकज्ञान प्रामाण्य की
व्यवस्था कर देता है तब तो सीप के टुकड़े में हुए रजतज्ञान के प्रति उत्तरकाल में
सीप में सीप का ज्ञान होता है वह प्रामाण्य का व्यवस्थापक है ऐसा मानना होगा,
क्योंकि उसमें भिन्नविषयता तो है ही । अतः भिन्नविषयवाला सजातीय सवादकज्ञान
प्रामाण्य की ज्ञप्ति में कारण है ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है ।

अब भिन्न जातीय सवादकज्ञान प्रामाण्य की ज्ञप्ति में कारण है ऐसा मानो
तो क्या दोष है यह भी हम प्रकट करते हैं—भिन्नजातीय सवादकज्ञान कौन सा है—
क्या वह अर्थक्रिया का ज्ञान है ? या और कोई दूसरा ज्ञान है ? मतलब यह है—कि
प्रमाण ने “यह जल है” ऐसा जाना अब उस प्रमाण की प्रामाणिकता को बताने के
लिये सवादक ज्ञान आता है । ऐसा जैन कहते हैं सो बताओ कि वह ज्ञान किसको
जावता है ? उसी जलकी अर्थक्रिया को जो कि स्नान पान आदिरूप है उसको ? अथवा
जो अन्य विषय है उसको ? वह अन्य विषय को जाननेवाला है । ऐसा कहो तो ठीक
नहीं होगा क्योंकि यदि अन्यविषयक सवादकज्ञान प्रामाण्यज्ञप्ति में कारण होता है तो
घटज्ञान से पटज्ञान में भी प्रामाण्य आ सकता है ? भिन्नजातीय तो वह है ही ?
अर्थक्रिया का ज्ञान सवादक है ऐसा कहना भी गलत होगा, क्योंकि अभी प्रामाण्य का
निश्चय तो हुआ नहीं है उसके अभाव में प्रामाण्य की ज्ञप्ति का कारण जो सवादक
ज्ञान है उसका स्वविषय में [अर्थक्रिया के ग्रहण में] व्यापार होना संभव नहीं है ।
जो पुरुष वस्तु में प्रवृत्ति करते हैं वे पहिले अपने ज्ञान में प्रामाण्यता को देखते हैं—फिर
जानकर प्रवृत्ति करते हैं । बिना प्रवृत्ति के अर्थक्रिया का ज्ञान कैसे होगा ? अर्थात्
नहीं हो सकता तथा इस तरह मानने में चक्रक दोष भी आता है देखो ! अर्थक्रिया का
ज्ञान उत्पन्न होने पर पूर्वज्ञान में प्रामाण्य आना और पूर्वज्ञान में प्रामाण्य के होनेपर
उसकी विषय में प्रवृत्ति होना । पुनः प्रवृत्ति होनेपर अर्थक्रिया का ज्ञान हो सकता,

“यथैव प्रथमज्ञानं तत्सवादमपेक्षते ।

सवादेनापि सवादः परो मृग्यस्तथैव हि ॥ १ ॥ []

कस्यचित्तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणाता ।

प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः केन हेतुना ॥ २ ॥

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ७६]

सवादस्याथ पूर्वेण सवादित्वात्प्रमाणाता ।

अन्योन्याश्रयभावेन प्रामाण्यं न प्रकल्पते ॥ ३ ॥ [] इति ।

इत्यादि तीन के चक्र में चक्कर लगाते रहना होगा, और सिद्धि तीनों में से किसी एक को भी नहीं होगी ।

दूसरी बात यह है कि अर्थक्रियाके ज्ञान द्वारा प्रामाण्यका निश्चय ऐसा मान भी लेवे किन्तु फिर उस अर्थक्रिया ज्ञानका प्रामाण्य किसके द्वारा निश्चित होगा ? उसके लिये यदि अन्य अर्थक्रिया ज्ञान आयेगा तो अनवस्था फैलती है ।

यदि अनवस्थादोष को टालने के लिये ऐसा कहा जाय कि प्रथमप्रमाण से संवादकज्ञान में प्रामाण्य आयेगा तो अन्योन्याश्रयदोष उपस्थित होता है । इस प्रकार की आपत्तियों से बचने के लिये अर्थक्रियाविषयकसवादकज्ञान को स्वतः प्रामाण्यभूत मानते हो तब तो प्रथमज्ञान में भी स्वतः प्रामाण्य स्वीकार करने में क्या द्वेष है ? कुछ भी नहीं इस विषय का विवेचन मीमांसाश्लोकवार्तिक में किया है, उसका उद्धरण इस प्रकार है—

जैन लोग “प्रथमज्ञान [किसी भी एक विवक्षित पदार्थ को जाननेवाला प्रमाण] अपनी प्रमाणता के लिये अन्य संवादकज्ञान की अपेक्षा रखता है” ऐसा मानते हैं तो वह सवादकज्ञान भी अपनी प्रमाणता के लिये अन्य सवादक की अपेक्षा रखेगा, और वह भी अन्य संवादक की, इस तरह संवादक की लम्बी भुड़ी को रोकने के लिये किसी एक विवक्षित सवादक ज्ञान में स्वतः प्रमाणता स्वीकार की जावे तो प्रथमज्ञान को ही स्वतः प्रमाणभूत मानने में क्या द्वेष भाव है ? अर्थात् कुछ नहीं । अनवस्थादोष न होवे इस वजह से संवादक में प्रमाणता प्रथमज्ञान से आती है ऐसी कल्पना करे तो इतरेतराश्रय दोष आता है ॥१॥२॥३॥

अर्थक्रियाज्ञानस्यार्थाभावेऽदृष्टत्वात् स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षा साधनज्ञानस्य त्वर्थाभावेऽपि दृष्टत्वात्तत्र तदपेक्षा युक्ता, इत्यप्यसङ्गतम्, तस्याप्यर्थमन्तरेण स्वप्नदशाया दर्शनात् । फलावाप्तिरूपत्वात्तस्य तत्र नान्यापेक्षा साधननिर्भासिज्ञानस्य तु फलावाप्तिरूपत्वाभावात्तदपेक्षा, इत्यप्यनुत्तरम्, फलावाप्तिरूपत्वस्याप्रयोजकत्वात् । यथैव हि साधननिर्भासिनो ज्ञानस्यान्यत्र व्यभिचारदर्शनात्सत्यासत्यविचारणाया प्रेक्षावता प्रवृत्तिस्तथा तस्यापि विशेषाभावात् ।

शंका—अर्थक्रियाज्ञान तो अर्थ के सद्भाव विना देखा नहीं जाता है, किन्तु उसके सद्भाव में ही देखा जाता है अतः अर्थक्रियाज्ञान में प्रमाणता का निश्चय करने के लिये अन्य की अपेक्षा करनी नहीं पड़ती, किन्तु साधन का जो ज्ञान है वह तो अर्थ के अभाव में भी देखा जाता है, अतः साधनज्ञान की प्रमाणता के लिये अन्य की अपेक्षा लेनी पड़ती है ।

समाधान—यह शंका गलत है, क्योंकि अर्थक्रियाज्ञान भी पदार्थ के विना देखा जाता है, जैसे कि स्वप्न में पदार्थ नहीं रहता है फिर भी अर्थक्रिया का ज्ञान तो होता देखा जाता है ।

शंका—अर्थक्रियाज्ञान फल की प्राप्तिरूप होता है, इसलिये उसमें अन्य की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु जो साधन को बतलानेवाला ज्ञान है वह फलप्राप्तिरूप नहीं होता, अतः उसमें अपनी प्रमाणता के लिये अन्य ज्ञान की अपेक्षा रहती है, मतलब यह है कि “यह जल है” ऐसा ज्ञान होने पर उस जलका कार्य या फल जो स्नानादिरूप है उसकी प्राप्ति में अन्यज्ञान की जरूरत नहीं पड़ती है, परन्तु स्नान का साधन जो जल है सो उसके ज्ञान में तो अन्य ज्ञान की अपेक्षा जरूर होती है, क्योंकि वह तो फलप्राप्तिरूप नहीं है ।

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि फल की प्राप्ति प्रामाण्य की प्रयोजक नहीं हुआ करती है । देखो—जिस प्रकार स्नानादिक के कारणभूत जो जलादिक पदार्थ है उनको प्रतिभासित करने वाले ज्ञान में कहीं [मरीचिका में] व्यभिचार देखनेमें आता है, अर्थात् “यह जल है” ऐसी प्रतीति सत्यजल में होती है और मरीचिका में भी होती है, और इसीलिये तो उस जलज्ञान के सत्य असत्य के निर्णय करने में बुद्धिमानों की प्रवृत्ति होती है, ठीक इसी तरह अर्थक्रियाज्ञान में भी होता है, अर्थात् अर्थक्रिया के ज्ञानमें भी सत्य असत्यका निर्णय करके प्रवृत्ति होती है कोई विशेषता नहीं ।

किञ्च, समानकालमर्थक्रियाज्ञान पूर्वज्ञानप्रामाण्यव्यवस्थापकम्, भिन्नकाल वा ? यद्येक-कालम्; पूर्वज्ञानविषयम्, तदविषय वा ? न तावत्तदविषयम्, चक्षुरादिज्ञाने ज्ञानान्तरस्याप्रति-भासनात्, प्रतिनियतरूपादिविषयत्वात्तस्य । तदविषयत्वे च कथं तज्ज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकत्वं तदग्रहे तद्धर्माणां ग्रहणाविरोधात् । भिन्नकालमित्यप्ययुक्तम्, पूर्वज्ञानस्य क्षणिकत्वेन नाशे तदग्राहकत्वेनो-त्तरज्ञानस्य तत्प्रामाण्यनिश्चायकत्वायोगात् । सर्वप्राणभृता प्रामाण्ये सन्देहविपर्ययाक्रान्तत्वासिद्धेश्च । समुत्पन्ने खलु विज्ञाने 'अयमित्थमेवार्थ' इति निश्चयो न सन्देहो विपर्ययो वा । तदुक्तम् ।

“प्रमाणं ग्रहणात्पूर्वं स्वरूपेणैव सस्थितम् ।

निरपेक्षं स्वकार्ये च गृह्यते प्रत्ययान्तरैः ॥ १ ॥”

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ८३] इति

तथा—एक प्रश्न यह भी होता है कि अर्थक्रिया का ज्ञान जो कि पूर्वज्ञान मे प्रमाणता को बतलाता है, वह उसके समकालीन है या भिन्नकालीन है ? यदि सम-कालीन है तो उसी पूर्वज्ञान के विषय को जानने वाला है या नहीं ? समकालीनज्ञान का विषय वही है जो पूर्वज्ञान का है ऐसा कहो तो असंभव है, क्योंकि चक्षु घ्राण आदि पाँचों ही इन्द्रियों के ज्ञानों मे ज्ञानरूप विषय प्रतिभासित होता ही नहीं, इन्द्रियों का विषय तो अपना २ निश्चित रूप गंधादि है । इस प्रकार समकालीन ज्ञान पूर्वज्ञान को विषय करनेवाला हो नहीं सकता है, यह सिद्ध हुआ । अब यदि उसको विषय नहीं करे तो बताइये वह पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय कैसे करायेगा ? अर्थात् नहीं कर सकता, जब वह पूर्वज्ञान को ग्रहण ही नहीं कर सका तो उसका धर्म जो प्रामाण्य है उसे कैसे ग्रहण करेगा ? अर्थक्रिया का ज्ञान भिन्न काल में रहकर पूर्वज्ञान की प्रमाणता को बतलाता है ऐसा दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वज्ञान क्षणिक होने से नष्ट हो चुका है अब उसका अग्राहक ऐसा उत्तर-ज्ञान उसके प्रामाण्य का निश्चय नहीं करा सकता । एक बात यह भी है कि सभी प्राणियों के प्रामाण्य संदेह एव विपर्यय रहता ही नहीं, क्योंकि सभी ज्ञान जब भी उत्पन्न होते हैं तब वे सशयादि से रहित ही उत्पन्न होते हैं, अतः उनको अन्य की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती है । ज्ञान उत्पन्न होते ही “यह पदार्थ इस प्रकार का है” ऐसा निश्चय नियम से होता है उस समय उसमें न संशय रहता है, और न विपर्यय ही रहता है । कहा भी है— प्रामाण्य जिसका धर्म है ऐसा वह प्रमाण (ज्ञान) स्वग्रहण-के पहिले स्वरूप मे स्थित रहता है, तथा अपना कार्य जो पदार्थ की परिच्छिन्ति है उसको सवादकज्ञान-की

प्रमाणाप्रमाणयोरुत्पत्तौ तुल्यरूपत्वान्न सवादविसंवादावन्तरेण तयोः प्रामाण्याप्रामाण्य-
निश्चय इति च मनोरथमात्रम्; अप्रमाणे बाधकारणदोषज्ञानयोरवश्यभावित्वादप्रामाण्यनिश्चयः,
प्रमाणे तु तयोरभावात्प्रामाण्यावसायः ।

यापि-तत्तुल्यरूपेऽन्यत्र तयोर्दर्शनात्तदाशङ्का, सापि त्रिचतुरज्ञानापेक्षामात्रान्निवर्त्तति । न च
तदपेक्षायाम् स्वतः प्रामाण्यव्याघातोऽनवस्था वा, सवादकज्ञानस्याप्रामाण्यव्यवच्छेदे एव व्यापारा-
दन्यज्ञानानपेक्षणाच्च । तदुक्तम्—

अपेक्षा विना ही करता रहता है, पश्चात् जिज्ञासु पुरुष द्वारा सवादरूप ज्ञानोसे उसका
ग्रहण हो जाता है ।

शंका—प्रमाण और अप्रमाण उत्पत्ति के समय तो समान ही रहते हैं—उनमें
सवाद और विसवाद के विना प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय होना शक्य
नहीं है ?

समाधान— यह कथन मनोरथमात्र है, अप्रमाण तो बाधकारण और दोषो
से जन्य हुआ करता है अतः उनका ज्ञान होना जरूरी है, उसीसे अप्रमाण में अप्रामाण्य
का निश्चय होता है । प्रमाण में ऐसी बात नहीं है अतः प्रामाण्य को जानने के लिये
बाधकारण और दोषो के ज्ञानो की आवश्यकता नहीं रहती है । प्रमाण के प्रामाण्य
का निश्चय तो अपने आप हो जाता है ।

प्रमाण ज्ञानके समान मालूम पडनेवाला जो अप्रमाणभूत ज्ञान है उसमें
सशय तथा विपर्ययपना देखा जाता है अतः कभी कभी प्रमाण ज्ञान भी
अप्रामाण्यपनेकी शका हो सकती है किन्तु वह शका आगे के तीन चार
ज्ञानोकी अपेक्षा लेकर ही समाप्त हो जाया करती है । इस पर कोई कहे कि आगे के
ज्ञानोंकी अपेक्षा मानेगे तो स्वतः प्रामाण्य आनेका जो सिद्धांत है वह खतम होगा,
तथा अनवस्था दोष भी धायेगा ? सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आगेके तीसरे या
चौथे ज्ञानकी जो अपेक्षा बतायी वे ज्ञान इतना ही कार्य करते हैं कि प्रथम या द्वितीय
ज्ञानके अप्रामाण्यताका व्यवच्छेद [नाश] करते हैं तथा वे ज्ञान अपनी सत्यताके लिये
अन्यकी अपेक्षा भी नहीं रखते हैं ।

मीमांसाश्लोक वार्तिक में लिखा है, ज्ञान की प्रामाण्यता में शका आजाय तो
उसको तीन चार ज्ञान [संवादक ज्ञान आकर] उत्पन्न होकर दूर कर दिया करते हैं,

‘एवत्रिचतुरज्ञानजन्मनो, नाधिका मतिः ।
प्रार्थ्यते तावतैवेय स्वतः प्रामाण्यमश्नुते ॥ १ ॥”

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६१]

योऽप्यनुत्पद्यमानः सशयो बलादुत्पाद्यते सोऽप्यर्थक्रियार्थिना सर्वत्र प्रवृत्त्यादिव्यवहारोच्छेद-
कारित्वान्न युक्तः । उक्तञ्च—

“आशङ्कते हि यो मोहादजातमपि बाधकम् ।
स सर्वव्यवहारेषु सशयात्मा क्षयं व्रजेत् ॥ १ ॥” []

इनसे अधिक ज्ञानो की जरूरत नहीं पड़ती है, इतने से ही कार्य हो जाता है और प्रामाण्य स्वत ही आ जाता है ।

जैनादिक का कहना है कि प्रमाण से पदार्थ का ज्ञान होने पर भी उस विषय में संशय हो जाय कि यह ज्ञान अर्थक्रिया में समर्थ ऐसे पदार्थ को विषय कर रहा है या विपरीत किसी पदार्थ को ? सो ऐसी जबरदस्ती सशय को उत्पन्न होने की आशंका करना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसे तो अर्थक्रिया के इच्छुक पुरुष किसी भी पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं कर सकेंगे, इस तरह से तो फिर प्रवृत्ति या निवृत्ति का व्यवहार ही समाप्त हो जायगा, कहने का अभिप्राय यह है कि प्रमाण के विषय में संशय नहीं रहता, ऐसा हम मानते हैं । किन्तु जैन व्यर्थ उस विषय में सशय हो जाने की आशंका करते हैं । इससे क्या होगा कि किसी भी पदार्थ में ग्रहण आदि की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि सशय बना ही रहेगा ? यही बात हमारे ग्रन्थ में कही है—जो व्यक्ति प्रमाण के प्रामाण्य में बाधक कारण नहीं होते हुए भी व्यर्थ की बाधक होने की शंका करे तो वह सशयी पुरुष नष्ट ही हुआ समझना चाहिये, क्योंकि वह सभी व्यवहार कार्यों में प्रवृत्त ही नहीं हो सकेगा । इस प्रकार निश्चित होता है कि प्रमाण अपनी प्रामाणिकता में अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है । तथा वेद शास्त्र के निमित्त से जो ज्ञान होता है—उस ज्ञान में भी स्वतः प्रामाण्य है ऐसा निश्चय करना चाहिये, क्योंकि वेद अपौरुषेय होने से (पुरुष के द्वारा बनाया हुआ नहीं होने से) दोष रहित है, इसलिये जैसे अनुमान, आप्तवचनरूप आगम, इन्द्रियज्ञान ये सब प्रमाण स्वतः प्रामाण्य स्वरूप हैं वैसे वेद जनित बुद्धि भी स्वतः प्रमाणभूत है । कहा भी है—वेद का पठन, मनन आदि के करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह स्वतः प्रमाणभूत है, क्योंकि वह

चोदनाजनिता तु बुद्धिरपीरुषेयत्वेन दोषरहिताचोदनावाक्यादुपजोयमाना लिङ्गाशोक्यक्ष-
बुद्धिवत्स्वत प्रमाणम् । तदुक्तम्—

‘चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः ।

कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिङ्गाशोक्यक्षबुद्धिवत् ॥ १ ॥’

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० १८४]

तत्र ज्ञप्ती परापेक्षा ।

ज्ञान दोषरहितवेदवाक्यो से पैदा हुआ है और वेद स्वतः प्रमाणभूत है । जैसे—निर्दोष हेतु से उत्पन्न हुआ अनुमानप्रमाण, आप्तवचन से उत्पन्न हुआ आगमप्रमाण, इन्द्रियो से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षप्रमाण स्वतः प्रमाणस्वरूप होता है । इस प्रकार यहाँ तक भाट्ट ने यह सिद्ध करके बताया है कि प्रामाण्य की ज्ञप्ति में पर की अपेक्षा नहीं हुआ करती है ।

अब प्रमाण का जो स्वकार्य है उसमें भी पर की आवश्यकता नहीं रहती है ऐसा सिद्ध किया जाता है—प्रामाण्य जिसका धर्म है ऐसे प्रमाण का जो अपना कार्य (प्रवृत्ति करना आदि) है उसमें भी उसे अन्य की अपेक्षा नहीं होती है । जैन अन्य की अपेक्षा होती है—ऐसा मानते हैं, सो वह अन्य कौन है कि जिसकी अपेक्षा प्रमाण को लेनी पड़ती है, क्या वह संवादकज्ञान है कि कारणगुण हैं ? संवादकज्ञान की अपेक्षा लेकर प्रामाण्य धर्मवाला प्रमाण निजी कार्य को करता है ऐसा कहो तो चक्रक दोष आता है, कैसे सो बताते हैं—प्रामाण्य धर्मवाला प्रमाण जब अर्थपरिच्छित्तिरूप अपने कार्य में प्रवृत्त होगा तब अर्थक्रिया को चाहनेवाले व्यक्ति वहाँ प्रवृत्ति करेगा और उन व्यक्तियों के प्रवृत्ति होने पर अर्थक्रिया का ज्ञानरूप संवाद पैदा होगा, पुनः संवाद के रहते हुए ही उसकी अपेक्षा लेकर प्रमाण अपना कार्य जो अर्थक्रिया को जानना है उसमें प्रवृत्ति करेगा, इस तरह प्रमाण की स्वकार्य में प्रवृत्ति १, उसके बल पर फिर अर्थक्रियार्थी पुरुष की प्रवृत्ति २, और फिर उसकी अपेक्षा लेकर संवादकज्ञान ३, इन तीनों में गोल-लगाते रहने से इस चक्रक से छुटकारा नहीं होगा, तीनों में से एक भी सिद्ध नहीं होगा । यदि भिन्नकालीन अर्थात् भावीकाल में होनेवाले संवादकज्ञान की अपेक्षा लेकर प्रमाण अपने कार्य में प्रवृत्ति करता है ऐसा कहा जाय तो वह भी बनता नहीं है, देखो—भावीकाल में होनेवाले संवादकज्ञान का वर्तमान में तो असत्त्व

नापि स्वकार्ये, तत्रापि हि किं तत्सवादप्रत्ययमपेक्षते, कारणगुणान् वा ? प्रथमपक्षे चक्रक-प्रसङ्ग-प्रमाणस्य हि स्वकार्ये प्रवृत्तौ सत्यामर्थक्रियार्थिना प्रवृत्ति, तस्या चार्थक्रियाज्ञानोत्पत्तिलक्षण सवाद, तत्सद्भावे च सवादमपेक्ष्य प्रमाण स्वकार्येऽर्थपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तते । भाविन सवादप्रत्यय-मपेक्ष्य तत्तत्र प्रवर्त्तते, इत्यप्यनुपपन्नम्, तस्यासत्त्वेन स्वकार्ये प्रवर्त्तमान विज्ञान प्रति सह-कारित्वायोगात् ।

द्वितीयपक्षेऽपि गृहीता स्वकारणगुणा तस्य स्वकार्ये प्रवर्त्तमानस्य सहकारित्व प्रतिपद्यन्ते, अगृहीता वा ? न तावदुत्तर. पक्षः, अतिप्रसङ्गात् । प्रथमपक्षेऽनवस्था-स्वकारणगुणाज्ञानापेक्ष हि

है सो वह ज्ञान को अपने कार्य में प्रवृत्ति कराने के लिये सहायक नहीं बन सकता है जो अभी पैदा ही नहीं हुआ है वह वर्तमान ज्ञान में क्या सहायता पहुँचायेगा ? कुछ भी नहीं । प्रमाण को स्वकार्य में कारणों के गुणों की अपेक्षा होती है ऐसा जो दूसरा विकल्प है सो इस पर हम पूछते हैं कि प्रमाण को अपने कार्य में प्रवृत्ति कराने के लिये सहायता पहुँचानेवाले कारणों (इन्द्रियो) के गुण है वे ग्रहण किये हुए [जाने हुए] है कि नहीं ? यदि द्वितीय पक्ष कहा जाय कि वे गुण ग्रहण किये हुए नहीं है तो प्रतिप्रसंग होगा—अर्थात् अन्य प्रमाणके जो है उनके गुण भी हमारे लिये हमारे ज्ञान में सहायक बन सकते हैं, क्योंकि वे गुण भी तो अगृहीत हैं । पहला पक्ष—प्रमाणके कारणों के गुण गृहीत हैं [जाने हुए हैं] तो इस पक्ष में अनवस्था आवेगी । वह ऐसे—प्रमाण जब अपने प्रामाण्य के कारण जो इन्द्रियो के गुण हैं उनके ज्ञान की अपेक्षा लेकर निजी कार्य के करने में प्रवृत्ति करता है सो कारणों के गुणों का जो ज्ञान है वह जिस ज्ञान से होता है वह भी अपने कारणों के गुणों की अपेक्षा रखकर ही अपना कार्य जो प्रथमप्रमाण के कारणगुणों को जानना है उसे करेगा, तथा यह जो दूसरे नम्बर-का कारण गुणों को जाननेवाला ज्ञान है वह भी अपने कारणगुण के ज्ञानकी अपेक्षा लेकर प्रवर्तित हो सकेगा । भावार्थ—जैसे किसी को “यह जल है” ऐसा ज्ञान हुआ, अब उस प्रमाणभूत ज्ञान का कार्य जो उस जल में प्रवृत्ति करनारूप है उसमें प्रवृत्ति होने के लिये अपने कारणगुण के ज्ञान की अपेक्षा लेनी पड़ेगी कि मेरे इस जलज्ञान का कारण नेत्र है इसके गुण स्वच्छता आदि हैं—मेरी आंखे निर्मल है ऐसा ज्ञान होगा, तब जल में उसकी प्रवृत्ति हो सकेगी, तथा ऐसा ज्ञान उसे कोई बतायेगा तभी होगा, कि तुम्हारी आंखे साफ-निर्दोष है इत्यादि, पुनः वह बतानेवाले व्यक्ति का ज्ञान भी प्रामाणिक होना चाहिये, अतः उसके ज्ञान की सत्यता अर्थात् बतलाने वाले

प्रमाण स्वकार्ये प्रवर्त्तते नदपि स्वकारणगुणज्ञानापेक्ष प्रमाणकारणगुणग्रहणलक्षणे स्वकार्ये प्रवर्त्तते तदपि च स्वकारणगुणज्ञानापेक्षमिति । तस्य स्वकारणगुणज्ञानापेक्षस्यैव प्रमाणकारणगुणपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवृत्ती प्रथमस्यापि कारणगुणज्ञानापेक्षस्यार्थपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवृत्तिरस्तु विशेषाभावात् । तदुक्तम्—

“जातेपि यदि विज्ञाने तावन्नार्थोऽत्रघायंते ।

यावत्कारणगुणद्वयं न प्रमाणान्तराद्गतम् ॥ १ ॥

के नेत्र भी गुणवान् है कि नहीं इसकी भी जानकारी होनी चाहिये, इस प्रकार एक प्रमाण के कार्य होने में अनेको प्रमाणभूत व्यक्तियों की और ज्ञानों की आवश्यकता होती रहेगी, तब अनवस्था तो आ ही जायगी, फिर भी प्रमाण का कार्य तो हो ही नहीं सकेगा, जैसे ससारी जीवों की आकाशाएँ आगे २ बढ़ती जाती हैं—यह कार्य हो जाय, यह मकान बन जाय, इसी की चिन्ता मिटे तो धर्मकार्य को करूंगा इत्यादि, वैसे ही प्रमाण का कार्य तभी हो जब उसके कारणगुणों का ज्ञान हो, पुन वह ज्ञान जिससे होगा उसकी सत्यता जानने की अपेक्षा होगी इत्यादि अपेक्षाएँ बढ़ती जावेगी और प्रमाण का कार्य यो ही पड़ा रह जायगा ।

अब यहाँ पर अनवस्था दोष को मिटाने के लिये कोई चतुर व्यक्ति कहे कि प्रमाण के कारणगुणों को जाननेवाला जो ज्ञान है उसको अपने कारणगुण के ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती है, वह तो उसकी अपेक्षा के बिना ही अपना कार्य जो प्रमाण के कारणगुणों का जानना है उसमें स्वयं प्रवृत्त होता है, ऐसा कहने पर तो वह पहला प्रमाण भी कारणगुणों के ज्ञान की अपेक्षा किये बिना ही अपने कार्य—पदार्थ को जानना आदि को स्वतः कर सकेगा, दोनों में प्रथम प्रमाण और उस प्रथम प्रमाण के कारण गुणों को जानने वाला प्रमाण इनमें कोई भी विशेषता नहीं है जिससे कि एक को तो कारणगुण के ज्ञान की अपेक्षा लेनी पड़े और एक को नहीं लेनी पड़े इस प्रकार के अनवस्था के विषय में हमारे ग्रन्थ में भी कहा गया है अब हम उसे प्रकट करते हैं—ज्ञान उत्पन्न होने पर भी तबतक वह अपने विषय का निर्धारण नहीं करता है जबतक कि वह अन्यज्ञान से अपने कारणगुण की शुद्धता को नहीं जानता, इस प्रकार की जो मान्यता है उसमें आगे कहा जानेवाला अनवस्था दोष आता है—जब प्रथमज्ञान अपनी प्रवृत्ति में अपने कारणगुणों को जानने के लिये अन्य की अपेक्षा रखता है तब वह दूसरा ज्ञान भी अपने कारणगुण को जाननेवाले की अपेक्षा लेकर प्रथमज्ञान के कारणगुणों को जानने में प्रवृत्त होगा, क्योंकि जबतक

तत्र ज्ञानान्तरोत्पादः प्रतीक्ष्य कारणान्तरात् ।
 यावद्धि न परिच्छिन्ना शुद्धिस्तावदसत्समा ॥ २ ॥
 तस्यापि कारणे शुद्धे तज्ज्ञानस्य प्रमाणाता ।
 तस्याप्येवमितीत्य च न क्वचिद्व्यवतिष्ठते ॥ ३ ॥

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४६-५१] इति

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘प्रत्यक्ष न तान्प्रत्येतु समर्थम्’ इति, तत्रेन्द्रिये शक्तिरूपे, व्यक्तिरूपे वा तेषामनुपलम्भेनाभाव साध्यते ? प्रथमपक्षे—गुणवद्दोषाणामप्यभावः । नह्याधाराप्रत्य-

उसकी शुद्धि—[सत्यता] नहीं जानी है तबतक वह असत् समान ही रहेगा, अतः उसकी सत्यता का निर्णय भी उसके कारणगुण की शुद्धि से ही होवेगा, तभी वह प्रमाण प्रामाण्य सहित कहलायेगा, फिर वह तीसरा ज्ञान भी कारणगुण की शुद्धि जानकर ही प्रवृत्त होगा, इस प्रकार किसी भी ज्ञान में प्रामाण्य व्यवस्थित नहीं हो सकेगा, न प्रमाणों में स्वकार्य के करने की क्षमता आयेगी । इस प्रकार हम भाट्ट ने यह सिद्ध किया कि प्रमाण को अपने प्रामाण्य की उत्पत्ति में और ज्ञप्ति तथा स्वकार्य में पर की अपेक्षा नहीं होती है, अतः प्रमाण में स्वतः प्रामाण्य आता है ।

जैन—हम जैन भाट्ट के इस लम्बे चौड़े पूर्व पक्ष का सविस्तार खण्डन करते हैं—

भाट्ट ने सबसे पहिले कहा है कि “इन्द्रियो के गुणों को प्रत्यक्षप्रमाण जानने में सक्षम नहीं है” सो इस पर हम उनसे पूछते हैं कि शक्तिरूप—[क्षयोपशमरूप] इन्द्रिय में गुणों की अनुपलब्धि होने से उनका अभाव मानते हो या व्यक्तिरूप (बाह्येन्द्रिय आँख की पुतली आदि में) इन्द्रिय में गुणों की अनुपलब्धि होने से गुणों का अभाव मानते हो ? प्रथमपक्ष—शक्तिरूप इन्द्रिय में गुणों का अभाव मानते हैं—तो इस मान्यता में केवल गुणों का ही अभाव सिद्ध नहीं होगा किन्तु साथ ही दोषों का अभाव भी सिद्ध हो जायगा, क्योंकि शक्तिरूप इन्द्रिय में जैसे गुण उपलब्ध नहीं हो रहे हैं, वैसे दोष भी उपलब्ध नहीं होते हैं । तथा—आधार के अप्रत्यक्ष रहने पर आधेय का प्रत्यक्ष होना भी शक्य नहीं है, ऐसा ही नियम है । अतः आधार जो शक्तिरूप इन्द्रिय है प्रत्यक्ष नहीं होने से उसके आधेयरूप गुणों का प्रत्यक्ष होना भी बनता नहीं, अन्यथा अतिप्रसङ्ग उपस्थित होगा । इस प्रकार शक्तिरूप इन्द्रियो में गुण उपलब्ध नहीं होंगे,

क्षत्वे आधेयप्रत्यक्षता नामातिप्रसङ्गात् । अथ व्यक्तिरूपे, तत्रापि किमात्मप्रत्यक्षेण गुणानामनुपलम्भः, परप्रत्यक्षेण वा ? प्रथमविकल्पे दोषाणामप्यसिद्धिः । न ह्यात्मीय प्रत्यक्ष स्वचक्षुरादिगुणदोषविवेचने प्रवर्त्तते इत्येतत्प्रातीतिकम् । स्पर्शनादिप्रत्यक्षेण तु चक्षुरादिसद्भावमात्रमेव प्रतीयते इत्यतोपि गुण-दोषसद्भावासिद्धिः । अथ परप्रत्यक्षेण ते नोपलभ्यन्ते; तदसिद्धम्, यद्येव हि काचकामलादयो दोषाः परचक्षुषि प्रत्यक्षतः परेण प्रतीयन्ते तथा नैर्मल्यादयो गुणा अपि ।

जातमात्रस्यापि नैर्मल्याद्युपेतेन्द्रियप्रतीतेः तेषां गुणरूपत्वाभावे जातितैमिरिकस्याप्युपल-म्भादिन्द्रियस्वरूपव्यतिरिक्ततिमिरादिदोषाणामप्यभावः । कथं वा रूपादीनां घटादिगुणस्वभावता

यह पक्ष खण्डित हो जाता है । दूसरा पक्ष जो व्यक्तिरूप इन्द्रिय है उसमें गुणों का अभाव है । ऐसा कहो तो हम आपसे पूछते हैं कि यह बात आप किस प्रमाण से सिद्ध करते हो ? अपने ही प्रत्यक्षज्ञान से या दूसरे पुरुष के प्रत्यक्षज्ञान से ? यदि अपने प्रत्यक्ष से उनका अभाव सिद्ध करते हो तो दोषों का अभाव भी सिद्ध हो जायगा, क्योंकि अपना निज का प्रत्यक्षज्ञान निजी (खुद के) चक्षु आदि इन्द्रियों के गुण या दोषों को जानता हो या उनका विवेचन करता हो ऐसा प्रतीत नहीं होता, अपनी आँख का काजल अपने को नहीं दिखता ऐसी कहावत भी है । स्पर्शन आदि प्रत्यक्ष के द्वारा यदि आँख आदि का ज्ञान होता है तो भी उससे मात्र उन नेत्रादिक का सद्भाव ही सिद्ध होता है, उस स्पर्शन प्रत्यक्ष से उनके गुण और दोषों का सद्भाव तो सिद्ध नहीं होता है । यदि कहा जावे कि पर व्यक्ति के प्रत्यक्षज्ञान से वे इन्द्रियोंके गुण उपलब्ध नहीं होते, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे पराये व्यक्ति के नेत्र में काचबिन्दु, पीलिया आदि दोष हैं उनका प्रत्यक्ष होता है वैसे ही निर्मलता आदि गुण भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं । अतः पर के द्वारा नेत्रादि के गुण प्रत्यक्ष नहीं होते है ऐसा कहना असत् ठहरता है ।

शंका—नेत्र में जो निर्मलता आदि होती है वह तो उसके जन्म के साथ ही साथ दिखायी देती है अर्थात् नेत्रादि इन्द्रिया नैर्मल्यादि गुण सहित ही पैदा होती हैं, अतः निर्मलतादि को गुण नहीं कह सकते है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि कोई जन्मसे तिमिरदोष युक्त है अर्थात् जन्मान्ध है उसके नेत्रेन्द्रियका स्वरूप तिमिर दोष से अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखायी देता अतः उस तिमिर दोषको नेत्रेन्द्रियका स्वरूप ही मानना चाहिये, इस तरह भी

उत्पत्तिप्रभृतिः प्रतीयमानत्वाविशेषात् ? यच्चक्षुरादिव्यतिरिक्तभावाभावानुविधायि तत्तत्कारणकम्, यथाऽप्रामाण्यम्, तथा च प्रामाण्यम् । यच्च तद्व्यतिरिक्त कारणं ते गुणाः' इत्यनुमानतोपि तेषा सिद्धिः ।

यच्चन्द्रियगुणैः सह लिङ्गस्य प्रतिबन्धः प्रत्यक्षेण गृह्येत, अनुमानेन वेत्याद्युक्तम्, तदप्युक्तम्, ऊहाख्यप्रमाणान्तरात्तत्प्रतिबन्धप्रतीतिः । कथं चाप्रामाण्यप्रतिपादकदोषप्रतीतिः ? तत्राप्यस्य

कोई कह सकता है ? क्योंकि जो उत्पत्ति के साथ ही वह उसका स्वरूप कहलाता है ऐसा आपने बताया है । इस प्रकार गुणोंका अभाव करनेसे दोषोंका अभाव भी करना पड़ता है ।

एक बात और यह होगी कि यदि उत्पत्ति के साथ ही नेत्रादिको मे निर्मलतादि पायी जाती है अतः वह नेत्र का गुण न होकर उसका स्वरूप मात्र है ऐसा माना जाय तो घट आदि पदार्थों में उत्पत्ति के साथ ही रूप रसादि रहते हैं, उनको भी गुण नहीं कहना चाहिये । वे भी घट के स्वरूप ही कहलाने चाहिये । क्योंकि वे घट की उत्पत्ति के साथ ही उसमें प्रतीत होते हैं, कोई विशेषता नहीं है । जैसे नेत्र में निर्मलता उत्पत्ति के साथ ही है वैसे ही घट में रूप रसादि भी उत्पत्ति के साथ ही हैं, फिर घट के रूपादिको तो गुण कहना और नेत्र की निर्मलता को स्वरूप कहना यह कैसे बन सकता है ? नहीं बन सकता । जो चक्षु आदि इन्द्रिय से अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु के सद्भाव में होता है और उस वस्तु के अभाव में नहीं होता है वही उस प्रामाण्य का कारण है—जैसे अप्रामाण्य का कारण अन्य किसी वस्तु को माना है । अनुमान प्रयोग इस तरह होगा—प्रमाणमें प्रामाण्य चक्षु आदि से पृथक् अन्य किसी कारण की अपेक्षा से होता है (साध्य), क्योंकि वह चक्षु आदि से अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ के साथ अन्वय-व्यतिरेक रखता है (हेतु) जैसे अप्रामाण्य पृथक् कारणों की अपेक्षा से होता है (दृष्टान्त), जो इन्द्रियोसे अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ है जो कि प्रामाण्य का कारण है वही गुण कहलाता है । इस अनुमान से गुणों की सिद्धि हो जाती है ।

भाट्ट ने पूर्वपक्ष में पूछा है कि इन्द्रियो के गुणों के साथ हेतु का—(यथार्थरूप से पदार्थ की उपलब्धि होने रूप कार्यत्व का) जैन लोग अविनाभाव सबध मानते हैं, सो वह अविनाभाव प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण होता है या अनुमान के द्वारा ? इत्यादि सो

समानत्वात् । नैर्मल्यादेर्मलाभावरूपत्वात्कथं गुणरूपतेत्यप्यसाम्प्रतम्; दोषाभावस्य प्रतियोगिपदार्थ-
स्वभावत्वात् । नि.स्वभावत्वे कार्यस्वधर्माधारत्वविरोधात् स्वरविपाणवत् । तथाविधस्याप्रतीतेरन-
भ्युपगमाच्च, अन्यथा—

“भावान्तरविनिर्मुक्तो भावोऽननुपलम्भवत् ।

अभाव. समस्त (सम्मतस्त,स्य हेतो किञ्च समुद्भव. ॥” []

भाट्ट का ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि जैन लोग तर्क नामक प्रामाणान्तर से ही इन्द्रियगुण के साथ कार्यत्व हेतु का अविनाभाव सवध निश्चित करते हैं, किसी भी अनुमान के हेतु का अविनाभाव हो वह तर्क प्रमाण से ही जाना जाता है । अच्छा— आप अपनी बात बताइए कि अप्रामाण्य को प्रतिपादन करने वाले जो दोष है उन दोषों की प्रतीति कैसे होती है अर्थात् अप्रामाण्य का और दोषों का अविनाभाव किस प्रमाण से जाना जाता है अनुमान में कि प्रत्यक्ष से ? इत्यादि प्रश्न तो आपके ऊपर भी आ पड़े गे, आप भाट्ट उन प्रश्नों का निवारण कैसे कर सकेंगे । आपके यहाँ तो तर्क प्रमाण माना नहीं है कि जिसके द्वारा हेतु का अविभाव जाना जाय ।

शंका—नेत्र की निर्मलता तो यही है कि मल का न होना, अतः उसके अभाव को आप गुण कैसे कह सकते हैं ।

समाधान—यह शका ठीक नहीं है, दोषों का अभाव को प्रतियोगी पदार्थ के स्वभावरूप ही कहा जाता है अर्थात् दोषों का अभाव है तो गुणों का सद्भाव है, मिथ्यात्व आदि नहीं हैं तो सम्यक्त्व है, अज्ञानी नहीं है तो ज्ञानी है, इस तरह से ही माना जाता है, अभाव को यदि इस प्रकार भावान्तरस्वभावरूप नहीं माना जाय और सर्वथा निस्वभावरूप ही माना जाय तो वह तुच्छाभाव कार्यत्व धर्म का आधारभूत नहीं बन सकता । कहने का मतलब यही है कि दोषों का अभाव गुणरूप नहीं है तो उसमें जो कुछ कार्यप्रक्रिया होती है—जैसे कि नेत्र में अंजनादि से निर्मलत्वरूप कार्य होते हैं वे नहीं हो सकते, जैसे गधे का सींग नि.स्वभाव होने से उसमें कुछ भी कार्य नहीं होते हैं । सर्वथा नि स्वभावरूप अभाव प्रतीति में भी नहीं आता है, और न आपने नि.स्वभाव अभाव को माना ही है । यदि अभाव को सर्वथा नि स्वभावरूप मानोगे तो आगे के श्लोक में कथित मान्यता में बाधा उपस्थित होगी—

भावांतरसे निर्मुक्त ऐसा भाव हुआ करता है, जैसे—घट का अनुपलम्भ है तो वह अनुपलम्भ घट से भिन्न पट की या अन्य की उपलब्धि को बतलाता है, यही

इत्यस्य विरोध ।

तथा च गुणदोषाणां परस्परपरिहारेणावस्थानाद्दोषाभावे गुणसद्भावोऽवश्याभ्युपगन्तव्योऽन्यभावे शीतसद्भाववत्, अभावाभावे भावसद्भाववद्वा । अन्यथा कथं हेतौ नियमाभावो दोष स्यात् अभावस्य गुणरूपतावद्दोषरूपत्वस्याप्ययोगात् ? तथाच-नैर्मल्यादिव्यतिरिक्तगुणरहिताच्चक्षुरादेरुपजायमानप्रामाण्यवन्नियमविरहव्यतिरिक्तदोषरहिताद्धेतोरप्रामाण्यमभ्युपजायमान स्वतो विशेषाभावात् । तथा च-

“अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः ।

वस्तुत्वाद्द्विविधस्यात्र सम्भवो दुष्टकारणात् ॥”

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ५४]

अभाव का स्वरूप मान्य है । ऐसे अभाव का किसी हेतु से उत्पाद क्यों नहीं होगा ? अवश्य ही होगा, मतलब—इस श्लोक में अभाव को भावान्तरस्वभाववाला सिद्ध किया है । इसलिये उसे नि स्वभाव मानना विरुद्ध पडता है, इस प्रकार अभाव तुच्छाभावरूप नहीं है यह सिद्ध हुआ । जब गुण और दोष एक दूसरे का परिहार करके रहते हैं यह निश्चित हो गया तब जहाँ दोषों का अभाव है वहाँ गुणों का सद्भाव अवश्य ही हो जाता है, जैसे—अग्नि के अभाव में शीत का सद्भाव अवश्य होता है । अथवा अभाव के अभाव में (घट के अभाव के अभाव में घट भाव का सद्भाव) अवश्य ही होता है, यदि इस तरह नहीं माना जाय तो जब हेतु में अविनाभाव का अभाव रहता है तब उस हेतु में नियमाभाव दोष कैसे माना जायगा ?—अर्थात् नहीं माना जायगा, अविनाभावरूप गुण नहीं होने से हेतु सदोष है ऐसा कथन तभी सिद्ध होगा जब पदार्थ में दोष के अभाव में गुण और गुण के अभाव में दोष माने जायें । अभावके यदि गुणरूपता नहीं है तो उसके दोषरूपता भी नहीं हो सकती । जिस प्रकार आप नेत्र में जो निर्मलता है उसे गुणरूप नहीं मानते हैं एव गुणों की अपेक्षा लिये विना ही चक्षुः आदि इन्द्रियो से प्रमाण में प्रमाणता होना स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार अविनाभाव रहित होने रूप जो हेतु का दोष है उस दोष की अपेक्षा लिये विना यो ही अपने आप अप्रामाण्य उत्पन्न होता है अर्थात् स्वतः ही अप्रामाण्य आता है ऐसा क्यों नहीं मानते हैं ? दोनों में कोई विशेषता नहीं है—प्रामाण्य को गुणों की अपेक्षा नहीं है तो अप्रामाण्य को भी दोषों की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये । इस प्रकार उभयत्र समानता सिद्ध होती है और उसके सिद्ध होनेपर निम्न श्लोक का अभिप्राय विरोध को प्राप्त

इत्यस्य विरोध । ततो हेतोर्नियमविरहस्य दोषरूपत्वे चेन्द्रिये मलापगमस्य गुणरूपतास्तु ।
तथाच सूक्तमिदम्—

“तस्माद्गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः ।
अप्रामाण्यद्वयासत्त्व तेनोत्सर्गोऽनपोदितः ॥”
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६५] इति ।

‘गुणेभ्यो हि दोषाणामभावः’ इत्यभिदधता ‘गुणेभ्यो गुणाः’ एवाभिहितास्तथा प्रामाण्यमेवा-
प्रामाण्यद्वयासत्त्वम्, तस्य गुणेभ्यो भावे कथं न परतः प्रामाण्यम् ? कथं वा तस्योत्सर्गिकत्वम्

होता है कि—मिथ्यात्व, अज्ञान और सशय के भेद से अप्रामाण्य तीन प्रकार का है । इन तीनों में सशय और मिथ्यात्व ये दो वस्तुरूप [भाव रूप] हैं, और अज्ञान तो ज्ञानका अभावरूप मात्र है । भाव रूप जो मिथ्यात्व और सशय हैं इनकी उत्पत्ति [अर्थात् अप्रामाण्यकी उत्पत्ति] दुष्ट कारण जो काच कामलादि इन्द्रिय दोष है उस कारणसे होती है । इस श्लोक में सिर्फ अप्रामाण्यको परसे उत्पन्न होना बताया है, किंतु यह कथन बाधित हो चुका है इसलिये बुद्धिमत्ता की वात्स्यही है कि जिस प्रकार हेतु में अविनाभाव का अभाव दोषरूप है उसी प्रकार इन्द्रिय में मल का अभाव होना गुणरूप है ऐसा स्वीकार करना चाहिये । आपके ग्रन्थ में लिखा है कि गुणों से दोषों का अभाव हो जाया करता है, और उनका अभाव होने से सशय विपर्ययरूप दोनों अप्रामाण्य खतम हो जाते हैं इस वजह से प्रामाण्य अबाधित रहता है अर्थात् स्वतः जाता है ऐसा माना है ॥१॥ इस श्लोक में गुणों से दोषों का अभाव होता है ऐसा जो कहा गया है सो इसका मतलब हम तो यही निकालते हैं कि गुणों से गुण ही होते हैं ॥ तथा प्रामाण्य ही अप्रामाण्यद्वयका [मिथ्यात्व और सशय] असत्त्व है ॥ अब यह जो प्रामाण्य है वह गुणों से होता है ऐसा सिद्ध हो रहा है तब परत प्रामाण्यवाद किस प्रकार सिद्ध नहीं होगा ? अवश्य होगा । दूसरी बात यह है कि दुष्ट कारणों से उत्पन्न होनेवाले [सदोष इन्द्रियदिसे] असत्य ज्ञानों में नैसर्गिकपना नहीं है अर्थात् स्वतः अप्रामाण्य नहीं है ऐसा आपका कहना है वह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि प्रामाण्यवत् अप्रामाण्य भी नैसर्गिक होनेमें कोई आपत्ति नहीं दिखायी देती, जैसे गुणों से दोषों का अभाव होकर उससे अप्रामाण्य का असत्त्व होता है । ऐसा आप मानते हैं, वैसे दोषों से गुणों का अभाव होकर प्रामाण्यका असत्त्व होता है ऐसा भी आपको मानना चाहिये । कहने का अभिप्राय यह है कि जिस कारणसे प्रामाण्य को सर्वथा स्वतः होना स्वीकार करते हैं

दुष्टकारणप्रभवासत्यप्रत्ययेष्वभावात् ? अप्रामाण्यस्य चौत्सर्गिकत्वमस्तु दोषाणा गुणापगमे व्यापारात् । भवतु वा भावाद्भिन्नोऽभाव , तथाप्यस्य प्रामाण्योत्पत्ती व्याप्रियमाणत्वात्कथं तत्स्वत. ? न चाभावस्याऽजनकत्वम्, कुड्याद्यभावस्य परभागावस्थितघटादिप्रत्ययोत्पत्ती जनकत्वप्रतीतेः, प्रमाणपञ्चकाभावस्य चाभावप्रमाणोत्पत्ती ।

योपि-यथार्थत्वायथार्थत्वे विहायोपलम्भसामान्यस्यानुपलम्भ.-सोपि विशेषनिष्ठत्वात्तत्सामान्यस्य युक्त. । न हि निर्विशेष गोत्वादिसामान्यमुपलभ्यते गुणदोषरहितमिन्द्रियसामान्य वा,

उसी कारणसे अप्रामाण्य भी स्वत. होना सिद्ध होता है । दुर्जनसंतोषन्याय से यदि आपकी बात हम स्वीकार भी करले कि भाव से भिन्न अभाव होता है—गुणों से भिन्न ही दोषों का अभाव हुआ करता है तो भी प्रामाण्य की उत्पत्ति में वह अभाव व्यापार करता है—प्रामाण्य को उत्पन्न करता है, अतः प्रामाण्य में स्वतस्त्व कैसे आ सकता है । तुम कहो कि अभाव अजनक है—किसी को पैदा नहीं करता है; सो भी बात नहीं है, कैसे सो बताते हैं, भित्ति आदि का अभाव जब होता है तब उसके परभाग में रहे हुए घट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है, वह ज्ञान भित्ति के अभाव के कारण से ही तो होता है, तथा पाचों प्रमाणों का (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति) अभाव भी अभाव प्रमाण की उत्पत्ति में कारण है, इन उदाहरणों से निश्चित होता है कि अभाव भी कार्य का जनक है ।

येनोपलम्भसामान्येऽप्यय पर्यनुयोग' स्यान् । लोक च प्रमाणयतोभय परतः प्रतिपत्तव्यम् । सुप्रसिद्धो हि लोकेऽप्रामाण्ये दोषावष्टवचक्षुषो व्यापारः, प्रामाण्ये नैर्मल्यादियुक्तस्य, 'यत्पूर्वं दोषावष्टवमिन्द्रिय मिथ्याप्रतिपत्तिहेतुस्तदेवेदानी नैर्मल्यादियुक्त सम्यक्प्रतिपत्तिहेतु, इति प्रतीतेः ।

यच्चोच्यते-क्वचिन्निर्मलमपीन्द्रिय मिथ्याप्रतीतिहेतुरन्यत्रारक्तादिस्वभाव सत्यप्रतीतिहेतुः, तत्रापि प्रतिपत्तुर्दोष स्वच्छनीत्यादिमले निर्मलाभिप्रायात् । अनेकरूपकारो हि दोषः प्रकृत्यादिभेदात्, तदभावोपि भावान्तरस्वभावस्तथाविधस्तत एव । न चोत्पन्न सद्विज्ञान प्रामाण्ये नैर्मल्यादिकमपेक्षते येनानयोर्भेदः स्यात् । गुणवचक्षुरादिभ्यो जायमान हि तदुपात्तप्रामाण्यमेवोपजायते ।

चाहिये । क्योंकि लोक व्यवहार में देखने में आता है कि अप्रामाण्य के होने में दोष-युक्त नेत्र कारण होता है तथा प्रामाण्य में निर्मलतादि गुणयुक्त नेत्र कारण होता है । लोक में भी यह बात प्रसिद्ध है कि सदोष चक्षु का व्यापार अप्रामाण्य में और नैर्मल्यादिगुण युक्त चक्षु का व्यापार प्रामाण्य में कारण होता है, लोक में ऐसी प्रतीति होती है कि जो नेत्र आदि इन्द्रिया पहले दोषयुक्त होने से मिथ्याज्ञान का कारण बनती थी वे ही इन्द्रिया अब निर्मलतादि गुणयुक्त होकर सम्यक् प्रतीति की उत्पत्ति में हेतु बनती हैं । भाट्ट का जो ऐसा कहना है "कि कही २ निर्मलगुणयुक्त नेत्र भी मिथ्याज्ञान के कारण हो जाते हैं, तथा कही २ किसी व्यक्ति के लालिमादिदोषयुक्त नेत्र सत्यज्ञान के कारण होते हैं" सो इस प्रकार के ज्ञान होने में इन्द्रियगत निर्मलता का दोष नहीं है किन्तु जाननेवाले पुरुष की ही गलती है, क्योंकि वे व्यक्ति स्वच्छ नीली आदिरूप आँख के मल को ही निर्मलता मान बैठते हैं । पुरुष और उसके नेत्रादि इन्द्रियो में अनेक प्रकार के वातादि दोष हुआ करते हैं और उन दोषों का अभाव जो कि भावान्तर स्वभाववाला है, अनेक प्रकार का हुआ करता है । एक बात यह भी है कि ज्ञान उत्पन्न होकर फिर अपने में प्रामाण्य के निमित्त निर्मलतादिक की अपेक्षा करता हो ऐसी बात तो है नहीं जिससे प्रमाणभूत ज्ञान और प्रामाण्य में भेद माना जाय, प्रमाण ज्यों ही गुणवान् नेत्रादि इन्द्रियो से उत्पन्न होता है त्यों ही वह प्रामाण्य सहित ही उत्पन्न होता है, इसलिये इनमें काल का भेद नहीं पड़ता है ।

भाट्ट की मान्यता है कि पदार्थ को जैसा का तैसा जाननेरूप जो शक्ति है उस शक्तिलक्षणवाला प्रामाण्य स्वतः ही हो जाया करता है, इस मान्यता पर हम जैन का आक्षेप है कि यदि पदार्थ को जैसा का तैसा जानना रूप प्रामाण्य स्वतः होता है

अर्थतथाभावपरिच्छेदसामर्थ्यलक्षणप्रामाण्यस्य स्वतो भावाभ्युपगमे च अर्थान्यथात्वपरिच्छेद-
सामर्थ्यलक्षणप्रामाण्यस्याप्यविद्यमानस्य केनचित्कर्तुं शक्तेः स्वतो भावोऽस्तु ।

कथं चैव वादिनो ज्ञानरूपतात्मन्यविद्यमानेन्द्रियैर्जन्यते ? तस्यास्तत्राविद्यमानत्वेऽप्युत्पत्त्यु-
पगमेऽर्थग्रहणशक्त्या कोपराध कृतो येनास्यास्ततः समुत्पादो नेष्यते ? न चेमाः शक्तयः स्वाधारेभ्यः
समासादितव्यतिरेका येन स्वाधाराभिमतविज्ञानवत् कारणेभ्यो नोदयमासादयेयुः । पाश्चात्यसवाद-

तो पदार्थ को विपरीत जानने की शक्तिलक्षणवाला अप्रामाण्य भी स्वतः हो जावे, क्या बाधा है, “जो अविद्यमान होता है उसको किसी के द्वारा भी नहीं किया जा सकता है” “नहि स्वतः असती शक्ति कर्तुं मन्येन पार्यते” ऐसा आपने परत प्रामाण्य का निषेध करने के लिये कहा था, सो अब यही बात अप्रामाण्य में भी है, अप्रामाण्य भी पर से (दोषों से) कैसे हो सकता है ? असत् शक्ति पैदा नहीं की जा सकती, ऐसा आपका ही कहना है ? असत् शक्ति के विषय में हमें आपसे और भी पूछना है कि जब अविद्यमान शक्ति अन्य कारण से उत्पन्न नहीं की जा सकती है तो आत्मा में अविद्यमान ऐसी घटाकार आदि ज्ञानरूपता इन्द्रियों के द्वारा किस प्रकार पैदा की जाती है ? बताइये, यदि अर्थाकार ज्ञान रूपता आत्मा में नहीं होती हुई भी इन्द्रियों द्वारा की जाती है तो पदार्थ को यथार्थ ग्रहण करने की शक्ति भी इन्द्रियों के द्वारा क्यों नहीं की जा सकती है ? उसने क्या अपराध किया है कि जो अर्थाकार ज्ञान-रूपता अविद्यमान है और यथार्थग्रहणशक्ति भी अविद्यमान है तो भी अर्थाकारज्ञान-रूपता तो इन्द्रियों से उत्पन्न हो जाय और यथार्थग्रहणशक्ति उत्पन्न न होवे ऐसी बात कैसे बन सकती है ? एक बात यह भी है कि शक्तियाँ जो होती हैं वे अपने आधार से भिन्न नहीं होती, अपना आधार जो यहाँ ज्ञान है उनसे ये यथार्थग्रहण या अर्थाकारज्ञानरूपता अपने आधारभूत ज्ञान के समान कारणों से उत्पन्न न होवे, सो बात नहीं है अर्थात् अपना आधार जो ज्ञान है, वह ज्ञान जिसे कारण से उत्पन्न होता है उसी कारण से उस ज्ञान की शक्तियाँ भी उत्पन्न हो जाया करती हैं, क्योंकि वे शक्तियाँ उस ज्ञान से भिन्न नहीं हैं । जो जिससे पृथक् नहीं होता है अभिन्न होता है वह उसके कारण से उसमें साथ ही उत्पन्न हो जाता है, जैसे—घट का रूप घट से पृथक् नहीं है, अतः घट जिससे पैदा होता है उसीसे उसका रूप पैदा हो जाया करता है । ऐसे ही ज्ञान या प्रमाण जिस इन्द्रियरूप कारण से उत्पन्न होता है, उसीसे उसमें प्रामाण्य उत्पन्न हो जाता है ऐसा मानना चाहिये ।

प्रत्ययेन प्रामाण्यस्याजन्यत्वात्स्वतो भावेऽप्रामाण्यस्यापि रोस्तु । न खलूत्पन्ने विज्ञाने तदप्युत्तरकाल-
भाविविसवादप्रत्ययाद्भवति ।

यच्चोक्तम्—‘लब्धात्मना स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु’ तदप्युक्तिमात्रम्, यथावस्थितार्थव्य-
वसायरूप हि सवेदन प्रमाणम्, तस्यात्मलाभे कारणापेक्षाया काऽन्या स्वकार्ये प्रवृत्तिर्या स्वयमेव

भावार्थ—जैन यद्यपि प्रामाण्य का स्वत होना और पर से होना दोनो प्रकार से होना मानते है, किन्तु जब भाट्ट ने यह हठाग्रह किया कि पर से प्रामाण्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि “नह्यसती शक्ति कर्तुं मन्येन पार्यंते” अपने मे नहीं रही हुई शक्ति दूसरेके द्वारा पैदा नहीं की जा सकती है, इत्यादि—तब आचार्य ने कहा कि ऐसी बात है तो अप्रामाण्य भी पर से उत्पन्न नहीं हो सकता, जिसे आपने दोषरूप पर कारण से उत्पन्न होना स्वीकार किया है, अप्रामाण्य के विषय में भी “नह्यसती शक्ति कर्तुं मन्येन पार्यंते” यह नियम लागू होता है, हा, इतना जरूर है कि मिथ्यात्वरूप अन्तरंग कारण और सदोष इन्द्रियादिरूप बहिरंग कारणो से उस ज्ञान मे विपरीतता आती है । यहा ज्ञान को इन्द्रियो से जन्य जो माना है वह सहायक कारण की अपेक्षा से माना है । ज्ञान और उसकी अर्थग्रहण शक्ति ये दोनो अभिन्न है—अत ज्ञान यदि इन्द्रियरूप कारण से (सहायक कारण की अपेक्षा से) उत्पन्न होता है तो साथ ही यथार्थग्रहण शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है । इसी प्रकार अप्रामाण्ययुक्त ज्ञान भी अपने अप्रामाण्यधर्म या शक्ति के साथ उत्पन्न होता है । ऐसा भाट्ट को मानना पडेगा, क्योंकि उन्होंने प्रामाण्य में स्वत ही होने का हठाग्रह किया है । जैन तो स्याद्वादी है, वे प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वत परत दोनो रूप से होना मानते हैं । यहा सिर्फ भाट्ट के एकान्त पक्ष का खण्डन करने के लिये कहा है कि प्रामाण्य स्वत होता है तो अप्रामाण्य भी स्वत होगा इत्यादि, इसी विषय पर आगे भी कह रहे है । भाट्ट का कहना है कि पीछे से आनेवाला जो सवादकज्ञान है उससे ज्ञानमें प्रामाण्य पैदा नहीं होता है, इसलिये हम प्रामाण्य को स्वत ही होना मानते है, सो हम जैन का कहना है कि अप्रामाण्य भी पीछे से आनेवाले विसवाद या दोष से पैदा नहीं होता है, इसलिये अप्रामाण्य को भी स्वत होना मानना चाहिये । ऐसा तो होता ही नहीं कि ज्ञान उत्पन्न हो चुका हो और उसमे अप्रामाण्य उत्तर कालीन विसवादक ज्ञान से उत्पन्न हो जाय । अत अप्रामाण्य पीछे दोष आदि पर कारण से उत्पन्न होता है यह कथन असत्य ही ठहरता है ।

स्यात् ? घटस्य तु जलोद्धहनव्यापारात्पूर्वं रूपान्तरेणापि स्वहेतोर्न्यक्त्युक्ता मृदादिकारणनिरपेक्ष-
स्य तत्र प्रवृत्तिः प्रतीतिनिवन्धनत्वाद्घटस्तुव्यवस्थाया । विज्ञानस्य तूत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशोपगमात्कुतो
लब्धात्मनो वृत्तिः स्वयमेव स्यात् ? तदुक्तम्—

“न हि तत्क्षणमप्यास्ते जायते वाऽप्रमात्मकम् ।

येनार्थग्रहणे पश्चाद्द्व्याप्रियेतेन्द्रियादिवत् ॥ १ ॥”

मीमांसक भाट्ट ने प्रतिपादन किया था—पदार्थ जब अपने स्वरूप को प्राप्त हो चुकते हैं तब वे स्वतः ही अपने कार्यों में प्रवृत्ति करने लग जाते हैं इत्यादि, सो यह प्रतिपादन भी ठीक नहीं है, इसी को बताते हैं—पदार्थ जैसा है वैसा उसका निश्चय करना—जानना जिससे होता है वह ज्ञान प्रमाणभूत कहलाता है, अर्थात् जैसी वस्तु है वैसी ही उसका ज्ञान के द्वारा ग्रहण होना प्रामाण्य का लक्षण है । ऐसे प्रामाण्य में या प्रामाण्यधर्मवाले प्रमाण में कारणों की अपेक्षा देखी जा रही है तब और न्यायी कौन सी प्रमाण की प्रवृत्ति बचती है कि जिसमें वह स्वतः प्रवृत्त न हो, अर्थात्—यथावस्थित पदार्थ को जानना ही प्रामाण्य है और वही प्रमाण की प्रवृत्ति है । पदार्थ अपने स्वरूप को प्राप्त कर फिर अपने कार्य में प्रवृत्ति किया करते हैं ऐसा सिद्ध करते समय उन्होंने जो घट का उदाहरण दिया था सो घट की बात जुदी है, घट अपना कार्य जो जलधारण आदि है उसमें प्रवृत्ति करने के पहले भी भिन्न स्वरूप से स्वकारण द्वारा उत्पन्न होते हुए देखा जाता है अर्थात् मिट्टी आदि कारण से घट अपने स्वरूप को प्राप्त करता है पर वह स्वरूप तो उस समय उसका रिक्तारूप रहता है [खाली-रूप होता है] वाद में जल धारण—[जलादि से भरे रहने] रूप जो स्वकार्य है उसमें उसकी प्रवृत्ति हुआ करती है अतः घट का जो जलधारणादि कार्य है उसमें मिट्टी आदि कारणों की अपेक्षा उसे नहीं होती है, घटादि पदार्थ इसी तरह से स्वकार्य को करनेवाले होते हैं । ऐसा ही सभी को प्रतीत होता है, प्रतीति के बल पर ही वस्तुओं की व्यवस्था हुआ करती है । यह घट की प्रक्रिया ज्ञान में घटित नहीं होती अर्थात् घट की तरह ज्ञान पहले इन्द्रियोसे प्रामाण्य रहित उत्पन्न होता हो फिर स्वकार्य में प्रवृत्त होता हो सो बात नहीं, वह तो प्रामाण्य युक्त ही उत्पन्न होता है । तथा ज्ञान उत्पत्ति के अनन्तर ही तट हो जाता है ऐसा आपने स्वीकार किया है, अतः पहिले ज्ञान उत्पन्न होवे फिर वह जाननेरूप कार्य में प्रवृत्त होवे ऐसा ज्ञान के सम्बन्ध में घट की तरह होना सिद्ध नहीं होता है । आपके ग्रन्थ में भी यही बात कही है—

तेन जन्मैव बुद्धेर्विषये व्यापार उच्यते ।

तदेव च प्रमारूप तद्वती करण च धीः ॥ २ ॥”

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ५५-५६] इति ।

किञ्च, प्रमाणस्य किं कार्यं यत्रास्य प्रवृत्ति स्वयमेवोच्यते-यथार्थपरिच्छेदा, प्रमाणमिदमित्यवसायो वा ? तत्राद्यविकल्पे ‘आत्मानमेव करोति’ इत्यायातम्, तच्चायुक्तम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । नापि प्रमाणमिदमित्यवसायः, भ्रान्तिकारणसद्भावेन क्वचिन्नदभावात्, क्वचिद्विपर्ययदर्शनाच्च ।

प्रमाण या विज्ञान उत्पत्ति के बाद क्षणमात्र भी ठहरता नहीं है—नष्ट हो जाता है, तथा अप्रमाणरूप भी पैदा नहीं होता । प्रमाण की जो उत्पत्ति है वही उसका विषय में व्यापार या प्रवृत्ति कहलाती है, अतः ज्ञान इन्द्रियो के समान उत्पत्ति के बाद भी स्वकार्य करनेमें समर्थ नहीं होता, अतः ज्ञान का उत्पन्न होना ही उसकी विषय में प्रवृत्ति है वही प्रमा—जाननेरूप प्रमिति है । और वही इस प्रमा का करण है प्रमायुक्त बुद्धि भी वही है, सब कुछ वही है । अतः आपके इस आगम कथन से सिद्ध होता है कि ज्ञान उत्पत्ति के बाद ही नष्ट हो जाता है ।

दूसरी बात यह है कि आप स्वयं कहिये कि प्रमाण का कार्य क्या है कि जिसमें इसकी—प्रमाण की प्रवृत्ति स्वयं होती है ? क्या जैसा पदार्थ है वैसा ही जानना यह प्रमाण का कार्य है अथवा “यह प्रमाण है” ऐसा निश्चय होना यह प्रमाण का कार्य है ? प्रथम विकल्प—यथार्थ रूप से जानने को प्रमाण का कार्य माना जाय तो प्रमाण ने अपने को किया ऐसा अर्थ हुआ पर यह कथन आपके मन्तव्य से फिट नहीं बैठता है क्योंकि “स्वात्मनि क्रिया विरोधः” अपने आपमें क्रिया नहीं होती ऐसा आपका ही सिद्धांत है । “यह प्रमाण है” ऐसा स्वका बोध होना प्रमाण का कार्य है, ऐसा दूसरा विकल्प भी गलत है, देखिये । किसी मनुष्य के नेत्र सदीष है इससे उसे सत्यजल ज्ञान के हो जाने पर भी भ्रम हो जाता है अतः वह व्यक्ति यह जल ज्ञान प्रमाण है ऐसा निर्णय नहीं कर पाता है । तथा कही कही पर तो इससे विपरीत भी देखा जाना होता है—जैसे कि भ्रान्त ज्ञान में “यह प्रमाण है” ऐसा निर्णय गलत हो जाता है, सो इस प्रकार का निर्णय होने मात्र से क्या भ्रान्त ज्ञान प्रमाण बन जायेगा ? नहीं । यहाँ तक प्रत्यक्ष प्रमाण में प्रामाण्य की उत्पत्ति किस प्रकार पर से (गुणों से होती है) आती है इस बात को सबल युक्तियों से सिद्ध करते हुए आचार्य

अनुमानोत्पादकहेतोस्तु साध्याविनाभावित्वमेव गुणो यथा तद्वैकल्य दोषः । साध्याविना-
भावस्य हेतुस्वरूपत्वादगुणरूपत्वाभावे तद्वैकल्यापि हेतो स्वरूपविकलत्वाद्दोषता मा भूत् ।

आगमस्य तु गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वेन प्रामाण्यं सुप्रसिद्धम्, अपौरुषेयत्वस्यासिद्धेः, नीलोत्पला-
दिषु दहनादीना वितथप्रतीतिजनकत्वोपलम्भेनानेकान्तात्, परस्परविरुद्धभावनानियोगाद्यर्थेषु प्रामाण्य-

ने भाट्ट के विविध कथनों और शंकाओं का निरसन किया है । अब अनुमान प्रमाण
में भी गुणों से ही प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है ऐसा सिद्ध करते हैं—अनुमान का
उत्पादक जो हेतु है उस हेतु का अपने साध्य के साथ अविनाभाव से रहना गुण कहा
जाता है, जैसा कि अपने साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव से नहीं रहना हेतु का
दोष कहा गया है । “साध्य के साथ अविनाभावपने से रहना हेतु का स्वरूप है न कि
गुण” यदि ऐसा माना जाय तो अविनाभाव की विकलता भी हेतु का स्वरूप ही मानना
चाहिये, उसे दोष रूप नहीं मानना चाहिये, इस तरह अनुमान प्रमाण में भी गुणों
से ही प्रमाणता की उत्पत्ति होती है, यह सिद्ध हुआ । आगम में प्रमाणता की उत्पत्ति
का कारण तो उसका गुणवान्—रागद्वेष रहित पुरुष के द्वारा प्रणीतत्व होना है यह
सर्व प्रसिद्ध बात है, फिर भी मीमांसकादि आगम को अपौरुषेय (—पुरुष के द्वारा नहीं
रचा हुआ) मानते हैं, सो यह अपौरुषेयपना असिद्ध है—क्योंकि विना पुरुषकृत प्रयत्न
के शब्द रचना होती नहीं इत्यादि अनेक दूषण आगम को अपौरुषेय मानने में आते
हैं । तथा जो अपौरुषेय [पुरुषकृत नहीं] है वही सत्य है ऐसा कहना अनैकान्तिक दोष
युक्त है, कैसे सो बताते हैं—जगल में जब स्वयं दावाग्नि प्रज्वलित होती है तब उस
अग्नि के प्रकाश में नील कमल आदि पदार्थ लाल रंग युक्त सुवर्ण जैसे दिखायी देते हैं,
सो ऐसे मिथ्याज्ञान होने में कारण पुरुषकृत प्रयत्न व होकर अपौरुषेय [स्वयं प्रकट
हुई दवाग्नि] ही कारण है । अतः जो अपौरुषेय है वही प्रमाण है—सत्य ज्ञानका कारण
है ऐसा नियम नहीं रहता है । एक बात सुनिये । आप लोग वेद को अपौरुषेय मानते
हैं, और उसी को सर्वथा प्रमाणभूत स्वीकार करते हैं तो फिर वेद के पदों के अर्थ करने
में इस प्रकार की परस्पर विरुद्धार्थता क्यों ? देखो “पूर्वाचार्यो हि धात्वर्थं वेदे भट्टस्तु
भावनाम् । प्राभाकरो नियोगतु शकरो विधिमब्रवीत्” पूर्वाचार्य वेदस्थित पदों का
अर्थ धातु परक करते हैं, भाट्ट भावना रूप अर्थ करते हैं, तुम्हारे भाई प्रभाकर नियोग
रूप अर्थ करते हैं तथा शकरमतवाले उन पदों का अर्थ विधिरूप करते हैं, सो अपौरु-
षेय वेद को प्रमाणभूत मानने में इन परस्पर विरुद्ध अर्थों को भी प्रामाणिक मानना

प्रसङ्गाच्च । निखिलवचनाना लोके गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वेन प्रामाण्यप्रसिद्धे, अत्रान्यथापि तत्परिकल्पने प्रतीतिविरोधाच्च ।

अपि च अपौरुषेयत्वेऽप्यागमस्य न स्वतोऽर्थे प्रतीतिजनकत्वम् सर्वदा तत्प्रसङ्गात् । नापि पुरुषप्रयत्नाभिव्यक्तस्य, तेषा रागादिदोषदुष्टत्वेनोपगमात् तत्कृताभिव्यक्तैर्यथार्थानुपपत्तोः । तथाच अप्रामाण्यप्रसङ्गभयाद्पौरुषेयत्वाभ्युपगमो गजस्नानमनुकरोति । तदुक्तम्—

पड़ेगा । इसलिये वेद वचन ही प्रमाणभूत है ऐसी बात नहीं बनती है । प्रसिद्ध बात जगत में है कि जो वचन गुणवान् पुरुष के द्वारा कहे गये होते हैं उन्हीं में प्रामाण्य होता है और वे ही मान्य होते हैं । इससे विपरीत मानते हैं तो प्रतीति से विरोध आता है अर्थात्—वेद का रचयिता पुरुष नहीं है वह तो अपौरुषेय है ऐसा स्वीकार करोगे तो प्रतीति विरुद्ध बात होगी, क्योंकि अपौरुषेय वचनो में प्रमाणता आती ही नहीं है । वह तो गुणवान् पुरुष के वचनो से ही आती है । आपके आग्रह से अब हम उसे अपौरुषेय मान कर उस पर विचार करते हैं, भले ही आपका आगम अपौरुषेय होवे तो भी वह स्वत ही अपने अर्थों की प्रतीति तो नहीं करायेगा ? यदि स्वत ही अर्थ की प्रतीति कराता है ऐसा माना जाय तो हमेशा ही प्रतीति कराने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है, इसलिये वेद स्वत ही अपने पदो का अर्थबोध कराता है ऐसा कहना गलत है । यदि किसी ज्ञानी पुरुष के द्वारा उन वेद पदो का अर्थ समझाया जाता है इस प्रकार का पक्ष माना जाय तो भी आपत्तिजनक है, क्योंकि आपके मतानुसार सभी पुरुष रागद्वेष आदि दोषो से भरे हुए होते हैं, वे वेद पदो का सही अर्थ समझा नहीं सकते, अतः पुरुष के द्वारा जो वेदवाक्यो का अर्थ किया जावेगा तो “उन वाक्यो का ऐसा ही अर्थ है” इस तरह की निर्दोष प्रतीति कैसे हो सकेगी और कैसे उस अर्थ में प्रमाणता आसकेगी ? नहीं आ सकती । दूसरी बात यह है कि आपने अप्रामाण्यके भयसे वेदको अपौरुषेय माना था [अर्थात् वेदको पुरुषकृत मानेगे तो अप्रमाणभूत होवेगा] किन्तु उसको अपौरुषेय मानकर भी पुन वेदार्थको पुरुषकृत बताया सो यह गजस्नान जैसी चीज हुई अर्थात् स्वच्छाके लिये हाथी ने स्नान किया किन्तु पुन अपने ऊपर धूलको डाल दिया, ठीक इसी प्रकार अप्रामाण्य के दोष को दूर करनेके लिये वेदको अपौरुषेय स्वीकार किया किन्तु पुन वेदार्थ को पुरुषकृत ही मान लिया, सो यह मीमांसक की गज स्नान जैसी प्रक्रिया है । कहा भी है—

“असंस्कार्यतया पुंभिः सर्वथा स्यान्निरर्थता ।

संस्कारोपगमे व्यक्तं गजस्नानमिदं भवेत् ॥ १ ॥”

[प्रमाणवा० १।२३२]

तत्र प्रामाण्यस्योत्पत्तौ परानपेक्षा ।

नापि ज्ञप्तौ । साहिर्निमित्ता, सन्निसनिमित्ता वा ? न तावन्निसनिमित्ता; प्रतिनियत-देशकालस्वभावाभावप्रसङ्गात् । सनिमित्तत्वे किं स्वनिमित्ता, अन्यनिमित्ता वा ? न तावत्स्वनिमित्ता, स्वसविदितत्वानभ्युपगमात् । अन्यनिमित्तत्वे तत्किं प्रत्यक्षम्, उतानुमानम् ? न तावत्प्रत्यक्षम्, तस्य

यदि वेदार्थं को पुरुष द्वारा संस्कारित नहीं मानते है तो वेद पद निरर्थक ठहरते है, और यदि वे पद पुरुष द्वारा संस्कारित है ऐसा मानते है तो स्पष्ट रूपसे गज स्नानका अनुकरण होता है ॥ १ ॥

इस प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्तिमे परकी अपेक्षा नहीं होती ऐसा मीमांसक का एकांत आग्रह था वह सिद्ध नहीं हुआ । अब प्रामाण्य की ज्ञप्ति परसे नहीं होती ऐसा उन्हीं मीमांसक का जो पूर्वपक्ष था उस पर विचार करते है—सबसे पहले प्रश्न होता है कि प्रामाण्यकी ज्ञप्ति निर्निमित्तक है या सनिमित्तक है ? निर्निमित्त का मानना ठीक नहीं रहेगा, क्योंकि ज्ञप्तिको निमित्त रहित मानने पर प्रतिनियत देश प्रतिनियत काल एव प्रतिनियत स्वभावपनेका उस ज्ञप्तिमें अभाव होगा, जो निर्निमित्त वस्तु होती है उसमें प्रतिनियत देश—इसी एक विवक्षित स्थान पर होना, प्रतिनियत काल—इसी कालमें होना और प्रतिनियत स्वभाव—इसी स्वभाव रूप होना ऐसा देशादिका नियम बन नहीं सकता । दूसरा प्रश्न—प्रामाण्य की ज्ञप्ति सनिमित्तक है ऐसा मानने पर प्रश्न होता है कि उस ज्ञप्ति का निमित्त क्या है ? क्या प्रामाण्य ही उसका निमित्त है अथवा प्रामाण्य से पृथक् कोई दूसरा उसका निमित्त है ? स्वनिमित्तक [प्रामाण्य निमित्तक] ज्ञप्ति हो नहीं सकती, क्योंकि मीमांसकों ने ज्ञान को स्वसविदित माना ही नहीं है । यदि ज्ञप्ति का अन्य दूसरा निमित्त है ऐसा दूसरा पक्ष मानो तो पुनः प्रश्नों की माला गले पडती है कि वह अन्य निमित्त कौन है । क्या प्रत्यक्ष है अथवा अनुमान ? प्रत्यक्ष निमित्त बन नहीं सकता क्योंकि प्रामाण्य की ज्ञप्ति में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं होती है, प्रत्यक्ष प्रमाण तो इन्द्रिय से सयुक्त विषय मे प्रवृत्ति करता है । अक्ष—इन्द्रिय प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्” ऐसी प्रत्यक्ष पद की व्युत्पत्ति है, सो प्रामाण्य के

तत्र व्यापाराभावात् । तद्धीन्द्रियसयुक्ते विषये तद्व्यापारादुदयमासादयत्प्रत्यक्षव्यपदेश लभते । न च प्रामाण्येनेन्द्रियाणां सम्प्रयोगो येन तद्व्यापारजनितप्रत्यक्षेण तत्प्रतीयेत । नापि मनोव्यापारजप्रत्यक्षेण; एव विधानुभवाभावात् ।

नाप्यनुमानत, लिङ्गाभावात् । अथार्थप्राकट्य लिङ्गम्; तर्किक यथार्थत्वविशेषणविशिष्टम्, निर्विशेषण वा ? प्रथमपक्षे तस्य यथार्थत्वविशेषणग्रहणं प्रथमप्रमाणात्, अन्यस्माद्वा ? आद्यपक्षे परस्पराश्रय-दोषः । द्वितीयेऽनवस्था । निर्विशेषणात्तत्प्रतिपत्ती चातिप्रसङ्गः । प्रत्यक्षानुमानाभ्या-

साथ इन्द्रियोका सन्निकर्षं तो होता नहीं जैसा कि पदार्थ के साथ होता है । इन्द्रिय और प्रामाण्य का जब सप्रयोग ही नहीं तो उसके व्यापार से उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष के द्वारा प्रामाण्य की ज्ञप्ति किस प्रकार जानी जायगी ? अर्थात् नहीं जानी जायगी । मन से उत्पन्न हुए मानस प्रत्यक्ष के द्वारा भी प्रामाण्य के ज्ञप्ति की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि इस प्रकार का किसी को भी अनुभव नहीं होता है कि मानस प्रत्यक्ष ज्ञप्ति को ग्रहण करता है । इस तरह ज्ञप्ति का निमित्त प्रत्यक्ष प्रमाण है यह बात असिद्ध हुई । अनुमान से भी ज्ञप्ति का ग्रहण होना बनता नहीं, क्योंकि यहां हेतु का अभाव है ।

शंका—ज्ञप्ति को ग्रहण करने वाले अनुमान में अर्थप्राकट्य हेतु है, अर्थात् प्रमाण में प्रामाण्य है क्योंकि अर्थप्राकट्य—पदार्थ का जानना हो रहा है इस अर्थप्राकट्यरूप हेतु वाले अनुमान से ज्ञप्ति का बोध हो जायगा ।

समाधान — ठीक है ! पर यह अर्थ-प्राकट्य हेतु यथार्थत्व विशेषण से सहित है कि उससे रहित है ? यदि यथार्थत्व विशेषण से युक्त है तो उस विशेषण को कौन जानता है ? क्या प्रथम प्रमाण—ज्ञान जानता है अथवा अन्य कोई प्रमाण ? प्रथम प्रमाण जानता है ऐसा कहो तो परस्पराश्रय दोष आता है कैसे—सो ही बताते हैं—किसी पुरुष को 'यह जल है' ऐसा ज्ञान हुआ सो इस ज्ञान की प्रमाणता का निमित्त है अर्थप्राकट्य, और यह अर्थप्राकट्य यथार्थ रूप से वस्तु का ग्रहण होना रूप विशेषण वाला है, इस बात को प्रथम जल ज्ञान तब जानेगा जब वह अर्थप्राकट्य में यथार्थत्व रूप विशेषण को ग्रहण करेगा और पुन जाने हुए उस यथार्थत्व विशेषणवाले हेतु से उस प्राथमिक जल ज्ञान से प्रामाण्य का निश्चय होगा । इस तरह दोनों असिद्ध ही रह जायेंगे । दूसरा पक्ष—अन्य कोई प्रमाण से अर्थ प्राकट्य हेतु का यथार्थत्व विशेषण जाना जाता है ऐसा मानो, तो अनवस्था होती है, क्योंकि आगे आगे आने वाले

तत्प्रामाण्यनिश्चये स्वतः प्रामाण्यव्याघातश्च ।

यच्च सवादात्पूर्वस्य प्रामाण्ये चक्रकदूषणं; तदप्यसङ्गतम्, न खलु सवादात्पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्चित्य प्रवर्तते, किन्तु वह्निरूपदर्शने सत्येकदा शीतपीडितोऽन्यार्थं तद्देशमुपसर्पन् कृपालुना वा केनचित्ताद्देशे वह्नोरानयने तत्स्पर्शविशेषमनुभूय तद्रूपस्पर्शयोः सम्बन्धमवगम्यानभ्यासदशाया 'ममाय रूपप्रतिभासोऽभिमतार्थक्रियासाधनः एवविधप्रतिभासत्वात्पूर्वोत्पन्नैवविधप्रतिभासवत्' इत्यनुमाना-

प्रमाणों में अर्थ प्राकट्य के यथार्थत्व विशेषण को जानने के लिये प्रमाण परपरा की विश्रान्ति नहीं होगी अर्थात् अनुमान के हेतु का विशेषण जानने के लिये पुनः अन्य प्रमाण की जरूरत होगी, पुनः उसमें प्रदत्त हेतु के विशेषण को जानने के लिये अन्य प्रमाण ज्ञान की आवश्यकता होगी, इस प्रकार कही भी स्थिति नहीं रहेगी। इन दोषों से बचने के लिये यदि अर्थप्राकट्य हेतु विशेषण रहित माना जाय तो अतिप्रसंग होगा—अर्थात् यह जल ज्ञान प्रमाणभूत है क्योंकि इसके द्वारा अर्थप्राकट्य हुआ है सो इतने मात्र हेतु से जलज्ञान में प्रामाण्य माना जाये तो मिथ्याज्ञान में भी प्रामाण्य मानना पड़ेगा ? क्योंकि उसके द्वारा भी अर्थप्राकट्य तो होता ही है। किञ्च—यदि प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा पूर्वज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होना माने तो “प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः होती है ऐसी आपकी मान्यता खतम होती है जो आपको अनिष्ट है। भाट्ट ने पूर्व में कहा था कि सवादक ज्ञान से प्रमाण में प्रामाण्य आता है ऐसा माना जायगा तो चक्रक दोष आवेगा सो यह कहना गलत है—क्योंकि कोई पुरुष अपने जलादि ज्ञानों में सवादक प्रत्यय के द्वारा प्रमाणता का निश्चय करके अर्थ क्रिया करने की प्रवृत्ति नहीं करता है। अर्थ क्रिया में प्रवृत्ति किस तरह होती है ? ऐसा प्रश्न हो तो बताते हैं—किसी पुरुष ने पहले अग्नि का रूप दूर से देखा था, वह पुरुष पुष्पादि वस्तु को लाने के लिये वही कही जा रहा था, रास्ते में उसे सर्दी लगी, वही पर कही अग्नि जल रही थी, उस अग्नि को देखकर वह उसके निकट गया तो उसे उसका उष्णस्पर्श प्रतीत हुआ तब वह पुरुष पूर्वमें देखा हुआ भास्वर रूप और वर्तमान का अनुभव किया हुआ, उष्णस्पर्श इन दोनोंका सबब जान लेता है कि ऐसे भास्वर रूप वाला पदार्थ उष्णता युक्त होता है, मेरा यह रूपका ज्ञान इच्छित कार्य को करने वाला है। इस तरह निश्चय करके वह पुरुष अग्नि से तापने आदि कार्य में प्रवृत्ति करता है क्योंकि वह अग्नि के विषय में अनभ्यस्त था, यदि उस शीत पीडित पुरुष को देखकर कोई दयालु व्यक्ति उसके पास अग्नि को लाकर रखता है तब भी वह पुरुष अपने

त्साधननिर्भासिज्ञानस्य प्रामाण्य निश्चित्य प्रवर्तते । कृपीवलादयोपि ह्यनभ्यस्तबीजादिविषये प्रथमतर तावच्छरावादावल्पतरबीजवपनादिना बीजाबीजनिर्धारणाय प्रवर्तन्ते, पश्चाद्दृष्टसाधर्म्यात्परिशिष्टस्य बीजाबीजतया निश्चितस्योपयोगाय परिहाराय च अभ्यस्तबीजादिविषये तु नि सशय प्रवर्तन्ते ।

यच्चाभ्यधायि—सवादप्रत्ययात्पूर्वस्य प्रामाण्यावगमेऽनवस्था तस्याप्यपरमवादापेक्षाऽविशेषान्, तदप्यभिधानमात्रम्, तस्य सवादरूपत्वेनापरसवादापेक्षाभावात् । प्रथमस्यापि सवादापेक्षा मा

पहले देखे हुए अग्नि का रूप याद कर और वर्तमान में उसका स्पर्श शीतनिवारक जानकर सबध का ज्ञान करता है कि इस प्रकार का रूप प्रतिभास किसी वस्तु का होवे तो वह शीतवाधा को दूर करने वाली वस्तु समझनी चाहिये । इस तरह साधन निर्भासी ज्ञान में प्रामाण्य देखकर इष्ट कार्य में (शीतता को दूर करना आदि में) प्रवृत्ति करता है । इसी विषय में अन्य दृष्टांत भी है, जैसे—किसानादि लोग विवक्षित गेहूं आदि बीजों की अकुरोत्पादनरूप शक्ति को (गुण धर्म को) नहीं जानते हो, उन विवक्षित बीजों के विषय में अनभ्यस्त हो तो वे पहले सकोरा गमला आदि में थोड़े से बीजों को बो देते हैं और बीज अबीज की परीक्षा करते हैं—कि इस गमले में अमुक बीज बोये तो अकुरे बढ़िया आये या नहीं इत्यादि, जब उन किसानों को बीज और अबीज की परीक्षा हो जाती है तब उनमें से जिनके अकूर ठीक उगे उन्हें बोने योग्य समझकर उन्हीं के समान जो बीज रखे थे उनका तो खेती में उपयोग करते हैं और जो अबीज रूप से परीक्षा में उतरे थे उनको छोड़ देते हैं खेती में बोते नहीं हैं । इसी प्रकार कोई किसान बीज के विषय में अभ्यस्त है तो वे निःसशय बीजवपन कार्य को करते हैं । इसलिये अनभ्यस्त अवस्था में सवादक से प्रामाण्य आने में चक्रक आदि दोष नहीं आते हैं ऐसा सिद्ध होता है । सवादक प्रत्यय से प्रामाण्य मानने पर जो अनवस्था दोष आने की बात भाट्टने कही थी सो भी ठीक नहीं, क्योंकि सवादक तो सवादस्वरूप ही है, उसको दूसरे सवादक ज्ञान की अपेक्षा नहीं पड़ती है । अन्यथा वह सवादक ही क्या कहलावेगा ।

शंका—ऐसी बात है तो प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य में भी सवादक की उपेक्षा नहीं होनी चाहिये ?

समाधान—ऐसा प्रश्न गलत है, प्रथमज्ञान तो असवाद रूप है, इसलिये उसमें सवादक ज्ञान से प्रामाण्य निश्चित किया जाता है । अर्थ क्रिया का जो ज्ञान है

भूदित्यप्यसमीचीनम्, तस्यासवादरूपत्वात्, अतः सवादकद्वारेणैवास्य प्रामाण्य निश्चीयते ।

अर्थक्रियाज्ञान तु साक्षादविसवाद्यर्थक्रियालम्बनत्वान्न तथा प्रामाण्यनिश्चयभाक् । तेन 'कस्यचित्तु यदीष्येत' इत्यादि प्रलापमात्रम् । न चार्थक्रियाज्ञानस्याप्यवस्तुवृत्तिशङ्कायामन्यप्रमाणा-
पेक्ष्यानवस्थावतार । अस्यार्थाभावेऽदृष्टत्वेन निरारेकत्वात् । यथैव हि—किं 'गुणव्यतिरिक्तेन
गुणिनाऽर्थक्रिया सम्पादिता उताऽव्यतिरिक्तेनोभयरूपेणानुभयरूपेण, त्रिगुणात्मना वार्थेन, परमाणु-
समूहलक्षणेन वा' इत्याद्यर्थक्रियार्थिना चिन्ताऽनुपयोगिनी निष्पन्नत्वाद्वाञ्छितफलस्य, तथेयमपि 'किं

उसके विषय मे तो यह समझना चाहिये कि वह ज्ञान साक्षात् ही विसवाद रहित होता है, क्योंकि स्नान पानादि अर्थ क्रिया ही जिसका अवलंबन [विषय] है तो ऐसे ज्ञान में सवादक की अपेक्षा लेकर प्रामाण्य का निश्चय नहीं हुआ करता है, वह तो स्वतः ही प्रामाण्य स्वरूप होता है । भाट्ट ने कहा था—यदि किसी एक संवादक ज्ञान में स्वतः प्रामाण्य होता है तो प्रथम ज्ञानमे स्वतः प्रामाण्य मानने मे क्यो द्वेष करते हो ? इत्यादि सो यह कथन भी बकवाद मात्र है, क्योंकि हम जैन इस बातको बता चुके हैं कि सवादक ज्ञान अभ्यस्त विषयक होनेसे स्वतः प्रामाणिक रहता है, किन्तु इस तरह सभी ज्ञान अभ्यस्त नहीं हुआ करते । मीमांसकने कहा था कि अर्थक्रियाका ज्ञान भी पदार्थके अभाव हो सकता है अतः उसके अवास्तविकताके बारे मे शंका उपस्थित हो जाय तो पुनः अन्य प्रमाणकी अपेक्षा लेनी पड़ेगी और इस तरह अनवस्था आवेगी; सो यह कथन अविचार पूर्ण है, अर्थक्रियाका कभी भी पदार्थ के अभाव मे देखा नहीं जाता, अतः उसमे अवास्तविकता की शंका होना असंभव है, अर्थात् "यह जल है" ऐसा ज्ञान होनेके अनंतर उस जलकी अर्थक्रिया जो स्नान पानादि है वह सम्पन्न हो जाती है तब उसमे अवास्तविकता का कोई प्रश्न ही नहीं रहता ।

एक बात और भी विचारणीय है कि जिस पदार्थ से जो अर्थ क्रिया सम्पन्न होती है उस पदार्थ मे गुण है वे गुण पदार्थ से पृथक् है या अपृथक् है, उभयरूप है या अनुभय रूप है, ऐसा विचार अर्थक्रिया को चाहने वाले व्यक्ति को नहीं हुआ करता है, तथा यह पदार्थ सत्व रज, तम गुण वाला प्रधान है अथवा परमाणुओं का समूह रूप है। कैसा है ? किससे बना है ? इत्यादि चिन्ता अर्थ क्रियार्थी पुरुष नहीं किया करते हैं, उनके लिये इन विचारों की जरूरत ही नहीं, उनका कार्य स्नानपानादि है वह हुआ कि फिर वे सफल मनोरथ वाले कृतकृत्य हो जाते हैं । भावार्थ—किसी पुरुष को प्यास

वस्तुभूतायामवस्तुभूताया वार्थक्रियाया तत्सवेदनम्' इति । वृद्धिच्छेदादिक हि फलमभिलषितम्, तच्च त्रिष्यन्न तृडिव, तृडिव)योगिज्ञानानुभवे किं तच्चिन्तासाध्यम् ?

न च स्वप्नार्थक्रियाज्ञानस्यार्थाभावेपि दृष्टत्वाज्जाग्रदर्थक्रियाज्ञानेपि तथा शङ्का; तस्यैतद्विपरीतत्वात् । स्वप्नार्थक्रियाज्ञान हि सबाधम्, तद्गुणद्वरेवोत्तरकालमन्यथाप्रतीते' न जाग्रदृशाभावीति । यदि चात्रार्थक्रियाज्ञानमर्थमन्तरेण स्यात् किमन्यज्ज्ञानमर्थव्यभिचारि यद्बलेनार्थव्यवस्था ?

लगी थी, गरमी सता रही थी, जगल मे भटकते हुए दूर से सरोवर दिखायी दिया तब वह सीधा जाकर स्नान करना, पानी पीना आदि कार्य करता है न कि यह सोचता है कि "यह जल है" इसमे शीतलता गुण है सो इस गुण को यौगमत के समान पृथक् माने अथवा सांख्य चार्वाक के समान अपृथक् माने, जैन मीमांसको के मान्यतानुसार शीत गुण जल से अपृथक् पृथक् दोनो रूप है, बौद्ध गुण को गुणीसे अनुभयरूप बतलाते हैं, सांख्य जलादि सभी वस्तु को त्रिगुणात्मक प्रधान की पर्याय बतलाते है, बौद्ध के एक भाई परमाणुओं का समूह रूप वस्तु स्वीकार करते है इत्यादि दुनिया भर की चिन्ता उस पिपासु को नहीं सताती है उसको तो प्यास-गरमी सता रही है वह मिट गयी कि वह सफल मनोरथ वाला होकर, अपने मार्ग मे लग जाता है, इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्थ क्रिया का बोध होने पर पुन शका या कोई आपत्ति आती ही नहीं इसलिये आगे के ज्ञानों की अपेक्षा नहीं होती कि जिन्हे लेकर अनवस्था हो ॥ अर्थ क्रिया के इच्छुक पुरुष जिस प्रकार पदार्थ के गुण आदि मे लक्ष्य नहीं देते है, उसी प्रकार अर्थ क्रिया के विषय मे भी लक्ष्य नहीं रखते कि वास्तविक अर्थ क्रिया के होने पर उसका सवेदन (ज्ञान) हो रहा है अथवा अवास्तविक अर्थ क्रिया के होने पर हो रहा है ? इत्यादि जल की अर्थ क्रिया के इच्छुक, पुरुष, तृष्णा शात करना, शरीर का मैल दूर करना आदि फल की अभिलाषा करते हैं सो वह अभिलाषा पूर्ण हो जाने पर उन्हे जब सतोष होता है तो वे व्यर्थ की वस्तु की चिन्ता क्यों करे । कोई कहे कि स्वप्न मे अर्थ-क्रियाका ज्ञान विना पदार्थ के भी होता है, इसलिये शका होती है कि जाग्रद दशा मे जो अर्थक्रियाका ज्ञान हो रहा है वह कही विना पदार्थ के तो नहीं है ? इत्यादि सो ऐसी शका बेकार है । स्वप्न मे अनुभवित हुआ अर्थक्रियाका ज्ञान जाग्रद दशाके अर्थक्रिया ज्ञान से विपरीत है, देखो ! स्वप्न में अर्थक्रियाका जो ज्ञान होता है वह बाधायुक्त है, खुद स्वप्न देखने वाले को ही वह उत्तरकाल मे [जाग्रद अवस्था में] अन्यथा [विपरीत अर्थ क्रिया का असाधक] दिखाई देता है, जाग्रद दशा के अर्थ

अपि च, 'अर्थक्रियाहेतुर्ज्ञानं प्रमाणम्' इति प्रमाणलक्षणं तत्कथं फलेप्याशङ्क्यते? यथा 'अकुरहेतुर्बीजम्' इति बीजलक्षणस्याकुरेऽभावात् नैव प्रश्नः 'कथमकुरे बीजरूपता निश्चीयते' इति, एवमत्रापि ।

यच्चेदमुक्तम् "श्रोत्रधीश्चाप्रमाणं स्यादितराभिरसङ्गति (ते) ।"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ७७]

इति, तदप्ययुक्तम्, वीणादिरूपविशेषोपलम्भतस्तच्छब्दविशेषे शङ्काव्यावृत्तिप्रतीते कथमि-

क्रिया ज्ञान में ऐसी बाधा नहीं आती है । यदि जाग्रद दशा का अर्थ क्रिया का ज्ञान विना पदार्थ के होने लगे तो फिर ऐसा कौन सा और न्यारा ज्ञान है कि जो अर्थ का अव्यभिचारी [अर्थ—के विना नहीं होने वाला] है ? एव जिसके बलसे वस्तु व्यवस्था होती है ? मतलब जाग्रद दशा में जो अर्थ क्रिया दिखाई देती है उसको देखकर सिद्ध करते हैं कि यह पदार्थ इस काम को करता है, इत्यादि यदि इस जाग्रद्वु [सावधान अवस्था का] ज्ञान भी विना पदार्थ के होता है ऐसा माना जाय तो फिर पदार्थ व्यवस्था बनेगी ही नहीं । तथा आप लोग जो ज्ञान अर्थ क्रिया का कारण है वह प्रमाण है ऐसा तो मानते हैं, फिर उसी के फल में किसप्रकार शका करते हैं ? जैसे अकुर का जो कारण होता है वह बीज कहलाता है ऐसा बीज का लक्षण निश्चित होने पर फिर प्रश्न नहीं होता है कि अकुर बीज से कैसे हुआ, अकुर में बीज रूपता का निश्चय कैसे करे ? इत्यादि सो जैसे बीज और अकुर के विषय में शका नहीं होती वैसे ही अर्थ क्रिया के ज्ञान में प्रामाण्य की शका नहीं होती, वह तो पूर्व ज्ञान का ही फलरूप है । मीमांसको के ग्रन्थ में लिखा है कि कर्ण से होने वाला ज्ञान यदि इतर इन्द्रिय ज्ञानों से असंगत है तो वह अप्रमाणभूत कहलाता है, इत्यादि सो यह कथन अयुक्त है, बात यह है कि किसी एक इन्द्रिय के ज्ञान का अन्य इन्द्रिय ज्ञानसे बाधित होना जरूरी नहीं है श्रोत्रेन्द्रिय से वीणादि का शब्द सुना और उसका रूप विशेष भी देख लिया हो फिर शब्द में शका नहीं होती कि यह शब्द वीणाका है या वेणुका है ? इसलिये ऐसा नियम से नहीं कह सकते कि श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञान इतर इन्द्रिय ज्ञानों से बाधित ही होता है । अत उपर्युक्त अर्थ श्लोक का अर्थ—'श्रोत्रधीश्चाप्रमाणं स्यादितराभिरसंगते' ॥ गलत सिद्ध होता है । श्रोत्र सबधी जो ज्ञान है उसमें भी अर्थ क्रिया का अनुभव होता है अत वह भी स्वतः प्रामाण्यरूप है जैसे कि गन्ध ज्ञान, रसादि ज्ञान स्वतः प्रामाण्यरूप माने हैं । इस श्रोत्रज्ञान में सशयादि का अभाव रहता

तराभिरमङ्गति ? श्रोत्रबुद्धेरर्थक्रियानुमवरूपत्वेन स्वतः प्रामाण्यसिद्धेश्च गन्धादिवुद्धिवत् । सशया-
द्यभावान्नान्येन सङ्गत्यपेक्षा । यत्रैव हि सशयादिस्तत्रैव सापेक्षते नान्यत्र अतिप्रसङ्गात् ।

अथोच्यते अर्थक्रियाऽविसवादात्पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्चये मणिप्रभाया मणिवुद्धेरपि प्रामाण्य-
निश्चयः स्यात्, तदप्यपर्यालोचिताभिधानम्; एवंभूतार्थक्रियाज्ञानान्मणिवुद्धेरप्रामाण्यस्यैव निश्चया-
त्तेन सवादाभावात् । कुञ्चिकाविवरस्याया हि मणिप्रभाया मणिज्ञानम् अपर(अपवर)कान्तदेश-
सम्बद्धे तु मणावर्थक्रियाज्ञानमिति भिन्नदेशार्थग्राहकत्वेन भिन्नविषययो पूर्वोत्तरज्ञानयोः कथमविस-

है अत इसमें अन्य सवादक की अपेक्षा नहीं रहती । जहां जिस ज्ञान में संशयादि होते हैं वहां पर ही सवादक की अपेक्षा लेनी पड़ती है, सब जगह नहीं । बिना संशय के भी सवादक की अपेक्षा लेना मानेगे तो खुद को प्रतीत हुए सुख आदि में भी अन्य की अपेक्षा लेनी होगी ऐसा अति प्रसंग उपस्थित होगा । शंका—अर्थ क्रिया में अविस्वादा होने से ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होता है ऐसा स्वीकार किया जाय तो मणि-रत्न की कान्ति में उत्पन्न हुई मणि की बुद्धि को भी प्रमाणभूत मानने का प्रसंग प्राप्त होगा ? समाधान—यह शंका भी असत् है क्योंकि अर्थ क्रिया का ज्ञान उस मणि के प्रतिभास को अप्रामाण्य ही सिद्ध कर देगा, अर्थात् यदि मणि की प्रभा में मणिका ज्ञान हो जाय तो उसे उठाने आदि रूप जो अर्थ क्रिया होगी तो उसीसे उस ज्ञान में अप्रमाणता निश्चित हो जायगी, क्योंकि उस मणि प्रभा के ज्ञानको पुष्ट करनेवाला सवादक प्रमाण नहीं है । मणि प्रभा में मणि का प्रतिभास जो होता है उस विषय में बात ऐसी है कि खिडकी झरोका आदि के छेद से मणि की कान्ति आती है उसे देखकर कदाचित् ऐसा प्रतिभास होता है कि "यह मणि है" किन्तु मणि को उठाना आभूषण बनाना आदि अर्थ क्रिया का ज्ञान तो कमरे के अन्दर जहां मणि रखी है वहां मणि में ही होगा, इस प्रकार का मणि ज्ञान और मणि की अर्थ क्रिया का ज्ञान दोनों भिन्न भिन्न स्थान में हुए हैं भिन्न भिन्न ही इनका विषय है ऐसे पूर्वोत्तर काल में होने वाले ज्ञानों में अविस्वाद कैसे आ सकता है ? अर्थात् इसमें तो तिमिर [अंधकार] आदि से उत्पन्न हुए भ्रम ज्ञान के समान या रजत में प्रतीत हुए सीप के समान विस्वादा ही रहेगा, अविस्वाद नहीं आयेगा । और भी जो कहा गया है कि कहीं कूट [काल्पनिक] जयतुंगमें भी होने वाला ज्ञान प्रमाणभूत मानना चाहिये क्योंकि उसमें कतिपय अर्थ क्रिया देखी जाती है । सो उसमें जो कूट में कूट का ज्ञान हुआ है वह प्रमाणभूत ही है, किन्तु अकूट का ज्ञान प्रमाणभूत नहीं है क्योंकि उस ज्ञानका कोई सवादक प्रत्यय

वादस्तिमिराद्याहितविभ्रमज्ञानवत् ?

यच्चान्यदुक्तम्— क्वचित्कूटेपि जयतुङ्गे ज्ञान, प्रमाण स्यात्कतिपयार्थक्रियादर्शनात्, तत्र कूटे कूटज्ञान प्रमाणमेवाऽकूटज्ञान तु न प्रमाण तत्सवादाभावात् । सम्पूर्णचेतनालाभो हि तस्यार्थक्रिया न कतिपयचेतनालाभ इति ।

यच्च कविषय भिन्नविषय वा सवादकमित्युक्तम्; तत्रैकाधारवर्तिरूपादीना तादात्म्यप्रतिबन्धे-
नान्योन्य व्यभिचाराभावात् । जाग्रद्दशारसादिज्ञान रूपाद्यविनाभावि रसादिविषयत्वात् । भिन्नविषय-
त्वेऽप्याशङ्कितविषयाभावस्य रूपज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चयात्मकम् । दृश्यते हि विभिन्नदेशाकारस्यापि
वीणादे रूपविशेषदर्शने शब्दविशेषे शङ्काव्यावृत्ति किं पुनर्नात्र ? अविनाभावो हि सवाद्यसवादक-

नही है । सम्पूर्ण चेतनालाभ होना ही उस पदार्थ की अर्थ क्रिया कहलाती है न कि कतिपय चेतनालाभ ।

आप भाट्ट ने पूछा था कि पूर्व ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय करने वाला जो संवादक ज्ञान आता है वह संवादक ज्ञान पूर्वज्ञान के विषय को ही ग्रहण करने वाला होता है अथवा भिन्न विषय वाला होता है इत्यादि उस पर हम जैन कहते हैं कि जहां एक ही आधार में रहने वाले या एक सतानवर्ती जो रूप रस आदि विषय होते हैं उनका तादात्म्य संबंध होने के कारण वे एक दूसरे से व्यभिचरित नहीं होते हैं अतः ये भिन्न विषय रूप होकर भी परस्पर में सवादक बन जाते हैं । जाग्रद् दशा में होने वाला रसादि का ज्ञान रूपादिका अविनाभावी होता है क्योंकि वह रसादिको विषय करनेवाला है । रूप ज्ञान और रस का ज्ञान भिन्न भिन्न विषय वाले हैं तो भी उनमें से जो प्रथम हो उसके प्रामाण्य का निश्चय आगे के ज्ञान कराते हैं, देखा भी जाता है कि भिन्न देश एवं आकार वाले ऐसे वीणा आदि के रूप विशेष का ज्ञान होने पर वह रूप ज्ञान पहले सुने हुए उसी वीणा के शब्द के विषय में उत्पन्न हुई शका को दूर कर उसमें प्रमाणता लाते हैं, अर्थात् पहले दूर से वीणा का शब्द सुना उस ज्ञान में शका हुई कि यह किस वाद्य का शब्द है फिर वीणा का रूप देखा तब उस रूप ज्ञान ने शब्द ज्ञान की प्रमाणता निश्चित की । इस प्रकार भिन्न देश और आकार स्वरूप वीणादि का रूप विशेष देखने पर शब्दविशेष में जो शका हुई थी उसकी व्यावृत्ति हो जाती है तब रूप ज्ञान से रस ज्ञान संबंधी या रस ज्ञान से रूपज्ञान संबंधी आशंका दूर होकर प्रामाण्य आवे तो क्या आश्चर्य है ? पूर्व और उत्तर ज्ञानों में अविनाभाव होना ही संवाद्य सवादकपना कहलाता है अन्य कुछ नहीं अर्थात् वे

भावनिमित्तानान्यत् ।

“ सवादज्ञानं किं पूर्वज्ञानविषयतदविषयवा, इत्याद्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, न खलु सवादज्ञानं तद्ग्राहित्वेनास्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयति । किं तर्हि ? तत्कार्यविशेषत्वेनाग्न्यादिकमिव धूमादिकम् ।

सर्वप्राणभृता प्रामाण्ये सन्देहविपर्ययामिद्वेश्च, इत्यप्ययुक्तम्; प्रेक्षापूर्वकारिणो हि प्रमाणाप्रमाणचिन्तायामधिक्रियन्ते नेनरे । ते च कासाश्विदज्ञा(श्विज्ज्ञा)नव्यक्तीना विसवाददर्शनाज्जाता-

ज्ञान चाहे भिन्न विषय वाले हों, चाहे अभिन्न विषय वाले हो, उनका अविनाभाव है तो संवाद सवादकपना होकर संवाद ज्ञान की प्रमाणता सवादकज्ञान से हो जाती है। संवादिक ज्ञान पूर्व ज्ञान के विषय को जानने वाला है कि उस विषय को नहीं जानने वाला है इत्यादि प्रश्न भी अविचार पूर्वक किये गये हैं सवादक ज्ञान पूर्व ज्ञानके विषय को ग्रहण करनेवाला होता है इसलिये उस ज्ञानकी प्रमाणता को बतलाता हो सो तो बात नहीं है, किन्तु उस पूर्व ज्ञान के विषय के कार्य स्वरूप अर्थ क्रिया को देखकर उसमें प्रामाण्य स्थापित किया जाता है, जैसे कि धूम कार्य को देखकर अग्नि का अस्तित्व स्थापित किया जाता है। तथा जो भाट्ट ने यह कहा है कि विश्व में जितने प्राणी हैं उन सबके प्रामाण्य में सदेह तथा विपर्यय नहीं हुआ करता, ज्ञानके उत्पन्न होनेपर तो “यह पदार्थ इसीप्रकार का है” ऐसा निश्चय ही होता है, न कि सदेह या विपर्यय होता है, इत्यादि ! सो इस पर हम जैनका कहना है कि जो बुद्धिमान होते हैं वे ही प्रमाण और अप्रमाण का विचार करने के अधिकारी होते हैं। अन्य सर्व साधारण पुरुष नहीं क्योंकि जो प्रेक्षापूर्वकारी होते हैं वे ही किन्हीं किन्हीं ज्ञान भेदों में विसवाद को देखकर शका शील हो जाते हैं कि सिर्फ ज्ञान मात्र से “यह पदार्थ इस प्रकार का ही है” ऐसा निश्चय कैसे हो संकता है और कैसे इस ज्ञान में प्रमाणता है ? इत्यादि विचार कर वे सवादक ज्ञान से उस अपने पूर्व ज्ञान की प्रमाणता का निर्णय कर लेते हैं। यदि इस तरह का विचार वे नहीं करे तो फिर उनमें बुद्धिमत्ता ही क्या कहलावेगी। तथा भाट्ट ने पूर्वपक्ष की स्थापना करते समय कहा है कि प्रमाण की प्रमाणता का निर्णय होने के विषय में तो यह बात है कि बाधक कारण और दोषका ज्ञान इनका जिसमें अभाव हो उस ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय हो जाता है ? सो यह भी कथन मात्र है। आप यह बताइये कि प्रमाणमें बाधक कारणका अभाव है इस बातको किस प्रकार जाना है ? बाधक के अग्रहण होनेपर अथवा बाधक के

शङ्का कथं ज्ञानमात्रात् 'अप्रमित्यमेवार्थ' इति निश्चिन्वन्ति प्रामाण्य वास्य ? अन्यथेषा प्रेक्षावत्त्व हीयेत ।

प्रमाणे बाधककारणदोषज्ञानाभावात्प्रामाण्यावसायः; इत्यप्यभिधानमात्रम्; तदभावो हि बाधकाग्रहणे, तदभावनिश्चये वा स्यात् ? प्रथमपक्षे भ्रान्तज्ञाने तद्भावेऽपि तदग्रहणं कश्चित्काले दृष्टम्, एवमत्रापि स्यात् । 'भ्रान्तज्ञाने कश्चित्कालमग्रहेऽपि कालान्तरे बाधकग्रहणं सम्यग्ज्ञाने तु कालान्तरेऽपि तदग्रहणम्' इत्ययं विभागः सर्वविदा नास्मादृशाम् । बाधकाभावनिश्चयोऽपि सम्यग्ज्ञाने प्रवृत्तेः

अभावका निश्चय होनेपर ? बाधकका अग्रहण होनेपर प्रमाणमें बाधक कारण का अभाव माना जाता है ऐसा प्रथम पक्ष स्वीकार करे तो भ्रान्ति ज्ञानमें बाधक कारण रहते हुये भी कुछ काल तक उसका ग्रहण नहीं होता है; ऐसा बाधकका अग्रहण प्रमाण भूत ज्ञानमें भी स्वीकार करना होगा ।

मीमांसक—भ्रान्त ज्ञानमें कुछ समय के लिये बाधकका अग्रहण भले ही हो जाय किन्तु कालान्तर में तो बाधकका ग्रहण ही होता है, सम्यग्ज्ञान में ऐसी बात नहीं है उसमें तो कालान्तरमें भी बाधकका अग्रहण ही रहेगा ।

जैन—इस तरह का विभाग तो सर्वज्ञ ही कर सकते हैं, हम जैसे व्यक्ति नहीं कर सकते, अर्थात् इस विवक्षित ज्ञानमें आगामी कालमें कभी भी बाधकका ग्रहण नहीं होगा एव इस ज्ञानमें तो बाधकका ग्रहण होवेगा—ऐसा निर्णय करना असर्वज्ञको शक्य नहीं है ।

द्वितीयपक्ष—बाधक के अभाव का निश्चय कर फिर उससे प्रमाणके प्रामाण्य का निर्णय होता है ऐसा माना जाय तो पुनः प्रश्न होता है कि उस प्रमाणभूत सम्यग्ज्ञान में बाधक के अभाव का निश्चय कब होता है ? प्रवृत्ति होने के पहले होता है अथवा उत्तरकाल में होता है ? प्रथमपक्ष कहे तो वही पहले की बात आवेगी कि भ्रान्त ज्ञान में भी प्रामाण्य मानने का प्रसंग आवेगा । मतलब सम्यग्ज्ञान में बाधक के अभाव का निश्चय यदि प्रवृत्ति होने के पहले होता है तो इस तरह का निश्चय तो भ्रान्तज्ञान में भी होता है अतः वहां पर भी प्रामाण्य का प्रसंग आवेगा जो किसी को भी इष्ट नहीं है । अतः प्रवृत्ति के पहले बाधकाभाव के निश्चय होने मात्र से ज्ञान प्रामाणिक नहीं बन सकता । दूसरा पक्ष—सम्यग्ज्ञान में बाधकाभाव का निश्चय प्रवृत्ति के बाद होता है । ऐसा कहे तो भी सार नहीं है क्योंकि ज्ञान की विषय में प्रवृत्ति

प्राक्, उत्तरकाल वा ? आद्यविकल्पे भ्रान्तज्ञानेपि प्रमाणत्वसङ्गः । द्वितीयविकल्पे तन्निश्चयस्याकिञ्चित्करत्व तमन्तरेणैव प्रवृत्तेरुत्पद्यत्वात् । न च बाधकाभावनिश्चये किञ्चिन्निमित्तमस्ति । अनुपलब्धिरस्तीति चेत्किं प्राक्काला उत्तरकाला वा ? न तावत्प्राक्काला, तस्याः प्रवृत्त्युत्तरकालभाविबाधकाभावनिश्चयनिमित्तत्वासम्भवात् । न ह्यन्यकालानुपलब्धिरन्यकालमभावनिश्चय च विदधात्यतिप्रसङ्गात् । नाप्युत्तरकाला, प्राक् प्रवृत्ते 'उत्तरकाल बाधकोपलब्धिनं भविष्यति' इत्यसर्वविदानिश्चेतुमशक्यत्वेनासिद्धत्वात् । प्रवृत्त्युत्तरकालभाविनिश्चयमात्रनिमित्तत्वे न किञ्चित्फलम् तस्याः किञ्चित्करत्वात् ।

[अर्थक्रिया] हो चुकने पर बाधक का अभाव जानना बेकार है प्रवृत्ति के लिये ही तो बाधकाभाव जानना था कि यह जो ज्ञान हुआ है सो इसके जाने हुए विषय में बाधक कारण तो नहीं है ? इत्यादि किन्तु जब उस ज्ञान के विषय में पुरुषकी प्रवृत्ति हो चुकी और उस विषय की सत्यता भी निर्णीत हो चुकी तब बाधकाभावके निश्चय से कुछ फायदा नहीं, क्योंकि बाधकका अभाव निश्चित करने के लिये कोई कारण चाहिये । यदि कहा जाय कि अनुपलब्धि कारण है अर्थात् इस विवक्षित प्रमाण में बाधा नहीं है, क्योंकि उस बाधाकी अनुपलब्धि है, इस प्रकार अनुपलब्धि को बाधकाभावके निश्चयका कारण माना जाय ? इस पर पुनः प्रश्न होता है कि—वह अनुपलब्धि सम्यग्ज्ञान में प्रवृत्ति से पहले होती है या पीछे होती है ? पहले होती है कही तो बनता नहीं क्योंकि वह प्रवृत्ति के उत्तर कालमें होने वाले बाधक के अभाव के निश्चय का निमित्त नहीं हो सकती है । देखिये अन्यकाल में हुई वह अनुपलब्धि अन्यकाल में होनेवाले बाधक के अभाव का निश्चय कैसे करा सकती है यदि ऐसा माना जावे तो अति प्रसंग आवेया, अर्थात् जहाँ वर्तमान में घट की अनुपलब्धि है वहाँ वह अन्य समय में भी उसके अभाव को करने वाली हो जावेगी किन्तु ऐसा तो होता नहीं है अतः अन्यकालीन अनुपलब्धि अन्यकाल के बाधकाभाव को नहीं बता सकती यह निश्चित हुआ । उत्तरकालीन अनुपलब्धि से बाधकाभावका निश्चय होना भी अशक्य है, प्रवृत्ति के पहले जैसे बाधकाभाव की अनुपलब्धि है वैसे ही आगे उत्तर कालमें भी बाधक उपस्थित नहीं होगा, ऐसा निश्चित ज्ञान तो असर्वज्ञो को होना अशक्य है । तथा यदि प्रवृत्ति हो जाने के बाद बाधकाभाव का निश्चय अनुपलब्धि से हो भी जाय तो उससे कोई लाभ होनेवाला नहीं है वह तो अकिञ्चित्कर ही रहेगी । भावार्थ—मीमांसक इन्द्रियो के गुणादि से ज्ञानों में प्रमाणता आती है ऐसा नहीं मानते किन्तु बाधककारण

किञ्च, असी सर्वसम्बन्धिनी, आत्मसम्बन्धिनी वा ? प्रथमपक्षे असिद्धा, -न खलु 'सर्वे प्रमा-
तारो बाधक नोपलभन्ते' इत्यर्वाग्दर्शिना निश्चेतुं शक्यम् । नाप्यात्मसम्बन्धिनी; तस्याः परचेतो-
वृत्तिविशेषरनेकान्तिकत्वात् । तन्नानुपलब्धिनिमित्तम् ।

नापि सवादोनवस्थाप्रसङ्गात् । कारणदोषाभावेऽप्ययमेव न्याय ।

और दोष इनका अभाव होने से ज्ञान में प्रामाण्य आता है ऐसा स्वीकार करते हैं, इस मान्यता पर विचार करते हुए आचार्य ने सिद्ध किया है कि बाधकाभाव पूर्वोत्तर-वर्ती होकर भी प्रमाण में प्रमाणता का सद्भाव बता नहीं सकता अर्थात् किसी को "यह जल है" ऐसा ज्ञान हुआ अब इस ज्ञान की प्रमाणता भाट्टमतानुसार स्वतः या बाधकाभाव के निश्चय से होती है सो इस जल ज्ञान में बाधक कारण नहीं है अर्थात् बाधक का अभाव है ऐसा निश्चय कब होता है सो विमर्श करे—जब वह जल का प्रतिभास करने वाला पुरुष जल लेने के लिये प्रवृत्ति करता है उस प्रवृत्ति के पहले बाधकाभाव होना माना जाय तो ऐसा प्रवृत्ति के पहले का बाधकाभाव असत्य प्रतिभास करानेवाले भ्रान्त आदि विपरीत ज्ञानों में भी पाया जा सकता है । अतः प्रवृत्ति के पहले का बाधकाभाव कुछ मूल्य नहीं रखता । प्रवृत्ति के बाद अर्थात् पुरुष को जब जल का ज्ञान होता है और वह स्नानादि क्रिया भी कर लेता है उस समय जल ज्ञान के बाधकाभाव का निश्चय करना तो वह केवल हास्यास्पद ही होगा—क्योंकि कार्य तो हो चुका है । अर्थात् जलज्ञान की सत्यता तो साक्षात् सामने आ ही गई है । अब बाधकाभाव उसमें और क्या सत्यता लावेगा कि जिसके लिये वह अपेक्षित हो ।

उत्तर या पूर्वकाल के अनुपलब्धि हेतु से बाधकाभाव निश्चय करना भी पहले के समान अनुपयोगी है, अतः बाधकाभाव के निश्चय से (स्वतः) प्रामाण्य आता है यह कथन खण्डित होता है । जल ज्ञान में कुछ समय के लिये बाधा नहीं आती ऐसा मानकर उस ज्ञान में स्वतः प्रामाण्य स्थापित किया जाय तो भ्रान्ति आदि ज्ञानों में भी प्रामाण्य मानना होगा, क्योंकि कुछ काल का बाधकाभाव तो इन ज्ञानों में भी रहता है । तथा हमेशा ही जल ज्ञान में बाधकाभाव है ऐसा जानने पर उसमें प्रामाण्य आता है इस तरह माना जाय तो हमेशा के बाधकाभाव को तो सर्वज्ञ ही जान सकते हैं हम जैसे व्यक्ति नहीं । किञ्च सर्व संबन्धिनी अनुपलब्धि बाधकाभावको निश्चय कराने वाली होती है या केवल आत्म संबन्धि अनुपलब्धि बाधकाभावका निश्चय करानेवाली होती है ? सर्व संबन्धि अनुपलब्धि तो असिद्ध है क्योंकि सभी प्रमाताओं को बाधक

एव 'त्रिचतुरज्ञान' इत्याद्यपि स्वगृहमान्यम्, 'कस्यचिद्विज्ञानस्य प्रामाण्य पुनरप्रामाण्य पुन प्रमाणाता' इत्यवस्थात्रयदर्शनाद्बाधके तद्बाधकादी वावस्थात्रयमाशङ्कमानस्य परीक्षकस्य कथ नापरापेक्षा येनानवस्था न स्यात् ?

'आशङ्कते हि यो मोहात्' इत्याद्यपि विभीषिकामात्रम्, यतो नाभिसापमात्रात्प्रेभावना प्रमाणमन्तरेण बाधकाशङ्का व्यावर्त्तते । न चास्या व्यावर्त्तिक प्रमाण भवन्मतेऽस्तीत्युक्तम् । कारण

की उपलब्धि नहीं है ऐसा निश्चय करना अल्पज्ञानियों के लिये शक्य नहीं है । यदि आत्म सबधी अनुपलब्धि बाधकाभावका निश्चय कराती है ऐसा कहा जाय तो यह कहना भी गलत है, इस आत्म सबधी अनुपलब्धिकी परके चित्त वृत्तिके साथ अतैकान्तिकता आती है अर्थात् जो अपने को अनुपलब्ध हो वह नहीं है ऐसा नियम नहीं क्योंकि पर जीवोका मन हमे अनुपलब्ध है तो भी वह मौजूद तो है ही, अत प्रमाण मे बाधककी अनुपलब्धि देखकर उसके अभावका निश्चय किया जाता है ऐसा कहना असिद्ध है । तथा प्रामाण्य लाने मे जो बाधकाभावको हेतु माना गया है उस बाधकाभावका निश्चय सवाद से हो जायगा ऐसा कहना भी शक्य नहीं, क्योंकि अनवस्था दोष आता है—पूर्वज्ञान मे बाधकाभावको जानने के लिये सवाद आया उस सवाद की सत्यता को [या बाधकाभाव को] जानने के लिये फिर अन्य सवाद आया इस तरह अनवस्था आवेगी । इस प्रकार यहां तक प्रामाण्य बाधकाभाव हेतु से आता है ऐसी मान्यता का खण्डन किया । इसी तरह कारण के दोष का अभाव होने से प्रामाण्य स्वत आता है ऐसा भाट्ट का दूसरा हेतु भी बाधकाभाव के समान सार रहित है अत उसका निरसन भी बाधकाभाव के निरसन के समान ही समझना चाहिये । भावार्थ—जैसे बाधकाभाव मे प्रश्न उठे है और उनका खण्डन किया गया है उसी प्रकार कारण दोष अर्थात् इन्द्रियो के दोषो का अभाव होने से प्रमाण मे प्रामाण्य स्वत आता है ऐसा मानने मे प्रश्न उठते हैं और उनका खण्डन होता है । जैसे इन्द्रिय के दोषों का अभाव कैसे जाना जाय ? इन्द्रिय के दोषो को ग्रहण किये बिना उनका अभाव माना जाय तो भ्रान्त ज्ञान मे भी प्रामाण्य आयेगा । तथा दोषाभाव का बोध कब होगा प्रवृत्ति के पहले कि पीछे ? पहले दोषाभाव का बोध होना माने तो वही भ्रान्तिज्ञान मे सत्य होने का प्रसंग आता है, तथा प्रवृत्ति के बाद दोषाभावका ज्ञान होगा तो उससे लाभ क्या होगा कुछ भी नहीं, प्रवृत्ति तो हो चुकी । अर्थक्रिया होने पर सत्यता का निर्णय हो ही जाता है, इसलिये कारणदोष के अभाव से प्रामाण्य

दोषज्ञानेपि पूर्वेण जाताशङ्कस्य तत्कारणदोषान्तरापेक्षाया कथमनवस्था न स्यात् ? तस्य तत्कारण-
दोषग्राहकज्ञानाभावमात्रतः प्रमाणत्वान्नानवस्था, यदाह—

आना भी सिद्ध नहीं होता है। भाट्ट ने कहा था कि तीन चार ज्ञानों के प्रवृत्त होने पर प्रामाण्य आ जाता है इनसे अधिक ज्ञानों की जरूरत नहीं पड़ती इत्यादि सो यह कथन केवल अपने घर की ही मान्यता है सर्व मान्य नहीं है। किसी एक विवक्षित जलादि के ज्ञान में प्रामाण्य, फिर अप्रामाण्य पुनः प्रामाण्यता ऐसे तीन अवस्थाओं के देखने पर बाधक में भी बाधक फिर अबाधक फिर बाधक इस तरह तीन अवस्था की शका करते हुए परीक्षक पुरुष के लिये और भी आगे आगे के ज्ञानों की अपेक्षा क्यों नहीं आवेगी ? अवश्य ही आवेगी फिर अनवस्था कैसे रुक सकेगी। अर्थात् नहीं रुक सकेगी। भावार्थ—किसीको जलका ज्ञान हुआ उस ज्ञानके प्रामाण्यता का कारण मीमांसकमतानुसार दोषाभाव है उसको दूसरे ज्ञान ने जाना कि यह जो जल देखा है उसका कारण नेत्र है उसमें कोई काच कामलादि दोष नहीं है इत्यादि, फिर दोष का अभाव प्रकट करने वाले इस ज्ञान के [जो दूसरे नंबर का है] दोष के अभाव को जानने में तीसरा ज्ञान प्रवृत्त हुआ फिर चौथा प्रवृत्त हुआ, सो चार ज्ञान तक यदि प्रवृत्ति हो सकती है तो आगे पाचवे आदि ज्ञानों की प्रवृत्ति क्यों नहीं होगी ? जिससे कि अनवस्था का प्रसंग रुक जाय। ऐसे ही बाधकाभाव जानने के लिये तीन चार ज्ञानों की ही प्रवृत्ति हो अन्य ज्ञानों की नहीं सो बात भी नहीं, वहां भी आगे आगे ज्ञानों की परम्परा चलने के कारण अनवस्था आवेगी ही अतः स्वतः प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये भाट्ट ने तीन चार ज्ञान की बात कही थी सो वह अनवस्था दोष युक्त हो जाती है ॥ मीमांसक ने अपने ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए कहा था कि बाधा नहीं होते हुए भी मोह के कारण जो प्रमाण में बाधा की शका करता है वह सशयी पुरुष नष्ट हो जाता है इत्यादि सो ऐसा कथन तो केवल डर दिखाने रूप ही है। डर दिखाने मात्र से किसी बुद्धिमान पुरुष की प्रमाण के बिना बाधा की शका तो दूर हो नहीं सकती, अर्थात् जब तक प्रमाण में प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता तब तक तुम्हारे डर दिखाने मात्र से वह शका नहीं करे ऐसी बात बुद्धिमानों पर तो लागू नहीं होती मूर्ख पर भले ही वह लागू हो जावे। प्रमाण के विषय में आयी हुई बाधा को दूर करने के लिये आपके मतमें कोई प्रमाण नहीं है ऐसा हम जैन सिद्ध कर चुके हैं। दोष का ज्ञान होना इत्यादि विषय में भी कह दिया है कि कारण जो इन्द्रियां हैं उनके दोष काच

“यदा स्वत प्रमाणत्व तदान्यन्नैव मृग्यते ।
निवर्त्तते हि मिथ्यात्व दोषाज्ञानादयत्नत ” ॥

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ५२]

प्रागेव विहितोत्तरम् । न च दोषाज्ञानात्तदभाव , सत्स्वपि तेषु तदज्ञानसम्भवात् । सम्य-
ग्ज्ञानोत्पादनशक्तिवैपरीत्येन' मिथ्याप्रत्ययोत्पादनयोग्य हि रूप तिमिरादिनिमित्तमिन्द्रियदोषः, स
चातीन्द्रियत्वात्सन्नपि नोपलक्ष्यते । न च दोषाः ज्ञानेन व्याप्ता येन तन्निवृत्त्या निवर्त्तेरन् ।
ततोऽयुक्तमिदम्—

कामलादि है उनका अभाव बतलाने को दूसरा प्रमाण आयेगा उसमें फिर शका होगी कि इसमें कारण दोष का अभाव है कि नहीं फिर तीसरा ज्ञान उस अभाव को जानेगा, इत्यादि रूपसे अनवस्था कैसे नहीं आवेगी ? अपितु आवेगी ही । तीसरे आदि प्रमाणों में उनके कारण दोषों को ग्रहण करने वाला ज्ञान नहीं रहता अतः तीसरादि ज्ञान प्रमाणभूत है और इसलिये अनवस्था भी नहीं आती ऐसा मीमांसकका कहना था उनके ग्रन्थ में भी ऐसा ही लिखा है यदा स्वत प्रमाणत्व इत्यादि अर्थात् जब प्रामाण्य स्वत ही आता है तब अन्य सवादकादि की खोज नहीं करनी पडती है क्योंकि प्रमाण-के विषय में मिथ्यात्व आदि दोष तो बिना प्रयत्न के दूर हो जाते हैं । यह श्लोक कथित बात तथा पहले की दोष ग्राहक ज्ञान के अभाव की बात इन दोनों के विषयमें प्रथम ही उत्तर दे चुके हैं अर्थात् दोष का अभाव सिद्ध करने में अनवस्था दोष आता ही है ऐसा प्रतिपादन हो चुका है । तथा इस श्लोक में आगत “दोषाज्ञानात्” इस पद से जो यह प्रकट किया गया है कि दोष के अज्ञान से दोष का (मिथ्यात्वादिका) अभाव हो जाता है सो यह कथन सत्य नहीं है क्योंकि दोषों के अज्ञान से उनका अभाव नहीं हो सकता उनके होते हुए भी तो उनका अज्ञान रह सकता है । सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने की जो शक्ति है उस शक्ति से विपरीत जो मिथ्याज्ञान है उसको उत्पन्न करने वाला इन्द्रिय दोष होता है यह अधिकार आदि के निमित्त से होता है ऐसा यह मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करने वाला दोष अतीन्द्रिय होता है अतः वह मौजूद रहे तो भी दिखलायी नहीं पडता है । तथा दोषोंका ज्ञानके साथ अविनाभाव तो है नहीं जिससे कि ज्ञान के निवृत्त होने पर वे भी निवृत्त हो जाय । इस प्रकार दोषाभाव करवैमें भी अनवस्था होना निश्चित है, इसलिये नीचे कहे गये इन नौ श्लोकों के अर्थ का विवेचन असिद्ध हो जाता है अब उन्ही श्लोकार्थों को बताते हैं—तस्मात्—अर्थात्

“तस्मात्स्वतः प्रमाणत्व सर्वत्रौत्सर्गिक स्थितम् ।
 बाधकरणदुष्टत्वज्ञानाभ्यां तदपोद्यते ॥
 पराधीनेपि वै तस्मिन्नानवस्था प्रसज्यते ।
 प्रमाणाधीनमेतद्धि स्वतस्तच्च प्रतिष्ठितम् ॥
 प्रमाणं हि प्रमाणेन यथा नान्येन साध्यते ।
 न सिध्यत्यप्रमाणत्वमप्रमाणात्तथैव हि ॥
 बाधकप्रत्ययस्तावदर्थान्यत्वाऽवधारणम् ।
 सोऽनपेक्षः प्रमाणत्वात्पूर्वज्ञानमपोहते ॥
 यत्रापि त्वपवादस्य स्यादपेक्षा क्वचित्पुनः ।
 जाताशङ्कस्य पूर्वेण साप्यन्येन निवर्तते ॥

प्रथम ज्ञान अपने में प्रामाण्यता के लिये सवादाज्ञान की अपेक्षा रखे तो अनवस्थादि दोष आते हैं अतः इनसे बचने के लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों में विरपवाद स्वतः ही प्रामाण्य आना स्वीकार किया गया है। अप्रामाण्य तो बाधक कारण और इन्द्रिय दोष से आता है और उनके ज्ञान से वह हटाया जाता है ॥ १ ॥ अप्रामाण्य को पराधीन मानने पर अनवस्था आयेगी सो भी बात नहीं, क्योंकि अप्रामाण्य का निश्चय तो प्रमाण के आधीन है और प्रमाण स्वतः प्रमाणभूत है ॥ २ ॥ जिस प्रकार प्रमाणभूत ज्ञान अन्य प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं किया जाता उसी प्रकार अप्रमाण किसी प्रमाणभूत ज्ञानके बिना अप्रमाण मात्रसे सिद्ध नहीं हुआ करता ॥३॥ पदार्थका अन्यथारूपसे अवधारण [जानना] करना बाधक प्रत्यय कहलाता है वह बाधक प्रत्यय अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है। क्योंकि वह स्वयं में प्रमाणभूत होता है सो इस तरह का बाधक-ज्ञान आकर पूर्व ज्ञान में [मरीचिका में जायमान जल ज्ञानमें] बाधा उपस्थित करता है अर्थात् यह जल नहीं है मरु मरीचिका है, ऐसा कहता है ॥४॥ यदि कदाचित् किसी विषयमें बाधक प्रत्यय को पुनः अन्य बाधक ज्ञान की अपेक्षा लेनी पड़े तो जिसे शंका हुई है ऐसे पुरुष की वह शंका अन्य बाधक प्रत्यय से दूर हो जाती है। मतलब किसी को “यह जल है” ऐसा ज्ञान हुआ उसे बाधित करने के लिये बाधक ज्ञान आया और उसने प्रकट किया कि यह जल ज्ञान सत्य नहीं है इत्यादि सो उस बाधक प्रत्यय को कदाचित् अपनी सत्यता निश्चित करने के लिये जब अन्य ज्ञान की [बाधकान्तर की] अपेक्षा करनी पड़े तब तीसरा बाधक ज्ञान आता है किन्तु वह तीसरा ज्ञान उस दूसरे

बाधकान्तरमुत्पन्न यद्यस्यान्विच्छतीऽपरम् ।
 ततो मध्यमबाधेन पूर्वस्यैव प्रमाणाता ॥
 अथान्यदप्रयत्नेन सम्यगन्वेपणे कृते ।
 मूलाभावान्न विज्ञान भेदेद्बाधकबाधनम् ॥
 ततो निरपवादत्वात्तेनैवाद्य वलीयसा ।
 बाध्यते तेन तस्यैव, प्रमाणात्वमपोद्यते ॥
 एव परीक्षकज्ञान तृतीय नातिवर्त्तते ।
 ततश्चाजातबाधेन नाशङ्क्य बाधक पुन. ॥”

कथं वा चोदनाप्रभवचेतसो निःशङ्क्य प्रामाण्य गुणवतो वक्तुरभावेनाऽपवादकदोषाभावा-

ज्ञानका सजातीय तथा सवादक ही रहता है अर्थात् दूसरे नवर के ज्ञान की मात्र पुष्टि ही करता है ॥ ५ ॥ तथा कभी वह तीसरा ज्ञान बाधक ज्ञान का सजातीय न होकर विजातीय उत्पन्न हो जाय तो फिर बीच का जो दूसरे नवर का बाधक ज्ञान है उसमें बाधा आने से प्रथम ज्ञानमें प्रमाणाता मानी जायगी ॥६॥ यदि कदाचित् तीसरे ज्ञानको बाधित करनेवाला चौथा ज्ञान बिना इच्छाके उत्पन्न हो जाय तो उस चतुर्थज्ञान में प्रामाण्य का सर्वथा अभाव होनेके कारण उसके द्वारा बाधक ज्ञान, [द्वितीयको बाधित करनेवाला तृतीयज्ञान] जरा भी बाधित नहीं होता ॥७॥ इसतरह चतुर्थज्ञान निरूप-योगी होनेकी वजहसे एव तृतीय ज्ञान द्वारा जिसका बाधा देनापन भली प्रकारसे सिद्ध हो चुका है ऐसे बलवान् द्वितीय ज्ञानद्वारा प्रथम बाधाको प्राप्त होता है और इसतरह द्वितीय ज्ञानसे मात्र प्रथम ज्ञानकी प्रमाणाता समाप्त की जाती है । कहने का अभिप्राय यह है कि तीनसे अधिक ज्ञान होते ही नहीं हैं फिर निरपवादपने से द्वितीयज्ञान जो कि बलवान् है प्रथमज्ञान को बाधित कर देता है, इसलिये प्रथमज्ञान की प्रामाणाता ही मात्र समाप्त हो जाती है, ॥ ८ ॥ इस प्रकार परीक्षक पुरुष के ज्ञान तृतीयज्ञान का उल्लघन नहीं करते हैं इसलिये अब निर्बाधज्ञान वाले उस पुरुष को स्वतः प्रामाण्य-वादमें शका नहीं रहती ॥ ९ ॥ ये उपर्युक्त नो श्लोक प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है इस बात की सिद्धि के लिये दिये गये हैं । किन्तु इनसे भीमासको का इच्छित-मनोरथ सिद्ध होनेवाला नहीं है, क्योंकि हम जैन ने प्रामाण्य को सर्वथा स्वतः मानने और अप्रामाण्य को सर्वथा परत मानने में कितने ही दोष बताकर इस मान्यता का सयुक्तिक खण्डन कर ही दिया है ।

सिद्धेः ? ननु वक्तृगुणैरेवापवादकदोषाभावो नेष्यते तदभावेऽप्यनाश्रयाणा तेषामनुपपत्तेः । तदुक्तम्—

“शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्तृकधीन इति स्थितम् ।

तदभावः क्वचित्तावद्गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥

तद्गुणैरपकृष्टाना शब्दे सक्रान्त्यसम्भवात् ।

यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥”

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६२-६३]

इत्यपि प्रलापमात्रमपौरुषेयत्वस्यासिद्धे । ततश्चेदमयुक्तम्—

ये मीमांसक वेद से उत्पन्न हुए ज्ञान में प्रामाण्य किसप्रकार से मान सकते हैं ? क्योंकि गुणवान् वक्ता के अभाव में अपवादक दोषों के अभाव की वेद में सिद्धि नहीं हो सकती है ।

मीमांसक—हम वक्ता के गुणों द्वारा अपवादक दोषों का अभाव होता है ऐसा नहीं मानते किन्तु, हम तो यही मानते हैं कि गुणवान् वक्ता जब कोई है ही नहीं तब बिना आश्रय के नहीं रहने वाले दोष वेद में रह ही नहीं सकते हैं । इस प्रकार से ही हमारे ग्रन्थ में प्रतिपादन किया है—शब्द एव वाक्य में जो दोष उत्पन्न होते हैं वे वक्ता की आधीनता को लेकर ही उत्पन्न होते हैं दोषों का अभाव किन्हीं २ वाक्यों में जो देखा जाता है वह गुणवान् वक्ता के होने के कारण देखा जाता है ॥ १ ॥ वक्ता के गुणों से निरस्त हुए—दोष शब्दों में सक्रामित नहीं होते, इसलिये वेद में स्वतः प्रामाण्य है । अथवा वक्ता का ही जहाँ अभाव है वहाँ दोष कहां रहेंगे ? क्योंकि वे बिना आश्रय के तो रहते नहीं ॥ २ ॥ अतः वेद में स्वतः प्रामाण्य है ।

जैन—यह मीमांसक का कहना प्रलापमात्र है, क्योंकि वेद में अपौरुषेयता की सर्वथा असिद्धि है । वेद में अपौरुषेयता का खण्डन होने से ही निम्नकथित श्लोक का अर्थ दोष युक्त ठहरता है—“वेद में अप्रामाण्य से रहितपना इसलिये शीघ्र (सहज) ही सिद्ध होता है कि वहा वक्ता का ही अभाव है, वेद का कर्त्ता पुरुष है नहीं, वेद में इसी कारण से अप्रामाण्य की शका तक भी नहीं हो पाती ॥ १ ॥ सो यह कथन बाधित होता है ।

अब यहाँ यह निश्चय करते हैं कि वेद से प्राप्त हुआ ज्ञान प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान दोषों के कारणों को हटाये बिना उत्पन्न होता है, जैसे द्विचन्द्र का

“तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी ।

वेदे तेनाप्रमाणत्व नाशङ्कामपि गच्छति ॥ १ ॥”

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६८]

स्थित चैतच्चोदनाजनिता बुद्धिर्न प्रमाणमनिराकृतदोषकारणप्रभवत्वात् द्विचन्द्रादिवुद्धिवत् ।
न चैतदसिद्धम्, गुणवतो वक्तुरभावे तत्र दोषाभावासिद्धे । नाप्यनैकान्तिक विरुद्ध वा, दुष्टकारण-
प्रभवत्वाप्रामाण्ययोरविनाभावस्य मिथ्याज्ञाने सुप्रसिद्धि (द्ध)त्वादिति ।

सिद्ध सर्वजनप्रबोधजनन सद्योऽकलङ्काश्रयम्,

विद्यानन्दरामन्तभद्रगुणतो नित्य मनोनन्दनम् ।

ज्ञान या रस्सी मे सर्पका ज्ञान, सीप मे चादी आदि का ज्ञान दोषो को निराकृत क्रिये बिना उत्पन्न होता है, अत वह प्रमाण नहीं होता, इस अनुमान मे दिया गया “अनिराकृतदोषकारणप्रभवत्वात्” यह हेतु असिद्ध नहीं है । क्योंकि वेद मे गुणवान् वक्ता का अभाव तो भले ही किन्तु इतने मात्रसे उसमे दोषो का अभाव तो सिद्ध नहीं होता । इसी तरह यह हेतु अनैकान्तिक या विरुद्ध दोष युक्त भी नहीं है—क्योंकि दोषयुक्त कारण से उत्पन्न होना और अप्रामाण्य का होना इन दोनों का परस्पर मे अविनाभाव है, और यह मिथ्याज्ञान मे स्पष्ट ही प्रतीत होता है ।

भावार्थ—भाट्ट प्रत्यक्षादि प्रमाणों मे प्रामाण्य स्वतः ही रहता है ऐसा मानते है उनकी मान्यता का खडन करते हुए आगम प्रमाण के प्रामाण्य का विचार किया जा रहा है, आगम अर्थात् भाट्ट का इष्टवेद सर्वोपरि आगम है । वे वेद को ही सर्वथा प्रमाणभूत मानते है, इसका कारण यही है कि वह अपौरुषेय है, सो यहा पर आचार्यने अपौरुषेय वेद को असिद्ध कहकर ही छोड दिया है, क्योंकि आगे इस पर पृथक् प्रकरण लिखा जानेवाला है । भाट्ट वेदको प्रामाण्य इसलिये मानते है कि वहा वक्ता का अभाव है, क्योंकि दोषयुक्त पुरुष के कारण वेद मे अप्रामाण्य आ सकता था, किन्तु जब वह पुरुषकृत ही नहीं है तो फिर अप्रामाण्य आने की बात ही नहीं रहती, सो इसका खण्डन करने के लिये ही आचार्य ने यह अनुमान उपस्थित किया है कि वेद से उत्पन्न हुई बुद्धि [ज्ञान] अप्रमाण है (पक्ष) क्योंकि वह दोषो के कारणो को बिना हटाये ही उत्पन्न हुई है (हेतु) यह “अनिराकृत दोष कारण प्रभवत्वात्” हेतु असिद्ध दोष युक्त नहीं है । वेद मे गुणवान् वक्ता का अभाव है, और इसी कारण वहा दोषो का अभाव भी असिद्ध है । दोषो का अभाव नहीं होने के कारण वेद मे अप्रामाण्य ही सिद्ध होना

निर्दोष परमागमार्थविषय प्रोक्तं प्रमालक्षणम् ।

युक्त्या चेतसि चिन्तयन्तु सुधियः श्रीवर्द्धमान जिनम् ॥ १ ॥

परिच्छेदावसाने आशिषमाह । चिन्तयन्तु । कम् ? श्रीवर्द्धमान तीर्थंकरपरमदेवम् । भूय-
कथम्भूतम् ? जिनम् । के ? सुधिय । क्व ? चेतसि । कया ? युक्त्या ज्ञानप्रधानतया । भूयोपि कथ-
म्भूतम् ? सिद्ध जीवन्मुक्तम् । भूयोपि कीदृशम् ? सर्वजनप्रबोधजननम् सर्वे च ते जनाश्च तेषा प्रबो-
धस्त जनयतीति सर्वजनप्रबोधजननस्तम् । कथम् ? सद्यः भटिति । भूयोपि कीदृशम् ? अकलङ्का-
श्रयम्-कलङ्कानां द्रव्यकर्मणामभावः । अकलङ्कस्तस्याश्रयस्तम् । भूयोपि कथम्भूतम् ? मनोनन्दनम् ।
कथम् ? नित्यं सर्वदा । कुत ? विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतः-विद्या केवलज्ञानमानन्दः सुख समन्ततो
भद्राणि कल्याणानि समन्तभद्राणि विद्या चानन्दश्च समन्तभद्राणि च तान्येव गुणास्तेभ्यः ततः ।
भूयोपि कीदृशम् ? निर्दोष रागादिभावकर्मरहितम् । भूयोपि कथम्भूतम् । परमागमार्थविषयम्-

है । तथा हमारे इस हेतु में अनैकान्तिक दोष भी नहीं है, क्योंकि जो ज्ञान सदोष कारण से होगा वह अप्रमाण ही रहेगा, इसलिये अप्रामाण्य साध्य और सदोषकारण प्रभवत्व हेतु का अविनाभाव है । जहा साधन साध्यका अविनाभाव है वहा पर वह साधन अनैकान्तिकता बनता ही नहीं है । “विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः” जो हेतु साध्य मे रहता हुआ भी विपक्ष मे रहता है वह हेतु अनैकान्तिक होता है । यहा अप्रामाण्य साध्य है उसका विपक्ष प्रामाण्य है उसके साथ यह अनिराकृत दोष कारण प्रभवत्व हेतु नहीं रहता, अतः अनैकान्तिक नहीं है । यह विरुद्ध दोषयुक्त भी नहीं है, क्योंकि जो हेतु साध्य से विपरीत साध्य मे ही रहता है वह विरुद्ध होता है, यहाँ अप्रामाण्य से विपरीत जो प्रामाण्य है उसमे हेतु नहीं रहता है, अतः विरुद्ध नहीं है । इस प्रकार असिद्ध आदि तीनों दोषो से रहित “अनिराकृतदोषकारणप्रभवत्व हेतु अपना साध्य जो वेदजन्य बुद्धि मे अप्रामाण्य है उसको सिद्ध करता है ।

अब श्री प्रभाचन्द्राचार्य प्रथम अध्याय के अन्त मे मगलाचरण करते हैं—

सिद्धं सर्वजनप्रबोधजनन सद्योऽकलंकाश्रयम् ।

विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम् ॥

निर्दोष परमागमार्थविषय प्रोक्तं प्रमालक्षणम् ।

युक्त्या चेतसि चिन्तयन्तु सुधिय श्रीवर्द्धमानं जिनम् ॥ १ ॥

आचार्य आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि हे भव्यजीवो । आप केवलज्ञानादि स्वरूप श्रीवर्द्धमान प्रभु का चिन्तवन-ध्यान करो, क्योंकि वे सपूर्ण जीवो के लिये

परमागमार्थो विषयो यस्य स तथोक्तस्तम् । भूयोपि कीदृशम् ? प्रोक्त प्रकृष्टमुक्त वचन यस्यासी प्रोक्तस्तम् । भूयोपि कथम्भूतम् ? प्रमालक्षणम् ॥ श्री. ॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे परीक्षामु-
खालङ्कारे प्रथम परिच्छेद समाप्त ॥ श्री ॥

सम्यक् ज्ञान को देने वाले हैं, द्रव्यकर्मरूपमल के अभाव के आश्रयभूत हैं, विद्यानंदस-
मन्तभद्र अर्थात् केवलज्ञान, आनंद-सुख सब प्रकार से कल्याण के प्रदाता होने से सदा
आनंददायी है । रागादिरूप भावकर्म से विहीन हैं । परमागमार्थ जिनका विषय है,
और जो उत्कृष्टवचन युक्त हैं ।

इस प्रकार परीक्षामुख के अलकार स्वरूप श्री प्रभाचन्द्राचार्य विरचित
प्रमेयकमलमार्त्तण्ड मे प्रथमाध्याय का यह हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ।



प्रामाण्यवाद का सारांश

प्रामाण्यके विषयमें मीमांसकका पूर्वपक्ष-प्रमाणमे प्रामाण्य [ज्ञानमें सत्यता]
अपने आप ही आता है अथवा यो कहिये कि प्रमाण सत्यताके साथ ही उत्पन्न होता
है । इस विषयमे जैनका अभिप्राय यह रहता है कि प्रमाण मे प्रामाण्य परसे भी आता
है, गुण युक्त इन्द्रिया आदिके होनेसे प्रमाणभूत ज्ञान प्रगट होता है । किन्तु ऐसा कहना
शक्य नहीं, क्योंकि इन्द्रियादिके गुणोको ग्रहण करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है ।
प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा तो गुण इसलिये ग्रहण नहीं होते कि गुण अतीन्द्रिय हुआ करते
है । अनुमान द्वारा गुणोका ग्रहण होना माने तो उसके लिये अविनाभावी हेतु चाहिये,
गुणोके प्रत्यक्ष नहीं होनेके कारण हेतुका अविनाभाव ग्रहण होना भी अशक्य है, अत
अनुमान गुणोका ग्राहक नहीं बन सकता । इसी तरह अन्य प्रमाण भी गुणोके ग्राहक
नहीं हैं । प्रमाणकी ज्ञप्ति भी स्वतः हुआ करती है, यदि कारण गुणो की [इन्द्रियादि
के गुणोकी] अपेक्षा अथवा सवाद प्रत्ययकी अपेक्षा को लेकर ज्ञप्ति [जानना] का होना
माने तो अनवस्था होगी, अर्थात् कोई एक विवक्षित ज्ञान अपने विषयमे अन्य सवादक
ज्ञान की अपेक्षा रखता है तो वह सवादक भी अन्य सवादककी अपेक्षा रखेगा, और

इसतरह आगे आगे सवादक ज्ञानोकी अपेक्षा बढती जानेसे अनवस्था आती है तथा यह सवादक ज्ञान प्रमाणज्ञानका सजातीय है या विजातीय है, भिन्न विषयवाला है या अभिन्न विषय वाला है ? इत्यादि अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं और इनका सही उत्तर नहीं मिलता है अतः प्रमाणमे प्रमाणता गुणोसे न आकर स्वतः ही आती है ऐसा मानना चाहिये ।

अप्रमाणभूत ज्ञानमें तो अप्रामाण्य परसे ही आता है, कारण कि अप्रमाणकी अप्रमाणताका निश्चय कराने के लिये बाधककारण और दोषोंका ज्ञान होना अवश्य-भावी है, इनके बिना अमुक ज्ञान अप्रमाणभूत है ऐसा निश्चय होना अशक्य है । अप्रामाण्य को परसे माननेमे अनवस्था आनेकी आशका भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि किसी भी अप्रमाणभूत ज्ञानकी अप्रामाणिकता का निश्चय जिन बाधक कारण और दोष ज्ञान द्वारा होता है, वे ज्ञान स्वयं प्रमाणभूत हैं, उनके प्रामाण्य का निर्णय करने के लिये अन्य प्रमाणों की जरूरत नहीं पडती, क्योंकि प्रमाणो मे प्रामाण्य स्वतः ही आता है ऐसा सिद्ध कर चुके हैं । अभिप्राय यह है कि "इदं जल" यह जल है ऐसा किसी को ज्ञान हुआ अब यदि यह प्रतिभास सही है तो उसकी सत्यता का निर्णय कराने के लिये अन्य की आवश्यकता ही नहीं और यदि यह प्रतिभास गलत है तो उसमें बाधक कारण उपस्थित होता है एव दोषोका ज्ञान इस प्रतिभास को असत् साबित कर देता है कि "न इदं जल बाध्य मानत्वात्" यह जल नहीं है क्योंकि इसमे स्नानादि अर्थक्रिया का अभाव है, नेत्रके सदोषता के कारण अथवा सूर्य की तीक्ष्ण चमक के कारण ऐसा प्रतिभास हुआ इत्यादि । इस प्रकार प्रत्यक्षादि छोटे प्रमाणोंमें स्वतः ही प्रमाणता हुआ करती है और अप्रमाणता पर से होती है ऐसा नियम सिद्ध होता है ।

शब्द प्रमाण अर्थात् वेद वाक्योमे स्वतः प्रामाण्य कैसे आवेगा क्योंकि उसमे तो गुणवान वक्ता अथवा आप्तकी आवश्यकता रहती है । ऐसी शका करना भी व्यर्थ है हम मीमांसक वेद को अपौरुषेय स्वीकार करते हैं जब वेद का कर्ता ही नहीं है तब उसमे अप्रामाण्यकी गु जाइश ही नहीं रहती, क्योंकि शब्दोमे अप्रमाणता लानेका हेतु तो सदोष वक्ता पुरुष है । ऐसा पुरुष कृत अप्रामाण्य अपौरुषेय वेदमे नहीं होनेके कारण वेद स्वतः प्रामाणिक सिद्ध होता है ।

इसतरह प्रमाणोमे प्रामाण्य स्वतः आता है या रहता है ऐसा निर्वाध सिद्ध हुआ ।

जैन—प्रामाण्यके विषयमे मीमांसक का यह कथन बाधित है प्रमाणोद्वारा इन्द्रियोंके गुण ग्रहण नहीं होते ऐसा कहना गलत है, अनुमान प्रमाण द्वारा इन्द्रियादि गुणोंकी भली प्रकारसे सिद्धि होती है, देखिये ! मेरे नेत्र विमलता आदि गुण युक्त है [पक्ष] क्योंकि यथार्थ रूपका प्रतिभास कराते है [हेतु] इसप्रकार वास्तविक रूप प्रतिभास वाले अविनाभावी हेतु द्वारा नेत्र इन्द्रियमें गुणका सद्भाव सिद्ध होता है । प्रामाण्यकी उत्पत्तिकी तरह जप्ति भी कथचित् परत. हो सकती है, प्रामाण्य सवादक प्रत्ययसे आता है ऐसी जैनकी मान्यता पर अनवस्थाका उद्भावन किया वह असत् है । बात यह है कि किसी भी विवक्षित प्रमाणमे यदि अनभ्यस्त दशा है तो सवाद ज्ञानसे प्रमाणाता आया करती है किन्तु वह सवाद ज्ञान तो स्वत. प्रामाण्य रूप ही रहता है क्योंकि अभ्यस्त है, इसलिये सवादक ज्ञानोकी अपेक्षा आगे आगे बढ़ती जायगी और अनवस्था होवेगी ऐसा कहना असिद्ध है ।

प्रमाणकी प्रामाणिकताको सिद्ध करनेवाला सवाद प्रत्यय इस विवक्षित प्रमाणका सजातीय होता है या विजातीय भिन्न विषयवाला है या अभिन्नवाला है ? इत्यादि प्रश्नोका बिलकुल सही उत्तर दिया जाता है, सुनिये ! सवाद प्रत्यय सजातीय भी होता है और कही विजातीय भी होता है, जैसे दूरसे किसी हिलती हुई सफेद वस्तुको देखकर ज्ञान हुआ कि यह ध्वजा है फिर आगे उसके निकट जाने पर उस ध्वजा के प्रतिभासका संवाद करवेवाला [उसको पुष्ट करनेवाला] बिलकुल स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि यह ध्वजा ही है । कही पर सवाद प्रत्यय विजातीय भी होता है, जैसे कहीं दूरसे सुमधुर शब्द सुनाई दिया तो उस शब्दको सुनकर हमे प्रतिभास हुआ कि यह वीणाकी झंकार सुनाई दे रही है । फिर आगे वीणाके स्थानपर जाकर देखते हैं तो उस रूप ज्ञान द्वारा पहले के वीणाके झंकार संबधी प्रतिभास प्रामाणिक सिद्ध होता है । इन्ही उदाहरणोसे स्पष्ट होता है कि प्रमाणकी प्रमाणाता को बतलानेवाला सवाद प्रत्यय भिन्न विषयवाला भी होता है और अभिन्न विषयवाला भी होता है । अप्रमाणमे अप्रामाण्य परसे ही आता है तथा ऐसा माननेमे अनवस्था नहीं आती, इत्यादि रूपसे किया गया प्रतिपादन भी निर्दोष नहीं है । देखिये ! मीमांसकने कहा कि बाधक कारणादिसे अप्रामाण्य आता है और बाधक कारणादि तो स्वत. प्रमाणभूत रहते ही है अतः अनवस्था नहीं होगी, सो बात गलत है, अप्रमाण ज्ञानमे बाधा देनेवाला जो बाधक कारण आता है उसके प्रामाण्यके विषयमे शका उपस्थित होनेपर

अन्य प्रमाणकी आवश्यकता पड़ेगी ही पुनः उस द्वितीय प्रमाण मे भी शका हो सकती है ? अतः अनवस्था दोष तो तदवस्थ ही है ।

“वेदमे स्वतः प्रामाण्य होता है क्योंकि वह अपौरुषेय है” ऐसा कहना भी असिद्ध है । अपौरुषेयका और प्रामाण्यका कोई अविनाभाव तो है नहीं कि जो जो अपौरुषेय है वह वह प्रमाणभूत है, यदि ऐसा मानेगे तो चोरी आदिका उपदेश भी अपौरुषेय है [किसीपुरुषने अमुक कालमें चोरी आदिका उपदेश दिया ऐसा निश्चय नहीं अपितु वह विना पुरुषके अपने आप प्रवाहरूपसे चल आया है] उसे भी प्रामाणिक मानना पड़ेगा ? वेदके अपौरुषेयके विषयमे आगे [दूसरे भागमे] एक पृथक् प्रकरण आने वाला है उसमें इसका पूर्णरूपेण निराकरण करनेवाले हैं अतः यहा अधिक नहीं कहते ।

इसप्रकार प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणोंमें स्वतः ही प्रामाण्य आता है ऐसा कहना गलत ठहरता है । कहने का अभिप्राय यह है कि “इदं जलमस्ति” यह जल है ऐसा हमे प्रतिभास हुआ, अब यदि यह ज्ञान पूर्वके अभ्यस्त विषयमे हुआ है अर्थात् पहले जिस सरोवर आदिमें स्नानादि किये थे उसी स्थानपर जल ज्ञान हुआ है तो उसमें अन्य सवादक ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है वह तो स्वतः ही प्रामाण्यभूत कहलायेगा । किन्तु अचानक किसी अपरिचित ग्रामादिमें पहुचते है और वहापर दूरसे जल जैसा दिखाई देने लगता है तब किसी अन्य पुरुषको पूछकर अथवा स्वयं निकट जाकर स्नानादि क्रिया द्वारा उस जल ज्ञानका प्रामाण्य निश्चित होता है, अथवा दूरसे ही अनुमान द्वारा जल ज्ञानकी प्रामाणिकता निश्चित करता है कि यहां निकटमें अवश्य ही जल है क्योंकि कमलकी सुगंधी आ रही, शीतल हवा भी आ रही इत्यादि । सो अभ्यस्त और अनभ्यस्त दशा की अपेक्षा प्रामाण्य स्वतः और परतः हुआ करता है सर्वथा एकांत नहीं है, इसी स्याद्वाद द्वारा ही वस्तु तत्त्व सिद्ध होता है अतः श्री माणिकनंदी आचार्यने बहुत ही सुन्दर एव संक्षिप्त शब्दों मे कहा है कि “तत् प्रामाण्यं स्वतः परतश्च” ॥ १३ ॥

इसप्रकार इस प्रथम परिच्छेदमें प्रमाणके विषयमें विभिन्न मतों की विभिन्न सान्यताओंका विवेचन एव निराकरण करके प्रमाणका निर्दोष लक्षण “स्वापूर्वार्थं व्यवसायात्मकं ज्ञान प्रमाणम्” सिद्ध किया है । अतमे उसके प्रामाण्यके बारेमें मीमांसक का सर्वथा स्वतः प्रामाण्यवादका जो पक्ष है उसका उन्मूलन किया है, और प्रामाण्य को भी स्याद्वाद मुद्रासे अकित किया है ।

*** प्रामाण्यवाद का सारांश समाप्त ***

प्रत्यक्षैक प्रमाणवादका पूर्वपक्ष

नास्तिक वादी चार्वाक एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करता है, उसका कहना है कि अनुमान द्वारा ज्ञात हुई वस्तु कभी असत्य भी ठहरती है, जैसे प्रसिद्ध धूम हेतु से अग्निका अनुमान किया जाता है किन्तु यह धूम हेतु व्यभिचरित होता हुआ देखा जाता है, गोपाल घटिकादि में धूम तो रहता है पर वहाँ अग्नि तो उपलब्ध नहीं होती ? अतः अनुमान ज्ञान अप्रमाणभूत है, तथा गौण होनेके कारण भी अनुमानको अप्रमाण माना जाता है, योगादि परवादी अनुमान ज्ञानको प्रमाणभूत इसलिये मानते हैं कि उसके द्वारा स्वर्गादि परोक्ष पदार्थ सिद्ध किये जाय किन्तु विचार करके देखा जाय तो इस लोक सबधी इन घट पटादि दृश्य पदार्थोंको छोड़कर अन्य परलोक, आत्मा आदि पदार्थ है ही नहीं अतः उनको जाननेके लिये अनुमान की आवश्यकता ही नहीं है ।

यावज्जीवेत् सुख जीवेत्, ऋणकृत्वा घृत पिबेत् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमन कुत ॥ १ ॥

अर्थ—जब तक जीना है तब तक सुखसे ही रहे, चाहे ऋण करके भी घृतादि विषय सामग्री का उपभोग करना चाहिये, क्योंकि शरीरके नष्ट होनेपर [मरनेके पश्चात्] फिर आना नहीं है न कहीं अन्यत्र जाना है, सब समाप्त हो जाता है ।

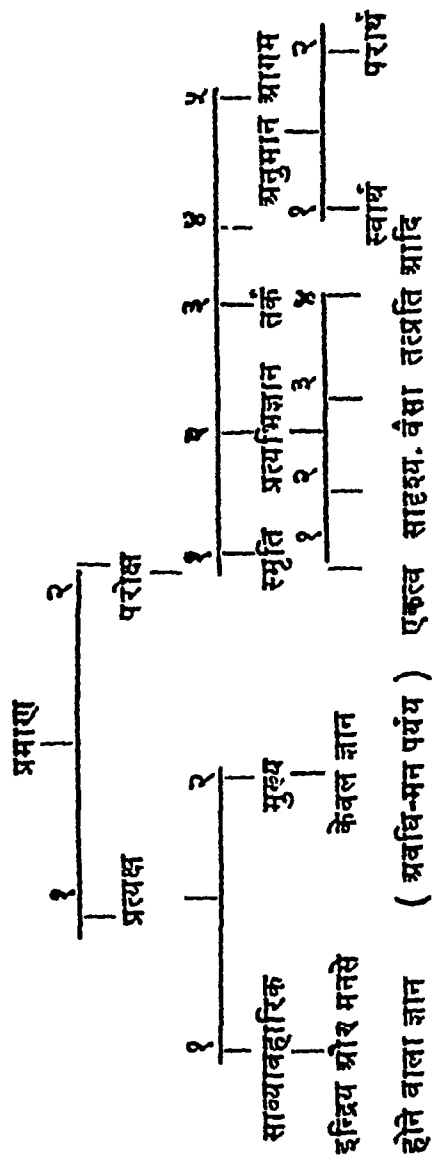
तर्कोऽप्रतिष्ठ श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।

धर्मस्य त्व निहित गुहाया महाजनो-येन गत सपन्था ॥ १ ॥

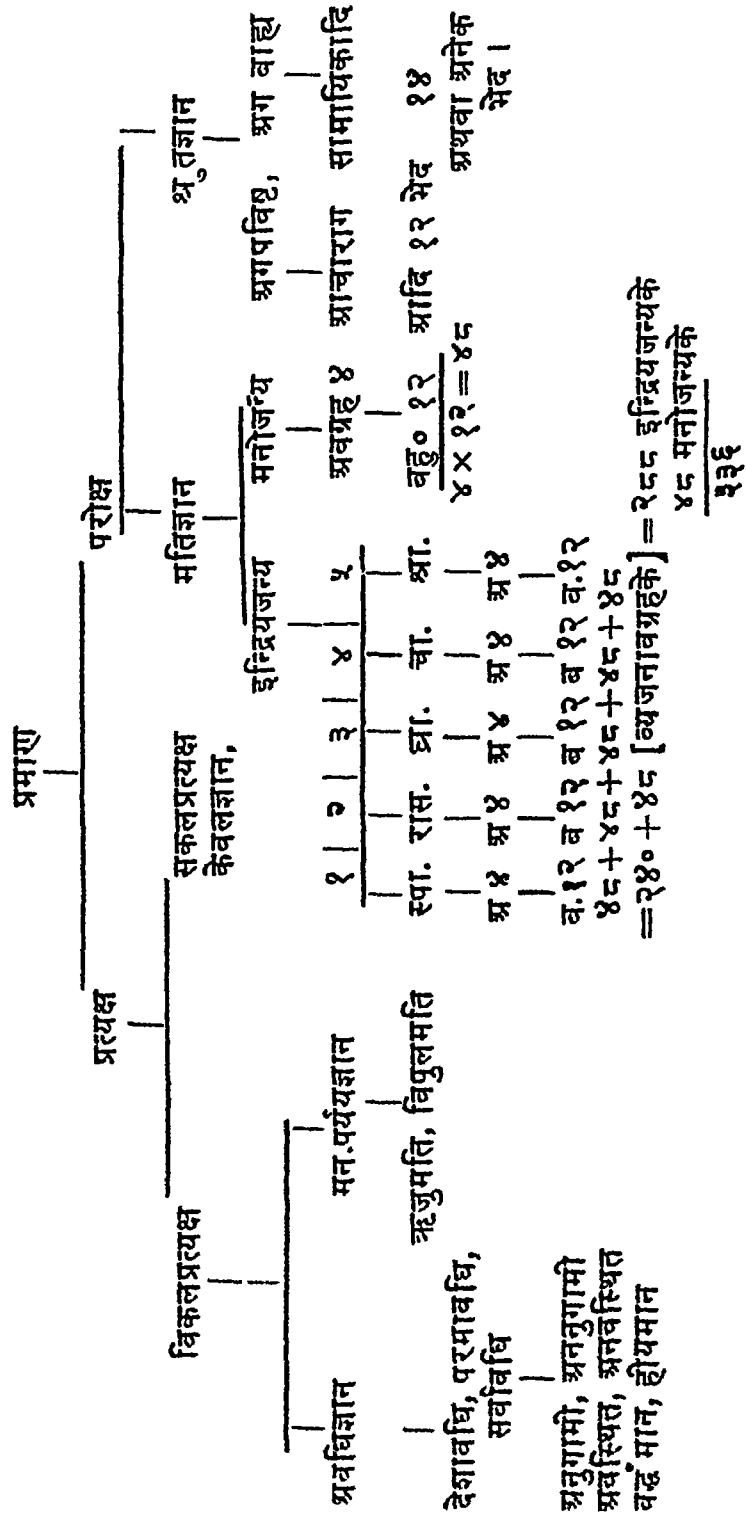
अर्थ—किसी वस्तुको तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि उसी वस्तुके विषयमें अन्य अन्य विरुद्ध तर्क या युक्तिया भी पायी जाती हैं, भावना, नियोग आदि नाना अर्थोंका प्रतिपादन करने के कारण श्रुति [वेद] भी प्रमाणभूत नहीं है, एव ऐसा कोई मुनि नहीं है कि जिसके वचन प्रामाणिक माने जाय । धर्म कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है । जिस मार्गका महाजन अनुसरण करते हैं वही मार्ग ठीक है । इस तरह परलोक आदि परोक्ष पदार्थोंका अस्तित्व नहीं होनेके कारण अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणोंको माननेकी आवश्यकता नहीं रहती है । अतः एक प्रत्यक्षज्ञान ही प्रमाणरूप सिद्ध होता है ।

* पूर्वपक्ष समाप्त *

प्रमाण के भेद (इस ग्रन्थ के अनुसार)



प्रमाणके भेद—[सिद्धांत ग्रन्थालुसार]



वविभावेनात् । 'परपरिकल्पितैकद्विध्यादिप्रमाणमरूपानियमे तदघटनात्' इत्याचार्यं स्वयमेवाग्रं प्रतिपादयिष्यति । ये हि प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमित्याचक्षते न तेषामनुमानादिप्रमाणान्तरस्यान्तर्भावः सम्भवति तद्विलक्षणत्वादिभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात् ।

ननु चास्याऽप्रामाण्यान्नान्तर्भावविभावनया किञ्चित्प्रयोजनम् । प्रत्यक्षमेकमेव हि प्रमाणम्, अगोणत्वात्प्रमाणस्य । अर्थनिश्चायकं च ज्ञानं प्रमाणम्, न चानुमानादर्थनिश्चयो घटते—सामान्ये सिद्धसाधनाद्विशेषेऽनुगमाभावान् । तदुक्तम्—

चार्वाक—अनुमानादिकं तो अप्रमाणभूतं है अतः यदि उनका प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव नहीं हुआ तो क्या आपत्ति है ? हम तो एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं, क्योंकि वही मुख्य है, जो मुख्य होता है वह प्रमाणभूत होता है । जो पदार्थका निश्चय कराता है वह प्रमाण कहलाता है, जैनादि प्रवादी द्वारा माने गये अनुमान से पदार्थका निश्चय तो होता नहीं, इसका भी कारण यह है कि अनुमान सिर्फ सामान्यका निश्चय कराता है और सामान्य तो सिद्ध [जाना हुआ] ही रहता है । भावार्थ—धूमको देखकर अग्नि निश्चय करना अनुमान है सो यह ज्ञान विशेष अग्निको [पत्तीकी अग्नि, काष्ठकी अग्नि] तो बताता नहीं, केवल सामान्य अग्निको बताता है, सामान्य अग्निमें तो विवाद रहता नहीं अतः अनुमान ज्ञान अर्थ निश्चय करानेमें खास उपयोगी नहीं है । कहा भी है—अनुमान ज्ञान विशेषकी जानकारी कराता नहीं और सामान्य तो सिद्ध ही रहता है अतः अनुमान प्रमाणकी जरूरत नहीं है ।

अनुमान को प्रवर्तित होनेके लिये व्याप्तिका ज्ञान होना जरूरी है तथा हेतुमें पक्ष धर्मत्व होना भी जरूरी है, सो व्याप्तिका ज्ञान प्रत्यक्षसे नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण सिर्फ निकटवर्ती वस्तुओंको ही जानता है, उसके द्वारा अखिल साध्य साधनभूत पदार्थोंकी अपेक्षा रखनेवाली व्याप्तिका ज्ञान होना अशक्य है, प्रत्यक्षमें ऐसी सामर्थ्य होती ही नहीं अनुमान द्वारा व्याप्तिका ग्रहण होना भी अशक्य है, क्योंकि व्याप्तिको जाननेवाला अनुमान भी तो व्याप्ति ग्रहणसे उत्पन्न होगा, अब यदि इस दूसरे अनुमानकी व्याप्तिको ग्रहण करनेके लिए पुनः अनुमान आयेगा तो अनवस्था या इतरेतराश्रय दोष आयेगा कैसे सो ही बताते हैं—अनवस्था दोष तो इसप्रकार होगा कि—प्रथम नम्बरके अनुमानकी व्याप्तिको जाननेके लिये दूसरा अनुमान आया फिर उस दूसरे अनुमानकी व्याप्तिको जाननेके लिए तीसरा अनुमान प्रवृत्त हुआ इसप्रकार अनुमानांतर आते रहनेसे मूल क्षतिकरी अनवस्था आती है । साध्य साधनकी व्याप्तिको

विशेषेऽनुगमाभाव. सामान्ये सिद्धसाधनम् [] इति ।

किञ्च, व्याप्तिग्रहणे पक्षधर्मतावगमे च सत्यनुमान प्रवर्तते । न च व्याप्तिग्रहणमध्यक्षतः, अस्य सन्निहितमात्रार्थग्राहित्वेनाखिलपदार्थाक्षेपेण व्याप्तिग्रहणेऽसामर्थ्यात् । नाप्यनुमानतः; अस्य व्याप्तिग्रहणपुरस्सरत्वात् । तत्राप्यनुमानतो व्याप्तिग्रहणेऽनवस्थेतरैतराश्रयदोषप्रसङ्गः । न चान्यत्प्रमाण तद्ग्राहकमस्ति । तत्कुतोनुमानस्य प्रामाण्यम् ? इत्यसमीक्षिताभिधानम्, अनुमानादेरप्यध्यक्षवत्प्रतिनियतस्वविषयव्यवस्थायामविसवादकत्वेन प्रामाण्यप्रसिद्धेः । प्रत्यक्षेपि हि प्रामाण्यमविसवादकत्वादेव प्रसिद्धम्, तच्चान्यत्रापि समानम् अनुमानादिनाप्यव्यवसितेर्थाविसवादाभावात् ।

यच्च—अगौणत्वात्प्रमाणस्येत्युक्तम्, तत्रानुमानस्य कुतो [गौणत्वम्,] गौणार्थविषयत्वात्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वाद्वा ? न तावदाद्यो विकल्पः, अनुमानस्याप्यध्यक्षवद्वास्तवसामान्यविशेषात्मकार्थविष-

ग्रहण किये बिना अनुमानका उत्थान नही होगा और अनुमानका उत्थान हुए बिना व्याप्तिका ग्रहण नही होगा, इसप्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है ।

अनुमानको छोडकर अन्य कोई ऐसा प्रमाण है नही कि जिसके द्वारा व्याप्ति का ग्रहण हो सके, अत अनुमानमे प्रमाणाता किसप्रकार सिद्ध हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती ।

जैन—यह कथन बिना सोचे किया गया है, प्रत्यक्ष प्रमाणकी तरह अनुमानादि ज्ञान भी प्रमाणभूत है, क्योंकि ये भी प्रत्यक्षके समान अपने नियत विषयको व्यवस्थापित करते है तथा प्रत्यक्ष के समान ही अविसवादी है । प्रत्यक्षप्रमाणमें अविसवादीपना होने के कारण प्रमाणाता आती है तो अनुमानमे भी अविसवादीपना होनेके कारण प्रमाणाता आती है, उभयत्र समानता है ।

आपने कहा कि अगौण होनेसे प्रत्यक्ष ही प्रमाण है सो बताइये कि अनुमान गौण क्यों है गौण अर्थको विषय करता है इसलिये, अथवा प्रत्यक्ष पूर्वक होता है इसलिये ? पूर्व विकल्प ठीक नही, क्योंकि प्रत्यक्षकी तरह अनुमानका विषय भी सामान्यविशेषात्मक मुख्य अर्थ ही माना गया है, सौगतके समान कल्पित सामान्यको विषय करनेवाला अनुमान है ऐसा जैन नही मानते है, हम तो अनुमान में कल्पित सामान्यका निषेध करनेवाले है । दूसरा विकल्प—अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है अतः गौण है ऐसा कहना भी अयुक्त है यदि अनुमानको प्रत्यक्ष पूर्वक होने मात्रसे गौण मानते है तो किसी किसी प्रत्यक्षको अनुमान पूर्वक होनेसे गौण मानना होगा ? कैसे

यत्राभ्युपगमात् । न खलु क्लृप्तसामान्यार्थविषयमनुमानः सौगतवज्जैरिष्टम्, तद्विषयत्वस्यानुमाने निराकरिष्यमाणत्वात् । प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानस्य गौणत्वे प्रत्यक्षस्यापि कस्यचिदनुमानपूर्वकत्वाद्गौणत्वप्रसङ्गः, अनुमानात्साध्यार्थं निश्चित्य प्रवर्त्तमानस्याध्यक्षप्रवृत्तिप्रतीतेः । ऊहाख्यप्रमाणपूर्वकत्वाच्चास्याध्यक्षपूर्वकत्वमसिद्धम् ।

यच्चोक्तम् 'न च व्याप्तिग्रहणमध्यक्षत' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; व्याप्ते प्रत्यक्षानुपलम्भ-बलोद्भूतोहाख्यप्रमाणात्प्रसिद्धेः । न च व्यक्तीनामानन्त्य देशादिव्यभिचारो वा तत्प्रसिद्धेर्बाधकः, सामान्यद्वारेण-प्रतिबन्धावधारणात्तस्य चानुगताऽबाधितप्रत्ययविषयत्वादस्तित्वम् । प्रसाधयिष्यते च "सामान्यविशेषात्मा तदर्थः" [परीक्षामुख ४-१] इत्यत्र वस्तुभूतसामान्यसद्भावः ।

सो ही बताते है—किसी पुरुषको धूम देखकर अग्निका ज्ञान हुआ पश्चात् साक्षात् पर्वतपर जाकर अग्निका प्रत्यक्षज्ञान हुआ सो ऐसा प्रत्यक्ष अनुमानके पीछे होता हुआ देखा जाता है । तथा यह बात असिद्ध है कि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है, क्योंकि वह तो तर्क नामक प्रमाण पूर्वक होता है और अपने विषयको निश्चित रूपसे जानता है । चार्वाकने कहा कि व्याप्तिका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकता इत्यादि, सो वह सब प्रलाप मात्र है, क्योंकि व्याप्तिका ज्ञान तो प्रत्यक्ष और अनुपलभ [अन्वय व्यतिरेक] दोनोंके बलसे उत्पन्न हुए तर्क नामक प्रमाणसे होता है ।

शंका—व्यक्तियोंकी [धूम एव अग्निकी] अनतता एव देशादिका व्यभिचार तर्क प्रमाणकी सिद्धिमें बाधक बनता है अर्थात् जहा जहा धूम होता है वहा वहा अग्नि होती है, जहा अग्नि नहीं होती वहा धूम भी नहीं होता इसप्रकारसे समस्त देश और कालका उपसहार करनेवाला तर्क होता है, सो इस तर्क द्वारा साध्यसाधनभूत अनत व्यक्तियोंमे सबध निश्चित नहीं हो सकता, अतः यह ज्ञान अप्रमाणभूत है ।

समाधान—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि व्यक्तियोंके अनंत होनेपर भी उनका सामान्यरूपसे तर्क द्वारा अविनाभाव निश्चित किया जा सकता है अतः तर्क ज्ञान प्रमाणभूत ही है, तथा अनुगत [यह गौ है, यह गौ है] विषयकी अबाधित प्रतीति करावेवाला होनेसे भी तर्क प्रमाणका अस्तित्व सिद्ध होता है, "सामान्य विशेषात्मा-तदर्थः" इस सूत्रके विवेचनमें हम यह सिद्ध करनेवाले ही हैं कि सामान्य [अनुगत प्रत्ययका कारण] भी वस्तुभूत होता है । [काल्पनिक, नहीं] ।

चार्वाक—“प्रत्यक्षमेव प्रमाणमगौणत्वात्” प्रत्यक्ष ही प्रमाण है क्योंकि प्रधानभूत है ऐसा कहते हैं, किन्तु तर्क ज्ञान को प्रमाणभूत माने बिना ऐसा कहना

न चोहप्रमाणमन्तरेण 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणमगौणत्वात्' इत्याद्यभिधातुं शक्यम् । तथाहि—
अगौणत्वमविसवादित्वं वा लिङ्गं नाप्रसिद्धप्रतिबन्धं सत् प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमनुमापयेदतिप्रसङ्गात् ।
प्रतिबन्धप्रसिद्धिश्चानवयवेनाभ्युपगन्तव्या, अन्यथा यस्यामेव प्रत्यक्षव्यक्ती प्रामाण्येनागौणत्वादेरसौ
सिद्धस्तस्यामेवागौणत्वादेस्तत्सिद्ध्येत्, न व्यक्त्यन्तरे तत्र तस्यासिद्धत्वात् । न चासौ साकल्येनाध्य-
क्षात्सिद्ध्येत्तस्य सन्निहितमात्रविषयकत्वात् । अथैकत्र व्यक्ती प्रत्यक्षैणानयो सम्बन्धं प्रतिपद्यान्यत्रा-
प्येवंविधं प्रत्यक्षं प्रमाणमित्यगौणत्वादिप्रामाण्ययोः सर्वोपसंहारेण प्रतिबन्धप्रसिद्धिरित्यभिधीयते, न
अविषये सर्वोपसंहारेण प्रतिपत्तेरयोगात् । सर्वोपसंहारेण प्रतिपत्तिश्च नामान्तरेणोह एवोक्तः स्यात् ।

शक्य नहीं है, इसीको बताते हैं—अगौणत्वात् प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्" ऐसे अनुमान वाक्यमें जो अगौणत्व हेतु दिया जाता है अथवा अविसवादित्व रूप हेतु दिया जाय तो वे दोनों ही हेतु अज्ञात अविनाभाव सबध वाले होंगे तो प्रत्यक्षके प्रामाण्यपनेका अनुमाप नहीं लगा सकते हैं, यदि अज्ञात अविनाभाव सबधसे भी अनुमाप लगा सकते हैं तो जिस पुरुषके धूम अग्निका अविनाभाव अज्ञात हो उस पुरुषके भी धूमको देखकर अग्निका ज्ञान होने लगेगा । इसतरह का अतिप्रसंग उपस्थित होगा ।

अविनाभावसबधकी निश्चिति साकल्य रूपसे स्वीकार करनी ही होगी अन्यथा जिस किसी एक प्रमाणमे अगौणत्वादिका प्रामाण्यके साथ अविनाभाव सबध सिद्ध हुआ हो सिर्फ उसी एक प्रमाणमे प्रत्यक्ष प्रमाणता सिद्ध होगी, अन्य प्रत्यक्ष प्रमाणमे नहीं, क्योंकि अन्य प्रमाणमे अविनाभाव सबध असिद्ध है । यहा कोई कहे कि अगौणत्व और प्रामाण्यका अविनाभाव साकल्य रूपसे सभी प्रत्यक्ष प्रमाणोमे सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्षप्रमाण ही है वही इस अविनाभावका निश्चय करा देगा ? सो बात असभव है, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण सिर्फ सन्निहित [निकटवर्ती] पदार्थको विषय करता है ।

चार्वाक—किसी एक प्रमाणमे इन अगौणत्व और प्रामाण्यका अविनाभाव सबधको भलीप्रकारसे समझकर अन्य सभी प्रमाणोमें अगौणत्व और प्रामाण्यका सर्वोप-
संहार रूपसे अविनाभाव सबध सिद्ध किया जायगा कि सभी प्रत्यक्ष प्रमाण इसीप्रकार के होते हैं इत्यादि ।

जैन—ऐसा नहीं हो सकता, प्रत्यक्ष प्रमाणका अविषय होनेके कारण सर्वोप-
संहार रूपसे अविनाभावकी प्रतिपत्ति होना अशक्य है [अर्थात् सर्वोपसंहारी व्याप्ति

अग्निधूमादीना चंद्रमविनाभावप्रतिपत्ति किन्न स्यात् ? येन 'अनुमानमप्रमाणमविनाभावस्याखिल-
पदार्थाक्षेपेण प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्' इत्युक्त शोभेत ।

किञ्चानुमानमात्रस्याप्रामाण्य प्रतिपादयितुमभिप्रेतम्, अतीन्द्रियार्थानुमानस्य वा ? प्रथमपक्षे
प्रतीतिसिद्धसकलव्यवहारोच्छेदः । प्रतीयन्ते हि कुतश्चिदविनाभाविनोऽर्थादर्थान्तर प्रतिनियत प्रति-
यन्तो लौकिका, न तु सर्वस्मात्सर्वम् । द्वितीयपक्षे तु कथमतीन्द्रियप्रत्यक्षेतरप्रमाणानामगीणत्वादिना
प्रामाण्येतरव्यवस्था ? कथं वा परचेनसोऽतीन्द्रियस्य व्यापारव्याहारादिकार्यविशेषात् प्रतिपत्ति ?

प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय ही नहीं है] एक बात यह भी है कि यदि आप सर्वोपसंहार
रूपसे प्रतिपत्ति होना स्वीकार करते हैं तो नामान्तरसे तर्क प्रमाणका ही स्वरूप आ
जाता है, तथा जिसप्रकार अगौणत्व और प्रमाणत्वका अविनाभाव प्रत्यक्ष प्रमाणमे
प्रसिद्ध होता है उसीप्रकार अग्नि और धूम आदिका अविनाभाव क्यों नहीं प्रसिद्ध
होगा ? अर्थात् होगा ही । अतः आपका पूर्वोक्त कथन अयुक्त सिद्ध होता है कि सपूर्ण
साध्यसाधनभूत पदार्थोंका अविनाभाव जानना अशक्य होनेसे अनुमान ज्ञान अप्रमाण
है इत्यादि । तथा यह बनाइये कि सारे ही अनुमान ज्ञान अप्रमाणभूत मानना इष्ट है
अथवा अतीन्द्रियको विषय करनेवाले अनुमान अप्रमाणभूत मानना इष्ट है ? प्रथमपक्ष
कहे तो प्रतीति सिद्ध सकल व्यवहार नष्ट होवेगा, क्योंकि व्यवहारमे देखा जाता है कि
लौकिक जन किसी एक अविनाभावी हेतु द्वारा अर्थसे अर्थांतर भूत पदार्थका निश्चय
करते हैं किन्तु हर किसी सभी हेतु द्वारा सभी पदार्थका निश्चय नहीं करते [अर्थात्
अविनाभावी हेतु वाले अनुमान ज्ञान प्रमाणताकी कोटिमे आ जानेसे सभी अनुमान
अप्रामाणिक हैं ऐसा कहना बाधित होता है] ।

द्वितीयपक्ष—अतीन्द्रिय अर्थको ग्रहण करनेवाले अनुमानको अप्रमाणभूत
मानते हैं ऐसा कहे तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्षप्रमाण और अतीन्द्रिय अनुमान प्रमाण इन दोनों
ज्ञानोंका क्रमशः अगौणत्व और गौणत्वादि हेतु द्वारा प्रामाण्य और अप्रामाण्य किसप्रकार
व्यवस्थित होगा ? एवं परके अतीन्द्रियभूत मनकी व्यापार, व्याहारादि कार्य विशेष
द्वारा सिद्धि होती है वह किसप्रकार होवेगी ? तथा स्वर्ग अदृष्ट देवता आदिका
अनुपलब्धि हेतु द्वारा प्रतिषेध करना भी किसप्रकार युक्त हो सकेगा । सो यह चार्वाक
अगौण होनेसे एक प्रत्यक्ष ही प्रमाणभूत है अनुमान अगौण नहीं है अतः उससे पदार्थका
निश्चय नहीं होता, इत्यादि अनुमान वाक्य रूप कथन करता है । पुनश्च इसी अनुमान
द्वारा प्रत्यक्षादिकी प्रमाणता सिद्ध करता है सो यह किसप्रकार शक्य है ? यदि अनु-

स्वर्गापूर्वदेवतादेस्तथाविधस्य प्रतिषेधोऽनुपलब्धे स्यात् ? सोय चार्वाक “प्रमाणस्यागीणत्वादानुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभ” [] इत्याचक्षाणः कथमत एवाध्यक्षादे. प्रामाण्यादिक प्रसाधयेत् ? प्रसाधयन्वा कथमतीन्द्रियेतरार्थविषयमनुमान न प्रमाणयेत् ? उक्त च—

“प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः ।

प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥” [] इति ।

तन्नानुमानस्याप्रामाण्यम् ।

मान द्वारा प्रत्यक्षका प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है तो अतीन्द्रिय गम्य और इन्द्रियगम्य पदार्थको विषय करनेवाला अनुमानज्ञान किसप्रकार प्रमाणभूत नही माना जायगा ? अर्थात् इसे भी प्रमाणभूत मानना होगा । कहा भी है—प्रमाणत्व और अप्रमाणत्वका अस्तित्व होनेसे, पर प्राणियोंकी बुद्धिकी प्रतीति होनेसे तथा परलोकादि किसीका प्रतिषेध करनेसे प्रत्यक्षके अतिरिक्त जो अनुमान है उसकी प्रमाणता सिद्ध होती है ॥ १ ॥

भावार्थ—यहापर अनुमान ज्ञानमें प्रमाणता सिद्ध करनेके लिये तीन हेतु उपस्थित किये हैं, वे इसप्रकार हैं—यह ज्ञान प्रामाणिक है क्योंकि इसमें अविस्वाद है एव यह ज्ञान अप्रामाणिक है क्योंकि इसमें विस्वाद है, इसतरह ज्ञानोकी प्रमाणता अप्रमाणताका निर्णय अनुमान द्वारा ही होता है । तथा इस पुरुषमें बुद्धि है, क्योंकि वचन कुशलता आदि बुद्धिके कार्य दिखाई दे रहे इत्यादि रूपसे परव्यक्तिमें बुद्धिका अस्तित्व अनुमान द्वारा ही सिद्ध हो सकता है । तीसरा अनुमान चार्वाकको इसलिये चाहिये कि उन्हें परलोक आदिका निषेध करना है अर्थात् “स्वर्गादि परलोकका अस्तित्व नही है, क्योंकि उनकी अनुपलब्धि है” इत्यादि अनुमानद्वारा ही परलोकादि प्रतिषेध करना संभव है । उपर्युक्त तीनों ही बातें प्रत्यक्ष द्वारा तो सिद्ध नहीं की जा सकती अतः अनुमान ज्ञानको प्रमाणभूत मानना आवश्यक है । इसप्रकार प्रत्यक्षके समान अनुमान भी एक पृथक् प्रमाण है ऐसा निश्चय हुआ ।

* प्रत्यक्षक प्रमाणवाद समाप्त *



प्रमेयद्वित्वात् प्रमाणद्वित्ववादका पूर्वपक्ष

प्रमेय अर्थात् पदार्थ दो प्रकारके है अतः प्रमाण के दो भेद होते है ।

तस्यविषय स्वलक्षणम् ॥ १२ ॥ [न्याय बिन्दु पृष्ठ ६६]

प्रत्यक्षका विषय स्वलक्षण है । स्वलक्षण क्या है इस बातको-निर्विकल्प प्रत्यक्षका वर्णन करते हुए कह आये है कि जिस पदार्थकी निकटतासे ज्ञानमे स्पष्टता आती है और दूरी होनेसे अस्पष्टता आती है वह स्वलक्षण है ।

तदेव परमार्थसत् ॥१४॥ अर्थक्रिया सामर्थ्यं लक्षणत्वाद् वस्तुनः ॥१५॥

(न्याय बिन्दु पृ० ७६-७८)

यह स्वलक्षण ही परमार्थ है । अर्थक्रियामे जो समर्थ है वही वस्तुका स्वरूप है और वही स्वलक्षण है-(असाधारण रूप है) ।

अन्यत् सामान्यलक्षणम् ॥१६॥ सोऽनुमानस्य विषयः ॥१७॥

[पृष्ठ ७६-८०]

इस स्वलक्षणसे पृथक् सामान्य लक्षण है. और यह अनुमानका विषय है, [अनुमानके द्वारा जानने योग्य है ।] वस्तुके साधारण रूप का सामान्य लक्षण क्या है ? सो इस विषयमे कहा जाता है कि धर्म (रूप आदि परमाणु) क्षणिक है इन धर्मोंके पु जमे (परमाणु समूहमे) जल लाना आदिका सामर्थ्य उत्पन्न होता है । जल लाना आदि अर्थक्रियामें समर्थ जो वस्तु क्षण होता है वही स्वलक्षण कहलाता है । इसमे देशकी दृष्टिसे विस्तार नहीं है और कालकी दृष्टिसे स्थिरता भी नहीं है । इसका स्वरूप यही है कि अर्थक्रिया का सामर्थ्य होना है, और अर्थक्रिया का सामर्थ्य एक क्षण में ही रहता है इस बातको बौद्ध ग्रन्थो मे अनेक जगह सिद्ध किया है । अतः वस्तुका अर्थक्रिया समर्थ एक क्षण ही स्वलक्षण है । इसमे जो स्थूलता या विस्तार भासित होता है वह सिर्फज्ञानमें प्रतीत होता है । वह कोई वस्तुका धर्म नहीं है । वह प्रतीति इसी प्रकार होती है कि जैसे दूर से भिन्न भिन्न वृक्षो मे कु जकी प्रतीति होती है वस्तुमे स्थिरताकी प्रतीति भी होती है किन्तु यह सब कोई तथ्य नहीं है । तथ्य तो यह है कि

एक क्षण नष्ट होता है उसके अनंतर दूसराक्षण उत्पन्न होता है इस प्रकार उपादान उपादेय भावसे क्षणोंकी परंपरा चलती है वही क्षण सतान कहलाता है जो नील या घट आदि क्षणोंकी संतान है उनको एक मानकर स्थिरताका आभास होने लगता है । समस्त घट सतानोका जो साधारण रूप है वही सामान्य लक्षण है । क्योंकि स्वलक्षण तो वस्तुका असाधारण रूप है । वह सबसे व्यावृत्त है । अतः निश्चय हुआ कि जो वस्तु का वास्तविक स्वलक्षण—क्षण स्थायी असाधारण रूप है वह प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय है, और जो क्षण प्रवाह रूप साधारण—सामान्य लक्षण है वह अनुमात्र प्रमाणका विषय है । इस प्रकार प्रमेय—वस्तु या पदार्थ दो प्रकारके होवेसे उनके ग्राहक ज्ञातोंमें— (प्रमाणोमे) भेद हो जाता है यह कथन सिद्ध हुआ ।

* पूर्वपक्ष समाप्त *



प्रमेयद्वित्वात् प्रमाणद्वित्वविचारः

*

अस्तु नाम प्रत्यक्षानुमानभेदात्प्रमाणद्वै विध्यमित्यारेकापनोदार्थम्—

प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥२॥

इत्याह । न खलु प्रत्यक्षानुमानयोर्व्यख्येयागमादिप्रमाणभेदानामन्तर्भाव सम्भवति यतः सीग-
तोपकल्पितः प्रमाणसंख्यानियमो व्यवतिष्ठते ।

प्रमेयद्वै विध्यात् प्रमाणस्य द्वै विध्यमेवेत्यप्यसम्भाव्यम्, तद्वै विध्यासिद्धेः, 'एक एव हि

यहापर अनुमानप्रमाणको सिद्ध हुआ देखकर सीगत प्रवादी कहते हैं कि जैनने जो प्रमाणकी दो सख्या बतलायी है वह ठीक ही है, प्रमाणको प्रत्यक्ष और अनुमान इसप्रकार दो तरहका मानना चाहिये ।

इस तरह आक्षेप होने पर आचार्य कहते हैं ।

प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥ २ ॥

प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका है, बौद्धकी मान्यताके समान वह प्रत्यक्ष और अनुमानके भेदसे दो प्रकारका नहीं है, क्योंकि इस सख्यामे आगे कहे जानेवाले आगमादि प्रमाणोका अन्तर्भाव नहीं हो पाता ।

बौद्ध— प्रमाणका विषय जो प्रमेय है वह दो प्रकारका होनेसे प्रमाण भी दो प्रकारका स्वीकार किया गया है ।

जैन — ऐसा नहीं है, प्रमेय का दो पनाही जब असिद्ध है तब उससे प्रमाणके दो भेद किसप्रकार सिद्ध हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं सिद्ध हो सकते । प्रमाणका विषय सामान्य विशेषात्मक पदार्थ ही है ऐसा हम आगे सिद्ध करनेवाले हैं । आप बौद्ध अनुमान का विषय केवल एक सामान्य ही है ऐसा मानते हैं सो इस लक्षण वाले अनुमान द्वारा विशेष विषयोमे प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी । यह तो निश्चित बात है कि अन्य विषयवाला ज्ञान अन्य विषयोमे प्रवृत्ति नहीं करता, यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो अतिप्रसंग होगा, अर्थात् फिर तो घटको विषय करनेवाला ज्ञान पटमे प्रवृत्ति कराने लगेगा ।

बौद्ध — हेतुसे अनुमित किये गये सामान्यसे विशेषकी प्रतिपत्ति होती है और उस प्रतिपत्तिसे विशेषमे प्रवृत्ति हो जाती है ।

सामान्यविशेषात्प्रार्थः प्रमेय प्रमाणस्य' इत्यग्रे वक्ष्यते । किञ्चानुमानस्य सामान्यमात्रगोचरत्वे ततो विशेषेष्वप्रवृत्तिप्रसङ्गः । न खल्वन्यविषय ज्ञानमन्यत्र प्रवर्तकम् अतिप्रसङ्गात् । अथ लिङ्गानुमितात्सामान्याद्विशेषप्रतिपत्तेस्तत्र प्रवृत्तिः, नन्वेव लिङ्गादेव तत्प्रतिपत्तिरस्तु किं परम्परया ? ननु विशेषेषु लिङ्गस्य प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरभावात्कथमतस्तेषां प्रतिपत्तिः ? तदेतत्सामान्येपि समानम् । अथाप्रति-

जैन—यदि ऐसी बात है तो सीधे हेतुसे ही विशेषकी प्रतिपत्ति होना माने । परंपरासे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् हेतुसे सामान्यकी प्रतिपत्ति होना फिर उस सामान्य से विशेषकी प्रतिपत्ति होना ऐसा मानते हैं उसमें क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं ।

बौद्ध—विशेषोमे हेतुके अविनाभावकी प्रतिपत्ति नहीं है अतः अनुमान द्वारा उन विशेषोका ज्ञान किसप्रकार हो सकता है ?

जैन—यह बात तो सामान्यमे भी घटित होगी । अर्थात् जैसे विशेषोमें हेतुके अविनाभावकी प्रतिपत्ति नहीं है वैसे विशेषोमें सामान्यके अविनाभावकी प्रतिपत्ति नहीं है अतः सामान्य द्वारा विशेषोका ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

भावार्थ — बौद्ध अनुमान का विषय सिर्फ सामान्य है ऐसा मानते हैं अतः आचार्य ने कहा कि यदि अनुमान ज्ञान केवल सामान्य को विषय करता है तो उस ज्ञान द्वारा विशेष विषयोमे प्रवृत्ति होना अशक्य होगा ? इस पर बौद्धने कहा कि अनुमान द्वारा सामान्यको जानकर फिर उस अनुमित सामान्य द्वारा विशेषका ज्ञान हो जावेगा । सो इस कथन पर शंका होती है कि ऐसा परंपरागत विशेषका ज्ञान होने की अपेक्षा सीधा ही अनुमान द्वारा विशेषका ज्ञान क्यों नहीं होगा वैसे ज्ञान होनेमें क्या बाधा है ? इसका समाधान करते हुए बौद्ध कहते हैं कि विशेषोमे हेतुके अविनाभावका ज्ञान नहीं होनेसे अनुमान प्रमाण सीधा विशेषोमें प्रवृत्ति नहीं कर सकता । तब आचार्यने समझाया कि यह कथन सामान्यके बारे मे भी लागू होता है विशेषोमें सामान्यके अविनाभाव की प्रतिपत्ति भी कहा है ? कि जिससे वह अनुमित सामान्य विशेषमे प्रवृत्ति करा सके । अतः यही निश्चय होता है कि यदि अनुमान प्रमाणका विषय विशेष नहीं है तो विशेषमे उसकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती ।

बौद्ध—विशेषोमे सामान्यका अविनाभाव जाना हुआ नहीं रहता तो भी सामान्य विशेषका गमक हुआ ही करता है ।

पन्नप्रतिबन्धमपि सामान्य तेषा गमकम्; लिङ्गमप्येवविध तद्गमक किन्न स्यात् ? सामान्यस्यापि सामान्येनैव विशेषेषु प्रतिबन्धप्रतिपत्तावनवस्थासामान्याद्वि सामान्यप्रतिपत्ती विशेषेष्वप्रवृत्ती पुनस्ततोऽप्यपरसामान्यप्रतिपत्ती स एव दोषः । अत सामान्यतदनुमानानामनवस्थानाद्प्रवृत्तिविशेषेषु स्यात् ।

किञ्च व्यापकमेव गम्यम् अव्यभिचारस्य तत्रैव भावात् व्यापक च कारण कार्यस्य, स्वभावो भावस्य । तच्च स्वलक्षणमेव, अतस्तदेव गम्य स्यात् न सामान्यमव्यापकत्वात् । अथ तदपि व्यापकम्, स्वलक्षणवद्वस्तुत्वम्, अन्यथा तस्मिन्नधिगतेपि प्रयोजनाभावात्तत्रानुमानमप्रमाणमेव स्यात् ।

जैन—तो फिर हेतु इसी तरह अज्ञात रहकर भी विशेष का गमक क्यों नहीं होगा ? यदि कहा जाय कि सामान्य भी मात्र सामान्यरूपसे विशेषोमे अविनाभावका ज्ञान कराता है तो अनवस्था आयेगी । इसीको वताते है—सामान्यसे मात्र सामान्य ही जाना जाता है अत उससे विशेषोमें प्रवृत्ति तो होगी नहीं, उस प्रवृत्ति के लिये पुनः अनुमान प्रयुक्त होगा किन्तु उससे भी अपर सामान्य मात्र की प्रतिपत्ति होगी न कि विशेषमे प्रवृत्ति होगी अत पूर्वोक्त दोष तदवस्थ रहता है, इसप्रकार सामान्य और तद्ग्राहक अनुमान इनकी अनवस्था होती जानेसे विशेषोमें प्रवृत्ति होना अशक्य ही है ।

दूसरी बात यह है कि व्यापकको ही गम्य माना जाता है क्योंकि उसीमे अव्यभिचारपना है, और यह व्यापक कार्यका कारण तथा भावका स्वभाव रूप हुआ करता है, इस तरह का जो व्यापक है वह स्वलक्षण ही हो सकता है, अतः स्वलक्षणको ही गम्य मानना होगा सामान्यको नहीं, क्योंकि सामान्यः अव्यापकरूप है । यदि कहा जाय कि सामान्य भी व्यापकरूप स्वीकार किया जाता है तब तो स्वलक्षणके समान सामान्य को भी वास्तविक पदार्थ मानना पड़ेगा, अन्यथा उसको जान लेने पर भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा तथा ऐसे अवास्तविक सामान्यको जाननेवाला अनुमान अप्रमाण ही कहलायेगा ।

भावार्थ—बौद्ध सामान्यको अवास्तविक और स्वलक्षणभूत विशेषको वास्तविक मानते है, इधर अनुमानको सामान्य का ग्राहक मानते हैं सो ऐसे अवास्तविक पदार्थको विषय करनेवाला ज्ञान अप्रमाणभूत ही ठहरता है, ऐसे अप्रमाणभूत सिद्ध हुए अनुमान द्वारा विशेषोमे प्रवृत्ति होना अशक्य है अतः बौद्धने जो पहले कहा था कि अनुमान द्वारा सामान्यको ज्ञात कर उस ज्ञात सामान्यसे विशेषोमे प्रवृत्ति हुआ करती है, सो सब गलत साबित होता है ।

किञ्च, तत्प्रमेयद्वित्व प्रमाणद्वित्वस्य ज्ञातम्, अज्ञात वा ज्ञापक भवेत् ? यद्यज्ञातमेव तत्तस्य ज्ञापकम्, तर्हि तस्य सर्वत्राविशेषात्सर्वेषामविशेषेण तत्प्रतिपत्तिप्रसङ्गतो विवादो न स्यात् । ज्ञात चेत्कृतस्तज्ज्ञप्तिः ? प्रत्यक्षात्, अनुमानाद्वा ? न तावत्प्रत्यक्षात्, तेन सामान्याग्रहणात् । ग्रहणे वा तस्य सविकल्पकत्वप्रसङ्गो विषयसङ्करश्च प्रमाणद्वित्वविरोधी भवतोऽनुषज्येत । नाप्यनुमानतः; अत एव । स्वलक्षणपराङ्मुखतया हि भवतानुमानमभ्युपगतम्—

“अतद्भेदपरावृत्तवस्तुमात्रप्रवेदनात् ।

सामान्यविषय प्रोक्त लिङ्ग भेदाप्रतिष्ठितेः ॥” []

किञ्च, प्रमेयद्वित्व प्रमाणद्वित्वका ज्ञापक होता है ऐसा आपका आग्रह है सो बताइये कि प्रमेयद्वित्व ज्ञात होकर प्रमाणद्वित्वका ज्ञापक बनता है अथवा विना ज्ञात हुए ही ज्ञापक बनता है ? विना ज्ञात हुए ही प्रमाणद्वित्वका ज्ञापक बनेगा तो ऐसा अज्ञात प्रमेयद्वित्व सर्वत्र समान होनेसे सभी मनुष्योंको समानरूपसे उसकी प्रतीति आयेगी फिर यह विवाद नहीं हो सकता था कि प्रमाणद्वित्व (दो प्रकार का प्रमाण) प्रमेयद्वित्वके कारण है अर्थात् प्रमेय दो प्रकारका होनेसे प्रमाण भी दो प्रकारका हो जाता है । दूसरा पक्ष—प्रमेयद्वित्व ज्ञात होकर प्रमाणद्वित्वका ज्ञापक बनता है ऐसा माने तो यह बताइये कि प्रमेयद्वित्वका ज्ञान किससे हुआ ? प्रत्यक्षसे हुआ अथवा अनुमान से हुआ ? प्रत्यक्षसे हुआ तो कह नहीं सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष सामान्य रूप प्रमेयको ग्रहण नहीं करता, यदि करेगा तो वह सविकल्पक कहलायेगा तथा विषय सकर दोष भी आयेगा अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण यदि सामान्यको ग्रहण करता है तो वह निर्विकल्प नहीं रहता क्योंकि सामान्यको ग्रहण करनेवाला ज्ञान सविकल्प होता है ऐसा आपका आग्रह है, तथा जब प्रत्यक्षने अनुमानके विषयभूत सामान्यको ग्रहण किया तब विषयसंकर हुआ फिर तो दो प्रमाण कहां रहे ? क्योंकि दो प्रकार का प्रमेय होनेसे प्रमाणको दो प्रकारका माना था, जब दोनों प्रमेयोंको [सामान्य और विशेषको] एक प्रत्यक्ष प्रमाणने ग्रहण किया तब अनुमान प्रमाणका कोई विषय रहा नहीं अतः उसका अभाव ही हो जायगा ।

दूसरा पक्ष—प्रमाणद्वित्वका प्रमेयद्वित्वपना अनुमानसे जाना जाता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि इस पक्षमें भी विषय सकर आदि वे ही उपर्युक्त दोष आते हैं, आपके यहां अनुमानको स्वलक्षणसे पराङ्मुख माना है अर्थात् अनुमान स्व-लक्षणभूत विशेषको नहीं जानता ऐसा माना है । अनुमानके विषयमें आपके यहां कहा

इत्यभिधानात् । द्वाभ्यां तु प्रमेयद्वित्वस्य ज्ञाने(ऽ)स्य प्रमाणद्वित्वज्ञापकत्वायोग, अन्यथा देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां प्रतिपन्नाद्धूमद्वित्वात् तदन्यतरस्याग्निद्वित्वप्रतिपत्तिः स्यात् । द्वैविध्यमिति हि द्विष्टो धर्मः । स च द्वयोर्ज्ञाने ज्ञायते नान्यथा । न ह्यज्ञातसह्यविन्ध्यस्य तद्गतद्वित्वप्रतिपत्तिरस्ति । परस्पराश्रयानुषङ्गश्च-सिद्धो हि प्रमाणद्वित्वेऽतः प्रमेयद्वित्वसिद्धिः, तस्याश्च प्रमाणद्वित्वसिद्धिरिति । अथान्यतः प्रमाणद्वित्वस्य सिद्धिः, व्यर्थस्तर्हि प्रमेयद्वित्वोपन्यासः । तदप्यन्यदेक वा स्यात्, अनेक वा ? एक चेद्विषयसङ्करः । प्रत्यक्ष हि स्वलक्षणाकारमनुमानं तु सामान्याकारम्, तद्व्यस्यैकज्ञानवेद्यत्वे सुप्रसिद्धो विषयसङ्करः । अथानेकज्ञानवेद्यम्, तदप्यपरेणानेकज्ञानेन वेद्यं तदप्यपरेणेत्यनवस्था ।

है कि-भेदोकी [विशेषोकी] परावृत्तिसे रहित मात्र सामान्यका वेदन करनेवाला होनेसे तथा स्वलक्षणकी व्यवस्था नहीं करनेसे लिग ज्ञान [अनुमान प्रमाण] सामान्यविषय वाला माना जाता है ॥ १ ॥

अनुमान और प्रत्यक्ष दोनोंसे प्रमेयका द्वित्वपना जाना जाता है ऐसा कहेगे तो वह प्रमेयद्वित्व प्रमाणद्वित्वका ज्ञापक नहीं बन सकता यदि इसतरहका दो ज्ञानों द्वारा ज्ञात हुआ प्रमेयद्वित्व ज्ञापक हो सकता है तो देवदत्त और यज्ञदत्त द्वारा जाने हुए धूमद्वित्वसे उन दोनों पुरुषोंमें से किसी एकको अग्निके द्वित्वकी प्रतिपत्ति होना भी स्वीकार करना चाहिये ? [क्योंकि विभिन्न दो प्रमाणोंद्वारा ज्ञात हुआ प्रमेयद्वित्वज्ञापक बन सकता है ऐसा कहा है] तथा द्वैविध्य जो होता है वह दो पदार्थोंमें रहनेवाला धर्म होता है सो वह द्वैविध्य उन दोनों पदार्थोंका ज्ञान होनेपर जाना जा सकता है अन्यथा नहीं, जैसे कि किसी पुरुषने सध्याचल और विन्ध्याचलको नहीं जाना है तो उस दोनों पर्वतोंमें होनेवाला द्वैविध्य [दो पना] भी अज्ञात ही रहता है । तथा प्रमेयद्वित्व होनेसे [प्रमेय यानी पदार्थ दो प्रकारके होनेसे] प्रमाण दो प्रकारका है ऐसा सौगतका कहना अन्योन्याश्रय दोषसे भरा हुआ है, क्योंकि प्रमाणद्वित्व [प्रमाणका दोपना] सिद्ध होनेपर उसके द्वारा प्रमेयद्वित्वकी सिद्धि होगी और प्रमेयद्वित्वके सिद्ध होनेपर प्रमाणद्वित्व सिद्धि होगी इसतरह परस्पराश्रित रहनेसे दोनों असिद्ध रह जाते हैं । यदि कहा जाय कि प्रमाणद्वित्वकी सिद्धि प्रमेयद्वित्वसे न करके अन्य किसी ज्ञानसे करेगे तो प्रमेयद्वित्व हेतुका उपन्यास करना व्यर्थ है, अर्थात् "प्रमाण दो प्रकार का है क्योंकि प्रमेय भूत विषय ही दो प्रकारका होता है" इसतरह प्रमेयद्वित्व हेतु द्वारा प्रमाणद्वित्वको सिद्ध करनेकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि प्रमाणद्वित्व किसी अन्य ही ज्ञान द्वारा सिद्ध होता है ? तथा यह भी प्रश्न होता है कि प्रमाणद्वित्वको

ननु स्वलक्षणाकारता प्रत्यक्षैणात्मभूतैव वेद्यते सामान्याकारता त्वनुमानेन, तयोश्च स्वसवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात् प्रत्यक्षसिद्धमेव प्रमाणद्वित्व प्रमेयद्वित्व च, केवलम् यस्तथा प्रतिपद्यमानोपि न व्यवहरति स प्रसिद्धेन प्रमेयद्वै विद्येन प्रमाणद्वै विध्यव्यवहारे प्रवर्त्यते; तदप्यसारम्; ज्ञानादर्थान्तरस्यानर्थान्तरस्य वा केवलस्य सामान्यस्य विशेषस्य वा क्वचिज्ज्ञाने प्रतिभासाभावात्, उभयार्थान्तर एवान्तर्बहिर्वा वस्तुनोऽध्यक्षादिप्रत्यये प्रतिभासमानत्वात् । प्रयोग—असति बाधके यद्यथा प्रतिभासते

सिद्ध करनेवाला वह जो अन्य कोई ज्ञान है वह एक है अथवा अनेक है ? एक मानेगे तो विषय संकर नामा दूषण होगा, कैसे सो ही बताते हैं—प्रत्यक्षप्रमाण स्वलक्षणाकार वाला होता है और अनुमान प्रमाण सामान्याकार वाला होता है ऐसा आप बौद्धका ही सिद्धांत है सो विलक्षण आकारवाले उन दोनों प्रमाणोंको एक ही ज्ञान जानेगा तो विषयसंकर स्पष्ट ही दिखायी दे रहा है । [अर्थात् सामान्याकार और स्वलक्षणाकार भूत दो प्रमाणोंके दो विषयरूप आकार थे उन दोनोंको ग्रहण करनेसे दोनों विषयोंका [सामान्य और स्वलक्षणका] ग्रहण भी हो चुकता है और इसतरह एक ज्ञानमें दोनों की एक साथ प्रतिपत्तिरूप विषय संकर होता है] प्रमाणद्वित्वका ग्राहक जो अन्य कोई ज्ञान है वह अनेकरूप है अर्थात् अनेक ज्ञानोंद्वारा प्रमाणद्वित्व जाना जाता है तो पुनः प्रश्न होगा कि वे अनेक ज्ञान भी किसी अपर अनेक ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होते हैं क्या ? तथा वे अपर ज्ञान भी अन्य किसी ज्ञानसे वेद्य होंगे ? इसतरह अनवस्था आती है ।

बौद्ध—स्वलक्षणाकारता प्रत्यक्षद्वारा आत्मभूत ही वेदनकी जाती है और सामान्याकारता अनुमानद्वारा वेदन की जाती है तथा उन दोनों प्रमाणों की सिद्धि स्वसवेदन प्रत्यक्षद्वारा हो जाया करती है अतः प्रमाणद्वित्व एव प्रमेयद्वित्व दोनों भी प्रत्यक्षसे ही सिद्ध होते हैं, किन्तु इस व्यवस्थाको स्वसवेदन प्रत्यक्षद्वारा जानता हुआ भी जो मनुष्य अपने व्यवहारमें नहीं लाता है उस पुरुषको प्रसिद्ध प्रमेयद्वित्व हेतु द्वारा प्रमाणद्वित्व व्यवहारमें प्रवर्तित कराया जाता है ।

जैन—यह कथन असार है, ज्ञानसे सर्वथा अर्थांतरभूत या अनर्थान्तर भूत अकेले सामान्यका अथवा विशेषका किसी भी ज्ञानमें प्रतिभास नहीं होता है । प्रत्यक्षादि ज्ञानमें तो अतस्तत्त्व बहिस्तत्त्वरूप चेतन और जड़ पदार्थ सामान्य विशेषात्मक ही प्रतिभासित हो रहे हैं । अनुमान प्रमाण द्वारा इसी बातको सिद्ध करते हैं—बाधकके नहीं होनेपर जो जिसप्रकारसे प्रतिभासित होता है उसको उसीप्रकारसे स्वीकार करना चाहिये, जैसे नील पदार्थ नीलाकारसे प्रतिभासित होता है अतः उसे नीलरूपही स्वीकार करते हैं, प्रत्यक्षादि प्रमाण भी सामान्यविशेषात्मक पदार्थको

तत्तथैवाभ्युपगन्तव्यम् यथा नील नीलतया, प्रतिभासते चाध्यक्षादि प्रमाण सामान्यविशेषा-
त्मार्थविषयतयेति ।

विषय करते हुए प्रतीत होते हैं अतः उन्हें वैसा ही स्वीकार करना चाहिये इसतरह सामान्य और विशेष दोनों पृथक् दो पदार्थ हैं और उनको जाननेवाले ज्ञान भी दो [प्रत्यक्ष और अनुमान] प्रकारके हैं ऐसा बौद्धका कहना खडित हो जाता है ।

* समाप्त *

प्रमेयद्वित्वसे प्रमाणद्वित्वको मानने वाले बौद्ध के खंडनका सारांश

बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं प्रत्यक्ष का विषय विशेष, [स्वलक्षण] माना है और अनुमानका विषय सामान्य माना है, उनका कहना है कि विषय भिन्न भिन्न होनेके [अर्थात् वस्तु दो तरह की होनेके] कारण ही दो प्रमाण हैं । किन्तु यह कथन बिलकुल असत्य है प्रमेय दो तरहका है ही नहीं । प्रत्यक्ष हो चाहे अनुमान हो दोनों प्रमाण सामान्य और विशेष को जानते हैं एक एक को नहीं हम बौद्ध से पूछते हैं कि दो तरह का प्रमेय है इस बातको कौन जानता है, प्रत्यक्ष या अनुमान ? तुम कहो कि प्रत्यक्ष प्रमाण प्रमेयद्वित्व को जानता है सो कैसे बने ? जब कि प्रत्यक्ष का विषय एक विशेष ही है, सामान्य नहीं, तो वह दोनों को कैसे जाने ? अनुमान कहो तो वही बात, क्योंकि वह भी सिर्फ सामान्य को ही जानता है विशेषको नहीं अतः दोनों ही एक एक को जाननेवाले होनेसे प्रमेय दो तरहका है यह बात व्यवस्थापक प्रमाणके अभावमें असिद्ध ही रहेगी । यदि प्रत्यक्ष या अनुमान में से कोई भी एक प्रमाण दोनों प्रमेयोंको जानेगे तब तो बहुत भारी आपत्ति आप बौद्ध पर आ पड़ेगी, अर्थात् प्रमेयद्वित्व को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान जानता है तो विषय सकर हुआ क्योंकि दोनोंके विषयको एकने जाना, तथा सामान्य विषयको प्रत्यक्ष ने जाना अतः वह सविकल्पक हो गया क्योंकि आपने सामान्य विषय वाले ज्ञानको सविकल्पक रूपसे स्वीकार किया है । तथा प्रमेय दो है अतः प्रमाण भी दो प्रकार है, यह सिद्धांत भी गलत हो जाता है । अतः बौद्ध को अतरंग वस्तु जीव और बहिरंग वस्तु जड पदार्थ इन दोनों को भी सामान्य विशेषात्मक मानना चाहिये, तथा इन दोनोंका ज्ञानभी दोनों अनुमान तथा प्रत्यक्षके द्वारा होता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

प्रमेयद्वित्व से प्रमाणद्वित्व को माननेवाले बौद्ध के खंडनका सारांश समाप्त हुआ ।

आगमविचारः



ननु मा भूत्प्रमेयभेदः, तथाप्यागमादीना नानुमानादर्थान्तरत्वम् । शब्दादिक हि परोक्षार्थं सम्बद्धम्, असम्बद्धं वा गमयेत् ? न तावदसम्बद्धम्, गवादेरप्यश्वादिप्रतिभासप्रसङ्गात् । सम्बद्धं चेत्, तल्लिङ्गमेव, तज्जनितं च ज्ञानमनुमानमेव । इत्यप्यसाम्प्रतम्, प्रत्यक्षस्याप्येवमनुमानत्वप्रसङ्गात्— तदपि हि स्वविषये सम्बद्धं सत्तस्य गमकम् नान्यथा, सर्वस्य प्रमातुः सर्वार्थप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । अथ

बौद्ध— प्रमेयके भेद मानना इष्ट नहीं है तो रहने दीजिये किन्तु आगमादि ज्ञानोका अनुमान प्रमाणसे पृथक्पना तो कथमपि सिद्ध नहीं होता । देखिये । मीमांसकादिने आगमादि प्रमाणोका कारण शब्दादिको को माना है सो वे शब्दादिक परोक्षभूत पदार्थोके गमक हुआ करते हैं सो उन पदार्थोसे संबद्ध होकर गमक होते हैं अथवा असंबद्ध होकर गमक होते हैं ? असंबद्ध होकर गमक होना तो अशक्य है, अन्यथा गौ आदि शब्दसे अश्व आदि पदार्थका प्रतिभास होना भी स्वीकार करना पड़ेगा ? क्योंकि शब्दादिक पदार्थके साथ संबद्ध हुए बिना ही गमक हुआ करते हैं ऐसा मान रहे हो । यदि इस दोषको दूर करनेके लिये दूसरा पक्ष स्वीकार करे कि पदार्थसे संबद्ध होकर ही शब्दादिक उस पदार्थके गमक हुआ करते हैं तो वे शब्दादिक लिंग [साधन] रूप ही सिद्ध हुए, एव उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान भी अनुमान ही कहलाया ? अभिप्राय यह हुआ कि शब्दादि कारणोसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञान अनुमान प्रमाणरूप ही सिद्ध होते हैं न कि आगमादि रूप ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, इसतरह पदार्थसे संबद्ध होकर उसके गमक होने मात्रसे आगमादि ज्ञानोको अनुमानमें अन्तर्भूत किया जाय तो प्रत्यक्षप्रमाणका भी अनुमानमें अन्तर्भाव हो जानेका प्रसंग आता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण भी अपने विषय में संबद्ध होकर ही उसका गमक होता है अन्यथा नहीं, यदि स्वविषयमें संबद्ध हुए बिना गमक होना स्वीकार करेंगे तो सभी प्रमाताओको सभी पदार्थोका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेका अति प्रसंग आता है ।

बौद्ध—यद्यपि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणोमें विषयसे संबद्ध होना समान है किन्तु सामग्री भिन्न भिन्न होनेकी वजहसे इनमें पृथक् प्रमाणपना माना जाता है ।

विषयसम्बद्धत्वाविशेषेपि प्रत्यक्षानुमानयोः सामग्रीभेदात्प्रमाणान्तरत्वम्; शाब्दादीनामप्येव प्रमाणान्तरत्व किन्न स्यात् ? तथाहि—शाब्द तावच्छब्दसामग्रीत. प्रभवति—

“शब्दादुदेति यज्ज्ञानमप्रत्यक्षेपि वस्तुनि ।

शाब्द तदिति मन्यन्ते प्रमाणान्तरवादिनः ॥” []

इत्यभिधानात् । न चास्य प्रत्यक्षता; सविकल्पकास्पष्टस्वभावत्वात् । नाप्यनुमानता, त्रिरूपलिङ्गाप्रभवत्वादानुमानगोचरार्थाविषयत्वाच्च । तदुक्तम्—

मीमांसक—इसीप्रकारसे आगमादि ज्ञानोमें भी भिन्न प्रमाणपना क्यों न माना जाय ? देखिये आगमादि ज्ञानोकी सामग्री भी विभिन्न प्रकारकी होती है, शब्द रूप सामग्री से आगम ज्ञान प्रादुर्भूत होता है, जैसा कि कहा है—वस्तुके अप्रत्यक्ष रहनेपर भी शब्दद्वारा उसका ज्ञान हो जाया करता है, इस ज्ञानको प्रमाणान्तरवादी मीमांसक जैन आदि ने आगम प्रमाणरूप माना है ॥ १ ॥

इस शब्द जन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण तो कह नहीं सकते, क्योंकि यह सविकल्प होता है एव अस्पष्ट स्वभाववाला होता है । आगम ज्ञानको अनुमान रूप भी नहीं मान सकते, क्योंकि यह ज्ञान त्रिरूपहेतु जन्य नहीं है, तथा अनुमानके गोचरभूत पदार्थोंको विषय भी नहीं करता है । हमारे मीमांसाश्लोकवार्त्तिक नामा ग्रन्थमें यही बात कही है—प्रत्यक्षके समान आगम ज्ञानमे भी अनुमानपना नहीं पाया जाता, इसका भी कारण यह है कि आगम ज्ञान त्रिरूप हेतु से विरहित है एवं अनुग्य विषयको भी ग्रहण नहीं करता । इसी कारिकाका स्पष्टीकरण करते हैं कि धूमादि हेतुसे उत्पन्न होनेवाले अनुमान ज्ञानका विषय धर्म विशिष्ट धर्मों हुआ करता है, जिसप्रकार का यह विषय है उसप्रकारका विषय शब्दजन्य ज्ञानमे तो नहीं रहता न त्रिरूप हेतुत्व रहता है, यह बात तो सर्व जन प्रसिद्ध है । त्रैरूप्यहेतुता शब्दमे किसप्रकार सभव नहीं है इस बातका खुलासा करते हैं कि—धर्मोंका अयोग होनेसे शब्दमें पक्ष धर्मत्व सिद्ध नहीं होता । इस ज्ञानका विषयभूत जो अर्थ है उसीको धर्मों माने ! इसतरहकी किसीकी आशका हो तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि शब्दका पदार्थके साथ अविनाभाव सबध तो है नहीं यह भी निश्चित है कि अप्रतिभासित पदार्थमें यह शब्द उस पदार्थका धर्म है इसतरहसे शब्दकी प्रतीति होना सभव नहीं । अब यदि यह मान लेवे कि पदार्थके प्रतिभासित हो जानेपर “यह उसका धर्म है” इसतरह शब्दकी प्रतीति होती है । सो यह प्रतीति कुछ उपयोगी सिद्ध नहीं होती, क्योंकि इस शब्द प्रतीतिके बिना भी

“तस्मादननुमानत्वं शाब्दे प्रत्यक्षवद्भवेत् ।

त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषयवर्जनात् ॥ १ ॥”

[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० १८]

यादृशो हि घूमादिलिङ्गजस्यानुमानस्य विषयो धर्मविशिष्टो धर्मी तादृशा विषयेण रहितं शाब्दं सुप्रसिद्धं त्रैरूप्यरहितं च । तथा हि-न शब्दस्य पक्षधर्मत्वम्, धर्मिणोऽयोगात् । न चार्थस्य धर्मित्वम्, तेन तस्य सम्बन्धासिद्धेः न चाप्रतीतेर्धे तद्धर्मतया शब्दस्य प्रतीतिः सम्भविनी । प्रतीते चार्थे न तद्धर्मतया प्रतिपत्तिः शब्दस्योपयोगिनी, तामन्तरेणाप्यर्थस्य प्रागेव प्रतीतेः । अथ शब्दो धर्मी, अर्थवानिति साध्यो धर्मः, शब्द एव च हेतुः; न; प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्राप्तेः । अथ शब्दत्वं हेतुरिति

पदार्थका प्रतिभास तो पहले ही हो चुकता है ।

बौद्ध—शब्दको धर्मी और अर्थवानको साध्यका धर्म बनाकर शब्दत्वरूप हेतु दिया जाय, अर्थात् “शब्द अर्थवान होता है, क्योंकि वह शब्दरूप है” इसप्रकारसे शब्द और अर्थका अविनाभाव सबध सिद्ध होता है । [और इसतरहका अविनाभाव सिद्ध होनेपर शब्दजन्य आगमज्ञानका अनुमानमें अन्तर्भाव होना सिद्ध होता है] ।

मीमांसक—इसतरह कहे तो प्रतिज्ञाके एकदेशरूप हेतु को माननेका प्रसंग प्राप्त होता है अर्थात् शब्द अर्थवान होता है, क्योंकि वह शब्द रूप है, ऐसा अनुमान वाक्य रचनेमें शब्द ही पक्ष और शब्द ही हेतुरूप बनता है, सो यह प्रतिज्ञाका एक देश नामा हेतुका दोष है ।

बौद्ध—उपर्युक्त अनुमान वाक्यमें शब्दको हेतु न बनाकर शब्दत्वको [शब्द-पनाको] हेतु बनाते है अतः प्रतिज्ञाका एकदेशरूप दूषण प्राप्त नहीं होता ।

मीमांसक—यह भी ठीक नहीं, शब्दत्वको हेतु बनावे तो वह साध्यका अगमक रहेगा, क्योंकि शब्दत्व तो गो अश्व आदि सभी शब्दों में पाया जाता है अतः वह शब्दत्व विवक्षित शब्दका अर्थके साथ अविनाभाव सिद्ध करनेमें गमक नहीं बन सकता, तथा हम लोग आगे गो शब्दमें शब्दत्वका निषेध भी करनेवाले है (क्योंकि हम मीमांसक गो आदि शब्दको अतीतादि कालोमें एक ही मानते है सो ऐसे गो शब्दमें शब्दत्व सामान्य रह नहीं सकता “न एक व्यक्ती सामान्यम्” एक गो शब्दरूप व्यक्ति में शब्दत्व सामान्यका रहना असंभव है, उसका कारण भी यह है कि सामान्य तो

न प्रतिज्ञार्थकदेशत्वम्, न, शब्दत्वस्यागमकत्वात्, गोशब्दत्वस्य च निषेत्स्यमानत्वेनासिद्ध-
त्वात् । उक्तं च—

“सामान्यविषयत्व हि पदस्य स्थापयिष्यते ।
धर्मी धर्मविशिष्टश्च लिङ्गीत्येतच्च साधितम् ॥
न तावदनुमानं हि यावत्तद्विषयं न तत् ।”

[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ५५-५६]

“अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन पक्षं कस्मान्न कल्प्यते ॥
प्रतिज्ञार्थकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते ।”

[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ६२-६३]

व्यापक एव एक होता है वह अकेले एक गो शब्दमे किसप्रकार रह सकता है ?
अर्थात् नही ।)

मीमांसा श्लोकवार्तिकमे कहा है कि गौ आदि पदका सामान्य विषयत्व
होता है ऐसा हम स्थापित करनेवाले ही है तथा इसबातको तो प्रथम ही सिद्ध कर
दिया है कि धर्मी और धर्म विशिष्ट को विषय करनेवाला अनुमान हुआ करता है, सो
गो आदि शब्दसे होनेवाला ज्ञान, और धर्मी एव धर्म विशिष्ट निमित्तसे होनेवाला ज्ञान
ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? अतः बौद्धका यह कहना कि शब्दजन्यज्ञान
अनुमानमें अन्तर्भूत होता है सो गलत है । शब्दजन्य ज्ञानको अनुमान प्रमाण तब
तक नहीं कह सकते कि जबतक उसका विषय जो धर्मी और धर्म विशिष्ट है उसको
ग्रहण न किया जाय । यदि कोई शका करे कि “शब्द अर्थवान् होता है क्योंकि वह
शब्द रूप है” इत्यादि अनुमान द्वारा शब्द और अर्थका अविनाभाव सिद्ध करके फिर
उस शब्दजन्य ज्ञानको अनुमानमे अन्तर्भूत किया जाय तो इस पक्षमे क्या बाधा है ?
सो इस शकाका यह समाधान है कि उपर्युक्त अनुमानमे दिया गया शब्दरूप हेतु
प्रतिज्ञाका एक देश होनेसे असिद्ध है । यदि शब्दको हेतु न बनाकर शब्दत्वको बनावे
तो वह हेतु भी साध्यका गमक नहीं हो पाता, क्योंकि गौ आदि शब्दभूत व्यक्तिमे
शब्दत्व सामान्य रहनेका निषेध है ऐमा हम आगे निश्चित करनेवाले हैं । गोशब्द मे
शब्दत्व सामान्यका निषेध करनेका कारण भी यह है कि गो शब्दभूत विशेष्य मात्र एक
व्यक्ति रूप है उसमे शब्दत्व सामान्य रूप विशेषण रहता है तो उसको भी एक रूप
होनेका प्रसंग आता है ।

“शब्दत्व गमक नात्र गोशब्दत्व निषेत्स्यते ॥

व्यक्तिरेव विशेष्यातो हेतुश्चैका प्रसज्यते ॥”

[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ६४]

न चार्थान्वयोस्यास्ति व्यापारेण हि सद्भावेन सत्तयेति यावत् । विद्यमानस्य ह्यन्वेतृत्व, नाविद्यमानस्य । ‘यत्र हि धूमस्तत्रावश्य वह्निरस्ति’ इत्यस्तित्वेन प्रसिद्धोऽन्वेता भवति धूमस्य । न त्वेव शब्दस्यार्थान्वयोस्ति, न हि तत्र शब्दाक्रान्ते देशेऽर्थस्य सद्भावः । न खलु यत्र पिण्डखजूरादि-शब्दः श्रूयते तत्र पिण्डखजूराद्यर्थोऽप्यस्ति । नापि शब्दकालेऽर्थोऽवश्य सम्भवति; रावणशङ्खचक्रवर्त्या-

भावार्थ—शब्दजन्य ज्ञानको आगम प्रमाण न मानकर अनुमानप्रमाण मानना चाहिये ऐसा बौद्धका कहना है इसपर जैनाचार्य बौद्धको समझा रहे थे कि बीचमे ही मीमांसक बौद्धके मतव्यका निरसन करते हुए कहते है कि शब्दजन्य ज्ञानको अनुमान किसप्रकार मान सकते है ? क्योकि अनुमानमे प्रतिज्ञा और हेतु रूप ज्ञान होता है, इसपर बौद्धने अनुमान उपस्थित किया कि “शब्द अर्थवाला होता है क्योकि वह शब्द रूप है” इसतरह शब्द और अर्थका अविनाभाव होनेसे शब्दको सुनकर जो भी ज्ञान होता है वह अनुमान प्रमाणरूप ही होता है अर्थात् गो शब्द सुना तो यह गो शब्द सास्वादिमान अर्थका प्रतिपादक है इत्यादि अनुमानरूप ही ज्ञान होता है । मीमांसक ने कहा कि उपर्युक्त अनुमान वाक्य सदोष है, देखिये “शब्द अर्थवाला होता है” यह तो प्रतिज्ञावाक्य है और क्योकि वह शब्दरूप है यह हेतु वाक्य है सो शब्द ही तो प्रतिज्ञाका वाक्याश है और उसीको फिर हेतु भी बनाया; सो यह प्रतिज्ञाका एक देश नामा हेत्वाभास [सदोष हेतु] है । यदि शब्दको हेतु न बनाकर शब्दत्वको बनाया जाय तो भी गलत होता है क्योकि शब्द तो गो आदि विशेषरूप है और शब्दत्व सामान्य सर्वत्र व्यापक एक है ऐसा व्यापक सामान्य एक व्यक्तिमे अविनाभावसे रहना और उसका गमक होना असंभव है ।

दूसरी बात यह है “शब्द अर्थवान होता है” इस प्रतिज्ञा वाक्यमें बाधा आती है क्योकि शब्दके व्यापार के साथ अर्थका अन्वय नही है कि जहां शब्दका उच्चारण-रूप व्यापार हुआ वहां अर्थ अवश्य ही हो, शब्दका जहां सद्भाव या सत्ता हो वहां अर्थ भी जरूर हो ऐसा नियम नही है । तथा जो अन्वेतृत्व होता है वह विद्यमानका होता है अविद्यमानका तो होता नही, प्रसिद्ध बात है कि “जहा धूम है वहां अवश्य ही अग्नि है” इसप्रकार अस्तित्वपनेसे प्रसिद्ध अग्नि धूम की अन्वेता होती है, इसप्रकार का

दिशब्दा हि वर्त्तमानास्तदर्थस्तु भूतो भविष्यश्च, इति कुतोऽर्थे शब्दस्यान्वेतृत्वम् ? नित्यविभुत्वाभ्याम् तत्त्वे चातिप्रसङ्गः । तदुक्तम्—

“अन्वयो न च शब्दस्य प्रमेयेण निरूप्यते ।
 व्यापारेण हि सर्वेषामन्वेतृत्व प्रतीयते ॥ १ ॥
 यत्र धूमोस्ति तत्राग्निरस्तित्वेनान्वय स्फुट ।
 न त्वेव यत्र शब्दोस्ति तत्रार्थोस्तीति निश्चय ॥ २ ॥
 न तावद्यत्र देशेऽसौ न तत्काले च गम्यते ।
 भवेन्नित्यविभुत्वाच्चेत्सर्वार्थेष्वपि तत्समम् ॥ ३ ॥
 तेन सर्वत्र दृष्टत्वाद्घटिरेकस्य चागतेः ।
 सर्वशब्दैरशेषार्थप्रतिपत्ति प्रसज्यते ॥ ४ ॥”

[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ८५-८८]

अन्वेतृत्व शब्द और अर्थमे सभव नहीं, इसका भी कारण यह है कि शब्दसे आक्रात जो देश है उस देशमे (कानमे या मुखमे) अर्थका सद्भाव तो है नहीं, देखिये जिम स्थान पर पिंडखजूर आदि शब्द सुनायी दे रहा है उस स्थान पर पिंडखजूर नामा पदार्थ तो मौजूद है नहीं [कर्ण प्रदेशमे खजूर तो मौजूद नहीं] तथा शब्दके कालमे अर्थका होना भी जरूरी नहीं, रावण शख चक्री आदि शब्द तो अभी वर्त्तमानमें मौजूद हैं किन्तु उनके अर्थ तो भूत और भावी रूप है ? फिर किसप्रकार अर्थोंके साथ शब्दका अन्वेतापन माना जा सकता है ? तथा हम मीमांसक शब्दको नित्य और व्यापक मानते हैं सो यदि शब्दका अर्थके साथ अन्वय है तो हर किसी गो आदि शब्दसे अश्व आदि अर्थकी प्रतीति होनेका अति प्रसंग आता है ? क्योंकि शब्द व्यापक होनेसे अश्व आदि सभी पदार्थोंमें अन्वित है । इस विषय को हमारे मान्य ग्रन्थमें भी कहा है—

शब्दका प्रमेयार्थके साथ अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमेयार्थोंका अन्वय तो उनके व्यापार अर्थात् सद्भावसे निश्चित होता है ॥१॥ जैसे कि जहा जहा धूम होता है वहा वहा अग्नि होती है इसप्रकारका अन्वय अग्निके सद्भावसे ही तो जाना जाता है, ऐसा शब्द और अर्थमे घटित नहीं होता कि जहा जहा विवक्षित शब्द है वहा वहा अर्थ अवश्य है ॥२॥ शब्द और अर्थका देशान्वय या कालान्वय अर्थात् जिस जिस स्थान पर शब्द है उस उस स्थान पर अर्थ है, जिस जिस कालमे शब्द है उस

अन्वयाभावे च व्यतिरेकस्याप्यभाव —

“अन्वयेन विना तस्माद्व्यतिरेकः कथं भवेत् ।” []

इत्यभिधानात् । ततः शब्द प्रमाणान्तरमेव ।

उस कालमें अर्थ अवश्य है ऐसा अन्वय सिद्ध नहीं होता, तथा शब्द नित्य एव व्यापक है वह तो सब पदार्थोंमें समान रूपसे अन्वित है अतः सर्वत्र होनेके कारण व्यतिरेक व्याप्ति घटित नहीं हो सकती अर्थात् जहाँ जहाँ अर्थ नहीं होता वहाँ वहाँ शब्द भी नहीं होता ऐसा व्यतिरेक शब्दके सर्वत्र व्यापक रहनेके कारण बन नहीं सकता । सभी शब्दों द्वारा सभी अर्थोंकी प्रतिपत्ति हो जानेका अतिप्रसंग भी आता है, क्योंकि व्यापक होनेकी वजह से सभी शब्द सब अर्थोंमें मौजूद है ॥३॥४॥ यह भी नियम है कि जिसमें अन्वय घटित नहीं होता उसमें व्यतिरेक भी घटित नहीं होता है “अन्वयेन विना व्यतिरेकः कथं भवेत्” ऐसा आगम वाक्य है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शब्द जन्य ज्ञान अनुमान में अन्तर्लीन नहीं हो सकता वह तो आगम प्रमाण रूप पृथक् ही सिद्ध होता है ।

* आगमविचार समाप्त *



आगमप्रमाण का पृथक्पना और उसका सारांश

बौद्ध—आगम प्रमाणको अनुमान में शामिल कर देना चाहिये जैसे अनुमान परोक्ष अर्थ से सबद्ध होकर उसे ग्रहण करता है वैसे ही आगम भी परोक्ष विषय से सबद्ध होकर ही ग्रहण करता है, अतः आगम और अनुमान एक ही है ।

मीमांसक—यह बौद्धका कहना बुद्धिका द्योतक नहीं है ऐसा कहो तो प्रत्यक्ष भी अनुमानमें शामिल हो जायगा, क्योंकि वह भी विषय से सबद्ध होकर जानता है, आपने अनुमान में आगम को कैसे शामिल किया है ? क्योंकि अनुमान की तरह आगम त्रिरूप हेतुजन्य नहीं होता है, तथा उसका विषय भी अनुमेय नहीं होता । “शब्द

अर्थवाला है शब्दरूप होने से" यह अनुमान भी शब्दमें अनुमानरूपता सिद्ध नहीं करता, क्योंकि अर्थका शब्द के साथ अन्वय तथा व्यतिरेक घटित नहीं होता है, अर्थात् जहां जहां अर्थ है वहां वहां शब्द है और जहां जहां अर्थ नहीं वहां वहां शब्द नहीं, ऐसा अन्वय व्यतिरेक नहीं पाया जाता, अत आगम एक पृथक् प्रमाण ही सिद्ध होता है, तथा मीमांसक आदिके यहां शब्दको नित्यव्यापी माना है इसलिये भी शब्द और अर्थका अन्वय आदि संबन्ध नहीं बन पाता है, इस प्रकार बौद्ध के दो ही प्रमाण मानने का आग्रह खडित हो जाता है। यहां पर जैन ने चुप रहकर ही बौद्धके मन्तव्यका मीमांसक द्वारा निरसन करवाया है।

*** आगमप्रमाण का पृथक्पना और उसका सारांश समाप्त ***



उपमानविचारः



उपमान च । अस्य हि लक्षणम्—

“दृश्यमानाद्यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते ।

सादृश्योपाधितस्तज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृतम् ॥ १ ॥” []

येन हि प्रतिपत्त्रा गौरूपलब्धो न गवयो, न चातिदेशवाक्य ‘गौरिव गवयः’ इति श्रुत तस्या-
रण्ये पर्यटतो गवयदर्शने प्रथमे उपजाते परोक्षे गवि सादृश्यज्ञान यदुत्पद्यते ‘अनेन सदृशो गौः’ इति,
तस्य विषयः सादृश्यविशिष्टः परोक्षो गीस्तद्विशिष्टं वा सादृश्यम्, तच्च वस्तुभूतमेव । यदाह—

“सादृश्यस्य च वस्तुत्व न शक्यमपवाधितुम् ।

भूयोवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य तत् ॥”

[मी० श्लो० उपमानपरि० श्लो० १८] इति

मीमांसकमत मे उपमानप्रमाण माना है । वह भी बौद्ध की प्रमाण संख्याका
व्याघात करता है, उपमानप्रमाण का लक्षण इसप्रकार कहा गया है—दिखाई दे रहे गवय
आदि पदार्थ से अन्य पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह उपमानप्रमाण है । यह सादृश्यरूप
उपाधि के कारण होता है । इस प्रकार उपमान को जाननेवालों ने उपमान प्रमाणका
लक्षण किया है ॥ १ ॥ अब इसी उपमानका विवेचन किया जाता है । जिस पुरुष
ने गाय को ही देखा है, गवय (रोझ) को नहीं देखा है, तथा—“गोसदृशो गवयः”
ऐसा अतिदेश वाक्य भी नहीं सुना, (अन्यवस्तु के प्रसिद्ध धर्मका अन्य वस्तु में आरोप
करना अति देश कहलाता है) ऐसे उस पुरुषको वन में घूमते समय जब रोझ दिखाई
पडता है तो उसे पहिले देखी हुई परोक्ष गाय की स्मृति आई और स्मृति आनेपर उसे
ज्ञान उत्पन्न होता है कि “अनेन सदृश गौ” इसके समान गाय है सो इस प्रकार के
उपमानप्रमाण का विषय गवय के सादृश्य से विशिष्ट परोक्ष गाय है, अथवा गाय से
विशिष्ट सादृश्य है । यह सादृश्य वास्तविक है, काल्पनिक नहीं है । कहा भी है—कि
सादृश्य की वास्तविकता का निराकरण नहीं कर सकते है बहुत से अवयवों की
समानता का योग जो जात्यन्तर रोझ पदार्थ में होता है अर्थात् गाय जाति से अन्य
जो रोझ है या रोझ से अन्य जात्यन्तर जो गाय है इनमे बहुत से शारीरिक अवयवों

अस्य चानधिगतार्थाधिगन्तुतया प्रामाण्यम् । गवयविषयेण हि प्रत्यक्षेण गवयो विषयीकृतो, न त्वसन्निहितोपि सादृश्यविशिष्टो गौस्तद्विशिष्टं वा सादृश्यम् । यच्च पूर्वं 'गौ' इति प्रत्यक्षमभूत्-स्यापि गवयोत्यन्तमप्रत्यक्ष एव । इति कथं गवि तदपेक्ष तत्सादृश्यज्ञानम् ? उक्तं च—

“तस्माच्चत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम् ।

प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥ १ ॥

प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते ।

विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणात्ता ॥ १ ॥

की समानता रहती है, ऐसी वह समानता ही - इस उपमान प्रमाण का विषय है ॥ १ ॥

यह उपमान प्रमाण पूर्व में नहीं जाने गये समानतारूप अर्थको जाननेवाला है, अतः प्रमाणभूत है । इस उपमान प्रमाणका विषय किस प्रकार अपूर्व है सो समझाया जाता है—रोझ को विषय करनेवाला जो प्रत्यक्ष है उसने केवल रोझ को ही जाना है, दूरवर्ती सादृश्ययुक्त गायको नहीं, अथवा गाय में जो सादृश्य है उस सादृश्यको उस प्रत्यक्ष ने विषय नहीं किया है तथा उसने अपने नगर में जो गाय देखीं हुई थी उस समय उसे रोझ भी अत्यन्त परोक्ष था, अतः गाय में या रोझ में रोझ की या गायकी अपेक्षा लेकर रोझ के समान गाय है या गाय के समान रोझ है ऐसा सादृश्यज्ञान प्रत्यक्षद्वारा कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता, कहा भी है कि—रोझ के देखने पर जो गाय का स्मरण होता है वह सादृश्य से विशेषित होकर ही उपमान प्रमाण का विषय होता है, अथवा गौ का या रोझका जो सादृश्य है वह इस प्रमाण का विषय होता है ॥ १ ॥

प्रत्यक्ष से रोझ को जान लेने पर भी और गाय के स्मरण हो जाने पर भी गवय के समान गाय होती है ऐसा जो विशिष्ट सादृश्य ज्ञान होता है वह प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय नहीं है, किन्तु यह उपमान प्रमाण का ही विषय है, इस तरह यह उपमान ज्ञान अपूर्वार्थ का ग्राहक होने से प्रमाणभूत है ॥ २ ॥

जिस प्रकार पर्वतादिस्थानके विषयभूत हो जाने पर (प्रत्यक्ष से जाने जाने पर) तथा अग्नि के स्मरण होने पर भी अनुमान विशिष्ट विषयवाला होने के कारण अप्रमाण नहीं माना जाता है उसी प्रकार यहाँ पर भी मानना चाहिये, मतलब—अनु-

प्रत्यक्षैपि यथा देशे स्मर्यमाणे च पावके ।

विशिष्टविषयत्वेन नानुमानाप्रमाणात् ॥ ३ ॥”

[मी० श्लो० उपमानपरि० श्लो० ३७-३९] इति ।

न चेद प्रत्यक्षम्, परोक्षविषयत्वात्सविकल्पकत्वाच्च । नाप्यनुमानम्; हेत्वभावात् । तथा हि-गोगतम्, गवयगत वा सादृश्यमत्र हेतुः स्यात् ? तत्र न गोगतम्; तस्य पक्षधर्मत्वेनाग्रहणात् । यदा हि सादृश्यमात्रं धर्मि, 'स्मर्यमाणेन गवा विशिष्टम्' इति साध्यम्, यदा च तादृशो गौ.; तदा न तद्धर्मतया ग्रहणमस्ति । अत एव न गवयगतम् । गोगतसादृश्यस्य गोर्वा हेतुत्वे प्रतिज्ञार्थकदेशत्व-

मान का विषय धूम और अग्नि है, वह यद्यपि प्रत्यक्ष स्मरणादि से जाना हुआ रहता है फिर भी विशिष्टविषय का ग्राहक होने से उसमें प्रामाण्य माना जाता है; वैसे ही उपमान में गाय का स्मरण और रोभ का प्रत्यक्ष होने पर भी सादृश्य रूप विशिष्ट ज्ञान को उत्पन्न करानेवाला होने से प्रमाणात्ता है ॥ ३ ॥

यह उपमान प्रमाण प्रत्यक्षरूप नहीं है, क्योंकि वह परोक्षविषयवाला है और सविकल्पक है । तथा—यह उपमानप्रमाण अनुमानरूप भी नहीं है, क्योंकि इस ज्ञान में हेतु का अभाव है, यदि कहा जाये कि हेतु है तो वह कौनसा है ? क्या गाय में होने वाला सादृश्य हेतु है या रोभ में होनेवाला सादृश्य हेतु है ? गाय में रहनेवाला सादृश्य हेतु बन नहीं सकता, क्योंकि वह पक्षधर्मरूप ग्रहण करने में नहीं आया है । कैसे—सो बताते हैं—

जब सादृश्य सामान्यको पक्ष और स्मरणमें आयी हुई गायके समान है ऐसा साध्य बनाया जाता है (अथवा उस गायके समान यह गवय है ऐसा पक्ष बनाया जाता है [गवय समान. गौ.] उस समय यह सादृश्य पक्षका धर्म है इसरूपसे ग्रहण नहीं होता है, अर्थात् जैसे धूम अग्निका धर्म होता है ऐसा हमें पहलेसे ही मालूम रहता है अतः पर्वतपर अग्निको सिद्ध करते समय धूमको हेतु बनाया जाता है, किन्तु “गायके समान गवय है क्योंकि गायमें होनेवाले अवयवोंके सदृश है” ऐसे अनुमान प्रयोगसे गवयको गायके सदृश सिद्ध करते समय “गोगत सदृशत्वात्” ऐसा हेतु नहीं बना सकते क्योंकि गो और गवयकी समानता होती है ऐसा हमें पहलेसे निश्चित रूपसे मालूम नहीं रहता है । जैसे गोगत सादृश्य पक्षधर्म रूपसे निश्चित नहीं है, वैसे गवयगत सादृश्य भी पक्षधर्मरूपसे निश्चित नहीं है अतः

प्रसङ्गश्च । न च सादृश्यमत्र प्राक्प्रमेयेण प्रतिबद्धं प्रतिपन्नम् । न चान्वयप्रतिपत्तिमन्तरेण हेतोः साध्यप्रतिपादकत्वमुपलब्धम् । ततो गवार्थदर्शने गवय पश्यतः सादृश्येन विशिष्टे गवि पक्षधर्मत्वग्रहण सम्बन्धानुस्मरण चान्तरेण प्रतिपत्तिरूपद्यमाना नानुमानेऽन्तर्भवतीति प्रमाणान्तरमुपमानम् । उक्तं च-

“न चेतस्यानुमानत्वं पक्षधर्माद्यसम्भवात् ।

प्राक्प्रमेयस्य सादृश्य धर्मित्वेन नं गृह्यते ॥ १ ॥

गवये गृह्यमाणं च न गवार्थानुमापकम् ।

प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद्गोगतस्य न लिङ्गता ॥ २ ॥

गवयगत सादृश्यको भी हेतु नहीं बना सकते । गाय गवय के समान होती है ऐसा सिद्ध करनेके लिए गायमे होनेवाली सदृशताको ही हेतु बनाया जाय [गौ गवयेन सदृश गोगत सदृशत्वात्] तो प्रतिज्ञाका एक देश रूप सदोष हेतु होनेका प्रसंग आता है । तथा यह गोगत सादृश्य पहलेसे अविनाभावरूपसे जाना हुआ भी नहीं है । हेतुके अविनाभावका निश्चय हुए विना सपक्षमे अन्वय की प्रतिपत्ति भी नहीं होती और अन्वय की प्रतिपत्ति (जानकारी) के विना हेतु साध्यका गमक होता हुआ कही देखने में नहीं आता है । इस प्रकार सादृश्य सामान्यादि में पक्ष धर्मत्वादि सिद्ध नहीं होते, अतः जिसने गायको देखा है ऐसे पुरुषके गवयको वर्त्तमान में देखते हुए सादृश्यसे विशिष्ट गाय है ऐसा पक्षधर्मग्रहण और सबधका स्मरण हुए विना ही “यह गवय गाय के समान है” ऐसा ज्ञान होता है इसलिये इस ज्ञानको अनुमानमें अन्तर्भूत नहीं कर सकते, इस प्रकार उपमा प्रमाण पृथक् रूपसे सिद्ध होता है । कहा भी है—

पक्षधर्मत्व आदि का असम्भव होनेसे इस उपमा प्रमाणको अनुमानप्रमाणमें अन्तर्हित नहीं कर सकते, प्रमेयके (गोगत या गवयगतके) सादृश्यको पहले धर्मिपनेसे ग्रहण नहीं किया है [अतः अन्वय भी नहीं होता] ॥१॥ गवयमें ग्रहण किया हुआ सादृश्य गौका अनुमापक नहीं होता क्योंकि “यह सादृश्य इस पक्षका धर्म है” ऐसा पक्षधर्मपनेसे निश्चित नहीं है और यदि गोगत सादृश्यसे गायकी गवयके साथ समानता सिद्ध करना करे अर्थात् “गोगत सदृशता के कारण गौ गवयके समान है” इस तरह का अनुमान वाक्य कहे तो प्रतिज्ञाका एक रूप सदोष हेतु वाला अनुमान कहलायेगा, अतः गोगत सादृश्यको हेतु बनाना अशक्य है ॥२॥ गवयगत सादृश्य गौ के साथ सबद्ध नहीं होनेसे वह भी गायका हेतु नहीं बनता । सभी पुरुषोंने इस सादृश्य को देखा

गवयश्चाप्यसम्बन्धात् गोलिङ्गत्वभृच्छति ।
 सादृश्यं न च सर्वेण पूर्वं दृष्टं तदन्वयि ॥ ३ ॥
 एकस्मिन्नपि दृष्टे र्थे द्वितीयं पश्यतो वने ।
 सादृश्येन सहैवास्मिस्तदैवोत्पद्यते मतिः ॥ ४ ॥”

[मी० श्लो० उपमानपरि० श्लो० ४३-४६] इति ।

भी नहीं अतः इसका साध्य साधन रूपसे अन्वय निश्चय होना अशक्य है ॥३॥ अतः
 ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि एक गो आदि पदार्थको देखनेके बाद दूसरे गवयादि
 पदार्थको वनमें देखनेपर “यह उसके समान है” इसप्रकारका सादृश्यका जो ज्ञान होता
 है वह उपमा प्रमाण है, न कि अनुमान प्रमाण है, क्योंकि अनुमानप्रमाण माननेमें
 उपर्युक्त रीतिसे बाधा आती है ॥४॥ इसप्रकार अनुमानादिसे पृथक् ऐसा उपमाप्रमाण
 मीमांसक मतमें दृष्ट माना जाता है ।

* उपमाप्रमाण समाप्त *



अर्थापत्तिविचारः

तथार्थापत्तिरपि-प्रमाणान्तरम् । तल्लक्षणं हि—“अर्थापत्तिरपि-दृष्टं श्रुतो वार्थोन्यथा नोप-
पद्यते इत्यदृष्टार्थकल्पना” । [शाबरुमा० १।१।५] कुमारिलोप्येतदेव भाष्यकारवचो व्याचष्टे ।

“प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोऽनन्यथा भवन् ।

अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता ॥”

[मी० श्लो० अर्था० परि० श्लो० १]

अब यहाँ पर अर्थापत्तिप्रमाण भी स्वतंत्र प्रमाण है ऐसा मीमांसकादिके मतानुसार विचार किया जाता है । जैसे आगम और उपमाप्रमाण स्वतंत्र सिद्ध हुए हैं, वैसे ही अर्थापत्ति भी एक स्वतंत्र प्रमाण है, उसका भी अन्तर्भाव अनुमान में नहीं होता है । उसका लक्षण इस प्रकार से है—दृष्ट-प्रत्यक्षप्रमाण से जाना गया अथवा श्रुत आगमप्रमाण से जाना गया पदार्थ जिसके बिना संभव नहीं हो सके ऐसे उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना जिसके द्वारा की जाती है उसका नाम अर्थापत्ति है । कुमारिल नामक मीमांसक के ग्रन्थकार ने भी भाष्यकार के इस वचनको “प्रमाणषट्क” इत्यादि श्लोक द्वारा इस प्रकार से पुष्ट किया है कि छह प्रमाणोंके द्वारा जाना गया अर्थ जिसके बिना नहीं होता हुआ जिस अदृष्ट अर्थ की कल्पना कराता है ऐसी उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना का नाम अर्थापत्ति प्रमाण है । जैसे किसी व्यक्ति ने नदी का पूर देखा, वृष्टि होती हुई नहीं देखी, अब वह व्यक्ति नदी पूर को देखकर ऐसा विचार करता है कि ऊपर में बरसात हुए बिना नदी में बाढ़ आ नहीं सकती, अतः ऊपर में वृष्टि हुई है । इस प्रकार से अदृष्ट पदार्थ का निश्चय जिस ज्ञानके द्वारा होता है वह अर्थापत्ति नामका प्रमाण कहलाता है ॥ १ ॥ मतलब कहने का यह है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणोंके द्वारा जाना हुआ पदार्थ जिसके बिना नहीं बनता-सिद्ध नहीं होता उस पदार्थ की सिद्धि करना अर्थापत्ति का विषय है । इस अर्थापत्ति प्रमाण के अनेक भेद हैं—उनमें प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाली अर्थापत्ति इसप्रकार से है—जैसे किसी ने स्पर्शन प्रत्यक्ष से अग्निके दाह को जाना,

प्रत्यक्षादिभिः षड्भिः प्रमाणैः प्रसिद्धो योर्थः स येन विना नोपपद्यते तस्यार्थस्य कल्पनमर्थापत्तिः । तत्र प्रत्यक्षपूर्विकार्थापत्तिर्यथाग्ने प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नाद्वाहाद्देहनशक्तियोगोऽर्थापत्त्या प्रकल्प्यते । न हि शक्तिः प्रत्यक्षेण परिच्छेद्या; अतीन्द्रियत्वात् । नाप्यनुमानेन; अस्य प्रत्यक्षावगतप्रतिबन्धलिङ्गप्रभवत्वेनाभ्युपगमात्, अर्थापत्तिगोचरस्य चार्थस्य कदाचिदप्यध्यक्षागोचरत्वात् । अनुमानपूर्विका त्वर्थापत्तिर्यथा सूर्ये गमनात्तच्छक्तियोगिता । अत्र हि देशाद्देशान्तरप्राप्त्या सूर्ये गमनमनुमीयते तत्तस्तच्छक्तिसम्बन्ध इति । श्रुतार्थापत्तिर्यथा—‘पीनो देवदत्तो दिवा न भुक्त’ इति वाक्यश्रवणाद्वा-त्रिभोजनप्रतिपत्तिः । उपमानार्थापत्तिर्यथा—गवयोपमिताया गोस्तज्ज्ञानग्राह्यताशक्तिः । अर्थापत्तिपूर्विकाऽर्थापत्तिर्यथा—शब्देऽर्थापत्तिप्रबोधिताद्वाचकसामर्थ्यादिभिधानसिद्ध्यर्थं तन्नित्यत्वज्ञानम् । शब्दा

अब उस दाह के द्वारा अग्निमें परोक्षार्थ का—जलाने की शक्ति का निश्चय अर्थापत्ति कराती है कि अग्निमें दाहक शक्ति है ।

शक्ति प्रत्यक्ष से इसलिये जानने में नहीं आती है कि वह अतीन्द्रिय है । शक्ति को अनुमान से भी जान नहीं सकते, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष के द्वारा जिसका साध्यके साथ अविनाभाव सबध जान लिया गया है ऐसे हेतु से पैदा होता है ऐसा प्रत्यक्षद्वारा जाना हुआ अर्थ यहा नहीं है अर्थात् अर्थापत्ति का विषय कभी भी प्रत्यक्ष के गोचर नहीं होता है । दूसरी अर्थापत्ति अनुमान पूर्वक होती है, जैसे—सूर्यमे गमनरूप कार्य देखकर उसकी कारणभूत गमनशक्ति के योग का ज्ञान होना, इसका मतलब ऐसा है कि जैसे देश से देशान्तर प्राप्ति को देखकर किसीने इसी हेतु से—सूर्य में गतिमत्त्व का अनुमान से निश्चय किया कि “सूर्य गतिमान देशाद्देशान्तर प्राप्ते.” सूर्य में गतिमत्त्व है, क्योंकि वह एक देश से दूसरे देश में जाता है जैसे बाण आदि पदार्थ गमन शील होनेसे देशसे देशान्तर मे चले जाते है । ऐसा पहिले तो अनुमान के द्वारा सूर्यमें गमन सिद्ध किया, फिर देश से देशान्तर प्राप्ति के द्वारा गमनशक्ति का ज्ञान अर्थापत्ति से किया कि सूर्य गमनशक्ति से युक्त है क्योंकि गतिमत्त्व की अन्यथा अनुपपत्ति है । यह अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति का उदाहरण है । श्रुत से—आगम से होनेवाली अर्थापत्ति का उदाहरण जैसे—पुष्ट या मोटा देवदत्ता दिन में भोजन नहीं करता है ऐसा वाक्य किसी ने सुना और उससे उसके रात्रिभोजन का निश्चय किया कि—देवदत्ता रात्रिमे भोजन करता है, क्योंकि दिनमें भोजन तो करता नहीं फिर भी पुष्ट है । इस अर्थापत्ति के बल से देवदत्ताका रात्रिमे भोजन करना सिद्ध हो जाता है ।

उपमानार्थापत्ति इस प्रकार से है, यथा—रोऋरूप उपमानके ज्ञान द्वारा

दृश्यं प्रतीयते, ततो वाचकसामर्थ्यं, ततोपि तन्नित्यन्वमिति । अभावपूर्विकाऽर्थापत्तियंथा-प्रमाणाभाव-
प्रमितचैत्राभावविशेषिनाद्गेहाच्चैत्रवहिर्भावसिद्धिः, 'जीवश्चैत्रोऽन्यत्रास्ति गृहे अभावात्' इति । तदुक्तम्-

"तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञाताद्वाहाद्दहनशक्तता ।

वह्ने रनुमितात्सूर्ये यानात्तच्छक्तियोगिता ॥ १ ॥"

[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३]

"पीनो दिवा न भुंक्ते चेत्येवमादिवचश्रुती ।

रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥ २ ॥"

[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ५१]

ग्राह्यता शक्ति से युक्त गाय है क्योंकि वह उपमेय है, यदि वह ऐसी शक्ति से युक्त नहीं होती तो वह उपमेय भी नहीं होती । अर्थापत्तिपूर्वक होनेवाली अर्थापत्ति इस प्रकार से है जैसे शब्द में पहिले अर्थापत्ति से वाचक सामर्थ्य का निश्चय करना और फिर उससे उसमें नित्यत्व का ज्ञान करना, इसका भाव ऐसा है कि शब्द में वाचक शक्ति के बिना अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है अतः अर्थप्रतीति से शब्द में पहिले वाचक शक्तिका निश्चय अर्थापत्ति से होता है, और फिर इस अर्थापत्तिप्रबोधित सामर्थ्य से शब्द में नित्यत्व का निश्चय हो जाता है, इस तरह शब्द से अर्थकी प्रतीति उससे वाचक सामर्थ्य और वाचक सामर्थ्य से शब्द में नित्यत्व सिद्ध होता है । अभाव पूर्वक अर्थापत्ति इस प्रकार से है जैसे अभावप्रमाण के द्वारा किसी ने जीते हुए चैत्रका घरमें अभाव जाना अर्थात् जीता हुआ चैत्र घरमें नहीं है ऐसा किसी ने अभाव प्रमाण द्वारा जाना फिर अर्थापत्ति से यह सिद्ध किया कि वह बाहर है, इस प्रकार अर्थापत्ति से उसका बाहिर होना सिद्ध हो जाता है कि जीता हुआ चैत्र अन्य स्थान पर है क्योंकि घर में उसका अभाव है । इसी प्रकार की अर्थापत्ति का स्वरूप इन मीमांसक श्लोकवार्त्तिक के श्लोको द्वारा कहा गया है, प्रत्यक्ष से जानी हुई अग्निकी उष्णता से उसमें दहनशक्तिका निश्चय करना यह प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति का उदाहरण है । सूर्य में गमनक्रिया को अनुमान से जानकर उसमें गमनशक्तिका निश्चय करना यह अनुमान पूर्विका अर्थापत्ति का उदाहरण है ॥ १ ॥ पुष्ट देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता है इत्यादि वचन सुनकर उसमें उसके रात्रिभोजन करने का ज्ञान होना, यह आगम पूर्वक अर्थापत्तिका उदाहरण है ॥ २ ॥ रोक्ष से उपमित गाय का सादृश्य ज्ञान द्वारा ग्रहण करने योग्य शक्ति संपन्न होना यह उपमानपूर्वक अर्थापत्तिका उदाहरण है । शब्दमें

“गवयोपमिताया गोस्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तता ।
 अभिधानप्रसिद्धयर्थमर्थापत्यावबोधितात् ॥ १ ॥
 शब्दे वाचकसामर्थ्यात्तन्नित्यत्वप्रमेयता ।
 अभिधानान्यथाऽसिद्धेरिति वाचकशक्तता ॥ २ ॥
 अर्थापत्यावगम्यैव तदन्यत्वगतेः पुनः ।
 अर्थापत्यन्तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चयः ॥ ३ ॥
 दर्शनस्य परार्थत्वादित्यस्मिन्नभिधास्यते ।
 प्रमाणाभावनिर्णीतचैत्राभावविशेषितात् ॥ ४ ॥
 गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिर्या त्विह दर्शिता ।
 तामभावोत्थितामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत् ॥ ५ ॥”

[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ४-६] इत्यादि ।

वाचकशक्ति को सिद्ध करनेके लिए अर्थापत्ति प्रमाण आता है उससे शब्दकी वाचक शक्तिको जानकर उसी वाचक शक्ति द्वारा वाचककी अन्यथानुपपत्तिसे शब्दमें नित्यपना सिद्ध किया यह अर्थापत्ति से होनेवाली अर्थापत्ति है । जिस अर्थापत्तिसे शब्दमे वाचक शक्तिको सिद्ध किया है उसी अर्थापत्तिसे शब्दमे नित्यपना भी सिद्ध हो जायगा । ऐसी कोई आशका करे तो वह ठीक नहीं, क्योंकि अभिधान [वाचक] की अन्यथाऽसिद्धि रूप अन्यथानुपपत्तिवाले अर्थापत्तिसे तो सिर्फ शब्दकी अभिधान शक्ति ही सिद्ध होती है, शब्दकी नित्यताको सिद्ध करनेके लिये तो अभिधान शक्ति [वाचक शक्ति] की अन्यथा सिद्धि रूप अन्यथानुपपत्ति आयेगी, अतः शब्दकी वाचक शक्ति तो अर्थापत्ति गम्य है और शब्दकी नित्यता अर्थापत्ति जन्य अर्थापत्तिगम्य है ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ १ ॥ ॥ २ ॥ इस विषयमे “दर्शनस्य परार्थत्वात्” इत्यादि सूत्रकी टीका करते समय आगे कहा जायगा । अभावप्रमाण द्वारा चैत्रका घरमे अभाव सिद्ध करके उस अभाव विशेषसे घरके बाहर चैत्रका सद्भाव सिद्ध करना अभावप्रमाणसे होनेवाली अर्थापत्ति है, इसप्रकार अभावप्रमाण जन्य अर्थापत्तिका उदाहरण समझना चाहिये, इस अभावप्रमाण पूर्विका अर्थापत्तिके अन्य भी उदाहरण हो सकते हैं उनको यथायोग्य लगा लेना चाहिये । इस तरह मीमांसकाभिमत अर्थापत्ति प्रमाण बौद्धकी प्रमाण सख्याका विघटन करता है ।

* अर्थापत्तिविचार समाप्त *

अभावविचारः

✽

तथाऽभावप्रमाणमपि प्रमाणान्तरम् । तद्धि निषेध्याधारवस्तुग्रहणादिसामग्रीतस्त्रिप्रकार-
मुत्पन्न सत् क्वचित्प्रदेशादी घटादीनामभाव विभावयति । उक्तं च—

“गृहीत्वा वस्तुसद्भाव स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।

मानस नास्तिताज्ञान जायतेऽक्षानपेक्षया ॥

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७]

“प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते ।

सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञान वान्यवस्तुनि ॥”

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११]

मीमांसक मतमें अभाव प्रमाण भी एक पृथक् प्रमाण माना है, अब उसका कथन प्रारंभ होता है—अभाव प्रमाण निषेध करने योग्य घट आदि पदार्थ के आधार-भूत वस्तुको ग्रहण करने आदि रूप सामग्री से तीन प्रकारका उत्पन्न होता है और वह किसी विशिष्ट स्थान पर घट आदि पदार्थोंका अभाव प्रदर्शित करता है । कहा भी है—पहले वस्तुके सद्भावको जानकर एव प्रतियोगीका (घटादिका) स्मरण कर बाह्य इन्द्रियोंके अपेक्षाके विना नास्तिका [नही का] जो ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण कहलाता है ॥१॥ वह तीन प्रकारका है प्रमाणाभाव, आत्माका ज्ञानरूप अपरिणाम, और तदन्यज्ञान, प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणोंका नही होना प्रमाणाभाव नामा अभाव प्रमाण कहलाता है, आत्माका ज्ञानरूप परिणमन नही होना दूसरा अभाव प्रमाण है, अन्यवस्तुमे ज्ञानका होना तीसरा अभाव प्रमाण है ॥२॥ जिस वस्तुरूपमे पांचो प्रमाण वस्तु की सत्ताका अवबोध करानेमे प्रवृत्त नही होते उसमे अभाव प्रमाण प्रवृत्त होता है, इस तरह यह अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति बतलायी गयी है ॥३॥ वस्तुका अभाव प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नही हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्षका अभाव रूप विषयके साथ विरोध है, इन्द्रियोंका सबध तो भावाश वस्तुके साथ होता है न अभावाशके साथ । कहा भी है—“नही है” इस प्रकारका नास्तिताका ज्ञान इन्द्रियद्वारा उत्पन्न कराना अशक्य है, क्योंकि इन्द्रियोंकी योग्यता मात्र भावाशके साथ सबद्ध होनेकी है ॥१॥

“प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणाता ॥”

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० १] इति ।

न चाध्यक्षेणाभावोऽवसीयते; तस्याभावविषयत्वविरोधात्, भावाशेनैवेन्द्रियाणा सम्बन्धात् ।
तदुक्तम्—

“न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।

भावाशेनैव सम्बन्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥”

[मी० श्लो० अभाव० १८] इति ।

नाप्यनुमानेनासौ साध्यते; हेतोरभावात् । न च विषयभूतस्याभावस्याभावादभावप्रमाणवै-
यर्थ्यम्; कारणादिविभागतो व्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसङ्गात् । उक्तं च—

“न च स्याद्व्यवहारोय कारणादिविभागत ।

प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि भिद्यते ॥ १ ॥”

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ७]

अभावाश अनुमानद्वारा भी ग्रहण नहीं होता क्योंकि अनुमानमें हेतुकी अपेक्षा रहती है सो यहा है नहीं । [अभाव रूप वस्तुका किसीके साथ अविनाभाव तो हो नहीं सकता अत हेतु और प्रतिज्ञारूप अनुमान प्रमाण द्वारा अभावका ग्रहण होना अशक्य है] यहा कोई कहे कि अभावप्रमाणका विषय तो अभाव रूप है अत विषयका अभाव होनेसे अभाव प्रमाणको मानना व्यर्थ है ? सो बात नहीं है, इस तरह मानेगे तो कारण आदिके विभागसे होनेवाला लोक प्रसिद्ध व्यवहार समाप्त होनेका प्रसंग आता है, कहा भी है कि कारणादि विभागसे होनेवाले प्रागभाव प्रध्वंसाभाव आदि अभावके भेदो द्वारा अभावमें भेद होना स्वीकार न किया जाय तो यह अभावभेदका प्रसिद्ध व्यवहार नष्ट हो जाता है ॥१॥ यदि अभाव नामा कोई विषय नहीं होता तो प्रागभाव आदि अभावोके भेद नहीं बन सकते थे इसप्रकारकी अन्यथानुपपत्ति द्वारा भी अभाव की वस्तुरूपता सिद्ध होती है । इसी बातको हमारे ग्रन्थमे कहा है कि—प्रागभाव आदि भेद अवस्तुके तो हो नहीं सकते अतः अभावको वस्तुरूप मानना चाहिये, यदि अभाव प्रमाण के विषयभूत अभावको वस्तुरूप नहीं मानते तो कारण आदिके द्वारा होनेवाला कार्योका जो अभाव है वह कौनसाभाव है सो बताइये ? ॥१॥ अभावकी वास्तविकता

नास्तित्ता पयसो दध्नि प्रध्वसाभावलक्षणम् ।
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते ॥ २ ॥
शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिता ।
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ॥ ३ ॥

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० २-४]

यदि चैतेषा व्यवस्थापकमभावाख्य प्रमाण न स्यात्तदा प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थाविलोपः
स्यात् । तदुक्तम्—

“क्षीरे दधि भवेदेव दध्नि क्षीर घटे पटः ।
शशे शृङ्ग पृथिव्यादौ चैतन्य मूर्तितात्मनि ॥
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायी रूपेण ती सह ।
व्योम्नि सस्पर्शता ते च न चेदस्य प्रमाणाता ॥”

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ५-६] इति ।

जायगी, घटमे पटका अस्तित्व मानना पड़ेगा, खरगोशमे सीगका अस्तित्व, पृथ्वी आदि
मे चैतन्यका अस्तित्व, आत्मामे मूर्त्तत्वका अस्तित्व इत्यादि विपरीतताको मानना
पड़ेगा ॥१॥ जलमे गन्ध, अग्निमे रस, वायुमे रूप रस गंध, एव आकाशमें गंध, रस,
रूप और स्पर्श इन सबका सद्भाव मानना होगा ? ॥२॥

शंका—वस्तु निरंश है उस निरशवस्तुके स्वरूपको (अर्थात् सद्भावाशको)
ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उसका सर्वात्मपनेसे ग्रहण हो जाता है फिर अन्य
कोई अश तो उस वस्तुमे बचा नहीं कि जिसकी व्यवस्था करने के लिये अभाव नामका
प्रमाण आवे एव उसको प्रमाणभूत माने ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, वस्तु निरश न होकर सद असद रूप दो
अश वाली है, उसमे प्रत्यक्षादिसे सदशका ग्रहण होनेपर भी अन्य जो असदंश है वह
अग्रहीत ही रहता है उस असदशकी व्यवस्था करनेके लिये प्रवृत्त हुए अभाव प्रमाण
मे प्रामाण्यकी क्षति नहीं मानी जा सकती । कहा भी है—वस्तु हमेशा स्वरूपसे सत
और पररूपसे असत् हुआ करती है, इन सत् असत् रूपोमेसे कोई एक रूप किन्ही
प्रमाणों द्वारा जाना जाता है तथा कभी कोई एक दूसरा रूप अन्य प्रमाण द्वारा जाना
जाता है ॥१॥ जिसकी जहा पर जब उद्भूति होती है एवं पुरुषको जाननेकी इच्छा
होती है तदनुसार उसका उसीके द्वारा अनुभव किया जाता है [जाना जाता है] और

न च निरशत्वाद्द्वस्तुनस्तत्स्वरूपग्राहिणाध्यक्षैणास्य सर्वात्मना ग्रहणादगृहीतस्य चापरस्या-
दंशस्य तत्राभावात् कथं तद्व्यवस्थापनाय प्रवर्त्तमानमभावाख्य प्रमाणं प्रामाण्यमश्नुते ? इत्यभिघात-
व्यम्; यत् सदसदात्मके वस्तुनि प्रत्यक्षादिना तत्र सदशग्रहणेप्यगृहीतस्यासदंशस्य व्यवस्थापनाय
प्रमाणाभावस्य प्रवर्त्तमानस्य तत्र प्रामाण्यव्याहृतिः । उक्तं च—

“स्वरूपपररूपाभ्या नित्य सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चिद्रूप कश्चित्कदाचन ॥ १ ॥
यस्य यत्र यदोद्भूतिर्जिघृक्षा चोपजायते ।
वेद्यतेनुभवस्तस्य तेन च व्यपदिश्यते ॥ २ ॥
तस्योपकारकत्वेन वर्त्तितेऽशस्तदेतरः ।
उभयोरपि सवित्या उभयानुगमोस्ति तु ॥ ३ ॥”

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० १२-१४]

उस ज्ञानको उसीके नामसे पुकारा जाता है ॥२॥ जिस समय सद् असद् अशोमें से एक
का ग्रहण होता है उस समय अवशेष अश उसमे रहता ही है और उसका उपकारक
भी होता है, जब ज्ञानसे दोनो भी अश सविदित होते हैं तब दोनोका अनुगम होता है
॥ ३ ॥ जब भावाशको ग्रहण करना होता है तब सद्भाव ग्राहक प्रत्यक्षादि पाचो
प्रमाणोंका अवतार होता है, और उन्हीका व्यापार होता है क्योंकि उस समय अभा-
वांशकी अनुत्पत्ति है, तथा जब अभावाशको जाननेकी इच्छा होती है तब अभाव ग्राहक
प्रमाणका अवतार एव व्यापार होता है ॥ ४ ॥

यहापर कोई आशका करे कि धर्मीभूत; वस्तुसे भावाशके समान अभावाश
भी अभिन्न है अतः अभावाशका भी प्रत्यक्षद्वारा ग्रहण हो जाना चाहिये ? तो उसका
समाधान यह है कि भावाश और अभावाशका धर्मी एक होनेपर भी अर्थात् धर्मीसे
अभेद रहनेपर भी उन भावाश अभावाश धर्मीमे तो परस्परमें भेद ही रहा करता है,
जिस समय सद्भावग्राही प्रत्यक्षप्रमाण प्रवृत्त होता है उस समय अभावाशकी अनुद्भूति
रहती है, जैसे कि नेत्रकी किरणोमे रूप आदिकी अनुद्भूति रहा-करती है। अतः
अभावका भावरूप प्रमाणद्वारा जानना सिद्ध नहीं होता, अनुमान प्रयोगसे भी यही
निश्चित होता है कि जो जिसप्रकार का विषय होता है वह उसीप्रकारके प्रमाणद्वारा
जाना जाता है, जैसे रूपादि भावरूप वस्तुको भावरूप चक्षुरादि इन्द्रियद्वारा जाना

“प्रत्यक्षाद्यवतारश्च भावांशो गृह्यते यदा ।

व्यापारस्तदनुत्पत्तौर्भावांशे जिघृक्षिते ॥ ४ ॥”

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० १७]

न च धर्मिणोऽभिन्नत्वाद्भावाशेवदभावाशेऽप्यध्यक्षैणैव ग्रहः; सदसदशयोर्धर्म (र्म्यं) भेदेऽप्यन्योन्यं भेदान्नायनरश्मिरूपादिवदभावस्यानुद्भूतत्वात् । न चाभावस्य भावरूपेण प्रमाणेन परिच्छित्तिर्युक्ता । प्रयोग — यो यथाविधो विषय स तथाविधेनैव प्रमाणेन परिच्छिद्यते, यथा रूपादिभावो भावरूपेण चक्षुरादिना, विवादास्पदीभूतश्चाभावस्तस्मादभावः (दभावेन) परिच्छेद्यत इति ।
उक्तं च—

“न तु (ननु) भावादभिन्नत्वात्सम्प्रयोगोऽस्ति तेन च ।

न ह्यत्यन्तमभेदोऽस्ति रूपादिवदिहापि नः ॥ १ ॥

धर्मयोर्भेद इष्टो हि धर्म्यंभेदेऽपि न. स्थिते ।

उद्भवाभिभवात्मत्वाद्ग्रहणं चावतिष्ठते ॥ २ ॥

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० १६-२०]

जाता है । यहा अभाव विवादापन्न है अतः वह अभाव प्रमाण द्वारा ही जाना जाता है । कहा भी है कि—शकाकारकों कर्हना है कि सद् और असद् दोनो अश पदार्थ से अभिन्न होनेके कारण इन्द्रियके साथ दोनोंका सबध है ? [अतः इन्द्रियप्रत्यक्ष द्वारा दोनोका ग्रहण होता है] सो इसका समाधान करते है कि जैसे रूप और रसका अत्यत अभेद है वैसा सत् और असत् अशोंका अत्यन्त अभेद नही है [अतः सत् के ग्रहण करने पर भी असत् अगृहीत रहता है] ऐसा ही हमारे यहा माना है ॥ १ ॥ हम मीमांसकके यहां धर्मके अभिन्न होनेपर भी धर्ममे भेद मानना इष्ट समझा जाता है, इसी व्यवस्थाके कारण ही सत् और असत् अशोमे से एक की उत्पत्ति और दूसरेकी अनुत्पत्ति होना सिद्ध होता है एव प्रत्यक्षादि प्रमाणोद्वारा एकका ग्रहण और दूसरेका अग्रहण होना भी सिद्ध होता है ॥ २ ॥ यदि अभावको मेयरूप [प्रमाणद्वारा जानने योग्य] मानते है उसको जाननेवाला प्रमाण भी उसीतरहका अभावरूप मानना जरूरी है । जिसप्रकार सद्भावात्मक प्रमेयमे अभाव ज्ञानकी प्रामाणिकता नही रहती, उसीप्रकार अभावात्मक प्रमेयमें भाव ज्ञानकी प्रामाणिकता नही रहती [कहने का अभिप्राय यह है कि सत् रूप वस्तुके अशको जाननेमें अभावप्रमाण उपयोगी नही रहता इसीतरह असत् रूप वस्तुके अशको जाननेमे भावरूप प्रत्यक्षादिप्रमाण उपयोगी नही रहते है ।]

“भेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम् ।
 भावात्मके यथा भेये नाभावस्य प्रमाणाता ॥
 तथैवाभावमेयेपि न भावस्य प्रमाणाता ।”

[मी० श्लो० अभाव० ४५-४६] इति ।

ततःशाब्दादीना प्रमाणान्तरत्वप्रसिद्धेः कथं प्रत्यक्षानुमानभेदात्प्रमाणद्वैविध्यं परेषां व्यवतिष्ठेत् ?

इसप्रकार आगम प्रमाणसे लेकर अभाव प्रमाण तक अनेक प्रमाणोंकी सिद्धि होती है अतः बौद्धके प्रत्यक्ष और अनुमान के भेदसे दो प्रकारके प्रमाणोंकी सख्या किसप्रकार व्यवस्थापित की जा सकती है ? अर्थात् नहीं की जा सकती । यहा पर आगमादि तीन प्रमाणोके प्रकरणोमे जैनाचार्यने स्वयं तटस्थ रहकर मीमांसक द्वारा बौद्धके मतव्यका निरसन कराया है ।

* अभावविचार समाप्त *



अर्थापत्तेः अनुमानेऽन्तर्भावः



नन्वेवं प्रत्यक्षैतरभेदात्कथं भवतोपि प्रमाणद्वैविध्यव्यवस्था—तेषां प्रमाणान्तरत्वप्रसिद्धेर-
विशेषादिति चेत् ? तेषां 'परोक्षेऽन्तर्भावात्' इति ब्रूमः । तथाहि—यदेकलक्षणलक्षितं तद्व्यक्तिभेदेऽप्ये-
कमेव यथा वैशद्यं कलक्षणलक्षितं चक्षुरादिप्रत्यक्षम्, अवैशद्यं कलक्षणलक्षितं च शाब्दादीति । चक्षु-
रादिसामग्रीभेदेऽपि हि तज्ज्ञानानां वैशद्यं कलक्षणलक्षितत्वेनैवाभेदः प्रसिद्धः प्रत्यक्षरूपतानतिक्रमात्,
तद्वत् शब्दादिसामग्रीभेदेऽप्यवैशद्यं कलक्षणलक्षितत्वेनैवाभेदः शाब्दादीनाम् परोक्षरूपत्वाविशेषात् । ननु

जब बौद्ध के प्रमाणद्वैविध्य का निराकरण हो चुका तब किसीको ऐसी शका हुई कि आप जैन भी तो दो प्रमाण मानते हैं सो उनकी व्यवस्था आपके यहां कैसे होगी ? क्योंकि आगम आदि अन्य प्रमाण सिद्ध हो चुके हैं । इस कारण बौद्धके समान आपके द्वारा मान्य प्रमाण की द्वित्वसंख्या का भी विघटन हो जाता है ? सो इस शका का समाधान करते हैं—जैनो द्वारा मान्य प्रमाण की द्वित्वसंख्या का विघटन इसलिये नहीं होता है कि हमने उन आगम आदि प्रमाणोंका परोक्षप्रमाण में अन्तर्भाव किया है, देखिये—

जो एक लक्षण से लक्षित होता है वह व्यक्तिभेद के होनेपर भी एक ही रहता है जैसे वैशद्यरूप एक लक्षणसे लक्षित चक्षु आदि इन्द्रियोसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष अनेक प्रकारका होते हुए भी एक ही है । क्योंकि उन अनेकों में प्रत्यक्षपने का उल्लघन नहीं होता, ठीक इसी तरह से शब्द आदि सामग्री का भेद रहते हुए भी अवैशद्यरूप एक ही लक्षणसे लक्षित किये गये आगमादि में भी अभेद ही है । क्योंकि परोक्षपना तो उन आगम उपमानादि में समानरूप से ही देखा गया है ।

शंका—आप जैनने परोक्षके जो भेद किये हैं वे सिर्फ स्मृति आदि रूप हैं उनमें उपमान आदिका उल्लेख नहीं है । अतः वे तो इनसे भिन्न प्रमाण हैं ?

समाधान—यह कथन बिना सोचे किया है क्योंकि उपमानादिको हमने इन्हीं परोक्षभेदोंमें अन्तर्हित किया है । उपमानका प्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भाव होता है ऐसा हम

परोक्षस्य स्मृत्यादिभेदेन परिगणितत्वात् उपमानादीना प्रमाणान्तरत्वमेवेत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, तेषामत्रैवान्तर्भावात् । उपमानस्य हि प्रत्यभिज्ञानेन्तर्भावो वक्ष्यते ।

अर्थापत्तेस्त्वनुमानेऽन्तर्भाव , तथा हि—अर्थापत्त्युत्थापकोऽर्थोन्यथानुपपद्यमानत्वेनानवगतः, अवगतो वाऽदृष्टार्थपरिकल्पनानिमित्तः स्यात् ? न तावदनवगतः, अतिप्रसङ्गात् । येन हि विनोपपद्यमानत्वेनानवगतस्तर्मापि परिकल्पयेत्, येन विना नोपपद्यते तमपि वा न कल्पयेत्, अन्यथानुपपद्यमानत्वेनानवगतस्यार्थापत्त्युत्थापकार्थस्यान्यथानुपपद्यमानत्वे सत्यप्यदृष्टार्थपरिकल्पकत्वासम्भवात् । सम्भवे वा लिङ्गस्याप्यनिश्चिताविनाभावस्य परोक्षार्थानुमापकत्वः स्यात् । ततश्चेद नार्थापत्त्युत्थापकार्थादि

आगे कहनेवाले हैं । अर्थापत्ति का अनुमानप्रमाण में अन्तर्भाव हो जाता है सो अब इसी बातको हम सिद्ध करते हैं—

अर्थापत्ति को उत्पन्न करनेवाला जो पदार्थ है जैसे कि नदीपूर आदि-वह अन्यथा अनुपपद्यमानपने से अवगत होकर या अनवगत होकर अदृष्ट अर्थकी (ऊपर में वर्षाकी) कल्पना का निमित्त होता है ? यदि अर्थापत्ति का उत्थापक पदार्थ अनवगत होकर ही अदृष्टार्थ की कल्पना का निमित्त होता है तो अतिप्रसङ्ग नामका दोष होगा-देखो यदि अर्थापत्ति को उत्पन्न करनेवाला पदार्थ जो नदीपूर आदि है वह अन्यथानुपपत्तिरूपसे—बिना वृष्टिके नदीपूर नहीं आसकता है इसरूप से निश्चित नहीं हुआ है फिर भी अदृष्टार्थ की (बरसात की) कल्पना कराता है तो जिसके बिना वह उपपद्यमान से अवगत है उसकी भी कल्पना करा देगा, और जिसके बिना वह उपपद्यमान नहीं है उसकी भी कल्पना नहीं करायेगा । क्योंकि अन्यथानुपपद्यमानपने से अनवगत ऐसा अर्थापत्तिका उत्थापक जो वह जलपूरादिरूप पदार्थ है वह यद्यपि अन्यथानुपपद्यमान है [बिना वृष्टि के नहीं होता है] फिर भी उस अदृष्टार्थकी कल्पना असंभव ही रहेगी ।

अर्थापत्ति का उत्थापक पदार्थ अन्यथानुपपद्यमानत्वेन अनवगत होकर यदि अदृष्टार्थ की कल्पना का निमित्त बन जाता है तो एक और दूषण यह भी आवेगा कि हेतु भी अपने साध्यके साथ अविनाभावरूप से अनिश्चित होकर परोक्षार्थ—अग्नि आदि साध्यका अनुमापक हो जावेगा, इस तरह घूमादि हेतु की अर्थापत्ति उत्थापक पदार्थ से कोई भिन्नता नहीं रहेगी ।

दूसरा पक्ष—अर्थापत्ति का उत्थापक पदार्थ अन्यथानुपपद्यमानपने से अवगत

भिद्येत नाप्यवगतः; अर्थापत्त्यनुमानयोर्भेदाभावप्रसङ्गादेव, अविनाभावित्वेन प्रतिपन्नादेकस्मात्सम्बन्धिनो द्वितीयप्रतीतेरुभयत्राविशेषात् ।

किञ्च, अस्यान्यथानुपपद्यमानत्वावगमोऽर्थापत्तेरेव, प्रमाणान्तराद्वा ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रयः; तथाहि—अन्यथानुपपद्यमानत्वेन प्रतिपन्नादर्थार्थापत्तिप्रवृत्तिः, तत्प्रवृत्तेश्चास्यान्यथानुपपद्यमानत्वप्रतिपत्तिरिति । ततो निराकृतमैतत्—

“अविनाभाविता चात्र तदैव परिगृह्यते ।

न प्रागवगतेत्येव सत्यप्येषा न कारणम् ॥ १ ॥”

[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३०]

है ऐसा कहे तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इस तरह से तो अर्थापत्ति और अनुमान में कुछ भी भेद नहीं रहेगा, अविनाभावरूपसे जाने गये किसी एक सबधी वस्तुसे दूसरे का अबबोध होना दोनो [अनुमान और अर्थापत्ति] में समान है, कोई विशेषता नहीं है ।

किञ्च—अर्थापत्ति का जो विषय वह अन्यथा [बिना वृष्टिके] अनुपपद्यमान है उसका जो ज्ञान होता है वह अर्थापत्ति से ही होता है, अथवा अन्य प्रमाण से होता है ? यदि अर्थापत्ति से ही होता है ऐसा स्वीकार किया जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है—अन्यथानुपपद्यमानत्व से जाने हुए पदार्थसे अर्थापत्तिकी प्रवृत्ति होगी और अर्थापत्ति की प्रवृत्ति से इस अर्थापत्ति उत्पापक अर्थमें अन्यथानुपपद्यमानत्व जाना जायगा, इसप्रकार अन्योन्याश्रयदोष आने के कारण अर्थापत्ति में पृथक् प्रमाणाता सिद्ध नहीं होती है । अतः मीमांसक के मीमांसाश्लोकवार्तिक का यह कथन निराकृत हो जाता है कि—“जैन अर्थापत्ति और अनुमान को एक प्रमाणरूप मानते हैं, परन्तु उनका यह मानना ठीक नहीं, क्योंकि अनुमान में अपने साध्यके साथ हेतु का अविनाभाव सबध पहिले से ज्ञात रहता है और अर्थापत्ति में यह अविनाभाव पहिले से ज्ञात नहीं रहता, वह अर्थापत्ति से नदीपूर आदि विषय के जानने पर ही ग्रहण होता है, अर्थापत्ति की उत्पत्ति के पहिले नहीं, इसी कारण से अर्थापत्ति में अविनाभाव भले ही रहता हो किन्तु उसको अर्थापत्ति में निमित्त नहीं माना है ॥ १ ॥ कोई जैन कहे कि सबधको ग्रहण कर उत्पन्न होने वाली अर्थापत्ति तो अनुमानरूप हो सकती है ? तब उनको समझाते हैं कि जिस कारण से अर्थापत्ति के समय में ही अविनाभावका ग्रहण होता है

“तेन सम्बन्धवेलाया सम्बन्धन्यतरो ध्रुवम् ।

अर्थापत्यैव गन्तव्य पश्चादस्त्वनुमानता ॥”

[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३३] इति ।

अथ प्रमाणान्तरात्तदवगमाः, तत्किं भूयोदर्शनम्, विपक्षैऽनुपलम्भो वा ? आद्यविकल्पे क्वास्य भूयोदर्शनम्-साध्यधर्मिणि, दृष्टान्तधर्मिणि वा ? न तावदाद्य पक्ष, शक्तेरतीन्द्रियतया साध्यधर्मिण्यस्य तदविनाभावित्वेन भूयोदर्शनासम्भवात् । द्वितीयपक्षोप्यत एवायुक्त । किञ्च, दृष्टान्तधर्मिणि

उसी कारण से अविनाभाव संबध के ग्रहण के कालमे सबधी मे से अन्यतर अर्थात् वृष्टि (बरसात) और नदीपूर इन दोनो में से एक वृष्टि ही नियम से अर्थापत्ति के द्वारा जानने योग्य होती है । पहिले अर्थापत्ति ज्ञान ही होता है । हाँ, कदाचित् अविनाभाव संबध के अनतर यदि इन विषयो का निश्चय होता है तब उसको अनुमान प्रमाण कह सकते हैं” ॥ २ ॥

अब दूसरा पक्ष-अर्थापत्ति को उत्पन्न करनेवाले पदार्थका अविनाभाव अन्य-प्रमाण से अवगत होता है [जाना जाता है] ऐसा कहें तो पुन प्रश्न होता है कि वह कौनसा प्रमाण है, भूयोदर्शनरूप प्रमाण अथवा विपक्ष मे अनुपलम्भरूप प्रमाण ? यदि कहा जाय कि भूयोदर्शनरूप ज्ञानसे वह अर्थापत्ति उत्थापक पदार्थ जाना जाता है तो प्रश्न होता है कि वह भूयोदर्शन कहा पर हुआ है ? साध्यधर्मी मे या दृष्टान्तधर्मी मे ? प्रथम विकल्प साध्यधर्मी हुआ है [साध्यधर्मी अर्थात् जलानेकी शक्तिवाली जो अग्नि है वह यहा साध्यधर्मीरूपसे कही गयी है सो उस साध्यरूप धर्मी अर्थात् अग्नि मे उस अर्थापत्ति उत्थापक पदार्थका भूयोदर्शन हुआ है] ऐसा कहना शक्य नही, क्योकि शक्ति तो अतीन्द्रिय है, अत साध्यधर्मी जो अग्नि है उसमें दाहरूप साधन का शक्तिके साथ अविनाभावपने से बार २ देखनारूप भूयोदर्शन होना सभव नही है ।

यदि द्वितीयपक्ष को आश्रित कर कहा जावे कि दृष्टान्त धर्मी मे भूयोदर्शन हुआ है सो ऐसा कहना भी इसी के समान असिद्ध है । दूसरी बात यह है कि दृष्टान्त धर्मी मे प्रवृत्त हुआ भूयोदर्शन साध्यधर्मी मे भी इस दाहके अन्यथानुपपन्नत्व का निश्चय कराता है, या दृष्टान्तधर्मी मे ही इसके अन्यथानुपपन्नत्व का निश्चय कराता है ? इनमें से द्वितीयपक्ष ठीक नही है, क्योकि दृष्टान्तधर्मी मे अन्यथानुपपन्नत्वरूप से निश्चित किया गया दाहरूप पदार्थ अन्य अर्थात् दृष्टान्त से पृथक् जो साध्यधर्मी है उसमे अभी तक अनिश्चित है, वहां अपने साध्यको (दाहकत्व शक्तिको) सिद्ध नही कर सकता ।

प्रवृत्त भूयोदर्शन साध्यधर्मिण्यस्यान्यथानुपपन्नत्व निश्चाययति, दृष्टान्तधर्मिण्येव वा ? तत्रोत्तरः पक्षोऽयुक्तः ; न खलु दृष्टान्तधर्मिणि निश्चितान्यथानुपपद्यमानत्वोर्थोऽन्यत्र साध्यधर्मिणि तथात्वेना- निश्चित. स्वसाध्य प्रसाधयति अतिप्रसङ्गात् । प्रथमपक्षे तु लिङ्गार्थापत्युत्थापकार्थयोर्भेदाभावः स्यात् ।

ननु लिङ्गस्य दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तप्रमाणवशात्सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्वनिश्चयः, अर्थापत्युत्थापकार्थस्य तु साध्यधर्मिण्येव प्रवृत्तप्रमाणवशात्सर्वोपसंहारेणादृष्टार्थान्यथानुपपद्यमानत्वनिश्चयः

यदि सिद्ध करना माने तो अतिप्रसंग दोष आयेगा, अर्थात् साध्यधर्मरूप से अनिश्चित हुआ हेतु यदि साध्यको सिद्ध कर सकता है तो मैत्री-पुत्रत्वादिरूप हेतु भी स्वसाध्य के (गर्भस्थमैत्री बालक मे कृष्णत्वादि के) साधक बन जावेगे, अर्थात् "गर्भस्थो मैत्री-पुत्र. श्याम तत्पुत्रत्वात्" गर्भ मे स्थित मैत्री का पुत्र काला है क्योंकि वह उसी का पुत्र है, ऐसे ऐसे हेत्वाभास भी स्वसाध्यको सिद्ध करनेवाले हो जावेगे ।

प्रथमपक्ष—भूयोदर्शन साध्यधर्मि मे दाहके अन्यथानुपपन्नत्व का निश्चय कराता है ऐसा कहा जाय तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इस मान्यता के अनुसार लिङ्ग में और अर्थापत्ति उत्थापक पदार्थमे कोई भेद नहीं रहता है ।

मीमांसक—धूम आदि जो हेतु है उनका दृष्टान्त धर्मि जो रसोद्घर आदि है उनमे तो प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा सर्वोपसंहाररूप से अर्थात् जो जो धूमवाला होता है वह वह नियम से अग्निवाला होता है इस प्रकार से स्वसाध्यके साथ नियतरूप से रहने का निश्चय होता है, तथा—अर्थापत्तिका उत्थापक जो पदार्थ है उसका तो अपने मे ही [मात्र साध्यधर्मि में ही—अग्निमें ही] प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा सर्वोपसंहार रूपसे जो जो स्फोट है वह सर्व ही तज्जनक शक्तियुक्त अग्निका कार्य है इत्यादि प्रकार से अदृष्टार्थ की अन्यथानुपपद्यमानता का निश्चय होता है, इसतरह से लिङ्ग और अर्थापत्ति उत्थापक अर्थ मे भेद रहता है. कहने का तात्पर्य यही है कि अनुमानमे हेतु और साध्यका अविनाभाव सबध पहिले से ही सपक्षादि से ज्ञात कर लिया जाता है यह वहि व्याप्ति है जब कि अर्थापत्ति मे ऐसा नहीं है, वहा तो हेतु का स्वसाध्यके साथ अविनाभाव संबध साध्यधर्म से ही ग्रहण किया जाता है ।

जैन—यह कथन युक्त नहीं है । क्योंकि जो लिङ्ग होता है वह सपक्ष मे रहने मात्रसे (अन्वय से) ही स्वसाध्यका गमक होता हो [निश्चायक होता हो] ऐसा नहीं

इत्यनयोर्भेद , नैतद्युक्तम्, न हि लिङ्ग सपक्षानुगममात्रेण गमकम् वज्रस्य लोहलेख्यत्वे पार्थिवत्व-
वत्, श्यामत्वे तत्पुत्रत्ववद्वा । किं तर्हि ? 'अन्तर्व्याप्तिलेन' इति प्रतिपादयिष्यते, तत्र च किं सपक्षा-
नुगमेनेति च ? तदभावे गमकत्वमेवास्य कथमिति चेत् ? यथार्थापित्युत्थापकार्यस्य । तथा चार्थापत्ति-

देखा जाता, अन्यथा वज्र मे लोह लेख्यत्व सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त हुए पार्थिवत्व हेतु मे अथवा गर्भस्थ मैत्र के पुत्र श्याम सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त हुए तत्पुत्रत्व हेतुमे भी स्वसाध्य की गमकता मानना पडेगी ? क्योकि ये हेतु सपक्षसत्ववाले है । परन्तु ऐसा नही माना जाता है ।

भावार्थ—“वज्र लोहलेख्य पार्थिवत्वात् पापाणादिवत्” वज्र-हीरा-लोहेसे खण्डित हो सकता है क्योकि वह पार्थिव है । जैसे पाषाण पार्थिव है अतः वह लोह-लेख्य होता है, सो इस अनुमान मे पार्थिवत्वनामा हेतु सपक्षसत्ववाला होते हुए भी सदोष है । क्योकि सभी पार्थिव पदार्थ लोहलेख्य नहीं होते हैं । दूसरा अनुमान “गर्भस्थो मैत्रीपुत्र श्याम तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवत्” गर्भस्थ मैत्रीका पुत्र श्याम होगा, क्योकि वह मैत्री का पुत्र है । जैसे उसके और पुत्र काले है । सो यहाँ पर “तत्पुत्रत्वात्” हेतु सपक्षसत्ववाला होते हुए भी व्यभिचरित है, क्योकि मैत्री के सारे पुत्र काले ही हो यह बात नहीं है । उसी प्रकार प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा सर्वोपसंहार से मात्र दृष्टान्त मे स्वसाध्यका निश्चय करानेवाला हेतु देखा जाता है सो इतने मात्रसे वह हेतु स्वसाध्य को सिद्ध करनेवाला नहीं हो जाता है । जैसे तत्पुत्रत्व हेतु सपक्षमे-अन्य मैत्री पुत्रो मे श्यामपने के साथ रहते हुए भी अपने साध्य गर्भस्थ बालक मे श्यामत्व का साधक नहीं होता है ॥ कोई पूछे-कि फिर किसप्रकार का हेतु स्वसाध्यका सिद्ध करनेवाला होता है ? तो उसका उत्तर यह है कि अन्तर्व्याप्तिके बलसे हेतु स्वसाध्यका साधक बन जाता है, [पक्ष मे ही साध्य और साधन की व्याप्ति-अविनाभाव बतलाना अन्तर्व्याप्ति कहलाती है] इस अन्तर्व्याप्तिका हम “एतद्द्वयमेवानुमानाङ्ग नोदाहरण” इस सूत्र द्वारा आगे प्रतिपादन करनेवाले है, अतः सपक्ष में सत्त्वं होने मात्रसे कोई हेतु स्वसाध्यका गमक (निश्चायक) नहीं होता है, निश्चित हुआ ।

शंका — बिना सपक्षसत्त्व के हेतु स्वसाध्य का गमक कैसे हो सकता है ?

समाधान — जैसे आप मीमांसक अर्थापत्ति के उत्थापक पदार्थ में अन्तर्व्याप्ति के बलसे (पक्ष मे ही साध्यसाधनकी व्याप्ति सिद्ध होनेसे) गमकता [स्वसाध्य साधकता] मानते हैं ? इसीप्रकार से यहाँ पर भी मानना चाहिये ।

रेवाखिलमनुमानमिति षट्प्रमाणसंख्याव्याघातः । भवतु वा सपक्षानुगमाननुगमभेदः, तथापि नेतावता तयोर्भेदः, अन्यथा पक्षधर्मत्वसंहिताया अर्थापत्तेस्तद्रहितार्थापत्तिः प्रमाणान्तर स्यादिति प्रमाण-संख्याव्याघातः । अस्ति चार्थापत्तिः पक्षधर्मत्वरहिता—

“नदीपूरोप्यधोदेशे दृष्टः सन्नूपरि स्थिताम् ।

नियम्यो गमयत्येव वृत्ता वृष्टि नियामिकाम् ॥ १ ॥

पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणतानुमा ।

सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते ॥ २ ॥

इसप्रकार अर्थापत्ति पूर्णरूपसे अनुमानरूप ही है यह निश्चय हो जाता है और इस कारण से मीमांसकाभिमत षट्प्रमाण-संख्याका व्याघात हो जाता है ।

यदि आपके सतोष के लिये हम जैन मान भी लेवे कि हेतु या अनुमान मे सपक्षका अनुगम-अन्वय रहता है और अर्थापत्ति में सपक्षानुगम नहीं होता है, अतः अनुमान और अर्थापत्ति मे भेद है, सो इतने मात्रसे अनुमान और अर्थापत्ति मे मौलिक भेद सिद्ध नहीं होता है, यदि इतने मात्रसे भेद किया जावेगा तो अर्थापत्ति मे भी भेद होने लगेगा, इस तरह पक्षसत्त्व-पक्षधर्मसहित अर्थापत्ति से पक्षधर्मरहित अर्थापत्ति मे पृथक्प्रमाणता आवेगी । इसतरह से फिर भी प्रमाणसंख्या का व्याघात होगा ही, पक्षरहित अर्थापत्ति होती भी है—देखिये—अधोदेश मे देखा गया नदीपूर ऊपर के भाग मे हुई वृष्टिका (बरसातका) नियम से ज्ञान कराता है, अर्थात् व्याप्य जो नदीपूर है उसे देखकर व्यापक जो वृष्टि है उसका निश्चय किया जाता है ॥१॥ तथा माता पिता के ब्राह्मण होने से पुत्र मे ब्राह्मणत्व का निश्चय किया जाता है, ये सब ज्ञान के हेतु पक्षधर्मत्व की अपेक्षा नहीं करते है ॥२॥ इसलिये जो लोग पक्षधर्मत्व को हेतु का ज्येष्ठ अग (मुख्यअ ग) मानते है, उनकी इस मान्यता मे इन पूर्वोक्त नदीपूर आदि के उदाहरणो से व्यभिचार आता है, अर्थात् उपरि वृष्टि आदि हेतुओ मे पक्षधर्मता नहीं है तो भी वे सत्य कहलाते है, अर्थात् अपने साध्य के गमक होते है ॥३॥ इस प्रकार यह मानना चाहिये कि पक्षधर्मता से रहित भी अर्थापत्ति होती है ।

शंका—पक्षधर्मता से सहित अर्थापत्ति हो चाहे पक्षधर्मत्व से रहित अर्थापत्ति हो, दोनो के द्वारा समानरूप से ही अर्थ से अर्थान्तर-नदीपूर से वृष्टि का ज्ञान तो बराबर ही होता है अत इन दोनो अर्थापत्तियों मे परस्पर में कोई भेद नहीं, जैसा कि भिन्न २ प्रमाणो मे होता है, इनमे तो अभेद ही रहता है ।

एव यत्पक्षधर्मत्व ज्येष्ठ हेत्वङ्गमिष्यते ।

तत्पूर्वोक्तान्यधर्मस्य दर्शनाद्व्यभिचार्यते ॥ ९ ॥” []

इत्यभिधानात् ।

नियमवतोऽर्थान्तरप्रतिपत्तेरविशेषात्तयोरभेदे स्वसाध्याविनाभाविनोर्थादर्थान्तरप्रतिपत्तेरत्राप्यविशेषात्कथमनुमानादर्थापत्तेर्भेद स्यात् ? अथ विपक्षेऽनुपलम्भात्तस्यान्यथानुपपद्यमानत्वावगम ; न, पार्थिवत्वादेरप्येव स्वसाध्याविनाभावित्वावगमप्रसङ्गात् विपक्षेऽनुपलम्भस्याविशेषात्, सर्वात्म-

समाधान—यदि ऐसी बात है तो फिर अपने साध्य के साथ अविनाभाव सबधवाले हेतु या नदीपूर आदि से भी तो अर्थान्तर अग्नि या वृष्टि का ज्ञान समानता से ही होता है, अतः इन अनुमान और अर्थापत्ति में भेद किस प्रकार सिद्ध होगा, — अर्थात् जैसे पक्षधर्म रहित अर्थापत्ति और पक्षधर्मयुक्त अर्थापत्ति इनमें भिन्न प्रमाणता नहीं है, उसी प्रकार अनुमान और अर्थापत्ति में भी भिन्न प्रमाणता नहीं है यह निश्चित हो जाता है ।

अब विपक्ष में अनुपलम्भनामा दूसरे पक्ष का निरसन करते हुए टीकाकार कहते हैं—कि यदि ऐसा कहा जाय कि विपक्ष में—वृष्टिरहित प्रदेश में नदीपूर का अभाव रहता है, अतः इस विपक्षानुपलम्भ से नदीपूर और वृष्टि का अविनाभाव सबध ज्ञात हो जाता है, अर्थात् जब नदीपूर दिखाई देता है तो वह बिना वृष्टि के आता नहीं है, पूर तो आया हुआ दिखाई दे रहा है अतः वह वृष्टि का अनुमापक हो जाता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि विपक्ष में अनुपलम्भ होने मात्र से अविनाभाव का निश्चय नहीं हो सकता, यदि एकान्ततः ऐसा माना जाय तो पूर्व-कथित पार्थिवत्वादि हेतु भी अपने साध्य के—वज्र में लोहलेख्यत्व आदि के अवगम कराने वाले हो जावेगे, क्योंकि पार्थिवत्वादि जो हेतु है वे भी विपक्ष जो आकाशादि है उनमें उपलब्ध नहीं होते हैं । एक प्रश्न भी यह पूछा जा सकता है कि विपक्ष में जो अनुपलम्भ होता है वह सभी को होता है कि अपने को ही होता है ? सभी को अनुपलम्भ होना असिद्ध है, और यदि अपने को अनुपलम्भ होना कहा जाय तो हेतु में अनैकान्तिकता होती है । तथा अपने अनुपलम्भमात्र से कोई साध्य की सिद्धि होती नहीं है ।

शंका—ऐसे दोनों तरह से सर्व सबधी अनुपलम्भ और आत्मसबधी अनुपलम्भ को नहीं मानेंगे तो सम्पूर्ण अनुमानों का उच्छेद (अभाव) हो जावेगा ।

सम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्यासिद्धानैकान्तिकत्वाच्च । नन्वेव सकलानुमानोच्छेदः, अस्तु नाम तस्यायम् यो भूयोदर्शनाद्विपक्षेऽनुपलम्भाद्व्याप्तिं प्रसाधयेति नास्माकम्, प्रमाणान्तरात्तत्प्रसिद्ध्यभ्युपगमाद् । भव-
तोपि ततस्तदभ्युपगमे प्रमाणसख्याव्याघात ।

समाधान—ऐसा सकल अनुमान उच्छेद का दोष उसी को हो सकता है जो भूयोदर्शन से एवं विपक्ष मे अनुपलम्भ से व्याप्ति को [अविनाभाव सबध को] सिद्ध करते है, हम जैनो को यह दूषण नही लगता है, हम तो अन्य ही तर्क नामक प्रमाण से व्याप्ति का ज्ञान होना मानते है । आप मीमांसक यदि उसी अन्य प्रमाण से व्याप्ति का ज्ञान होना स्वीकार करेगे तो आपकी अभीष्ट प्रमाण सख्या का व्याघात होगा, इस प्रकार अर्थापत्ति कोई स्वतन्त्र प्रमाण नही है, वह तो अनुमान स्वरूप ही है ऐसा सिद्ध हुआ मानना चाहिये ।

अर्थापत्ति अनुमानाऽन्तर्भाव समाप्त



अर्थापत्ति अनुमानाऽन्तर्भाव का सारांश

मीमांसक अर्थापत्ति, उपमान और अभाव इन्हें अनुमानादि से पृथक् प्रमाण मानते है, सो उनके पूर्वपक्ष का सारांश इस प्रकार से है—अर्थापत्ति के विषय में उनका यह मन्तव्य है कि किसी एक पदार्थ को देखकर उसके अविनाभावी दूसरे पदार्थका बोध करना । उस अर्थापत्तिके प्रत्यक्षादि की अपेक्षा लेकर प्रवृत्त होनेके कारण ६ भेद माने गये हैं । प्रत्यक्ष से अग्निको ज्ञात कर उसकी दाहक शक्ति को जानना यह प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति है । सूर्य में गमनरूप हेतु से गमन शक्तिका बोध करना यह अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति है । आगम के वाक्य सुनकर अर्थान्तर का बोध करना यह आगमपूर्विका अर्थापत्ति है, जैसे दिन मे नही खाने पर भी देवदत्तामे स्थूलता देखकर उसके रात्रिभोजन करनेका बोध करना । अर्थापत्ति से अर्थापत्ति इस प्रकार है—शब्दमे अर्थापत्ति से वाचक शक्तिका बोधकर उसमे नित्यत्वका बोध करना । उपमानपूर्विका अर्थापत्ति—रोझ उपमेयको देखकर गाय की उपमाको जानना । अभावपूर्विका अर्थापत्ति

इस प्रकार से है कि अभावप्रमाण से जिन्हे चैत्र का घर में अभाव जानकर पुनः बाहर में उसका सद्भाव जानना । उपमान प्रमाण का पहिले विचार कर आये हैं कि—

“गृहीत्वा वस्तु सद्भाव स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानस नास्तित्ता ज्ञान जायतेऽक्षानपेक्षया” ॥ १ ॥

पहिले वस्तु का सद्भाव जानकर पुनः प्रतियोगी का स्मरण कर इन्द्रियो की अपेक्षा बिना ही मन में जो “नही है” ऐसा ज्ञान होता है वह अभावप्रमाण है ॥ १ ॥ वस्तु दो प्रकारकी हुआ करती है, एक सद्भावरूप और एक अभावरूप, इनमें जो अभावरूप वस्तु उसको अभाव प्रमाण जानता है, इस अभावरूप वस्तु को प्रत्यक्षप्रमाण नहीं जान सकता, क्योंकि वह सद्भावरूप वस्तु को ही जानता है । अनुमान भी हेतु न होने से एव उसका विषय न होनेसे अभाव को नहीं जानता । इसी तरह उपमानादि भी अभावको विषय नहीं करते, क्योंकि प्रत्यक्षादि पाचो प्रमाणोका विषय सद्भावरूप पदार्थ है, अभावरूप नहीं । अतः वस्तु के अभावाश को ग्रहण करनेके लिये अभाव-प्रमाण की प्रवृत्ति होती है जैसे कि भावाश को ग्रहण करने के लिए प्रत्यक्षादिप्रमाणो की प्रवृत्ति होती है ।

जैन—यह मीमांसक का वर्णन उन्मत्त के कथन जैसा है, क्योंकि आपको जिन्हे पृथक्प्रमाण रूपमें मानना चाहिये ऐसे प्रत्यभिज्ञान तर्क आदि ज्ञान है उन्हें तो नहीं माना और व्यर्थ के प्रमाणो को जिनका कि लक्षण भिन्न रूपसे प्रतीति में नहीं आता उन्हें स्वतन्त्ररूप से मान रहे हो, देखिये—अर्थापत्ति बिलकुल सही तरीके से अनुमानप्रमाणमें शामिल हो जाती है, क्योंकि अर्थापत्ति को उत्पन्न करनेवाली जो अन्यथानुपपद्यमानत्वरूप वस्तु है वह अनुमान से ही तो जानी जाती है । यदि तुम कहो कि नहीं वह तो अर्थापत्ति से ही जानी जाती है तो ऐसा मानने में अन्योन्याश्रय दोष आता है । यदि कहो कि वह दूसरे प्रमाणान्तर से जानी जाती है—तो यह दूसरा प्रमाण क्या बला है ? विपक्षमें अनुपलभ या भूयोदर्शन ? विपक्ष में अनुपलभ कहो तो वह किसको हुआ, खुदको या सभी को ? खुदको विपक्ष में बाधा न देखने मात्रसे तो साध्य सिद्ध होता नहीं है । और सभी व्यक्तिको विपक्ष में अनुपलभ है यह बात जानना ही असंभव है । तथा—जैसे अनुमानमें अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु से साध्यका ज्ञान होता है वैसे ही अर्थापत्तिमें अन्यथानुपपद्यमानत्व से किसी परोक्षवस्तुका ज्ञान कराया जाता है, अतः वे दोनों एक ही हैं । जैसे—नदीपूर को देखकर उसका अविनाभावी कारण

बरसात का अन्यथानुपपद्यमानत्व से ज्ञान होता है वैसे ही धूमको देखकर उसका अविनाभावी अग्निका अन्यथानुपपत्ति से ज्ञान होता है, अतः दोनों एक ही है, कुछ अन्तर नहीं है।

तथा—आपके अनुमानप्रमाण को शामिल करने के लिये हमारे पास एक स्वतंत्र प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। इसी तरह अभाव प्रमाण भी प्रत्यक्षादि प्रमाण में अन्तर्भूत हो जाता है। इस तरह सीमांसक के ६ प्रमाणों की संख्या का व्याघात होता है।

अर्थापत्ति अनुमानाऽन्तरभाव का सारांश समाप्त



शक्तिविचार का पूर्वपक्ष

हम नैयायिक वस्तुस्वरूप को छोड़कर अन्य अतीन्द्रिय स्वभाववाली शक्ति नामकी कोई चीज नहीं मानते हैं। क्योंकि कार्य तो वस्तुस्वरूप से ही निष्पन्न हुआ करता है।

स्वरूपादुद्भवत्कार्यं सहकार्युपवृंहितात् ।

नहि कल्पयितुं शक्यं शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम् ॥ १ ॥

अर्थ—सहकारिकारणो से सहकृत ऐसा जो वस्तुस्वरूप है उससे उत्पन्न हुआ कार्य जब स्पष्ट ही दिखाई देता है तब उसमें एक और न्यारी अतीन्द्रिय शक्ति कौनसी है कि जिसकी उत्पत्ति के लिये कल्पना करनी पड़े। अर्थात् सहकारी की सहायता से वस्तुस्वरूप ही कार्य को करने वाला है, अतः दृष्टि अगोचर शक्तिनामक कोई भी पदार्थ कार्यनिष्पत्ति में आवश्यक नहीं है।

अब यहाँ कोई मीमांसक आदि शक्ति के विषय में शका उपस्थित करते हैं—

“ननु शक्तिमन्तरेण कारकमेव न भवेत्, यथा पादप छेत्तुमनसा परशुरुद्यम्यते तथा पादुकाद्यप्युद्यम्येत । शक्तेरनभ्युपगमे हि द्रव्यस्वरूपाविशेषात् सर्वस्मात् सर्वदा कार्योदयप्रसङ्गः” ॥

अर्थ—शक्ति के बिना कोई भी पदार्थ किसी का कर्ता नहीं हो सकता। यदि वस्तु में शक्तिनामक कोई भी चीज नहीं है तो जैसे वृक्षको काटने का इच्छुक पुरुष कुठार को उठाता है वैसे ही वह पादुका—खड़ाक आदि को उठा सकता है, क्योंकि पादुका और कुठार कोई पृथक् चीज तो है नहीं, पादुका वस्तु है और कुठार भी वस्तु है। इस प्रकार सभी वस्तुओं से सर्वदा ही सब कार्य होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा ?

तो इस प्रकारकी इस शका का निवारण करते हुए कहते हैं—“तदेतदनुपपन्नम् यत्तावदुपादाननियमादित्युक्तम् तत्रोच्यते नहि वयमद्य किञ्चिदभिनव भावाना कार्यकारणभावमुत्थापयितुं शक्नुमः किन्तु यथाप्रवृत्तमनुसरन्तो व्यवहराम । तत्र छेदनादान्वयव्यतिरेकाभ्यां परश्वादेरेवकारणत्वमध्यवगच्छाम इति, तदेव तदर्थिन उपाददुमहे न पादुका दीति, न च परश्वादेस्वरूपसन्निधाने सत्यपि सर्वदा कार्योदय स्वरूपवत् सहकारिणामप्यपेक्षणीयत्वात् सहकार्यादिसन्निधानस्य सर्वदा अनपपत्ते”

अर्थ—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि कार्योत्पत्ति में उपादान का नियम बतलाया गया है। अतः हम पदार्थों में कोई नया कार्यकारणभाव तो निर्माण कर नहीं सकते, केवल कार्योत्पत्ति में जिस प्रकार से उपादान की प्रवृत्ति होती है, उसी के अनुसार हम व्यवहार करते हैं। छेदनक्रिया में जिसके साथ उसका अन्वय व्यतिरेक घटित होता है ऐसे उस कुठार को ही कारण माना है, पादुका आदिको नहीं, क्योंकि उसके साथ छेदनक्रिया का अन्वय व्यतिरेक घटित नहीं होता है, यदि कहा जाय कि परशु तो हमेशा से है, अतः हमेशा ही छेदनक्रिया होती रहनी चाहिये सो ऐसी बात नहीं बनती, क्योंकि छेदनक्रिया में परशु स्वरूप के समान सहकारी कारणोंकी भी अपेक्षा हुआ करती है, अतः सहकारी कारण जब मिलेगे तभी अर्थक्रिया होगी सदा नहीं।

“यदपि विषदहनसन्निधाने सत्यपि मन्त्रप्रयोगात् तत्कार्यादर्शनं तदपि न शक्ति-प्रतिबंधनिबधनमपि तु सामग्र्यन्तरानुप्रवेशहेतुकम्” ।

अर्थ—छेदनक्रिया में जैसी बात है वैसी ही बात विष तथा अग्नि में भी है। अर्थात् विष और अग्निके होते हुए भी जो उनका मरण और दाहरूप कार्य सदा होता हुआ नहीं देखा जाता है सो उसमें कारण मन्त्रप्रयोग है। वह मन्त्रप्रयोग भी विष एवं अग्नि की शक्तिको रोकनेवाला नहीं है, किन्तु उस मन्त्ररूप अन्य ही सामग्री का वहाँ प्रवेश हो जानेसे उनका दाहादि कार्य नहीं हो पाता है।

“ननु मन्त्रेण प्रविशता तत्र किं कृतं न किञ्चित् कृतं, सामग्र्यन्तरं तु सपादितं क्वचिद्धि सामग्री कस्यचित्कार्यस्य हेतु, स्वरूपं तदवस्थमेवेति चेत्” ।

कोई शंकाकार कहे कि मन्त्र वहाँ अग्नि या विष आदि में प्रविष्ट भी हो जाय तो वह वहाँ क्या कर देता है? तो उसका उत्तर यह है कि कुछ भी नहीं करता। अन्य सामग्री उपस्थित हुई तो होने दो, उसका कार्य भी अन्य ही रहेगा, किन्तु उस मन्त्ररूप सामग्री ने अग्नि का स्वरूप तो नहीं बिगाडा है, वह तो जैसी है वैसी है फिर दाह आदि कार्य क्यों नहीं हुआ ?

“यद्येवमभक्षितमपि विषं कथं न हन्यात्, तत्रास्य सयोगाद्यपेक्षणीयमस्तीति चेत् मन्त्राभावोऽप्यपेक्षन्ताम्, दिव्यकरणकाले धर्म इव मन्त्रोऽप्यनुप्रविष्टः कार्यं प्रतिहन्ति, शक्तिपक्षेऽपि मन्त्रस्य को व्यापारः । मन्त्रेण हि शक्तेर्नाशो वा क्रियते प्रतिबधो वा ? न तावन्नाशः, मन्त्रापगमे पुनस्तत्कार्यदर्शनात्, प्रतिबधस्तु स्वरूपस्यैव शक्तेरिवास्तु, स्वरूप-

स्य किं जातं कार्योदासिन्यमित्तिचेत्तदितोऽपि समानम्, स्वरूपमस्यैवं दृश्यमानत्वादिति चेच्छक्तिरप्यस्ति पुनः कार्यदर्शनेनानुमीयमानत्वात्” ॥

अर्थ—अब उपर्युक्त शक्तों का परिहार किया जाता है—मन्त्र आदिक मारण या दाहरूप कार्य होने में अन्य सामग्री को उपस्थित करने वाले होते हैं और उसी से कार्य रुक सा जाता है अतः दाहादिकार्य में ऐसी सामग्री का अभाव होना भी जरूरी है, इस प्रकार की बात नहीं होती तो बिना खाये भी विष क्यों नहीं मरण करा देता ? तुम कहो कि विष मुखादि में प्रविष्ट हुए बिना कैसे मरण कराये ? सो यही बात मन्त्रादि के विषय में भी है, दिव्य करना आदि में भी धर्म के समान मन्त्र भी कार्य को रोकता है, हम नैयायिक अतीन्द्रिय शक्ति को मानने वाले मीमांसकादि से पूछते हैं कि शक्ति के पक्ष में भी मन्त्रादिक क्या काम करते हैं ? मन्त्र के द्वारा शक्ति का नाश होता है या उसका प्रतिबन्ध होता है ? नाश तो होता नहीं, क्योंकि मन्त्र के हटते ही पुनः कार्य होने लग जाता है । प्रतिबन्ध कहो तो वह शक्ति के प्रतिबन्ध के समान स्वरूप का प्रतिबन्ध भी हो सकता है । यदि कहा जाय कि स्वरूप का प्रतिबन्ध तो मन्त्र के द्वारा कुछ भी नहीं होता, अर्थात् मन्त्र के द्वारा अग्नि आदि का स्वरूप तो बिगाड़ा नहीं जाता है, सो यही बात शक्ति के विषय में भी है अर्थात् मन्त्र शक्ति को नहीं बिगाड़ता, क्योंकि मन्त्र के हटते ही पुनः कार्य होते देखा जाता है, अतः अतीन्द्रियशक्ति नामका कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होता है ।

न खल्वतीन्द्रिया शक्तिरस्माभिरुपगम्यते । यथा सह कार्यस्य सबधज्ञान सभव ॥ १ ॥

अर्थ—“शक्तिः क्रियानुमेया स्यात्” शक्ति क्रिया से जानी जाती है इत्यादि अन्य लोग कहते हैं सो हम नैयायिक शक्ति को अतीन्द्रिय नहीं मानते हैं, वस्तु में जो कुछ है वह सब सामने उपस्थित है, प्रत्यक्ष गम्य है, अतीन्द्रिय कुछ भी स्वरूप नहीं है । अतः शक्ति के साथ कार्य का सबध जोड़ना व्यर्थ है, अर्थात् कार्य को देखकर शक्ति का अनुमान लगाना, कार्य हेतु से कारण शक्ति का अनुमान करना बेकार है । हम तो “स्वरूपसहकारि सन्निधान मेवशक्ति” वस्तु स्वरूप और सहकारी कारणों की निकटता इनको ही शक्ति मानते हैं । अन्य अप्रत्यक्ष ऐसी कोई शक्ति सिद्ध नहीं हो पाती है ।

शक्तिविचार का पूर्वपक्ष समाप्त

शक्तिस्वरूपविचारः



ननु बह्विस्वरूपस्याध्यक्षत एव प्रसिद्धेस्तदतिरिक्तातीन्द्रियशक्तिसद्भावे प्रमाणाभावात्कथं तत्रार्थापत्तेः प्रामाण्यम् ? निजा हि शक्तिः पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादिकमेव तदभिसम्बन्धादेव तेषां कार्यकारित्वात् । अन्त्या तु चरमसहकारिरूपा, तत्सद्भावे कार्यकरणादभावे चाकरणात् । तथाहि—

अर्थापत्ति को जब अनुमान में शामिल कर रहे थे, तब अग्नि की दाहकशक्ति का नाम आया था सो अब शक्ति के विषय में चर्चा प्रवर्तित होती है । इसमें नैयायिक शक्ति के निरसन के लिये अपना पक्ष उपस्थित करते हैं—

नैयायिक—अग्निका स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्रसिद्ध हो रहा है, उस स्वरूप को छोड़कर अन्य कोई न्यारी अतीन्द्रिय शक्ति है ऐसा उसका सद्भाव सिद्ध करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है । अतः मीमांसक उस शक्ति को ग्रहण करने वाली अर्थापत्ति को किस प्रकार प्रमाणभूत मानते हैं ? जब वैसी शक्ति ही नहीं है तब उसको बतलाने वाले अर्थापत्ति में प्रामाण्य कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता । वस्तु में जो शक्ति होती है वह उसके निजस्वरूप ही होती है । पृथिवी आदि का पृथिवी आदि रूप होना ही उसकी शक्ति है, उस पृथिवीत्व आदि के सबध से ही पृथिवी आदि पदार्थ अपने कार्य को करते हैं । कारण में जो अतिम शक्ति होती है वह चरम सहकारी स्वरूप होती है, उसके होने पर ही कार्य होता है और यह न हो तो कार्य नहीं होता है । इसी बात को उदाहरण देकर वे समझाते हैं—बहुत से तनु [धागे या डोरे] रखे हैं किन्तु जब तक अन्त के तुंतुओं का सयोग नहीं होता है तब तक वे अपने कार्य को (वस्त्रको) नहीं करते हैं, बस ! यही उन तन्तुओंकी शक्ति कहलाती है ।

सन्तोपि तन्तवो न कार्यमारभन्ते अन्यतन्तुसयोग विनेति सैव शक्तिस्तेषाम् । ननु कथमर्थान्तरमर्थान्तरस्य शक्तिः ? अनर्थान्तरत्वेपि समानमेतत्—‘स एव तस्यैव न शक्तिः’ इति । अथ यदि पूर्वेषा सहकार्यैव शक्तिस्तर्हि तस्याप्यशक्तस्याकारणत्वादन्या शक्तिर्वाच्येत्यनवस्था; तदयुक्तम्, चरमस्य हि सहकारिणः पूर्वसहकारिणः एव शक्तिः इतरेतराभिसम्बन्धेन कार्यकरणात् । स एव समग्रानां भावसामग्रीति भावप्रत्ययेनोच्यते, तेन सता समग्रव्यपदेशात् ।

शंका—अर्थान्तर की शक्ति उससे अर्थान्तर रूप कैसे हो सकती है ? अर्थात् पदार्थ की शक्ति पदार्थ से भिन्न है ऐसा कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि शक्ति को अर्थान्तर मानने पर यह “पदार्थ की शक्ति” है ऐसा व्यवहार विलुप्त हो जावेगा ।

समाधान—तो शक्ति को पदार्थ से अनर्थान्तर—अभिन्न मानने में भी यही प्रश्न आता है, अर्थात् पदार्थ से शक्ति अभिन्न है तो इस पक्ष में यह पदार्थ की शक्ति है ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो पदार्थ रूप ही हो जायगी ?

शंका—तन्तु आदि कारणों का जो सहकारी पना है वही उनकी शक्ति है ऐसा माना जाय तो पुनः प्रश्न होते हैं कि वह सहकारी भी शक्त है या अशक्त है ? यदि वह अशक्त है तो कार्य का कारण नहीं हो सकता अतः उस अशक्त को शक्त बनाने के लिये अन्य शक्ति चाहिये, इस प्रकार मानने पर अनवस्था आती है । अनवस्था दोष का विवेचन टिप्पणीकार ने इस प्रकार किया है—अतीक्रिय शक्ति के द्वारा शक्तिमान् का उपकार किया जाता है ऐसा मानने पर शक्ति द्वारा किया गया वह उपकार शक्तिमान से भिन्न होता है तो अनवस्था होगी ? क्योंकि उपकार भी शक्तिमान से यदि भिन्न है तो भिन्न होने के कारण यह शक्तिमान का उपकार है ऐसा सबध सिद्ध नहीं होता है, यदि क्रियमाण वह भिन्न उपकार शक्तिमान के साथ अपना सबध सिद्ध करने के लिये उपकारान्तर को करता है तो पुनः यह प्रश्न होता है कि शक्त होकर या अशक्त होकर वह उपकार उपकारान्तर को करता है ? अशक्त होकर उपकारान्तर का करना शक्य नहीं । यदि शक्य होकर वह उपकार शक्तिमान के साथ स्वसबध की सिद्धि के लिये उपकारान्तर को करता है, ऐसा मानो तो जिस शक्ति से स्वयं उपकार शक्त हुआ है वह शक्ति भी उस उपकार से भिन्न है कि अभिन्न है, यदि भिन्न है तो “उपकार की यह शक्ति है” ऐसा कहना शक्य नहीं, क्योंकि वह उससे भिन्न है । यदि शक्ति भी उपकार के साथ अपना सबध स्थापित करने के लिये उप-

किञ्च, असौ शक्तिर्नित्या, अनित्या वा स्यात् ? नित्या चेत्सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः । तथा च सहकारिकारणापेक्षा व्यर्थार्थानाम् तल्लाभात्प्रागेव कार्यस्योत्पन्नत्वात् । अथानित्यामीः कुतो जायते ? शक्तिमतश्चेत्; किं शक्तात्, अशक्ताद्वा ? शक्ताच्चेच्छक्त्यन्तरपरिकल्पनातोऽनवस्था स्यात् । अशक्तात्तदुत्पत्तौ कार्यमेव तथाविधात्ततः किन्नोत्पद्येत ? अलमतीन्द्रियशक्तिकल्पनया ।

तथा, शक्तिः शक्तिमतो भिन्ना, अभिन्ना वा स्यात् ? अभिन्ना चेत्, शक्तिमात्र शक्तिमन्मात्र

कारान्तर को करती है तो इस प्रकार से बड़ी ही लम्बी अनवस्था उपस्थित हो जाती है ?

समाधान—इस तरह अनवस्था की आशका अयुक्त है, क्योंकि चरम सहकारी की जो शक्ति है वह पूर्व सहकारी की ही है, अन्य २ सहकारियों के पारस्परिक संबंध से ही वह शक्ति कार्य का संपादन करती है, इसी इतरेतराभिसंबंधरूप शक्तिका नाम ही “समग्राना—कारणाना—भावः सामग्री” इस भाव प्रत्ययके अनुसार सामग्री कहा गया है, क्योंकि जब वे सब विवसित कारण मौजूद रहते हैं तभी उन्हें समग्र इस नाम से कहा जाता है । जैन से हम नैयायिक पूछते हैं कि अतीन्द्रिय शक्ति नित्य है कि अनित्य ? नित्य माने तो हमेशा कार्य होता रहेगा, उसकी उत्पत्ति रुकेगी नहीं, इस तरह कार्य होते रहने पर तथा शक्ति को नित्य मानने पर कार्यों को अपनी उत्पत्ति में सहकारी कारणों की अपेक्षा लेना भी व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि पदार्थों के द्वारा होने वाले कार्य सहकारी कारणों के मिलने के पहले ही उत्पन्न हो चुकेगे ? यदि इस अतीन्द्रिय शक्ति को अनित्य माने तो हम पूछते हैं कि वह अनित्य शक्ति किससे पैदा हुई ? कहो कि शक्तिमान से हुई तो वह शक्तिमान भी शक्त है या अशक्त है ? अर्थात् शक्त शक्तिमान से शक्ति पैदा हुई है ऐसा कहो तो पुनः प्रश्न होगा कि शक्तिमान किससे शक्त हुआ ? इस तरह की कल्पना बढ़ती जाने से अनवस्था दोष आता है । अशक्त शक्तिमान से शक्ति का उत्पन्न होना माना जाय तो कार्य भी अशक्त कारण से क्यों नहीं उत्पन्न होगा ? अर्थात् जैसे अशक्त शक्तिमान से शक्ति पैदा होती है वैसे उसी अशक्त से सीधा कार्य उत्पन्न होता है ऐसा मान लेना चाहिये । इस प्रकार अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं रहती है । किञ्च—वह शक्तिमान से भिन्न है कि अभिन्न है ? यदि अभिन्न है तो शक्ति ही रहेगी या शक्तिमान ही रहेगा ? क्योंकि दोनों परस्पर में अभिन्न है ? यदि शक्ति से शक्ति-

वा स्यात् ? भिन्ना चेत् 'तस्येयम्' इति व्यपदेशाभावः अनुपकारात् । उपकारे वा तथा तस्योपकारः, तेन वाऽस्याः ? प्रथमपक्षे शक्तिमतः शक्त्योपकारोऽर्थान्तरभूतः, अनर्थान्तरभूतो वा विधीयते ? अर्थान्तरभूतश्चेदनवस्था, तस्यापि व्यपदेशार्थमुपकारान्तरपरिकल्पनया शक्त्यन्तरपरिकल्पनात् । अनर्थान्तरभूतोपकारकरणे तु स एव कृतः स्यात् । तथा च न शक्तिमानसौ तत्कार्यत्वाप्रसिद्धतत्कार्यत्वात् । शक्तिमतापि-शक्त्यन्तरान्वितेन, तद्रहितेन वा शक्तेरुपकारः क्रियते ? आद्यपक्षे शक्त्यन्तराणां ततो

मान भिन्न है ऐसा द्वितीय विकल्प माने तो "यह शक्तिमान की शक्ति है" ऐसा सबंध वचन बनेगा नहीं, क्योंकि भिन्न में सर्वधरूप उपकार नहीं होता, यदि उपकार होना मान भी लेवे तो कौन किसका उपकार करता है, क्या शक्ति से शक्तिमान का उपकार होता है या शक्तिमान से शक्ति का उपकार होता है ? यदि शक्ति के द्वारा शक्तिमान का उपकार होता है इस तरह का प्रथम पक्ष माना जाय तो, बताइये वह उपकार शक्तिमान से अर्थान्तरभूत किया जाता है कि अनर्थान्तरभूत किया जाता है ? अर्थान्तरभूत किया जाता है ऐसा मानो तो अनवस्था होती है, क्योंकि शक्ति ने शक्तिमान का यह उपकार किया है ऐसा सबंध सिद्ध करने के लिये—अन्य अन्य उपकार की कल्पना तथा अन्य अन्य शक्ति की व्यवस्था करनी होगी । यदि शक्ति के द्वारा किया गया शक्तिमान का उपकार उससे अनर्थान्तरभूत है ऐसा द्वितीय पक्ष अंगीकार किया जाय तो शक्तिने शक्तिमान (पदार्थ) को किया ऐसा अर्थ होगा, फिर उस पदार्थको शक्तिमान नहीं कह सकते, क्योंकि वह कार्य करनेमें समर्थ न रहकर स्वयं ही शक्तिका कार्य कहलाने लगा है । शक्तिमान [पदार्थ] द्वारा शक्ति का उपकार किया जाता है ऐसा माने तो प्रश्न होता है कि शक्तिमान अन्यशक्ति से युक्त होकर शक्तिका उपकार करता है या अन्य शक्ति से रहित होकर उसका उपकार करता है, प्रथम पक्ष—अन्य शक्ति से युक्त होकर शक्तिमान शक्ति का उपकार करता है तो वह शक्त्यन्तर भी शक्तिमान से भिन्न है या अभिन्न है यह बताना होगा, दोनों ही पक्षों में वे पहले कहे हुए सब दोष आते हैं अर्थात् शक्तिमान अन्य शक्ति से युक्त होकर शक्ति का उपकार करता है, वह उपकार भिन्न है सो सबंध नहीं बनता और अभिन्न है तो एक ही रहेगा इत्यादि दोष आते हैं तथा अनवस्था दोष भी स्पष्ट दिखायी देता है । दूसरा विकल्प—शक्तिमान शक्ति का उपकार करने में प्रवृत्त होता है तब अन्य शक्ति से रहित होकर प्रवृत्त होता है ऐसा माने तो पहले की शक्ति की कल्पना व्यर्थ हो जाती है, क्योंकि शक्ति के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है जैसा कि बिना शक्ति के उपकार

भेदः, अभेदो वा ? उभयत्रानन्तरोक्तोभयदोषानुषङ्गोऽनवस्था च । तद्रहितेनानेन शक्तेरुपकारे तु प्राच्यशक्तिकल्पनाप्यपार्थिका तद्व्यतिरेकेणैव कार्यस्याप्युत्पत्तेरुपकारवत् शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदपरिकल्पनाया विरोधादिदोषानुषङ्गः ।

तथा, असौ किमेका, अनेका वा ? तत्रैकत्वे शक्त्युत्पत्तेरुपकारवत्कार्योत्पत्तिर्न स्यात् । अनेकत्वेपि अनेकशक्तिमात्मन्यर्थेनैकशक्तिभिर्बिभृयादित्यनवस्थाप्रसङ्ग इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । किं ग्राहकप्रमाणाभावाच्छक्तेरभावः, अतीन्द्रियत्वाद्वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः ; कार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तिजनितानुमानस्यैव तद्ग्राहकत्वात् । ननु सामग्र्यधीनोत्पत्ति-

उत्पन्न हो जाता है, मतलब—शक्ति रहित जो शक्तिमान अग्नि आदि पदार्थ है उनसे जैसे दाहादिरूप उपकारक कार्य होते हैं वैसे ही शक्तिमान भी पहली शक्ति से रहित हुआ ही शक्ति का उपकार रूप कार्य कर लेगा । इस प्रकार शक्ति और शक्तिमान में भेद मानो चाहे अभेद मानो, दोनों पक्ष में विरोध अनवस्था आदि दोष आते हैं । उस शक्ति के विषय में और भी अनेक प्रश्न उठते हैं, जैसे कि वह शक्ति एक है कि अनेक यदि एक है तो उससे एक साथ जो अनेक कार्य उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं, वे नहीं होना चाहिये, परन्तु एक ही दीपक एक ही समय में अधकार विनाश पदार्थ प्रकाश वर्तिकादाह और तैल शोषण आदि अनेक कार्य होते हुए देखे जाते हैं । यदि शक्तिया अनेक माने तो भी ठीक नहीं क्योंकि अनेक शक्तियों को जब शक्तिमान् अपने में धारण करेगा तब वहा पर भी यही प्रश्न होगा कि वह शक्तिमान् पदार्थ अनेक शक्तियों को एक शक्ति द्वारा धारण करता है या अनेक शक्ति द्वारा धारण करता है ? यदि वह अनेक शक्तियों द्वारा उन्हें धारण करता है तो अनवस्था आती है अर्थात् शक्तिमान् पदार्थ अनेक शक्तियों को एक ही शक्ति से अपने में धारता है तो ऐसी स्थिति में वे सब शक्तिया एक हो जायेगी, इत्यादि रूप से अनवस्था होगी इसलिये हम नैयायिक अतीन्द्रिय शक्ति को नहीं मानते हैं । अतः वस्तु का जो दिखायी देने वाला स्वरूप है वही सब कुछ है ।

जैन—आप नैयायिक शक्ति का अभाव मानते हो सो उसका ग्राहक प्रमाण नहीं है इसलिये या वह अतीन्द्रिय है इसलिये ? ग्राहक प्रमाणका अभाव होनेसे शक्ति को नहीं मानते ऐसा प्रथमपक्ष कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि उसका ग्राहक प्रमाण मौजूद है जो इस प्रकार से है—अतीन्द्रिय शक्ति है क्योंकि उसके कार्य की अन्यथानुपपत्ति है

कत्वात्कार्याणां कथं तदन्यथानुपपत्तिर्यतोऽनुमानात्तत्सिद्धिः स्यात्; इत्यप्यसमीचीनम्, यतो नास्माभिः सामग्र्या कार्यकारित्वं प्रतिविध्यते, किन्तु प्रतिनियतायास्तस्याः प्रतिनियतकार्यकारित्वम् अतीन्द्रियशक्तिसद्भावमन्तरेणासम्भाव्यमित्यसावप्यभ्युपगन्तव्या । कथमन्यथा प्रतिबन्धकमणिमन्त्रादिसन्निधानेऽप्यग्निः स्फोटादिकार्यं न कुर्यात् सामग्र्यास्तत्रापि सद्भावात् ? तेन ह्यग्नेः स्वरूपं प्रति हन्यते, सहकारिणो वा ? न तावदाद्यं पक्षं क्षेमङ्करः, अग्निस्वरूपस्य तदवस्थतयाध्यक्षैर्वाध्यवसायात् । नापि द्वितीयं, सहकारिस्वरूपस्याप्यगुल्यग्निसयोगलक्षणस्याविकलतयोपलक्षणात् । अतः शक्तेरेवानेन प्रतिबन्धोभ्युपगन्तव्यः ।

अर्थात् यदि शक्ति न होती तो उसके द्वारा जो कार्य होते हैं वे नहीं होते, इस अनुमान प्रमाण से शक्ति का ग्रहण होता है ।

शंका—कार्यों की उत्पत्ति तो सामग्री से होती है, फिर वह अन्यथानुपपत्ति कौनसी है कि जिससे शक्ति की अनुमान के द्वारा सिद्धि की जा सके ? मतलब यह है कि कार्य तो सामग्री से होता है शक्ति से नहीं ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है हम जैन सामग्री से कार्य होने का निषेध नहीं करते हैं किन्तु प्रतिनियत निश्चित किसी एक सामग्री से प्रतिनियत निश्चित कोई एक कार्य होता हुआ देखकर अतीन्द्रिय शक्ति का सद्भाव हुए बिना ऐसा ही नहीं सकता, इस प्रकार अतीन्द्रिय शक्ति की सिद्धि करते हैं । सभी को ऐसा ही मानना चाहिये । यदि ऐसा न माना जाय तो बताइये कि प्रतिबन्धक मणि, मन्त्र आदि के सन्निधान होने पर अग्नि अपने स्फोट आदि कार्य को क्यों नहीं करती ? सामग्री तो सारी की सारी मौजूद है ? प्रतिबन्धक मणि आदि के द्वारा अग्नि का स्वरूप नष्ट किया जाता है अथवा सहकारी कारणों का विनाश किया जाता है ? अग्नि का स्वरूप नष्ट किया जाता है, ऐसा कहना तो कल्याणकारी नहीं होगा, क्योंकि अग्नि का स्वरूप तो प्रत्यक्ष से वैसा का वैसा दिखायी ही दे रहा है । दूसरा पक्ष—अग्नि के सहकारी कारणों का प्रतिबन्धक मणि आदि के द्वारा नाश किया जाता है ऐसा कहना भी गलत है, सहकारी अर्थात् अग्नि को प्रदीप्त करनेवाला अगुली और अग्नि का संयोग अर्थात् दियासलाई का अगुली से पकड़कर जलाना अथवा अन्य किसी पखा आदि साधन से ईन्धन को प्रज्वलित करना आदि सभी सहकारी कारण वहा जलती हुई अग्नि के समय दिखायी दे रहे हैं तब कैसे कह सकते हैं कि प्रतिबन्धक मणि आदि ने सहकारी

ननु चानेन नाग्नेः सहकारिणो वा स्वरूप प्रतिहन्यते, किन्तु स्वभाव एव निवर्त्यते, अतः स्फोटादिकार्यस्यानुत्पत्ति प्रतिबन्धकमणिमन्त्राद्यभावस्यापि तदुत्पत्तौ सहकारित्वात् तदभावे तदनुत्पत्ते ; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; उत्तम्भकमणिसन्निधाने कार्यस्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । न खलु तदा प्रतिबन्धकमण्याद्यभावोस्ति प्रत्यक्षविरोधात् । ननु यथाग्निः प्रतिबन्धकमण्याद्यभावसहकारी स्फोटादिकार्यं करोति, एव प्रतिबन्धकमण्यादिः उत्तम्भकमण्याद्यभावसहकारी तत्प्रतिबन्ध करोति, अतो न

का नाश किया है । इसलिये ऐसा ही मानना चाहिये कि प्रतिबधक मणि मन्त्रादि के द्वारा अग्नि की शक्ति ही नष्ट की गयी है ।

नैयायिक— प्रतिबधक मणि आदि के द्वारा न तो अग्नि का स्वरूप ही नष्ट किया जाता है और न सहकारी स्वरूप का नाश किया जाता है, किन्तु अग्नि का जो स्वभाव है वही उस समय हटा दिया जाता है, इसी कारण से उस अग्नि से स्फोट आदि कार्य नहीं हो पाते तथा प्रतिबधक मणिमन्त्र आदि का जो अभाव है वह भी स्फोट आदि के उत्पत्ति में सहकारी बन जाता है क्योंकि प्रतिबधक के अभाव हुए बिना स्फोटादि कार्य उत्पन्न नहीं हो पाते है ?

जैन—यह कथन बिना सोचे किया है क्योंकि प्रतिबधक के अभाव से सहकृत हुई अग्नि अपना स्फोटादि कार्य करती है ऐसा यदि माना जावे तो उत्तम्भक मणि के सन्निधान में अग्नि के कार्य रूप जो स्फोट आदि होते है वे नहीं हो सकेगे । क्योंकि उस समय प्रतिबधक मणि आदिका अभाव नहीं है, यदि माने तो प्रत्यक्ष विरोध आता है ।

शंका— जिस प्रकार अग्नि प्रतिबधक मणि आदि के अभाव से सहकृत होकर अपना स्फोट आदि कार्य को करती है, उसी प्रकार प्रतिबधक मणि आदि भी उत्तम्भक मणि के अभाव से सहकृत होकर हो स्फोट आदि कार्य के प्रतिबधक होते है, [स्फोटादि को नहीं होने देना रूप कार्यको करते है] अतः उस उत्तम्भक मणिके सन्निधान में कार्य की अनुत्पत्ति नहीं रहती [अर्थात् कार्य की उत्पत्ति होती है] ।

समाधान—अच्छा जैसा तुम कहते हो वैसा ही सही किन्तु यह तो कहो कि प्रतिबन्धक और उत्तम्भक मणि मन्त्रादि के अभाव में अग्नि अपना कार्य करती है कि नहीं करती ? यदि उत्तर विकल्प कहा कि नहीं करती है तो ऐसे कहने में प्रत्यक्ष से विरोध आता है अर्थात् कोई मणि मन्त्र नहीं है तो भी अग्नि अपना कार्य करती ही है ।

तत्सन्निधाने कार्यस्यानुत्पत्तिरिति । अस्तु नामैतन्, तथापि—प्रतिबन्धकोत्तम्भकमणिमन्त्रयोरभावेऽग्नि-
स्वकार्यं करोति, न वा ? न तावदुत्तरः पक्षः, प्रत्यक्षविरोधात् । प्रथमपक्षे तु कस्याभावः अग्ने सह-
कारी—सयोरन्यतरस्य, उभयस्य वा ? न तावदुभयस्य, अन्यतराभावे कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । अन्य-
तरस्य चेत्किं प्रतिबन्धकरय, उत्तम्भकस्य वा ? प्रतिबन्धकस्य चेत्; स एवोत्तम्भकमण्यादिसन्निधाने
कार्यानुत्पादप्रसङ्गं तदा तस्याभावाप्रसिद्धे । उत्तम्भकस्य चेत्, अत्राप्ययमेव दोषः । न चाभावस्य

प्रथम विकल्प—प्रतिबन्ध और उत्तम्भक के अभाव में अग्नि अपना कार्य करती है ऐसा
कहो तो हम पूछते हैं कि इनमें से किसका अभाव अग्नि का सहकारी बना उन दोनों में से
किसी एक का या दोनों का ? यदि दोनों का अभाव अग्नि का सहकारी है ऐसा कहो
तो ठीक नहीं, क्योंकि दोनों के अभाव जब नहीं है केवल एक का ही अभाव है तब
अग्नि का कार्य रुक जाने का प्रसंग प्राप्त होगा, किन्तु ऐसा होता नहीं । यदि दोनों
अभावों में से कोई एक अभाव अग्नि का सहकारी है ऐसा पक्ष ग्रहण किया जाय तो
प्रश्न होगा कि दोनों में से किसका अभाव कारण है, प्रतिबन्धक का अभाव कि
उत्तम्भक का अभाव ? प्रतिबन्धक का अभाव अग्नि का सहकारी है ऐसा माने तो वही
पहले का दोष आयेगा कि उत्तम्भक मणि आदि के सङ्काव में अग्नि कार्य उत्पन्न नहीं
होगा ? क्योंकि उस समय प्रतिबन्धक के अभाव की असिद्धि है । उत्तम्भक का अभाव
अग्नि का सहकारी है ऐसा कहो तो गलत होगा, फिर तो उत्तम्भक की मौजूदगी में जो
अग्नि कार्य दिखायी देता है वह नहीं दिखायी देगा । आपके यहाँ अभाव कार्य का सहकारी
बन भी नहीं सकता, क्योंकि वह सर्वथा अभावरूप है, यदि कार्यकारी है तो अवश्य
ही वह भावरूप हो जावेगा, भावका अर्थात् पदार्थ का लक्षण तो यही है कि अर्थक्रिया
को करना, कार्य को करना और कोई भाव का लक्षण नहीं होता है ।

भावार्थ—नैयायिक अतीन्द्रिय शक्ति को नहीं मानते हैं, आचार्य उनको समझा
रहे हैं कि प्रत्येक पदार्थ में जो कार्य की क्षमता रहती है वह दृष्टिगोचर नहीं होती है,
वस्तु का स्वरूप मात्र शक्ति नहीं है और वह स्वरूप भी पूरा प्रत्यक्ष गोचर नहीं हुआ
करता, वस्तु का स्वरूप ही कार्य करता हो तो अग्नि जल रही है उस वक्त किसी
मात्रिक ने अग्नि उत्तम्भक मन्त्र से अग्नि की दाह शक्तिको रोक दिया तब वह अग्नि
पहले के समान प्रज्वलित [धधकती] हुई भी जलाती नहीं सो वहाँ अग्नि का कुछ
बिगड़ता नहीं, तो कौन सी बात है जो जलाती नहीं । अतः सिद्ध होता है कि अग्नि के
बाहरी स्वरूप से पृथक् ही एक शक्ति है । उत्तम्भक मणि मन्त्र और प्रतिबन्धक मणि

कार्यकारित्व घटते भावरूपतानुषङ्गात्, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वात्परमार्थसतो लक्षणान्तराभावात्।

कश्चास्याभाव कार्योत्पत्तौ सहकारी स्यात्—किमितरेतराभावः, प्रागभावो वा स्यात्, प्रध्वंसो वा, अभावमात्रं वा ? न तावदितरेतराभावः; प्रतिबन्धकमणिमन्त्रादिसन्निधानेप्यस्य सम्भवात्। नापि प्रागभाव, तत्प्रध्वंसोत्तरकाल कार्योत्पत्त्यभावप्रसङ्गात्। नापि प्रध्वंसः प्रतिबन्धकमण्यादिप्राग-भावावस्थाया कार्यस्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न च भावादर्थान्तरस्याभावस्य सद्भावोक्ति, तस्यानन्तरमेव

मंत्र क्रमशः अग्नि की शक्ति को प्रकट करनेवाले और रोकनेवाले होते हैं। इन मणि आदि का अभाव अर्थात् प्रतिबन्धक मणि आदिका अभाव मात्र अग्नि का सहकारी नहीं है। प्रतिबन्धक का अभाव नहीं हो तो भी अग्नि का कार्य देखा जाता है। नैयायिक अभावको तुच्छाभावरूप मानते हैं अतः प्रतिबन्धक का अभाव अग्नि का सहकारी है ऐसा वे कह भी नहीं सकते, यदि कहते हैं तो अभाव को जैनके समान भावरूप [पदार्थ रूप] धाननेका प्रसंग आवेगा। जो अर्थक्रिया को करता है वही वास्तविक भाव या पदार्थ होता है। इस प्रकार अग्नि की शक्ति अतीन्द्रिय है यह उपर्युक्त प्रतिबन्धक मणि आदि के उदाहरणों से सिद्ध हो जाता है ॥ आप नैयायिक से हम जैनका प्रश्न है कि प्रतिबन्धकका अभाव कार्यकी उत्पत्ति में सहकारी माना गया है, वह कौनसा अभाव है, इतरेतराभाव, प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अथवा अभाव सामान्य ? इतरेतराभाव सहकारी है ऐसा कहना शक्य नहीं, क्योंकि इतरेतराभाव [एक का दूसरे में अभाव जो होता है वह] रहने मात्रसे कोई कार्य में सहायता नहीं पहुचती, ऐसा अभाव तो प्रतिबन्धक मणि मन्त्र आदि के सन्निधानमें भी होता है किन्तु कार्य तो नहीं होता अर्थात् प्रतिबन्धक में उत्तमक का अभाव है वह इतरेतराभाव है वह जब प्रतिबन्धक रखा है और उत्तमक नहीं है ऐसे स्थान पर अग्नि का सहकारी जो इतरेतराभाव बताया गया है वह तो है, किन्तु कार्य स्फोट आदि होते नहीं। इसलिये इतरेतराभाव सहकारी नहीं होता। प्रागभाव भी सहकारी होता नहीं, यदि प्रागभाव सहकारी होगा तो जब प्रागभाव का नाश होता है तब कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि सहकारी कारण नष्ट हो गया है। प्रध्वंसाभाव भी सहकारी बनता नहीं, प्रध्वसाभाव जब नहीं है ऐसे प्रतिबन्धकमणि आदि की जो प्रागभाव अवस्था होती है उस समय कार्य उत्पन्न नहीं हो सकेगा, मतलब प्रतिबन्धक मणि आदि अभी हुए ही नहीं है ऐसे प्रागभाव अवस्था में अग्नि कार्य चलता है वह नहीं होवेगा ? क्योंकि प्रध्वसाभाव होने तब कार्य करे। सो ऐसा है नहीं तथा

निराकरिष्यमाणत्वात् । अतो निराकृतमेतत्—‘यस्यान्वयव्यतिरेकी कार्येणानुक्रियेते सोऽभावस्तत्र सहकारी सहकारिणामनियमात्’ इति ।

कथं चैववादिनो मन्त्रादिना कश्चित्प्रति प्रतिबद्धोप्यग्नि स एवान्यस्य स्फोटादिकार्यं कुर्यात्? प्रतिबन्धकाभावस्य सहकारिण कस्यचिदप्यभावात् । न चाश्मत्पक्षेप्येतच्चोर्ध्वं समानम्, वस्तुनोऽनेक-शक्त्यात्मकत्वात्कस्याश्चित्केनचित्कश्चित् [प्रति] प्रतिबन्धेप्यन्यस्याः प्रतिबन्धाभावात् । नाप्यभाव-

भावपने को छोड़कर पृथक् अभाव होता नहीं । भाव से सर्वथा पृथक् ऐसा अभावका [तुच्छाभावका] हम आगे खण्डन करनेवाले हैं इसलिये आपका निम्नलिखित कथन निराकृत हुआ कि जिसका अन्वयव्यतिरेक कार्य का अनुकरण करता है वह अभाव उस कार्य में सहकारी होता है । हम जैनका तो यह कहना है कि सहकारी कारणों में यह नियम नहीं कि वे भावरूप ही हो या अभावरूप ही हो, सहकारी कारण तो दोनों रूप हो सकते हैं । नैयायिकने अभाव को सहकारी कारण माना है अर्थात् अग्नि के स्फोट आदि कार्य होने में प्रतिबन्धक मणि आदि का अभाव सहकारी कारण है ऐसा जो कहा है वह ठीक नहीं, देखो ! अग्नि की शक्ति को किसी व्यक्ति विशेष के प्रति जब मन्त्रादि से स्तम्भित कर दिया जाता है तो उस पुरुष को तो जलाती नहीं किन्तु वही अग्नि उसी समय अन्य व्यक्ति या वस्तु के प्रति जो स्फोट जलाना आदि कार्य करती है सो वह किस प्रकार बन सकता है ? क्योंकि सहकारी कारण जो “प्रतिबन्धक का अभाव” है वह (प्रागभावादि) नहीं है । [उल्टे वहाँ तो प्रतिबन्धक का सद्भाव है] इसलिये सिद्ध होता है कि प्रतिबन्धक का अभाव अग्नि का सहकारी नहीं है । कोई कहे कि जैन के पक्ष में भी यही दोष आते हैं, प्रश्न होते हैं, कि अग्नि की शक्ति को प्रतिबन्धक मणि आदि रोकते हैं तो वे सबके प्रति ही क्यों नहीं रोकते ? इत्यादि सो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि हम जैन तो अग्नि आदि वस्तुओं को अनेक शक्ति वाले मानते हैं, उन अनेक शक्ति में से किसी एक शक्ति को प्रतिबन्धक मणि आदि के द्वारा किसी पुरुष विशेष के प्रति रोक दिया जाय तो भी अन्य शक्ति तो रुकती नहीं, अतः अन्य किसी पुरुष आदि के प्रति स्फोट आदि कार्य होते रहते हैं । कार्य की उत्पत्ति में सामान्य से अभावमात्र सहकारी होता है इस पक्ष पर अब विचार किया जाता है । वस्तु से अर्थान्तरभूत (सर्वथा पृथक्) ऐसे अभावका जब खण्डन हो चुका है तब उसमें रहने वाला सामान्य अभाव (अभावमात्र) भी खण्डित हो चुका समझना चाहिये तथा नैयायिक के मतानुसार अभाव में सामान्य रहता ही नहीं, वह तो द्रव्य गुण कर्म इन

मात्र सहकारि, वस्तुनोर्यान्तरस्याभावस्याभावे तद्गतसामान्यस्याप्यसम्भवात् । न चाभावस्य सामान्य सम्भवति, द्रव्यगुणकर्मान्यतरूपतानुषङ्गात् । ततः प्रतिबन्धकमण्यादिप्रतिहतशक्तिर्वह्निः स्फोटादिकार्यस्यानुत्पादकस्तद्विपरीतस्तूत्पादक इत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

ततो निराकृतमेतत् 'कार्यं स्वोत्पत्तौ प्रतिबन्धकाभावोपकृतोभयवाद्यविवादास्पदकारकव्यतिरिक्तानपेक्षम्, तन्मात्रादुत्पत्तावनुपपद्यमानबाधकत्वात्, यत्तु यतो व्यतिरिक्तमपेक्षते न तत्तन्मात्रजत्वे-

तीनों में रहता है यदि अभाव में सामान्य है तो उसे द्रव्यादिमे से किसी एक रूप मानना पडेगा अर्थात् अभाव द्रव्य गुण या कर्म रूप कहलायेगा ? अतः जिस अग्नि की शक्ति प्रतिबन्धक मणि आदि के द्वारा प्रतिहत (नष्ट) हुई है वह अग्नि स्फोट दाह आदि कार्य को नहीं करती और जो इससे विपरीत अग्नि है वह स्फोटादि कार्यको करती है ऐसा निर्दोष सिद्धात स्वीकार करना चाहिये । इस प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में कार्यों को उत्पन्न करने के सबधमें अनेक २ शक्तिया हुआ करती है ऐसा सिद्ध होता है इसलिये निम्नलिखित अनुमान प्रयोग गलत ठहरता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति में जो कारण प्रतिबन्धकके अभावसे उपकृत है एव वादी प्रतिवादी द्वारा अविवादारूपसे स्वीकृत है ऐसे कारण को छोडकर अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं रखता है, (पक्ष) क्योंकि उतने कारण मात्रसे उसकी उत्पत्ति माननेमें कोई बाधा नहीं आती । [हेतु] जो कार्य उतने कारण से अतिरिक्त अन्य कारणकी अपेक्षा रखता है तो फिर उसकी निष्पत्ति उतने कारणसे होती भी नहीं उसको उतने कारण मात्रसे मानेगे तो बाधा आयेगी, जैसे वस्त्रको तन्तु मात्र कारणसे उत्पन्न होना माने तो बाधा आती है, किन्तु यह विवक्षित स्फोट आदि जो कार्य है वह वस्त्र कार्यके समान नहीं है अतः उसमें पूर्वोक्त कारणके अतिरिक्त अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं हुआ करती अब यहां यह उपर्युक्त अनुमान क्यों गलत है इस बातका स्पष्टीकरण करते हैं—

इस अनुमान में हेतु असिद्ध है क्योंकि स्फोट आदि जो अग्निका कार्य परवादी के है वह मात्र प्रतिबन्धक के अभाव से नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेमें पहले के कथनानुसार अनेक बाधाये उपस्थित होती है । आप नैयायिक ने कहा था कि वस्तु का स्वरूप ही कार्यमें सहकारी है और कोई शक्ति आदि नहीं है, क्योंकि उसकी प्रतीति ही नहीं आती इत्यादि, सो ऐसा मानने पर माला स्त्री आदि प्रत्यक्ष से उपलब्ध हुए कारण कलाप को छोडकर अन्य अदृष्टकी (पुण्य की) प्रतीति नहीं होती अतः उसका

ऽनुपपद्यमानवाधकम् यथा तन्तुमात्रापेक्षया पटः, न च तथेदम्, तस्माद्यथोक्तसाध्यम्' इति, हेतोर-
सिद्धेः, तन्मात्रादुत्पत्ती कार्यस्य प्रागुक्तन्यायेनानेकवाधकोपपत्ते ।

स्वरूपसहकारिव्यतिरेकेण शक्तेः प्रतीत्यभावादसत्त्वे वा स्रग्वनितादिदृष्टकारणकलापव्यति-
रेकेणादृष्टस्याप्यप्रतीतितोऽसत्त्वं स्यात्, तथा चासाधारणनिमित्तकारणाय दत्तो जलाञ्जलि । कथं
चैववादिनो जगतो महेश्वरनिमित्तत्व सिध्येत् ? विचित्रक्षित्यादिदृष्टकारणकलापादेवाकुरादिविचित्र-

भी असत्त्व मानना होगा ? फिर तो आपने इस प्रकार की मान्यता से असाधारण
[विशेष] कारणको जलाञ्जलि दी है ऐसा समझना होगा । किंच—यदि आप स्वरूप
मात्रको कार्य का उत्पादक मानते हैं तो जगत सृष्टि का कारण ईश्वर है ऐसा आप
किस प्रकार से सिद्ध कर सकते हैं ? क्योंकि विचित्र पृथिवी आदि जो कि प्रत्यक्ष से
दिखाई दे रहे हैं उन्हीं कारण कलापो से विचित्र अनेक प्रकार के अकुर आदि कार्य
उत्पन्न होते हुए प्रतीति में आते हैं, फिर उन पृथिवी पर्वत वृक्ष आदि का कर्त्ता एक
ईश्वर है ऐसी कल्पना आप सृष्टि कर्त्तावादी क्यों करते हैं ? यदि कहा जाय कि
अनुमान से पृथिवी आदि का कारण जो ईश्वर है उसको सिद्ध करते हैं तो यही बात
शक्ति में भी घटित कर लेनी चाहिये, देखो—जो कार्य होता है वह असाधारण धर्मवाले
कारण (शक्ति) से ही होता है, (साध्य) मात्र सहकारी या इतर कारण से नहीं
होता, जैसे सुख, अकुर आदि में असाधारण कारण [अदृष्ट—पुण्य ईश्वर आदि माने हैं,
इन कारणों से सुखादिक होते हैं, मात्र स्त्री या पृथिवी आदि सहकारी कारणों से
सुखादिक नहीं होते हैं । ऐसा आप स्वीकार करते हैं—इसी तरह स्फोट आदि समस्त
उत्पन्न होते हुए वस्तुभूत कार्य हैं, अत वे भी असाधारण धर्मवाले कारण से ही
उत्पन्न होते हैं । इसतरह यहाँ तक ग्राहक प्रमाण का अभाव होनेसे शक्ति को नहीं
मानते हैं, इस पर पक्ष का निरसन किया और यह सिद्ध करके बताया कि अनुमान
प्रमाण शक्ति का सद्भाव सिद्ध करता है ।

भावार्थ—नैयायिक ने शक्ति को नहीं माना है, प्रत्येक कार्य कारणके स्वरूप
से और सहकारी मात्र से उत्पन्न होता है, कोई अदृष्ट-अतीन्द्रिय कारण की जरूरत नहीं
होती ऐसा उन्होंने माना है, किन्तु यह मान्यता लौकिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टियों
से असत् है, लोक व्यवहारमें अनेक मनुष्य समानरूप से पुष्ट और निरोग भी रहते हैं
किन्तु कार्यभार वहन करने की क्षमता उनमें अलग अलग हुआ करती है, उससे सिद्ध

कार्योत्पत्तिप्रतीते । अनुमानात्तस्य तन्निमित्तत्वसाधने शक्तेरप्यत एव सिद्धिरस्तु । तथाहि—यत्कार्यम् तदसाधारणधर्माध्यासितादेव कारणादाविभवति सहकारीतरकारणमात्राद्वा न भवति यथा सुखाकुरादि, कार्यं चेद निखिलमाविर्भावद्वस्त्विति । एतेनैवातीन्द्रियत्वात्तदभावोऽपास्तः ।

यदप्युक्तम्—‘पृथिव्यादीना पृथिवीत्वादिकमेव निजा शक्तिः’ इत्यादि, तदप्यपेशलम्, मृत्पिण्डादिभ्योपि पटोत्पत्तिप्रसङ्गात् सहकारीतरशक्तेस्तत्राप्यविशेषात् । अथ न पृथिवीत्वादिमात्रो-

होता है कि शरीर की पुष्टता या निरोगता मात्र कार्य के संपादन करने में निमित्त नहीं है और भी अदृष्ट अतीन्द्रिय वीर्यान्तराय का क्षयोपशम आदि रूप कोई शक्ति है जिसके निमित्त से बाह्य में समानता होते हुए भी कार्य करने में अपनी अपनी क्षमता पृथक् पृथक् होती है । यदि बाह्य में स्त्री माला, चदन आदि पदार्थ ही सुख के कारण हैं तो उन्हीं नैयायिकों द्वारा माना हुआ अदृष्ट नामा पदार्थ असिद्ध हो जाता है । इसलिये सुखादि कार्यों में तथा पृथिवी अंकुर आदि कार्यों में जैसे अतीन्द्रिय तथा असाधारण कारण पुण्य तथा ईश्वर है उसी प्रकार अग्नि आदि में अतीन्द्रिय शक्ति है, उसके द्वारा जलाना आदि कार्य होते हैं ऐसा सिद्ध हुआ । अब शक्ति अतीन्द्रिय होनेसे असत् है क्या ऐसा दूसरा विकल्प जो पूछा था उसके विषयमें आचार्य एक ही वाक्य में जबाब देते हैं कि जैसे ग्राहकप्रमाण का अभाव होने से शक्ति का अभाव है, यह पक्ष खण्डित हुआ है वैसे ही अतीन्द्रिय होनेसे शक्ति का अभाव है, ऐसा कहना खण्डित होता है । अतीन्द्रिय पदार्थ प्रत्येक मतवालों में स्वीकार किये ही हैं, आप नैयायिक के यहाँ क्या ईश्वर अदृष्ट आदि अतीन्द्रिय नहीं हैं ? वैसे ही शक्ति अतीन्द्रिय है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये । नैयायिक ने कहा था कि पृथिवी आदि में जो पृथिवीत्व आदि हैं वही उसकी अपनी शक्ति है, अर्थात् पृथिवी में जो पृथिवीपना है, जलमें जो जलत्व है इत्यादि, सो वही पृथिवी आदि पदार्थोंकी निज की शक्ति है इत्यादि । सो यह कथन गलत है क्योंकि ऐसी मान्यता में मिट्टीके पिण्ड आदि से पट की उत्पत्ति होने का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि सहकारी एव इतर [उपादानादि] कारणोंकी शक्ति वही मिट्टी आदि में समान रूपसे मौजूद ही है, कोई विशेषता नहीं है ।

शंका—मात्र पृथिवीत्व आदि से युक्त जो पदार्थ है, उनका वस्त्र आदि की उत्पत्ति में व्यापार नहीं होता है, जिससे अतिप्रसंग आवे, किन्तु वस्त्र की उत्पत्ति में

पलक्षितानामर्थानां पटाद्युत्पत्तौ व्यापारो येनातिप्रसङ्गः स्यात्, तन्तुत्वाद्यसाधारणनिजशक्त्युपलक्षितानामेव तत्र तेषां व्यापारात्, इत्यभ्यसाम्प्रतम्, तन्तुत्वाद्युपलक्षितानां दग्धकुथिताद्यर्थानामपि तज्जनकत्वप्रसङ्गात् । अवस्थाविशेषसमन्वितानां तन्तूनां कार्यरिम्भकत्वादयमदोषः, इत्यपि मनोरथमात्रम्, शक्तिविशेषमन्तरेणावस्थाविशेषस्यैवासम्भवात्, अन्यथा दग्धादिस्वभावानामपि तेषां स स्यात् ।

यच्चोच्यते—शक्तिर्नित्याऽनित्या वेत्यादि, तत्र किमयं द्रव्यशक्तौ, पर्यायशक्तौ वा प्रश्नः स्यात्, भावानां द्रव्यपर्यायशक्त्यात्मकत्वात्? तत्र द्रव्यशक्तिर्नित्यैव अनादिनिघनस्वभावत्वाद्द्रव्यस्य । पर्याय-

तो तन्तुत्व आदि असाधारण निज शक्ति से युक्त जो पदार्थ है, उसीका व्यापार होता है, अर्थात् वस्त्रकी उत्पत्ति में पृथिवीत्वादि कारण नहीं होते हैं, किन्तु तन्तुत्व आदि असाधारण शक्तिसे युक्त तन्तु ही कारण होते हैं ?

समाधान—यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा असाधारण कारण मानने पर भी दोष आता है, यदि तन्तुत्व आदिसे युक्त तन्तु ही वस्त्र के असाधारण कारण हैं, तो जो तन्तु जले हैं, सड़ गये हैं, उनमें भी कार्य करने का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि तन्तुत्व तो वहाँ पर भी है ।

शंका—अवस्था विशेष से जो युक्त है, ऐसे ही तन्तु वस्त्र रूप कार्यको करते हैं, ऐसा हमने माना है, अतः कोई दोष नहीं है ?

समाधान—शक्ति विशेष को स्वीकार किये बिना अवस्थाविशेष की ही असभावना है, क्योंकि शक्ति विशेष छोड़कर और कोई अवस्था विशेष सिद्ध नहीं होता है । यदि शक्ति विशेष के बिना अवस्था विशेष होता है तो दग्ध-जले आदि अवस्थावाले तन्तु भी परोत्पत्ति में व्यापार करने लगेंगे । नैयायिक ने पूछा कि शक्ति नित्य है, कि अनित्य है इत्यादि ? सो यह प्रश्न द्रव्य शक्तिके विषय में है अथवा पर्यायशक्तिके विषय में है ? क्योंकि, पदार्थ द्रव्य शक्ति और पर्याय शक्ति स्वरूप होते हैं । यदि द्रव्य शक्ति के विषय में नित्य अनित्य की चर्चा है तो उसका समाधान यह है कि द्रव्य शक्ति नित्य ही मानी गई है, क्योंकि द्रव्य अनादि निघन होता है । यदि पर्याय शक्तिके विषय में है, क्योंकि पर्याये सादि सात (आदि और अतः सहित) हुआ करती है । तथा यह बात भी अच्छी तरह से सुनिये कि शक्ति को नित्य मानने पर पदार्थ अपने कार्य को सहकारी कारणों की अपेक्षा लिये बिना ही करेगा, सो बात नहीं

शक्तिस्त्वनित्यैव सादिपर्यवसानत्वात्पर्यायाणाम् । न च शक्तेर्नित्यत्वे सहकारिकारणानपेक्षयैवार्थस्य कार्यकारित्वानुषङ्गः, द्रव्यशक्तेः केवलाया कार्यकारित्वानभ्युपगमात् । पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्तिः कार्यकारिणी, विशिष्टपर्यायपरिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्वप्रतीते । तत्परिणतिश्चास्य सहकारिकारणापेक्षया इति पर्यायशक्तेस्तदेव भावान्न सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः सहकारिकारणापेक्षा-वैयर्थ्यं वा । ऋथमन्यथा अदृष्टेश्वरादेः केवलस्यैव सुखादिकार्योत्पादनसामर्थ्यं सर्वदा कार्योत्पादकत्व सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्यं वा न स्यात् ?

है, क्योंकि हम जैन अकेली द्रव्य शक्ति कार्य को करती है ऐसा मानते ही नहीं है । देखिये । पर्यायशक्ति युक्त जो द्रव्य शक्ति होती है, वही कार्य करती है । प्रतीति में भी आता है कि विशिष्ट पर्याय से युक्त जो द्रव्य है, वही कार्यको करता है, अन्य नहीं । द्रव्य की विशिष्ट पर्यायरूप से जो परिणति होती है, वह सहकारी की अपेक्षा लेकर ही होती है, अतः जब पर्याय शक्ति होती है, तब कार्य होता है, अन्यथा नहीं । इसलिये हमेशा कार्य उत्पन्न होने का प्रसंग नहीं आता और सहकारी कारणों की अपेक्षा भी व्यर्थ नहीं जाती, क्योंकि पर्याय शक्ति के लिये सहकारी की आवश्यकता है । यदि पर्यायशक्ति की आवश्यकता नहीं माने तो अदृष्ट, ईश्वरादि अकेले ही सुख, अकुर आदि कार्यो को उत्पन्न करके मे समर्थ हो जाने से सर्वदा कार्य होने का प्रसंग आता है, तथा उन ईश्वरादि की सहकारी कारणादि की अपेक्षा करना भी सिद्ध नहीं होता अतः पर्यायशक्ति युक्त पदार्थ है, ऐसा सिद्ध हो गया । तथा—आपने पूछा था कि शक्त [समर्थ] शक्तिमान से शक्ति उत्पन्न होती है, या अशक्त शक्तिमान से शक्ति उत्पन्न होती है, इत्यादि सो उन प्रश्नों का उत्तर तो यह है कि शक्त-शक्तिमान से ही शक्ति पैदा होती है, तथा ऐसा मानने पर यद्यपि अनवस्था आती है फिर भी ऐसी अनवस्था दोष के लिये नहीं होती क्योंकि यह शक्तिकी परपरा तो बीजांकुर के समान अनादि प्रवाहरूप मानी गई है । इसी का विवेचन करते हैं । वर्तमान की शक्ति अपने पहले शक्ति युक्त पदार्थ से आविर्भूत होती है, और पदार्थ की शक्ति भी पहले के शक्ति युक्त पदार्थ से आविर्भूत होती है [प्रगट होती है] जैसे पूर्व पूर्व अवस्था युक्त पदार्थोंकी उत्तरोत्तर अवस्था उत्पन्न होती रहती है । नैयायिक यदि शक्तिका प्रादुर्भाव शक्तिमान से होता है, ऐसा मानने में अनवस्थादोषका उद्घावन करते हैं तो उनके यहां पर अदृष्टका [भाग्य का] आविर्भाव होना कैसे सुघटित होगा ? क्योंकि उस अदृष्ट के विषय में भी प्रश्न होंगे कि आत्मा के द्वारा अदृष्ट जो

यदप्यभिहितम् शक्तादशक्ताद्वा तस्या प्रादुर्भाव इत्यादि; तत्र शक्तादेवास्याः प्रादुर्भाव । न चानवस्था दोषाय, बीजाङ्कुरादिवदनादित्वात्तत्प्रवाहस्य । वर्त्तमाना हि शक्तिः प्राक्तनशक्तियुक्ते-
नार्थेनाविभाव्यते, सापि प्राक्तनशक्तियुक्तेनेति पूर्वपूर्वावस्थायुक्तार्थानामुत्तरोनरावस्थाप्रादुर्भाववत् ।
कथं चैव वादिनोऽदृष्टस्याप्याविर्भावो घटते ? तद् ध्यात्मना अदृष्टान्तरयुक्तेनाविभाव्यते, तद्रहितेन वा ?
प्रथमपक्षेऽनवस्था । द्वितीयपक्षे तु मुक्तात्मवत्तस्य तज्जनकत्वासम्भव ।

प्रकट किया जाता है, वह अन्य अदृष्ट से युक्त हुए आत्मा से प्रकट किया जाता है, या बिना अदृष्ट युक्त हुए आत्मा से प्रकट किया जाता है ? यदि अन्य अदृष्ट से युक्त होकर वह आत्मा अदृष्ट को उत्पन्न करता है, तो अनवस्था तैयार है । दूसरा पक्ष-आत्मा अन्य अदृष्ट से युक्त नहीं होते हुए ही अदृष्ट को उत्पन्न करता है, तो मुक्त जीवों की तरह ससारी जीव-भी अदृष्ट को उत्पन्न नहीं कर सकेंगे ? तथा आप यदि शक्ति और शक्तिमान में परपरारूप अनादिपना मानने में अनवस्था दोष देते हैं तो ईश्वर संपूर्ण कार्योका कर्त्ता है, ऐसा कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि इस विषय में भी शक्ति और शक्तिमान् जैसे प्रश्न होंगे अर्थात् ईश्वर यदि अदृष्ट रूप सहकारी कारण से रहित होकर कार्य करता है तो संपूर्ण कार्य एक समय में उत्पन्न हो जाना चाहिये ? क्योंकि कार्यो के करनेमें उसे अन्य सहकारी कारणों की जरूरत तो है नहीं जिससे कि कार्य रुक जाय । इस दोष से बचने के लिए यदि अदृष्ट रूप सहकारी कारण युक्त होकर वह महेश्वर कार्यो का उत्पादक होता है, ऐसा माना जाये तो वे सहकारी कारण भी अन्य सहकारी कारणों से सहित होकर ही महेश्वर द्वारा किये जावेंगे । इस तरह ऊपर ऊपर सहकारी की अपेक्षा बढ़ती जाने से अनवस्था आयेगी ।

पूर्व पूर्व अदृष्टरूप सहकारी कारणों से युक्त होकर आत्मा और महेश्वर उत्तर उत्तर अदृष्ट के सम्पूर्ण कार्य विशेष को करते हैं, ऐसा माने तो संपूर्ण पदार्थ भी पूर्व पूर्व शक्ति से समन्वित होकर ही आगे आगे की शक्ति को उत्पन्न करते हैं, ऐसा भी मान लेना चाहिये, व्यर्थके दुराग्रह से क्या लाभ ? आपने जो शका करी थी कि शक्तिमान से शक्ति भिन्न है कि अभिन्न है । इत्यादि सो ऐसी शका भी अयुक्त है, क्योंकि हम स्याद्वादियों ने शक्ति को शक्तिमान से कथंचित् भिन्न भी माना है । शक्तिमान से शक्ति भिन्न है वह किस अपेक्षा से है, यही अब प्रगट करते हैं-शक्तिमान् से शक्ति भिन्न है, क्योंकि शक्तिमान के प्रत्यक्ष होनेपर भी शक्तिका प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर वह शक्ति कार्य की अन्यथानुपपत्ति से ही जानी जाती है । [यदि शक्ति नहीं

किञ्च, कथं वा महेश्वरस्याखिलकार्यकारित्वम् ? सहकारिरहितस्य तत्कारित्वे सकलकार्या-
णामेकदैवोत्पत्तिप्रसङ्गात् । तत्सहितस्य तत्कारित्वे तु तेषु सहकारिणोऽन्यसहकारिसहितेन कर्तव्या
इत्यनवस्था । पूर्वपूर्वादृष्टसहकारिसमन्वितयोरात्मेश्वरयोः उत्तरोत्तरादृष्टाखिलकार्यकारित्वे निखिल-
भावानां पूर्वपूर्वशक्तिसमन्वितानामुत्तरोत्तरशक्त्युत्पादकत्वमस्तु, अत्र मिथ्याभिनिवेशेन ।

यच्चान्यदुक्तम्—शक्तिः शक्तिमतो भिन्नाऽभिन्ना वेत्यादि, तदप्युक्तम्, तस्यास्तद्वतः कथञ्चि-
द्भेदाभ्युपगमात् । शक्तिमतो हि शक्तिभिन्ना तत्प्रत्यक्षत्वेऽप्यस्याः प्रत्यक्षत्वाभावात्, कार्यान्यथानु-
पपत्त्या तु प्रतीयमानासी । तद्वतो विवेकेन प्रत्येतुमशक्यत्वादभिन्नेति । न चात्र विरोधाद्यवतारः;
तदात्मकवस्तुनो जात्यन्तरत्वात् मेचकज्ञानवत्सामान्यविशेषवच्च ।

होती तो अमुक कार्यं निष्पन्न नहीं होता, यही कार्यान्यथानुपपत्ति है] शक्तिमान
पदार्थ से वह शक्ति अभिन्न इस अपेक्षा से है कि वह पृथकरूप से दिखाई नहीं देती
है । इस प्रकार स्याद्वाद के अभेद्य किले से सुरक्षित यह शक्तिमान और शक्ति की
व्यवस्था अखण्डित रहती है, इसमें विरोध आदि दोषोका प्रवेश तक भी नहीं हो पाता
है, क्योंकि अपने गुणों से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न रूप मानी गई वस्तु
पृथक ही जाति की होती है, अर्थात् वस्तु न सर्वथा भेदरूप ही है और न सर्वथा
अभेद रूप ही है । वह तो मेचक ज्ञानके समान अथवा सामान्य विशेष के समान अन्य
ही जाति की होती है । तथा नैयायिक ने कहा है कि एक शक्तिमान में एक ही शक्ति
रहती है, या अनेक शक्तिया रहती है—इत्यादि, सो उस पर हम आपको बताते हैं कि
पदार्थ में अनेक शक्तिया रहा करती है, देखो ! कारण अनेक शक्ति युक्त होते हैं, क्योंकि
वे अनेक कार्यों को करते हैं, जैसे घटादि पदार्थ अनेक शक्तियुक्त होने से ही अनेक
कार्यों को करते हैं । अथवा विचित्र—नाना प्रकार के कार्य जो होते हैं वे कारणों के
विचित्र शक्ति भेद से ही होते हैं, क्योंकि वे विचित्र [अनेक] कार्य हैं, जैसे भिन्न
भिन्न पदार्थोंके कार्य भिन्न भिन्न ही हुआ करते हैं । इसी विषय का और भी खुलासा
करते हैं । कारणों में शक्ति भेद हुए बिना कार्यों में नानापना हो नहीं सकता, जैसे
रूप रस, गन्धादि ज्ञानों में होता है, अर्थात् जिस प्रकार ककड़ी आदि पदार्थ में रूप
आदि के ज्ञान होते हैं, वे ककड़ी के रूप रस आदि स्वभावों के भेद होने से ही होते
हैं, ककड़ी में अलग अलग रूप रसादि स्वभाव न हो तो उनका अलग अलग ज्ञान
कैसे होता ? क्षण स्थिति वाले एक ही दीपक आदि से भी बत्ती जलना, तैल समाप्त
करना आदि अनेक कार्य उत्पन्न होते हैं, वे शक्तियों के भेद बिना कैसे होते ? यदि

यत्पुनरुक्तमेकानेका वेत्यादि, तत्रार्थानामनेकैव शक्ति । तथाहि-अनेकशक्तियुक्तानि कारणानि विचित्रकार्यत्वान्नार्थवत् । विचित्रकार्याणि वा कारणशक्तिभेदनिमित्तकानि तत्त्वाद्विभिन्नार्थकार्यवत् । न हि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्व युक्त रूपादिज्ञानवत्, यथैव हि कर्कटिकादी रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि तथा क्षणस्थितेरेकस्मादपि प्रदीपादेर्भावाद् वर्तिकादाहतैलशोषादिविचित्रकार्याणि तच्छक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते, अन्यथा रूपादेर्नानात्व न स्यात् । चक्षुरादिसामग्रीभेदादेव हि तज्ज्ञानप्रतिभासभेदः स्यात्, कर्कटिकादिद्रव्य तु रूपादिस्वभावरहितमेकमनश्मेव स्यात् । चक्षुरादिवुद्धी प्रतिभासमानत्वाद् रूपादेः कथं कर्कटिकादिद्रव्यस्य

शक्ति भेद बिना होते तो उनमे रूप आदि का नानापना नही होता, फिर तो चक्षु आदि सामग्री के भेद मात्र से ही रूपादि ज्ञानों मे भेद प्रतिभास होता है, प्रतिभासके आलबनभूत ककडी आदि पदार्थ तो रूप आदि स्वभाव से दहित एक अनश मात्र ही है ऐसा मानना होगा । कहने का अभिप्राय यह हुआ कि यदि कारणों मे भेद हुए बिना कार्यों मे भेद होना माना जाय तो ककडी आम अमरूद आदि पदार्थों मे रूप रस, गन्ध वर्णादिका भेद तो है नही, सिर्फ चक्षु, रसना आदि इन्द्रियो के भिन्न भिन्न होनेसे रूप रसादि न्यारे न्यारे ज्ञान होते है, ऐसा गलत सिद्धान्त मानना पडेगा ।

शंका—चक्षु आदि से उत्पन्न होनेवाले ज्ञानो मे रूप आदि का तो प्रतिभास होता है, फिर ककडी आदि द्रव्यको उनसे रहित कैसे माना जाय ?

समाधान — तो फिर तैल शोष आदि अनेक कार्य अनुमान ज्ञानमे प्रतिभासित होते है, अत पदार्थों मे नाना शक्तिया हैं भी यह प्रतीति में आता है, फिर पदार्थ नाना शक्तियो से रहित है ऐसा कैसे माना जा सकता है । अर्थात् नही माना जा सकता ।

शंका—चक्षु आदि इन्द्रियजन्य ज्ञानों में साक्षात् प्रतिभासित होनेवाले रूप रस आदि स्वभाव ही परमार्थ सत् है [वास्तविक है] अनुमान ज्ञानमे प्रतीत होनेवाली शक्तिया वास्तविक नही है ?

समाधान—यह कथन ठीक नही है, क्योंकि ऐसा कहने से तो अदृष्ट ईश्वर आदि मे अवास्तविकता का प्रसंग होगा ? क्योंकि ईश्वरादि भी साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञानमे प्रतीत नही होते, सिर्फ अनुमान से ही जाने जाते है ।

तद्रहितत्वमिति चेत् ? तर्हि तैलशोषादिविचित्रकार्यानुमानबुद्धौ शक्तिनानात्वस्याप्यर्थाना प्रतीते कथं तद्रहितत्व स्यात् ? प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमाना रूपादय एव परमार्थसन्तो न त्वनुमानबुद्धौ प्रतिभास-

शंका—दीपक आदि एक ही द्रव्य में जो कार्य का नानापना है वह बत्ती आदि सहकारी सामग्री के नानापना के कारण है, अर्थात् प्रदीपादिक में दाहशोष आदि नाना कार्य होते हुए देखने में आते हैं, वे सहकारी नाना होनेसे देखने में आते हैं, न कि दीपक के शक्तियोंके स्वभाव भेदोसे ?

समाधान—यह भी बिना सोचे कहना है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो रूप आदि स्वभावो का ही अभाव हो जायेगा, फिर तो ऐसा कहा जा सकता है कि ककडी आदि द्रव्यों में चक्षु आदि सामग्री के भेद होने से ही रूप आदि का पृथक्-पृथक् प्रतिभास होता है न कि निजीरूप रसादि स्वभावके कारण । इस प्रकार के बड़े भारी दोषो से छुटकारा पाने के लिये प्रमाण प्रतीत रूपादिको के समान शक्तियों का अपलाप करना युक्ति युक्त नहीं है, अर्थात् जैसे रूप रस आदि अनेक स्वभाव वाला पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार कार्यों में अनेकपना दिखाई देने से उनके कारणों की शक्तियों में नानापना मानना चाहिये ।

विशेषार्थ—इस शक्ति स्वरूप विचार नामक प्रकरण में पदार्थों की अतीन्द्रिय शक्ति की सिद्धि करते समय श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने बहुत ही अकाट्य तर्क और उदाहरणों द्वारा नैयायिकादि परवादियों को समझाया है, जैन सिद्धात में सम्मत शक्ति क्या है यह बहुत ही विशद रीति से टीकाकार ने उदाहरणों द्वारा समझाया है, अतीन्द्रिय शक्ति क्या है इसके लिये अग्नि का उदाहरण बहुत ही सुंदर और स्पष्ट है, बाहर में लाल पीला दिखायी देने वाला अग्नि का रूप मात्र ही स्फोट आदि कार्यों का करता है ऐसा जो नैयायिक का मत है वह जब विचार में आता है तो शतश खण्डित हो जाता है । जब कोई मात्रिक या अन्य पुरुष उस अग्नि की शक्ति को मंत्र या मणि आदि से कीलित करता है, रोक देता है तब वह अग्नि बाहर में वैसी की वैसी धधकती हुई भी स्फोट (सुरग लगाकर पत्थर आदि को फोड़ना, तोप चलाना) दाह आदि कार्य को नहीं कर पाती है ? इसीसे सिद्ध होता है कि अग्नि का बाहरी स्वरूप मात्र जलाना आदि कार्यों को नहीं करता, किन्तु कोई एक उसमें ऐसी अलक्ष्य अतीन्द्रिय शक्ति है कि जिसके द्वारा ये कार्य सम्पन्न होते हैं । इसी तरह प्रत्येक पदार्थ में

मानाः शक्तयः, इत्यपसु(प्यसु)न्दरम्, अदृष्टेश्वरादेरपरमार्थसत्त्वप्रसङ्गात् । प्रदीपादिद्रव्यस्यैकस्य

घटित किया जा सकता है, बाहर मे पठन अभ्यास आदि समान होते हुए भी कोई विद्यार्थी परीक्षा मे उत्तीर्ण होता है और कोई नहीं । गेहूँ में गेहूँ का ही अकुर उत्पन्न होना मिट्टी से घडा ही बनना आदि आदि कार्य अपने अपने कारणो की अलग अलग शक्तियो के अनुमापक हो रहे है । “शक्ति क्रियानुमेया स्यात्” शक्ति मात्र कार्य की अन्यथानुपपत्ति से जानी जाती है । इन अग्नि आदि सपूर्ण पदार्थों की शक्तिया नित्य भी हुआ करती है और अनित्य भी, द्रव्यशक्ति नित्य है और पर्याय शक्ति अनित्य है, द्रव्य पर्यायात्मक ही वस्तु होती है, द्रव्य अनादि निधन है, अत उसकी शक्ति नित्य है, पर्याय सादि सांत है, अत उसकी शक्ति अनित्य है, अकेली द्रव्य शक्ति से कार्य निष्पन्न नहीं होता, पर्याय शक्ति से युक्त जब द्रव्य शक्ति होती है तब कार्य होता है । इस कथन से सिद्ध होता है कि उपादान निमित्त से निरपेक्ष नहीं होता अनेक सहकारी निमित्त कारण कलाप से युक्त जब द्रव्य शक्ति या उपादान हो जाता है तब यह कार्य को करता है, यहा तक विवाद का कोई खास प्रसंग नहीं है, किन्तु पर्याय शक्ति मे जो अनेक सहकारी निमित्त हैं वे सभी अपने आप मिलते है या स्वत उपस्थित होते है ? यह प्रश्न है, जब साक्षात् बुद्धि पूर्वक अनेक सहकारी सामग्री को जुटाकर कार्य करते हैं तो कैसे कह सकते हैं कि सभी कारण कलाप स्वत. उपस्थित हो जाते है, सर्वथा सभी कारण अपने आप मिलते हैं और कार्य निष्पन्न हो जाता है । ऐसा सर्वथा एकान्त वाद प्रतीति का अपलाप करने वाला है, ससार मे बहुत से कार्य बुद्धि पूर्वक होते है और बहुत से अबुद्धि पूर्वक । कार्यों मे भी चेतन के कार्य और अचेतन के कार्य अन्तर्भूत है । अचेतन कार्य अपने कारण समूह से निष्पन्न होते हैं, उसमे किसी किसी में चेतन की प्रेरकता रहती है । दोनो चेतन अचेतन (जीव अजीव) के कार्य सर्वथा निमित्त के स्वय हाजिर होने से नहीं होते, किन्तु उनमे बुद्धि पूर्वक प्रयत्न करने से होने वाले कार्य भी है । यह तो निश्चित है कि उपादान के बिना अर्थात् द्रव्य शक्ति के बिना या पर्याय शक्ति के बिना कार्य नहीं होते है, किन्तु पर्याय शक्ति का जो सहकारी कारण कलाप है वह सर्वथा अपने आप उपस्थित नहीं होता । जो अनित्य है तो उसको कारण चाहिये और सभी कारण अपने आप नहीं जुडते, पुरुषार्थ का मतलब भी यही है कि पुरुष से जो होवे । सहकारी कारण भी यदि एक होता अर्थात् पर्यायशक्ति मे जो सहकारी की अपेक्षा है वह यदि एक ही होता तब

वर्तिकादिसहकारिमामग्रीभेदात्तद्वाहादिकार्यनानात्व न पुनस्तच्छक्तिस्वभावभेदात्; इत्यप्यविचारि-

तो कुछ अपने आप उपस्थित होने की बात भी कहते किन्तु पर्याय शक्ति के सहकारी कारण अनेक है। एक बात और विशेष लक्ष देने योग्य है कि द्रव्य में एक ही प्रकार की शक्ति नहीं है "तत्रार्थानामनेकैव शक्ति" अर्थात् पदार्थोंमें अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं। पर्याय शक्ति को जैसे सहकारी कारण या निमित्त मिलता है वैसे ही कार्य प्रगट होता है। प्रवचनसार गाथा २५५ में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

रागो पसत्थभूदो वत्थु विसेसेण फलादि विवरीद ।

णाणाभूमि गदाणिह वीजणिह सस्स कालम्हि ॥२५५॥

अर्थ—प्रशस्त राग या शुभोपयोग एक रूप होकर भी वस्तु विशेष के कारण (व्यक्ति-पुरुष विशेष के निमित्त से) विपरीत फल देनेवाला होता है। जैसे कि बीज समान होते हुए भी पृथक पृथक उपजाऊ शक्ति वाली भूमि के निमित्त से उन्हीं बीजों से पृथक पृथक ही फसल आती है। अर्थात् क्षेत्र में जितनी उपजाऊ शक्ति है, उतना ही अधिक धान्य की पैदास होगी। यह हुआ दृष्टान्त, दाष्टान्त प्रशस्त रागका है, सो वह भी उत्तम मध्यम जघन्य पात्र के कारण अर्थात् सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के कारण सही और विपरीत फल देनेवाला हो जाता है, सम्यग्दृष्टि के तो वर्तमान में विपुल पुण्य बंधका कारण और परपरा से मोक्ष का कारण होता है, इससे विपरीत मिथ्यादृष्टि के मात्र पुण्यका कारण होता है, और परपरा से ससार में खलाता है। इस गाथा से सिद्ध होता है, कि बीज भूत उपादान में एक ही समय में अनेक शक्तियाँ विद्यमान हैं, जैसा निमित्त मिलेगा वैसे एक मात्र शक्ति प्रगट होगी, और शेष शक्तियाँ यों ही रहेगी। उपादान समान रूपसे होनेपर भी निमित्त पृथक पृथक होने से पृथक पृथक ही कार्य प्रगट होता है। यह सिद्धान्त उपर्युक्त गाथा कथित बीज और भूमिके उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। ऐसे अनेको उदाहरण है, मेघ से पानी समान ही सर्वत्र वरसता है, किन्तु अलग अलग भूमि वृक्ष, नीम, आम, इक्षु आदि का निमित्त पाकर अलग अलग कडुआ या मीठे रूप परिणामन कर जाता है। उस मेघ जलमें एक साथ एक समय में कडुआ मीठा आदि अनेक रूप परिणामन करने की शक्तियाँ अवश्य ही थी, जिसके कारण यह कडुआ या मीठे आदि रूप परिणामन कर गया। उसमें यह कहना कि नीम के वृक्ष पर पड़े हुए जलमें मात्र कडुए रस रूप परिणामन की ही शक्ति

तरमणीयम्, रूपादेरप्यभावप्रसङ्गात् । शक्य हि वक्तुं कर्कटिकादिद्रव्ये चक्षुरादिसामग्रीभेदाद्रूपा-

थी, अन्य रूप नहीं थी सो यह कथन हास्यास्पद है । जब कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कह रहे कि एक ही प्रकार का बीज अनेक भूमिका निमित्त पाकर अनेक रूप परिणमन करता है, तब उपादान में एक प्रकार की ही परिणमन की शक्ति है, यह कहना कैसे सत्य हो सकता है अर्थात् नहीं । एक दुकानदार अपने दुकान पर बैठा है । उसके अन्दर हसना, रोना, चिन्ता करना, उदास होना आदि सब प्रकार के भाव होने की योग्यता है, कोई भी एक हसने रोने रूप पर्याय एक समय में प्रगट होगी, किन्तु निश्चित एक यही होगी ऐसा नियम नहीं है, विदूषक आदि हसी का दृश्य सामने से निकलेगा तो वह पुरुष हसने लगेगा, करुणापूर्णा दीन दुखी आदमी दिखेगा तो वह रो पड़ेगा, घर की कुछ बुरी खबर सुनेगा या पदार्थों के भाव घटने का समाचार सुनेगा तो चिन्ता करने लगेगा इत्यादि । अतः यह निश्चित होता है कि पर्याय शक्तिका प्रगट होना सहकारी के अधीन है । यदि पर्याय शक्ति का निश्चित रूपसे प्रगट होना है, अर्थात् निश्चित ही कार्य को करना है, तो चारो पुरुषार्थ व्यर्थ ठहरते हैं, हमारी आगामी व्यञ्जन पर्याय निश्चित है तो हम किसलिये अच्छा या बुरा काम करेंगे ? जैसा आगे होना होता है, वैसा अपने को होना ही पड़ता है । यह भयकर नियतिवाद ईश्वरवाद से भी अधिक कष्टदायी है, ईश्वरवादके चक्कर से तो ईश्वर की उपासना कर छूट सकते हैं, किन्तु इस नियतिवाद—जैसा होना है वैसा ही होगा के चक्कर से किसी प्रकार भी छुटकारा नहीं, वह तो अथाह सागर की भबर है । नियति के प्रवाह में घूमते हुए हम सर्वथा पुरुषार्थहीन, हाथ पैर, मुख मन, बुद्धि सबसे हीन हैं, सब हिलना, धोना, खाना, सोचना, नियति देवी के अधीन है, कोई किसी को कहता नहीं कि तुम यह काम करो । यह काम तुमने क्यों किया, बालको ने बर्तन फोड़ दिया, विद्यार्थी ने अभ्यास नहीं किया, यहा तक किसी ने अमुक व्यक्ति को मार डाला, सब माफ है । क्योंकि उस समय उस पुरुष से वैसा ही होना था ? मास बेचने वाले पशु पक्षी को मारने वाले पापी हिंसक क्यों है ? वे तो नियति के अनुसार जैसा होना था, उसीके अनुसार कार्य कर रहे हैं ? कहा तक लिखें ? कोई पुरुष को हाथ पैर बाधकर मुख में कपडा देकर अघेरी कोठडी में बंद कर देने से भी अधिक भयकर नियतिवाद—जैसी उपादान की योग्यता होती है—द्रव्य शक्ति होती है वैसा निमित्त-पर्यायशक्ति हाजिर होता है । इतनी पुरुषार्थ हीनता की बात उपादान की मुख्यताकी

दिप्रत्ययप्रतिभासभेदो, न पुना रूपाद्यनेकस्वभावभेदादिति । तन्न प्रमाणप्रतिपन्नत्वाद्रूपादिवच्छक्ती-
नामपलापो युक्त इति ।

ओट लेकर कोई वर्तमान के जैनाभासी करते है और ऊपरसे अपने को अनंत पुरुषार्थी अनंत पुरुषार्थ को करनेवाले—बतलाते हैं ? यह तो साक्षात् स्ववचनबाधित बात है ? जब उपादान के अनुसार निमित्त हाजिर होगा, और कार्य अपने आप होगा, तब हमने क्या किया ? अनंतपुरुषार्थ कौनसा हुआ ? इस उपादान निमित्त विषयक वास्तविक सिद्धांत पर श्री प्रभाचन्द्राचार्यने महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है । द्रव्यशक्ति, पर्यायशक्ति आदि का विवेचन इनकी अनेक मिथ्याधारणाओं को दूर करता है । वे अतीन्द्रिय शक्तियां अनेक है एव पदार्थों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है । इसप्रकार शक्ति संबंधी वर्णन करके अंत में नैयायिक को भी अतीन्द्रिय शक्ति मानने के लिये बाध्य किया है ॥

* शक्ति स्वरूपविचार समाप्त *



शक्तिस्वरूपविचार का सारांश

नैयायिक—वस्तु का जो स्वरूप है वही सब कुछ है, वही कार्य करने में समर्थ है, अतः जैन आदि प्रतिवादी अतीन्द्रिय शक्ति को कार्य करने में कारण मानते हैं वह व्यर्थ है, अतीन्द्रिय शक्ति को ग्रहण करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है । प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसका अतीन्द्रिय विषय ही नहीं है । अनुमान प्रमाण भी अविनाभावी लिंग से होगा और अतीन्द्रिय शक्ति के साथ हेतु का अविनाभाव संबंध है या नहीं वह कैसे जाने ? इसी तरह अर्थापत्ति आदि प्रमाण भी शक्ति को ग्रहण नहीं करते है । प्रमाण के द्वारा ग्रहण न होने पर भी आपके कहने से उस

शक्ति को मान लेवे तो उसके विषय में पुनः प्रश्न होते हैं कि वह शक्ति नित्य है या अनित्य ? नित्य है तो पदार्थ सदा ही कार्य करते बैठे ? यदि अनित्य है तो वह अनित्य शक्ति किससे उत्पन्न होगी ? शक्ति से शक्ति होगी या शक्तिमान से ? शक्तिमान से कहो तो अनवस्था आती है । अशक्त से शक्ति उत्पन्न हुई कहो तो जैसे अशक्त से शक्तिरूप कार्य उत्पन्न हुआ, वैसे सभी पदार्थ शक्ति रहित होकर ही कार्य करते हैं ऐसा क्यों नहीं मानते ? व्यर्थ ही शक्ति की जो कि नेत्रादि से दिखायी नहीं देती कल्पना करते बैठते हैं । तथा वह शक्ति एक है या अनेक ? एक है तो उस एक शक्ति को धारण करने वाला पदार्थ एक साथ अनेक तरह के कार्य नहीं कर सकेगा, तथा एक में अनेक शक्तियाँ मानो तो भी बहुत से प्रश्न खड़े होंगे कि वह एक पदार्थ अनेक शक्तियों को एक स्वभाव से धारण करता है या अनेक स्वभावों से ? एक स्वभाव से धारेगा तो वे सारी शक्तियाँ एकमेक हो जावेगी तथा अनेक स्वभावों से धारेगा तो वे अनेक स्वभाव किसी अन्य से धारण किये जायेंगे और इस तरह अनवस्था आयेगी । तथा शक्तिमानसे शक्ति भिन्न है या अभिन्न यह भी सिद्ध नहीं हो पाता अतः अतीन्द्रिय शक्तिकी कल्पना करना व्यर्थ है ?

जैन—यह प्रतिपादन अयुक्त है, अतीन्द्रिय शक्तिको सिद्ध करनेवाला अनुमान प्रमाण मौजूद है अतः कोई भी प्रमाण शक्तिका अस्तित्व सिद्ध नहीं करता ऐसा कहना असत्य है, उसी अनुमान प्रमाण को बताते हैं—प्रतिनियत मिट्टी, सूत्र [घागे] आदि पदार्थोंमें प्रतिनियत ही कार्य करने की शक्ति हुआ करती है [पक्ष] क्योंकि उन मिट्टी आदि पदार्थों से प्रतिनियत घट आदि कार्य ही सपन्न होते हैं, (हेतु) उनसे हर कोई कार्य नहीं हो पाता । इस प्रकार प्रत्येक वस्तुमें अपने योग्य ही कार्य करने की क्षमता देखकर अलक्ष्य शक्तिका सद्भाव सिद्ध होता है । स्याद्वादी जैन ने इस शक्ति को शक्तिमान पदार्थसे कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न माना है, द्रव्यदृष्टिसे शक्तिमान से शक्ति अभिन्न है और पर्यायदृष्टिसे शक्तिमान से शक्ति भिन्न है, अर्थात् जगत में यावन्मात्र पदार्थ हैं वे द्रव्य पर्यायात्मक हैं । उनमें जो द्रव्यशक्ति है वह हमेशा रहती है और पर्याय शक्ति सहकारी सामग्रीसे उत्पन्न होती है, अतः अनित्य है । पर्याय शक्ति हमेशा मौजूद नहीं रहती इसलिये जब वह पर्याय शक्ति नहीं होती, तब कार्य नहीं होता, इसप्रकार शक्ति कथञ्चित् नित्य (द्रव्यकी) और कथञ्चित् अनित्य (पर्यायकी) है । पदार्थमें शक्तियाँ अनेक हुआ करती हैं । अनेक शक्तियोंको धारण

करनेके लिये अनेक स्वभाव चाहिये इत्यादि प्रश्न एकात पक्षको बाधित कर सकते है अनेकान्त पक्षको नही, क्योंकि शक्तिमान पदार्थ से शक्तियां अभिन्न स्वीकार की गयी है अतः अनेक शक्तियोंको एक ही पदार्थ भली प्रकारसे धार लेता है, देखा भी जाता है कि एक ही दीपक नाना पदार्थ एक साथ अनेको कार्य करने की क्षमता रखता है—तेल शोष, दाह, प्रकाश इत्यादि कार्यों की एक साथ अन्यथानुपपत्ति (यदि शक्तियां अनेक नही होती तो ये तेल शोषादि अनेक कार्य वही हो सकते थे) से ही दीपक में अनेक शक्तियोंका सद्भाव सिद्ध होता है। दीपक की तरह अन्य सभी पदार्थों में घटित करना चाहिये।

शक्ति किससे पैदा होती है ? ऐसा परवादीके प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—शक्तिमानसे शक्ति पैदा होती है, शक्तिमान अपने पूर्व शक्ति से सशक्त होता है, इस तरह शक्तिसे सशक्त और पुनः उस सशक्त शक्तिमानसे शक्ति अनादि प्रवाहसे उत्पन्न होती रहती है, जैसे बीजसे अकुर और पुनः अकुरसे बीज अनादि प्रवाहसे उत्पन्न होते रहते है। स्वयं परवादी के यहा भी इस प्रकार का अनादि प्रवाह माना है अदृष्ट से अदृष्टातर अनादि प्रवाह से आत्मा में उत्पन्न होता रहता है ऐसा वे भी कहते है।

पदार्थोंमें अतीन्द्रिय शक्तिका सद्भाव सिद्ध करनेके लिये अग्निका उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त होगा—किसी स्थान पर अग्नि जल रही है उस अग्निको प्रतिबंधक मणि मत्र आदि से रोका जाता है तब वह पूर्ववत् जलती रहने पर भी स्फोट आदि कार्योंको नही कर पाती, उस समय उसका स्वभाव हटाया जाता है ऐसा भी नही कह सकते क्योंकि जिस पदार्थ या व्यक्तिके प्रति स्तंभन किया गया है उसी को नही जलाती, अन्यको जलाती भी है, यदि बाहर मे दिखायी देने वाला लाल स्वरूपसे धधकते रहना इत्यादि मात्र अग्निका स्वरूप माना जाय तो वह स्वरूप प्रतिबंधक मणि या मत्र के सद्भाव मे भी रहता है, किन्तु उस प्रतिबंधक के सद्भाव मे स्फोट आदि कार्य तो नही होते सो ऐसा क्यों ? प्रतिबंधक मत्र मणि आदिने किसको रोका है ? बाहरी स्वरूप तो ज्यो का त्यो है ? अतः कहना पड़ता है कि प्रतिबंधक मणि आदिने अग्निके अतीन्द्रिय शक्तिका स्तंभन किया है। इस अग्निके उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थका बाहरी स्वरूप ही सब कुछ नही है, अकेला बाह्य

स्वरूप कार्य करने में समर्थ नहीं है अपितु कोई अलक्ष्य, अतीन्द्रिय (इन्द्रियो द्वारा ग्रहण में नहीं आने वाला) स्वरूप शक्ति अवश्य है जिसकी सहायतासे पदार्थ कार्य करनेमें समर्थ हो जाया करते हैं। अलक्ष्य-अतीन्द्रिय होनेके कारण शक्तिको न माता जाय तो संसार में ऐसे बहुत से पदार्थ हैं कि जिनको पर वादियों ने भी अतीन्द्रिय माना है, अदृष्ट आत्मा, ईश्वर आदि पदार्थ अतीन्द्रिय हैं किन्तु उन्हें नैयायिकादि परवादी स्वीकार करते ही हैं, ठीक इसी प्रकार पदार्थोंकी अतीन्द्रिय शक्तिको भी स्वीकार करना चाहिये इसको स्वीकार करनेमें कोई बाधा नहीं आती, उलट्टे नहीं स्वीकार करनेमें ही अनेक बाधाये आती हैं। इत्यलं विस्तरेण।

*** शक्तिस्वरूपविचार का सारांश समाप्त ***



अर्थापत्तेः पुनर्विवेचनं



यत्पुनरर्थापत्त्यर्थापत्तेरुदाहरणं वाचकसामर्थ्यात्तन्नित्यत्वज्ञानमुक्तम्; तदप्ययुक्तम्; वाचक-सामर्थ्यस्य तत्प्रत्ययनन्यथाभवनासिद्धेः । निराकरिष्यते चाग्ने नित्यत्वशब्दस्येत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

याप्यभावार्थापत्तिः—जीवश्चैत्रोऽन्यत्रास्ति गृहेऽभावादिति; तत्रापि किं गृहे यत्तस्य जीवनं तदेव गृहे चैत्राभावस्य विशेषणम्, उतान्यत्र ? प्रथमपक्षे तत्राभावस्य विशेष्यस्यासिद्धिः, यदा हि

जब आचार्य मीमांसकादि प्रवादी द्वारा मान्य अर्थापत्ति प्रमाणका अनुमान प्रमाणमें अन्तर्भाव कर रहे थे तब अतीन्द्रिय शक्ति के विषयमें चर्चा हुई, नैयायिक अतीन्द्रिय शक्तिको नहीं मानते अतः जैनाचार्यने उसको अनुमानादिप्रमाणद्वारा भली प्रकार सिद्ध किया । अब अर्थापत्ति का जो अज्ञान विषय रह गया था उसका पुनः विवेचन करते हैं—अर्थापत्तिके छः भेद बताये थे—प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति १, अनुमान-पूर्विका अर्थापत्ति २, आगमपूर्विका अर्थापत्ति ३, उपमानपूर्विका अर्थापत्ति ४, अर्थापत्ति-पूर्विका अर्थापत्ति ५, और अभावपूर्विका अर्थापत्ति ६, उनमें से प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान पूर्वक होने वाली अर्थापत्तियों का तो अनुमान प्रमाण में ही अन्तर्भाव होता है, ऐसा प्रकट कर आये है । अब अर्थापत्ति पूर्विका अर्थापत्ति का निरसन करते हैं—अर्थापत्ति पूर्वक होने वाली अर्थापत्ति का उदाहरण दिया था कि शब्द में पहले अर्थापत्ति के द्वारा वाचकत्व की सामर्थ्य सिद्ध करना और पुनः उसी शब्दमें नित्यत्व सिद्ध करना सो यह अर्थापत्ति का वर्णन अयुक्त है, क्योंकि शब्द में जो वाचक सामर्थ्य है, उसका नित्यत्व के साथ कोई अकाट्य संबन्ध नहीं है, अर्थात् नित्यत्वके विना वाचक सामर्थ्य न हो ऐसी बात नहीं है । हम जैन आगे प्रकरणानुसार शब्द की नित्यताका खण्डन करनेवाले हैं । इसलिये अर्थापत्ति पूर्वक होनेवाली अर्थापत्ति सिद्ध नहीं होती है, तथा—अभावपूर्विका अर्थापत्ति का उदाहरण दिया था कि “जीवश्चैत्रोऽन्यत्रास्ति गृहेऽभावात्” जीवत चैत्रनामा पुरुष अन्यत्र है, क्योंकि उसका घर में अभाव है, सो इस उदाहरण में प्रश्न होता है, कि चैत्र का घर में जो जीवन है, वही घर में चैत्रा-

चैत्रो गृहे जीवति कथं तदा तत्र तदभावो येनासौ तेन विशेष्येत ? यदा च तत्र तदभावो, न तदा तत्र तज्जीवनमिति । द्वितीयपक्षे तु विशेषणस्यासिद्धिः, न खलु चैत्रस्यान्यत्र यज्जीवन तदर्थपित्त्युदयकाले तथाविधप्रदेशविशेषणत्वेन कुतश्चित्प्रतीयते अर्थापत्तेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । येनैव हि प्रमाणेन तज्जीवन प्रतीयते तेनैव तत्सद्भावोपि । न ह्यप्रतिपक्षे देवदत्ते तद्वर्गो जीवन प्रत्येतु शक्यम् अतिप्रसङ्गात् । न वाप्रतीतस्य विशेषणत्वमत एव । अर्थापत्त्यैव तत्सिद्धावितरेतराश्रयः—सिद्धे हि तथा तस्यान्यत्र जीवने तद्विशेषितात्तत्प्रदेशाभावादर्थपित्त्युदय, ततश्च तत्सिद्धिरिति ।

भाव का विशेषण है, अथवा बहिर्जीवन चैत्राभाव का विशेषण है ? प्रथम पक्ष माने तो उसमें अभावरूप विशेष्यकी असिद्धि होती है, कैसे सो बताते हैं—जब चैत्र घर में जी रहा है, तब उसका वहा अभाव कैसे कहा जा सकता है जिससे कि यह चैत्राभावरूप विशेष्यका विशेषण कहा जा सके ? तथा जब घर में चैत्र का अभाव है, तब वहा उसका जीवन हो नहीं सकता है । दूसरा पक्ष—यदि चैत्रका घर से जो बहिर्जीवन है, वह चैत्राभाव का विशेषण है ऐसा माना जाय तो यह विशेषण असिद्ध होता है, क्योंकि चैत्रका जो घर से बाहर अन्यत्र जीना है वह अर्थापत्ति के उत्पन्न होते समय उस प्रकार के देश विशेषण रूपसे किसी प्रमाण के द्वारा नहीं जाना जाता है, यदि जाना जाता है तो फिर अर्थापत्ति ज्ञानकी जरूरत ही नहीं रहती है, कैसे सो ही बताते हैं—जिस प्रमाण द्वारा चैत्रका बहिर्जीवन प्रतिभासित होता है, उसी प्रमाण द्वारा चैत्रका सद्भाव भी प्रतिभासित होगा । क्योंकि ऐसा नहीं होता है कि देवदत्त को तो नहीं जाना जाय और उसका जीवन स्वरूप धर्म जान लिया जाय । यदि देवदत्त के जाने विना उसका जीनारूप धर्म जाना जा सकता है, तो मेरु को जाने विना भी उसका वर्ण-रंग जानने में आना चाहिये, अतः यह मानना चाहिये कि जो प्रतीत नहीं होता है, उसमें विशेषणता नहीं बनती यदि ऐसा हठाग्रह करोगे तो वही अति प्रसंग दोष उपस्थित होगा । यदि अर्थापत्ति के द्वारा ही चैत्रका अन्यत्र जीवन जाना जाता है, ऐसा कहो तो इस मान्यता में अन्योन्याश्रय दोष आता है, क्योंकि जब अर्थापत्ति से चैत्रका अन्यत्र जीना सिद्ध हो जाय तब उस विशेषण से विशेषित घर में जीने के अभाव से अर्थापत्ति की उत्पत्ति होगी और उसके द्वारा फिर चैत्रका बहिर्जीवन सिद्ध होगा । इस तरह दोनों ही असिद्ध हो जाते हैं ।

शंका—चैत्रका जीना निश्चित होकर उसके गृहाभावका विशेषण नहीं बना

अथ न निश्चित सज्जीवन तद्ग्रहाभावविशेषण येनाय दोषः, किन्तु 'यदि गृहेऽसन् जीवति तदान्यत्रास्ति' इत्यभिधीयते, तर्हि सशयरूपत्वात्तस्याः कथं प्रामाण्यम् ? या तु प्रमाण सानुमानमेव । पञ्चावयवत्वमप्यत्र सम्भवत्येव । तथाहि—जीवतो देवदत्तस्य गृहेऽभावो बहिस्तत्सद्भावपूर्वकः जीवतो गृहेऽभावत्वात् प्राङ्गणे स्थितस्य गृहे जीवदभाववत् । यद्वा, देवदत्तो बहिरस्ति गृहासृष्टजीवनाधारत्वात्स्वात्मवत् । कथं पुनर्देवदत्तस्यानुपलभ्यमानस्य जीवन सिद्धं येन तद्धेतुविशेषणमित्यसत्;

करता जिससे कि यह अन्योन्याश्रय नामका दोष दिया जा सके । यहा तो इतना ही जाना जाता है कि घरमे न होकर यदि जीता है तो अन्यत्र है ।

समाधान—इसतरह माने तो सशयास्पद ज्ञान सिद्ध होता है, ऐसे संशयभूत अर्थापत्तिमे प्रामाण्य सिद्ध होना किसप्रकार शक्य है ? यदि कोई अन्य अर्थापत्ति प्रमाणभूत हो भी तो वह अनुमान प्रमाण ही कहलायेगी । इस अर्थापत्तिनामसे माने गये आपके ज्ञान पच अवयवपना भी घटित होता है, देखिये—जीवत देवदत्ताका घरमे जो अभाव है, वह बहिःसद्भाव पूर्वक है, [पक्ष] क्योकि जीवत रहते हुए भी घरमें अभाव है [हेतु] जैसे प्रागण मे स्थित देवदत्ताका जीवत रहते हुए भी गृहाभ्यन्तरमे उसका अभाव रहता है [दृष्टांत] दूसरा अनुमान प्रयोग भी उपयुक्त है कि—देवदत्त बाहर गया है [पक्ष] क्योकि घरमे असयुक्त जीवनाधारपना है [हेतु] जैसे स्वात्मस्वरूप होता है (जैसे स्वात्मस्वरूप घरमे असयुक्त जीवनाधार रूप होता है) ।

शंका—जब कि घरमें देवदत्त उपलब्ध नहीं हो रहा है तो फिर वह जीवित है यह किस प्रमाण से सिद्ध होता है ? जिससे वह अभावरूप हेतुका विशेषण हो सके ?

समाधान—यह प्रश्न ठीक नहीं है । क्योकि हमने जो ऐसा कहा है वह प्रसंग साधन को आश्रित करके कहा है ।

विशेषार्थ—“साध्य साधनयोर्व्याप्यव्यापकभाव सिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीय को यत्र प्रदर्श्यते, तत्प्रसंगसाधनम्” प्रसंगसाधनका लक्षण—ऐसा है कि साध्य और साधन में व्याप्य व्यापक भाव सिद्ध होनेपर जब कही कोई पुरुष मात्र व्याप्य को स्वीकार कर लेता है तो उसे व्यापक को भी स्वीकार करना चाहिये ऐसा जहां आपादन किया जाता है वह प्रसंग साधन है । यहा अनुमान मे जीवत देवदत्त

प्रसङ्गसाधनोपन्यासात् ।

का जो घर में अभाव है वह बाहर में सद्भाव पूर्वक कहा गया है, यह साध्य है [व्याप्य है] क्योंकि जीते हुए भी घर में उसका अभाव है यह साधन है [व्यापक है] जब बाहर में सद्भाव पूर्वक ही घर में उसका अभाव है, इतना व्याप्य मान लिया गया है (अर्थापत्ति प्रमाणवादी मीमांसकने) तो इसके साथ व्यापक—जीते हुए ही उसका घर में अभाव है ऐसा माना हुआ ही कहलायेगा, इस प्रकार मीमांसक की मान्य अर्थापत्ति में पृथक प्रमाणाता का निरसन हो जाता है । क्योंकि पूर्वोक्त युक्तियों द्वारा उसका अनुमान में अन्तर्भाव होना सिद्ध होता है ।

अर्थापत्ति पुनर्विवेचन समाप्त



न्तरग्रहणे सति प्रवर्त्तेत, तदससृष्टतावगमश्च पुनरप्यभावप्रमाणसम्पाद्य इत्यनवस्था । प्रथमाभावप्रमाणात्तदससृष्टतावगमे चान्योन्याश्रय ।

प्रतियोगिनोपि स्मरण वस्त्वन्तरससृष्टस्य, अससृष्टस्य वा ? यदि ससृष्टस्य, तदाऽभावप्रमाणाप्रवृत्तिः । अथाससृष्टस्य; ननु प्रत्यक्षेण वस्त्वन्तराससृष्टस्य प्रतियोगिनो ग्रहणे तथाभूतस्यास्य स्मरण स्यान्नान्यथा । तथाभ्युपगमे च तदेवाभावप्रमाणवैयर्थ्यं 'वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्य समाश्रिता' इत्यादिग्रन्थविरोधश्च । वस्तुमात्रस्याध्यक्षेण ग्रहणाभ्युपगमे प्रतियोगीतरव्यवहाराभाव ।

समाधान—तो फिर वह अभावप्रमाण घट के सबध से रहित भूतल के ग्रहण होनेपर ही प्रवृत्त होगा, और उसमे घट की अससृष्टता का ज्ञान अन्य दूसरे अभाव प्रमाण से जाना जायेगा । इस तरह अभाव प्रमाणों की कल्पना करने से अनवस्था होगी । यदि प्रथम अभाव प्रमाण से ही घट की अससृष्टता का ज्ञान होना कहोगे, तो अन्योन्याश्रय दोष आवेगा प्रथम अभाव प्रमाण से प्रतियोगी के सबध से रहितपने का भूतल मे ज्ञान होगा और उस ज्ञान के होनेपर प्रथम अभाव प्रमाण की उत्पत्ति होगी इस प्रकार उभयासिद्धि होगी । अभाव प्रमाण की सामग्री मे प्रतियोगी का स्मरण होना भी एक कारण कहा गया है सो वस्त्वन्तर से ससृष्ट हुए प्रतियोगी का स्मरण अभाव का कारण होता है या उससे अससृष्ट हुए प्रतियोगी का स्मरण अभाव का कारण होता है ? वस्त्वन्तर—भूतल से ससृष्ट हुए प्रतियोगी का स्मरण अभाव प्रमाण का कारण होता है ऐसा कहो तो अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी ? [क्योकि भूतल जब प्रतियोगी से ससृष्ट प्रतीत हो रहा है तब अभाव प्रमाण के द्वारा उसका अभाव कैसे किया जा सकता है] भूतल से अससृष्ट हुए प्रतियोगी का स्मरण अभाव का कारण होता है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो प्रत्यक्ष के द्वारा वस्त्वन्तर से अससृष्ट प्रतियोगी का ग्रहण होनेपर ही उस तरह के प्रतियोगी का स्मरण हो सकता है अन्यथा नहीं । यदि इस तरह प्रत्यक्ष के द्वारा प्रतियोगी से अससृष्टपने का ज्ञान हो जाता है तो अभावप्रमाण व्यर्थ ठहरता है और आपके ग्रन्थोक्त वाक्य की असिद्धि भी होगी कि—“वस्तुके असकरताकी सिद्धि अभावप्रमाणके प्रामाण्य पर समाश्रित है” (अर्थात् अभावप्रमाणको प्रामाणिक माननेपर ही वस्तुओका परस्परका असाकर्य सिद्ध होगा, अभावप्रमाण ही एक वस्तुका दूसरे वस्तुमे अभाव सिद्ध करता है इत्यादि) ।

यदि चानुभूतेषु भावे प्रतियोगिस्मरणमन्तरेणाभावप्रतिपत्तिर्न स्यात्, तर्हि प्रतियोग्यप्यनुभूत एव स्मर्त्तव्यो नान्यथा अनिप्रसङ्गात् । तदनुभवश्चान्याससृष्टतयाऽभ्युपगन्तव्यः, तस्याप्यन्याससृष्टता-प्रतिपत्तिस्ततोऽन्यत्र प्रतियोगिस्मरणात् तत्राप्ययमेव न्याय इत्यनवस्था । अथ प्रतियोगिनो भूतलस्य स्मरणाद् घटस्यान्याससृष्टता प्रतीयते, तत्स्मरणाच्च भूतलस्य तदेतरेतराश्रयः; तथाहि—न यावद्घटा-ससृष्टभूभागप्रतियोगिस्मरणाद् घटस्य भूतलाससृष्टताप्रतिपत्तिर्न तावत्तत्स्मरणाद्भूतलस्य घटाससृष्ट-ताप्रतिपत्तिः, यावच्च भूतलस्य घटाससृष्टता न प्रतीयते न तावत्तत्स्मरणेन घटस्येति । ततोऽन्यप्रतियोगि-

शंका—प्रत्यक्ष द्वारा सिर्फ वस्तु मात्रका [भूतलका] ग्रहण होता है [अन्यका नहीं] ।

समाधान— इस तरह स्वीकार करने पर तो प्रतियोगी और इतर अर्थात् घट और भूतलका व्यवहार ही समाप्त होगा । दूसरी बात यह विचारणीय है कि यदि प्रत्यक्ष के द्वारा भूतल को जान लेने पर भी प्रतियोगी के स्मरण हुए बिना घट के अभाव की प्रतीति नहीं हो सकती ऐसा स्वीकार करे तो प्रतियोगी [घट] भी अनुभूत होने पर ही तो स्मरण करने योग्य हो सकेगा, अन्यथा नहीं यदि बिना अनुभूत किये को स्मरण करने योग्य मानेगे तो अतिप्रसंग आयेगा । प्रतियोगी का अनुभव भी अन्य की असंसृष्टता से होना मानना पड़ेगा, फिर उस घट के अनुभव की प्रतिपत्ति भी अन्य जगह के प्रतियोगी के स्मरण से होवेगी । उसमें भी पूर्वोक्त न्याय रहेगा इस तरह अनवस्था आती है ।

शंका—अनवस्था को इस प्रकार से हटा सकते हैं, प्रतियोगी भूतल के स्मरण से घटकी अन्य असंसृष्टता का ज्ञान होगा और उस स्मरणसे भूतलकी अन्य असंसृष्टता का ज्ञान होगा ।

समाधान— इस तरह मानने पर तो अन्योन्याश्रय दोष आवेगा, उसी को बताते हैं जब तक घट में असंसृष्ट भू भाग में प्रतियोगी के स्मरण से घट की भूतल के साथ असंसृष्टता है ऐसी प्रतिपत्ति नहीं होगी तब तक उस स्मरणसे भूतलमें घटकी असंसृष्टता है ऐसी प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी, और जब तक भूतल में घट असंसृष्टता प्रतीतिमें नहीं आयेगी तब तक उसके स्मरणसे घटसे असंसृष्ट भू भाग प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा । अतः इन दोषोंको दूर करनेके लिये ऐसा मानना चाहिये कि अन्य प्रतियोगी के स्मरणके बिना ही प्रत्यक्ष द्वारा अभावांश जाना जाता है, जैसे भावांश जाना जाता है । भूतल से रहित

स्मरणमन्तरेणैवाभावांशो भावाशवत्प्रत्यक्षोऽभ्युपगन्तव्यः । भूतलासृष्टघटदर्शनाहितसंस्कारस्य च पुनर्घटासृष्टभूभागदर्शनानन्तर तथाविधघटस्मरणे सति 'अस्यात्राभाव' इति प्रतिपत्तिः, प्रत्यभिज्ञानमेव । यदा तु स्वदुरागमाहितसंस्कार साङ्ख्यस्तथाऽप्रतिपद्यमानः तत्प्रसिद्धसत्त्वरजस्तमोलक्षणविषयनिदर्शनोपदर्शनेन अनुपलब्धिविशेषतः प्रतिबोध्यते तदाप्यनुमानमेवेति क्वाभावप्रमाणस्यावकाशः ? ततोऽयुक्तमुक्तम्—'न चाध्यक्षैणाभावोऽवसीयते तस्याभावविषयत्वविरोधात्, नाप्यनुमानेन हेतोरभावात्' इति ।

[अकेले] घटको देखनेसे जिसको संस्कार उत्पन्न (धारणा ज्ञान) हुआ है ऐसे पुरुष को जब कभी घट रहित मात्र भू भाग दिखाई देता है तब उस पुरुषको पहले देखे हुए उस प्रकारके घटका स्मरण होता है और "यहांपर इस स्मृतिमें स्थित घटका अभाव है" इसतरहका प्रतिभास होता है सो यह प्रत्यभिज्ञान ही है अन्य कुछ नहीं । सांख्य इसप्रकारके वस्तुके अभाव के ज्ञानको सत्य नहीं मानता क्योंकि उनके आगममें सबको सद्भाव रूप ही माना है अभावरूप नहीं, सो इस कुआगमके संस्कार के कारण सांख्य अभावका प्रत्यक्ष ज्ञान होना स्वीकार नहीं करता तब उन्हींके मतमें प्रसिद्ध ऐसे सत्व, रज, तम सबधी दृष्टांत देकर समझाया जाता है कि "जिस प्रकार सत्वमें रजोगुणकी एव तमोगुणकी अनुपलब्धि है [अभाव है] उसी प्रकार इस भूतलपर घट नहीं है" इत्यादि सो इसप्रकार सांख्यको समझानेके लिये अनुमानप्रमाण द्वारा अभावाशका ग्रहण किया जाता है । इसतरह प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान तथा अनुमान द्वारा अभावाशका ग्रहण होना सिद्ध हो जाता है अतः मीमांसकका निम्नलिखित वाक्य असत है कि—“प्रत्यक्ष द्वारा अभावका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वह अभावको विषय ही नहीं करता अनुमान द्वारा भी अभावका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि हेतुका अभाव है” ।

दूसरी बात यह है कि—अभाव प्रमाण से यदि अभाव का ग्रहण होता है तो उससे केवल अभाव की ही प्रतिपत्ति होगी प्रतियोगी की निवृत्ति की प्रतिपत्ति तो होगी नहीं ।

शंका—अभाव की प्रतिपत्ति से घटाभाव जाना जायगा ?

समाधान—अच्छा तो बताइये कि वह जो प्रतियोगी की निवृत्ति है वह प्रतियोगी के स्वरूप से सबद्ध है कि असबद्ध है ? प्रतियोगी के स्वरूप से सबद्ध है ऐसा तो कह नहीं सकते, क्योंकि भाव और अभाव में तादात्म्यादि संबंध बनते नहीं है इस

किञ्च, अभावप्रमाणेनाभावग्रहणे तस्यैव प्रतिपत्ति स्यान्न प्रतियोगिनिवृत्ते । अभावप्रतिपत्ते-
स्तन्निवृत्तिप्रतिपत्तिश्चेत्; सा किं प्रतियोगिस्वरूपसम्बद्धा, असम्बद्धा वा ? न तावत्सम्बद्धा, भावा-
भावयोस्तादात्म्यादिसम्बन्धासम्भवस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अथासम्बद्धा; तर्हि तत्प्रतिपत्तावपि कथं
प्रतियोगिनिवृत्तिसिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ? तन्निवृत्तोरप्यपरतन्निवृत्तिप्रतिपत्त्यभ्युपगमे चानवस्था ।

यच्च 'प्रमाणपञ्चकाभावः, तदन्यज्ञानम्, आत्मा वा ज्ञाननिर्मुक्तोऽभावप्रमाणम्' इति त्रिप्रका-
रतास्येत्युक्तम्, तदप्युक्तम्, यतः प्रमाणपञ्चकाभावो निरुपाख्यत्वात्कथं प्रमेयाभाव परिच्छिन्द्यात्
परिच्छिन्नेर्ज्ञानधर्मत्वात् ? अथ प्रमाणपञ्चकाभावः प्रमेयाभावविषय ज्ञान जनयन्नुपचारादभावप्रमा-

वात को हम आगे कहने वाले हैं । प्रतियोगी की निवृत्ति प्रतियोगी के स्वरूप से
असंबद्ध है ऐसा द्वितीय पक्ष कहो तो उसके जान लेने पर भी प्रतियोगी की निवृत्ति
कैसे सिद्ध होगी ? अतिप्रसंग आता है ।

उस प्रतियोगी की निवृत्ति की प्रतिपत्ति अन्य प्रतियोगी की निवृत्ति से जानी
जायगी ऐसा माने तो अनवस्था होती है । मीमांसक ने अभाव प्रमाण का कथन करते
हुए कहा था कि अभाव प्रमाण, प्रमाण पंचक का अभाव रूप, तदन्यज्ञान रूप, और
ज्ञान निर्मुक्त आत्मारूप इस प्रकार से तीन तरह का होता है, सो यह वर्णन अयुक्त है,
क्योंकि प्रमाणपञ्चकाभाव रूप जो अभाव है वह तो निरुपाख्य (नि स्वभाव) है, अतः
वह प्रमेय के अभाव को कैसे जान सकता है ? जानना तो ज्ञान का धर्म है । यदि
कहा जावे कि प्रमाण पञ्चकाभाव प्रमेयाभाव विषय वाले ज्ञान को उत्पन्न करता है
इसलिये उपचार से उसको अभाव प्रमाण नाम से कहा जाता है ? सो ऐसा कथन भी
ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव अवस्तु है उससे प्रमेयाभाव विषयक ज्ञान पैदा होना
असंभव ही है, वस्तुभूत जो पदार्थ है वही कार्य को उत्पन्न कर सकता है, अवस्तुरूप
पदार्थ नहीं, क्योंकि अवस्तु सर्व प्रकार की शक्ति से रहित होती है, जैसे गधे के सींग ।
यदि उसमें (प्रमाणपञ्चकाभाव में) कार्य की सामर्थ्य है तो वह सद्भाव रूप पदार्थ
ही कहलायेगा, क्योंकि यही परमार्थभूत वस्तुका लक्षण है—अन्य कुछ लक्षण नहीं है ।
जिसमें सत्ताका समवाय हो वह परमार्थभूत वस्तु है ऐसा लक्षण करना गलत है ।
क्योंकि उसका आगे हम समवाय के निराकरण करनेवाले प्रकरण में निषेध
करने वाले हैं । यह भी जरूरी नहीं है कि जहां पर प्रमाणपञ्चकाभाव है [पाचों
प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं है] वहां पर अवश्य प्रमेय के अभावका ज्ञान उत्पन्न
होता ही है । क्योंकि परके मनोवृत्ति विशेषोंके साथ अनैकान्तिकता आती है । किञ्च

णमुच्यते, न; अभाव स्यावस्तुतया तज्ज्ञानजनकत्वायोगात् । वस्त्वेव हि कार्यमुत्पादयति नावस्तु, तस्य सकलसामर्थ्यविकलत्वात्स्वरविषाणवत् । सामर्थ्ये वा तस्य भावरूपताप्रसक्तिः, तल्लक्षणत्वात्परमार्थसतोलक्षणान्तराभावात्, सत्तामम्बन्धादेस्तल्लक्षणस्य निषेत्स्यमानत्वात् । न च यत्र प्रमाणपञ्चकाभावस्तत्रावश्य प्रमेयाभावज्ञानमुत्पद्यते; परचेतोवृत्तिविशेषैरनंकान्तिकत्वात् ।

किञ्च, प्रमाणपञ्चकाभावो ज्ञात, अज्ञातो वा तज्ज्ञानहेतुः स्यात् ? ज्ञातश्चेत्कुतो ज्ञप्तिः ? तद्विषयप्रमाणपञ्चकाभावाच्चेत्; अनवस्था । प्रमेयाभावाच्चेदन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि प्रमेयाभावे प्रमाणपञ्चकाभावसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च प्रमेयाभावसिद्धिरिति । अज्ञातस्य च ज्ञापकत्वायोगः “नाज्ञात

प्रमेयाभावरूप ज्ञानको उत्पन्न करने वाला वह प्रमाणपञ्चकाभाव जाना हुआ होकर प्रमेयाभाव के ज्ञानका हेतु होता है अथवा नहीं जाना हुआ होकर हेतु होता है ? यदि जाना हुआ होकर हेतु होता है तो वह किस प्रमाण से जाना गया होता है ? यदि कहा जाय कि प्रमाणपञ्चकाभाव को विषय करनेवाला जो अभाव प्रमाण है उसके द्वारा प्रमाणपञ्चकाभाव जाना जाता है, तो इस तरह मानने में अनवस्था आवेगी । यदि इस दोष से बचने के लिये कहा जाय कि वह प्रमाणपञ्चकाभाव प्रमेयाभाव से जाना जाता है तो अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है, क्योंकि प्रमेयाभाव सिद्ध होने पर प्रमाणपञ्चकाभाव सिद्ध हो सकेगा । और उसके सिद्ध होनेपर प्रमेयाभाव सिद्ध होगा । दूसरा पक्ष—प्रमाणपञ्चकाभाव अज्ञात रहकर प्रमेयाभाव के ज्ञानका हेतु होता है, सो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि “नाज्ञातं ज्ञायक नाम” इस नियम के अनुसार जो अज्ञात होता है वह किसी का ज्ञायक नहीं होता है ऐसा बुद्धिमानो द्वारा माना गया है । अन्यथा अतिप्रसंग होगा । यद्यपि इन्द्रिया अज्ञात रहकर ज्ञानका हेतु हुआ करती है किन्तु वे ज्ञान के प्रति कारक हेतु हैं न कि ज्ञापक अतः कोई विरोध नहीं आता ।

शंका—प्रमाणपञ्चकाभाव भी प्रमेयाभावके ज्ञानका कारक हेतु माना है अतः कोई विरोध नहीं है ।

समाधान—प्रमाणपञ्चकाभाव सकल सामर्थ्य से रहित है अतः वह कारक हेतु बन नहीं सकता । इसलिये निम्नलिखित कथन असत ठहरता है कि—

जब प्रत्यक्षादिप्रमाण सद्भावाशको ग्रहण कर लेते हैं, तब कभी अभाव अश को जानने की इच्छा होनेपर अभाव प्रमाण प्रवृत्त होता है, क्योंकि अभावाशको जाननेमें प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रवृत्त नहीं होते ॥१॥

ज्ञापकं नाम” [] इति प्रेक्षावद्भिरभ्युपगमात्, अन्यथातिप्रसङ्ग । अक्षादेस्तु कारकत्वाद-
ज्ञातस्यापि ज्ञानहेतुत्वाविरोध । न चास्यापि कारकत्वात्तद्धेतुत्वाविरोधः; निखिलसामर्थ्यशून्यत्वे-
नास्य कारकत्वासम्भवादित्युक्तत्वात् । ततोऽयुक्तमुक्तम्—

“प्रत्यक्षाद्यवतारश्च भावांशो गृह्यते यदा ।

व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते ॥”

[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ६७] इति ।

द्वितीयपक्षे तु यत्तदन्यज्ञान तत्प्रत्यक्षमेव, पर्युदासवृत्त्या हि निषेध्याद् घटादेरन्यस्य भूतलादे-
र्ज्ञानमभावप्रमाणाख्या प्रतिपद्यमान तदन्या(न्य)भावलक्षणाभावपरिच्छेदकमिष्टमेव । तृतीयपक्षे तु

अभावप्रमाणका द्वितीयभेद था “तदन्यज्ञान” सो यह ज्ञान तो प्रत्यक्षप्रमाण
स्वरूप ही है, देखिये । पर्युदासवृत्ति द्वारा निषेध्यभूत घटादिसे अन्य भूतल आदि
पदार्थका ज्ञान होता है उसे आपने अभाव प्रमाण नामसे स्वीकार किया है सो यह
तदन्यज्ञान नामा अभावप्रमाण अभावका परिच्छेदक होता ही है किन्तु यह ज्ञान
प्रत्यक्षप्रमाण स्वरूप ही है ।

भावार्थ—तत् अन्य ज्ञान अर्थात् घटसे अन्य जो भूतल है उसका ज्ञान
अभाव प्रमाण कहलाता है ऐसा मीमांसकका कहना है सो यह ज्ञान सर्वथा प्रत्यक्षके
कोटीमें जाता है, इसीका खुलासा करते हैं—कोई पुरुष पहले तो घट सहित भू भाग
को देखता है फिर कभी घट रहित भू भागको देखता है तो उसे जो घटसे अन्य जो
मात्र भू भाग है उसका ज्ञान होता है वह अभावप्रमाण है ऐसी मीमांसक की मान्यता
है सो यद्यपि इसमें घटका प्रतिषेध है किन्तु यह पर्युदास प्रतिषेध है अर्थात् घटका
अभाव है तो भूभागका सद्भाव है, इसतरहके पर्युदासात्मक अभावका ग्रहण प्रत्यक्ष
प्रमाण द्वारा ही होता है अतः उसे पृथक प्रमाण मानना व्यर्थ है ।

तृतीय पक्ष—अभावप्रमाण के बताते हुए कहा था कि आत्मा का ज्ञानसे
विमुक्त होना—तीसरे अभावप्रमाणका लक्षण है, इस पर प्रश्न होता है कि आत्मा
ज्ञान से निर्मुक्त होता है सो सर्वथा निर्मुक्त होता है कि कथंचित् निर्मुक्त होता है ?
सर्वथा कहो तो स्ववचन विरोध आता है जैसा कि “माता में
वन्ध्या है इसमें स्ववचन विरोध आता है, क्योंकि आत्मा यदि
हुआ है तो वह अभाव को कैसे जानेगा ? जानना तो ॥

किमसौ सर्वथा ज्ञाननिर्मुक्तः, कथञ्चिद्वा ? तत्राद्यविकल्पे 'माता मे वन्ध्या' इत्यादिवत्स्ववचन-विरोधः । सर्वथा हि यद्यात्मा ज्ञाननिर्मुक्तः कथमभावपरिच्छेदकः ? परिच्छेदस्य ज्ञानधर्मत्वात् । परिच्छेदकत्वे वा कथमसौ सर्वथा ज्ञाननिर्मुक्त स्यात् ? अथ कथञ्चित्; तथाहि—'अभावविषय ज्ञान-मस्यास्ति निषेध्यविषय तु नास्ति' इति, तर्हि तज्ज्ञानमेवाभावप्रमाणं स्यान्नात्मा । तच्च भावान्तर-स्वभावाभावग्राहकतयेन्द्रियैर्जनितत्वात्प्रत्यक्षमेव । ततो निराकृतमेतत्—“न तावदिन्द्रियेणैषा” इत्यादि, “वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्य समाश्रिता” इत्यादि च, तस्या प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वं एव प्रसिद्धे । कथं ततोऽभावपरिच्छित्तिरिति चेत्, कथं भावस्य ? प्रतिभासाच्चैदितरत्र समानम् । न खलु प्रत्यक्षै-

किसी विषय को जान रहा है तो वह सर्वथा ज्ञान निर्मुक्त कैसे हुआ । कथञ्चित् ज्ञान निर्मुक्त है ऐसा दूसरा पक्ष मानो तो इसका अर्थ होता है कि आत्माको अभाव विषयक ज्ञान तो है किन्तु निषेध्य विषयक ज्ञान नहीं है, तो इसप्रकार की मान्यता में अभाव विषयक ज्ञान ही अभावप्रमाण कहलायेगा, आत्मा नहीं । तथा च—वह ज्ञान भावांतर स्वभाव रूप अभाव का ग्राहक होनेके कारण इन्द्रियो से उत्पन्न हुआ है, अतः प्रत्यक्ष-प्रमाण रूप ही है । इस प्रकार अभाव प्रमाण का यह तीसरा भी भेद निराकृत हो जाता है । इसलिए मीमांसक ने जो ऐसा कहा है कि—

“न तावदिन्द्रियेणैषा”... इन्द्रिय द्वारा यह ज्ञान नहीं होता इत्यादि तथा “वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्य समाश्रिता” वस्तुओं के परस्पर असकीर्णताकी सिद्धि अभावप्रमाणके प्रामाण्य पर निर्भर है इत्यादि, सो यह सब खडित हुआ समझना, क्योंकि प्रत्यक्षादिप्रमाण से ही अभाव का ग्रहण होना सिद्ध हो चुका है ।

शंका— प्रत्यक्षादि प्रमाण अभाव को किस प्रकार जान सकेंगे ?

समाधान—जैसे वे भावाश को जानते हैं वैसे ही वे अभावाश को जानेंगे ? अर्थात् आप मीमांसक से जब कोई ऐसा पूछें कि प्रत्यक्षादि प्रमाण भावाश को किस प्रकार जानते हैं ? तो आप कहेंगे कि उसका प्रतिभास होता है अतः वे उसे जानते हैं, तो इसी तरह अभावाश का भी प्रतिभास होता है, अतः वे अभावाशको भी जानते हैं । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से है—अन्य से असृष्ट हुए अर्थको अर्थात् घट के सबंध से रहित हुए भूतल को पहले तो प्रत्यक्ष प्रमाण जाने और पीछे अभाव प्रमाण घट से असृष्ट भूतल को जाने ऐसी क्रमिक प्रतीति नहीं होती, किन्तु पहले से ही अन्य से असृष्ट पदार्थ का प्रत्यक्ष में प्रतिभास हो जाता है । अन्य से असृष्ट पदार्थ के ज्ञान

एतन्नैतदपि प्रत्युक्तम् “स्वरूपपररूपाभ्याम्” इत्यादि, सर्वे. सर्वदोभयरूपस्यैवान्तर्बहिर्वा-
ससृष्टस्यार्थस्याध्यक्षे प्रतिभासनात् । न चान्यासंसृष्टार्थवेदनादन्यत्तदभाववेदनं नाम ।

एतेनैतदपि प्रत्युक्तम् “स्वरूपपररूपाभ्याम्” इत्यादि, सर्वे. सर्वदोभयरूपस्यैवान्तर्बहिर्वा-
ससृष्टस्यार्थस्याध्यक्षे प्रतिभासनात्, अन्यथा तदभावप्रसङ्गात् ।

यदप्युक्तम्—“यस्य यत्र यदोद्भूतिः” इत्यादि; तदप्युक्तम्, न ह्यनुभूतमनुद्भूतं नाम ।
नापि जिघृक्षाप्रभव सर्वज्ञानम्; इन्द्रियमनोमात्रभावे भावात्तदभावे चाभावात्तस्य ।

से उसके अभाव का ज्ञान पृथक् तो है नहीं मतलब घट से रहित भूतल का ज्ञान ही
तो घट के अभाव का ज्ञान है, और वह अभाव प्रत्यक्ष से ही ज्ञात हो चुका है, अब
उसे जानने के लिये अभाव प्रमाण की क्या आवश्यकता है । तथा “स्वरूपपररूपाभ्या
.....इत्यादि काटिकोक्त विषय निराकृत हुआ समझना चाहिये ।

इसमें कहा गया है कि स्वरूप और पररूप से वस्तु सद् और असद् रूप है,
उसमें से सद् रूप को प्रत्यक्षादि प्रमाण जानता है और असद् रूप को अभाव प्रमाण
जानता है, सो यह कथन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि सभी प्रमाण
हमेशा ही सद् असद् दोनों स्वरूप वाली अन्तर्बहि वस्तु को जानते हैं—अर्थात् अतरंग
वस्तु जीव और बहिरंग जड पदार्थ इनके सद् और असद् अशो को प्रत्येक प्रमाण
जानता है, यदि ऐसा जानना नहीं हो तो उसके अभाव होने का प्रसंग प्राप्त होगा ।
और भी कहा था कि—

“भस्य यत्र यदोद्भूतिर्जिघृक्षा चोपजायते ।

वेद्यतेऽनुभवस्तस्य तेन च व्यपदिश्यते ॥ १ ॥

सदसदात्मक वस्तुमे जिस अशकी जहां, जब अभिव्यक्ति होती है तथा उसे
जानने की जब इच्छा होती है, तब उसीका अनुभव प्रमाण के द्वारा होता है और उस
प्रमाण को वही नाम दिया जाता है ॥ १ ॥ इत्यादि सो यह सब प्रलाप मात्र है
क्योंकि जब वस्तुका प्रत्यक्ष मे अनुभव हो जाता है तो फिर उसमें अनुद्भूत अश क्या
रह जाता है कि जिसे जानने के लिये अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति हो । तथा जितने
ज्ञान होते हैं वे सभी इच्छापूर्वक ही होते हैं ऐसा नियम नहीं है, ज्ञानमें तो इन्द्रिय और
मनका नियम है इन्द्रियां और मनके होनेपर ज्ञान होता है और उनके अभाव होनेपर

यच्चान्यदुक्तम्—“मेयो यद्वदभावो हि” इत्यादि, तत्र ‘भावरूपेण प्रत्यक्षेण नाभावो वेद्यते’ इति प्रतिज्ञा अन्याससृष्टभूतलगाहिणा प्रत्यक्षेण निराक्रियते अनुष्णाग्निप्रतिज्ञावत् । ‘भावात्मके यथा मेये’ इत्याद्यप्युक्तम्, अभावादपि भावप्रतीतेः, यथा गगनतले पत्रादीनामघ.पाताभावाद्वायोरिति । भावाच्चान्यादे शीनाभावस्य प्रतीतिः सकलजनप्रसिद्धा । ‘यो यथाविधः स तथाविधेनैव गृह्यते’ इत्यभ्युपगमे चाभावस्य मुद्गरादिहेतुत्वाभावः स्यात् । शक्यं हि वक्तुम्—यो यथाविधः स तथाविधेनैव क्रियते यथा भावो भावेन, अभावश्चाभावः, तस्मादभावेनैव क्रियते । प्रत्यक्षबाधा चान्यत्रापि समाना ।

नही होता [यहा पर सिर्फ इन्द्रिय और मन को ही ज्ञानका हेतु माना है वह लौकिक दृष्टिसे या मति और श्रुतज्ञान की अपेक्षा से माना है, आगे के अवधिज्ञानादिक अन्य मत मे नही माने हैं, अत उसको गौण करके यह कथन किया है] अभाव प्रमाण के विषय मे जो यह कारिका “मे यो यद्वदभावो हि” इत्यादि प्रस्तुत की थी वह भी ठीक नही है, इस कारिकाका आशय भी पूर्वोक्त रीत्या निराकृत हुआ समझना चाहिये ।

आप मीमांसको की यह प्रतिज्ञा [या हठाग्रह] है कि सद्भावरूप प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अभाव नही जाना जाता है सो यह अग्नि ठण्डी है, इस प्रतिज्ञा के समान निराकृत हो जाती है, क्योंकि अन्य से अससृष्ट जो भूतल है उसको जाननेवाला प्रत्यक्ष प्रमाण है यह सिद्ध हो चुका है । “भावात्मके यथा मेये” इत्यादि वाक्यों में यह सिद्ध करनेका प्रयास किया था । सद्भावात्मक प्रमेयको सद्भावात्मक प्रमाण जानता है और अभावात्मक अप्रमेयको अभावात्मक प्रमाण जानता है सो भी अयुक्त सिद्ध हो चुका है । देखिये ! अभावसे भी सद्भावकी प्रतीति होती है ।

जैसे—आकाश में वायु है, क्योंकि पत्ते आदि का नीचे गिरने का अभाव है इत्यादि अनुमानमे अभावात्मक हेतु से सद्भावात्मक पदार्थ की प्रतीति होती हुई देखी जाती है, तथा कभी भाव हेतु से भी अभाव जाना जाता है, जैसे शीतका अभाव है क्योंकि अग्निका सद्भाव है । इस तरह भाव हेतु से अभाव की और अभावरूप हेतुसे भाव की सिद्धि होना सर्वजन प्रसिद्ध ही है । जो जैसा होता है वह वैसे ही प्रमाण के द्वारा जाना जाता है, ऐसा स्वीकार किया जाय तो अभावके कारण भावरूप लाठी आदि माने गये हैं वे गलत ठहरेगे । अर्थात् लाठी के द्वारा फूट जाने से घटका अभाव हुआ ऐसा कह नही सकेंगे ? उस विषयमे भी कह सकते है कि जो जैसा भावरूप या

यदप्यभिहितम्—‘प्रागभावादिभेदाच्चतुर्विधश्चाभावः’ इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; यतः स्वकारणकलापात्स्वभावव्यवस्थितयो भावोः समुत्पन्ना नात्मानं परेण मिश्रयन्तितस्यापरत्वं प्रसङ्गात् । न चान्यतोऽप्या(तो व्या)वृत्तस्वरूपाणां तेषां भिन्नोऽभावाशः सम्भवति । भावे वा तस्यापि पररूपत्वाद्भावेन ततोपि व्यावर्तितव्यमित्यपरापराभावपरिकल्पनयानवस्था । अतो न कुतश्चिद्भावेन व्यावर्तितव्यमित्येकस्वभाव विश्व भवेत्, परभावाभावाच्च व्यावर्तमानस्यार्थस्य पररूपताप्रसङ्गः ।

यदि चेतरेतराभाववशाद् घटः पटादिभ्यो व्यावर्त्तित, तर्हीतरेतराभावोपि भावादभावान्तराच्च प्रागभावादे किं स्वतो व्यावर्त्तित, अन्यतो वा ? स्वतश्चेत्; तथैव घटोप्यन्येभ्यः किन्न व्यावर्त्तित ?

अभाव रूप होता है, वह उसी भाव या अभाव रूप हेतु के द्वारा किया जाता है जैसे भावरूप मिट्टीसे भावरूप घट किया जाता है, अभाव तो अभावरूप हुआ करता है अतः उसको अभाव के द्वारा ही किया जाता है ? यदि कहा जाय कि इस तरह की मान्यता में प्रत्यक्ष बाधा आती है तो “अभाव प्रमाण द्वारा अभावांश ग्रहण किया जाता है” ऐसा मानने में भी प्रत्यक्ष बाधा आती है । उभयत्र समान बात है । इसप्रकार अभाव को जानने के लिए प्रत्यक्षादिप्रमाणसे पृथक् कोई एक प्रमाण चाहिये ऐसा मीमांसक का कहना खडित हुआ ।

मीमांसकने यह भी कहा था कि प्रागभाव आदि के भेद से अभाव चार प्रकार का है इत्यादि । सो यह केवल कथन मात्र है । क्योंकि अपने अपने स्वभावमें स्थित जो भाव हैं वे अपने कारणसमूह से उत्पन्न हुए हैं वे अपने को अन्य से मिश्रित नहीं करते, अन्यथा वे पर भी अन्य परसे मिश्रित होंगे ? परसे व्यावृत्तिस्वरूपवाले पदार्थों का अभावाश उनसे भिन्न नहीं रहता है, उन्हीमें रहता है ।

यदि पदार्थोंसे अभावाश भिन्न रहना संभव है तो वह परपदार्थ रूप हुआ ? फिर वह परपदार्थ भी सद्भाव रूप होगा, अतः वहां से उस अभाव को हटाना पड़ेगा, इस तरह से तो अनवस्था दोष आवेगा । इस अनवस्था की आपत्ति से बचने के लिये पदार्थ को किसी से भी व्यावृत्त स्वरूप नहीं माना जाय तो सारा विश्व एक स्वभाव वाला हो जायगा और इस तरह से पर भावका अभाव होनेसे व्यावर्तमान जो पदार्थ है उसमें पररूपता का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । यदि घट इतरेतराभाव द्वारा पट आदि अन्य वस्तुओं से व्यावृत्त होता है ऐसा मानते हैं तो प्रश्न होता है कि इतरेतराभाव से जैसे घट से पट और पट से घट व्यावृत्त होता है वैसे ही स्वयं इत-

अन्यतश्चेत्, किमसाधारणधर्मात्, इतरेतराभावान्तराद्वा ? असाधारणधर्माभ्युपगमे स एव पटादि-
ष्वपि युक्तः । इतरेतराभावान्तराच्चेत्; बहुत्वमितरेतराभावस्यानवस्थाकारि स्यात् ।

किञ्च, इतरेतराभावोप्यसाधारणधर्मोणाव्यावृत्तस्य, व्यावृत्तस्य वा भेदकः ? यद्यव्यावृत्तस्य;
किं नैकव्यक्तेर्भेदकः ? अथ व्यावृत्तस्य; तर्हि घटादिष्वपि स एवास्तु भेदकः किमितरेतराभाव-
कल्पनया ?

किञ्च, अनेन घटे पट प्रतिषिध्यते, पटत्वसामान्य वा, उभयं वा ? प्रथमपक्षे किं पटविशिष्टे

रेतराभाव अन्य पदार्थ से एवं प्रागभाव आदि से व्यावृत्त होता है वह स्वतः होता है या अन्य किसी निमित्त से ? यदि वह स्वतः ही व्यावृत्त होता है तो जैसे वह इतरे-
तराभाव अपने आप अन्यभाव से और प्रागभाव आदि से व्यावृत्त है वैसे ही घट भी
स्वयं पर पदार्थोंसे व्यावृत्त होता है ऐसा प्रतीतिसिद्ध सिद्धान्त मानने में क्या आपत्ति
है । यदि इतरेतराभाव अन्य निमित्तसे व्यावृत्त होता है ऐसा माना जाय तो वह अन्य
निमित्त क्या है ? असाधारण धर्म है या दूसरा इतरेतराभाव है ? यदि असाधारण
धर्म से इतरेतराभाव अपने आपको अन्य प्रागभावादिको से जुदा करता है तो वही
बात घट पट आदि पदार्थों में भी मान लेनी चाहिये, अर्थात् घट पट आदि पदार्थ भी
अपने २ असाधारण धर्म के कारण ही अन्य २ पदार्थों से व्यावृत्त होते हैं, उन्हें
परस्पर में व्यावृत्त कराने के लिए इतरेतराभावकी क्या आवश्यकता है । यदि द्वितीय
पक्ष कहा जाय कि इतरेतराभाव को दूसरा इतरेतराभाव प्रागभाव आदिसे व्यावृत्त
कराता है तो बहुत सारे इतरेतराभाव इकट्ठे हो जावेगे और इसतरह की कल्पना
से अनवस्थाव्याघ्री मुख फाड़े खडी हो जावेगी ।

किञ्च—इतरेतराभाव असाधारण धर्मसे व्यावृत्त हुए पदार्थका भेदक होता
है अथवा अव्यावृत्त हुए पदार्थका भेदक होता है ? अव्यावृत्तका भेदक माने तो एक
(घट) व्यक्ति का भेदक क्यों नहीं होगा ? और व्यावृत्त हुए पदार्थ का भेदक है तो
घट, पट गृह वृक्ष आदि सभी पदार्थों में भी वही असाधारण धर्म ही भेद करानेवाला
है ऐसा मानना चाहिये, व्यर्थ ही इतरेतराभाव की कल्पना से क्या लाभ ? किञ्च-
इतरेतराभाव के द्वारा घट में पटका निषेध किया जाता है कि पटत्व सामान्यका निषेध
किया जाता है अथवा दोनों का निषेध किया जाता है ? प्रथम पक्ष—इतरेतराभाव
घट में पट का निषेध करता है ऐसा कहा जावे तो हम पूछते हैं कि पट विशिष्ट घट

घटे पटः प्रतिषिध्यते, पटविविक्ते वा ? न तावदाद्यः पक्षो युक्तः, प्रत्यक्षविरोधात् । नापि द्वितीयः; तथाहि—किमितरेतराभावादन्या घटस्य पटविविक्तता, स एव वा विविक्तताशब्दाभिधेय ? भेदे; तयैव घटे पटाभावव्यवहारसिद्धेः किमितरेतराभावेन ? अथ स एव तच्छब्दाभिधेयः, तर्हि यस्माद्-भावात्पटविविक्ते घटे पटाभावव्यवहारः सोऽन्योऽभावः, विविक्तताशब्दाभिधेयश्चान्य इत्येकस्मिन्वस्तु-नीतरेतराभावद्वयमायातम् ।

किञ्च, 'घटे पटो नास्ति' इति पटरूपताप्रतिषेध, सा किं प्राप्ता प्रतिषिध्यते, अप्राप्ता वा ? प्राप्ताया प्रतिषेधे पटेऽपि पटरूपताप्रतिषेधः स्यात् प्राप्तेरविशेषात् । अप्राप्तायास्तु प्रतिषेधानुपपत्तिः, प्राप्तिपूर्वकत्वात्तस्य । न ह्यनुपलब्धोदकस्य 'अनुदक कमण्डलुः' इति प्रतिषेधो घटते । अथान्यत्र

में या पटरहित घट में पटका निषेध किया जाता है, पट विशिष्ट [पट सहित] घटमें पट का निषेध किया जाता है ऐसा कहना तो प्रत्यक्ष विरोधी बात होगी । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, इसी बात को बताते हैं—घट में जो पटकी विविक्तता है वह इतरेतराभाव से अन्य है अथवा इतरेतराभाव ही पट विविक्तता शब्दसे कहा जाता है ? घट में जो पट विविक्तता है वह इतरेतराभाव से न्यारी ही कोई चीज है ऐसा प्रथम पक्ष माना जाय तो उसी विविक्तता से घट में पट के अभाव का व्यवहार हो जायगा । इतरेतराभाव के मानने की क्या आवश्यकता है ? दूसरा पक्ष—घट की पटविविक्तता ही इतरेतराभाव है ऐसा कहो तो जिस अभाव से पट रहित घट में पटके अभाव का व्यवहार होता है वह अभाव और विविक्तता शब्दसे कहा गया अभाव इसतरह दो अभाव एक ही वस्तु में माननेका प्रसंग आता है । दूसरी बात यह है कि घटमें पट स्वरूप का निषेध करते हैं सो वह उस घट में प्राप्त हुआ है इसलिये करते हो अथवा प्राप्त नहीं होने पर करते हो ? यदि प्राप्त हुए पटका प्रतिषेध करेगे तो पट में प्राप्त हुई पट रूपता का भी निषेध होने का प्रसंग प्राप्त होगा ? कोई विशेषता नहीं रहेगी ।

द्वितीय पक्ष—घटमें पटका स्वरूप प्राप्त हुए विना ही उसका निषेध करते है तो ऐसा निषेध हो नहीं सकता, क्योंकि निषेध प्राप्ति पूर्वक ही होता है, देखो ! जिसने जलको उपलब्ध ही नहीं किया ऐसे कमडलुमें यह कमडलु जल रहित है ऐसा जलका निषेध नहीं कर सकते ।

शंका—अन्यत्र प्राप्त हुए पट रूपता का अन्यत्र प्रतिषेध किया जाता है ?

प्राप्तमेव पटरूपमन्यत्र प्रतिषिध्यते, तत्रापि समवायप्रतिषेध, सयोगप्रतिषेधो वा ? न तावत्समवाय-
प्रतिषेधः; रूपादेरेकत्र समवायेन सम्बद्धस्यान्यत्र वस्त्वन्तरेऽन्योन्याभावतोऽभावव्यवहारानुपलम्भात् ।
सयोगप्रतिषेधोऽप्यनुपपन्न, घटपटयो कदाचित्सयोगस्यापि सम्भवात् । अथ पटेन सयोगरहिते घटे
पटप्रतिषेधो न तत्सयोगवति । नन्वेव पटसयोगरहितत्वमेवाभावोस्तु, न त्वन्यस्मादभावात्पटसयोग-
रहिते घटे पटाभाव इति युक्तम् । तन्न घटे पटप्रतिषेधो युक्तः ।

नापि पटत्वप्रतिषेधः, तस्याप्येकत्र सम्बद्धस्यान्यत्र सम्बन्धाभावादेव प्रतिषेधानुपपत्तेः ।

समाधान — अन्यत्र किया गया पटरूपता का प्रतिषेध भी दो तरह का हो सकता है, समवाय स्वरूप पटरूपताका प्रतिषेध और सयोगस्वरूप पटरूपताका प्रतिषेध । अब इनमें से समवायस्वरूप पटरूपताका प्रतिषेध करना तो शक्य नहीं होगा, क्योंकि एक वस्तु में समवाय सबधसे सबद्ध हुए रूप रस आदिका अन्य वस्तु में इतरेतराभाव द्वारा अभाव किया गया हो ऐसा उपलब्ध नहीं होता । सयोगस्वरूप पटरूपता का घटमें निषेध किया जाता है ऐसा दूसरा कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि कभी कभी घट और पटका सयोग होना संभव है ।

शंका—पटके सयोगसे रहित जो घट है उसमें पट का निषेध करते हैं न कि पट सयोगयुक्त घटमें ?

समाधान—इस तरह स्वीकार करनेपर तो पटके सयोग से रहित होना ही अभाव है ऐसा सिद्ध हुआ, “पटसयोग रहित घटमें इतरेतराभावसे पटका अभाव होता है” ऐसा तो सिद्ध नहीं हुआ ? अतः घटमें इतरेतराभाव द्वारा पटका प्रतिषेध किया जाता है ऐसा प्रथम पक्ष अयुक्त सिद्ध होता जाता है ।

इतरेतराभाव से घट में पटत्व सामान्य का प्रतिषेध किया जाता है, सो ऐसा द्वितीय पक्ष भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि एक जगह सबद्ध हुए पटत्व सामान्यका अन्य जगह सबध नहीं होनेसे प्रतिषेध नहीं कर सकते । घटमें पट और पटत्व सामान्य दोनोंका प्रतिषेध इतरेतराभावसे किया जाता है ऐसा तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं, इस पक्षमें भी पहले कहे हुए अशेष दोष आते हैं ।

किंच, इतरेतराभाव का ज्ञान होने के बाद घट का ज्ञान होता है कि घट ज्ञान के बाद इतरेतराभाव का ग्रहण-ज्ञान होता है ? आद्य पक्ष इतरेतराभाव के ज्ञान के बाद घट का ज्ञान होता है । ऐसा स्वीकार किया जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता

नाप्युभयप्रतिषेध ; प्रागुक्ताशेषदोषानुषङ्गात् ।

किञ्च, इतरेतराभावप्रतिपत्तिपूर्विका घटप्रतिपत्तिः, घटग्रहणपूर्वकत्व वेतरेतराभावग्रहणस्य ? आद्यपक्षेऽन्योन्याश्रयत्वम्, तथाहि—‘इतरेतराभावो घटसम्बन्धित्वेनोपलभ्यमानो घटस्य विशेषण न पदार्थान्तरसम्बन्धित्वेन, अन्यथा सर्वं सर्वस्य विशेषण स्यात् । घटसम्बन्धित्वप्रतिपत्तिश्च घटग्रहणे सत्युपपद्यते । सोपि व्यावृत्त एव पटादिभ्य प्रतिपत्तव्यः । ततो यावत्पूर्वं घटसम्बन्धित्वेन व्यावृत्तेरुपलम्भो न स्यान्न तावद्व्यावृत्तिविशिष्टतया घटः प्रत्येतु शक्य, यावच्च पटादिव्यावृत्तत्वेन न प्रतिपन्नो घटो न तावत्स्वसम्बन्धित्वेन व्यावृत्ति विशेषयति इति ।

अथ घटग्रहणपूर्वकत्वमितरेतराभावग्रहणस्य; अत्राप्यभावो विशेष्यो घटो विशेषणम् । तद्ग्रहणं च पूर्वमन्वेषणीयम् “नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः” [] इत्यभिधानात् ।

है, अब इसीका खुलासा करते हैं—इतरेतराभाव जब विवक्षित घट के सबध रूप से उपलब्ध होगा तभी वह उसका विशेषण बनेगा कि यह इतरेतराभाव इस घट का है, अन्य पदार्थ के सबध रूप से उपलब्ध होता हुआ इतरेतराभाव उस विवक्षित घटका विशेषण तो बन नहीं सकता, यदि बनता तो सभी सबके विशेषण हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं, तथा यह इतरेतराभाव घट सबधी है ऐसा ज्ञान भी तभी होगा जबकि घट का ग्रहण होगा, और घट ग्रहण भी तभी होगा कि जब वह पटादि पदार्थों से व्यावृत्त हुआ प्रतीत होगा । इसलिये जब तक इतरेतराभाव की घट के सबधपने से उपलब्धि नहीं होगी तब तक व्यावृत्ति विशेष से घटका जानना शक्य नहीं होगा, और जब तक यह घट अन्य पट आदि से व्यावृत्त है ऐसा जानना नहीं होगा, तब तक घट सबधी इतरेतराभाव की विशेषणता सिद्ध नहीं होगी ।

दूसरापक्ष—घट ग्रहण के बाद इतरेतराभाव ग्रहण होता है ऐसा माने तो अब यहा अभाव विशेष्य बना और घट विशेषण हो गया, अत घट विशेषण को पहले जानना जरूरी है क्योंकि “नागृहीत विशेषणा विशेष्ये बुद्धिः” विशेषण के अगृहीत रहने पर विशेष्य का ग्रहण नहीं होता है, ऐसा नियम है । जब घट को पहले ग्रहण करेंगे तो वह पट आदि पदार्थों से व्यावृत्त हुआ ग्रहण में आयेगा कि अव्यावृत्त हुआ ग्रहण में आयेगा ? पट आदि पदार्थों से अव्यावृत्त घट ग्रहण में आता है ऐसा मानो तो उस घट की घट रूपता सिद्ध नहीं होती है । यदि पटादि से व्यावृत्त हुए बिना ही घट की घटरूपता सिद्ध होती है तो पट आदि सभी पदार्थ भी अन्य घट आदि पर

तत्रापि घटो गृह्यमाणः पटादिभ्यो व्यावृत्तो गृह्यते, अव्यावृत्तो वा ? तत्र न तावत्पटादिभ्योऽव्यावृत्तस्य घटस्य घटरूपता घटते, अन्यथा पटादेरपि तथैव पटादिरूपताप्रसङ्गादभावकल्पनावैयर्थ्यम् । अथ तेभ्यो व्यावृत्तस्य घटस्य घटरूपताप्रतिपत्तिः प्रार्थ्यते, तत्रापि किं कतिपयपटादिव्यक्तिभ्योऽसौ व्यावर्त्तते, सकलपटादिव्यक्तिभ्यो वा ? प्रथमपक्षे कुतश्चिदेवासौ व्यावर्त्तते, न सकलपटादिव्यक्तिभ्यः । द्वितीयपक्षेपि न निखिलपटादिभ्योऽस्य व्यावृत्तिर्घटते, तासामानन्त्येन ग्रहणासम्भवात् । इतरेतराश्रयत्व च, तथाहि—'यावत्पटादिभ्यो व्यावृत्तस्य घटस्य घटरूपता न स्यान्न तावद् घटात्पटादयो व्यावर्त्तन्ते, यावच्च घटाद्व्यावृत्तानां पटादीनां पटादिरूपता न स्यात् तावत्पटादिभ्यो घटो व्यावर्त्तते इति ।

अस्तु वा यथाकथञ्चित्पटादिभ्यो घटस्य व्यावृत्तिः, घटान्तरात् कथमसौ व्यावर्त्तते इति

पदार्थ से व्यावृत्त हुए बिना अपने अपने पटादिरूप सिद्ध हो जायेगे ? फिर तो अभाव की कल्पना करना ही व्यर्थ है । इस आपत्ति से बचने के लिये दूसरा पक्ष स्वीकार करते ही कि घट की घटरूपता अन्य पट आदि से व्यावृत्त होने पर जानी जाती है तो पुन शका होती है कि घट अन्य से व्यावृत्त हुआ है वह कतिपय पट आदि से व्यावृत्त हुआ है अथवा सपूर्ण पट आदि से व्यावृत्त हुआ है ? यदि कतिपय पट आदि से व्यावृत्त है तो उतने से ही पृथक् कहलायेगा, सभी पदार्थों से तो अव्यावृत्त ही रहेगा । दूसरा विकल्प—सपूर्ण विश्वके पट गृह आदि पदार्थों से यह घट व्यावृत्त है ऐसा कहना तो शक्य नहीं, क्योंकि पट आदि पदार्थ अनन है, उनका ग्रहण होना असंभव है । तथा इस प्रकार से मानने में अन्योन्याश्रय दोष भी आता है, इसीका खुलासा करते हैं—जब तक पटादि से व्यावृत्त घट की घट रूपता घटित नहीं होती तब तक घट से पट प्रभृति पदार्थ व्यावर्त्तित नहीं होंगे और जब तक घट से व्यावृत्त पट आदि की पट आदि रूपता सिद्ध नहीं होगी तब तक पट आदि से वह घट व्यावृत्त नहीं हो सकेगा । इस प्रकार दोनों ही अव्यावृत्त रहकर असिद्ध अवस्था में पड़े रहेंगे । अच्छा ! हम आप मीमांसक के आग्रह से मान लें कि जैसे चाहे वैसे कैसे भी पट आदि से घट की व्यावृत्ति हो जाती है, किन्तु इस बात का निर्णय करना है कि अन्य घट से विवक्षित घट की व्यावृत्ति कैसे होगी (घट अपने को अन्य घटों से कैसे पृथक् करता है) घट पने से या अघटपने से, यदि घटपने से घट व्यावृत्त होता है तो इसका मतलब तो यह हुआ कि एक विवक्षित घट, सपूर्ण घट व्यक्तियों से पृथक् होता हुआ घटपने को लेकर व्यावृत्त हो गया ? फिर तो सारे ही अन्य घट विचारे अघट रूप ही बन

सम्प्रधार्यम्—किं घटरूपतया, अन्यथा वा ? यदि घटरूपतया, तर्हि सकलघटव्यक्तिभ्यो व्यावर्त्तमानो घटो घटरूपतामादाय व्यावर्त्तित इत्यायातम् अघटत्वमन्यासा घटव्यक्तीनाम् । अथाघटरूपतया, तत्किमघटरूपता पटादिवद् घटेऽप्यस्ति ? तथा चेत् ; तर्हि यो व्यावर्त्तिते घटान्तरादघटत्वेन घटस्तस्याघटत्व स्यात् । तच्च विप्रतिषिद्धम्—यद्यघटो घटः, कथं घटः ? तस्मान्नार्थादर्थान्तरमभावः ।

ननु चाभावस्यार्थान्तरस्वानभ्युपगमे कथं तन्निमित्तको व्यवहारः ? तथाहि—किं घटावष्टब्धं भूतल घटाभावो व्यपदिश्यते, तद्रहित वा ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः । द्वितीयपक्षे तु नाममात्रं

जायेगे ? दूसरी बात अघट रूप से व्यावृत्त होता है, ऐसा माने तो क्या पट, गृह, वृक्ष आदि पदार्थों के समान घट में भी अघट रूपता है ? यदि है तो जो घट अन्य घट जाति से अघटत्व के द्वारा व्यावृत्त होता है वह स्वयं अघट रूप बन गया सो यह विरुद्ध बात है अर्थात् यदि घट स्वयं अघट है तो वह किस प्रकार घट नाम पायेगा ? अतः यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ से पृथक् कोई अभाव नामा वस्तु नहीं है । वह पदार्थ रूप ही है ।

मीमांसक—यदि अभाव को भिन्न पदार्थरूप नहीं माना जाय तो उस अभाव के निमित्त से होनेवाला लोक व्यवहार कैसे सिद्ध होगा, अर्थात् “यह नहीं है इसका अभाव है” इत्यादि व्यवहार कैसे बनेगा ? हम आप जैन से पूछते हैं कि घट से व्याप्त भूतल को घट का अभाव कहते हैं अथवा घट से रहित भूतल को घटका अभाव कहते हैं ? प्रथम पक्ष—घट से व्याप्त भूतल को घट का अभाव कहेंगे तो प्रत्यक्ष से ही विरोध दिखाई दे रहा है । दूसरा पक्ष—घट रहित भूतल को घट का अभाव कहते हैं तो नाम मात्र का भेद हुआ, जैन अभाव को घट रहित नाम देते हैं और हम घटाभाव विशिष्टत्व नाम रखते हैं ?

जैन—यह कथन गलत है, घट से अवष्टब्ध भूतल को घटका अभाव माने तो प्रत्यक्ष विरोध आता है ऐसा जो कहा है, उसमें हमारा यह प्रश्न है कि भूतल घटाकार है क्या ? जिससे “घट नहीं होता है” इस तरह कहने में प्रत्यक्ष विरोध आवे ।

भावार्थ—घट से व्याप्त भूतल को घटाभाव कहते हैं ऐसा कहे तो क्या बाधा है ? घट और भूतलका तादात्म्य तो है नहीं, भूतल तो घटाकार है नहीं और इसीलिये तो यह भूतल घट नहीं है ऐसा कहा जाता है । अभिप्राय यह है कि घट से

भिद्येत-घटरहितत्वम्, घटाभावविशिष्टत्वमिति, तदप्यसाम्प्रतम्, यत् किं घटाकार भूतल येन 'घटो न भवति' इत्युच्यमाने प्रत्यक्षविरोधः स्यात्, यद्भूतल तद्घटाकाररहितत्वाद्घटो न भवत्येव । ननु यद्यपि भूतलान्तरान्तर घटाभाव, तर्हि घटसम्बद्धेऽपि भूतले घटो नास्ति' इति प्रत्यय स्यात्, न चैवम्, ततो यथा भूतलादर्थान्तर घटस्तथा तदभावोपीति, तदप्यसारम्; घटासम्बद्धिभूतलगतसाधारणधर्मोपलक्षित हि भूतल घटाभावो व्यपदिष्यते । घटावष्टब्ध तु घटभूतलगतसंयोगलक्षणसाधारणधर्मविशिष्टत्वेन तथोत्पन्नमिति न 'अघट भूतलम्' इति व्यपदेश लभते । तत्रोत्तरेतराभावो विचारक्षमः ।

व्याप्त भूतल घटाभाव है इस वाक्य का अर्थ जिस पृथिवी के भाग पर घडा रखा है वह स्थान, सो उस स्थान का घट के साथ तादात्म्य सबध तो है नही, जिससे घट रखे हुए स्थान को घटाभाव नाम से पुकारा न जाय । भूतल तो घटाकार है नही, इसलिये वह घट नही और घट नही है तो उसको घटाभाव नाम दिया तो कोई बाधा नही आती है ।

मीमांसक—भूतल से पृथक् कोई घटका अभाव नही है ऐसा मानते हैं तो जहा जिस भूमि भागमे घट रखा है वहां भी, "घट नही है" इस प्रकार ज्ञान होना चाहिये ? किन्तु ऐसा होता नही, इसलिये जैसे घटको भूतल से न्यारा माना गया है, वैसे घट का अभाव भी पृथक्—न्यारा स्वीकार करना होगा ?

जैन—यह कथन असार है, घट मे नही पाये जाने वाले भूतल गत असाधारण धर्म से युक्त भूतल को घटाभाव [घटका अभाव इस नाम से] कहते है । जो भूतल घट युक्त वह घट और भूतल मे होनेवाले संयोग लक्षण साधारण धर्म से युक्त है । अत उसको अघट भूतल "घट रहित भूतल" ऐसा नही कहते । इस प्रकार मीमांसक का इतरेतराभाव सिद्ध नही होता है । तथा उसका लक्षण, उसका उपयोग उसको ग्रहण करने वाला अभाव प्रमाण सारे ही असिद्ध है] ।

मीमांसक का माना गया प्रागभाव भी ठीक नही है प्रागभाव भी पदार्थ से पृथक् नही है, प्रमाण से ऐसा प्रतीत ही नही होता है कि पदार्थ पृथक् हो और उसका प्रागभाव पृथक् हो ।

मीमांसक—अनुमान से प्रागभाव को पृथक् सिद्ध करके बताते है—अपने उत्पत्ति के पहले घट नही था इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह असत् विषय वाला

नापि प्रागभावः; तस्याप्यर्थादर्थान्तरस्य प्रमाणतोऽप्रतिपत्तेः । ननु स्वोत्पत्तोः प्राग्नासीद् घटः' इति प्रत्ययोऽसद्विषयः, सत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्, यस्तु सद्विषयः स न सत्प्रत्ययविलक्षणो यथा 'सद्द्रव्यम्' इत्यादिप्रत्ययः, सत्प्रत्ययविलक्षणश्चायं तस्मादसद्विषयः' इत्यनुमानात्ततोऽर्थान्तरस्य प्रागभावस्य प्रतीतिरित्यपि मिथ्या, 'प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसादिः' इति प्रत्ययेनानेकान्तात् । तस्याप्यसद्विषयत्वेऽभावानवस्था । अथ 'भावे भूभागादौ नास्ति घटादिः' इति प्रत्ययो मुख्याभाव-विषयः, 'प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसादिः' इति प्रत्ययस्तूपचरिताभावविषयः, ततो नानवस्थेति, तद-

है [अभाव-विषयवाला है] क्योंकि सत् रूप ज्ञान से विलक्षण है, जो सत् को विषय करता है वह सत् के ज्ञान से विलक्षण नहीं होता, जैसे "सद् द्रव्य" द्रव्य सत् रूप है, इत्यादि प्रत्यय सत् प्रत्यय से विलक्षण नहीं होते हैं, यह जो प्रत्यय है वह सत् प्रत्यय से विलक्षण है, अतः असत् विषयवाला है, इस पंचावयव पूर्ण अनुमान के द्वारा पदार्थ से पृथक्भूत प्रागभाव की सिद्धि होती है ?

जैन—यह अनुमान मिथ्या है, आपका "सत्प्रत्यय विलक्षणत्वात्" सत् के ज्ञानसे विलक्षण है, ऐसा जो हेतु है वह अनैकान्तिक दोष युक्त है, देखिये प्रागभाव आदि में प्रध्वंसाभाव नहीं है ऐसा ज्ञान होता है, वह तो असत् विषयवाला नहीं है किन्तु सत् प्रत्यय से तो विलक्षण है ? यदि इस प्रत्यय को भी असत् विषयवाला ही माने तो अभावो की अनवस्था आती चली जायगी । भावार्थ—प्रागभाव आदि में प्रध्वंसाभाव आदि नहीं है ऐसा नास्ति का ज्ञान है वह सत् से तो विलक्षण है, किन्तु असत् विषयवाला तो नहीं है, अतः जो सत् से विलक्षण होता है वह ज्ञान असत् विषयवाला ही होता है ऐसा अविनाभाव बनता नहीं, इसलिये "सत्विलक्षण-त्वात्" हेतु अनैकान्तिक हो जाता है ।

मीमांसक—आपने जो हेतु को अनैकान्तिक कहकर अनवस्था का दोष दिया है वह ठीक नहीं है, बात ऐसी है कि सद्भाव रूप भूमि भाग आदि में जो "घट नहीं" ऐसा ज्ञान होता है वह तो मुख्य रूप से ही अभाव को विषय करनेवाला है, किन्तु प्रागभाव आदि में "प्रध्वंसाभाव आदि नहीं है" ऐसा जो ज्ञान होता है वह उपचरित अभाव को विषय करनेवाला है, इस प्रकार अभाव में अंतर होने से अनवस्था दोष नहीं आता है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है इस तरह से प्रागभावादि में होनेवाले अभाव को

प्ययुक्तम्, परमार्थत प्रागभावादीना साङ्कर्यप्रसङ्गात् । न खलूपचरितेनाभावेनान्योन्यमभावाना व्यतिरेक. सिद्ध्येत्, सर्वत्र मुख्याभावकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात् ।

यदप्युक्तम्—‘न भावस्वभावः प्रागभावादि. सर्वदा भावविशेषणत्वात्’ इति, तदप्युक्तिमात्रम्, हेतोः पक्षाव्यापकत्वात्, ‘न प्रागभाव प्रध्वसादी’ इत्यादेरभावविशेषणस्याप्यभावस्य प्रसिद्धे । गुणादिनानेकान्ताच्च, अस्य सर्वदा भावविशेषणत्वेऽपि भावस्वभावात् । ‘रूप पश्यामि’ इत्यादिव्यवहारे गुणस्य स्वतन्त्रस्यापि प्रतीतेः सर्वदा भावविशेषणत्वाभावे अभावस्तत्त्वम्’ इत्यभावस्यापि स्वतन्त्रस्य प्रतीते शश्वद्भावविशेषणत्व न स्यात् । सामर्थ्यात्तद्विशेष्यस्य द्रव्यादेः सम्प्रत्ययात्सदास्य भावविशेष-

उपचरित मानेगे तो उन प्रागभावादि मे साकर्य हो जायगा, प्रागभाव में प्रध्वसाभाव का अभाव उपचार से है तो इसका मतलब परमार्थसे वे दोनों एक हैं ? जो अभाव उपचरित है उसके द्वारा अभावो की परस्परकी पृथक्ता सिद्ध नहीं हो सकती है । यदि उपचरित अभाव से परस्पर की पृथक्ता सिद्ध होती है तो मुख्य अभाव को मानना बेकार ही है ।

मीमांसक ने कहा था कि—भाव स्वभाववाले जो पदार्थ होते हैं वे प्रागभाव आदि रूप नहीं होते, क्योंकि वे सर्वदा—हमेशा भाव विशेषण रूप हैं “सो यह कथन अयुक्त है” “सर्वदा भाव विशेषणत्वात् हेतुपक्ष मे अव्यापक है, कैसे सो ही बताते हैं—प्रागभाव प्रध्वसाभावादि मे नहीं है” इत्यादि अनुमान वाक्यों मे अभाव भी अभाव का विशेषण होता है, ऐसा सिद्ध होता है । तथा सर्वदा भाव विशेषणत्वात् हेतु गुण आदि के साथ भी अनैकान्तिक हो जाता है । क्योंकि गुण सर्वदा भाव विशेषण रूप होने पर भी भाव स्वभाव वाले है । रूपको देखता हूँ, इत्यादि जो वचन व्यवहार होता है, उसमे गुणो की स्वतन्त्रता भी आती है अर्थात् उस समय वे गुण विशेष्य भी बन जाते हैं । सर्वदा भाव विशेषण का अभाव होनेपर भी “अभाव तत्व है” इत्यादि वाक्य मे अभाव की स्वतन्त्रतासे भी प्रतीति होती है (इस वाक्य मे अभाव विशेषण बना है न कि भाव) अत भाव ही विशेषण होता है ऐसा हमेशा का नियम नहीं बनता ।

मीमांसक—अपने अभाव को विशेषण रूप सिद्ध करने के लिये “अभाव स्तत्त्वम्” अभाव तत्व है, ऐसा उदाहरण दिया है, किन्तु उस वाक्य से अभाव में विशेष्यत्व है ऐसा सिद्ध नहीं होता, वहा तो सामर्थ्य से द्रव्य विशेष्यका ही बोध होता है अर्थात् “अभाव तत्व है” किसका है ? घटका है ऐसा अर्थ निकलता है ।

एतत्वे गुणादेरपि सर्वदा भावविशेषणत्वमस्तु, तद्विशेष्यस्य द्रव्यस्य सामर्थ्यतो गम्यमानत्वात् ।

किञ्च, प्रागभाव सादिः सान्तः परिकल्प्यते, सादिरनन्तः, अनादिरनन्तः अनादि सान्तो वा ? प्रथमपक्षे प्रागभावात्पूर्वं घटस्योपलब्धिप्रसङ्गः, तद्विरोधिनः प्रागभावस्याभावात् । द्वितीयेपि तदुत्पत्तेः पूर्वमुपलब्धिप्रसङ्गस्तत एव । उत्पन्ने तु प्रागभावे सर्वदानुपलब्धिः स्यात्तस्यानन्तत्वात् । तृतीये तु सदानुपलब्धिः । चतुर्थे पुनः घटोत्पत्तौ प्रागभावस्याभावे घटोपलब्धिवदशेषकार्योपलब्धिः स्यात्, सकलकार्याणामुत्पत्तस्यमानानां प्रागभावस्यैकत्वात् ।

जैन—तो फिर आपको गुण आदि में भी सिर्फ सर्वदा भाव विशेषणपना मानना होगा । विशेष्य द्रव्यकी तो सामर्थ्य से ही प्रतीति होगी ? भावार्थ—अभाव है किसका ? घटका है, ऐसा आप अभाव के विषय में अभाव को विशेष्य न मानकर द्रव्य को ही विशेष्य रूप स्वीकार करते हो वैसे ही गुण है किसके ? द्रव्य के, इस प्रकार द्रव्य में ही विशेष्यत्व है ऐसा मानना चाहिये । अब हम जैन मीमांसक से प्रागभाव के विषय में प्रश्न करते हैं—आप लोग प्रागभाव को सादि सात मानते हैं, कि सादि अनन्त, अथवा अनादि अनन्त, या अनादि सात, सादि सात मानते हैं तो प्रागभाव के पहले घटकी उपलब्धि होने लगेगी, क्योंकि घटका विरोधी प्रागभाव का अभाव है ? दूसरा पक्ष—सादि अनन्त प्रागभाव है ऐसा मानते हैं तो प्रागभाव के उत्पत्ति के पहले घटकी उपलब्धि होगी, क्योंकि घटका विरोधी जो प्रागभाव है वह सादि है [अभी उत्पन्न नहीं हुआ है] तथा जब प्रागभाव उत्पन्न हो जायगा तब घट कभी उपलब्ध नहीं होगा, क्योंकि अब प्रागभाव हटनेवाला है नहीं, वह तो अनन्त है । तीसरा पक्ष—प्रागभाव अनादि अनन्त है सो तब तो कभी भी घट उपलब्ध ही नहीं होगा ? क्योंकि घट का विरोधी प्रागभाव हमेशा ही मौजूद है । चौथा पक्ष—प्रागभाव अनादि सात है ऐसा माने तो प्रागभाव के अभाव में घटकी उत्पत्ति होनेपर जैसे घट की उत्पत्ति होगी वैसे साथ ही अशेष कार्योकी उपलब्धि भी हो जावेगी ? क्योंकि उत्पन्न हो रहे सभी कार्योका प्रागभाव एक है ।

मीमांसक—प्रागभाव एक नहीं है किन्तु जितने कार्य है उतने ही प्रागभाव है उनमें से एक का प्रागभाव नष्ट होने पर भी उत्पन्न हो रहे शेष पदार्थों के प्रागभाव अभी नष्ट नहीं हुए हैं, अतः घटकी उत्पत्ति के साथ ही सभी कार्यो की उपलब्धि नहीं हो पाती है ?

ननु यावन्ति कार्याणि तावन्तस्तत्प्रागभाव, तत्रैकस्य प्रागभावस्य विनाशेपि शेषोत्पत्त्यमान कार्यप्रागभावानामविनाशान्न घटोत्पत्ती सकलकार्योपलब्धिरिति; तर्ह्यनन्ता प्रागभावास्ते किं स्वतन्त्राः, भावतन्त्रा वा ? स्वतन्त्राश्चेत्कथं न भावस्वभावा. कालादिवत् ? भावतन्त्राश्चेत्किमुत्पन्न-भावतन्त्रा, उत्पत्त्यमानभावतन्त्रा वा ? न तावदादिविकल्पः, समुत्पन्नभावकाले तत्प्रागभावविनाशात् । द्वितीयविकल्पोपि न श्रेयान्, प्रागभावकाले स्वयमसतामुत्पत्त्यमानभावाना तदाश्रयत्वा-योगात्, अन्यथा प्रध्वसाभावस्यापि प्रध्वस्तपदार्थाश्रयत्वप्रसङ्गः । न चानुत्पन्न प्रध्वस्तो वार्थं कस्यचिदाश्रयो नाम अतिप्रसङ्गात् ।

जैन—ऐसा है तो प्रागभाव अनत हो गये ? अब वे प्रागभाव स्वतन्त्र हैं कि भाव तत्र (परतत्र-पदार्थ के आश्रित) है सो बताइये ? यदि अनत प्रागभाव स्वतत्र है तो वे भाव स्वभाव वाले कंसे नहीं कहलायेगे ? अर्थात् वे भी काल आदि पदार्थों के समान सद्भाव रूप हो जायेगे । दूसरा पक्ष—वे अनत प्रागभाव भावतत्र है (पदार्थों में आश्रित है) ऐसा माने तो प्रश्न है कि उत्पन्न हुए पदार्थों के आश्रित है, अथवा उत्पत्त्यमान [आगे उत्पन्न होने वाले] पदार्थों के आश्रित है ? उत्पन्न हुए पदार्थों के आश्रित है, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि पदार्थ के उत्पत्ति काल में प्राग-भाव का नाश हो जाता है । दूसरा पक्ष—प्रागभाव उत्पत्त्यमान पदार्थों के आश्रित है ऐसा कहना भी श्रेयस्कर नहीं है, प्रागभाव के समय में जो स्वयं असत् रूप है ऐसे उत्पत्त्यमान पदार्थ प्रागभाव के लिये आश्रयभूत नहीं हो सकते हैं यदि आश्रयभूत हो सकते हैं तो प्रध्वसाभाव का भी आश्रय नष्ट हुआ पदार्थ हो सकता है ? किन्तु जो उत्पन्न नहीं हुआ है तथा नष्ट हो चुका है ऐसा पदार्थ किसी का भी आश्रयभूत नहीं हो सकता है । भावार्थ यह है कि नष्ट एव अनुत्पन्न पदार्थ आश्रय देने वाले होंगे तो नष्ट हुआ अथवा नहीं बना हुआ स्तम्भ, महल का आश्रय देने वाला हो जायगा ऐसा अतिप्रसङ्ग आता है ।

शंका—प्रागभाव को एक ही सख्या में माना जाय, एक ही प्रागभाव घट आदि विशेषण के भेद से भिन्न रूप उपचरित किया जाता है कि घटका प्रागभाव है पटका प्रागभाव है इत्यादि । तथा उत्पन्न हुए पदार्थ के विशेषणपनेसे उसका नाश होने पर भी उत्पत्त्यमान पदार्थ के विशेषणपने से वह अविनाशी है, अतः उस प्राग-भाव को नित्य भी कहते हैं । भावार्थ—अभिप्राय यह है कि पदार्थ के निमित्त से प्रागभाव में भले ही भेद करो किन्तु वह एक ही है । उत्पन्न हुए पदार्थ का प्रागभाव नष्ट हो

अथैक एव प्रागभावो विशेषणभेदाद्भिन्न उपचर्यते 'घटस्य प्रागभावः पटादेर्वी' इति, तथोत्पन्नार्थविशेषणतया तस्य विनाशेष्युत्पत्त्यमानार्थविशेषणत्वेनाविनाशान्नित्यत्वमपीति । नन्वेवं प्रागभावादित्युष्टयकल्पनानर्थक्यम् सर्वत्रैकस्यैवाभावस्य विशेषणभेदात्तथा भेदव्यवहारोपपत्तेः । कार्यस्य हि पूर्वेण कालेन विशिष्टोर्थः प्रागभावः, परेण विशिष्टः प्रध्वसाभावः, नानार्थविशिष्ट स एवेतरेतराभावः, कालत्रयेप्यत्यन्तानानास्वभावभावविशेषणोऽत्यन्ताभावः स्यात्, प्रत्ययभेदस्यापि तथोपपत्तेः, सत्तैकत्वेपि द्रव्यादिविशेषणभेदात्प्रत्ययभेदवत् । यथैव हि सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्चैकत्व सत्तायाः तथैवासत्प्रत्ययाविशेषलिङ्गाभावाच्चाभावस्यापि । अथ 'प्राग्नासीत्' इत्यादि-प्रत्ययविशेषाच्चतुर्विधोऽभावः; तर्हि प्राग्नासीत्पश्चाद्भविष्यति सम्प्रत्यस्तीति कालभेदेन, पाटलिपुत्रेस्ति

जाय, किन्तु उसको नष्ट हुआ नहीं मानते, क्योंकि आगे उत्पन्न होने वाले पदार्थों का प्रागभाव नष्ट नहीं हुआ है ।

जैन—ऐसा कहने पर तो प्रागभाव आदि चार भेद मानना भी व्यर्थ ठहरेगा, सब जगह एक अभाव ही विशेषण के भेद से भेद वाला मान लिया जायगा, जैसे प्रागभाव में एक होते हुए भी भेद व्यवहार [पटका प्रागभाव घटका प्रागभाव ऐसा भेद] कर सकते हैं वैसे ही एक ही अभाव को मानकर विशेषण के भेद से भेद का उपचार कर सकते हैं अब इसी का विवेचन करते हैं—कार्य के पूर्व काल द्वारा विशिष्ट जो पदार्थ है उसको प्रागभाव कहना, कार्य के उत्तर काल द्वारा जो विशिष्ट है उसको प्रध्वसाभाव, अनेक पदार्थ सबधी विशिष्ट अभाव इतरेतराभाव और तीनों कालों में अत्यन्त भिन्न रहना है स्वभाव जिसका ऐसा भाव विशेषण रूप अत्यन्ताभाव है ऐसा मानना पड़ेगा तथा प्रागभावका ज्ञान, प्रध्वसाभावका ज्ञान ऐसे ज्ञानके भेद भी उपचार जैसे मानसे मानने होंगे । परमतमें सत्ता एक होते हुए भी द्रव्य की सत्ता इत्यादि विशेषण के भेद से सत्ता में भेद माने जाते हैं अथवा जिस प्रकार विशेषणोंके भेदसे ज्ञानमें भेद माना जाता है । जिस प्रकार "यह है यह है" इत्यादि सद रूप ज्ञान की अविशेषता होने से एव विशेष लिगके अभाव होनेसे सत्ताको एक रूप माना जाता है, उसी प्रकार "यह नहीं है यह नहीं है" इत्यादि असत् रूप ज्ञानकी अविशेषता होनेसे एव विशेष लिगका अभाव होनेसे अभाव को भी एक रूप मानना चाहिये ?

शंका—“पहले नहीं था” इत्यादि वाक्य भेद के कारण अभाव को चार प्रकार का माना जाता है ?

चित्रकूटस्तीति देशभेदेन, द्रव्य गुण कर्म चास्तीति द्रव्यादिभेदेन च प्रत्ययभेदसद्भावात्प्राक्सत्तादयः सत्ताभेदाः किन्नेष्यन्ते ? प्रत्ययविशेषात्तद्विशेषणान्येव भिद्यन्ते तस्य तन्निमित्तकत्वान्न तु सत्ता, ततः सत्केवेत्यभ्युपगमे अभावभेदोपि मा भूत्सर्वथा विशेषाभावात् ।

अथाभिधीयते—'अभावस्य सर्वथैकत्वे विवक्षितकार्योत्पत्ती प्रागभावस्याभावे सर्वथाभावस्याभावानुषङ्गात्सर्वं कार्यमनाद्यनन्त सर्वात्मकं च स्यात्; तदप्यभिधानमात्रम्, सत्कत्वेपि समानत्वात् । विवक्षितकार्यप्रध्वसे हि सत्ताया अभावे सर्वथाभावप्रसङ्गः तस्या एकत्वात्, तथा च सकल-

समाधान—तो फिर सत्ता मे यही बात कहनी होगी देखिये पहले था, पीछे होगा, अभी है, इस प्रकार काल भेद से भेद, पाटलीपुत्र मे है, चित्रकूट मे है, इत्यादि देश के भेद से भेद, द्रव्य है, गुण है, कर्म है, इत्यादि द्रव्य के भेद से भेद इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से सत्ता मे भेद हैं ऐसा भी मानना चाहिये ? द्रव्यादिकारणो का भेद तो मौजूद ही है ? तथा स्वयं सत्ता में भी "पहली सत्ता" पीछे की सत्ता इत्यादि भेद होना संभव है अतः सत्ता के भेद क्यों नहीं माने जाते हैं ।

मीमांसक—द्रव्यादि कारण विशेष से उस सत्ता के मात्र विशेषण ही भिन्न भिन्न हो जाते हैं, क्योंकि द्रव्यादि विशेष विशेषणोके निमित्त हैं । किन्तु सत्ता मे ऐसी बात नहीं है, अर्थात् सत्ता में विशेषणो के निमित्त का अभाव है अतः सत्ता एक ही है ?

जैन—तो फिर यह बात अभाव के विषय मे भी लागू होगी ? अभाव मे भी प्रागभाव आदि भेद नहीं मानने चाहिये ? कोई विशेषता नहीं है ।

मीमांसक—अभाव को सर्वथा एक रूप मानने मे आपत्ति है, देखो ! विवक्षित कोई एक कार्य उत्पन्न होने मे प्रागभावका अभाव होनेपर सब जगह अभाव का अभाव हो जायगा ? और फिर सभी कार्य अनादि और अनन्त हो जायेगे, तथा वे कार्य सर्वात्मक सर्व रूप हो जायेगे । अर्थात् प्रागभाव नहीं है तो कार्य अनादि हुआ प्रध्वसाभाव नहीं माने तो कार्य अनन्त होगा, तथा इतरेतराभाव नहीं है तो कार्य सब रूप एकमेक होवेगा ।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, सत्ता मे एकत्व मानने पर भी यही आपत्ति आयेगी उसी को बताते हैं—विवक्षित एक कार्य नष्ट होने पर उसके सत्ता का अभाव हो गया तो सर्वत्र सभी का अभाव हो जायगा क्योंकि सत्ता एक है, तथा एक जगह की

शून्यता । अथ तत्प्रध्वसेपि नास्या प्रध्वसो नित्यत्वात्, अन्यथार्थान्तरेषु सत्प्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्, तदन्यत्रापि समानम्, समुत्पन्नै ककार्यविशेषणतया ह्यभावस्याभावेपि न सर्वथाऽभावः भावाग्तरेप्यभाव-प्रतीत्यभावप्रसङ्गात् । यथा चाभावस्य नित्यैकरूपत्वे कार्यस्योत्पत्तिर्न स्यात् तस्य तत्प्रतिबन्धकत्वात्, तथा सत्ताया नित्यत्वे कार्यप्रध्वसो न स्यात् तस्यास्तत्प्रतिबन्धकत्वात् । प्रसिद्ध हि प्रध्वंसात्प्राक्प्रध्व-सप्रतिबन्धकत्वं सत्तायाः, अन्यथा सर्वदा प्रध्वंसप्रसङ्गात् कार्यस्य स्थितिरेव न स्यात् । यदि पुनर्बल-वत्प्रध्वसकारणोपनिपाते कार्यस्य सत्ता न ध्वस प्रतिबध्नाति, ततः पूर्वं तु बलवद्विनाशकारणोपनि-

सत्ता नष्ट होते ही सब जगह की सत्ता समाप्त हो जायगी । इस तरह सत्ताके समाप्त होने से सकल शून्यता आयेगी ।

मीमांसक—कार्य के नष्ट होने पर भी सत्ता का नाश नहीं होता है क्योंकि सत्ता नित्य है । यदि सत्ता को नित्य नहीं मानेगे तो एक जगह की सत्ता नष्ट होने पर अन्य पदार्थों की सत्ता नष्ट होती तो उनमें सत् का ज्ञान नहीं होता ?

जैन—यह बात अभाव में भी घटित होगी । इसी को बताते हैं—विशेषण रूप एक कार्य उत्पन्न होने पर तत् सबधी अभाव नष्ट तो हो जाता है, किन्तु सर्वथा अभाव का अभाव नहीं होता, यदि सर्वथा सब अभाव का अभाव हो जाता तो कभी भी अभाव की प्रतीति नहीं होती तथा जिस प्रकार आप कहते हैं कि अभाव को एक एव नित्य मानेगे तो, कार्य की उत्पत्ति ही नहीं होगी क्योंकि सर्वदा रहने वाला अभाव तो कार्य का प्रतिबंधक ही होगा ? सो यही बात सत्ता के विषय में है—सत्ता को भी एक और नित्य मानते हैं तो कार्य का नाश कभी नहीं होगा, क्योंकि सत्ता नाश की प्रतिबंधक है । प्रसिद्ध बात है कि नाश के पहले सत्ता नाश का प्रतिबंध करती है, यदि सत्ता नाश को नहीं रोकती तो हमेशा प्रध्वस होने से, कार्य स्थिर रहता ही नहीं ? यदि कोई कहे कि जब नाश का बलवान कारण उपस्थित होता है तब सत्ता कार्य के नाश को नहीं रोक सकती, लेकिन उसके पहले नाश का बलवान कारण नहीं आने से तो नाश को रोकती ही है ? अतः पहले भी कार्य के नाश होवे का प्रसंग बताया था वह नहीं आ पाता है इत्यादि, सो यही बात अभाव में भी घटित होनी चाहिये ? क्या वहा यह न्याय काक भक्षित है ? देखो ! अभाव को भी सत्ता के समान एक सिद्ध करे—जब कार्य का बलवान उत्पादक उपस्थित हो जाता है तब अभाव मौजूद है तो भी वह कार्य की उत्पत्ति को नहीं रोकता किन्तु जब कार्य की

पाताभावात् प्रतिबन्नात्येवातो न प्रागपि प्रध्वसप्रसङ्गः इत्येतदन्यत्रापि न कार्कशक्षितम्, अभावोपि हि बलवद्दुत्पादकारणोपनिपाते कार्यस्योत्पादसन्नपि न प्रतिरुणद्धि, कार्योत्पादात्पूर्वं तुत्पादककारणाभावात् प्रतिरुणद्धयेव, अतो न प्रागपि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गो येन कार्यस्यानादित्वं स्यात् ।

तन्न प्रागभावोपि तुच्छस्वभावो घटते किन्तु भावान्तरस्वभावः । यदभावे हि नियमतं कार्योत्पत्तिः स प्रागभावः, प्रागनन्तरपरिणामविशिष्टं मृद्द्रव्यम् । तुच्छस्वभावत्वे चास्य सव्येतरगोविषाणादीनां सहोत्पत्तिनियमवतामुपादानसङ्करप्रसङ्गः प्रागभावाविशेषात् । यत्र यदा यस्य प्राग-

उत्पत्ति के पहले यदि बलवान् कारण वही रहता तब तो कार्य की उत्पत्ति को रोकता ही है । इसीलिये तो पहले भी कार्य की उत्पत्ति हो जाने का प्रसङ्ग बताया था वह नहीं आता है एव कार्यके अनादि हो जानेका दोष भी नहीं आता । भावार्थ—जैसे सत्ता एक और होकर भी सर्वदा कार्य होना या प्रध्वस नहीं होता इत्यादि दोष नहीं आते है ऐसा मीमांसक का कहना है सो इसी तरह अभाव को एक और नित्य मानने में कोई दोष नहीं आने चाहिये ? जिस प्रकार सत्ता बनी, रहती है और कही नाश या अभाव होता रहता है उसी प्रकार अभाव बना रहता है और कही कार्य की उत्पत्ति या सत्ता बनी रहती है ऐसा समान न्याय सत्ता और अभाव के विषय होना चाहिये, सत्ता में वे पूर्वोक्त युक्तियां लागू हो और अभाव में वे युक्तियां घटित नहीं हो, सो उन युक्तियों को कौबो ने खा लिया है क्या ? जिससे सत्ता की बात अभाव में लागू न होवे इस प्रकार मीमांसकादि परवादी का अभिमत प्रागभाव तुच्छस्वभाववाला सिद्ध नहीं होता है किन्तु भावांतर स्वभाववाला ही सिद्ध होता है ।

अब यहा पर स्याद्वादीके अभिमत भावांतर स्वभाव वाले प्रागभावका लक्षण किया जाता है—“यदभावे हि नियमतं कार्योत्पत्तिः स प्रागभावः, प्रागनन्तरपरिणामविशिष्टं मृद्द्रव्यम्” जिसके अभाव होनेपर नियमसे कार्यकी उत्पत्ति होती है वह प्रागभाव कहलाता है, इसके लिये जगत प्रसिद्ध उदाहरण प्रस्तुत करते है कि घट रूप कार्योत्पत्ति पहले अनन्तर समयवर्ती परिणाम से [स्यात् आदि से] विशिष्ट जो मृद्द्रव्य [मिट्टी] है वह घटका प्रागभाव है । प्रागभावको तुच्छ स्वभाव वाला मानते हैं तो जिनका एक साथ उत्पन्न होने का नियम है ऐसे गायके दाये बाये सींग आदि पदार्थों के उपादावका सकर ही जावेगा, क्योंकि उन सबका प्रागभाव एक ही है (तुच्छभाव एक रूप होता है) कोई विशेषता नहीं है ।

भावाभावस्तत्र तदा तस्योत्पत्तिरित्यप्युक्तम्, तस्यैवानियमात् । स्वोपादानेतरनियमात्तन्निय-
मेऽन्योन्याश्रय ।

प्रध्वसाभावोपि भावस्वभाव एव, यद्भावे हि नियता कार्यस्य विपत्तिः स प्रध्वसः, मृद्द्रव्यान-
न्तरोत्तरपरिणाम । तस्य हि तुच्छस्वभावत्वे मुद्गरादिव्यापारवैयर्थ्यं स्यात् । स हि तद्व्यापारेण
घटादेर्भिन्नः, अभिन्नो वा विधीयते ? प्रथमपक्षे घटादेस्तदवस्थत्वप्रसङ्गात् 'विनष्टः' इति प्रत्ययो न
स्यात् । विनाशसम्बन्धाद् 'विनष्ट' इति प्रत्ययोत्पत्तौ विनाशतद्वतोः कश्चित्सम्बन्धो वक्तव्यः—स हि
तादात्म्यलक्षणः, तदुत्पत्तिस्वरूपो वा स्यात्, तद्विशेषणविशेष्यभावलक्षणो वा ? तत्र न तावत्तादा-

मीमांसक—जहां पर, जब जिसके प्रागभावका अभाव होता है वहा पर
तब उसकी उत्पत्ति होती है, इस तरह हम मानते है अतः उपादानो में सकरता
नही होती ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, उसी प्रागभावका तो नियम नही बन पाता
है [अर्थात् तुच्छस्वभाववाला प्रागभाव जब जहा पर इत्यादि रूपसे कार्योत्पत्तिका
नियमन नहीं कर पाता है] ।

मीमांसक—स्वका उपादान और स्वका अनुपादान का जो नियम होता है
उस नियमसे प्रागभाव का नियम सिद्ध हो जायगा ?

जैन—इसतरह माने तो अन्योन्याश्रय दोष आता है—अर्थात् सव्य विषाण
[दाया सीग] के उपादान का नियम सिद्ध होनेपर सव्यके प्रागभावका नियम सिद्ध
होगा, और प्रागभाव नियम सिद्ध होवे तो सव्यविषाण के उपादानका सिद्ध होगा ।

अब प्रध्वसाभाव का लक्षण बताते हैं—प्रध्वसाभाव नामका अभाव भी
भावातर स्वभाववाला है, “यद् भावे हि नियता कार्यस्य विपत्तिः स प्रध्वसः, मृद्द्रव्या-
न्तरोत्तर परिणाम.” जिसके होनेपर नियमसे कार्यका नाश हो जाया करता है वह
प्रध्वस [प्रध्वसाभाव] कहलाता है, जैसे मृद् द्रव्य (रूप घटकार्यका) का अनतर
उत्तर परिणाम (कपाल) यदि यह प्रध्वस तुच्छ स्वभाववाला होता तो उसको
करनेके लिये मुद्गर [लाठी] आदि के व्यापारकी जरूरत नही पडती । घट आदि
कार्यका मुद्गरादिके व्यापार द्वारा जो प्रध्वस किया जाता है वह घटादिसे भिन्न है
कि अभिन्न है ? प्रथम पक्ष—घटका प्रध्वस घटसे भिन्न है ऐसा कहेंगे तो घटादि वस्तु

त्म्यलक्षणोसी घटते, तयोर्भेदाभ्युपगमात् । नापि तदुत्पत्तिलक्षणं, घटादेस्तदकारणत्वात्, तस्य मुद्गरादिनिमित्ताकत्वात् । तदुभयनिमित्तात्वाददोषः; इत्यप्यसुन्दरम्, मुद्गरादिवद्विनाशोत्तर-कालमपि घटादेरुपलम्भप्रसङ्गात् । तस्य स्वविनाश प्रत्युपादानकारणत्वान्न तत्काले उपलम्भः; इत्यप्यसमीचीनम्; अभावस्य भावान्तरस्वभावताप्रसङ्गात् त प्रत्येवास्योपादानकारणत्वप्रसिद्धे । तयोर्विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्ध, इत्यप्यसत्; परस्परमसम्बद्धयोस्तदसम्भवात् । सम्बन्धान्तरेण सम्बद्धयोरेव हि विशेषणविशेष्यभावो दृष्टो दण्डपुरुषादिवत् । न च विनाशतद्वतोः सम्बन्धान्तरेण

पूर्ववत् अवस्थित रहनेसे “घट नष्ट हो गया” इसतरह की प्रतीति नहीं हो सकेगी । यदि विनाशके सबधसे “विनष्ट हुआ” ऐसा प्रतिभास होता है, इसप्रकार माना जाय तो विनाश और विनाशवानमे कौनसा सबध है इस बातको बतलाना होगा ? बताइये कि वह सबध तादात्म्य स्वरूप है या तदुत्पत्ति स्वरूप है, अथवा उनका विशेषण विशेष्य-भाव वाला है ? विनाश और विनाशवानमे तादात्म्य सबध तो होता नहीं, क्योंकि आपने उन विनाश, विनाशवानमे भेद स्वीकार किया है । तदुत्पत्ति स्वरूप सबध भी नहीं बनता, क्योंकि घटादि पदार्थ उसके [नाशके] अकारण है, उस नाशके कारण तो मुद्गरादिक हैं ।

शंका— मुद्गरादिक तथा घटादिक दोनो ही नाशके कारण मान लेवे फिर कोई दोष नहीं आयेगा ?

समाधान—यह बात भी असत है, यदि मुद्गरादिके समान घटादिक भी नाशके कारण माने जायेगे तो नाश होनेके बाद मुद्गरादिके समान घटादिक भी उपलब्ध होने थे ? अभिप्राय यह है कि घटके नाशका कारण मुद्गर है और घट भी है ऐसा माने तो घटका नाश होनेके बाद मुद्गर [लाठी] तो दिखाई देती है किन्तु घट दिखाई नहीं देता, सो उसे भी दिखाई देना था ? क्योंकि उसे मुद्गर के समान ही नाश का कारण मान लिया ।

शंका—घट अपने नाशके प्रति उपादान कारण हुआ करता है अतः नाशके समय उपलब्ध नहीं होता ?

समाधान—यह कथन असमीचीन है, यदि परवादी इसतरह मानते हैं तो उन्हें अभावको भावांतर स्वभाववाला स्वीकार करना होगा । भावांतर स्वभाव

सम्बद्धत्वमस्तीत्युक्तम् । तन्न तद्व्यापारेण भिन्नो विनाशो विधीयते । अभिन्नविनाशविधाने तु 'घटादिरेव तेन विधीयते' इत्यायातम्, तच्चोक्तम्; तस्य प्रागेवोत्पन्नत्वात् ।

ननु प्रध्वंसस्योत्तरपरिणामरूपत्वे कपालोत्तरक्षणेषु घटप्रध्वंसस्याभावात्तस्य पुनरुज्जीवनप्रसङ्गः, तदप्यनुपपन्नम्; कारणस्य कार्योपमर्दनात्मकत्वाभावात् । कार्यमेव हि कारणोपमर्दनात्मकत्वधर्माधारतया प्रसिद्धम् ।

वाले अभाव के प्रति ही उपादान कारण की आवश्यकता हुआ करती है [तुच्छ स्वभाववाले अभावके प्रति नहीं] ।

विनाश और विनाशवानका [प्रध्वंस और घटका] विशेषण विशेष्यभाव संबध है ऐसा तीसरा विकल्प भी असत् है, देखिये ! विनाश और विनाशवान परस्परमें संबद्ध तो है नहीं, परस्परमें असंबद्ध रहनेवाले पदार्थोंका विशेषण विशेष्यभाव संबध होना असभव है । देखा जाता है कि सबधांतरसे परस्परमें संबद्ध हुए पदार्थोंमें ही विशेषण विशेष्यभाव पाया जाता है, जैसा कि दण्डा और पुरुषमें पाया जाता है । ऐसा विनाश और विनाशवानमें सबधांतर से संबद्धत्व होना अशक्य है, इस बातको समझा दिया है अतः मुद्गरादि के व्यापार द्वारा किया जानेवाला घटका नाश घटसे भिन्न रहता है ऐसा प्रथम पक्ष खडित होता है । द्वितीय पक्ष—मुद्गरादि व्यापार द्वारा किया जानेवाला घट विनाश घटसे अभिन्न है ऐसा माने तो उस व्यापार ने घट ही किया इसतरह ध्वनित होता है, सो यह सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि घट तो मुद्गरादि व्यापार के पहले ही उत्पन्न हो चुका है ।

शंका—यदि मृद् द्रव्यादि के उत्तर परिणाम स्वरूप प्रध्वंस हुआ करता है ऐसा मानेगे तो कपाल होनेके बाद आगामी क्षणोंमें घट प्रध्वंसका अभाव हो चुकता है अतः घटका पुनरुज्जीवन (पुनः उत्पन्न होनेका) का प्रसंग प्राप्त होगा ?

समाधान—यह शका व्यर्थ की है, देखिये ! जो कारण रूप पदार्थ होता है वह कार्यका उपमर्दक नहीं हुआ करता, अपितु कार्य ही कारण का उपमर्दक होता है, यह नियम सर्वजन प्रसिद्ध है ।

भावार्थ—घटका प्रध्वंस घटका उत्तर क्षणवर्ती परिणामन जो कपाल है उस रूप माना जाय तो कपालके उत्तर क्षणों में घट पुनः उत्पन्न हो जायगा ? ऐसी पर-

यच्च कपालेभ्योऽभावस्यार्थान्तरत्व विभिन्नकारणप्रभवतयोच्यते, तथाहि—‘उपादानघटविनाशो बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेरवयवविभागत सयोगविनाशादेवोत्पद्यते, उपादेय-कपालोत्पादस्तु स्वारम्भकावयवकर्मसयोगविशेषादेवाविर्भवति’ इति, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, अस्य विनाशोत्पादकारणप्रक्रियोद्धोपणस्याप्रातीतिकत्वात् । केवलमन्यप्रतारितेन भवता पर प्रतार्यते, तस्मादन्धपरम्परापरित्यागेन बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गरादिव्यापाराद् घटाकारविकलकपालाकारमृद्द्रव्यो-त्पत्तिरभ्युपगन्तव्या अल प्रतीत्यपलापेन ।

वादीने शका की तब आचार्य ने कार्यकारण का एक बहुत सुन्दर सिद्धांत बताकर उस शकाका निरसन कर दिया है कि कार्य ही कारणका उपमर्दन करता है, कारण कार्य का उपमर्दन नहीं कर सकता । बीज रूप कारण का उपमर्दन करके अकुर रूप कार्य उत्पन्न होता है, किन्तु अकुरका उपमर्दन करके बीज उत्पन्न नहीं होता है, मिट्टी का उपमर्दन कर घट बन जाता है किन्तु घटका उपमर्दन कर मिट्टी नहीं बनती । उपमर्दन का अर्थ है पूर्व स्वरूपको बिगाडकर तत्काल अन्य स्वरूपको धारण करना । यह दूसरी बात है कि अकुर बड़ा पौधा हुआ फिर उसमे बाल आकर बीज उत्पन्न हुए किन्तु जैसे तत्काल कारणका उपमर्दन कार्योत्पत्ति होती है वैसे कार्यका उपमर्दन करके तत्काल कारण उत्पन्न नहीं होता है । अत घट से प्रध्वसरूप कपाल तो हो जाता है, किन्तु कपाल से घट नहीं बनता है ।

परवादी के यहा कहा जाता है कि कपालो से भावातर स्वभाव वाला अभाव हुआ करता है, क्योंकि वह विभिन्न कारण से उत्पन्न होता है । अब यहा इसी प्रध्व-सादि की प्रक्रिया को बताया जाता है—बलवान पुरुष द्वारा प्रेरित हुए मुद्गरादि के अभिघात से घटके अवयवो मे क्रिया (हलन चलन) उत्पन्न होती है, उस क्रिया से अवयवोका विभाजन होता है, उससे सयोगका विनाश होता है और उससे उपादान भूत घटका नाश हो जाता है, इसतरह विनाश अर्थात् प्रध्वस होनेका क्रम है, पुनश्च, स्व आरम्भक अवयवोमे क्रिया, क्रियासे सयोग विशेष और उससे उपादेयभूत कपाल का उत्पाद होता है, यह उत्पादका क्रम है । किन्तु यह प्रध्वसादिका क्रम विना सोचे ही प्रतिपादित किया जाता है, इस प्रक्रियाको सुनकर ऐसा लगता है कि अन्य द्वारा प्रतारित (ठगाये गये) किये आप परको प्रतारित करते रहते हैं ? अर्थात् प्रतीति का अपलाप करके प्रध्वस और उत्पादके विषयमे विपरीत मान्यताये कर रखी है जिससे स्वय वचित हुए है और दूसरो को भी वचित कर रहे है । अत इस अधपरपरा का

‘क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति’ इत्याद्यप्यभावस्य भावस्वभावत्वे सत्येव घटते, दध्यादिविविक्तस्य क्षीरादेरेव प्रागभावादितयाध्यक्षादिप्रमाणतोष्यवसायात् । ततोऽभावस्योत्पत्तिसामग्र्याः विषयस्य चोक्तप्रकारेणासम्भवान्न पृथक्प्रमाणता । इति स्थितमेतत्प्रत्यक्षैतरभेदादेव द्वेषैव च प्रमाणमिति ।

(कुशास्त्र की मान्यता का) त्याग करके ऐसा स्वीकार करना चाहिये कि बलवान् पुरुष द्वारा प्रेरित हुए मुद्गुर आदि के व्यापार से मिट्टी द्रव्यका घटाकारसे विफल होकर कपालाकार उत्पाद हो जाना ही प्रध्वस नामका अभाव है, अब प्रतीति का अपलाप करनेसे बस ही ।

अभावके विषयमें वर्णन करते हुए परवादीने कहा था कि दूधमे दही आदि नहीं होते उसका कारण अभाव ही है इत्यादि, सो यह कथन तब घटित होगा कि जब अभावको भावांतरस्वभाव वाला माना जाय, दही आदि की अवस्थासे रहित जो दूध आदि पदार्थ है वही प्रागभावादिरूप कहा जाता है प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा इसी तरह निश्चय होता है, अतः अभाव प्रमाणके उत्पत्ति की सामग्री एव विषय दोनो ही पूर्वोक्त प्रकारसे सभावित नहीं होनेसे उस अभाव प्रमाणकी पृथक् प्रमाणता सिद्ध नहीं होती वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अन्तर्हित होता है ऐसा निर्णय हो गया । इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से ही प्रमाण दो प्रकार ही सिद्ध होता है । अर्थात् प्रमाण के दो ही भेद हैं अधिक नहीं है एव वे दो भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप ही है अन्य प्रकारसे दो भेद नहीं हो सकते ऐसा निश्चितरूप से सिद्ध होता है ।

अभावप्रमाणका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें अन्तर्भाव करनेका वर्णन समाप्त



अभावप्रमाण का प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अन्तर्भाव करने का सारांश

मीमांसक अभावप्रमाण सहित छ प्रमाण मानता है, अभाव प्रमाण का लक्षण—पहले वस्तु के सद्भाव को जानकर तथा प्रतियोगी का स्मरण कर इन्द्रियों की अपेक्षा बिना नहीं है, इस प्रकार मन द्वारा जो ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण कहलाता है, पहले घटको देखा पुन खाली पृथ्वीको देखकर उस घट की याद आयी,

तब किसी इन्द्रिय के बिना सिर्फ मनसे घट नहीं, ऐसा ज्ञान होता है वह अभावप्रमाण है, सो इसमें प्रश्न होता है कि वह जो भूतल दिखाई पड़ता है वह घट रहित दिखता है या सहित ? घट रहित दिखता है ऐसा कहो तो वह प्रत्यक्षप्रमाण से ही दिखता है अर्थात् आँख से देखकर ही घट नहीं, ऐसा ज्ञान हुआ फिर अभावप्रमाण काहे को माने ? तथा घट सहित भूतल देखा है तो उस घट के अभाव को अभाव प्रमाण कर नहीं सकता । अतः जैसे वस्तुका अस्तित्व प्रत्यक्ष आदि प्रमाणसे जाना जाता है वैसे नास्तित्व भी प्रत्यक्षादि से जाना जाता है ऐसा मानना चाहिये । कभी यह अभाव प्रत्यभिज्ञानका विषय भी होता है तथा अनुमान का भी । अभाव प्रमाणके तीन भेद भी इन्हीं प्रत्यक्षादि प्रमाणों में शामिल होते हैं, देखिये प्रमाणपंचकाभाव, तदन्यज्ञान और ज्ञान निर्मुक्त आत्मा इन तीन अभाव प्रमाणों में से प्रमाणपंचकाभाव तो नि स्वभाव होनेसे प्रमाण का विषय ही नहीं है तथा यह नियम नहीं है कि जहाँ पाचों प्रमाणप्रवृत्त न हो वहाँ प्रमेय ही न हो । दूसरा अभाव प्रमाण तदन्य रूप है तद् मायने घट उससे अन्य जो भूतल उसका ज्ञान सो ऐसा ज्ञान तो प्रत्यक्ष से ही हो जाता है अतः दूसरा अभाव प्रमाण का भेद भी कैसे बने । तथा तीसरा अभावप्रमाण, ज्ञान रहित आत्मा है, यह तो बिलकुल गलत है ज्ञान रहित आत्मा कभी होता ही नहीं यदि आत्मा ज्ञान रहित हो जाय तो अभाव को भी कैसे जानेगा ? परवादीके इतरेतराभाव आदि के लक्षण भी ठीक नहीं है और लक्षण सिद्ध हुए बिना लक्ष्य सिद्ध नहीं होता है । आपके यहाँ इतरेतराभावको वस्तु से सर्वथा भिन्न माना है अतः उसके द्वारा वस्तुओं की आपसमें व्यावृत्ति कैसे हो ? इतरेतराभावसे घट अन्य पटादि पदार्थों से व्यावृत्त होता है सो खुद इतरेतराभाव दूसरे अभावों से कैसे व्यावृत्त होगा ?

अन्य इतरेतराभाव से कहे तो अनवस्था आती है । तथा इतरेतराभाव से घटमें पटका निषेध किया जाता है या पटत्वका या दोनों का निषेध किया जाता है इस बात को आपको बतलाना होगा, घटमें पटका निषेध करता है ऐसा कहो तो पट रहित घटमें या पट सहित घटमें ? पट रहित घटमें इतरेतराभाव पटका निषेध करता है ऐसा कहो तो यह बतलाओ कि घटका पट रहितपना और इतरेतराभाव इनमें क्या भेद है ? कुछ भी नहीं । तथा घट में पट नहीं है, ऐसा जाना जाता है वह घट में पटके स्वरूप को जानने के बाद जाना जाता है या बिना जाने ? दोनों तरह की मान्यता में बाधा आती है ।

इतरेतर भाव घट को अन्य पटादि से पृथक् करता है सो जगत के सभी पदार्थों से पृथक् करता है या कुछ थोड़े पदार्थों से पृथक् करता है सभी से व्यावृत्त करना तो शक्य ही नहीं क्योंकि वस्तु तो अनत है उनको हटाने में पार ही नहीं आयेगा। कुछ थोड़े पदार्थों के हटाने से तो काम नहीं चलेगा, क्योंकि जो हटाने से शेष बचे पदार्थ हैं उनका तो घट में निषेध नहीं हुआ ? अतः उनरूप घट हो जायेगा। इस तरह भीमासक का इतरेतराभाव का स्वरूप गलत है। जैन के यहां तो इतरेतराभाव हर वस्तु में स्वतः माना है अर्थात् वस्तु में ऐसी एक विशेषता या धर्म है कि जिसके कारण वह वस्तु अपने को अन्य अनत सजातीय वस्तु से हटाती है अतः जैनके यहां उपर्युक्त दोष नहीं आते हैं।

परवादी के यहां प्रागभावका स्वरूप भी गलत बताया है, वह भी घटादि पदार्थों से पृथक् रहकर नास्तित्ता का बोध कराता है “घट उत्पत्ति के पहले नहीं था” यह प्रागभावका काम है मतलब यह सत से विलक्षण असत का ही ज्ञान कराता है, ऐसा आप एकांत मानते हैं किन्तु जो सत से विलक्षण हो, वह असत का ही विषय हो सो यह बात नहीं है। देखो प्रागभाव में प्रध्वंस नहीं ऐसा कहते हैं, यहां सत विलक्षण ज्ञान तो है, किन्तु वह असत विषय वाला नहीं है तथा वह प्रागभाव को अनादि अनंत माने तो कार्य की उत्पत्ति ही नहीं होगी, अनादि सान्त माने तो एक घटके उत्पन्न होने में प्रागभाव का अभाव होते ही सारे जगत के कार्य उत्पन्न हो पड़ेगे ? क्योंकि प्रागभाव एक है। प्रागभावको सादि अनत माने तो घट उत्पत्ति के पहले भी घट दिखाई देगा क्योंकि उसके विरोधी प्रागभावका अभाव है, सादि सात कहे तो यही दोष है। जितने कार्य उतने प्रागभाव माने तो अनत प्रागभाव स्वतंत्र रहते हैं कि पदार्थ में रहते हैं यह बताना होगा ? स्वतंत्र रहते हैं तो प्रागभाव भाव स्वभाव वाले हुए ? जैसे कालादि द्रव्य है वैसे प्रागभाव भी सद्भाव रूप हुए (किन्तु यह आपको इष्ट नहीं है) प्रागभाव भाव पदार्थ के आधीन है ऐसा कहा जाय तो प्रश्न होगा कि उत्पन्न हुए पदार्थ के आधीन है या आगे उत्पन्न होने वालों के ? उत्पन्न हुए पदार्थ में प्रागभाव रहता है ऐसा कहो तो बनता नहीं, क्योंकि प्रागभाव का अभाव करके ही पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। आगे उत्पन्न होने वाले के आधीन माने तो कैसे बने क्योंकि जो खुद है नहीं वह अन्य को क्या आश्रय देगा ? अतः जिसके अभाव होने पर नियम से कार्य होता है वह प्रागभाव है जैसे कि घट उत्पत्ति के पहले स्थास कोष आदि अवस्था

घटका प्रागभाव है ऐसा स्याद्वादीका निर्दोष लक्षण प्रागभावलक्ष्य को सिद्ध कर देता है । प्रध्वसाभाव वह है—जिसके होने पर नियम से कार्य का नाश होता है, जैसे घटका पहला रूप स्थासादि है उसके बाद घट और उसका उत्तर परिणाम कपाल है । आप सर्वथा तुच्छाभाव रूप प्रध्वसाभाव मानते हैं ऐसे प्रध्वस को करने के लिए [अर्थात् घट के कपाल होने में] लाठी आदि की जरूरत नहीं रहती है । यह भी बताओ कि प्रध्वस हुआ सो घट से भिन्न या अभिन्न ? भिन्न हुआ है ऐसा कहो तो उससे घटका कुछ बिगडने वाला नहीं प्रध्वस तो अलग पडा है, अभिन्न है तो उस प्रध्वस ने घट को ही किया ? नाश और नाशवान (घट) में तादात्म्य या तदुत्पत्ति संबंध हो नहीं सकता, जिससे कि उस भिन्न प्रध्वस को घटमें जोड़ा जाय । घट का नाश और कपाल के उत्पत्ति की प्रक्रिया आपके यहा बड़ी विचित्र है—बलवान पुरुष के द्वारा प्रेरित लाठी से अवयवों में क्रिया होती है, क्रिया से अवयवों का विभाजन होता है और उससे घटका नाश होता है ऐसा आपका कहना है सो असंभव है, तथा स्व आरभक अवयवों में क्रिया होना उस क्रिया से संयोग विशेष होकर कपाल का उत्पाद होता है, सो यह भी गलत है, घटका प्रध्वस और कपालका उत्पाद तो यही है कि लाठीके चोट आदिसे मिट्टी द्रव्यका घटाकारसे विकल होकर कपालाकार बन जाना इसी तरह का प्रध्वसादि प्रतीति में आया करता है । अतः अभाव प्रमाण के उत्पत्ति की सामग्री आदि की सिद्धि नहीं होने से वह पृथक् प्रमाणरूप से सिद्ध न होकर प्रत्यक्षादि प्रमाण रूप ही सिद्ध होता है ।

* सारांश समाप्त *



विशदत्वविचारः

तत्राद्यप्रकार विशदमित्यादिना व्याचष्टे—

विशदं प्रत्यक्षम् ॥ ३ ॥

विशदं स्पष्ट यद्विज्ञान तत्प्रत्यक्षम् । तथा च प्रयोगः—विशदज्ञानात्मक प्रत्यक्ष प्रत्यक्षत्वात्, यत् न विशदज्ञानात्मक तच्च प्रत्यक्षम् यथाऽनुमानादि, प्रत्यक्षं च विवादाध्यासितम्, तस्माद्विशद-ज्ञानात्मकमिति ।

प्रमाण की संख्या का निर्णय होने के बाद अब प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण श्री माणिक्यनदी आचार्य के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है—

सूत्र—विशद प्रत्यक्षम् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—विशद-स्पष्ट-ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है, जो ज्ञान स्पष्ट होता है वही प्रत्यक्ष है, अनुमावप्रयोग—विशदज्ञानस्वरूप प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष है, जो विशदज्ञानात्मक नहीं होता वह प्रत्यक्ष भी नहीं होता, जैसे अनुमान आदि विशद नहीं है अतः वे प्रत्यक्ष भी नहीं है, प्रत्यक्ष यहां साध्य है अतः उसमें विशदज्ञानात्मकता सिद्ध की गई है ।

प्रत्यक्षप्रमाण का यह लक्षण अन्य बौद्ध आदि के द्वारा माने हुए प्रत्यक्ष का निरसन कर देता है, जैसे बौद्ध कहता है कि अकस्मात्-अचावक धूम के देखने से जो ऐसा ज्ञान होता है कि यहां अग्नि है वह प्रत्यक्ष है, तथा जितने भी पदार्थ सद्भाव रूप या कृतक रूप होते हैं वे सब क्षणिक हैं, अथवा जितने भी धूमयुक्त स्थान होते हैं वे सब अग्नि सहित होते हैं इत्यादि रूप जो व्याप्तिज्ञान है वह यद्यपि अस्पष्ट है फिर भी बौद्धों ने उसे प्रत्यक्ष माना है, सो इन सब ज्ञानों में प्रत्यक्षपना नहीं है यह बात प्रत्यक्ष के इस विशदत्वलक्षण से साबित हो जाती है, यदि बौद्ध अस्पष्ट अविशद ज्ञानको भी प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार करते हैं तो फिर अनुमान ज्ञानमें भी प्रत्यक्षता का प्रसङ्ग आने से प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाणों की मान्यता नहीं बनती है,

अग्नेनाऽकस्माद् धूमदर्शनात् 'वह्निरत्र' इति ज्ञानम्, 'यावान् कश्चिद् भाव कृतको वा स सर्व-
क्षणिकः, यावान् कश्चिद् धूमवान् प्रदेशः सोग्निमान्' इत्यादि व्याप्तिज्ञान चास्पृष्टमपि प्रत्यक्षमाचक्षण-
प्रत्यक्ष्यातः; अनुमानस्यापि प्रत्यक्षताप्रसङ्गात् प्रत्यक्षमेवैक प्रमाण स्यात् ।

किञ्च, अकस्माद् धूमदर्शनाद्वह्निरश्रेत्यादिज्ञाने सामान्य वा प्रतिभासेत, विशेषो वा ? यदि
सामान्यम्, न तत्तर्हि प्रत्यक्षम्, तस्य तद्विषयत्वानभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा 'प्रमाणद्वैविध्यं प्रमेय-
द्वैविध्यात्' इत्यस्य व्याघात, सविकल्पकत्वप्रसङ्गश्च । विशेषविषयत्वे तत् प्रवर्तमानस्यात्र सन्देहो न

इस प्रकार की मान्यता में तो एक प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध होता है, फिर प्रत्यक्ष और
अनुमान ऐसे दो प्रमाण बौद्ध ने मान्य किये हैं वे सगत नहीं बैठते ।

किञ्च—जब अकस्मात् धूम के दर्शन से ऐसा ज्ञान होता है कि यहाँ पर
अग्नि है तब इस ज्ञान में सामान्य अग्नि प्रतिभासित होती है ? कि विशेष अग्नि
प्रतिभासित होती है ? यदि सामान्य भूलकता है तब तो उसको प्रत्यक्ष कह नहीं
सकेगे, क्योंकि आपके यहाँ प्रत्यक्ष का विषय सामान्य नहीं माना है । यदि ऐसा मानो
तो प्रमेयद्वैविध्य से प्रमाणद्वैविध्य मानने का सिद्धान्त गलत ठहरता है । अर्थात् पहिले
बौद्ध ने कहा था कि प्रमाण दो प्रकार का इसलिये मानना पड़ता है कि सामान्य
और विशेष के भेद से प्रमेय दो प्रकार का है । सो यहाँ यदि प्रत्यक्ष का विषय
सामान्य भी मान लिया जाय तो विशेष तो प्रत्यक्षज्ञान का विषय पहिले से ही मान्य
कर लिया गया है और अब उसका विषय सामान्य भी मान लिया तो इस तरह दोनों
प्रमेयों को जब प्रत्यक्ष ने ही जान लिया तो प्रमाण की संख्या दो न होकर एक ही
रह जायगी । तथा प्रत्यक्ष यदि सामान्य को विषय करेगा तो वह निर्विकल्पक न
रहकर सविकल्पक बन जायगा । जो आपको इष्ट नहीं है । दूसरा पक्ष—अकस्मात्
धूमदर्शन से होनेवाला अग्निका ज्ञान विशेष को ग्रहण करता है ऐसा माना जाय तो
जब धूम से अग्निका ज्ञान हुआ और तब वह यदि विशेषको (अग्नि सबधी) जानता
है तो उसको जाननेवाले पुरुष को ऐसा सशय ही नहीं होना चाहिये कि यहाँ जो
अग्नि है वह घास की है अथवा पत्तों की है ? जैसे कि निकट में जलती हुई अग्नि
में सदेह नहीं हुआ करता । कहीं पर भी निकट की अग्निको देखनेवाले पुरुषको सदेह
होता हुआ नहीं देखा है, यदि निकटवर्ती अग्नि आदि पदार्थमें सदेह की सभावना है
तो शब्द या लिंगसे अग्नि आदि को जानते हुए पुरुषको भी सदेहकी सभावना होगी ?

स्यात् 'ताणो वात्राग्निः पाणो वा' इति सन्निहितवत् । न खलु सन्निहितं पावक पश्यतस्तत्र सन्देहोस्ति । सन्देहे वा शब्दाल्लिङ्गाद्वा प्रति(ती)यतोप्यसौ स्यात् । तथा चेदमसङ्गतम्—“शब्दाल्लिङ्गाद्वा विशेषप्रतिपत्तौ न तत्र सन्देहः” [] इति । तन्नोद प्रत्यक्षम् । किं तर्हि ? लिङ्गदर्शनप्रभवत्वा-दनुमानम् । 'दृष्टान्तमन्तरेणाप्यनुमान भवति' इत्येतच्चाग्रे वक्ष्यते ।

व्याप्तिज्ञानं चास्पष्टत्वेनाप्रत्यक्षं व्यवहारिणा सुप्रसिद्धम् । व्यवहारानुकूल्येन च प्रमाणचिन्ता प्रतन्यते “प्रामाण्य व्यवहारेण” [प्रमाणवा० ३।५.] इत्यादिवचनात् । न च तेषा सर्वे क्षणिका

इसतरह शब्द और लिङ्ग से होनेवाले ज्ञान में यदि सशय रहना स्वीकार करोगे तो आपका ही यह वाक्य “शब्द से अथवा लिङ्ग से वस्तु का विशेष धर्म जान लेनेपर उसमे सशय नहीं रहता है” असत्य हो जावेगा ? इसलिये अकस्मात् धूमदर्शन से होनेवाला अग्निका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहलाता, किन्तु हेतु से उत्पन्न होने के कारण यह ज्ञान अनुमान कहलाता है । दृष्टान्त का अभाव होने से यह अनुमानरूप नहीं हो सकता ऐसा कहो तो हम आगे यह कहनेवाले है कि अनुमान विना दृष्टान्त के भी होता । जो कोई धूमवान् होता है वह अग्निवान् होता है ऐसा जो व्याप्तिज्ञान है, वह अस्पष्ट होने से अप्रत्यक्ष यह बात तो सर्वव्यवहारी लोगो में भी प्रसिद्ध है । व्यवहार की अनुकूलता से ही तो प्रमाण के विषय में विमर्श होता है । इसी बात को आपके ग्रन्थमे लिखा है “प्रामाण्य व्यवहारेण” प्रमाण में प्रामाण्यता व्यवहार से आती है । इत्यादि, तथा जो व्यवहारी पुरुष है वे समस्त क्षणिकपदार्थो को तथा कृतक पदार्थोको धूम आदि को एव अग्नि आदिको स्पष्ट ज्ञानका विषय नहीं मानते है । यदि ये सब पदार्थ प्रत्यक्ष के विषय माने जावे तो फिर अनुमानप्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रहती ? क्योकि जब सब व्याप्य और व्यापक एक साथ ही स्पष्टरूप से निश्चित हो जाते है तब उस पुरुषको अनुमान द्वारा जानने के लिए कुछ बाकी रहा ही नहीं है कि जिसे वह अनुमान से अब सिद्ध करे । यदि पदार्थ के प्रत्यक्ष होनेपर भी अनुमानकी आवश्यकता पडती है तो योगियोको भी अनुमानकी आवश्यकता होनी चाहिये ? वे भी प्रत्यक्ष से पदार्थो को जानने के बाद अनुमान का सहारा लेने लगेंगे ? निश्चित हुए पदार्थ मे समारोप-सशय-विपर्यय और अनध्यवसाय होने का भी विरोध है । निश्चित हो और फिर उसमे समारोप हो ऐसा कहना तो विरुद्ध ही है ।

शंका — प्रत्यक्ष प्रतिभासित अर्थ मे तत्काल तो समारोप नहीं होता, किन्तु

भावा कृतका वाऽग्न्यादयो धूमादयो वा स्पष्टज्ञानविषया इत्यभ्युपगमोऽस्ति, अनुमानानर्थव्यप्रसङ्गात् । सर्वं हि व्याप्य व्यापक च स्पष्टतया युगपत्त्रिंशन्वतो न किञ्चिदनुमानसाध्यम् अन्यथा योगिनोप्यनुमानप्रसङ्गः । निश्चिते समारोपस्याप्यसम्भवो विरोधात् । कालान्तरभाविममारोपनिषेधकत्वेनानुमानस्य प्रामाण्ये क्वचिदुपलब्धदेवदत्तस्य पुनः कालान्तरेऽनुपलम्भसमारोपे सति यदन्तर तत्स्मरणादिक तदपि प्रमाण भवेत् । तन्न व्याप्तिज्ञानमप्यस्पष्टत्वात् प्रत्यक्ष युक्तम् ।

ननु चास्पष्टत्व ज्ञानधर्मः, अर्थधर्मो वा ? यदि ज्ञानधर्मः, कथमर्थस्यास्पष्टत्वम् ? अन्यस्यास्पष्टत्वादन्यस्यास्पष्टत्वेऽतिप्रसङ्गात् । अर्थधर्मत्वे कथमतो व्याप्तिज्ञानस्याप्रत्यक्षताप्रसिद्धिः ?

कालान्तर में हो सकता है, अतः आगे आनेवाले समारोप का निषेधक होने से अनुमान में प्रमाणता मानी गई है ।

समाधान—तो ऐसे कथन के अनुसार आपको स्मरणादि ज्ञानों में भी प्रमाणता मानना पड़ेगी, जैसे—किसी पुरुष को कहीं पर देवदत्त की उपलब्धि हुई फिर कालान्तर में उसके ज्ञान में समारोप नहीं आया, और उसी देवदत्त का उसे स्मरणादिरूप ज्ञान हुआ है तो उस ज्ञान को भी आपको प्रमाण मानना चाहिये ? (बौद्धों ने स्मरणादि ज्ञान को प्रमाण नहीं माना है इसलिये उन्हें स्मरणादि को प्रमाण मानने की बात कही गई है) अतः अस्पष्ट होनेसे व्याप्ति ज्ञानको प्रत्यक्ष मानना ठीक नहीं है ।

बौद्ध—आप अस्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कह रहे हो सो यह अस्पष्टता ज्ञान का धर्म है अथवा पदार्थ का धर्म है ? यदि ज्ञान का धर्म मानो तो उससे पदार्थ में अस्पष्टता कैसे कहलावेगी ? यदि अन्य की अस्पष्टता को लेकर अन्य किसी में अस्पष्टता मानी जावे तो अतिप्रसंग आवेगा ? [दूरवर्ती वृक्ष की अस्पष्टता को लेकर निकटवर्ती पदार्थ में भी अस्पष्टता मान लेनी पड़ेगी] यदि अस्पष्टता पदार्थ का धर्म है ऐसा दूसरा पक्ष अगीकार किया जाये तो उस पदार्थ की अस्पष्टता से व्याप्तिज्ञान में अस्पष्टता किस प्रकार आवेगी । यदि इस तरह अन्यके धर्मसे अन्यमें अस्पष्टता आ सकती है तो व्यधिकरण नामा दोष [साध्यका अधिकरण भिन्न और हेतुका अधिकरण भिन्न हो उस हेतु को व्यधिकरण दोष युक्त कहते हैं] से दूषित हेतु द्वारा साध्य सिद्धि माननी होगी ? इसतरह तो यह महल सफेद है क्योंकि कौवा काला है, इसप्रकार का व्यधिकरण हेतु भी महल में धवलता का गमक ही जावेगा, अतः पदार्थ की अस्पष्टता से ज्ञान में अस्पष्टता मानना युक्तियुक्त नहीं है ?

व्यधिकरणाद्धेतो साध्यसिद्धौ 'काकस्य काष्ण्याद्धवलः प्रासादः' इत्यादेरपि गमकत्वप्रसङ्गः; इत्य-
प्यसमीक्षिताभिधानम्, स्पष्टत्वेपि समानत्वात् । तदपि हि यदि ज्ञानधर्मस्तर्हि कथमर्थे स्पष्टता
अतिप्रसङ्गात् ? विषये विषयधर्मस्योपचाराददोषेऽत एव सोन्यत्रापि मा भूत् । सवेदनस्यैव ह्यस्पष्टता
धर्मः स्पष्टतावत् । तस्या विषयधर्मत्वे सर्वदा तथा प्रतिभासप्रसङ्गात्कुतः प्रतिभासपरावृत्तिः ? न
चास्पष्टसवेदन निर्विषयमेव, सवादकत्वात्स्पष्टसवेदनवत् । क्वचिद्विसवादात्सर्वत्रास्य विसवादे स्पष्ट-
सवेदनेपि तत्प्रसङ्गः । ततो नैतत्साधु —

जैन—यह कथन विना विचारे किया है, क्योंकि जैसा आपने अस्पष्टत्व के
विषय में प्रतिपादन किया है वैसा स्पष्टत्व के विषय में भी कहा जा सकता है, इसी
को बताया जाता है, हम भी आपसे यह प्रश्न कर सकते हैं, बताइये ! स्पष्टता पदार्थका
धर्म है या ज्ञानका ? यदि ज्ञानका धर्म है तो वह पदार्थमें कैसे आया ? इस तरह
माने तो अतिप्रसंग आयेगा ।

शंका—विषय में विषयी के धर्म का उपचार करके कह दिया जाता है कि
पदार्थ में स्पष्टता है, सो ऐसा कहने से कोई दोष नहीं है ।

समाधान—सो ऐसी ही बात अस्पष्टत्व धर्म में भी मान लेनी चाहिये अर्थात्
अस्पष्टत्व ज्ञान का धर्म है, किन्तु वह पदार्थ में उपचरित कर लिया जाता है अतः कोई
दोष नहीं है । अस्पष्टता ज्ञानका ही धर्म है जैसा स्पष्टता ज्ञान का धर्म है । यदि
अस्पष्टता पदार्थ का धर्म है ऐसा माना जाय तो पदार्थ सर्वदा अस्पष्ट ही प्रति-
भासित होगा, क्योंकि ऐसा प्रतिभासित होना पदार्थ का धर्म है । तथा ऐसा
होने पर उसमें स्पष्टता अस्पष्टता के प्रतिभास का जो परिवर्तन होता रहता है वह
भी कैसे होगा ?

मतलब यह है कि अस्पष्टत्व पदार्थका धर्म है ऐसा माना जाता है तो पदार्थ
कभी दूर से अस्पष्ट प्रतीत होता है और कभी निकट से स्पष्ट प्रतीत होता है सो ऐसा
जो उसमें प्रतिभास का परिवर्तन होता है वह कैसे हो सकेगा ? क्योंकि वह तो एक
अस्पष्ट धर्मयुक्त है । तथा ऐसा भी नहीं कह सकते कि अस्पष्टताको विषय करनेवाला
ज्ञान निर्विषय है, क्योंकि अस्पष्टता को विषय करनेवाले ज्ञान में सवादकपना है, जैसा
कि स्पष्टता को विषय करनेवाले ज्ञान में है, [तात्पर्य यह है कि अस्पष्टता को विषय
करनेवाला ज्ञान भी अपने द्वारा जाने गये विषय में प्रवृत्ति कराने रूप अर्थक्रियावाला

“बुद्धिरेवातदाकारा तत उत्पद्यते यदा ।
तदाऽस्पष्टप्रतीभासव्यवहारो जगन्मत ॥”

[प्रमाणवार्त्तिकाल० प्रथमपरि०]

द्विचन्द्रादिप्रतिभासेपि तद्व्यवहारानुपप्लव्वाच्च । स्पष्टप्रतिभासेन बाध्यमानत्वादस्य निर्विषयत्व-
मन्यत्रापि समानम् । यथैव हि दूरादस्पष्टप्रतिभासविषयत्वमर्थस्यारात्स्पष्टप्रतिभासेन बाध्यते तथा
सन्निहितार्थस्य स्पष्टप्रतिभासविषयत्व दूरादस्पष्टप्रतिभासेन, अविशेषात् ।

होता है] यदि कही २ अस्पष्टता को विषय करनेवाले ज्ञानमे विसंवादकता देखी जाती है, इसलिये इस ज्ञानको सर्वत्र विसवादी माना जाय तो स्पष्टता को विषय करने वाले ज्ञान में भी कही २ विसवादीकता देखी जाती है अतः उसे भी विसवादी मानने का प्रसंग प्राप्त होगा, इस प्रकार स्पष्टता को और अस्पष्टता को विषय करनेवाले दोनों ही ज्ञानो मे सवादकता और विसवादकता समानरूप से ही है । इसलिये बौद्धके प्रमाणवार्त्तिक ग्रन्थ मे जो कहा गया है वह असत् ठहरता है—

“जब पदार्थ से अतदाकार ज्ञान उत्पन्न होता है, तब अस्पष्ट प्रतिभासका व्यवहार जगत् मे माना जाता है ॥ १ ॥

इस कारिका के प्रकरणमे बौद्ध यह कहना चाहते है कि स्पष्टत्व और अस्पष्टत्व पदार्थ के धर्म है किन्तु जब ज्ञान पदार्थके आकारवाला उत्पन्न न होकर अतदाकार वाला उत्पन्न होता है तब उस ज्ञानको अस्पष्ट ज्ञान है ऐसा कहने लग जाते है इत्यादि, सो यह कथन उन्हीके मतसे बाधित होगा, देखिये ! जो ज्ञान अतदाकारसे उत्पन्न होता है वह अस्पष्टपने से व्यवहृत होता है ऐसा कहेंगे तो द्विचन्द्र आदि के ज्ञान अस्पष्ट प्रतिभास वाले मानने पड़ेगे ? किन्तु बौद्धने इन द्विचन्द्रादिके ज्ञान को स्पष्टत्व रूपसे व्यवहृत किया है ।

बौद्ध—द्विचन्द्र आदि का ज्ञान तो आगे जाकर स्पष्ट प्रतिभास से बाधित होता है, अत इस ज्ञानको हम निर्विषय मानते है ?

जैन—यही बात स्पष्ट ज्ञान में भी घटित हो जावेगी, अर्थात् जिस प्रकार दूर से पदार्थका जो अस्पष्ट प्रतिभास होता है वह निकट से होनेवाले स्पष्ट प्रतिभास से बाधित होता है, वैसे ही निकटवर्ती पदार्थका प्रतिभास दूर से होनेवाले अस्पष्ट-प्रतिभास से बाधित होता ही है । इस तरह दोनो मे समानता है ।

ननु विषयिधर्मस्य विषयेषूपचारात्तत्र स्पष्टास्पष्टत्वव्यवहारे विषयिणोपि ज्ञानस्य तद्धर्मना-
सिद्धिः कुत. ? स्वज्ञानस्पष्टत्वास्पष्टत्वाभ्याम्, स्वतो वा ? प्रथमपक्षेऽनवस्था । द्वितीयपक्षे त्वविशेषे-
णाखिलज्ञानाना तद्धर्मताप्रसङ्ग ; इत्यप्यसमीचीनम् ; तत्रान्यथैव तद्धर्मताप्रसिद्धेः । स्पष्टज्ञानावरण-
वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषाद्धि क्वचिद्विज्ञाने स्पष्टता प्रसिद्धा, अस्पष्टज्ञानावरणादिक्षयोपशमविशे-
षात्वस्पष्टतेति । प्रसिद्धश्च प्रतिबन्धकापायो ज्ञाने स्पष्टताहेतू रजोनीहाराद्यावृत्ता(ता)र्थप्रकाश-
स्येव तद्वियोग ।

अक्षात्स्पष्टता इत्यन्ये, तेषा दविष्टपादपादिज्ञानस्य दिवोलूकादिवेदनस्य च तत्प्रसङ्गः ।

✓ बौद्ध—विषयी [ज्ञान के] धर्म का विषय (पदार्थ) में उपचार करने से
वहां स्पष्टत्व और अस्पष्टत्व का व्यवहार होता है—अर्थात् ज्ञान स्पष्ट है तो पदार्थ स्पष्ट
है ऐसा कहा जाता है और ज्ञान अस्पष्ट है तो पदार्थ अस्पष्ट है ऐसा कह दिया जाता
है, यदि ऐसा माना जाय, तो विषयी जो स्वयं ज्ञान है उसमें वे स्पष्टत्व और अस्पष्टत्व
धर्म कहां से आये ? अपने को ग्रहण करनेवाले ज्ञानके स्पष्टत्व और अस्पष्टत्वसे
आते हैं ? या स्वतः ही आते हैं ? प्रथमपक्ष में अनवस्था दोष आता है । द्वितीय पक्ष
में समानरूप से सभी ज्ञानों में उन दोनों ही स्पष्टत्व और अस्पष्टत्व धर्मोंके आने का
प्रसंग प्राप्त होता है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है । हम जैन ज्ञान में स्पष्टता और अस्पष्टता
दूसरी तरह से ही मानते हैं । इसी बातको खुलासारूप में समझाते हैं—स्पष्टज्ञानावरण
कर्म के और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशमविशेष से किसी ज्ञान में स्पष्टता और
अस्पष्टज्ञानावरणादिकर्मों के क्षयोपशम से किसी ज्ञान में अस्पष्टता आती है । ऐसा
सुप्रसिद्ध अक्षय सिद्धान्त है, कि प्रतिबन्धक जो आवरण कर्म है उसका अपाय होने
से ज्ञान में स्पष्टता आती है । जिस प्रकार रज-धूलि आदि के नाश होनेपर पदार्थ में
स्पष्टता—निर्मलता आती है ।

अन्य जो मीमांसक हैं वे ज्ञान में स्पष्टता इन्द्रियों से आती है ऐसा मानते हैं,
किन्तु ऐसा मानने पर दूरवर्ती वृक्ष आदि के ज्ञान और दिन में उल्लू आदि के
ज्ञान सब ही स्पष्ट बन बैठेंगे । क्योंकि ज्ञान में स्पष्टता का कारण इन्द्रियां तो
वहा है ही ।

शंका—उन वृक्षादिक. के ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली जो इन्द्रियां हैं वे अति-

तदुत्पादकाक्षस्यातिदूरदेशदिनकरकरकरोपहतत्वाददोषोयमिति, अत्राप्यक्षस्योपघात, शक्तेर्वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्त; तत्स्वरूपस्याविकलस्यानुभवात् । द्वितीयपक्षे तु योग्यतासिद्धिः, भावेन्द्रियाख्यक्षयोपशमलक्षणयोग्यताव्यतिरेकेणाक्षशक्तेरव्यवस्थितेः । तल्लक्षणाच्चाक्षात्स्पष्टत्वाभ्युपगमेऽस्मिन्मतप्रसिद्धिः ।

आलोकोप्येतेन तद्धेतुः प्रत्याख्यातः । ततः स्थितमेतद्विशदज्ञानस्वभाव प्रत्यक्षमिति ।

ननु किमिदं ज्ञानस्य वैशद्यं नामेत्याह अव्यवधानेनेत्यादि ।

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ॥ ४ ॥

दूरदेश और सूर्य की किरणों द्वारा उपहत हो जाती हैं, अतः इन्द्रियो से अस्पष्ट ज्ञान होता है ।

समाधान—अच्छा तो इनमें भी एक बात यह बताओ कि सूर्यकिरणादिक के द्वारा चक्षु आदि इन्द्रियो का घात होता है, अथवा उनकी शक्ति का घात होता है ? इन्द्रियो का घात होता है ऐसा कहा जाये तो वह विरुद्ध पडता है, क्योंकि इन्द्रियो का स्वरूप तो उस ज्ञान के समय में वैसे का वैसे ही दिखाई देता है । दूसरे पक्ष—शक्ति का घात होता है ऐसा कहा जाये तो योग्यता की सिद्धि होती है, क्योंकि भावेन्द्रिय जिसका नाम है ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयोपशम होने को योग्यता कहते हैं इस योग्यता को छोडकर अन्य कोई इन्द्रियशक्ति सिद्ध नहीं होती है । ऐसी इस क्षयोपशमरूप इन्द्रिय से यदि ज्ञान में स्पष्टता का होना मानते हो तब तो जैनमत की मान्यता की ही प्रसिद्धि होती है ।

इन्द्रियों के समान प्रकाश भी ज्ञान में स्पष्टता का कारण नहीं होता है ऐसा समझना चाहिये, इसलिये यह निश्चय हो जाता है कि विशदज्ञान स्वभाव वाला प्रत्यक्षप्रमाण होता है ।

अब यहां पर कोई पूछता है कि ज्ञान में विशदता क्या है ? तब आचार्य इसका उत्तर इस सूत्र द्वारा देते हैं—

सूत्र—प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—अन्य ज्ञानों का जिसमें व्यवधान न पडे ऐसा जो विशेष आकारादि का जो प्रतिभास होता है, वही वैशद्य है । यहा प्रतीत्यन्तर से व्यवधान नहीं होना

तुल्यजातीयापेक्षया च व्यवधानमव्यवधान वा प्रतिपत्तव्य न पुनर्देशकालाद्यपेक्षया । यथा 'उपर्युपरि स्वर्गपटलानि' इत्यत्रान्योन्य तेषां देशादिव्यवधानेपि तुल्यजातीयानामपेक्षाकृता प्रत्यासत्तिः सामीप्यमित्युक्तम्, एवमत्राप्यव्यवधानेन प्रमाणान्तरनिरपेक्षतया प्रतिभासन वस्तुनोऽनुभवो वैशद्यं विज्ञानस्येति ।

नन्वेवमीहादिज्ञानस्यावग्रहाद्यपेक्षत्वादव्यवधानेन प्रतिभासनलक्षणवैशद्याभावात्प्रत्यक्षता न स्यात्, तदसारम्; अपरापरेन्द्रियव्यापारादेवावग्रहादीनामुत्पत्तेस्तत्र तदपेक्षत्वासिद्धेः । एकमेव चेद

कहा है वह तुल्यजातीय की अपेक्षा से व्यवधान का निषेध करने के लिये कहा है । देशकाल आदि की अपेक्षा से वही । जैसे—ऊपर ऊपर स्वर्ग पटल होते हैं, इसमें वे स्वर्ग के पटल परस्परके देश व्यवधान से स्थित हैं, किन्तु तुल्यजातीय अन्य पटलोंकी अपेक्षा वे अन्तरित नहीं हैं ।

मतलब—स्वर्ग में एक पटल के बाद ऊपर दूसरा पटल है, बीच में कोई रचना नहीं है, किन्तु वे पटल अतराल लिये हुए तो हैं ही, उसी प्रकार जिस ज्ञानमें अन्य तुल्यजातीय ज्ञानका व्यवधान नहीं है—ऐसे दूसरे ज्ञान की सहायता से जो निरपेक्ष है और जिसमें विशेषाकार का प्रतिभास हो रहा है ऐसा ज्ञान ही विशद कहा गया है, तथा यही ज्ञान की विशदता है जो अपने विषय को जानने में अन्य ज्ञान की सहायता वही चाहना, और जिसमें पदार्थका प्रतिभास विशेषाकाररूप से होना ?

शंका—ईहा आदि ज्ञानों में अवग्रह आदि ज्ञानों की अपेक्षा रहती है, अतः अव्यवधान रूप से जो प्रतिभास होता है वह वैशद्य है ऐसा वैशद्य का लक्षण उन ईहादिज्ञानों में घटित नहीं होता है, अतः ये ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे कहलावेगे ?

समाधान—यह कथन निस्सार है । क्योंकि अवग्रहादि ज्ञानोंकी उत्पत्ति अन्य अन्य इन्द्रियोके व्यापार से होती है, इसलिये ईहादिकी उत्पत्तिमें अवग्रह आदि की अपेक्षा नहीं पड़ती है ।

मतलब यह है कि ये अवग्रहादि भेद मूलभूत मतिज्ञान के हैं और वह मति-ज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियो से उत्पन्न होता है । अतः अवग्रहादिरूप अतिशयवाला तथा अन्य २ चक्षु आदि इन्द्रियोके व्यापार से उत्पन्न हुआ मतिज्ञान स्वतन्त्ररूप से अपने विषय में प्रवृत्ति करता है, इसलिये यहां पर भी (ईहादिरूप मतिज्ञान में भी) प्रमाणान्तर का व्यवधान नहीं होता है । परन्तु अन्य जो अनुमानादि ज्ञान हैं वे लिग-

विज्ञानमवग्रहाद्यतिशयवदपरापरचक्षुरादिव्यापारादुत्पन्न सत्स्वतन्त्रतया स्वविषये प्रवर्त्तते इति प्रमाणान्नराव्यवधानमत्रापि प्रसिद्धमेव । अनुमानादिप्रतीतिस्तु लिङ्गादिप्रतीत्यैव' जनिता सती स्वविषये प्रवर्त्तते इत्यव्यवधानेन प्रतिभासनाभावान्न प्रत्यक्षैति । ततो निरवद्यमेवविषय वैशद्य प्रत्यक्षलक्षणम्, साकल्येनाखिलाध्यक्षव्यक्तिपु सम्भवेनाध्याप्त्यसम्भवदोषाभावात् । अतिव्याप्तिस्तु दूरोत्सारित्वं अध्यक्षत्वानभिमतं क्वचिदप्येतल्लक्षणस्यासम्भवात् ।

समन्वकारादी ध्यामलितवृक्षादिवेदनमप्यध्यक्षप्रमाणस्वरूपमेव, सस्थानमात्रे वैशद्याविसवादित्वसम्भवात् । विशेषाशाध्यवसायस्त्वनुमानरूपा, लिङ्गप्रतीत्या व्यवहितत्वान्नाध्यक्षरूपता प्रति-

ज्ञान आदि की अपेक्षा लेकर ही स्वविषय मे प्रवृत्त होते हैं । इसलिए इनमें अव्यवधान से प्रतिभास का अभाव होनेसे प्रत्यक्षता का अभाव है । इस प्रकार प्रत्यक्ष का यह वैशद्य लक्षण निर्दोष है, सपूर्ण प्रत्यक्षप्रमाणो मे पाया जाता है, अत इसमे अव्याप्ति और असम्भव दोषो का अभाव है । अतिव्याप्ति नामका दोष तो दूर से ही हट गया है क्योंकि जो प्रत्यक्ष नहीं है उनमें कही पर भी इस प्रत्यक्षलक्षण का सद्भाव नहीं पाया जाता है । अधकार आदि मे जो अस्पष्टरूप से वृक्षादि का ज्ञान होता है वह भी प्रत्यक्षप्रमाणस्वरूप ही है क्योंकि सामान्यपने से सस्थानमात्र मे तो वैशद्य और अत्रिसवादित्व मौजूद है । वृक्षादिका जो विशेषाश है उसका निश्चय तो अनुमानज्ञान रूप होगा, उस विशेषाश ग्राहक ज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं कहेंगे, क्योंकि उसमे लिङ्गज्ञान का व्यवधान है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से है—

जैसे किसी व्यक्ति ने अतिदूर देश मे पहिले तो किसी पदार्थका सामान्य आकार जाना, उसे जानकर वह फिर इस प्रकार से विशेष का विवेचन करता है कि जो ऐसे आकारवाला होता है वह वृक्ष होता है या हस्ती होता है या पलाल कूटादि होता है, क्योंकि इस प्रकार के आकार की अन्यथा अनुपपत्ति है । इस तरह उत्तरकाल मे वह अनुमान के द्वारा विशेष को जानता है, फिर जैसे २ वह पुरुष आगे २ बढ़ता हुआ उस पदार्थके प्रदेश के पास जाता है तब स्पष्ट रूप से जान लेता है । आगे आगे बढ़ने पर और प्रदेश के निकट आते जाने पर सस्थान आदि के ज्ञान मे जो तरतमता आती जाती है उसका कारण विशदज्ञानावरणी कर्म का तरतमरूप से अपगम होना है ।

विशेषार्थ— निकटवर्ती वृक्ष के जानने मे भी किसी को उस वृक्षका अतिस्पष्ट ज्ञान होता है, किसी को उससे कम स्पष्ट ज्ञान होता है, तथा अन्य को उससे भी कम

पद्यते । अतिदूरदेशे हि पूर्वं संस्थानमात्र प्रतिपद्य 'अयमेवविधसस्थानविशिष्टोर्ध्वो वृक्षो हस्ती पलाल-
कूटादिर्वा एवविधसस्थानविशिष्टवान्यथानुपपत्ते.' इत्युत्तरकाल विशेष विवेचयति । तरतमभावेन
तत्प्रदेशसन्निधाने तु संस्थानविशेषविशिष्टमेवार्थं वैशद्यतरतमभावेनाध्यक्षत एव प्रतिपद्यते,
विशदज्ञानावरणस्य तरतमभावेनैवापगमात् ।

ननु च परोक्षैपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञादिस्वरूपसवेदनेऽस्याध्यक्षलक्षणस्य सम्भवादतिव्याप्तिरेव ;

स्पष्ट ज्ञान होता है । अथवा—एक ही व्यक्तिको उसी वृक्षका कभी तो स्पष्टज्ञान होता है, कभी अतिस्पष्ट ज्ञान होता है, जबकि वह वृक्ष वैसे का वैसे ही निकटवर्ती है, सो ऐसी ज्ञानों में यह वैशद्य की तरतमता विशदज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की तरतमता के कारण हुआ करती है ।

शंका—परोक्षभूतस्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि के स्वरूपसवेदन में भी यह प्रत्यक्ष का लक्षण चला जाता है, अतः प्रत्यक्ष का यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष युक्त है ?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि उन ज्ञानोंका जो स्वरूपसवेदन है वह परोक्ष नहीं है क्योंकि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होनेवाले इन क्षायोपशमिक ज्ञानोंका जो स्वरूपसवेदन है, वह अनिन्द्रिय जो मन है उसकी प्रधानता से उत्पन्न होता है, इसलिये वह मानस प्रत्यक्ष इस नाम से कहा जाता है जैसा कि सुख आदि का स्वरूपसवेदन प्रत्यक्ष नामसे कहा जाता है । ज्ञानों में जो प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसा व्यपदेश होता है वह बाहिरी पदार्थोंको ग्रहण करने की अपेक्षा से होता है । अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान जब बाहिरी घट पट आदि पदार्थों को जानने में प्रवृत्त होते हैं तब उनमें से किसी को प्रत्यक्ष और किसी को परोक्ष ऐसे नाम से कहते हैं । क्योंकि बाहिरी पदार्थों के ग्रहण में प्रमाणान्तर का व्यवधान और अव्यवधान के कारण वैशद्य और अवैशद्य दोनों होना संभव है जिस ज्ञानमें पदार्थ को ग्रहण करते समय प्रमाणान्तर का व्यवधान पड़े वह ज्ञान परोक्ष और जिसमें व्यवधान न पड़े वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहा गया है, किन्तु अपने स्वरूप को ग्रहण करने में [अपने आपको जानने में] अन्य ज्ञानों का व्यवधान नहीं पड़ता है, अतः वे सभी ज्ञान स्वसवेदन की अपेक्षा तो प्रत्यक्ष ही हैं ।

विशेषार्थ—यहां पर प्रत्यक्ष का लक्षण "विशदं प्रत्यक्षम्" ऐसा किया है, और वैशद्य का लक्षण अन्य प्रमाण का व्यवधान हुए बिना पदार्थ का ग्रहण होना

इत्यप्यपरीक्षिताभिधानम्, तस्य परोक्षत्वासम्भवात्, क्षायोपशमिकसवेदनानां स्वरूपसवेदनस्या-
निन्द्रियप्रधानतयोत्पत्तेरनिन्द्रियाव्यक्ष्यपदेशसिद्धे सुखादिस्वरूपसवेदनवत् । बहिरर्थग्रहणापेक्षया
हि विज्ञानानां प्रत्यक्षैतरव्यपदेश, तत्र प्रमाणान्तरव्यवधानाव्यवधानसद्भावेन वैशद्यैतरसम्भवात्, न
तु स्वरूपग्रहणापेक्षया, तत्र तदभावात् ।

ततो निर्दोषत्वाद् वैशद्यं प्रत्यक्षलक्षणं परीक्षादक्षैरभ्युपगन्तव्यं न 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्'

कहा है, वैशद्य मे भी तरतमता स्वीकार की है । क्योंकि विशद ज्ञानावरण के क्षयोपशम मे तरतमता पाई जाती है । अतः एक ही पदार्थ को ग्रहण करते समय एक ही स्थान पर रहे हुए पुरुषो के ज्ञानो मे पृथक् २ रूप से वैशद्य की हीनाधिकता देखी जाती है । तथा एक व्यक्ति को भी उसी निकटवर्ती विवक्षित पदार्थ का ज्ञान विशद, विशद-तर, विशदतम समय भेद से होता हुआ देखा जाता है । सो वह भी विशदज्ञानावरण के क्षयोपशम की हीनाधिकता होने के कारण ही होता है । एक खास बात यह है कि स्मृति आदि परोक्ष कहे जाने वाले ज्ञान भी स्वस्वरूप के सवेदन मे प्रत्यक्ष कहलाते है ऐसा श्री प्रभाचन्द्र आचार्य कहते है एव उन ज्ञानो को प्रत्यक्ष मानने मे वे हेतु देते है कि इन ज्ञानो मे अपने आपको जानने मे अन्य प्रमाणो का व्यवधान नही पडता है अतः वे भी स्वग्रहण मे प्रत्यक्ष नाम पाते है । जैसे—सुखादिक का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष कहलाता है वैसे सारे के सारे स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान और आगम सभी ज्ञान अपने आपको सवेदन करने मे अन्य तीनों का व्यवधान नही रखते हैं, अतः वे सब मानस प्रत्यक्ष कहलाते है । किन्तु जब वे स्मृति आदि ज्ञान बाहिरी पदार्थ को ग्रहण करते मे प्रवृत्त होते है तब उन्हे परोक्ष कहते है । क्योंकि तब उनमे प्रमाणान्तर का व्यवधान पाया जाता है । किन्तु प्रत्यक्षनाम से स्वीकार किया हुआ प्रमाण स्व और अन्य घट पट आदि पदार्थो को प्रमाणान्तर के व्यवधान हुए विना ही जानता है, अतः हमेशा ही वह प्रत्यक्ष नाम से कहा जाता है । प्रत्यक्ष प्रमाण का यह "विशद प्रत्यक्ष" लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव इन तीनों ही दोषों से रहित है । इस लक्षण के द्वारा बौद्ध आदिके सिद्धान्त मे समत व्याप्तिज्ञान आदि मे मानी गई प्रत्यक्षप्रमाणता का खडन हो जाता है । स्पष्टत्व [विशदत्व] धर्म पदार्थ का है ऐसा बौद्धो का कहना है सो उनके इस कथन को आचार्य ने अच्छी तरह से निरस्त किया है । यदि स्पष्टत्व या अस्पष्टत्व पदार्थ का धर्म होता तो उसी पदार्थ का कभी स्पष्ट ज्ञान और कभी अस्पष्टज्ञान होता है वह कैसे होता ? अतः स्पष्टत्व हो चाहे अस्पष्टत्व

[न्यायसू० १।४] इत्यादिकं तस्याव्यापकत्वादतीन्द्रियप्रत्यक्षै सर्वज्ञविज्ञानेऽस्यासत्त्वात् । न च 'तन्नास्ति' इत्यभिधातव्यम्, प्रमाणतोऽनन्तरमेवास्य प्रसाधयिष्यमाणत्वात् । तथा सुखादिसवेदनेऽप्यस्यासत्त्वम् । न हीन्द्रियसुखादिसन्निकर्षात्तज्ज्ञानमुत्पद्यते, सुखादेरेव स्वग्रहणात्मकत्वेनोदयादित्युक्तम् । चाक्षुषसवेदने त्वास्यासत्त्वम्, चक्षुषोर्थेन सन्निकर्षाभावात् ।

हो दोनों ही ज्ञानके धर्म हैं । और वे अपने २ स्पष्टज्ञानावरण और अस्पष्टज्ञानावरण के क्षयोपशम से होते हैं । इस प्रकार विशदज्ञान के विषय का आचार्य ने युक्तिपुरस्सर विशद वर्णन किया है ।

इस प्रकार प्रत्यक्षप्रमाण का यह "विशद प्रत्यक्ष" लक्षण सर्वथा निर्दोष है ऐसा जब सिद्ध हो चुका तब इस लक्षण को सभी परीक्षाचतुर पुरुषो को स्वीकार करना चाहिये, इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष है ऐसा नहीं मानना चाहिये, क्योंकि इस लक्षण में अव्याप्ति आदि दोष आते हैं । जैसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप सर्वज्ञके ज्ञानमें "इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न" यह प्रत्यक्ष का लक्षण घटित नहीं होता यदि कोई ऐसी आशका करे कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष नामका कोई ज्ञान ही नहीं है अतः हमारा समतं प्रत्यक्षलक्षण सदोष नहीं होता है ? सो भी बात नहीं है, क्योंकि "अतीन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण है" इस बात को हम जैन आगे निकट में ही सिद्ध करनेवाले हैं ।

"इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्षप्रमाण उत्पन्न होता है" ऐसा माननेमें सर्वज्ञज्ञान के समान सुख आदि के ज्ञान में भी अव्याप्ति होती है, क्योंकि सुख आदि का सवेदन भी इन्द्रियार्थ के सन्निकर्षसे उत्पन्न नहीं होता है । कोई कहे कि इन्द्रिय और सुख के सन्निकर्ष से वह सुखसवेदन उत्पन्न होता है सो बात भी सर्वथा गलत है । क्योंकि सुखसवेदन तो स्वग्रहणरूप से ही उत्पन्न होता है । इस बात का खुलाशा हम पहिले परिच्छेद में कर चुके हैं । तथा यह लक्षण चाक्षुष ज्ञान के साथ भी अव्याप्त है क्योंकि चक्षुका पदार्थके साथ सन्निकर्ष नहीं होता है । इस प्रकार "विशद प्रत्यक्षम्" प्रत्यक्षका यही एक लक्षण निर्दोष रूपसे सिद्ध होता है ।

* विशदत्वविचार समाप्त *



विशदता के विचार का सारांश

विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। विना किसी अन्य प्रमाण की सहायता लिये वस्तु को स्पष्ट जानना विशदता है। बौद्ध लोग अचानक धूम देखकर होनेवाले अग्निके ज्ञान में प्रत्यक्षता मानते हैं, व्याप्तिज्ञान को भी प्रत्यक्ष माननेवाले बैठे हैं; किन्तु ये ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि एक तो ये अपने अपने विषयो को जानने में अन्य प्रमाणोंका सहारा लेते हैं और दूसरे वे अस्पष्ट प्रतिभास वाले हैं।

बौद्ध—यह अस्पष्टता पदार्थ का धर्म है या ज्ञान का ? ज्ञान का धर्म है तो वह अस्पष्टता पदार्थ में कैसे आयी ? पदार्थ का धर्म कहो तो उससे ज्ञान क्यों अस्पष्ट [परोक्ष] कहलाया ? इसलिये उस अस्पष्टता के कारण अनुमान या व्याप्तिज्ञान को परोक्ष कहना असिद्ध है ?

जैन—यह कहना ठीक नहीं क्योंकि यही बात स्पष्टता में भी लगा सकते हैं, स्पष्टता ज्ञान का धर्म है तो पदार्थ स्पष्ट कैसे हुआ ? और पदार्थ का धर्म स्पष्टता है तो ज्ञान स्पष्ट कैसे हुआ इत्यादि ? सो बात ऐसी है कि चाहे स्पष्टता हो चाहे अस्पष्टता—दोनों ही ज्ञान के धर्म हैं। स्पष्टज्ञानावरण के क्षयोपशम से स्पष्ट ज्ञान पैदा होता है और अस्पष्टज्ञानावरण के क्षयोपशम से अस्पष्ट ज्ञान पैदा होता है। जिन ज्ञानों में यह स्पष्टता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष है और जिन ज्ञानों में अस्पष्टता है वे परोक्ष हैं। कोई २ अन्य मत वाले “ज्ञान में स्पष्टता इन्द्रियो से आती है” ऐसा मानते हैं किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि इन्द्रियो से ज्ञान में स्पष्टता-होती तो दूरवर्ती पदार्थ का ग्रहण स्पष्ट क्यों नहीं होता, इन्द्रिया तो है ही ? यदि कहा जाय कि ऐसी ही योग्यता है ? तो यह योग्यता ज्ञानमें हो सकती है, अपने २ ज्ञानावरणके क्षयोपशम से स्पष्ट या अस्पष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, इसी को योग्यता कहते हैं। इसप्रकार जो विना सहारे वस्तु को स्पष्ट जाने वह प्रत्यक्ष प्रमाण है यह सिद्ध हुआ।



चक्षुसन्निकर्षवादका पूर्वपक्ष

प्रमाण का विवेचन करते समय सन्निकर्ष ही प्रमाण है ऐसा नैयायिकों ने सिद्ध किया था, उस सन्निकर्षप्रमाणवाद में कोई दूषण उपस्थित करे कि सन्निकर्ष अर्थात् छूकर ही ज्ञान होता है तो चक्षु के द्वारा भी छूकर ज्ञान होना चाहिये ? किन्तु ऐसा होता नहीं है ? सो अब यहां सप्रमाण चक्षु को भी प्राप्यकारी सिद्ध करके बताते हैं—“प्राप्तार्थं प्रकाशकं चक्षु बाह्येन्द्रियत्वात् स्पर्शनेन्द्रियवत्” अर्थात् चक्षु पदार्थों को स्पर्श करके ही रूप का ज्ञान कराती है क्योंकि वह भी एक बाह्य इन्द्रिय है, जैसे कि स्पर्शन इन्द्रिय बाह्य इन्द्रिय है, अतः वह छूकर ही स्पर्शका ज्ञान कराती है। हमारे यहां नियम है कि “इन्द्रियाणां वस्तु प्राप्यप्रकाशकारित्वम्” स्पर्शन आदि पांचों ही नहीं किन्तु मनरूप इन्द्रिय भी वस्तु को सन्निकर्ष करके अर्थात् अपने २ विषय के साथ भिडकरके ही ज्ञान पैदा कराती है, यदि चक्षु पदार्थों को विना स्पर्श किये ही जानने वाली होती तो भित्ति [दिवाल] आदि से व्यवहृत पदार्थों को भी ग्रहण कर लेती ? क्योंकि जानने योग्य वस्तु को छूने की तो उसे आवश्यकता रही नहीं। “अप्राप्यकारित्वे तु न कुड्यादेरावरणसामर्थ्यमस्ति” अर्थात् चक्षु अप्राप्यकारी है तो दिवाल आदिक उसका आवरण कर नहीं सकती। अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि चक्षु यदि पदार्थ को छूकर जानती है तो छूने के लिए वह बाहर पदार्थ के पास कहा जाती है ? सो उसका उत्तर यह है कि यह दिखाई देनेवाली चक्षु छूकर नहीं जानती किन्तु इसी के भीतर रश्मि [किरणे] रहती है—वे पदार्थ को छूती है, वास्तविक चक्षु तो वही है, यह गोलक तो मात्र उसका अधिष्ठान है। कोई कहे कि गोलक चक्षु में रश्मिचक्षु है तो वह उपलब्ध क्यों नहीं होती ? तो उसका कारण यह बतलाया है कि उस रश्मिचक्षु का तेज अनुद्भूत रहता है, देखिये—किरणे चार प्रकार की होती है “चतुर्विधं च तेजो भवति” उद्भूतरूपस्पर्शं यथा आदित्यरश्मि, उद्भूतरूप अनुद्भूतरूपस्पर्शं यथा प्रदीपरश्मि, उभयं च प्रत्यक्षम्, रूपस्य उद्भूतत्वात् । उद्भूतरूपस्पर्शं अनुद्भूतरूप यथा-वारि स्थितं तेज अनुद्भूतरूपस्पर्शं यथा नायन तेज ” (न्यायवार्तिक अध्याय ३ सूत्र ३६), तेज चार प्रकार का है प्रथम तो वह है कि जिसमें रूप और स्पर्श दोनों प्रकट रहते हैं जैसे सूर्य किरणें, दूसरा वह है कि जिसमें रूप प्रकट हो और स्पर्श अप्रकट हो जैसे दीपक की किरणें, तीसरा वह है कि जिसमें स्पर्शगुण तो प्रकट हो और रूपगुण

अप्रकट हो जैसे उष्ण जलमे स्थित तेजो द्रव्य । जल मे स्थित तेजोद्रव्य का स्पर्शगुण तो प्रगट है और रूपगुण अप्रकट है । चौथा तेजो द्रव्यका प्रकार नेत्र मे पाया जाता है, क्योकि उसमे न रूप ही प्रकट है और न स्पर्श ही प्रकट है । चक्षु किरणे प्रत्यक्ष से उपलब्ध नही है तो भी अनुमान से उनकी सिद्धि होती है । जैसे चन्द्रमा का उपरला भाग और पृथिवीका नीचे का भाग अनुमान से सिद्ध होता है । यही बात न्यायवार्तिक अध्याय ३ सूत्र ३३-३४ मे कही है ।

“नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतु ॥३४॥ यत् प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते तदनुमानेनोपलभ्यमान नास्ति इत्ययुक्तम्, यथा चन्द्रमस परभाग, पृथिव्याश्चाधोभाग. प्रत्यक्षलक्षण प्राप्तावपि न प्रत्यक्ष उपलभ्यते, अनुमानेन चोपलब्ध न तौ न स्तः । किं अनुमान ? अर्वाग् भागवदुभय प्रतिपत्तिः, तथा चक्षुषस्य रश्मे कुड्याद्यावरण मनुमान सभवतीति ॥

अर्थ—जो प्रत्यक्ष से उपलब्ध न होवे वह अनुमान से भी उपलब्ध नही होता ऐसी बात तो है नही अर्थात् प्रत्यक्ष से पदार्थ नही दिखाई देने से उनका अभाव है ऐसा नही कह सकते, ऐसे पदार्थ तो अनुमान से सिद्ध होते है । जैसे चन्द्रमा का उपरिमभाग और पृथिवी का नीचे का भाग प्रत्यक्ष से नही दिखने पर भी उसकी अनुमान से सत्ता स्वीकार की जाती है । उसी प्रकार चक्षु मे किरणे प्रत्यक्ष से दिखने मे नही आती फिर भी उन किरणो को अनुमान के द्वारा सिद्ध किया जाता है । अर्थात् चक्षु प्राप्यकारी नही होती तो दिवाल आदि से उसका आवरण नही होता । मतलब—चक्षु से बिना छुए ही देखना होता तो रुकावटरहित भित्ति आदि से अन्तर्हित पदार्थ का भी देखना होना चाहिये था, किन्तु ऐसा होता नही इसलिये मालूम पडता है कि अवश्य ही चक्षु किरणे पदार्थ को छूकर जानती है [देखती है] और भी कहते हैं—

“यस्य कृष्णसार चक्षु तस्य सन्निकृष्ट विप्रकृष्टयोस्तुल्योपलब्धिप्रसंग । कृष्णसार न विषय प्राप्नोति, अप्राप्त्यविशेषात्, सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोस्तुल्योपलब्धि प्राप्नोति ? (न्यायवार्तिक पृ ३७३ सूत्र ३०) अर्थात्—जो मात्र इस काली गोलकपुतली को ही चक्षु मानते है उनके मत के अनुसार तो दूर और निकटवर्ती पदार्थ समानरूप से स्पष्ट ही दिखयी देना चाहिये, तथा दूरवर्ती पदार्थ भी दिखाई देना चाहिये, क्योकि चक्षुको उन्हे छूने की आवश्यकता तो है नही । जब यह कृष्णवर्ण चक्षु अपने विषयभूत जो रूपवाले पदार्थ है, उन्हे छूती नही है, तब क्या कारण है कि दूर और निकट का

समानरूप से ज्ञान नहीं होता, इस प्रकार चक्षु को अप्राप्यकारी मानने से दूर और निकटवर्ती पदार्थों की रूपप्रतीति में जो भेद दिखाई देता है वह सिद्ध नहीं हो सकता, अतः चक्षु को प्राप्यकारी ही मानना चाहिये । अन्त में एक शका और रह जाती है कि यदि चक्षु पदार्थ को छूकर जानती है तो काच आदि से ढके हुए पदार्थ को कैसे देख सकती है, क्योंकि जिस प्रकार दिवाल आदि के आवरण होने से उस तरफ के पदार्थ दिखाई नहीं देते हैं वैसे ही काच या अभ्रक आदि से अंतरित पदार्थ भी नहीं दिखाई देने चाहिये, सो इस प्रश्न का उत्तर “अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्ति” ४६ ॥ न काचोऽभ्रपटलं वा रश्मि प्रतिबध्नाति, सोऽप्रतिहन्यमानोऽर्थेन सबध्यते—न्यायवार्तिक पृ० ३८२ सूत्र ४६” इस प्रकार से दिया गया है अर्थात् वे काच आदि पदार्थ चक्षु-किरणों का विघात नहीं करते हैं, अतः उनके द्वारा अन्तरित वस्तु को चक्षु देख लेती है । मतलब—काच आदि से ढके हुए पदार्थ को देखने के लिए जब चक्षुकिरण जाती है तब वे पदार्थ उन किरणों को रोकते नहीं—अतः उन काच आदिका भेदन करते हुए किरण निश्चित ही उस वस्तु का सन्निकर्ष कर लेती है । इस प्रकार स्पर्शन आदि इन्द्रियो के समान चक्षु भी सन्निकर्ष करके ही पदार्थ के रूप का ज्ञान कराती है यह सिद्ध हुआ “यदि चक्षु पदार्थ को स्पर्श करके जानती है तो अपने में ही लगे हुए अजन सुरमा आदि को क्यों नहीं देखती” ऐसी शका होवे तो उसका समाधान यह है कि यह जो कृष्णवर्ण गोलक चक्षु है वह तो मात्र चक्षु इन्द्रिय का अधिष्ठान है—आधार है । कहा भी है—“यदि प्राप्यकारि चक्षुर्भवति अथ कस्मादञ्जनशलाकादि नोपलभ्यते ? नेन्द्रियेणा सबधात् । इन्द्रियेण सबद्धा अर्थात् उपलभ्यन्ते न चाञ्जनशलाकादीन्द्रियेण सबद्ध अधिष्ठानस्यानिन्द्रियत्वात्, रश्मिरिन्द्रिय नाधिष्ठान, न रश्मिनाञ्जनशलाका सबद्धा इति”, (न्यायवार्तिक पृ० ३८५) अर्थात्—चक्षु प्राप्यकारी है तो वह अञ्जनशलाका आदि को क्यों नहीं ग्रहण करती ? तो इसका यह जवाब है कि उस काजल आदि का चक्षु इन्द्रिय से सबध ही नहीं होता है, क्योंकि इन्द्रिया तो सम्बद्ध पदार्थों को ही जानती है, अञ्जनशलाका आदि इन्द्रिय के अधिष्ठान में ही सबद्ध है । रश्मिरूप चक्षु ही वास्तविक चक्षु है और उससे तो अञ्जन आदि संबंधित होते नहीं इसीलिये उनको चक्षु देख नहीं पाती है । इस प्रकार चक्षु प्राप्यकारी है, पदार्थों को छूकर ही रूप को देखती है यह बात सिद्ध होती है ।

* पूर्वपक्ष समाप्त *

आपि 'इन्द्रियत्वात्' इति हेतु केन वार्येत ? ततो मनमि तत्साधने प्रमाणबाधनमन्यत्रापि समानम् । चक्षुश्चात्र घर्मित्वेनोपात्ता गोलकस्वभावम्, रश्मिरूप वा ? तत्राद्यविकल्पे प्रत्यक्षबाधा, अर्थदेशपरिहारेण शरीरप्रदेशे एवास्थोपलम्भात्, अन्यथा तद्रहितत्वेन नयनपदमप्रदेशस्योपलम्भः स्यात् । अथ रश्मिरूप चक्षुः, तर्हि घर्मिणोऽसिद्धिः । न खलु रश्मयः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते, अर्थवत्तत्र तत्स्वरूपाप्रतिभासनात्, अन्यथा विप्रतिपत्त्यभावः स्यात् । न खलु नीले नीलतयानुभूयमाने कश्चिद्विप्रतिपद्यते ।

मनके इस सयुक्त समवाय आदि सबध को हम सबध रूप मानते ही नहीं, है ?

जैन — तो फिर नेत्रादिका भी रूपादि पदार्थके साथ सयुक्तादि सबध नहीं मानना चाहिये ? क्योंकि वह भी सबध सबधरूप है ।

अत इन्द्रियपना समान होते हुए भी जैसे मन अप्राप्त होकर पदार्थ को जानता है वैसे ही बाह्येन्द्रियपना समान होते हुए भी चक्षु इन्द्रिय अप्राप्त होकर पदार्थ को जानती है, ऐसा मानना चाहिये ?

नैयायिक—चक्षुमे “बाह्येन्द्रियत्वात्” यह हेतु पाया जाता है अत उसमे हम अप्राप्तार्थप्रकाशकता नहीं मानते है ?

जैन—यह बात भी उचित नहीं है, क्योंकि जब इन्द्रियत्वात् ऐसा हेतु दिया जायगा तब मन में भी प्राप्तार्थप्रकाशता कैसे रोकी जा सकेगी, अर्थात्—“मन प्राप्तार्थप्रकाशकं इन्द्रियत्वात् त्वतिन्द्रियवत्” मन प्राप्तार्थप्रकाशक है क्योंकि वह इन्द्रिय है, जैसे स्पर्शनेन्द्रिय है, इस अनुमान मे इन्द्रियत्व हेतु दिया है वह स्पर्शन इन्द्रिय की तरह मन को भी प्राप्यकारी सिद्ध कर देगा, तो फिर इस युक्तियुक्त बात को कैसे रोका जा सकता है । यदि कहा जाय कि मन मे प्राप्तार्थ प्रकाशता प्रमाण से बाधित होती है ? तो नेत्र में भी प्राप्तार्थप्रकाशनता प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित होती है, चक्षु और मन मे समान ही बात है । नैयायिक ने जो प्राप्तार्थप्रकाशतारूप साध्य मे चक्षुको पक्ष बनाया है सो किस चक्षु को पक्ष बनाया है ? क्या गोलक स्वभाववाली चक्षु को या किरणरूप चक्षु को ? यदि गोलकरूप चक्षु को पक्ष बनाया जाता है तो पक्ष मे प्रत्यक्ष से बाधा दिखाई दे रही है, क्योंकि गोलक चक्षु तो अपने स्थान पर ही स्थित रहती है, यदि वह पदार्थ को प्राप्त करने जाती तो चक्षु के प्रदेश—पलके आदि गोलक (पुतली) रहित प्रतीत होने चाहिये । यदि कहा जावे कि किरणरूप चक्षु को पक्ष बनाया है तो वह पक्ष (धर्मी) अभी असिद्ध ही है, क्योंकि नेत्र किरणे प्रत्यक्ष से साक्षात् दिखायी

किञ्च, इन्द्रियार्थसन्निकर्षज प्रत्यक्ष भवन्मते । न चार्थदेशे विद्यमानैस्तरपरेन्द्रियस्य सन्निकर्षो-
स्ति यतस्तत्र प्रत्यक्षमुत्पद्येत, अनवस्थाप्रसङ्गात् ।

अथानुमानात्तेषां सिद्धिः; किमत एव, अनुमानान्तराद्वा ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रयः—अनु-
मानोत्थाने ह्यतस्तत्सिद्धिः, अस्याश्चानुमानोत्थानमिति । अथानुमानान्तरात्तत्सिद्धिस्तदानवस्था, तत्रा-
ध्यनुमानान्तरात्तत्सिद्धिप्रसङ्गात् ।

यदि च गोलकान्तर्भूतात्तेजोद्रव्याद्बहिर्भूता रश्मयश्चक्षु शब्दवाच्याः पदार्थप्रकाशकाः; तर्हि
गोलकस्योन्मीलनमञ्जनादिना सस्कारश्च व्यर्थः स्यात् । अथ गोलकाद्याश्रयपिधाने तेषां विषय प्रति

नहीं देती, जिस तरह प्रत्यक्ष से पदार्थ का प्रतिभास होता है उस तरह उनका कोई
स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता है । यदि किरणों वहां दिखती तो यह विवाद ही क्यों
होता, कि कौनसी चक्षु प्राप्तार्थप्रकाशक है इत्यादि, जैसा कि नीलरूप से प्रतिभासित
हुए नील पदार्थ में कोई भी पुरुष विवाद नहीं करता है ।

दूसरी बात यह है कि आप नैयायिक के मत में इन्द्रिय और पदार्थ के सन्नि-
कर्ष से प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा माना गया है सो पदार्थ के स्थान पर विद्यमान
उन किरणों के साथ अन्यपुरुष के नेत्र का सन्निकर्ष तो होता नहीं है कि जिससे वहाँ
प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हो जाय यदि पदार्थ के निकट स्थित किरणों के साथ अन्य पुरुष के
नेत्र का सन्निकर्ष होकर उनका प्रत्यक्ष होना मानो तो अनवस्था होगी ।

नैयायिक—नेत्र किरणों की यदि प्रत्यक्ष से सिद्धि नहीं होती तो भले न हो,
अनुमान से तो उनकी सिद्धि होती है ।

जैन—ठीक है, किन्तु कौन से अनुमान से सिद्धि होती है क्या—“प्राप्तार्थ-
प्रकाशक चक्षु बाह्येन्द्रियत्वात् स्पर्शनेन्द्रियवत्” इसी प्रथम अनुमाव से अथवा अन्य
कोई दूसरे अनुमान से ? प्रथम अनुमान से मानो तो अन्योन्याश्रय दोष होगा, प्रथम
अनुमान के प्रवृत्त होने पर अर्थात् चक्षु मे प्राप्यकारीपना सिद्ध होने पर उसके द्वारा
किरणों की सिद्धि होगी और किरणों की सिद्धि होने पर प्रथम अनुमान का उत्थान
होगा । दूसरापक्ष अन्य अनुमान से किरणों की सिद्धि होती है ऐसा मानते हो तो
अनवस्थादोष आवेगा, क्योंकि उस अन्य अनुमान मे भी दूसरे अनुमान की और उसमें
भी अन्य अनुमान की अपेक्षा आती ही जायगी, इस तरह मूलभूत किरणों तो असिद्ध
ही रह जावेगी । यदि कहा जावे कि नेत्र की पुतली मे तेजोद्रव्य (अग्नि) रहता है

गमनासम्भवात्तदर्थं तदुन्मीलनम्, घृतादिना च पादयोः सस्कारे तत्सस्कारो भवति स्वाश्रयगोलक-
सस्कारे तु नितरा स्यात् इत्यस्यापि न वैयर्थ्यम्, तदापि गोलकादिलग्नस्य कामलादेः प्रकाशकत्व
तेषां स्यात् । न खलु प्रदीपकलिकाश्रयास्तद्रश्मयस्तत्कलिकावलग्न शलाकादिकं न प्रकाशयन्तीति
युक्तम् ।

न चात्र चक्षुषः सम्बन्धो नाम्नीत्यभिधातव्यम्, यतो व्यक्तिरूप चक्षुस्तत्रासम्बद्धम्, शक्तिस्व-
भाव वा, रश्मिरूप वा ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः, व्यक्तिरूपचक्षुषः काचकामलादौ सम्बन्धप्रतीते ।

सो उस तेजोद्रव्य से किरणे बाहर निकलती है, उन्ही को हम चक्षु कहते हैं और
उनके द्वारा ही पदार्थ का प्रकाशन होता है तो गोलकरूप नेत्र का उन्मीलन करना
अजन आदि से उसका सस्कार करना ये सब क्रियाएँ वेकार होवेगी ? [क्योकि देखने
का काम तो अन्य ही कोई कर रहा है ।]

नैयायिक—नेत्र का खोलना तो इसलिये करना पडता है कि यदि नेत्र नहीं
खोलेगे तो किरणे पदार्थ के पास वहा से निकल कर जा नहीं सकेगी, तथा अजन
सस्कार की बात कही सो जब पैरो मे घृत आदि की मालिश करने से नेत्र में सस्कार
(ज्योति बढना) होता देखा जाता है तब अपने आश्रय भूत गोलक का सस्कार होने से
किरणो मे विशेष ही सस्कार होगा, इसलिये गोलक का अजनादि से सस्कार करना
भी व्यर्थ नहीं ठहरता है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो गोलकादि में लगे हुए कामलादिरूप मैल का
उन्हे प्रकाशन करना चाहिये ? ऐसा तो होता नहीं है कि प्रदीपकलिकाश्रित रश्मिया
अपने मे लगी हुई शलाका—(कालामैल आदि) का प्रकाशन न करती हो, किन्तु करती
ही हैं । कोई कहे कि कामला आदि के साथ चक्षु का सबध नहीं है, अत उन्हे वे
प्रकाशित नहीं करती है, सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योकि उस कामलादि
के साथ कौनसी चक्षु असंबद्ध है ? क्या गोलकरूप चक्षु या शक्तिस्वभावरूप चक्षु,
या रश्मिरूप चक्षु ? प्रथम पक्ष मे प्रत्यक्ष से विरोध आता है, क्योकि प्रत्यक्ष से ही
गोलकरूप चक्षु का काचकामलादि रोग के साथ सबध दिखाई देता है । दूसरा पक्ष
लेकर यदि ऐसा कहो कि शक्तिरूप चक्षु से काचकामलादि असंबद्ध है तो वह शक्ति-
रूप चक्षु गोलकचक्षु से भिन्न स्थान मे रहता है अथवा उसी गोलक के स्थान मे रहता
है ? यदि भिन्न देश में शक्तिरूप चक्षु रहती है ऐसा कहो तो गलत है, क्योकि इस

द्वितीयपक्षेपि तच्छक्तिरूप चक्षुर्व्यक्तिरूपचक्षुषो भिन्नदेशम्, अभिन्नदेशं वा ? न तावद्भिन्नदेशम्; तच्छक्तिरूपताव्याघातानुषङ्गाभिराधारत्वप्रसङ्गाच्च । न ह्यन्यशक्तिरन्याधारा युक्ता । तद्देशद्वारेण-
वार्थोपलब्धिप्रसङ्गश्च । ततोऽभिन्नदेश चेत्; तत्तत्र सम्बद्धम्, असम्बद्धं वा ? सम्बद्धं चेत्, बहिरर्थव-
त्स्वाश्रय तत्सम्बद्धं चाञ्जनादिकमपि प्रकाशयेत् । असम्बद्धं चेत्कथमाधेय नाम अतिप्रसङ्गात् ?

अथ रश्मिरूपं चक्षुः, तस्यापि काचकामलादिना सम्बन्धोस्त्येव । न खलु स्फटिकादिकूपिका-
मध्यगतप्रदीपादिरश्मयस्ततो निर्गच्छन्तस्तत्सयोगिना न सम्बद्धास्तत्प्रकाशका वा न भवन्तीति प्रती-

तरह मानने से तो यह गोलक की शक्ति है ऐसा कहना गलत ठहरेगा, तथा ऐसी शक्ति निराधार भी हो जावेगी ।

अर्थात्—गोलक से शक्तिचक्षु न्यारी है तो प्रथम तो यह गोलक की शक्ति है इस तरह का संबंध ही नहीं बन सकता, दूसरे निराधारपने का प्रसंग आता है, क्योंकि वह अपने आधार से भिन्न है तथा अन्य की शक्ति अन्य के आधार रहे ऐसा बनता भी नहीं है । यदि शक्ति अन्य आधार में रहती है ऐसा मान लिया जावे तो जहां वह रहती है उसी स्थान पर पदार्थ की उपलब्धि देखनारूप कार्य संपन्न होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता, वह कार्य तो गोलकरूप चक्षु के स्थान पर ही होता है । व्यक्ति रूप चक्षु के अभिन्न प्रदेश में शक्तिरूप चक्षु रहती है ऐसा दूसरा पक्ष मानो तो प्रश्न होता है कि वह शक्तिरूप चक्षु गोलक में सबद्ध है अथवा असबद्ध है, यदि सबद्ध है तो जैसे वह शक्ति चक्षु बाहर के पदार्थों को प्रकाशित करती है वैसे ही उसे गोलक में संबद्ध हुए अजन आदि को भी प्रकाशित करना चाहिये, सो क्यों नहीं करती । गोलक में शक्तिरूप चक्षु असबद्ध रहती है ऐसा कहो तो अतिप्रसङ्ग होगा, “उसमें रहती है और असबद्ध है” यह बात ही असबद्ध है । ऐसे असबद्ध में आधेयता मानोगे तो सहा-
चल विध्याचल का आधेय बन जायगा, असबद्धता तो दोनों में है ही, ऐसे पृथक् पृथक् पदार्थों में आधार और आधेयभाव नहीं होता है ।

रश्मिरूप चक्षु का काचकामलादि से सबन्ध नहीं है, ऐसा तीसरा पक्ष कहो तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि रश्मिरूप चक्षु का भी उस काच कामलादि से सबन्ध है । इसीका खुलासा करते हैं—स्फटिक या काच आदि की कूपिका के [चिसनी के] भीतर रखे हुए दीपक आदि की किरणें बाहर निकलती हुई उस कूपिकामें लगे हुए केशर या अन्य कोई पदार्थ से सबन्ध नहीं करती हो या उन्हें प्रकाशित नहीं करती

तम् । तथा चाञ्जनादे प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धेः परोपदेशस्य दर्पणादेश्च तदर्थस्योपादानमनर्थकमेव स्यात् ।

किञ्च, यदि गोलकान्नि सृत्यार्थेनाभिसम्बद्धयार्थं ते प्रकाशयन्ति, तर्ह्यर्थं प्रति गच्छतां तैज-
साना रूपस्पर्शविशेषवता तेषामुपलम्भः स्यात्, न चैवम्, अतो दृश्यानामनुपलम्भातोषामभावः ।
अथादृश्यास्तेऽनुद्भूतरूपस्पर्शवत्त्वात्, न, अनुद्भूतरूपस्पर्शस्य तेजोद्रव्यस्याप्रतीते । जलहेम्नोर्भासुर-

हों ऐसी बात प्रतीत नहीं होती, अर्थात् उन्हे प्रकाशित करती ही है । उसी तरह गोलक रूप कूपिकामे रखी हुई किरण रूपी दीपिका से जब किरणे निकलती हैं तब वे गोलक के साथ सलग्न हुए काचकामलादि दोष रूप पदार्थ को छूती हैं और उन्हे प्रकाशित करती है, ऐसा मानना होगा ? फिर तो आख मे लगे हुए अजन आदि की प्रत्यक्ष से ही प्रतीति हो जावेगी ? अतः अन्य व्यक्तिको पूछने की जरूरत नहीं होगी कि मेरी आखो मे काजल ठीक २ लग गया है क्या ? एव लगे हुए अजन आदि को देखने के लिये दर्पण आदि को लेने की क्या आवश्यकता होगी, अर्थात् कुछ नहीं । किन्तु यह सब होता तो है, अतः किरणचक्षुका पदार्थ से सबध होना मानना युक्तियुक्त नहीं है ।

किञ्च—यदि वे किरणे गोलकचक्षु से निकलकर और पदार्थ के साथ सब-
धित होकर उस पदार्थ को प्रकाशित करती हैं तो फिर उस पदार्थ की तरफ जाती हुई उन भासुररूपवाली और उष्णस्पर्शवाली किरणो की उपलब्धि होनी चाहिये,
अर्थात् वे दिखनी चाहिये, किन्तु ऐसा तो होता नहीं है अतः दृश्य होकर भी उनकी उपलब्धि नहीं होने से उन किरणो का अभाव ही है ।

नैयायिक—वे किरणे अदृश्य है, क्योंकि इनमे रूप और स्पर्श की अनुद्भूति है ।

जैन—यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि जिसका रूप और स्पर्श दोनो ही अनुद्भूत [अप्रकट] हो ऐसा कोई भी तेजोद्रव्य उपलब्ध नहीं होता है, अर्थात् तेजोद्रव्य हो और वह अनुद्भूत रूप स्पर्शवाला हो ऐसी बात प्रतीति मे नहीं आती ।

नैयायिक—गरम जल और पिघले हुए स्वर्ण मे क्रमशः भासुररूप और उष्णस्पर्श की अनुद्भूति तेजोद्रव्य के रहते हुए भी प्रतीत होती है अर्थात् जलमे भासुर रूप अप्रकट है और स्वर्ण मे उष्णस्पर्श अप्रकट रहता है ।

रूपोष्णस्पर्शयोरनुद्भूतिप्रतीतिरस्तीत्यसम्यक्; उभयानुद्भूतेस्तत्राप्यप्रतिपत्तेः । दृष्टानुसारेण चादृष्टार्थकल्पना, अन्यथातिप्रसङ्गात् । तथाहि—रात्रौ दिनकरकराः सन्तोपि नोपलभ्यन्तेऽनुद्भूतरूपस्पर्शत्वाच्चक्षुरश्मिवत् । प्रयोगश्च—मार्जारादीना चक्षुषा रूपदर्शनं बाह्यालोकपूर्वकम् तत्त्वाद्दिवाऽस्मदादीनां तद्दर्शनवत् । ननु मार्जारादीना चाक्षुष तेजोस्ति, तत एव तत्सिद्धेः किं बाह्यालोककल्पनयेत्यन्यत्रापि समानम् । ननु यथा यद्दृश्यते तथा तत्कल्प्यते, दिवास्मदादीना चाक्षुष सौर्यं च तेजो विज्ञानकारण

जैन—यह कथन असत् है, क्योंकि दोनों की [भासुररूप और उष्णस्पर्शकी] अनुद्भूति जल और सुवर्ण में नहीं पायी जाती है । भावार्थ—यदि दोनों की दोनों पदार्थ में अनुद्भूति पायी जाती तो यह माना जा सकता है कि तेज सद्रव्य होने पर भी किरणों में इन दोनों की अनुद्भूति है अतः वे न दिखती है और न स्पर्श करने में आती है । परन्तु ऐसा है नहीं गरम जलमें उष्ण स्पर्श और सुवर्ण में भासुररूप पाया जाता है अतः इनका दृष्टात देना घटित नहीं होता ।

तथा दृष्ट पदार्थ के अनुसार ही अदृष्ट अर्थ की कल्पना होती है, ऐसा न माना जावे तो अतिप्रसंग होगा, इसका खुलासा करते हैं—कि दिनकर की किरणों रात्रि में है, फिर भी वे उपलब्ध नहीं होती हैं, क्योंकि उनका रूप और स्पर्श उस समय अप्रकट रहता है, जैसे नेत्र किरणों के होनेपर भी उनका रूप स्पर्श अप्रकट रहता है इनके सद्भाव का ख्यापक अनुमान इस प्रकार है—रात्रि में बिलाव आदि पशुओं के नेत्र द्वारा रूप का दर्शन होता है—अर्थात् उन्हें रूप दिखाई देता है उसका कारण बाहर का प्रकाश है, क्योंकि जो पदार्थ के रूप का दर्शन होता है वह ऐसे ही होता है जैसे कि हम लोगो को दिन में पदार्थों का देखना बाह्य प्रकाश पूर्वक होता है ? अतः इस प्रकार के अतिप्रसंग द्वारा रात्रि में सूर्य की किरणों का होना मानना पड़ेगा ।

नैयायिक—बिलाव आदि को जो रात्रि में दिखता है वह तेजोचक्षु द्वारा दिखता है क्योंकि उनके नेत्र तेजोद्रव्यरूप होते हैं, अतः उस तेज के प्रभाव से ही वे रात्रि में देखने का कार्य करते हैं, उनका वह देखना बाह्यालोकपूर्वक नहीं है । इसलिये उन्हें बाह्यप्रकाश की जरूरत नहीं पड़ती है ।

जैन—तो फिर हम मनुष्यादि को भी बाह्यप्रकाश की जरूरत नहीं होनी चाहिये, क्योंकि हमारी आंखें भी तेजोद्रव्यरूप हैं ?

दृश्यते तत्तथैव कल्प्यते, रात्री तु चाक्षुषमेव, अतस्तदेव तत्कारणं कल्प्यते । ननु किं मनुष्येषु नायनर-
श्मीना दर्शनमस्ति ? अथानुमेयास्ते, तर्हि रात्री सौर्यरश्मयोप्यनुमेयाः सन्तु । न च रात्री तत्सद्भावे
नक्तञ्चराणामिव मनुष्याणामपि रूपदर्शनप्रसङ्गः ; विचित्रशक्तित्वाद्भावानाम् । कथमन्यथोलूकादयो
दिवा न पश्यन्ति ? यथा चात्रालोकः प्रतिबन्धकः, तथान्यत्र तमः । ततो यथानुपलम्भान्न सन्ति रात्री
भास्करकरास्तथान्यदा नायनकरा इति ।

एतेन 'दूरस्थितकुड्यादिप्रतिफलितानां प्रदीपरश्मीनामन्तराले सतामप्यनुपलम्भसम्भवात्

नैयायिक—जैसा देखा जाता है वैसा माना है, दिन में हम लोगों को वाह्य-
पदार्थ के ज्ञान का कारण नेत्र सबधी तेज और सूर्य सबधी तेज दोनों ही होते हैं अतः
वे उसी तरह से माने जाते हैं, रात्रि में जो बिलाव आदि प्राणी देखने का कार्य करते
हैं उसमें तो चक्षु किरणों मात्र कारण है, अतः रात्रिमें उसी की कल्पना करते हैं सूर्य
किरणों की नहीं ।

जैन—क्या आपको मनुष्यों में नेत्र सबधी किरणें दिखाई देती हैं ?

नैयायिक—किरणें प्रत्यक्ष से तो दिखाई नहीं देती पर अनुमान से उनकी
सिद्धि होती है ।

जैन—तो फिर रात्रि में सूर्यकिरणों की भी अनुमान से सिद्धि कर लेनी
चाहिये ? यदि तुम कहो कि रात्रि में सूर्यकिरणें अनुमेय मानी जावे (उनका सद्भाव
स्वीकार किया जावे) तो नक्त चर बिलाव उल्लू आदि के समान हम मनुष्यों को भी
पदार्थ का रूप दिखाई देना चाहिये था ? सो उसका जवाब यह है कि पदार्थों की
शक्तियां विचित्र हुआ करती हैं, इसीलिये रात्रि में सूर्यकिरणें रहती हुई भी नक्त चरो
को तो ज्ञानका कारण होती है मनुष्यों को नहीं । यदि पदार्थों में विचित्र शक्तियां
नहीं हो तो दिन में उल्लू आदि को क्यों नहीं दिखता ? जिस प्रकार उल्लू आदि को
दिन में देखने में बाधक प्रकाश है, उसी प्रकार रात्रि में मनुष्यों को देखने में बाधक
अंधकार है । इस सब कथन से यह निश्चित हुआ कि जिस प्रकार उपलब्धि नहीं होने
से रात्रि में सूर्य किरण नहीं है उसी प्रकार नेत्र की किरणें दिनरात दोनों में भी
उपलब्धि नहीं होने से नहीं है ऐसा ही मानना चाहिये । यहाँ नैयायिक ऐसा कहना
चाह्ये कि दूरवर्ती दिवाल आदि में प्रतिबिम्बित हुई दीपक की किरणें दीपक से लेकर
दिवाल तक के अन्तराल में रहती तो हैं फिर भी वे वहाँ उपलब्धि वही होती अतः

तैरनुपलम्भो व्यभिचारी; इत्यपि निरस्तम्, आदित्यरश्मीनामपि रात्रावभावासिद्धिप्रसङ्गात् ।

अथोच्यते—चक्षुः स्वरश्मिसम्बद्धार्थप्रकाशकम् तैजसत्वात्प्रदीपवत् । ननु किमनेन चक्षुषो रश्मयः साध्यन्ते, अन्यतः सिद्धानां तेषां ग्राह्यार्थसम्बन्धो वा ? प्रथमपक्षे पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा, नर-नारीनयनानां प्रभासुररश्मिरहितानां प्रत्यक्षतः प्रतीतिः । हेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्वम् । अथादृश्यत्वा-त्तेषां न प्रत्यक्षबाधा पक्षस्य । नन्वेव पृथिव्यादेरपि तत्सत्त्वप्रसङ्गः ; तथा हि—पृथिव्यादयो रश्मिवन्तः सत्त्वादिभ्यः प्रदीपवत् । यथैव हि तैजसत्वं रश्मिवत्तया व्याप्तं प्रदीपे प्रतिपन्नं तथा सत्त्वादिकमपि ।

अनुपलम्भ हेतुसे चक्षुः किरणो का अभाव सिद्ध होता है ऐसा कथन व्यभिचरित होता है, अर्थात् दीवाल और दीपक के अन्तराल में दीपक की किरणें होती हुई भी उपलब्ध नहीं होती वैसे पदार्थ की तरफ जाती हुई चक्षुः किरणें अन्तराल में उपलब्ध नहीं होती है ? सो यह कथन गलत है क्योंकि इस तरह के कथन से तो रात्रि में सूर्य की किरणों का भी अभाव नहीं मानने का प्रसंग प्राप्त होगा अर्थात् सूर्यकिरणों का रात्रि में भी सद्भाव है ऐसा मानना पड़ेगा ।

नैयायिक—“चक्षुः स्वरश्मिसम्बद्धार्थप्रकाशकम् तैजसत्वात् प्रदीपवत्” चक्षुः अपनी किरणों से संबद्ध हुए पदार्थ का प्रकाशन करती है क्योंकि वह तैजस है (तेजो-द्रव्य से बनी है) जैसा दीपक तेजोद्रव्यरूप है, अतः अपनी किरणों से संबद्ध हुए पदार्थ का प्रकाशन करता है ।

जैन—इस अनुमान के द्वारा आप क्या सिद्ध करना चाहते हो ? चक्षुः की किरणें सिद्ध करना चाहते हो या अन्य किसी प्रमाण से सिद्ध हुईं उव किरणों का संबंध ग्राह्यपदार्थ के साथ सिद्ध करना चाहते हो ? प्रथम पक्ष के अनुसार यदि आप चक्षुः की किरणें सिद्ध करना चाहो तो पक्ष में प्रत्यक्ष से बाधा आती है, क्योंकि स्त्री-पुरुषों के नेत्र भासुररश्मियों से (किरणों से) रहित ही प्रत्यक्ष से प्रतीति में आते हैं, अतः जब पक्ष ही प्रत्यक्ष से बाधित है तो उसमें प्रवृत्त हुआ जो हेतु (तैजसत्वं है) है वह कालात्ययापदिष्ट होता है, [जिस हेतुका पक्ष प्रत्यक्ष से बाधित होता है वह हेतु कालात्ययापदिष्ट कहलाता है] ।

नैयायिक—तयनकिरणो अदृश्य है, अतः पक्ष में (चक्षुः में) प्रत्यक्ष बाधा नहीं आती ?

अथ तेषा तत्साधने प्रत्यक्षविरोधः, सोऽन्यत्रापि समान इत्युक्तम् ।

ननु मार्जारादिचक्षुषोः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते रश्मयः तत्कथं तद्विरोधः ? यदि नाम तत्र प्रतीयन्तेऽन्यत्र किमायातम् ? अन्यथा हेमिन् पीतत्वप्रतीतौ पटादौ सुवर्णत्वसिद्धिप्रसङ्गः । प्रत्यक्षबाधनमुभयत्रापि ।

किञ्च, मार्जारादिचक्षुषोर्भासुररूपदर्शनादन्यत्रापि चक्षुषि तैजसत्वप्रसाधने गवादिलोचनयोः कृष्णत्वस्य नरनारीनिरीक्षणयोर्धावत्यस्य च प्रतीतेरविशेषेण पार्थिवत्वमाप्यत्व वा साध्यताम् । कथं

जैन—इस तरह अदृश्यता की युक्ति देकर चक्षु मे जबरदस्ती किरणे सिद्ध की जायेगी तो पृथिवी आदि मे भी किरणो का सद्भाव मानना होगा, देखो—पृथिवी आदि पदार्थ किरणयुक्त है क्योकि वे सत्त्व आदिरूप हैं, जैसे दीपक । इसीका खुलासा करते है—दीपकमे तैजसत्वकी किरणपनेके साथ जैसे व्याप्ति देखी जाती है वैसे सत्त्वादिके साथ भी व्याप्ति जाती है अतः ऐसा कह सकते है कि जहा सत्व है वहा किरणे भी है ? इसतरह पृथिवी आदिमे किरणोका सद्भाव सिद्ध होवेगा ।

नैयायिक—पृथिवी आदि मे किरणो को सिद्ध करने मे तो प्रत्यक्ष से विरोध आता है ?

जैन—तो ऐसा ही नेत्र में किरणों को सिद्ध करने मे प्रत्यक्षसे विरोध आता है ।

नैयायिक—बिलाव आदि के नयनों मे तो किरणे प्रत्यक्ष से प्रतीत होती हैं तो फिर उनका प्रत्यक्ष से विरोध कैसे हो सकता है ?

जैन—यदि बिलाव आदि के नयनो मे किरणे दिखती हैं तो इससे मनुष्यादि के नयनो मे क्या आया ? यदि वहां है तो मनुष्यादि के नयनो मे भी होना चाहिये, ऐसी बात तो नही । यदि अन्यत्र देखी गई बात दूसरी जगह भी सिद्ध की जाय तो सुवर्ण मे प्रतीत हुआ पीलापन वस्त्र आदि मे भी सुवर्णत्व की सिद्धि का प्रसंग कारक होगा । प्रत्यक्ष बाधा की बात कहो तो वह दोनो मे समान ही है, अर्थात् सुवर्ण का पीलापन देख वस्त्र मे कोई सुवर्णत्व की सिद्धि करे तो वह प्रत्यक्ष से बाधित है । वैसे ही बिलाव, उल्लू, शेर आदि की आंखो मे किरणो को देखकर उन्हें मनुष्यो के नेत्रो मे भी सिद्ध करो तो यह भी प्रत्यक्ष से बाधित है । यदि बिलाव उल्लू आदि के

च प्रभासुरप्रभारहितनयनाना तैजसत्व सिद्ध यतः सिद्धो हेतुः ? किमत एवानुमानात्, तदन्तराद्वा ?
आद्यविकल्पेऽन्योन्याश्रय -सिद्धे हि तेषा रश्मिवत्त्वे तैजसत्वसिद्धि , ततश्च तत्सिद्धिरिति ।

अथ 'चक्षुस्तैजस रूपादीना मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्' इत्यनुमानान्तरात्तत्सिद्धिः;
न, अत्रापि गोलकस्य भासुररूपोष्णस्पर्शरहितस्य तैजसत्वसाधने पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा, 'न तैजस चक्षुः
तमप्रकाशकत्वात्, यत्पुनस्तैजस तन्न तमःप्रकाशक यथालोकः' इत्यनुमानबाधा च । प्रसाधयिष्यते च
'तमोवत्' इत्यत्र तमसः सत्त्वम् । प्रदीपवत्तैजसत्वे चास्यालोकापेक्षा न स्यादुष्णस्पर्शादितयोपलम्भश्च

नेत्रों में भासुररूप देखकर मनुष्यादि के नेत्र में भी तैजसत्व सिद्ध करते हो तो गाय
आदि के नेत्र में कालेपन की और स्त्री पुरुषों के नेत्रों में धवलपने की प्रतीति द्वारा
सामान्यतः सभी के नेत्रोंमें पार्थिवपना या जातीयपना भी सिद्ध करना चाहिये ? आप
प्रभाभासुर रहित नेत्रों में तैजसपना किस प्रकार सिद्ध करते हैं कि जिससे तैजसत्व
हेतु सिद्ध माना जाय, क्या तैजसत्व हेतुवाले इसी अनुमान से तैजसत्व हेतु को सिद्ध
करते हैं कि किसी अन्य अनुमान से ? यदि इसी तैजसत्व हेतुवाले अनुमानसे सिद्ध
करते हैं तो अन्योन्याश्रय दोष आता है क्योंकि मनुष्योंके नेत्रों में किरणपना सिद्ध हो
तब तो तैजसत्व हेतु की सिद्धि हो और तैजसत्व हेतु की सिद्धि होने पर नेत्रों में
किरणपना सिद्ध हो, इस तरह एक की सिद्धि एक के आधीन होने से अन्योन्याश्रय
दोष स्पष्ट है ।

नैयायिक—चक्षु में तैजसत्व अनुमानान्तर से सिद्ध करते हैं, वह इस प्रकार
से है—“चक्षु तैजस है क्योंकि वह रूप रस आदि गुणों में से मात्र एक रूप को ही
प्रकाशित करती है, जैसे दीपक रूपादि किरणों में से एक रूपको प्रकाशित करने से
तैजस माना जाता है ।

जैन—यह अनुमान भी ठीक नहीं है, आप यहाँ भासुररूप और उष्णस्पर्श
रहित गोलक को पक्ष बनाकर उसमें तैजसत्व की सिद्धि करते हो तो उसमें प्रत्यक्ष
बाधा आती है । तथा चक्षु तैजस नहीं है क्योंकि वह अन्धकार को प्रकाशित करती है,
जो तैजस होता है वह अन्धकार का प्रकाशक नहीं होता, जैसा कि आलोक, इस अनु-
मान प्रमाण से भी पक्ष और हेतु में बाधा आती है । यदि कहा जाय कि अन्धकार तो
प्रकाशाभावरूप है वह स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है तो हम आपको आगे सिद्ध करके बतायेगे
कि अन्धकार भी प्रकाश के समान वास्तविक सत्त्व युक्त एक स्वतन्त्र पदार्थ है । यदि

स्यात्, न चैवम्, तदपेक्षतया मनुष्यपारावतबलीवर्दादीना धवललोहितकालरूपतयानुष्णस्पर्शस्व-
भावतया चास्योपलम्भात् । तन्न गोलक चक्षुः ।

नाप्यन्यत्, तद्ग्राहकप्रमाणाभावेनाश्रयासिद्धत्वप्रसङ्गाद्धेतोः । 'रूपादीना मध्ये रूपस्यैव
प्रकाशकत्वात्' इति हेतुश्च जलाञ्जनचन्द्रमाणिक्यादिभिरनैकान्तिकः । तेषामपि पक्षीकरणे पक्षस्य
प्रत्यक्षबाधा, सर्वो हेतुरव्यभिचारी च स्यात् । न च जलाद्यन्तर्गत तेजोद्रव्यमेव रूपप्रकाशकमित्यभि-
घातव्यम्; सर्वत्र दृष्टहेतुवैफल्यापत्तेः । तथा च दृष्टान्तासिद्धि, प्रदीपादावप्यन्यस्यैव तत्प्रकाशकस्य

दीपक के समान नैत्र तैजस है तो उन्हे प्रकाश की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये और
उष्णस्पर्श आदि रूप से उनकी उपलब्धि होनी चाहिये थी, किन्तु उनमें ऐसा कुछ भी
उपलब्ध नहीं होता, मनुष्य कबूतर बैल आदि प्राणियों को तो पदार्थ को देखने के
लिये प्रकाश की आवश्यकता पडती है, तथा उनकी आखे धवल, कृष्ण, अनुष्णस्पर्श-
स्वभाववाली उपलब्ध होती है । अतः उस गोलकचक्षुको धर्मी बनाकर उसमें तैजसत्व
सिद्ध करना शक्य नहीं है ।

यदि रश्मिरूप चक्षुको पक्ष बनावे तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आपके
उस रश्मि चक्षुको ग्रहण करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है, अतः हेतु आश्रयासिद्ध होगा
[जिस हेतुका आश्रय असिद्ध हो उसे आश्रयासिद्ध कहते हैं] रूपादि में से एकरूप
को ही प्रकाशित करता है ऐसा जो आपने हेतु दिया है वह जल, अजन, चन्द्रमा,
माणिक्यरत्न और काच आदि के साथ अनैकान्तिक हो जाता है, क्योंकि जलादि पदार्थ
तैजस न होकर भी केवल रूप को ही प्रकाशित करते हैं । यदि कहा जाय कि हम
जलादिक को भी पक्ष के अन्तर्गत ही मानेंगे तो पक्ष प्रत्यक्ष से बाधित होता है, तथा
इस तरह तो कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं हो सकेगा, सभी हेतु अव्यभिचारी होंगे ।
यदि नैयायिक की ऐसी मान्यता हो कि जल, अजन, रत्न आदि में तेजोद्रव्य रहता है
और वही रूपको प्रकाशित करता है सो वह भी नहीं बनता, क्योंकि इस तरह मानने
पर तो अपने २ कार्योके प्रति जो साक्षात् कारण देखे जाते हैं वे सब व्यर्थ कहलावेंगे ।
[मतलब—जिस कारण से जो कार्य उत्पन्न होता हुआ प्रत्यक्ष से देखने में आता है वह
इस मान्यता के अनुसार कारण नहीं माना जाकर और कोई दूसरा कारण मानना
पड़ेगा क्योंकि जल आदि में रूप का प्रकाशन जल से ही हो रहा है तो भी उसको
कारण न मानकर तेजोद्रव्य को कारण माना जा रहा है] तथा इस प्रकार मानने

कल्पनाप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षबाधनमुभयत्र । निराकरिष्यते च “नार्थालोकौ कारणम्” [परी० २।६] इत्यत्रालोकस्य रूपप्रकाशकत्वम् ।

किञ्च, रूपप्रकाशकत्व तत्र ज्ञानजनकत्वम् । तच्च कारणविषयवादिनो घटादिरूपस्याप्य-

में और भी एक आपत्ति यह आवेगी कि दृष्टांत असिद्ध हो जावेगा, अर्थात् जब जल आदि में रूप प्रकाशन करनेवाला जल से न्यारा कोई दूसरा पदार्थ है तो इसी तरह से दीपक में भी अपने रूपको प्रकाशन करनेवाला कोई न्यारा पदार्थ ही होगा, ऐसी कोई कल्पना कर सकता है, तुम कहो कि दीपक में अन्य कोई पदार्थ उसके रूप को प्रकाशित करनेवाला है ऐसा माना जाय तो प्रत्यक्ष से बाधा आती है ? तो फिर जल में अन्य कोई रूपको प्रकाशित करने वाला है ऐसी मान्यता में भी तो प्रत्यक्ष से बाधा आती है । तथा आपका (नैयायिक का) जो यह हठाग्रह है कि रश्मिरूप प्रकाश ही रूप को प्रकाशित करता है सो हम इसका आगे इसी परिच्छेद के “नार्थालोकौ कारण” इत्यादि ६वे सूत्र की टीका में निराकरण करनेवाले हैं ।

किञ्च—तैजस चक्षु या जल में रहने वाला जो तेजोद्रव्य रूप को प्रकाशित करता है ऐसा आप (नैयायिक) मान रहे हैं सो रूप प्रकाशकत्व का अर्थ होता है उस पदार्थ के रूपका ज्ञान उत्पन्न करना । सो कारण विषयवादी [जो कारण ज्ञानको पैदा करता है वही उस ज्ञानका विषय होता है ऐसा मानने वाले] आपके यहां रूप प्रकाशकत्व हेतु, घट आदि के साथ व्यभिचरित हो जाता है, क्योंकि जो रूपप्रकाशक होता है वह तैजस होता है सो ऐसा घट आदि में नहीं है, घटादि पदार्थ [घटादि का रूप] रूप प्रकाशक तो है [रूपज्ञान को पैदा तो कर देता है] पर वह तैजस नहीं है, अतः “रूप प्रकाशकत्वात्” यह हेतु साध्याभाव में भी रहने के कारण व्यभिचारी हो जाता है ।

नैयायिक—उस रूपप्रकाशकत्व हेतु में एक “करणत्वे सति” ऐसा विशेषण जोड़ देने पर वह व्यभिचरित नहीं होगा, अर्थात् तैजस चक्षु है क्योंकि करण होकर वह रूप आदि में से एकरूप का ही प्रकाशन करता है” इस अनुमान से व्यभिचार का निवारण हो जावेगा ?

जैन—यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि इसमें भी प्रकाश और पदार्थ के सन्निकर्ष के साथ और चक्षु तथा रूप के सयुक्त समवाय संबन्ध के साथ यह करण विशेषण युक्त रूप प्रकाशकत्व हेतु अनैकान्तिक होता है ।

स्तीत्यनेन हेतोर्व्यभिचारः । 'करणत्वे सति' इति विशेषणेष्यालोकार्थसन्निकर्षेण चक्षुरूपयोः सयुक्त-
समवायसम्बन्धेन चानेकान्तः । 'द्रव्यत्वे करणत्वे च सति तत्प्रकाशकत्वात्' इति विशेषणेपि
चन्द्रादिनानेकान्तः ।

किञ्च, द्रव्य रूपप्रकाशक भासुररूपम्, अभासुररूप वा ? प्रथमपक्षे उष्णोदकससृष्टमपि तत्
तत्प्रकाशक स्यात् । अनुद्भूतरूपत्वाच्चेति चेत्, नायनरश्मीनामप्यत एव तन्माभूत् । तथा दृष्टत्वादि-

विशेषार्थ—नैयायिक सन्निकर्ष और सयुक्त समवायादि को ज्ञान का कारण मानते हैं । ये सन्निकर्षप्रमाणवादी हैं, सो जो ज्ञान का करण हो वह तैजस ही ऐसा तो रहा नहीं, सन्निकर्ष और सयुक्त समवाय सबध ये ज्ञान में करण रूप तो पडते हैं पर वे तैजसरूप नहीं हैं । अतः "करणत्वे सति रूप प्रकाशकत्वात्" यह सविशेषण हेतु व्यभिचरित हो जाता है ।

नैयायिक—सविशेषण हेतु को जो आपने व्यभिचरित प्रकट किया है सो उस व्यभिचार का निवारण "द्रव्यत्वे करणत्वे च सति तैजसत्वात्" इतना और विशेषण लगाकर हो जाता है, क्योंकि सन्निकर्षादिक गुण है, द्रव्य नहीं, अतः चक्षु तैजस है, क्योंकि करण और द्रव्य होता हुआ वह रूप आदि में से एक रूप का ही प्रकाशन करता है, इस तरह से सुधारा गया यह तैजसत्व हेतु सन्निकर्ष के साथ व्यभिचारी नहीं होगा ।

जैन—सो ऐसा मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस मान्यता के अनुसार हेतु चन्द्र आदि के साथ अनैकान्तिक हो जाता है, चन्द्रमा में करणत्व और द्रव्यत्व दोनों विशेषण हैं और वह रूपादि में से एक रूप मात्र का ही प्रकाशन करता है फिर भी चन्द्र तैजस नहीं है, अतः जो करण एवं द्रव्य होकर रूप का प्रकाशन करने वाला हो वह तैजस ही होगा ऐसा कहा गया हेतु भी अनैकान्तिक दोष युक्त ठहरता है ।

किञ्च—आप नैयायिक का कहना है कि तेजोद्रव्य रूप को प्रकाशित करता है, सो कौनसा तेजोद्रव्य रूप को प्रकाशित करता है ? भासुररूपवाला तेजोद्रव्य कि अभासुररूपवाला तेजोद्रव्य ? प्रथमपक्ष—भासुररूपवाला तेजोद्रव्य रूप को प्रकाशित करता है ऐसा कहो तो गर्म जल में मिला हुआ तेजोद्रव्य भी रूप को प्रकाशित करने वाला होना चाहिये ?

त्यप्यनुत्तरम्; सशयात्, न हि तत्र निश्चयोस्ति ते तत्प्रकाशका न गोलकमिति । अनुद्भूतरूपस्य तेजो-
द्रव्यस्य दृष्टान्तेपि रूपप्रकाशकत्वाप्रतीते । तथाच, न चक्षू रूपप्रकाशकमनुद्भूतरूपत्वाज्जलसयुक्ता-
नलवत् । द्वितीयपक्षेपि उष्णोदकतेजोरूप तत्प्रकाशक स्यात् । न हि तत्तत्र नष्टम्, 'अनुद्भूतम्' इत्य-
भ्युपगमात् । उद्भूत तत्तत्प्रकाशकमित्यभ्युपगमे रूपप्रकाशस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायी तस्यैव कार्यो

नैयायिक—गर्म जल मे मिले हुए तेजोद्रव्य का भासुरूप अनुद्भूत है, अतः वह रूप को प्रकाशित नहीं करता है ।

जैन—इसी प्रकार नेत्र की किरणों का तेजोद्रव्य भी अनुद्भूत भासुरूप वाला है, अतः वह भी रूप को प्रकाशित करने वाला नहीं होना चाहिये ।

नैयायिक—नेत्र का तेजो द्रव्य अनुद्भूत भासुरूप वाला होता हुआ भी रूप को प्रकाशित करने वाला प्रतीत हो रहा है, अतः उसमें तो रूप प्रकाशकत्व है ही ।

जैन—इस विषयमें सशय है, क्योंकि अभी तक यह निश्चित नहीं हो सका है कि किरण चक्षु ही रूप का प्रकाशक करती है, गोलक चक्षु नहीं । तथा आपने अनुमान को प्रस्तुत करते समय दीपक का दृष्टान्त दिया है सो उस दृष्टान्त में यह बात नहीं है कि वह अनुद्भूतरूप वाला तेजोद्रव्य से निर्मित होकर रूप का प्रकाशन करता हो । फिर तो ऐसा अनुमान प्रयोग होगा कि चक्षु रूपका प्रकाशन नहीं करती, क्योंकि वह अनुद्भूतरूप वाली है, जैसे जलमें स्थित अग्नि । दूसरा पक्ष खानो तो उष्णजलमें स्थित तेज का जो रूप है वह रूपका प्रकाशक है ऐसा स्वीकार करना होगा ।

वहा पर उस तेजस का रूप नष्ट हो गया हो सो भी बात नहीं है, क्योंकि उष्ण जल में तेजसका रूप अनुद्भूत है ऐसा आपने माना है । जिसमें भासुरूप उद्भूत रहता है वह तेजोद्रव्य रूपको प्रकाशित करता है ऐसा स्वीकार करो तो उद्भूत तेजोरूप ही रूप प्रकाशन का कर्त्ता सिद्ध होगा, क्योंकि उसी के साथ रूपप्रकाशन कार्य का अन्वय व्यतिरेक सिद्ध होता है, तेजोद्रव्य के साथ नहीं । जैसे-देवदत्त के निकट पशु, बालक या स्त्री आदि आते हैं तो उसमें हेतु देवदत्त के गुण मत्र आदि है, उसी गुण के साथ पशु, स्त्री आदि के आगमन का अन्वय व्यतिरेक बनता है, अतः वह देवदत्त के गुणका कार्य है, न कि देवदत्त का । इस प्रकार सिद्ध होनेपर "चक्षुस्तैजसं द्रव्यत्वे कारणत्वे च सति रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्" अनुमान के हेतु का

न द्रव्यस्य । न खलु देवदत्त प्रति पश्वादीनामागमन तद्गुणान्वयव्यतिरेकानुविधायि देवदत्तस्य कार्यम् । ततो 'द्रव्यत्वे सति' इति विशेषणासिद्धिः ।

किञ्च, सम्बन्धादेरिवाऽतैजसस्यापि द्रव्यरूपकरणस्य कस्यचिद्रूपज्ञानजनकत्व किन्न स्यात्, विपक्षव्यावृत्ते सन्दिग्धत्वादतैजसत्वे रूपज्ञानजनकत्वस्याविरोधात् ? तदेव तैजसत्वासिद्धेर्नतिश्चक्षुषोरश्मिवत्त्वसिद्धिः ।

अथान्यतः सिद्धाना रश्मीना ग्राह्यार्थसम्बन्धोनेन साध्यते, न, अन्यत कुतश्चित्तेषामसिद्धेः, प्रत्यक्षादेस्तत्साधकत्वेन प्राक्प्रतिषिद्धत्वात् । तथा चेदमयुक्तम्—“धतूरकपुष्पवदादौ सूक्ष्माणामप्यन्ते महत्त्व तद्रश्मीना महापर्वतादिप्रकाशकत्वान्यथानुपपत्ते ।” [] इति, स्वरूपतोऽसिद्धाना

विशेषण “द्रव्यत्वे सति” जो दिया है वह असिद्ध होता है [मतलब—तेजोद्रव्य रूप का प्रकाशक नहीं रहा, उसका प्रकाशक तो तेजोद्रव्य का गुण ही रहा] नैयायिक सन्निकर्ष, समवाय आदि को भी ज्ञान का करण मानते हैं, सो सन्निकर्ष समवाय आदि अतैजस है, जैसे ये अतैजस होकर भी रूप प्रकाशन का करण हैं वैसे कोई द्रव्य रूप करण [गोलकादि] अतैजस होकर भी रूपज्ञानका जनक होवे तो इसमें क्या बाधा है ? कुछ भी नहीं । इसप्रकार “तैजसत्वात्” हेतुका विपक्षसे व्यावृत्त होना सदेहास्पद है, क्योंकि अतैजस पदार्थ भी रूपज्ञानके जनक होते हुए देखे जाते हैं, अतैजसमें रूपज्ञानजनकत्वका कोई विरोध नहीं है, इस तरह तैजसत्व हेतु सदिग्धासिद्ध होनेके कारण उस हेतु द्वारा चक्षुकी किरणे सिद्ध करना अशक्य है ।

द्वितीयपक्ष—अन्य प्रमाणसे सिद्ध हुए चक्षु किरणों में तैजसत्वहेतु द्वारा ग्राह्यार्थ संबंध [रूपको छूकर जानना] सिद्ध किया जाता है ऐसा कहना भी अशक्य है, क्योंकि अन्य किसी प्रमाणसे चक्षु किरणे सिद्ध नहीं होती, प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण चक्षु किरणों के प्रसाधक नहीं हो सकते ऐसा हम निश्चित कर आये हैं । चक्षु किरणों का अस्तित्व सिद्ध नहीं होनेके कारण नैयायिकका निम्न लिखित कथन अयुक्त होता है कि “धतूरे के पुष्पके सस्थान के समान चक्षु किरणे शुरूमें सूक्ष्म आकार होकर अतमें विस्तृत हो जाती हैं, क्योंकि महान पर्वत आदि का प्रकाशन अन्यथा हो नहीं सकता था” इत्यादि, सो जब इन चक्षु किरणोंका स्वरूप ही असिद्ध है तब उनके विस्तृतत्व आदि धर्मोंका व्यावर्णन करना श्रद्धामात्र है । इसप्रकार किरणरूप चक्षु सिद्ध नहीं है और गोलक चक्षु में प्राप्यकारिता प्रत्यक्षबाधित है सो अब नैयायिक किस चक्षु में प्राप्तार्थप्रकाशकत्व सिद्ध करते हैं ?

तेषां महत्वादिधर्मस्य श्रद्धामात्रगम्यत्वात् । ततो रश्मिरूपचक्षुषोऽप्रसिद्धेर्गोलकस्य च प्राप्यकारित्वे प्रत्यक्षवाधितत्वात्कस्य प्राप्तार्थप्रकाशकत्व साध्येत ? यदि च स्पर्शनादौ प्राप्यकारित्वोपलम्भाच्चक्षुषि तत्साध्येत, तर्हि हस्तादीना प्राप्नानामेवान्याकर्णकत्वोपलम्भादयस्कान्तादीना तथा लोहाकर्णकत्व किन्न साध्येत ? प्रमाणवाधान्यत्रापि ।

अथार्थेन चक्षुषोऽसम्बन्धे कथं तत्र ज्ञानोदयः ? क एवमाह—‘तत्र ज्ञानोदय ’ इति ? आत्मनि ज्ञानोदयाभ्युपगमात् । न चाप्राप्यकारित्वे चक्षुषः सकृत्सर्वार्थप्रकाशकत्वप्रसङ्गः, प्रतिनियतशक्तित्वा-

नैयायिक—स्पर्शनादिरूप इन्द्रियो में प्राप्यकारित्व देखा जाता है अतः चक्षु में भी इन्द्रियत्व होने से प्राप्यकारित्व सिद्ध करते हैं ।

जैन—तो फिर हस्त आदि में प्राप्त होकर अन्य पदार्थों का धरना उठाना एवं खींचना आदि कार्य होता हुआ देखकर चुंबक पाषाण में भी लोहेको उठाना खींचनादि कार्य प्राप्त होकर होता है ऐसा क्यों न सिद्ध किया जाय ? तुम कहो कि चुंबक छूकर लोहे को खींचता है ऐसा मानने में प्रत्यक्ष से बाधा आती है, तो वैसे ही चक्षु में प्राप्यकारित्व मानने में प्रत्यक्ष बाधा आती है, प्रत्यक्ष बाधा तो दोनों में समान है ।

नैयायिक—यदि पदार्थ के साथ चक्षु का संबंध न माना जाय तो वहां ज्ञान का उदय कैसे होगा ?

जैन—वहा पर ज्ञानका उदय होता है ऐसा कौन कहता है हम जैन तो आत्मा में पदार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा स्वीकार करते हैं । यदि कोई ऐसी शंका करे कि चक्षु को अप्राप्यकारी माना जाय तो उसके द्वारा एक साथ सब पदार्थों का ज्ञान होने का प्रसंग आवेगा ? सो ऐसी शंका करना बेकार है, क्योंकि पदार्थों में प्रतिनियत शक्तियां हुआ करती हैं, जो पदार्थ जहा पर जिस कार्य के करने में योग्य होता है वही उस कार्य को किया करता है यह बात अभी आगे कहने वाले हैं । आप कार्य कारण में अत्यन्त भेद मानते हैं, उस स्थिति में आपसे कोई यदि ऐसा प्रश्न करे कि जब “कार्य और कारण अत्यन्त भिन्न होते हैं तब कोई भी विवक्षित कार्य जैसे अपने कारण से भिन्न है वैसे अन्य सभी कारणों से भी भिन्न है; अतः सभी कार्य एक ही कारण से क्यों नहीं होवेगे ? अथवा चक्षु से किरण निकल कर फैलती हैं तो लोक के अन्ततक वे क्यों नहीं फैलती हैं” । तो ऐसे प्रश्न का उत्तर आपको भी यही देना होगा

द्वावानाम् । 'य एव यत्र योग्य स एव तत्करोति' इत्यनन्तरमेव वक्ष्यते । कार्यकारणयोरत्यन्तभेदेऽर्थान्तरत्वाविशेषात् 'सर्वमेकस्मात्कुतो न जायेत' इति, 'रक्षमयो वा लोकान्त कुतो न गच्छन्ति' इति चोद्ये भवतोपि योग्यतैव शरणम् ।

किञ्च, चक्षु रूप प्रकाशयति सयुक्तसमवायसम्बन्धात्, स चास्य गन्धादावपि समान इति तमपि प्रकाशयेत् । तथा चेन्द्रियान्तरवैयर्थ्यम् । योग्यताऽभावात्तत्प्रकाशने सर्वत्र सैवास्तु, किमन्तर्गुणा सम्बन्धेन ? यदि चायमेकान्तश्चक्षुषा सम्बद्धस्यैव ग्रहणमिति; कथं तर्हि स्फटिकाद्यन्तरितार्थ-

कि उनमे ऐसी ही योग्यता है दूसरी बात यह है कि सयुक्त समवाय सबध से चक्षु रूप को प्रकाशित करती है ऐसा नैयायिक कहते हैं सो जैसे चक्षुका रूपके साथ सबध है वैसे गन्ध आदिके साथ भी है इसलिये चक्षुको गन्धादिका भी प्रकाशन करना चाहिये ? इस तरह चक्षु द्वारा गन्धादि सब विषयोका प्रकाशन हो जानेपर अन्य इन्द्रियोको मानना व्यर्थ ही ठहरेगा ।

नैयायिक—गन्धादिको प्रकाशित करनेकी चक्षु मे योग्यता नहीं है, अत उनका प्रकाशन नहीं कर सकती ।

जैन—बस ! फिर सर्वत्र उसी योग्यताको ही स्वीकार करना चाहिये, अत-गंडु सदृश [अन्दरका फोडा-केन्सरादि] इस सन्निकर्ष संबधसे क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं । चक्षु पदार्थ का सबध करके ही ग्रहण करती है ऐसा एकात माना जाय तो वह स्फटिक, काच आदिसे अतरित पदार्थका ग्रहण किसप्रकार कर सकेगी ? क्योंकि उस पदार्थ को ग्रहण करने के लिए जाती हुई चक्षुकी किरणोका स्फटिकादि अवयवी से प्रतिबध होगा ?

नैयायिक—चक्षु किरणो द्वारा स्फटिकादि अवयवीका नाश हो जाता है अर्थात् चक्षु किरणे उन स्फटिकादिको नष्ट करके अदर जाकर पदार्थका ग्रहण कर लेती है अत प्रतिबंध नहीं होता है ।

जैन—ऐसी बात है तो स्फटिकादिसे अतरित जो पदार्थ था उसको देखते समय स्फटिकादिकी उपलब्धि नहीं होनी चाहिये ? तथा उस स्फटिकादिके ऊपर रखे हुए पदार्थ गिर जाने चाहिये, ? क्योंकि उनके आधारभूत स्फटिकादि अवयवीका नाश हो चुका है ? स्फटिकादि अवयवीके नष्ट होनेपर उसके बिखरे हुए परमाणु तो उस

ग्रहणम् । तद्रश्मीना तं प्रति गच्छता स्फटिकाद्यवयविना प्रतिबन्धात् । तैस्तस्य नाशितत्वाददोषे तद्व्यवहितार्थोपलम्भसमये स्फटिकादेरुपलम्भो न स्यात् । तस्योपरि स्थितद्रव्यस्य च पातप्रसक्ति-
आधारभूतस्यावयविनो नाशात् । न हि परमाणवो दृश्याः कस्यचिदाधारा वा, अवयविकल्पनानर्थक्य-
प्रसङ्गात् । अवयव्यन्तरस्योत्पत्तेरदोषे तदा तद्व्यवहितार्थानुपलम्भप्रसङ्गः । न चैवम्, युगपत्तयोर्निर-
न्तरमुपलम्भात् । अथाशु व्यूहान्तरोत्पत्तेरनन्तरस्फटिकादिविभ्रम ; तदभावस्याप्याशु प्रवृत्ते रभाव-
विभ्रम किन्न स्यात् ? भावपक्षस्य बलीयस्त्वमित्ययुक्तम् ; भावाभावयोः परस्पर स्वकार्यकरणं
प्रत्यविशेषात् ।

पदार्थको आधार दे नहीं सकते न वे दिखाई देने योग्य है, यदि परमाणु दृश्य और
आधारभूत माने जायेगे तो अवयवीकी कल्पना करना व्यर्थ ठहरता है ।

नैयायिक—चक्षु किरणों द्वारा उस अवयवीके नष्ट होते ही अन्य अवयवी
उत्पन्न हो जाता है अतः उपर्युक्त कहे हुए दोष नहीं आते है ।

जैन—ऐसा कहोगे तो उस नवीन उत्पन्न हुए स्फटिकादि अवयवी से अतरित
हो जाने के कारण पदार्थ की उपलब्धि नहीं हो सकेगी, किन्तु ऐसा होता नहीं है,
क्योंकि एक साथ ही स्फटिक और पदार्थ दोनों ही सतत् उपलब्ध होते है ।

नैयायिक—प्रथम स्फटिकादि के नष्ट होते ही उसी क्षण अतिशीघ्रता से
दूसरे स्फटिकादिकी—उत्पत्ति हो जाती है, अतः सततरूप से स्फटिकादि की उपलब्धि
का भ्रम हो जाया करता है ?

जैन—तो फिर उस स्फटिक आदि अवयवीसे निर्मित डब्बी का शीघ्र अभाव
होने से अभाव की कल्पना को ही भ्रम रूप क्यो न माना जाय ।

नैयायिक—अभाव की अपेक्षा भाव बलवान् होता है, अत स्फटिक आदि
का अभाव ग्रहण में नहीं आकर स्फटिक आदि का सद्भाव ही ग्रहण मे आता है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, क्योकि भाव और अभाव दोनो ही समानरूप से
बलवान् है, अत. वे अपने २ कार्य को बराबर करते ही हैं ।

किञ्च—यदि नेत्ररश्मियां पदार्थ को छूकर जानती है और स्फटिक के अन्तर्गत
पदार्थ को आवरण करने वाले उस स्फटिक आदि का भेदन कर जान लेती हैं इत्यादि,
सिद्धात माना जाता है तो प्रश्न होता है कि मलिन जल मे रखे हुए पदार्थ को वे क्यो

कथं च समलजलान्तरितार्थस्योपलम्भो न स्यात् ? ये हि तद्रश्मय' कठिनमतितीक्ष्णलोहाऽभेद्य
स्फटिकादिकं भिन्दन्ति तेषां जलेऽतिद्रवस्वभावे काऽक्षमा ? अथ नीरेण नाशितत्वान्न ते तद्भिन्दन्ति,
तर्हि स्वच्छजलव्यवस्थितस्याप्यनुपलम्भप्रसङ्गः । योग्यताङ्गीकरणे सर्वं मुस्थम् । ततः प्रोक्तदोषपरि-
हारमिच्छता प्रतीतिभिद्मप्राप्यकारित्वं चक्षुषोऽभ्युपगन्तव्यम् ।

तथाहि—'चक्षुरप्राप्तार्थप्रकाशकमत्यासन्नार्थप्रकाशकत्वात्, यत्पुनः प्राप्तार्थप्रकाशकं तदत्यास-

नही जानती देखती ? जब वे चक्षुकिरणे कठोर-अतितीक्ष्ण लोहे से भी अभेद्य स्फटि-
कादिका भेदन कर सकती है तो अतिद्रव कोमल स्वभाववाले जल का भेदन करने
में कैसे असमर्थ हो सकती है ? यदि कहा जावे कि चक्षुकिरणे जल के द्वारा नष्ट हो
जाती है, अतः वे उसका भेदन नहीं कर पाती हैं, तो फिर उन किरणों के द्वारा
स्वच्छजल में स्थित पदार्थ का भी ग्रहण नहीं होना चाहिये, यदि कहा जाय कि
किरणों में ऐसी ही योग्यता है कि वे मँले जल में जाकर तो नष्ट हो जाती हैं और स्व-
च्छजलमें नष्ट नहीं होती हैं तो ऐसी योग्यता के अङ्गीकार करने पर तो सब बात ठीक
होगी । भावार्थ—अप्राप्यकारी होकर भी चक्षु अपनी योग्यता के बल से ही अपने योग्य
विषय को प्रकाशित करती है, सपूर्ण पदार्थों को नहीं, जिसके जानने देखने की उसमें
योग्यता होती है वह उसी रूपको देखती है अन्य को नहीं । इस तरह योग्यताको मानने
से सब बात ठीक हो जाती है, कोई दोष भी नहीं आता । इस प्रकार पूर्वोक्त दोषों को
(स्फटिक अतरित पदार्थको फोडकर उसे छूना और मँले जलको फोड वही सकना
इत्यादि को) दूर करना चाहते हैं तो चक्षु में प्रतीतिसिद्ध अप्राप्यकारित्व ही स्वीकार
करना चाहिये । अतः चक्षु पदार्थ को अप्राप्त होकर प्रकाशित करती है (प्रतिज्ञा)
क्योंकि वह अतिनिकटवर्ती पदार्थ को प्रकाशित नहीं करती है (हेतु), जो प्राप्त अर्थ
का प्रकाशक होता है वह अतिनिकटवर्ती पदार्थ का प्रकाशक देखा गया है जैसे कर्ण
आदि इन्द्रिया, चक्षु निकटवर्ती पदार्थ को प्रकाशित नहीं करती, अतः वह अप्राप्तार्थ
प्रकाशक ही है, इस प्रकार के अनुमान से चक्षु में अप्राप्यकारिता सिद्ध होती है । इस
अनुमान में दिया हुआ "अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्व हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि
काच, कामला [काचबिन्दु, पीलिया] आदि अत्यन्त निकटवर्ती वस्तुको चक्षु प्रकाशित
नहीं करती यह बात पहिले ही सिद्ध कर आये है ।

नैयायिक—यह अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्व हेतु साध्यसम होनेसे असिद्ध है,

ज्ञार्थप्रकाशक इष्टं यथा श्रोत्रादि, अत्यासन्नार्थप्रकाशक च चक्षुस्तस्मादप्राप्तार्थप्रकाशकम्' इति । न चायमसिद्धो हेतु ; काचकामलाद्यत्यासन्नार्थप्रकाशकत्वस्य चक्षुषि प्रागेव प्रसाधितत्वात् । ननु साध्या-
विशिष्टो हेतुः, 'पर्युदासप्रतिषेधे हि यदेवस्याप्राप्यकारित्व तदेवात्यासन्नार्थप्रकाशकत्वम्' इति । प्रसज्यप्रतिषेधस्तु जैनैर्नाभ्युपगम्यते अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्, इत्यप्यनुपपन्नम्; प्रसङ्गसाधनत्वादेतस्य । श्रोत्रादौ हि प्राप्यकारित्वात्यासन्नार्थप्रकाशकत्वयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ सत्या परस्य व्यापकाभावे-

क्योंकि इस हेतु का जो अवयव पद "अप्रकाशकत्वात्" है सो इसमें नकार "न प्रकाश-
कत्वं अप्रकाशकत्व" ऐसा नञ् समासरूप है, यह समास पर्युदास और प्रसज्यप्रतिषेध के
भेद से दो प्रकार का है, सो इस "न" को आप यदि पर्युदास रूप नञ् समास स्वीकार
करते हो तब जो मतलब अप्राप्यकारी इस साध्य पद का होता है वही अत्यासन्नार्थ-
अप्रकाशकत्व इस हेतु पद का होता है, सो यही साध्य के समान हेतु कहलाया और
यदि अप्रकाशकत्व में नकार का अर्थ प्रसज्यप्रतिषेध सर्वथा-निषेध करनेरूप लेते हो तो
जैन को यह इष्ट नहीं है, क्योंकि आप अभाव को तुच्छाभावरूप नहीं मानते हैं, यदि
मानेगे तो अपसिद्धान्त का प्रसंग प्राप्त होता है ।

जैन—यह सारा कथन अयुक्त है, यह हमारा अनुमान प्रसङ्ग साधन के लिये
है, इसी का विशेष विवेचन करते हैं—कर्ण आदि इन्द्रियो में प्राप्यकारित्व का और
अत्यासन्नार्थप्रकाशकत्व का व्याप्य-व्यापक भाव सिद्ध हो गया था, उसके सिद्ध होने
पर जो नैयायिक को इष्ट चक्षु में व्यापक का अभाव (अत्यासन्नार्थप्रकाशकत्व का
अभाव) करना इष्ट है सो उसके द्वारा अनिष्ट प्राप्यकारित्वरूप जो व्याप्य है उसका
अभाव भी सिद्ध कर देना, इस अनुमान का प्रयोजन है । अतः हेतुका साध्यसम होना
दोषास्पद नहीं है । तथा यह अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्व हेतु अनैकान्तिक और विरुद्ध
भी नहीं है क्योंकि यह हेतु विपक्षमें अथवा उसके एरुदेश में प्रवृत्त नहीं होता ।

भावार्थ—जैन का यह अनुमान प्रमाणका प्रयोग है कि "चक्षु अप्राप्तार्थप्रकाशक
अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्वात्" इस अनुमान में साध्य अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व है, उसका अर्थ
वस्तु को प्राप्त किये (छूये) विना-प्रकाशित करना [जानना] है, तथा हेतु अत्या-
सन्नार्थ अप्रकाशकत्व है इसका अर्थ निकटवर्ती पदार्थ को प्रकाशित नहीं कर सकना
ऐसा है, सो ये दोनों साध्यसाधन समान से हो जाते हैं, अतः नैयायिक ने हेतु को
साध्यसम कहा है, सो इस पर आचार्य कहते हैं कि हमने जो इस अनुमान का प्रदर्शन

ष्ट्याऽत्यासन्नार्थप्रकाशकत्वलक्षणयाऽनिष्टस्य प्राप्यकारित्वलक्षणव्याप्याभावस्यापादानमात्रमेवानेन विधीयते, इत्युक्तदोषाप्रसङ्गः । नाप्यनैकान्तिको विरुद्धो वा, विपक्षस्यैकदेशे तत्रैव वाऽस्याऽप्रवृत्ते ।

न च स्पर्शनेन प्राप्यकारिणाप्यत्यासन्नस्याभ्यन्तःशरीरावयवस्पर्शस्याप्रकाशनादनेकान्तः; अस्य तत्कारणत्वेन तदविषयत्वात् । स्वकारणव्यतिरिक्तो हि स्पर्शादि स्पर्शनादीन्द्रियाणां विषयः; तत्रैवाभिमुख्यसम्भवेनामीषा प्रकाशनयोग्यतोपपत्ते । कथमन्यथैकशरीरप्रदेशान्तरगतस्पर्शनेन तत्प्रदे-

किया है उसे आपको प्रसंग साधनरूप समझना चाहिये, प्रसंगसाधन का लक्षण “परेष्ट्याऽनिष्टापादन प्रसंगसाधनम्” अर्थात् परके इष्ट को लेकर उसी के द्वारा परका अनिष्ट सिद्ध करना । प्राप्यकारित्व और अत्यासन्नार्थप्रकाशकत्व ये दोनों ही कर्ण आदि इन्द्रियो मे पाये जाते है अर्थात् कर्ण आदि चार इन्द्रियां वस्तु को प्राप्त करके जानती है और अत्यासन्नार्थ को भी जानती है, इन दोनोंका व्याप्यव्यापकभाव कर्णादि इन्द्रियो मे देखा जाता है । जब चक्षु की बात आई तो नैयायिक ने प्राप्तार्थप्रकाशकरूप जो व्याप्य है उसे तो चक्षुमे माना पर इसका व्यापक जो अत्यासन्नार्थप्रकाशकत्व है उसे नहीं माना इसलिये आचार्य ने उनसे कहा कि यदि चक्षु मे अत्यासन्नार्थप्रकाशनता मानना अनिष्ट है तो प्राप्तार्थप्रकाशकत्व वहा नहीं रह सकेगा, क्योंकि व्यापक के अभाव मे उसके व्याप्य धर्म का भी अभाव देखा जाता है, जैसा वृक्षत्व के अभाव मे वटत्व का भी अभाव हो जाता है जब चक्षु मे अत्यासन्नार्थप्रकाशकत्व (अतिनिकटवर्ती नेत्राजनादि को प्रकाशित करना) नहीं पाया जाता है तब प्राप्तार्थप्रकाशनत्व रूप व्याप्य कैसे पाया जा सकता है ? इसप्रकार प्रसंग साधनद्वारा चक्षु मे अप्राप्यकारित्व सिद्ध किया गया है ।

नैयायिक—प्राप्यकारी स्पर्शनेन्द्रिय भी अतिनिकटवर्ती शरीरके अभ्यन्तर के अवयवोके स्पर्शका प्रकाशन नहीं कर पाती, अत जो प्राप्यकारी हो वह अति निकट के पदार्थ का प्रकाशन करता ही है ऐसा कहना अनैकान्तिक होता है ।

जैन—शरीरके अभ्यन्तरवर्ती अवयव स्पर्शनेन्द्रिय कारण है अत उसका प्रकाशन नहीं करती, स्पर्शनादि इन्द्रियोका स्पर्शादि जो विषय है वह उनके स्वकारणो से पृथक होता है, तभी तो उन विषयो की तरफ अभिमुख होकर इन्द्रिया उनका प्रकाशव क्रिया करती है । यदि ऐसी बात नहीं होती तो शरीरके एक प्रदेशमे हाने वाली स्पर्शनेन्द्रियद्वारा उसी शरीरके अन्य प्रदेश का स्पर्श किस प्रकार प्रकाशित किया जा सकता था ?

शान्तरगतः स्पर्शः प्रकाश्येत ? न च कामलादयोऽञ्जनादयो वा चक्षुष कारणेन तेषामप्यनेन न्यायेन प्रकाशनं न स्यात्, स्वसामग्रीतस्तत्सन्निधानात्प्रागेवास्योत्पन्नत्वात् । नापि कालात्ययापदिष्टोद्यम्; प्रत्यक्षस्य पक्षाबाधकत्वेन प्रागेव समर्थनात्, आगमस्य च तद्बाधकस्यासम्भवात् । नापि सत्प्रतिपक्षः; विपरीतार्थोपरथापकानुमानानां प्रागेव प्रतिध्वस्तत्वादिति । तथा, 'चक्षुर्गत्वा नाऽर्थेनाभिसम्बद्धचते इन्द्रियत्वात्स्पर्शनादीन्द्रियवत्' इत्यनुमानाच्चास्याप्राप्यकारित्वसिद्धिः । अर्थस्य च तद्देशागमने प्रत्यक्षविरोध इति ।

नैयायिक—जैसे स्पर्शनेन्द्रिय अपने अभ्यन्तरके अवयवके स्पर्श को प्रकाशित नहीं कर पाती वैसे ही चक्षुरिन्द्रिय अपने अभ्यन्तरके कामलादिदोष या नेत्राजनादिको प्रकाशित नहीं कर पाती है ?

जैन—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जैसे शरीर के अभ्यन्तरके अवयव स्पर्शनेन्द्रियके कारण है वैसे कामलादि चक्षुके कारण नहीं है, चक्षुरिन्द्रिय तो कामलादि के सन्निधिके होनेके पहले से ही अपने कारण कलाप द्वारा उत्पन्न हो चुकी है । इस प्रकार अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्व हेतु अनैकान्तिक दोषसे निर्मुक्त है ऐसा निश्चित हुआ । तथा यह हेतु कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है ।

क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण से इसके पक्ष में बाधा नहीं है, ऐसा हम पहिले ही समर्थन कर आये हैं । आगमप्रमाण तो इस पक्ष में बाधा देता ही नहीं है । तथा—यह हेतु सत्प्रतिपक्ष दोषवाला भी नहीं है, सत्प्रतिपक्ष दोष उसे कहते हैं कि जिस हेतु को या उसके साध्यको दूसरा प्रमाण विपरीत सिद्ध कर देवे सो ऐसे विपरीत अर्थ को उपस्थित करनेवाले जो भी "तैजस चक्षुः रूपादीना मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्राप्यकारि चक्षुः" इत्यादि अनुमान हैं, उनका हम जैनों ने पहिले ही अच्छी तरह से निरसन कर दिया है । अत्यासन्नार्थ अप्रकाशकत्व हेतुवाले अनुमान से जैसे चक्षु में अप्राप्यकारित्व सिद्ध होता है वैसे ही चक्षु जाकर पदार्थ के साथ सबद्ध नहीं होती, क्योंकि वह इन्द्रिय है, जैसे स्पर्शनादि इन्द्रियां जाकर पदार्थों के साथ सबद्ध नहीं होती है, इस अनुमान के द्वारा भी चक्षु में अप्राप्यकारित्व निश्चित होता है, इस तरह किरण चक्षु गोलक चक्षु से निकलकर पदार्थ के पास जाती है ऐसा नैयायिकका कहना निराकृत हुआ, इन्द्रिय प्रदेश के पास पदार्थ आते हैं ऐसा मानना तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है, इसलिये यह सिद्धांत अबाधित सिद्ध हुआ कि न इन्द्रियां पदार्थ के पास जाती हैं, और

न पदार्थ इन्द्रियोके पास आते है किन्तु दोनो यथा स्थान रहकर इन्द्रिय द्वारा पदार्थका ज्ञान हो जाया करता है । इसप्रकार नैयायिक का चक्षु सन्निकर्षवाद खडित होता है ।

* चक्षुसन्निकर्षवाद का प्रकरण समाप्त *



चक्षुसन्निकर्षवादके खण्डन का सारांश

नैयायिक इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष होकर ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा मानते है, स्पर्शनादि पाचो इन्द्रिया पदार्थ के साथ सयोग प्राप्त करती है, उन पदार्थों मे रूपादिगुणो का समवाय है, उनसे सबधित होकर उनका ज्ञान पैदा होता है, तथा मन आत्मासे सयोग करता है और आत्मा पदार्थ से सबधित है ही क्योकि वह व्यापक है, अत यहा भी सन्निकर्ष होना सभव है, इस तरह जो छूकर ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है, ऐसा उनके यहा प्रत्यक्ष का लक्षण है ।

आचार्य ने प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण "विशद प्रत्यक्ष" ऐसा कहा है, यदि सन्निकर्ष को प्रत्यक्षप्रमाण माना जाय तो वह लक्षण चक्षु और मन मे नही पाया जाता, अत अव्याप्ति दोष युक्त है, तथा योगी प्रत्यक्ष मे अव्यापक है, सबसे बडी आपत्ति यह है कि सन्निकर्ष प्रत्यक्षप्रमाण माना जाय तो सर्वज्ञका अभाव होगा, क्योकि इन्द्रिया छूकर जानती है और पदार्थ है अनन्त, उन सबका सन्निकर्ष होना संभव नही, ऐसी हालत मे न सबका पूरा छूना होगा न जीव सर्वज्ञ होगा, अत निश्चय होता है कि चक्षु पदार्थ को विना छुए ही जानती है ।

नैयायिक—चक्षु भी पदार्थ को छूकर ही जानती है, क्योकि वह बाह्य इन्द्रिय है [बाहर दिखाई देनेवाली इन्द्रिय है] जो बाह्य इन्द्रिय होती है वह छूकर ही पदार्थ को जानती है जैसे स्पर्शनेन्द्रिय ।

जैन—यह अनुमान गलत है, क्योकि हेतु बाधित पक्षवाला है, हम पूछते हैं कि आप चक्षु किसे कहते है ? गोल गोल जो आंख मे पुनली है उसे, या और किसी को ? गोलक चक्षु तो पदार्थ को छूती ही नही, अगर माना जाय तो प्रत्यक्ष बाधा है, क्योकि हमारे नेत्र बिना स्पर्श किये ही वस्तु के वर्ण को ग्रहण करते हुए स्पष्ट प्रतीति मे आते है ।

नैयायिक—दूसरी एक किरणरूप चक्षु है वह जाकर पदार्थ का स्पर्श करती है ।

जैन—यह किरण चक्षु ही अभी असिद्ध है तो उससे पदार्थ का छूना वगैरह तो दूर ही रहा हम तो पहिले आपसे यही पूछते हैं कि—रश्मिचक्षु को आप किस प्रमाण से सिद्ध करते है क्या इसी अनुमान से या किसी दूसरे अनुमान से ? यदि इसी अनुमान से कहो तो अन्योन्याश्रय है । और दूसरे अनुमान से कहो तो अनवस्था दोष आता है । तथा—आंखो से किरणे बाहर जाकर पदार्थ को जानती है तो आंख मे अजन लगाना आदि व्यर्थ है । किरणो जब आंख से बाहर निकलती है तब प्रत्यक्ष दिखनी चाहिये, रूप और स्पर्श तो उनमें है ही ? तुम कहो कि उनका रूप अप्रकट है, सो क्या ऐसा तेजोद्रव्य आपको कही दिखाई देता है कि जिसमें रूप प्रगट न हो ?

आपका कहना है कि बिल्ली आदि जानवरों की आखो मे तो किरणो स्पष्ट दिखाई देती है, अतः मनुष्यादि के नेत्रों में भी उनकी कल्पना करी जाती है, सो यह सब कथन गलत है, क्योंकि ऐसा अन्य एक जगह देखा गया स्वभाव सब जगह लागू करोगे तो महान् दोष आयेगे । फिर तो कोई कहेगा कि रात्रि में सूर्य की किरणे होते हुए भी उपलब्ध नहीं होती है मतलब अप्रकट रहती हैं । जैसे कि मनुष्योके नेत्रो मे किरणे अप्रकट रहती है । सो ऐसी मान्यता को भी स्वीकार करना पड़ेगा । प्रत्यक्ष बाधा दोनो पक्षों मे है, अर्थात् सूर्य किरणे जैसे रात मे नहीं दिखती वैसे ही नेत्र किरणो भी तो नहीं दिखती, फिर सूर्य किरणो तो न मानना और नेत्र किरणे मानना यह तो कोरा पक्षपात है ।

आपके यहां इन्द्रियां पृथक् पृथक् पृथिवी आदि से उत्पन्न हुई मानी गई है सो यह बात भी गलत है । चक्षु तेजोद्रव्य (अग्नि) से बनती है यह बात आप रूप-प्रकाशकत्व हेतु से सिद्ध करते है, किन्तु यह हेतु व्यभिचारी है । अर्थात्—चक्षु तैजस है क्योंकि वह रूपादि गुणो में से सिर्फ रूप को ही प्रकाशित करती है, जैसा कि दीपक, सो यह अनुमान सदोष है । क्योंकि हेतु अनैकान्तिक दोष वाला है माणिक्यादि रत्नों द्वारा यह हेतु व्यभिचरित होता है वह इस प्रकार से कि वे रत्न रूप प्रकाशक तो है पर तेजोद्रव्य नहीं है पृथ्वीद्रव्य है ।

तथा—चक्षु यदि छूकर पदार्थको जाने, तो उसी पदार्थ मे रहे हुए रसादिकों को क्यों वही जाने ? क्योंकि सब रसादिको को उसने छू तो लिया ही है । यदि चक्षु छूकर ही रूपको [पदार्थ को] जानती है तो स्फटिकमणि की डिब्बी के भीतर रखी

हुई वस्तु को आख नहीं जान सकेगी, क्योंकि किरणों का प्रवेश वहाँ हो नहीं सकेगा। यदि कहा जाय कि स्फटिक का भेदन कर वे अदर घुस जाती है तो फिर उन्हें गदे पानी के भीतर घुमकर वहाँ की वस्तु को भी देख लेना चाहिये ? यदि कहा जाय कि वे पानी के सपर्क से समाप्त हो जाती है तो फिर स्वच्छ पानी में स्थित पदार्थ वे कैसे ग्रहण करती है ? यदि कहा जाय कि उनमें ऐसी ही योग्यता है तो फिर ऐसा ही क्यों न मान लिया जाये कि आखे बिना छुए ही रूप की प्रकाशक होती हैं।

आखे यदि स्पर्श करके रूप को जानती है तो खुद आख में स्थित काचकामलादि रोग को तथा अजन आदि को सबसे पहिले उन्हें जानना चाहिये ? फिर क्यों उन्हें देखने के लिये दर्पणादि लिया जाता है और क्यों वैद्य आदि द्वारा उनका निरीक्षण कराया जाता है ?

अतः इन सब आपत्तियों से यदि बचना चाहते हैं तो आख को तेजोरूप नहीं मानना चाहिये और न उसे प्राप्यकारी ही स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा आपमें “नैयायिक” इस नामकी सार्थकता नहीं हो सकती है।

अतः जैन मान्यता के अनुसार चक्षु अप्राप्यकारी ही सिद्ध होती है। देखिये—चक्षु अप्राप्त होकर ही पदार्थ को प्रकाशित करती है, क्योंकि वह अत्यन्त निकटवर्ती वस्तुको ग्रहण नहीं करती, “चक्षु अप्राप्तार्थप्रकाशक अत्यासन्नार्थप्रकाशकत्वात्” इस अनुमान में जो आपने हेतु में साध्यसम होने का दोष प्रकट किया है वह गलत है क्योंकि हमने इसे प्रसंग साधनरूप से स्वीकार किया है। प्रसंगसाधन का लक्षण “परेष्ट्याऽनिष्टा पादन प्रसङ्ग साधनम्” ऐसा कहा है। कर्ण आदि इन्द्रिया प्राप्त होकर ही निकटवर्ती पदार्थ को जानती है, अतः प्राप्य का और अत्यासन्नार्थ प्रकाशकत्वका इन दोनों का व्याप्य व्यापक भाव है। अर्थात् प्राप्यकारी व्याप्य है और अत्यासन्नार्थ प्रकाशकत्व व्यापक है। अब यहाँ नेत्र में आप व्याप्य जो प्राप्यकारित्व है उसे तो मानते हो और व्यापक जो अत्यासन्नार्थ प्रकाशकत्व है उसे स्वीकार नहीं करते हो सो यह कैसे ? व्याप्य तो व्यापक के साथ रहता है। अतः हमारा ऐसा कहना है कि जब चक्षु अत्यासन्नार्थ प्रकाशक नहीं है तब उसमें प्राप्यकारित्व भी नहीं है। इस तरह चक्षु बिना छुए ही पदार्थ को प्रकाशित करती है—जानती है यह बात सिद्ध हुई।

चक्षुसन्निकर्षवाद के खंडन का सारांश समाप्त

सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष

✽

तच्चोक्तप्रकार प्रत्यक्षं मुख्यसांव्यवहारिकप्रत्यक्षप्रकारेण द्विप्रकारम् । तत्र सांव्यवहारिकप्रत्यक्षप्रकारस्योत्पत्तिकारणस्वरूपे प्रकाशयति—

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ॥ ५ ॥

विशद प्रत्यक्षमित्यनुवर्त्तते । तत्र समीचीनोऽबाधितः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो व्यवहार संव्यवहारः, स प्रयोजनमस्येति सांव्यवहारिक प्रत्यक्षम् । नन्वेवभूतमनुमानमप्यत्र सम्भवतीति तदपि

अब यहांपर सांव्यवहारिक प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण और विवेचन किया जाता है । प्रारम्भ में प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण और विवेचन किया गया है । प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं—मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, उन भेदों में से पहिले सांव्यवहारिक प्रत्यक्षप्रमाण की उत्पत्ति का कारण और उसके स्वरूप को बतलाने के लिए श्री माणिक्यनन्दो सूत्र रचना करते हैं—

सूत्र—इन्द्रियातिन्द्रियनिमित्त देशतः सांव्यवहारिकम् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियो और मन से होनेवाले एकदेश प्रत्यक्ष (विशद) ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं ।

“विशद प्रत्यक्षम्” इस सूत्र का सदर्थ चला आ रहा है । “स” का अर्थ है समीचीन अबाधित, इस तरह अबाधित प्रवृत्ति और निवृत्तिलक्षणवाला जो व्यवहार है उसका नाम सांव्यवहार है यही सांव्यवहार है प्रयोजन जिसका वह सांव्यवहारिक है ।

शंका—इस प्रकार का लक्षण तो अनुमान में भी सभावित है अतः वह भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जावेगा ?

समाधान—इस शंका का निरसन करने के लिए ही सूत्रकार ने “इन्द्रियातिन्द्रियनिमित्त देशतः” ऐसा कहा है, मतलब—जो ज्ञान इन्द्रियों और मन से होता है, [हेतु से नहीं होता] वह एक देश सांव्यवहारिक प्रत्यक्षप्रमाण है । अन्य हेतु आदि से होनेवाले अनुमानादि को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नहीं कहेंगे ।

साव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्राप्नोतीत्याशङ्कापनोदार्थम्—'इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त देशतः' इत्याह । देशतो विशद यत्तत्प्रयोजन ज्ञान तत्साव्यवहारिक प्रत्यक्षमित्युच्यते नान्यदित्यनेन तत्स्वरूपम्, इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमित्यनेन पुनस्तदुत्पत्तिकारण प्रकाशयति ।

तत्रेन्द्रिय द्रव्यभावेन्द्रियभेदाद्वेधा । तत्र द्रव्येन्द्रिय गोलकादिपरिणामविशेषपरिणतरूपरस-गन्धस्पर्शवत्पुद्गलात्मकम्, पृथिव्यादीनामत्यन्तभिन्नजातीयत्वेन द्रव्यान्तरत्वासिद्धितस्तस्य प्रत्येक तदारब्धत्वासिद्धे । द्रव्यान्तरत्वासिद्धिश्च तेषां विषयपरिच्छेदे प्रसाधयिष्यते । भावेन्द्रिय तु लब्धयुप-

देश विशद होना यह इस साव्यवहारिक प्रत्यक्ष का स्वरूप कहा गया है । तथा यह इन्द्रिया एव मन से होता है ऐसा जो कहा है वह उसकी उत्पत्ति का कारण प्रकट करने के लिये कहा है ।

इन्द्रियो के दो भेद है—एक द्रव्येन्द्रिय और दूसरी भावेन्द्रिय । नेत्र की पुतली या कान की शङ्कुली आदि रूप परिणत एव रूप, रस, गंध, स्पर्श युक्त जो पुद्गलो का स्कन्ध है वह द्रव्येन्द्रिय है ।

भावार्थ—द्रव्येन्द्रिय के भी दो भेद है—निवृत्ति और उपकरण पुनः—निवृत्ति के भी बाह्यनिवृत्ति और आभ्यन्तर निवृत्ति ऐसे दो भेद है । चक्षु आदि इन्द्रियों के आकाररूप जो आत्मा के कुछ प्रदेशों की रचना बनती है वह आभ्यन्तर निवृत्ति है, और उन्हीं स्थानों पर चक्षु रसना आदि का बाह्याकार पुद्गलो के स्कन्ध की रचना होना बाह्यनिवृत्ति है । इनमें से आभ्यन्तर निवृत्ति आत्मप्रदेशरूप है, अतः वह पौद्गलिक नहीं है । उपकरण के भी दो भेद है—आभ्यन्तर उपकरण और बाह्य उपकरण, नेत्र में, पुतली आदि की अन्दर की रचना होना आभ्यन्तर उपकरण है और पलके आदिरूप बाह्य उपकरण है, मतलब—जो निवृत्ति का उपकार करे वह उपकरण कहलाता है । “उपक्रियते निवृत्ति येन तत् उपकरण” ऐसा उपकरण शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ।

यौग—नैयायिक वैशेषिकों ने इन्द्रियो में पृथक् २ पृथिवी आदि पदार्थ से उत्पन्न होने की कल्पना की है, अर्थात् पृथिवी द्रव्य से घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति की कल्पना की है, जलद्रव्य से रसनेन्द्रिय की, अग्निद्रव्य से चक्षु इन्द्रिय की, वायुद्रव्य से स्पर्शनेन्द्रिय की, और आकाशद्रव्य से कर्णेन्द्रिय की उत्पत्ति की कल्पना की है । सो सब से पहिले यह बात है कि एक आकाश को छोड़कर पृथिवी आदि त्रारो पदार्थ, एक ही

योगात्मकम् । तत्राऽऽवरणक्षयोपशमप्राप्तिरूपार्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः, तदभावे सतोप्यर्थस्याप्रकाशनात्, प्रत्यथातिप्रसङ्गः । उपयोगस्तु रूपादिविषयग्रहणव्यापार, विषयान्तरासक्ते चेतसि सन्निहितस्यापि विषयस्याग्रहणात्तत्सिद्धिः । एव मनोपि द्वेषा द्रष्टव्यम् ।

पुद्गल द्रव्यात्मक है, इनकी कोई भिन्नजातिया नहीं है और न इनके परमाणु ही अलग अलग है । तथा दूसरी बात इन्द्रियो मे भी इसी एक पृथिवी से ही यह घ्राणेन्द्रिय निर्मित है ऐसा नियम नहीं है सारी ही द्रव्येन्द्रियां एक पुद्गलद्रव्यरूप हैं, पृथिवी जल आदि नौ द्रव्यों का जो कथन यौग करते हैं उनका आगे चौथे परिच्छेद में निरसन होनेवाला है । पृथिवी आदि पदार्थ साक्षात् ही एक द्रव्यात्मक—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णात्मक दिखायी दे रहे है । न ये भिन्न २ द्रव्य है और न ये भिन्न २ जाति वाले परमाणुओ से निष्पन्न है तथा—न इन्द्रियों की रचना भी किसी एक निश्चित पृथिवी आदि से ही हुई है । अतः यौग का इन्द्रियों का कथन निर्दोष नहीं है ।

भावेन्द्रिय के दो भेद हैं—लब्धि और उपयोग । ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से पदार्थ को ग्रहण करने की अर्थात् जानने की शक्ति का होना लब्धि कहलाती है । आवरण कर्म के क्षयोपशम को लब्धि समझना चाहिये । इसी लब्धि (क्षयोपशम) के अभाव मे मौजूद पदार्थ का भी जानना नहीं होता है । यदि इस लब्धि के विना भी पदार्थ का जानना होता है ऐसा माना जावे तो चाहे जो पदार्थ इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण होने का अतिप्रसंग आता है ।

भावार्थ—सूक्ष्म अन्तरित आदि पदार्थ इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने में नहीं आते है । अतः यह मानना चाहिये कि सूक्ष्मादि पदार्थों को ग्रहण न कर सकने के कारण उनमें उस जाति की लब्धि—शक्ति नहीं है । इसी का नाम योग्यता है । इसी योग्यता के कारण इन्द्रियो में विषय भेद है । तथा प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व का भेद है । इसी कारण अनेक पदार्थ जानने के योग्य होते हुए भी उनमें से हम अपने २ क्षयोपशम के अनुसार कुछ २ को ही जान सकते है । अन्य मत बौद्ध आदि के द्वारा माने गये तदुत्पत्ति तदाकार आदि का खण्डन या सन्निकर्षादिक का खण्डन करने मे जैन इसी क्षयोपशमरूप लब्धि के द्वारा सफल होते है । रूपादि विषयो की तरफ आत्मा का उन्मुख होना उपयोगरूप भावेन्द्रिय है । यह उपयोग यदि अन्यत्र है तो निकटवर्ती पदार्थ भी जानने मे नहीं आते है । मतलब—जब हमारा उपयोग अन्य

तत “पृथिव्यप्तेजोवायुभ्यो घ्राणरसनचक्षु स्पर्शनेन्द्रियभाव ” [] इति प्रत्याख्यातम्; पृथिव्यादीनामन्योन्यमेकान्तेन द्रव्यान्तरत्वासिद्धेः, अग्न्यथा जलादेर्मुक्ताफलादिपरिणामाभावप्रसक्ति-
रात्मादिवत् । न चैवम्, प्रत्यक्षादिविरोधात् ।

अथ मतम्—पार्थिव घ्राण रूपादिषु सन्निहितेषु गन्धस्यैवाभिव्यञ्जकत्वान्नागर्णिगाकाविमर्दक-
करतलवत्, तदप्यसङ्गतम्, हेतो सूर्यरश्मिभिरुदकसेकेन चानेकान्तात् । दृश्यते हि तैलाभ्यक्तस्या-

किसी विषय में होता है तब हमको बिलकुल निकट के शब्द, रूप आदि का भी ज्ञान नहीं हो पाता है इसीसे उपयोगरूप भावेन्द्रिय सिद्ध होती है ।

मनके भी दो भेद है—द्रव्यमन और भावमन । भावार्थ—हृदय स्थान में अष्टपत्रयुक्त कमल के आकार का द्रव्यमन है । यह मनोवर्गणाओ से निर्मित है । नो इन्द्रियावरण के क्षयोपशम तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से जो विचार करने की शक्ति प्रकट होती है उसे भावमन कहा गया है । इस प्रकार इन्द्रिया और मनका यह अबाधित लक्षण समझना चाहिये । इन लक्षणों से नैयायिक आदि के द्वारा माने गये इन्द्रियों के लक्षण [एव कारण] खण्डित हो जाते हैं । “पृथिव्यप्तेजोवायुभ्यो घ्राणर-
सनचक्षुस्पर्शनेन्द्रियभाव ” अर्थात् पृथिवी से घ्राण, जल से रसना, अग्नि से चक्षु और वायु से स्पर्शनेन्द्रिय उत्पन्न होती है, सो ऐसा कहना गलत हो जाता है, क्योंकि पृथिवी आदि पदार्थ एकान्त से भिन्न द्रव्य नहीं है । यदि पृथिवी जल आदि सर्वथा भिन्न २ द्रव्य होते तो जल से पृथिवीस्वरूप मोती कैसे उत्पन्न होते, अर्थात् नहीं होते, जैसे आत्मा सर्वथा पृथक् द्रव्य है तो वह अन्य किसी पृथिवी आदि से उत्पन्न नहीं होता है । किन्तु जलसे मोती चन्द्रकान्त स्वरूप पृथिवी से जल, सूर्यकान्त मणि से (पृथिवी से) अग्नि उत्पन्न होती हुई देखी जाती है । अतः पृथिवी, जल आदि पदार्थोंको पृथक् द्रव्यरूप मानना प्रत्यक्ष से विरुद्ध पडता है ।

नैयायिक—अनुमान से सिद्ध होता है कि घ्राण आदि इन्द्रिया भिन्न २ द्रव्य से बनी है । देखो—घ्राणेन्द्रिय पृथिवी से बनी है, क्योंकि वह रूप आदि विषयों के निकट रहते हुए भी सिर्फ गन्ध को ही प्रकाशित करती है—जानती है । जैसे—नागचपक पुष्प के बीचभाग को—कर्णिका को मर्दन करने वाले हाथों में गन्ध प्रकट होती है ।

जैन—यह कथन असंगत है, क्योंकि रूप आदि के रहते हुए भी सिर्फ गंध को वह प्रकट करती है” यह हेतु सूर्य किरणों और जल सिचन के साथ अनैकान्तिक होता है । तद्यथा—जैसे तेल का मालिस किया हुआ कोई पुरुष है, उसके शरीर पर

दित्यमरीचिकाभिर्गन्धाभिव्यक्तिर्भूमेस्तूदकसेकेनेति । 'आप्य रसन रूपादिषु सन्निहितेषु रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वालालावत्' इत्यत्रापि हेतोरलवणेन व्यभिचार, तस्यानाप्यत्वेपि रसाभिव्यञ्जकत्वप्रसिद्धे । 'चक्षुस्तैजसरूपादिषु सन्निहितेषु रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्प्रदीपवत्' इत्यत्रापि हेतोर्माणिक्याद्युद्द्योतितेनानेकान्तः । 'वायव्य स्पर्शन रूपादिषु सन्निहितेषु स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्तोयशोनस्पर्शव्यञ्जकवाग्वयविवत्' इत्यत्रापि कर्पूरादिना सलिलशीतस्पर्शव्यञ्जकेनानेकान्तः ।

पृथिव्यग्नेजःस्पर्शाभिव्यञ्जकत्वाच्चास्य पृथिव्यादिकार्यत्वानुषङ्गो वायुस्पर्शाभिव्यञ्जकत्वाद्वायुकार्यत्ववत् । चक्षुषश्च तेजोरूपाभिव्यञ्जकत्वात्तेजःकार्यत्ववत् पृथिव्यप्समवायिरूपव्यञ्जकत्वात्पृथिव्य-

सूर्य किरणो पड़ती है तो उनके निमित्त से उस शरीर में गंध आने लगती है—वहा गंध प्रकट होती है, तथा पृथिवी पर जल से जब सिंचन किया जाता है तो गंध प्रकट होती है, अतः पृथिवी से ही गन्ध प्रकट हो सो बात नहीं । नैयायिक का रसनेन्द्रिय के लिये अनुमान है—“आप्य रसन रूपादिषु सन्निहितेषु रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् लालावत्” रसना—जल से बनती है—क्योकि रूप आदि विषय निकट रहते हुए भी वह केवल रस को ही प्रकट करती है जैसे लाला, सो वह हेतु भी सैधा लवण के साथ व्यभिचरित होता है क्योकि सैधा लवण जल से निर्मित नहीं है तो भी जल को प्रकट करता है ।

“चक्षु अग्नि से बनी है क्योकि वह रस आदि के सन्निहित होते हुए भी रूप मात्र को ही प्रकाशित करती है”, जैसे दीपक मात्र रूप को प्रकाशित करता है । सो यहा का हेतु भी माणिक्य रत्न आदि के द्वारा व्यभिचरित होता है क्योकि वह माणिक्य तैजस नहीं होते हुए भी केवल रूप को ही प्रकाशित करता है । इसी प्रकार यह कथन भी कि स्पर्शनेन्द्रिय वायु से बनी है क्योकि रूपादि के रहते हुए भी वह एक स्पर्श को ही प्रकाशित करती है—जैसे जल में होने वाला शीतस्पर्श, वायुरूप अवयवी के द्वारा प्रकट होता है । यहा पर भी हेतु अनैकान्तिक है क्योकि कपूर आदि पृथिवी के द्वारा भी जल में का शीतस्पर्श प्रकट किया जाता है । अत वायु से ही शीतस्पर्श प्रकट हो सो बात नहीं । इस प्रकार इन इन्द्रियो के जो कारण माने है उनमें व्यभिचार आता है अत. इनको एक पुद्गल रूप द्रव्य से बनी हुई मानना चाहिये ।

तथा स्पर्शनेन्द्रिय सिर्फ वायु के ही स्पर्श को प्रकट करती है सो बात नहीं है, पृथिवी जल और अग्नि के स्पर्श को भी प्रकट करती है । फिर तो स्पर्शनेन्द्रिय पृथिवी, जल और अग्नि का भी कार्य है ऐसा मानना चाहिये ? क्योकि वायु का स्पर्श

कार्यत्वप्रसङ्ग । रसनस्य चाप्यरसाभिव्यञ्जकत्वादकार्यत्ववत् पृथिवीरसाभिव्यञ्जकत्वात्पृथिवी-
कार्यत्वप्रसङ्ग ।

‘नाभस श्रोत्र रूपादिषु सन्निहितेषु शब्दस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्’ इति चाऽसाम्प्रतम्; शब्दे नभो-

प्रकट करती है अतः वह वायु से निर्मित है तो पृथिवी आदि के स्पर्श को प्रकट करने वाली होने से वह पृथिवी आदि से निर्मित भी मानी जायगी ?

तथा—चक्षुः अग्नि के रूप को प्रकाशित करती है अतः अग्नि से निर्मित है
ऐसा माना जाये तो चक्षुः पृथिवी जलादिक के रूप को भी प्रकाशित करती है, अतः
वह पृथिवी आदि से निर्मित है ऐसा भी स्वीकार करना चाहिये । रसनेन्द्रिय जल के
रस को प्रकट करती है अतः वह जल का कार्य है तो वह पृथिवी आदि के रस को
भी प्रकट करती हुई देखी जाती है इसलिये पृथिवी आदि का कार्य है ऐसा भी
मानना चाहिये ।

कर्णेन्द्रिय आकाश से बनी है इसके लिये नैयायिक का ऐसा अनुमान है—
“नाभस श्रोत्र रूपादिषु सन्निहितेषु शब्दस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्” कर्ण इन्द्रिय आकाश से
बनी है, क्योंकि वह रूप आदि के रहते हुए भी सिर्फ शब्द को ही प्रकट करती है सो
यह अनुमान भी पहले के समान ही गलत है । आप नैयायिक शब्द को आकाश का
गुण मानकर आकाश निर्मित कर्ण से उसका ग्रहण होना बताते हैं सो दोनों ही बातें—
[कर्ण का आकाश से उत्पन्न होना और शब्द आकाश का गुण है] असत्य हैं । क्योंकि
आकाश अमूर्त्त है उसका गुण मूर्त्तिक इन्द्रिय द्वारा गृहीत नहीं हो सकता, इत्यादि विषय
को हम आगे शब्द में आकाश गुणत्व का खण्डन करते समय स्पष्ट करने वाले हैं ।
नैयायिक ने इन अनुमानों का निरसन होने से शब्द के विषय में और भी जो अनुमान
दिया है कि—शब्द स्वसमानजातीयविशेषगुणवाली इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है,
क्योंकि वह सामान्य विशेषरूप होनेपर बाह्य एक इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है, अथवा
दूसरा हेतु कि बाह्य एक इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने पर अनात्मा का विशेष गुणरूप
होनेसे शब्द स्वसमान जाति के विशेष गुणवाली इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है,
जैसे रूप आदि स्वसमानजाति के विशेष गुणवाली इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये
जाते हैं ।

भावार्थ— शब्द अपने समान जाति का जो आकाश है उसका गुण है, अतः

गुणत्वस्याग्रे प्रतिषेधात् । तत्श्रद्धेमप्युक्तम्—“शब्दः स्वस्मानजातीयविशेषगुणवतेन्द्रियेण गृह्यते
[मान्यविशेषवत्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वे सत्यनारमविशेषगुणत्वाद्वा
ह्यपादिवत्” [] इति । ततो वैन्द्रियाणा प्रतिनियतभूतकार्यत्व व्यवतिष्ठते प्रमाणाभावात् ।

अपने ही समान जातिरूप आकाश से बनी हुई जो कर्णेन्द्रिय है उसके द्वारा उसका ग्रहण होता है, बाह्य एक ही इन्द्रिय के द्वारा उसका ग्रहण होने से तथा आत्मा का गुण नहीं होने से भी उसका अपनी सजातीय इन्द्रिय से ग्रहण होता है ऐसा सिद्ध होता है । कर्णेन्द्रिय आकाश से बनी है, अत आकाश के विशेष गुण स्वरूप शब्द को वह जानती है । अथवा शब्द आकाश का गुण है अतः आकाश निर्मित कर्णेन्द्रिय द्वारा उसका ग्रहण होता है । ऐसा नैयायिकादि का कहना है, किन्तु यह सब व्यावर्णन और इसकी पुष्टि के निमित्त दिये गये अनुमान सब असिद्ध है, ऐसा पूर्वोक्तरूप से सिद्ध हो जाता है ?

इस प्रकार नैयायिकों का यह निश्चितपृथिवी-आदि से निश्चित-ध्रुणेन्द्रियादि की उत्पत्ति होती है ऐसा जो प्रतिनियत कार्यवाद है वह युक्तिशून्य होने से या युक्तिसंगत न हो सकने से निरस्त हो जाता है । जैनोंने प्रतिनियत एक पुद्गल से सभी द्रव्येन्द्रियों की रचना होती है ऐसा जो माना है वही युक्तिसंगत निर्दोष है । द्रव्येन्द्रियों की रचना में भावेन्द्रिया सहायभूत है भावेन्द्रियों के अभाव में द्रव्येन्द्रिया स्वकार्य करने में असमर्थ रहती है । अतः ये भावेन्द्रिया ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशमरूप सिद्ध होती हैं । इस तरह इन इन्द्रियों एवं मन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है और एकदेश पदार्थ को स्पष्ट जानता है वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है ऐसा प्रैक्षादक्षवादी और प्रतिवादियों को स्वीकार करना चाहिये । इस प्रकार साव्यवहारिक प्रत्यक्ष का वर्णन समाप्त हुआ ।

उपसंहार—परीक्षामुखनामा ग्रन्थ की रचना श्री माणिक्यनदी आचार्य ने ईसाकी आठवी शताब्दी के उत्तरार्ध में की थी जिसमें कुल सूत्र सख्या २१२ है [प्रकारान्तर से २०७ सूत्र भी गिने जाते हैं] तदनंतर दसवी शताब्दी में श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने उन सूत्रों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण दीर्घकाय टीका रची । अब वर्तमानमें बीसवी शताब्दीमें उस दीर्घकाय संस्कृत टीका का राष्ट्रभाषानुवाद [हिन्दी] करीब पच्चीस हजार श्लोक प्रमाणमें मैंने [आर्यिका जिनमतिने] किया, सपूर्ण भाषानुवादका प्रकाशन एक खण्ड में होना अशक्य था अतः तीन खण्डमें विभाजन

प्रतिनियतेन्द्रिय योग्यपुद्गलारब्धत्व तु द्रव्येन्द्रियाणा प्रतिनियतभावेन्द्रियोपकरणभूतत्वान्यथानुपप-
त्तेर्घटते इति प्रेक्षादधी प्रतिपत्तव्यम् ।

❀ इति श्री प्रमेयकमल मार्त्तण्डस्य प्रथम खण्डः समाप्तः ❀

हुआ । प्रस्तुत प्रथम खंडमें परीक्षामुख के कुल १८ सूत्र आये हैं । संस्कृत टीका का तृतीयांश [४००० श्लोक प्रमाण] एवं भाषानुवादका साधिक तृतीयांश [करीब ६००० श्लोक प्रमाण] अन्तर्निहित हुआ है । इसमें अज्ञान एवं प्रमादवश कुछ स्वलन हुआ हो उसका विद्वज्जन संशोधन करे । श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रमाण के विषयमें जो विविध मान्यतायें दी हैं अर्थात् प्रमाण का लक्षण क्या है, प्रमाण में प्रमाणता किससे आती है, प्रमाण की कितनी सख्या है ? इत्यादि विषयो पर बहुत ही अधिक विशद विवेचन किया है उन्होंने भारत में प्रचलित सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध, चार्वाक, वेदांत आदि दर्शनोका प्रमाणके बारेमें जो अभिप्राय है अर्थात् प्रमाणके लक्षण में मतभेद है उन सबके प्रमाण लक्षणोंका युक्ति पूर्ण पद्धतिसे निरसन किया है । श्रीर जिनमत प्रणीत प्रमाणका लक्षण निर्दोष अखण्डित सिद्ध किया है । प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड के तृतीयांश के राष्ट्रभाषानुवाद स्वरूप इस प्रथम भागमें प्रथम ही मंगलादि सबधी चर्चा है, फिर प्रमाण का लक्षण करके मतांतरके कारक साकल्यवाद सन्निकर्षवाद, इन्द्रियवृत्तिवाद, ज्ञातृव्यापारवाद, इत्यादि करीब ३२ प्रकरणों का समावेश है ।

इसप्रकार विक्षेपणी कथा स्वरूप इस न्याय ग्रन्थका अध्ययन करके आत्म भावो में स्थित विविध मिथ्याभिनिवेशोका परिहार कर निज सम्यग्दर्शन को परिशुद्ध बनना चाहिये ।

* श्री प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का प्रथम भाग समाप्त *



अथ प्रशस्ति

प्रणम्य शिरसा वीरं धर्मतीर्थप्रवर्त्तिकम् ।
तच्छासनान्वयं किञ्चिद् लिख्यते सुमनोहरम् ॥१॥
नभस्तत्वदिग्वीराब्दे कुन्दकुन्द गणी गुणी ।
संजात. संघनायको मूलसंघप्रवर्त्तिकः ॥२॥
आम्नाये तस्य सख्याताः विख्याताः सुदिगबराः ।
प्राविरासन् जगन्मान्या जैनशासनवर्द्धकाः ॥३॥
क्रमेण तत्र समभूत् सूरिरेकप्रभावकः ।
शातिसागर वामा स्यात् मुनिधर्मप्रवर्त्तिकः ॥४॥
वीरसागर आचार्यस्तत्पट्टे समलंकृतः ।
ध्यानाध्ययने रक्तो विरक्तो विषयामिषात् ॥५॥
अथ दिवगते तस्मिन् शिवसिन्धुर्मुनीश्वरः ।
चतुर्विधगणै पूज्यः समभूत् गणनायकः ॥६॥
तयो पार्श्वे मया लब्धा दीक्षा संसारपारगा ।
प्राकरी गृणरत्नानां यस्यां कायेऽपि हेयता ॥७॥ [विशेषकम्
प्रशमादिगुणोपेतो धर्मसिन्धुर्मुनीश्वरः ।
आचार्यपद मासीनो वीरशासनवर्द्धकः ॥८॥
आर्या ज्ञानमती माता विदुषी मातृवत्सला ।
न्यायशब्दादिशास्त्रेषु धत्ते नैपुण्यमाञ्जसम् ॥९॥
कवित्वादिगुणोपेता प्रमुखा हितशासिका ।
गर्भाधानक्रियाहीना मातैव मम निश्छला ॥१०॥
नाम्ना जिनमती चाह शुभमत्यानुप्रेरिता ।
यया कृतोऽनुवादोयं चिर नन्धात् महीतले ॥११॥

इति भद्रं भूयात् सर्व भव्यानां



परीक्षामुखसूत्र

प्रथमः परिच्छेदः

प्रमाणादर्थससिद्धिस्तदाभासाद्विपर्यय ।

इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पलघीयस ॥ १ ॥

- १ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम् ।
- २ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।
- ३ तन्निश्चयात्मकं समारोपविहृतत्वादानुमानवत् ।
- ४ अनिश्रितोऽपूर्वार्थः ।
- ५ दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ।
- ६ स्वोन्मुखनया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ।
- ७ अर्थस्येव तदुन्मुखतया ।
- ८ घटमहमात्मना वेदिम् ।
- ९ कर्मवत्कर्तुं करणं क्रिया प्रतीतेः ।
- १० शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ।
- ११ को वा तत्प्रतिभासनमर्थं मध्यक्षमिच्छस्तदेव तथा नेच्छेत् ।
- १२ प्रदीपवत् ।
- १३ तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ।

द्वितीयः परिच्छेदः

- १ तद् द्वेषः ।
- २ प्रत्यक्षैतरभेदात् ।
- ३ विशदं प्रत्यक्षम् ।
- ४ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ।

- ५ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तदेशतः साव्यवहारिकम् ।
- ६ नार्थालोकी कारणपरिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ।
- ७ तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ।
- ८ अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकप्रदीपवत् ।
- ९ स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।
- १० कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणदिना व्यभिचारः ।
- ११ सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ।
- १२ सावरत्वेकरणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ।

तृतीयः परिच्छेदः

- १ परोक्षमितरत् ।
- २ प्रत्यक्षादिनिमित्ता स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ।
- ३ सस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ।
- ४ स देवदत्तो यथा ।
- ५ दर्शनस्मरणकारणकसङ्कलनं प्रत्यभिज्ञा-

- नम् । तदेवेद तत्सदृश तद्विलक्षण तत्प्रति-
योगीत्यादि ।
- ६ यथा स एवायं देवदत्त ।
७ गोसदृशो गवयः ।
८ गो विलक्षणो महिष ।
९ इदमस्माद्दूरम् ।
१० वृक्षोऽयमित्यादि ।
११ उपलम्भानुपलम्भनिमित्ता व्याप्तिज्ञान
मूहः ।
१२ इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति
च ।
१३ यथाऽग्नादेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।
१४ साधनात्साध्यविज्ञान मनुमानम् ।
१५ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।
१६ सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ।
१७ सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ।
१८ पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रम-
भावः ।
१९ तर्कान्तिनिर्णयः ।
२० इष्टमवाधितमसिद्ध साध्यम् ।
२१ सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नाना साध्यत्व यथा-
स्यादित्यसिद्धपदम् ।
२२ अनिष्टाध्यक्षादिवाधितयो साध्यत्व माभू-
दितिष्टावाधितवचनम् ।
२३ न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ।
२४ प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ।
२५ साध्य धर्मं क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ।
२६ पक्ष इति यावत् ।
२७ प्रसिद्धो धर्मी ।
२८ विकल्पसिद्धे तस्मिन्सत्तरे साध्ये ।
- २९ अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ।
३० प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ।
३१ अग्निमानय देणः परिणामो शब्द इति
यथा ।
३२ व्याप्तौ तु साध्य धर्म एव ।
३३ अन्यथा तदघटनात् ।
३४ साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमान-
स्यापि पक्षस्य वचनम् ।
३५ साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्ष-
धर्मोपसहारवत् ।
३६ को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न
पक्षयति ।
३७ एतद्द्वयमेवानुमानाङ्ग नोदाहरणम् ।
३८ न हि तत्साध्यप्रतिपत्यङ्गं तत्र यथोक्त हेतौ
रेव व्यापारात् ।
३९ तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव
तत्सिद्धेः ।
४० व्यक्तिरूपच निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्त-
त्रापितद्विप्रतिपत्तावनवस्थान स्यात् दृष्टा-
न्तान्तरापेक्षणात् ।
४१ नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगा-
देव तत्स्मृतेः ।
४२ तत्परमभिधीयमान साध्यधर्मिणि साध्यसाधने
सन्देहयति ।
४३ कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ।
४४ न च ते तदङ्गे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्व-
चनादेवासशयात् ।
४५ समर्थनं वा वर हेतुरूप मनुमानावयवोवाऽस्तु
साध्ये तदुपयोगात् ।
४६ बालव्युत्पत्यर्थं तत् त्रयोपगमे शास्त्र एवासी

- नवादेऽनुपयोगात् ।
- ४७ दृष्टान्तो द्वे धा अन्वयव्यतिरेकभेदात् ।
- ४८ साध्यव्याप्त साधन यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वय-
दृष्टान्त ।
- ४९ साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स
व्यतिरेकदृष्टान्त ।
- ५० हेतुरूपसहार उपनय ।
- ५१ प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ।
- ५२ तदनुमान द्वे धा ।
- ५३ स्वार्थपरार्थभेदात् ।
- ५४ स्वार्थमुक्तलक्षणम् ।
- ५५ परार्थं तु तदर्थपरामर्शवचनाज्जातम् ।
- ५६ तद्वचनमपि तद्वेतुत्वात् ।
- ५७ स हेतु द्वे धोपलब्धानुपलब्धिभेदात् ।
- ५८ उपलब्धिविधिप्रतिषेधयोऽनुपलब्धिश्च ।
- ५९ अविरोद्धोपलब्धिविधौ षोढा व्याप्यकार्यं
कारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ।
- ६० रसादेक सामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छ-
द्विरिष्टमेव किञ्चित्कारण हेतुयत्र साम-
र्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावकल्पे ।
- ६१ न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्य तदुत्पत्तिर्वा
कालव्यवधाने तदनुफलब्धे ।
- ६२ भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्वोधयोरपि नारिष्टो-
दबोधौ प्रतिहेतुत्वम् ।
- ६३ तद् व्यापाराश्रित हि तद्भावभावित्वम् ।
- ६४ सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थाना-
त्सहोत्पादाच्च ।
- ६५ परिणामी शब्द कृतकत्वात् य एव स एव
दृष्टो यथा घटं कृतकश्चाय तस्मात् परि-
णामी यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो

- यथा वन्द्यास्तनन्दय कृतकश्चाय तस्मात्
परिणामी ।
- ६६ अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः ।
- ६७ अस्त्यत्रच्छाया छत्रात् ।
- ६८ उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ।
- ६९ उदगाद् भरणिः प्राक् तत् एव ।
- ७० अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूप रसात् ।
- ७१ विरुद्धं तदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ।
- ७२ नास्त्य शीतस्पर्श औष्ण्यात् ।
- ७३ नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ।
- ७४ नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ।
- ७५ नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ।
- ७६ नोदगाद्भरणिमुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ।
- ७७ नास्त्यत्र भिन्नी परभागाभावोऽर्वाभागादर्श-
नात् ।
- ७८ अविरोद्धानुपलब्धि प्रतिषेधे सप्तधा स्वभाव-
व्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भ-
भेदात् ।
- ७९ नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धे ।
- ८० नास्त्यत्र शिशुपा वृक्षानुपलब्धे ।
- ८१ नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुप-
लब्धे ।
- ८२ नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ।
- ८३ न अविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृत्तिको-
दयानुपलब्धे ।
- ८४ नोदगाद्भरणिमुहूर्तात्प्राक् तत् एव ।
- ८५ नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ।
- ८६ विरुद्धानुपलब्धिविधौ त्रेधा विरुद्धकार्य-
कारणस्वभावानुपलब्धिभेदात् ।
- ८७ यथाऽस्मिन्प्राणिनि व्याप्तिविशेषोऽस्ति-
निरामयत्नेऽनुपलब्धे ॥

- ८८ अस्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसयोगाभावात् ।
 ८९ अनेकान्तात्मक वस्त्वेकान्तस्वरूपानुप-
 लब्धेः ।
 ९० परम्पराया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावि-
 नीयम् ।
 ९१ अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात् ।
 ९२ कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धी ।
 ९३ नास्त्यत्र गुहाया मृगक्रीडन मृगारिसशब्द-
 नात् कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धी
 यथा ।
 ९४ व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽव्यथानुप-
 पत्यैव वा ।
 ९५ अग्निमानयं देशन्तथैव धूमवत्वोपपत्ते-
 धूमवत्वान्यथानुपपत्तेर्वा ।
 ९६ हेतुप्रयोगो हि यथाव्याप्ति ग्रहण विधीयते
 सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते ।
 ९७ तावता च साध्यसिद्धिः ।
 ९८ तेन पक्षस्तदाधार सूचनायोक्तः ।।
 ९९ आप्तवचनान्निबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।
 १०० सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धिः ।। शब्दादयो
 वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ।।
 १०१ यथा मेवादि सन्ति ।।

चतुर्थः परिच्छेदः

- १ सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ।
 २ अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराका-
 रपरिहारावाप्ति स्थितिलक्षणपरिणामिना-
 र्थक्रियोपपत्तेश्च ।
 ३ सामान्य द्वेषा, तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ।
 ४ सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्डमुण्डादिषुगो-
 त्ववत् ।

- ५ परापरविवर्त्तव्यापि । द्रव्य मूर्ध्वता मृद्वि-
 स्थासादिषु ।
 ६ विशेषश्च ।
 ७ पर्यायव्यतिरेकभेदात् ।
 ८ एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामा पर्याया
 आत्मानि हर्षविषादादिवत् ।
 ९ अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो, व्यतिरेको
 गोमहिषादिवत् ।

पंचमः परिच्छेदः

- १ अज्ञाननिवृत्तिहानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।
 २ प्रमाणादभिन्न भिन्न च ।
 ३ यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्या-
 दत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः ।

षष्ठः परिच्छेदः

- १ ततोऽन्यत्तदाभासम् ।
 २ अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसशयादयः प्रमा-
 णाभासाः ।
 ३ स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ।
 ४ पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादि
 ज्ञानवत् ।
 ५ चक्षुरसयोर्द्रव्ये सयुक्तसमवायवच्च ।
 ६ अवैशद्ये प्रत्यक्ष तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्-
 धूमदर्शनाद् वह्नि विज्ञानवत् ।
 ७ वैशद्येऽपि परीक्षं तदाभासं मीमांसकस्य
 करणज्ञानवत् ।
 ८ अतस्मिस्तदितिःज्ञान स्मरणभासम्, जिर्ण-
 दत्ते, स देवदत्तो यथा ।।
 ९ सदृशे तदेवेद तस्मिन्नेव तेन सदृश यमलक-
 वदित्यादिप्रत्यभिज्ञानाभासम् ।
 १० असम्बद्धे तज्ज्ञान तर्काभासम्, यावांस्तत्पुत्र
 स श्यामो यथा ।
 ११ इदमनुमानाभासम् ।

- १२ तत्रानिष्टदि पक्षाभास ।
 १३ अनिष्टो मीमासकस्यानित्य' शब्दः ।
 १४ सिद्ध श्रावणः शब्दः ।
 १५ बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ।
 १६ अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ।
 १७ अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत् ।
 १८ प्रेत्यामुखप्रदोधर्म पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ।
 १९ शुचि नरा शिरः कपाल प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्ख-
 शुक्तिवत् ।
 २० माता मे बन्ध्या पुरुषसयोगेऽप्य गर्भत्वात्प्र-
 सिद्ध बन्ध्यावत्
 २१ हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिका-
 किञ्चित्करा' ।
 २२ असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्ध ।
 २३ अविद्यमानसत्ताक परिणामीशब्दश्राक्षु-
 षत्वात् ।
 २४ स्वरूपेणासत्त्वात् ।
 २५ अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धि प्रत्यग्निरश्र
 धूमात् ।
 २६ तस्य बाष्पादिभावेन भूतसङ्घाते सन्देहात् ।
 २७ साख्य प्रति परिणामी शब्दः कृतत्वात् ।
 २८ तेनाज्ञातत्वात् ।
 २९ विपरीतनिश्चिता बिना भावो विरुद्धोऽपरि-
 णामी शब्दः कृतकत्वात् ।
 ३० विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिक ।
 ३१ निश्चितवृत्तिरनित्य. शब्दः प्रमेयत्वात्
 घटवत् ।
 ३२ आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ।
 ३३ शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।
 ३४ सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ।
 ३५ सिद्धे प्रत्यक्षादि बाधिते च साध्ये हेतुरकि-
 ञ्चित्कर. ।
 ३६ सिद्ध श्रावण शब्द शब्दत्वात् ।
 ३७ किञ्चिदकरणात् ।
 ३८ यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चि-
 त्कर्तुं मशक्यत्वात् ।
 ३९ लक्षण एवासी दोषोऽव्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्ष
 दोषेणैव दुष्टत्वात् ।
 ४० दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभया ।
 ४१ अपौरुषेय' शब्दोऽमूर्त्तत्वादिन्द्रियसुखपर-
 माणुघटवत् ।
 ४२ विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेय तदमूर्त्तम् ।
 ४३ विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात् ।
 ४४ व्यतिरेकेऽसिद्ध तद् व्यतिरकाः परमाण्वि-
 न्द्रियसुखाकाशवत् ।
 ४५ विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषे-
 यम् ।
 ४६ बालप्रयोगाभास पञ्चावयवेषु कियद्वीनता ।
 ४७ अग्निमानय देशो धूमवत्त्वात् यदित्य तदित्य
 यथा महानस इति ।
 ४८ धूमवाश्चायमिति वा ।
 ४९ तस्मादग्निमान् धूमवाश्चायमिति ।
 ५० स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तोऽयोगात् ।
 ५१ रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमा-
 भासम् ।
 ५२ यथा नद्यास्तीरे मोदकराशय सन्ति धावध्व
 माणवका ।
 ५३ अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च ।
 ५४ विसवादात् ।

- | | |
|--|--|
| ५५ प्रत्यक्षमेवैक प्रमाणमित्यादि सख्याभासम् । | ६४ परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् । |
| ५६ लोकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेध-
स्य परबुध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् । | ६५ स्वयमसमर्थस्या कारकत्वात्पूर्ववत् । |
| ५७ सौगतसाख्ययोगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्य-
क्षानुमानागमोपमानार्थापत्यभावंरेकैकाधि-
कं व्यपित्वत् । | ६६ फलाभास प्रमाणादभिन्न भिन्नमेव वा । |
| ५८ अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् । | ६७ अभेदे तद् व्यवहारानुपपत्तेः । |
| ५९ तर्कस्येवव्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम्-
अप्रमाणास्याव्यवस्थापकत्वात् । | ६८ व्यावृत्त्याऽपि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्या-
वृत्त्याऽफलत्वप्रसङ्गात् । |
| ६० प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् । | ६९ प्रमाणाद्व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य । |
| ६१ विषयाभासः सामान्य विशेषो द्वयं वा स्व-
तन्त्रम् । | ७० तस्माद्वास्तवो भेदः । |
| ६२ तथाऽप्रतिभासनात्कार्याकारणाच्च । | ७१ भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः । |
| ६३ समर्थस्य करणेसर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् । | ७२ समवायेऽतिप्रसंगः । |
| | ७३ प्रमाणतदाभासी दुष्टतयोद्भाविती परिहृता-
परिहृतदोषी वादिनः साधनतदाभासी
प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च |
| | ७४ सभवदन्यद्विचारणीयम् । |

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।

सविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥१॥

इति परीक्षामुखसूत्रं समाप्तम् ।



कतिपय विशिष्ट शब्दोंकी परिभाषा

अनुमान—साधनसे होने वाले साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं, अर्थात् किसी एक चिह्न या कार्यको देखकर उससे संबधित पदार्थका अवबोध करानेवाला ज्ञान अनुमान कहलाता है। जैसे दूरसे पर्वतपर धुआ निकलता देखा, उस धु एको देखकर ज्ञान हुआ कि “इस पर्वतपर अग्नि है, क्योंकि धूम दिखायी दे रहा है” इत्यादि स्वरूप वाला जो ज्ञान होता है वह अनुमान या अनुमान प्रमाण कहलाता है।

अनुमेय—अनुमानके द्वारा जानने योग्य पदार्थको अनुमेय कहते हैं

अन्यथानुपपत्ति—साध्यके विना साधनका नहीं होना, अथवा इसके विना यह काम नहीं हो सकता, जैसे बरसातके विना नदी मे बाढ नहीं आना इत्यादि।

अर्थसवित्—पदार्थके ज्ञानको अर्थसवित् कहते हैं।

अहप्रत्यय—‘मै’ इस प्रकारका अपना अनुभव या ज्ञान होना।

अदृष्ट—भाग्य, कर्म, पुण्य इत्यादि अदृष्ट शब्दके अनेक अर्थ हैं, वैशेषिक इस अदृष्टको आत्माका गुण मानते हैं।

अगीण—मुख्य या प्रधानको अगीण कहते हैं।

अन्तर्व्याप्ति—जिस हेतुकी सिर्फ पक्षमे व्याप्ति हो वह अन्तर्व्याप्ति वाला हेतु कहलाता है।

अन्योन्याश्रय—जहा पर दो वस्तु या धर्मोंकी सिद्धि एक दूसरेके आश्रयसे हो वह अन्योन्याश्रय या इतरेतराश्रय दोष कहलाता है।

अश्वविषाण—घोडेके सीग (नहीं होते हैं)

असाधारण अनैकान्तिक—“विपक्षसपक्षाभ्या व्यावर्त्तमानो हेतुरसाधारणैकान्तिक” जो सपक्ष और विपक्ष दोनोंसे व्यावृत्त हो वह असाधारण अनैकान्तिक नामा सदोष हेतु है, यह हेत्वाभास योगने स्वीकार किया है।

अद्वैत—दो या दो प्रकारके पदार्थोंका नहीं होना।

अनवस्था—मूल क्षतिकरीमाहुरनवस्था हि दूषणम्।

वस्त्वनतेऽप्यशक्तौ च नानवस्थाविचार्यते ॥ १ ॥

अर्थात् जो मूल तत्वका ही नाश करती है वह अनवस्था कहलाती है, किन्तु जहा वस्तु के अनतपनेके कारण या बुद्धिके असमर्थताके कारण जानना न हो सके वहा अनवस्था नहीं मानी जाती

है। मतलब जहापर सिद्ध करने योग्य वस्तु या धर्मको सिद्ध नहीं कर सके और आगे आगे अपेक्षा तथा प्रश्न या आकाक्षा बढ़ती ही जाय, कही पर ठहरना नहीं होवे वह अनवस्था नामा दोष कहा जाता है।

अतीन्द्रिय.—चक्षु आदि पाचो इन्द्रियो द्वारा जो ग्रहणमे नहीं आवे वे पदार्थ अतीन्द्रिय कहलाते हैं।

अणुमनः—परमाणु बराबर छोटा मन (यह मान्यता योग की है)

अन्वयव्याप्ति—जहा जहा साधन-धूमादि हेतु है वहा वहा साध्य-अग्नि आदिक है, ऐसी साध्य और साधन की व्याप्ति होना।

अन्वय निश्चय—अन्वयव्याप्तिका निर्णय होना।

अदृश्यानुपलभ—नेत्र के अगोचर पदार्थ का नहीं होना।

अनुवृत्त प्रत्यय—गौ-गौ इस प्रकार का सदृश वस्तुओमे समानता का अवबोध होना।

अर्थ प्राकट्य—पदार्थ का प्रगट होना-जानना।

अर्थ क्रिया—वस्तुका कार्यमे आ सकना, जैसे घटकी अर्थक्रिया जल धारण है।

अनधिगतार्थग्राही—कभी भी नहीं जाने हुये पदार्थको जाननेवाला ज्ञान।

अद्रुष्ट कारणाारब्धत्व—निर्दोष कारणोसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान।

अर्थजिज्ञासा—पदार्थों को जाननेकी इच्छा होना।

अपौरुषेय—पुरुष द्वारा नहीं किया हुआ पदार्थ।

अत्यताभाव—एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यरूप कभी भी नहीं होना, सर्वथा पृथक रहना अत्यता-भाव कहलाता है।

अनाधेय—“आरोपयितुमशक्य” जिसका आरोपण नहीं किया जा सकता उसे अनाधेय कहते हैं।

अप्रहेय—“स्फोटयितुमशक्यः” जिसका स्फोट नहीं कर सकते।

आत्मपरोक्षवाद—कर्त्ता आत्मा और करण ज्ञान ये दोनो सर्वथा परोक्ष रहते हैं किसी भी ज्ञान या प्रमाण द्वारा जाने नहीं जाते हैं, आत्मा ज्ञानके द्वारा अन्य अन्य पदार्थोंको तो जान लेता है किन्तु स्वयं को कभी भी नहीं जानता, ऐसी मीमांसक के दो भेदो मे (भाट्ट और प्रभाकर) से प्रभाकरकी मान्यता है।

आत्मख्याति—अपनी ख्याति [विपर्यय ज्ञानमे अपना ही आकार रहता है ऐसा विज्ञानाद्वैत-वादी कहते हैं।]

इतरेतराभाव—‘स्वभावाद् स्वभावान्तर व्यावृत्ति—इतरेतराभाव’ अर्थात् एक स्वभाव या गुण, धर्म, अथवा पर्यायिकी अन्यस्वभावादि से भिन्नता है वह इतरेतराभाव कहलाता है।

इन्द्रियवृत्ति—चक्षु आदि इन्द्रियोका अपने विषयो की ओर प्रवृत्त होना इन्द्रियवृत्ति है और वही प्रमाण है ऐसा साख्य कहते है।

इष्ट प्रयोजन—अथमे कथित विषय इष्ट होना।

उत्तभकमण्डि—अग्निको दीप्त करानेवाला कोई रत्न विशेष।

कारक साकल्य—कारक साकल्य—कर्ता, कर्म आदि कारकोकी पूर्णता होना कारक साकल्य कहलाता है, नैयायिक ज्ञानकी उत्पत्तिमे सहायक जो भी सामग्री है उसको कारक साकल्य कहते हैं और उसीको प्रमाण मानते हैं।

खर विषाण—गधेके सीग (नही होते)

खर रटित—गधेका चिल्लाना, रेंकना खर रटित कहलाता है।

खपुष्प—आकाशका पुष्प (नही होना)

ग्राह्य-ग्राहक—ग्रहण करने योग्य पदार्थ ग्राह्य और ग्रहण करनेवाला पदार्थ ग्राहक कहलाता है।

चक्रक दोष—जहा तीन धर्मोंका सिद्ध होना परस्परमे अधीन हो, अर्थात् एक असिद्ध धर्म या वस्तुसे दूसरे धर्म आदिकी सिद्धि करना और उस दूसरे असिद्ध धर्मादि से तीसरे धर्म या वस्तु की सिद्धि करनेका प्रयास करना, पुनश्च उस तीसरे धर्मादि से प्रथम नबरके धर्म या वस्तुको सिद्ध करना, इस प्रकार तीनोंका परस्परमे चक्कर लगते रहना, एक की भी सिद्धि नही होना चक्रक दोष है।

चोदना—सामवेद आदि चारो वेदोको चोदना कहते हैं।

चित्राद्वैत—ज्ञानमे जो अनेक आकार प्रतिभासित होते है वे ही सत्य हैं, बाह्यमे दिखायी देनेवाले अनेक आकार वाले पदार्थ तो मात्र काल्पनिक है ऐसा बौद्धोके चार भेदोमे से योगाचार बौद्धका कहना है यही चित्राद्वैत कहलाता है, चित्र-नाना आकारयुक्त एक अद्वैत रूप ज्ञान मात्र तत्व है और कुछ भी नही है ऐसा मानना चित्राद्वैतवाद है।

चक्षुसन्निकर्षवाद—नेत्र पदार्थोंको छूकर ही जानते हैं, सभी इन्द्रियोके समान यह भी इन्द्रिय है अतः नेत्र भी पदार्थका स्पर्शकरके उसको जानते है, यह चक्षुसन्निकर्षवाद कहलाता है, यह मान्यता नैयायिककी है।

ज्ञेय-ज्ञायक—जानने योग्य पदार्थ ज्ञेय कहलाते है और जानने वाला आत्मा ज्ञायक या ज्ञाता कहलाता है।

ज्ञातृ व्यापार—ज्ञाताकी क्रियाको ज्ञातृव्यापार कहते हैं ।

ज्ञानातरवेद्य ज्ञानवाद—ज्ञान स्वयं को नहीं जानता उसको जाननेके लिये अन्य ज्ञानकी आवश्यकता रहती है, ऐसी नैयायिककी मान्यता है ।

तदुत्पत्ति—ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है ऐसा बौद्ध मानते हैं, तत्-पदार्थ से उत्पत्ति-ज्ञानकी उत्पत्ति होना तदुत्पत्ति कहलाती है ।

तदाकार—ज्ञानका पदार्थके आकारको धारण करना, यह भी बौद्ध मान्यता है ।

तदध्यवसाय—उसी पदार्थको जानना जिससे कि ज्ञान उत्पन्न हुआ है और जिसके आकारको धारण किये हुए है, यह तदध्यवसाय कहलाता है, यह सब बौद्ध मान्यता है ।

तादात्म्य संबंध—द्रव्योका अपने गुणोंके साथ अनादिसे जो मिलना है-स्वतः ही उस रूप रहना, एवं पर्यायके साथ मर्यादित कालके लिये अभेद रूपसे रहना है ऐसे अभिन्न संबंधको तादात्म्य संबंध कहते हैं । (अर्थात् वस्तुमें गुण स्वतः ही पहलेसे रहते हैं ऐसा जैनका अखंड सिद्धांत है । वस्तु प्रथम क्षणमें गुण रहित होती है और द्वितीय क्षणमें समवाय से उसमें गुण आते हैं ऐसा नैयायिक वैशेषिक मानते हैं, जैन ऐसा नहीं मानते हैं ।

तथोपपत्ति—साध्यके होनेपर साधनका होना । उस तरहसे होना या उसप्रकारकी बात घटित होना भी तथोपपत्ति कहलाती है ।

दीर्घशङ्कुली भक्षण—बड़ी तथा कड़ी कचीडीका खाना ।

द्विचन्द्र वेदन—एक ही चन्द्रमें दो चन्द्रका प्रतिभास होना ।

द्वैत—दो या दो प्रकारकी वस्तुओंका होना ।

धारावाहिक ज्ञान—एक ही वस्तुका एक सरीखा ज्ञान लगातार होते रहना, जैसे यह घट है, यह घट है, इस प्रकार एक पदार्थका उल्लेख करनेवाला ज्ञान ।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष—नाम, जाति आदिके निश्चयसे रहित जो ज्ञान है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा बौद्ध कहते हैं ।

निषेध—अमुक वस्तु नहीं है इसप्रकार निषेध करनेवाला ज्ञान ।

निषेध्याधार—निषेध करने योग्य घट पट आदि पदार्थ है उनका जो आधार हो उसे निषेध्याधार कहते हैं ।

प्रमाण—अपनेको और परको निर्णय रूपसे जानने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, अथवा सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं ।

प्रत्यक्ष प्रमाण—विशद-स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं ।

परोक्ष प्रमाण—अस्पष्ट ज्ञान ।

प्रमाण सप्लव—“एकस्मिन् वस्तुनि बहूना प्रमाणाना प्रवृत्तिः प्रमाण सप्लव.” अर्थात् एक ही विषयमे अनेक ज्ञानोकी जाननेके लिये प्रवृत्ति होना प्रमाण सप्लव कहलाता है ।

प्रमेय—प्रमाणके द्वारा जानने योग्य पदार्थ ।

प्रमाता—जाननेवाला आत्मा ।

प्रमिति—प्रतिभास या जानना ।

प्रसग साधन—“परेष्ट्याऽनिष्टापादन प्रसग साधन” अर्थात् अन्य वादी द्वारा इष्ट पक्षमे उन्ही के लिये अनिष्टका प्रसग उपस्थित करना प्रसग साधन कहलाता है ।

प्रधान या प्रकृति—साख्य द्वारा मान्य एक तत्व, जो कि अचेतन है, इसीके इन्द्रियादि २४ भेद है ।

पुरुष—साख्यका २५ वा तत्व, यह चेतन है इस चेतन तत्वको साख्य अकर्ता एव ज्ञान शून्य मानते है ।

प्रत्यासत्ति—निकटता को प्रत्यासत्ति या प्रत्यासन्न कहते है ।

प्रतिपाद्य-प्रतिपादक—समझाने योग्य विषय अथवा जिसको समझाया जाता है उन पदार्थ या शिष्यादिको प्रतिपाद्य कहते है, तथा समझाने वाला व्यक्ति-गुरु आदिक या उनके वचन प्रतिपादक कहलाते है ।

पर्युदास—“पर्युदास सदृक् ग्राही” पर्युदास नामका अभाव उसको कहते हैं जो एक का अभाव बताते हुए भी साथ ही अन्य सदृश वस्तुका अस्तित्व सिद्ध कर रहा हो ।

प्रसज्य—“प्रसज्यस्तु निषेधकृत्” सर्वथा अभाव या तुच्छाभावको प्रसज्य अभाव कहते है ।

परोक्षज्ञान वाद—ज्ञान सर्वथा परोक्ष रहता है अर्थात् स्वयं या अन्य ज्ञान के द्वारा बिलकुल ही जानने मे नहीं आ सकता ऐसा मीमांसक मानते है अत ये परोक्षज्ञानवादी या ज्ञानपरोक्षवादी कहलाते है ।

प्रतिबंधक मणि—अग्निके दाहक शक्तिको रोकनेवाला रत्न विशेष ।

प्रतियोगी—भूतलमे (आदिमे) स्थित कोई वस्तु विशेष जिसको पहले उस स्थान पर देखा है ।

प्रमाण पचकाभाव—प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति, उपमा और आगम इन पाच प्रमाणोको मीमांसक विधि-यानी अस्तित्व साधक मानते है इनका अभाव प्रमाण पचकाभाव कहा जाता है ।

प्रागभाव—जिसके अभाव होनेपर नियमसे कार्यकी उत्पत्ति हो “यदभावे नियमत कार्यस्योत्पत्ति स प्रागभाव” प्रागनतर परिणाम विशिष्ट मृद् द्रव्यम् ॥ अर्थात् मिट्टी आदिमे घटादि कार्यका अभाव रहना, प्राग् पहले अभावरूप रहना प्रागभाव है । जैसे घट के पूर्व स्थास आदि रूप मिट्टी का रहना है वह घटका प्रागभाव कहलाता है ।

प्रध्वसाभाव—“यद्भावे नियमतः कार्यस्य विपत्तिः स प्रध्वंसः, मृद्द्रव्यानतरोत्तरपरिणामः” जिसके होनेपर नियमसे कार्यका नाश होता है वह प्रध्वंस कहलाता है, जैसे घट रूप कार्यका नाश करके कपाल बनता है, मिट्टी रूप द्रव्यका अनंतर परिणाम घट था उस घटका उत्तर परिणाम कपाल है, यह घट कार्यका प्रध्वंस है ।

ब्रह्माद्वैत—विश्वके सम्पूर्ण पदार्थ एक ब्रह्म स्वरूप है, अन्य कुछ भी नहीं है, जो कुछ घट, जीव आदि पदार्थ दिखाई देते हैं वे सब ब्रह्म की ही विवर्त हैं ऐसा ब्रह्माद्वैतवादी की मान्यता है ।

बाधाविरह—बाधा का नहीं होना ।

बहिर्व्याप्ति—जिस हेतुकी पक्ष और सपक्ष दोनों में व्याप्ति हो वह बहिर्व्याप्तिक हेतु कहलाता है ।

भूयोदर्शन—किसी वस्तुका बार बार देखा हुआ या जाना हुआ होना ।

भूतचैतन्यवाद—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार पदार्थोंसे आत्मा या चैतन्य उत्पन्न होता है ऐसा चार्वाकका कहना है, इसीके मतको भूतचैतन्यवाद कहते हैं ।

योगज धर्म—प्राणायाम, ध्यानादिके अभ्याससे आत्मामे ज्ञानादि गुणोंका अतिशय होना ।

युगपत वृत्ति—एक साथ होना या रहना ।

युगपज्जानानुत्पत्ति—एक साथ अनेक ज्ञानोंका नहीं होना ।

रजत प्रत्यय—चादीका प्रतिभास होना ।

लिंग—हेतुको लिंग कहते हैं चिह्न को भी लिंग कहते हैं ।

लिंगी—अनुमानको लिंगी कहते हैं, जिसमे चिह्न हो वह पदार्थ लिंगी कहलाता है ।

लघुवृत्ति—शीघ्रतासे होना ।

विवर्त—पर्यायको विवर्त कहते हैं ।

व्यग्यव्यञ्जक—प्रगट करने योग्य पदार्थ व्यग्य कहलाते हैं, और प्रगट करनेवाला व्यञ्जक कहलाता है ।

व्याप्य-व्यापक—व्यापक तदतन्निष्ठः व्याप्य तन्निष्ठ मेव च” अर्थात् जो उस विवक्षित वस्तुमें है और अन्यत्र भी है वह व्यापक कहलाता है, और जो उसी एक विवक्षित में ही है वह व्याप्य कहा जाता है, जैसे वृक्ष यह व्यापक है और नीम, आम आदि व्याप्य है ।

वाच्य-वाचक—पदार्थ वाच्य है और शब्द वाचक कहलाते हैं, इन पदार्थ और शब्दों का जो संबन्ध है उसे वाच्य वाचक संबन्ध कहते हैं ।

विषयाकार धारित्व—घट आदि पदार्थ ज्ञानके विषय कहलाते हैं, उनके आकारोको ज्ञान अपनेमे धारण करता है ऐसा बौद्ध मानते हैं, इसीको विषयाकार धारित्व कहते हैं ।

व्यवसाय—ज्ञानमे वस्तुका निश्चायकपना होना व्यवसाय कहलाता है ।

व्यतिरिक्त—पृथक या भिन्न ।

व्यतिरेक व्याप्ति—जहा जहा अग्नि आदि साध्य नहीं है वहा वहा धूम आदि साधन भी नहीं है, इसप्रकार साध्यके अभावमे साधनके अभावका अविनाभाव होना या दिखलाना व्यतिरेक व्याप्ति कहलाती है ।

व्यतिरेक निश्चय—व्यतिरेक व्याप्तिका निश्चय या निर्णय होना ।

विशद विकल्प—“यह घट है” इत्यादि रूपसे स्पष्ट निश्चय होना ।

विधातृ—“यह वस्तु मौजूद है” इस प्रकार अस्तिरूप वस्तुका जो ज्ञान होता है उस ज्ञानको विधातृ या विधायक ज्ञान कहते हैं ।

विज्ञानाद्वैतवाद—जगतके सपूर्ण पदार्थ ज्ञानरूप ही हैं, ज्ञानको छोडकर दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है ऐसा बौद्ध कहते हैं, इसीको विज्ञानाद्वैतवाद कहते हैं ।

शून्याद्वैत—चेतन अचेतन कोई भी पदार्थ नहीं है सब शून्यस्वरूप है बौद्धका एक भेद माध्यमिकका कहना है, इसीको शून्याद्वैत कहते हैं ।

शब्दाद्वैत—सपूर्ण पदार्थ तथा उनका ज्ञान शब्दमय है, शब्दब्रह्मसे निर्मित है, शब्दको छोडकर अन्य कुछ भी नहीं है ऐसा भर्तृहरि आदि परवादीका कहना है ।

शक्यानुष्ठान—ग्रन्थमे जिसका प्रतिपादन किया जायगा उसका समझना तथा आचरणमे लाना शक्य है ऐसा बताना शक्यानुष्ठान कहलाता है ।

समवाय—वैशेषिक छह पदार्थ मानते हैं उन छह पदार्थोमे समवाय एक पदार्थ है ।

समवाय सबध—द्रव्यका अपने गुणोके साथ जो सबध है वह समवाय सबध है, द्रव्योको गुणो से पृथक नहीं होने देना उसका काम है द्रव्योकी उत्पत्ति प्रथम क्षणमे निर्गुण हुआ करती है और द्वितीय क्षणमे उसमे समवाय नामा पदार्थ गुणोको सबधित कर देता है ऐसी वैशेषिककी मान्यता है ।

समवायी—आत्मा आदि द्रव्य, जिनमे समवाय आकर गुणोको जोड देता है वे द्रव्य समवायी कहे जाते हैं ।

समवेत—द्रव्योमे जो गुण जोडे गये हैं वे गुण समवेत कहलाने हैं ।

सयोग-सबध—दो पदार्थोका या द्रव्योका मिलना ।

सबधाभिधेय—ग्रन्थमे वर्णन करने योग्य जो विषय हैं उनका सबध बतलाना ।

सन्निकर्ष—पदार्थके छूनेको सन्निकर्ष कहते हैं, चक्षु आदि सभी इन्द्रिया पदार्थोंको छूकर ज्ञान कराती है ऐसा वैशेषिकका कहना है। इन्द्रियो द्वारा पदार्थोंका जो छूना है वह सन्निकर्ष है और वही प्रमाण है ऐसा वैशेषिकके प्रमाणका लक्षण है।

सवाद प्रत्यय—अपने पूर्ववर्ती ज्ञानका समर्थन करनेवाला ज्ञान।

स्मृतिप्रमोष—स्मृतिका नहीं होना, नष्ट होना स्मृति प्रमोष है, प्रभाकर (मीमांसक) विपर्यय ज्ञानको स्मृति प्रमोष रूप मानते हैं।

साकार ज्ञानवाद—ज्ञान पदार्थके आकार होता है, जो साकार ज्ञान है वही प्रमाणभूत है, ऐसा बौद्ध कहते हैं।

सव्येतर गोविषाण—गायके दाये बाये सीग।

हेतु—साध्यके साथ जिसका अविनाभावी सबध है उसको हेतु कहते हैं।

हेत्वाभास—जिसका साध्यके साथ अविनाभावी सबध नहीं है वह हेत्वाभास है, उसके असिद्ध, विरुद्ध अनैकान्तिक, और अकिञ्चित्कर ऐसे चार भेद हैं।



भारतीय दर्शनोका अति संक्षिप्त परिचय—

जैन दर्शन

जैन दर्शन मे सात तत्व माने है—जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष । जिसमे चैतन्य पाया जाता है वह जीव है, चेतनतासे रहित अजीव है (इसके पाच भेद है—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) जीवके विकारी भावसे कर्मोका जीवके प्रदेशोमे आना आस्रव है, उन कर्मोका जीव प्रदेशोके साथ विशिष्ट प्रकारसे निश्चित अवधि तक स्रवद्ध होना बध कहलाता है, परिणाम विशेषद्वारा, उन कर्मोका आना रुक जाना संवर है । पूर्व संचित कर्मोका कुछ कुछ ऋड जाना निर्जरा है और सपूर्ण कर्मोका जीवसे पृथक होना मोक्ष कहलाता है । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल इसप्रकार, छह मूलभूत द्रव्य है । उपर्युक्त साततत्वोमे इन छह द्रव्योका अतर्भाव करे तो जीव तत्वमे जीव द्रव्य और अजीव तत्वमे पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल अतर्निहित होते है, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाच तत्व जीव और अजीव स्वरूप पुद्गल मय जड तत्व जो कर्म है इन दोनोके सयोग से बनते है । चेतना स्वरूप जीव द्रव्य है, पुद्गल अर्थात् दृश्यमान जड द्रव्य ।

धर्म द्रव्य—जीव और पुद्गलके गमन शक्तिका सहायक अमूर्त द्रव्य । अधर्म द्रव्य—जीव और पुद्गलके स्थिति का हेतु । सम्पूर्ण द्रव्योका अवगाहन करानेवाला आकाश है और दिन, रात, वर्ष आदि समयोका निमित्त भूत अमूर्त काल द्रव्य है ।

प्रमाण सख्या—मुख्य दो प्रमाण है प्रत्यक्ष और परोक्ष, दोनो प्रमाण ज्ञान स्वरूप ही है, आत्माके जिस ज्ञानमे विशदपना [स्पष्टता] पाया जाता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है । अविशदपना [अस्पष्टता] जिसमे पाया जाता है वह परोक्ष प्रमाण है । इसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञानादि भेद है ।

इन प्रमाणोमे प्रामाण्य [सत्यता] अभ्यस्तदशामे स्वतः अनभ्यस्तदशा मे परसे आया करती है ।

जगत मे यावन्मात्र कार्य होते है उनके प्रमुख दो कारण है, निमित्त और उपादान, जो कार्योत्पत्ति मे सहायक हो वह निमित्त कारण है और जो स्वयं कार्य रूप परिणामे वह उपादान कारण है जैसे घट रूप कार्य का निमित्त कारण कु भकार, चक्र आदि है और उपादान कारण मिट्टी है । कारण से कार्य कथंचित् भिन्न है, और कथंचित् अभिन्न भी है । प्रत्येक तत्व या द्रव्य अथवा पदार्थ अनेक अनेक [अनत] गुण धर्मोको लिये हुए है और इन गुण धर्मोका विवक्षानुसार

प्रतिपादन होता है इसीको अनेकान्त-स्याद्वाद कहते हैं, वस्तु स्वयं अपने निजी स्वरूपसे अनेक गुणधर्म युक्त पायी जाती है, उसका प्रकाशन स्याद्वाद (कथञ्चित्वाद) करता है। बहुत से विद्वान अनेकान्त और स्याद्वादका अर्थ न समझकर इनको विपरीत रूपसे मानते हैं, अर्थात् वस्तुके अनेक गुण धर्मोंको निजी न मानना तथा स्याद्वाद को शायद शब्दसे पुकारना, किन्तु यह गलत है, स्याद्वादका अर्थ शायद या सशयवाद नहीं है, अपितु किसी निश्चित एक दृष्टिकोणसे (जो कि उस विवक्षित वस्तुमें सभावित हो। वस्तु उस रूप है और अन्य दृष्टिकोणसे अन्य स्वरूप है, स्याद्वाद अनेकान्त का यहाँ विवेचन करे तो बहुत विस्तार होगा, जिज्ञासुओंको तत्त्वार्थवार्त्तिक, श्लोकवार्त्तिक आदिमूल ग्रन्थ या स्याद्वाद-अनेकान्त नामके लेख, निबन्ध, ट्रेक्ट देखने चाहिये।

सृष्टि—यह संपूर्ण विश्व (जगत) आनादि निघन है अर्थात् इसकी आदि नहीं है और अंत भी नहीं है, स्वयं शाश्वत इसी रूप परिणामित है, समयानुसार परिणामन विचित्र २ होता रहता है, जगत रचना या परिवर्तनके लिये ईश्वर की जरूरत नहीं है।

पूर्वोक्त पुद्गल—जड तत्वके दो भेद है, अणु या परमाणु और स्कन्ध दृश्यमान, ये विश्वके जितने भर भी पदार्थ है सब पुद्गल स्कन्ध स्वरूप है, चेतन जीव एव धर्मादि द्रव्य अमूर्त-अदृश्य पदार्थ है। परमाणु उसे कहते हैं जिसका किसी प्रकार से भी विभाजन न हो, सबसे अंतिम हिस्सा जिसका अब हिस्सा हो नहीं सकता, यह परमाणु नेत्र गम्य एव सूक्ष्मदर्शी दुर्बिन गम्य भी नहीं है। स्निग्धता एव रूक्षता धर्म के कारण परमाणुओं का परस्पर संबन्ध होता है इन्हींको स्कन्ध कहते हैं। जैन दर्शनमें सबका कर्ता हर्ता ईश्वर नहीं है, स्वयं प्रत्येक जीव अपने अपने कर्मोंका निर्माता एव हर्ता है, ईश्वर भगवान या आप्त कृतकृत्य, ज्ञानमय, हो चुके हैं उन्हें जीवके भाग्य या सृष्टि से कोई प्रयोजन नहीं है।

मुक्ति मार्ग—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य स्वरूप मुक्ति का मार्ग है, समीचीन तत्त्वोका श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है, मोक्षके प्रयोजनभूत तत्त्वोका समीचीन ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है, पापाचरण के साथ साथ संपूर्ण मन वचन आदि की क्रियाका निरोध करना सम्यक्चारित्र्य है, अथवा प्रारंभदशामें अशुभ या पापारूप क्रिया का (हिंसा, झूठ आदिका एव तीव्र राग द्वेषका) त्याग करना सम्यक् चारित्र्य है। इन तीनोंको रत्नत्रय कहते हैं, इनसे जीवके विकारके कारण जो कर्म है उसका आना एव बंधना रूक जाता है।

मुक्ति—जीवका संपूर्ण कर्म और विकारी भावोंसे मुक्त होना मुक्ति कहलाती है, इसीको मोक्ष, निर्वाण आदि नामोंसे पुकारते हैं। मुक्तिमें अर्थात् आत्माके मुक्त अवस्था हो जानेपर वह शुद्ध बुद्ध, ज्ञाता द्रष्टा परमानन्दमय रहता है, सदा इसी रूप रहता है, कभी भी पुनः कर्म युक्त नहीं होता। अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त आत्माका अवस्थान होना, सर्वदा निराकुल होना ही मुक्ति है।

जैन दर्शन में—जगतके विषयमें, आत्माके विषय में, कर्म या भाग्यके विषयमें अर्थात् पुण्य पाप के विषयमें बहुत बहुत अधिक सूक्ष्मसे सूक्ष्म विवेचन पाया जाता है, इन जगत आदिके विषयमें जितना गहन, सूक्ष्म, और विस्तृत कथन जैन ग्रन्थोंमें है उतना अन्यत्र अशमात्र भी दिखायी नहीं देता। यदि जगत् या सृष्टि अर्थात् विश्वके विषयमें अध्ययन करना होवे तो त्रिलोकसार, तत्त्वार्थ-सूत्र, लोक विभाग आदि ग्रन्थ पठनीय है। आत्मा विषयक अध्ययनमें परमात्मप्रकाश, प्रवचनसार समयसारादि ग्रन्थ उपयुक्त हैं। कर्म-पुण्य पाप आदिका गहन गभीर विवेचन कर्मकांड (गोम्मटसार) पंचसग्रह आदि अनेक ग्रन्थोंमें पाया जाता है। विश्वके सपूर्ण व्यवहार सबधमें एव अध्यात्मसबधमें अर्थात् लौकिक जीवन एव धार्मिक जीवनका करणीय कृत्योंका इस दर्शनमें पूर्ण एव खोज पूर्ण कथन पाया जाता है। अस्तु।

बौद्ध दर्शन

यह दर्शन क्षणिकवाद नाम से भी कहा जा सकता है क्योंकि प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ समूल चूल नष्ट होकर सर्वथा नया ही उत्पन्न होता है ऐसा बौद्ध ने माना है। इनके चार भेद हैं। वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। वैभाषिक बाह्य और अभ्यंतर दोनों ही (दृश्य जड पदार्थ और चेतन आत्मा) पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान गम्य हैं, वास्तविक है। ऐसा मानता है। सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थों को मात्र अनुमान-गम्य मानता है। योगाचार तो बाह्य पदार्थ की सत्ता ही स्वीकार नहीं करता। मात्र विज्ञान तत्त्व को सत्य मानता है; अतः इसे विज्ञानार्द्धतवादी कहते हैं। माध्यमिक न बहिरंग पदार्थ मानता है और न अन्तरंग पदार्थ को ही। सर्वथा शून्य मात्र तत्त्व है ऐसा मानता है। इन सभी के यहाँ क्षणभगवाद है। बौद्ध ने दो तत्त्व माने हैं। एक स्वलक्षण और दूसरा सामान्य लक्षण। सजातीय और विजातीय परमाणुओं से असबद्ध, प्रतिक्षण विनाशशील ऐसे जो निरश परमाणु हैं उन्हीं को स्वलक्षण कहते हैं, अथवा देश, काल और आकार से नियत वस्तु का जो स्वरूप है—आसाधारणता है वह स्वलक्षण कहलाता है।

सामान्य—एक कल्पनात्मक वस्तु है। सामान्य हो चाहे सदृश हो, दोनों ही वास्तविक पदार्थ नहीं हैं।

प्रमाण—अविसवादक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं उसके दो भेद हैं अर्थात् बौद्ध प्रमाण की संख्या दो मानते हैं, प्रत्यक्ष और अनुमान। कल्पना रहित (निश्चय रहित) अभ्रान्त ऐसे ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। और व्याप्तिज्ञान से सम्बन्धित किसी धर्म के ज्ञान से किसी धर्मी के विषय में जो परोक्ष ज्ञान होता है वह अनुमान प्रमाण कहलाता है। प्रमाण चाहे प्रत्यक्ष हो चाहे अनुमान हो सभी साकार रूप ज्ञान है। ज्ञान घट आदि वस्तुसे उत्पन्न होता है उसी के आकार को धारण करता है और उसी को जानता है। इसी को "तदुत्पत्ति, तदाकार, तदध्यवसाय" ऐसा कहते हैं।

प्रामाण्य (प्रमाण का फल) प्रमाण रूप ही है । चार आर्य सत्य दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इनका बोध होना चाहिये । तथा पाँच स्कंध—रूपस्कंध, वेदनास्कंध, सज्ञास्कंध, सस्कारस्कंध और विज्ञानस्कंध इनकी जानकारी भी होनी चाहिये, क्योंकि इनके ज्ञान से मुक्ति का मार्ग मिलता है । मुक्ति के विषय में बौद्ध की विचित्र मान्यता है, चित्त अर्थात् आत्मा का निरोध होना मुक्ति है । दीपक बुझ जाने पर किसी दिशा विदिशा में नहीं जाकर मात्र समाप्त हो जाता है उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व समाप्त होना मुक्ति है । “प्रदीप निर्वाण वदात्म निर्वाणम्” नैयायिकादि ने तो मात्र आत्मा के गुण ज्ञान आदिका अभाव मुक्ति में स्वीकार किया है किन्तु बौद्ध ने मूल जो आत्म द्रव्य है उसका ही अभाव मुक्ति में माना है उनकी मान्यता है कि पदार्थ चाहे जड हो चाहे चेतन प्रतिक्षण नये-नये उत्पन्न होते हैं पूर्व चेतन नयी सतान को पैदा करते हुए नष्ट हो जाता है जब तक इस तरह से सतान परम्परा चलती है तब तक ससार और जहाँ वह रुक जाती है वही निर्वाण हो जाता है । सृष्टि के विषय में बौद्ध लोग मौन हैं । बुद्ध से किसी शिष्य ने इस जगत के विषय में प्रश्न किया तो उन्होंने कहा था कि सृष्टि कब बनी ? किसने बनायी ? अनादि की है क्या ? इत्यादि प्रश्न तो बेकार ही हैं ? जीवों का क्लेश, दुःख से कैसे छुटकारा हो इस विषय में सोचना चाहिये । प्रतीत्य समुत्पाद, अन्यापोहवाद, क्षण भगवाद, आदि बौद्धों के विशिष्ट सिद्धान्त हैं । प्रतीत्य समुत्पाद का दूसरा नाम सापेक्ष कारणवाद भी है । अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति । शब्द या वाक्य मात्र अन्य अर्थ की व्यावृत्ति करते हैं, वस्तु को नहीं बताते । जैसे किसी ने ‘घट’ कहा सो घट शब्द घट को न बतलाकर अघट की व्यावृत्ति मात्र करता है इसी को अन्यापोह कहते हैं । प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण विशरणाशील है यह क्षण भगवाद है । इत्यादि एकान्त कथन इस मत में पाया जाता है ।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन या नैयायिक मत में १६ पदार्थों का (तत्त्वों का) प्रतिपादन किया है, प्रमाण प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प पितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निगृह स्थान इन पदार्थों का विस्तृत वर्णन न्याय वार्त्तिक आदि ग्रन्थों में पाया जाता है । प्रमाण प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति इस प्रकार भी संक्षेप से तत्त्व माने जाते हैं,

प्रमाण संख्या—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा, आगम इस प्रकार नैयायिक ने चार प्रमाण माने हैं । प्रमाकरण-प्रमाण, अर्थात् प्रमा के कारण को प्रमाण कहते हैं, कारक साकल्य प्रमा का कारण है अतः प्रमाण माना गया है ।

प्रामाण्य वाद—प्रमाण में प्रामाण्यता पर से ही आती है क्योंकि यदि प्रमाण में स्वतः ही प्रामाण्य होता तो यह ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण है ऐसा सशय नहीं हो सकता था ।

कार्य कारण भाव—न्याय दर्शन मे कार्य भिन्न है और कारण भिन्न है, यह सिद्धात साध्य से सर्वथा विपरीत है। अर्थात् साध्य तो कारण कार्य मे सर्वथा अभेद ही मानते है और नैयायिक सर्वथा भेद ही, अतः साध्य सत्कार्य वादी और नैयायिकादि असत्यकार्यवादी नाम से प्रसिद्ध हुए।

कारण के तीन भेद है —

(१) समवायी कारण (२) असमवायी कारण (३) निमित्त कारण

सामान्य से तो जो कार्य के पहले मौजूद हो तथा अन्यथा सिद्ध न हो वह कारण कहलाता है। समवाय सम्बन्ध से जिसमे कार्य की उत्पत्ति हो वह समवायी कारण कहलाता है, जैसे वस्त्र का समवायी कारण तन्तु (धागा) है। कार्य के साथ अथवा कारण के साथ एक वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहते हुए जो कारण होता है उसे असमवायी कारण कहते हैं, जैसे तन्तुओ का आपस मे सयोग हो जाना वस्त्र का असमवायी कारण कहलायेगा। समवायी कारण और असमवायी कारण से भिन्न जो कारण हो उसको निमित्त कारण समझना चाहिये। जैसे वस्त्र की उत्पत्ति मे जुलाहा तुरी, वेम, शलाका, ये सब निमित्त कारण होते हैं।

सृष्टि कर्तृत्व वाद—यह ससार ईश्वर के द्वारा निर्मित हैं, पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष, शरीर आदि तमाम रचनाये ईश्वराधीन है, हा इतना जरूर है कि इन चीजों का उपादान तो परमाणु है, दो परमाणुओ से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है, तीन द्व्यणुको के सयोग से त्र्यणुक या त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है। चार त्रस रेणुओ के सयोग से चतुरेणु की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार आगे आगे जगत की रचना होती है। परमाणु स्वत तो निष्क्रिय है, प्राणियों के अदृष्टे की अपेक्षा लेकर ईश्वर ही इन परमाणुओ की इस प्रकार की रचना करता जाता है। मतलब निष्क्रिय परमाणुओ मे क्रिया आरम्भ कराना ईश्वरेच्छा के अधीन है, ईश्वर ही अपनी इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति, और प्रयत्न शक्ति से जगत रचता है।

परमाणु का लक्षण—घर मे छत के छेद से सूर्य की किरणो प्रवेश करती है तब उनमे जो छोटे-छोटे कण दृष्टि गोचर होते हैं वे ही त्रस रेणु हैं, और उनका छटवाँ भाग परमाणु कहलाता है परमाणु तथा द्व्यणुक का परिमाण अणु होने से उनका प्रत्यक्ष नही हो पाता और महत् परिणाम होने से त्रसरेणु प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

ईश्वर—ईश्वर सर्वशक्तिमान है जगत तथा जगत वासी आत्माये सारे के सारे ही ईश्वर के अधीन हैं। स्वर्ग नरक आदि मे जन्म दिलाना ईश्वर का कार्य है, वेद भी ईश्वर कृत है—ईश्वर से रचा है।

मुक्ति का मार्ग—जो पहले कहे गये प्रमाण प्रमेय आदि १६ पदार्थ या तत्त्व है उनका ज्ञान होने से मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या का नाश होता है। मिथ्याज्ञान के नाश होने पर क्रमश दोष, प्रवृत्ति, जन्म, और दुखो का नाश होता है। इस प्रकार इन मिथ्याज्ञान आदि का अभाव करने के

लिये या तत्त्व ज्ञान प्राप्ति के लिये जो प्रयत्न किया जाता है वह मोक्ष या मुक्ति का मार्ग (उपाय) है।

मुक्ति—दुख से अत्यन्त विमोक्ष होने को अपवर्ग या मुक्ति कहते हैं, मुक्त अवस्था में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सस्कार इन नौ गुणों का अत्यन्त विच्छेद हो जाता है नैयायिक का यह मुक्ति का आवास बड़ा ही विचित्र है कि जहाँ पर आत्माके ही खास-गुण जो ज्ञान और सुख या आनन्द है उन्ही का वहाँ अभाव हो जाता है। अस्तु।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थ माने हैं, उनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय ये छः तो सद्भाव हैं और अभाव पदार्थ अभावरूप ही है।

द्रव्य—जिसमें गुण और क्रिया पायी जाती है, जो कार्य का समवायी कारण है उसको द्रव्य कहते हैं। इसके नौ भेद हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन।

गुण—जो द्रव्य के आश्रित हो और स्वयं गुण रहित हो तथा संयोग विभाग का निरपेक्ष कारण न हो वह गुण कहलाता है। इसके २४ भेद हैं, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, वेग, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, धर्म, अधर्म, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सस्कार।

कर्म—जो द्रव्य के आश्रित हो गुण रहित हो तथा संयोग विभाव का निरपेक्ष कारण हो वह कर्म है। उसके ५ भेद हैं उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन।

सामान्य—जिसके कारण वस्तुओं में अनुगत (सदृश) प्रतीति होती है वह सामान्य है वह व्यापक और नित्य है।

विशेष—समान पदार्थों में भेद की प्रतीति कराना विशेष पदार्थ का काम है।

समवाय—अयुतसिद्ध पदार्थों में जो सम्बन्ध है उसका नाम समवाय है। गुण गुणी के सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं।

अभाव—मूल में अभाव के दो भेद हैं-संसर्गभाव और अन्योन्याभाव। दो वस्तुओं में रहने वाले संसर्ग के अभाव को संसर्गभाव कहते हैं। अन्योन्याभाव का मतलब यह है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव है। संसर्गभाव के तीन भेद हैं, प्रागभाव, प्रव्वसाभाव, अत्यताभाव। इनमें अन्योन्याभाव जोड़ देने से अभाव के चार भेद होते हैं। वैशेषिक दर्शन में वेद को तथा सृष्टि को नैयायिक के समान ही ईश्वर कृत माना है, परमाणुवाद अर्थात् परमाणु का-लक्षण, कारण कार्य भाव आदि का कथन नैयायिक सदृश ही है।

प्रमाण सख्या—प्रमाण के तीन भेद माने हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम । वैशेषिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं प्रमाण में प्रामाण्य पर से आता है ।

मुक्ति का मार्ग—निवृत्ति लक्षण धर्म विशेष से साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा द्रव्यादि छह पदार्थों का तत्त्व ज्ञान होता है और तत्त्व ज्ञान से मोक्ष होता है ।

मुक्ति—बुद्धि आदि के पूर्वोक्त नौ गुणों का विच्छेद होना मुक्ति है । ऐसा नैयायिक के समान मुक्ति का स्वरूप इस दर्शन में भी कहा गया है नैयायिक और वैशेषिक दर्शन में अधिक सादृश्य पाया जाता है, इन दर्शनों को यदि साथ ही कहना हो तो योग नाम से कथन करते हैं ।

सांख्य दर्शन

सांख्य २५ तत्त्व मानते हैं । इन २५ में मूल दो ही वस्तुएँ हैं—एक प्रकृति और दूसरा पुरुष । प्रकृति के २४ भेद हैं । मूल में प्रकृति व्यक्त और अव्यक्त के भेद से दो भागों में विभक्त है । व्यक्त के ही २४ भेद होते हैं । अर्थात् व्यक्त प्रकृति से महान (बुद्धि) उत्पन्न होता है महान से अहकार, अहकार से सोलह गुण होते हैं वे इस प्रकार हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच ज्ञानेन्द्रिया हैं । वाग्, पाणि, पाद पायु, और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिया हैं । रूप, गन्ध, स्पर्श, रस, शब्द ये पाँच तन्मात्राये कहलाती हैं । इस प्रकार ये पन्द्रह हुए और सोलहवा मन है । जो पाँच रूप आदि तन्मात्राये हैं उनसे पचभूत पैदा होते हैं । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश । इस प्रकार प्रकृति या अपर नाम प्रधान के २४ भेद हैं, पच्चीसवाँ भेद पुरुष है, इसी को जीव आत्मा आदि नामों से पुकारते हैं । यह पुरुष प्रकृति से सर्वथा विपरीत लक्षण वाला है अर्थात् प्रकृति में जडत्व, अविवेक, त्रिगुणत्व, विकार आदि धर्म रहते हैं और इनसे विपरीत पुरुष में चेतनत्व, विवेक, त्रिगुणातीतत्व, अविकारीत्व आदि धर्म रहते हैं । यह पुरुष कूटस्थ नित्य है, इसमें भोक्तृत्व गुण तो पाया जाता है किन्तु कर्तृत्व गुण नहीं पाया जाता ।

कारण कार्य सिद्धान्त—योग दर्शन से सांख्य का दर्शन इस विषय में नितान्त भिन्न है, वे असत् कार्य वादी हैं, वे सत्कार्यवादी हैं । कारण में कार्य मौजूद ही रहता है, कारणद्वारा मात्र वह प्रकट किया जाता है ऐसा इनका कहना है । किसी भी वस्तु का नाश या उत्पत्ति नहीं होनी किन्तु तिरोभाव आविर्भाव (प्रकट होना और छिप जाना) मात्र हुआ करता है । सत्कार्य वाद को सिद्ध करने के लिए सांख्य पाँच हेतु देते हैं—

प्रथम हेतु—यदि कार्य उत्पत्ति से पहले कारण में नहीं रहता तो असत् ऐसे आकाश कमल की भी उत्पत्ति होनी चाहिये ।

द्वितीय हेतु—कार्य की उत्पत्ति के लिए उपादान को ग्रहण किया जाता है जैसे तेल की उत्पत्ति के लिए तिलो का ही ग्रहण होता है, बालुका का नहीं ।

तृतीय हेतु—सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती है। अपितु प्रतिनियत कारण से ही होती है, अतः कारण मे कार्य पहले से ही मौजूद है।

चतुर्थ हेतु—समर्थ कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है असमर्थ से नहीं।

पंचम हेतु—यह भी देखा जाता है कि जैसा कारण होता है। वैसा ही कार्य होता है। इस तरह इन हेतुओं से कारणका कार्य मे सदा रहना सिद्ध होता है।

सृष्टि क्रम—प्रकृति (प्रधान) और पुरुष के ससर्ग से जगत् की सृष्टि होती है। प्रकृति जड है। और पुरुष निष्क्रिय है। अतः दोनों का सयोग होने से ही सृष्टि होती है। इस साख्य दर्शन मे सबसे बड़ी आश्चर्य कारी बात तो यह है कि ये लोग बुद्धिको (ज्ञान को) जड मानते है, आत्मा चेतन तो है किन्तु ज्ञान शून्य है।

प्रमाण सख्या—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इस प्रकार तीन प्रमाण होते है “इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्” इन्द्रियो के व्यापार को साख्य प्रमाण मानते है। प्रामाण्य वाद के विषय मे इनका कहना है कि प्रमाण हो चाहे अप्रमाण हो दोनों मे प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतः ही आता है। ईश्वर के विषय मे इनमे मतभेद है। प्राचीन साख्य निरीश्वर वादी थे अर्थात् एक नित्य सर्व शक्तिमान ईश्वर नामक कोई व्यक्ति को नहीं मानते थे, किन्तु अर्वाचीन साख्य ने नास्तिकपने का लाछन दूर करने के लिए ईश्वर सत्ता को स्वीकार किया। यो तो चार्वाक और मीमांसक को छोडकर सभी दार्शनिकों ने ईश्वर अर्थात् सर्वज्ञको स्वीकार किया है। किन्तु जैनेतर दार्शनिकों ने उसको सर्वशक्तिमान, ससारी जीवो के कार्योंका कर्ता आदि विकृत रूप माना और जैन ने उसको अनत शक्तिमान, कृतकृत्य और सम्पूर्ण जगत का ज्ञाता दृष्टा माना है न कि कर्ता रूप अस्तु। साख्य ने मुक्ति के विषयो मे अपनी पृथक् ही मान्यता रखी है। मुक्ति अवस्था मे मात्र नहीं अपितु ससार अवस्था मे भी पुरुष (आत्मा) प्रकृति से (कर्मादि से) सदा मुक्त ही है। बध और मुक्ति भी प्रकृति के ही होते है। पुरुष तो निर्लेप ही रहता है। पुरुष और प्रकृति मे भेद विज्ञान के होते ही पुरुष प्रकृति के ससर्गजन्य आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखो से छूट जाता है। प्रकृति (कर्म) एक नर्तकी के समान है, जो रंग स्थल मे उपस्थित दर्शकोके सामने अपनी कला को दिखा कर हट जानी है। वह एक बार पुरुष के द्वारा देखे जाने पर पुनः पुरुष के सामने नहीं आती। पुरुष भी उसको देख लेने पर उपेक्षा करने लगता है, इस प्रकार अब सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रहता अतः मोक्ष हो जाता है, इसलिये प्रकृति और पुरुष के भेद विज्ञान को ही मोक्ष कहते है। मोक्ष अवस्था मे मात्र एक चैतन्य धर्म रहता है। ज्ञानादिक तो प्रकृति के धर्म है। अतः मोक्ष मे वैशेषिकादि के समान ही ज्ञानादिका अभाव साख्यने भी स्वीकार किया है।

सर्वज्ञ को नहीं मानने वाले मीमांसक और चार्वाक है उनमे से यहाँ मीमांसक मत का सक्षिप्त विवरण दिया जाता है मीमांसक मत मे वेद वाक्यो का अर्थ क्या होना चाहिये इस विषय को लेकर

भेद हुए है जो “अग्निष्टोमेन यजेत्” इत्यादि वेद वाक्य का अर्थ भावना परक करते है। उन्हे भाट्ट कहते है। जो नियोग रूप करते हैं वे प्रभाकर और जो विधि रूप अर्थ करते हैं वे वेदान्ती कहलाते है। मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। जबकि ईश्वर कर्ता मानने वाले नैयायिकादि दार्शनिक वेद को ईश्वर कृत स्वीकार करते हैं। मीमांसक चूंकि ईश्वर सत्ता को नहीं मानते अतः सृष्टि को अनादि निधन मानते है। इस जगत का न कोई कर्ता है और न कोई हर्ता है। शब्द को नित्य तथा सर्वव्यापक मानते है क्योंकि वह नित्य व्यापक ऐसे आकाश का गुण है। शब्द की अभिव्यक्ति तालु आदि के द्वारा होती है न कि उत्पत्ति, जिस प्रकार दीपक घट पट आदि का मात्र प्रकाशक (अभिव्यजक) है। उसी प्रकार तालु आदि का व्यापार मात्र शब्द को प्रगट करता है, न कि उत्पन्न करता है।

तत्त्व सख्या—मीमांसक के दो भेदों में से भाट्ट के यहाँ पदार्थ या तत्त्वों की सख्या ५ मानी है—द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य और अभाव। प्रभाकर आठ पदार्थ मानता है द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और सख्या। द्रव्य नामा पदार्थ भाट्ट के यहाँ ग्यारह प्रकार का है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा, मन, तम और शब्द। इसमें से तम को छोड़ कर १० भेद प्रभाकर स्वीकार करता है।

प्रमाण सख्या—भाट्टकी प्रमाण सख्या छ है प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, आगम और अभाव। प्रभाकर अभाव को छोड़कर पाँच प्रमाण स्वीकार करता है।

प्रामाण्यवाद—सभी मीमांसक प्रमाणों में प्रामाण्य सर्वथा स्वतः ही रहता है ऐसा मानते है। अप्रामाण्य मात्र पर से ही आता है। मीमांसक सर्वज्ञ को न मान कर सिर्फ धर्मज्ञ को मानते है अर्थात् वेद के द्वारा धर्म-अधर्म आदि का ज्ञान हो सकता है किन्तु इनका साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है। मुक्ति के विषय में भी मीमांसक इतना ही प्रतिपादन करते है कि वेद के द्वारा धर्म आदि का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किन्तु आत्मा में सर्वथा रागादि दोषों का अभाव होना अशक्य है तथा पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान होना भी अशक्य है। कोई-कोई मीमांसक दोषों का अभाव आत्मा में स्वीकार करके भी सर्वज्ञता को नहीं मानते है, इनके वेद या मीमांसाश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में स्वर्ग का मार्ग ही विशेष रूपेण वर्णित है। यज्ञ, पूजा, जप, भक्ति आदि स्वर्ग सुख के लिये ही प्रतिपादित है “अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः” इत्यादि वाक्य इसी बात को पुष्ट करते हैं। इनका अन्तिम ध्येय स्वर्ग प्राप्ति तक सीमित है, अस्तु। इस प्रकार वेद को माननेवाले प्रमुख दर्शन नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसक है, इनके आवानर भेद और भी हैं जैसे वेदाती शब्दाद्वैतवादी, शाकरीय, भास्कररीय इत्यादि, इन सबमें वेद प्रामाण्यकी मुख्यता है।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक का कहना है कि न कोई तीर्थंकर है न कोई वेद या धर्म है। कोई भी व्यक्ति पदार्थ को तर्क से सिद्ध नहीं कर सकता। ईश्वर या भगवान भी कोई नहीं है। जीव-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन भूत चतुष्टय से उत्पन्न होता है और मरने के बाद शरीर के साथ भस्म होता है, अतः जीवन का लक्ष्य यही है कि—

यावत् जीवेत् सुख जीवेत्, ऋण कृत्वा धृत पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥१॥

जब तक जीना है तब तक सुख से रहे। कर्ज करके खूब घी आदि भोग सामग्री भोगे। क्योंकि परलोक में जाना नहीं, आत्मा यह शरीर रूप ही है पृथक नहीं, शरीर यही भस्म होता है उसी के साथ चैतन्य भी समाप्त होता है, पुनर्जन्म है नहीं। चार्वाक के यहाँ दो ही पुरुषार्थ हैं अर्थ और काम। परलोक स्वर्ग नरक आदि कुछ नहीं, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म आदि नहीं है, जब जीव जन्मता है तो पृथ्वी आदि से एक चैतन्य शक्ति पैदा हो जाती है। जैसे आटा, गुड, महुआ आदि से मदिरा में मदकारक शक्ति पैदा होती है। धर्म नामा कोई तत्त्व नहीं है। जब परलोक में जाने वाला आत्मा ही नहीं है तो धर्म किसके साथ जायेगा? धर्म क्या है इस बात को समझना भी कठिन है। जीवनका चरम लक्ष्य मात्र ऐहिक सुखो की प्राप्ति है। चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। जिस वस्तु का चक्षु आदि इन्द्रियो से ज्ञान होता है वही ज्ञान और वस्तु सत्य है, बाकी सब काल्पनिक। अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें साध्य और साधन की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है। जब आत्मा ही नहीं है तब सर्वज्ञ भी कोई नहीं है, न उसके द्वारा प्रतिपादित धर्म है। ज्ञान तो शरीर का स्वभाव है आत्मा का नहीं, ऐसा इस नास्तिकवादी का कहना है, इसीलिये इसको भौतिकवादी, नास्तिकवादी, लौकायत नामों से पुकारते हैं। वर्तमान में प्रायः अधिक संख्या में इसी भौतिक मत का प्रचार है।



शुद्धिपत्रम्

पृ	पक्ति	शुद्धि	शुद्ध
२	१०	अशुद्धं प्रभाव	प्रभा
११	१६	उपादान	उपादेय
११	२३	द्वारा हुआ	द्वारा कहा हुआ
१५	११	उन उन	उन
२२	१६	अच्छा बताईये	×
२३	३	आस्या	अस्या
३८	६	नम	नभ
३६	१	तया	तत्र
३६	११	अग्नयेया	अग्न्यादि
४३	१६	गर्घादि	गर्घादि
४४	३	साधकतमत्वेता	साधकतमत्वतः
४६	११	योग	योग्य
४७	१२	बेनाने	बेताने
५०	२१	जानो	जावेगा
५३	२०	घर	घट
५७	१७	विशेष तुम कहो	विशेष कहो
६६	४	विरोधे	अविरोधे
७४	७	घर	घट
८१	१७	गर्हिका	ग्राहिका
८८	२८	विकल्पमात्र	×
९०	७	तद्व	तद् द्वय
१०६	१०	विकल्प अर्थात्	विकल्प्य अर्थात्
१०६	१५	विकल्प आदि	विकल्प्य आदि
११७	६	समाभ्राता	सामान्नाता
१२४	११	उसमे	उसके
१३०	४	विकल	विकल
१३४	४	सव	सर्वे
१३४	१५	पदार्थों मे	×
१३८	१३	पदार्थमालामे	×
१४०	१	क य	कस्य

पृ०	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४०	१३	हाथमे रखी हुई वस्तुका	हाथादिका
१४१	१	सवेद्य	सवेद्य
१६२	२	तु तद्भाव	तु तद्भाव
१६३	१४	क्यो नही आता ?	क्यो आता ?
१७७	११	षरतः	परत
१८०	२५	इवाशूना	इवाशूनां
१८१	१७	द्वायुवीयो	द्वायुवीयो
१८६	७	तद्गतार्थ	तद्गतार्थ
१८८	२१	आमोहित किया	कहा
१९८	२५	जीवसिद्ध	जीवसिद्धि
१९९	१७	या देखे जाते है ?	×
१९९	१९	यह कथन	×
२२७	४	लादि	नीलादि
२२८	४	तद्ग्राहक	तद् ग्राहक
२२८	५	तद्ग्राहक	तद् ग्राहक
२६३	४	नीति ।	निति ।
२७३	१५	मत	मन
२७४	१७	होता	होना
३०७	२४	आदिक है	आदि कहे
३१०	३	तेभ्यश्चैतम्	तेभ्यश्चैतन्यम्
३५०	५	तत्तस्येत्येपि	तत्तस्येत्यपि
३५०	१९	अपनापन अदृष्टमे	अदृष्टमे
३५६	१६	आयु	आम्र
३६०	२६	बनावेगा	बतावेगा
३७८	२	स्यादृष्टा स्या	स्यादृष्ट्या
३७८	१४	चादृष्टस्यापि	न चादृष्टस्यापि
३८८	१५	दात्मनोऽशक्तात्	दात्मनोऽशक्तात्
३९५	३	योस्तर	यो स्तयोर
४०३	१८	गुरौश्य	गुरौरप
४०४	२	प्रोक्त्य	शोक्त्य
४०४	१७	तात्या	नात्या

प्रमेयकमलमार्त्तण्डे

पृ०	पाक्त	अशुद्ध	शुद्ध
४०५	३	देव	मेव
४१४	१७	होना	नही होना
४१५	१७	यदि ऐसा प्रामाण्य है	x
४२५	७	सशयात्मा	सशयात्मा
४३५	२६	अभय	उभय
४५४	१	सङ्गः	प्रसङ्ग
४८४	१८	सध्याचल	सहधाचल
४९१	१५	सास्वादिमान	सास्नामान्
५१८	२५	अनुपत्वमात्रसे	अनुपलभमात्रसे
५२०	२	उपमान	अभाव
५२१	४	अनुमान	उपमा
५२२	२५	छेदनादान्वय	छेदनादावन्वय
५२२	२७	अनपपत्तेः	अनुपपत्तेः
५३८	२५	है, क्योकि	हैं, तो वह अनित्य है क्योकि
५५३	२	सशयरूपत्वा	सशयरूपत्वा
५५५	१	प्रयोगि	प्रतियोगि
५६३	१०	कारिकोक्त	कारिकोक्त
५६३	१८	भस्य	यस्य
५७४	२५	अपने	आपने
५७५	१३	अनादि सात,	अनादि सात ?
५७७	२०	जैसे मानसे	से
५८०	३	भावार्त्रं	भावात्त
५८०	२३	स्यात्	स्थास
५८१	१४	श्रीर स्वका	श्रीर परका
५८५	५	विफल	विनाश
६०४	१०	चक्षुषस्य	चक्षुषः
६०८	६	मनके इस	नैयायिक-मनके इस
६०८	१७	त्वतिन्द्रियवत्	त्वगिन्द्रियवत्
६१७	९	जातीयपना	जलीयपना
६१७	१९	रूपादि किरणो मे से	रूपादिमेसे
६३३	११	इन्द्रियातिन्द्रिय	इन्द्रियानिन्द्रिय

